व्यष्टि-अर्थशास्त्र

(MICRO-ECONOMICS)

[व्यष्टि-मूलक आर्थिक सिद्धान्तों का विश्लेषणात्मक अध्ययन]

लेखक

डा० आर० एन० सिंह
व्यावहारिक अर्थशास्त्र एवं वित्त विभाग

डा० जे० पी० श्रीवास्तव
यूनिवर्सिटी कामर्स कॉलेज,

राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर

रमेश बुक डिपो
जयपुर

प्रकाशक :
बृजमोहन लाल माहेश्वरी
रमेश बुक डिपो
जयपुर

मूल्य पन्द्रह रुपये

मुद्रक
झूलेलाल प्रिन्टर्स,
जयपुर

दो शब्द

व्यावहारिक आर्थिक समस्याओं की बारीकियों को समझने तथा उनके समाधान हेतु माइक्रो-इकॉनामिक्स सम्बन्धी सिद्धान्तों का ज्ञान आवश्यक है। सैद्धान्तिक पृष्ठ-भूमि के सदर्भ में लिए गये व्यावहारिक निर्णय सफल सिद्ध होते हैं। अतः व्यष्टि-अर्थशास्त्र विषयक सिद्धान्तों का महत्व बढ़ता जा रहा है। इस ग्रन्थ में व्यष्टि मूलक आर्थिक सिद्धान्तों का विश्लेषण, सरल ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु सरलता के नाम पर विषय-सामग्री के स्तर को गिरने नहीं दिया गया है। यथा-स्थान गणितीय सूत्रों व रेखाचित्रों का प्रयोग किया गया है, तथा उन्हें इस ढंग से प्रस्तुत किया गया है कि विद्यार्थी सरलता से समझ सकें।

पुस्तक के प्रणयन में स्टोनियर तथा हेग, लेफ्टविच, लिप्से, सैमुएलसन, वाटसन, हिक्स और बोल्डिंग के प्रसिद्ध पाठ्य ग्रन्थों की विषय सामग्री का ध्यान में रक्खा गया है, जिससे विद्यार्थी-वर्ग के ज्ञान का स्तर उच्च कोटि का हो सके। यथा स्थान अंग्रेजी माध्यम के मौलिक-ग्रन्थों का सदर्भ भी दिया गया है। आर्थिक प्रणाली के कार्य, आधुनिक उपयोगिता विश्लेषण, पैमाने के प्रतिफल, उत्पादन साधनों का श्रेष्ठतम संयोग, कुल आगम सीमांत आगम, तथा लोच का सम्बन्ध, ब्रेक-इवेन, सीमांत उत्पादकता सिद्धान्त का विभिन्न उत्पादन साधनों के सदर्भ में विश्लेषण, विभिन्न उत्पादन साधनों की माग व पूर्ति का विशिष्ट विश्लेषण आदि सम्बन्धी विषय सामग्री का सम्यक विश्लेषण सभवत हिन्दी-माध्यम की मौलिक पुस्तक में प्रथम बार किया गया है।

उपयोगिता, माग, लोच, आगम, लागत, सीमांत उत्पादकता, विभिन्न बाजार अवस्थाओं में मूल्य व उत्पादन निर्धारण, उत्पादन साधनों का पारिश्रमिक निर्धारण आदि विषयों से सम्बन्धित व्यावहारिक समस्याओं (Problems) को तत्सम्बन्धी अध्यायों के अन्त में दिया गया है, जिससे विद्यार्थी सैद्धान्तिक अध्ययन की व्यावहारिकता के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त कर सकें। यह सामग्री हिन्दी माध्यम के किसी भी

अन्य ग्रन्थ मे उपलब्ध नही है। प्रत्येक अध्याय के अन्त मे महत्वपूर्ण प्रश्न तथा उनके उत्तर के सकेत भी दिए गए हैं।

जहा तक सभव हो सका है, विषय सामग्री को बोधगम्य एव सरल बनाने का प्रयत्न किया गया है। लेखक उन सभी लेखको के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करते हैं जिनकी कृतियो से इस पुस्तक के प्रणयन मे सहायता मिली है। हमारा विश्वास है कि पुस्तक अपने वर्तमान रूप मे विद्यार्थी वर्ग के लिए उपयोगी सिद्ध होगी। लेखक उन अध्यापक बन्धुओ तथा पाठको के प्रति अत्यन्त ही कृतज्ञ होगे जो पुस्तक को अधिक उपयोगी बनाने हेतु अपने अमूल्य सुझावों से हमे अवगत करेंगे। लेखक उन बन्धुओ के प्रति अत्यन्त ही कृतज्ञ हैं, जिन्होने इस पुस्तक को लिखने के लिए प्रेरित किया।

लेखक द्वय

अनुक्रमणिका

(1) मानवीय आवश्यकताए (2) साधन तथा (3) चुनाव की समस्या या उत्पादन की विधिया

अध्याय	पृष्ठ संख्या
24. पैमाने के प्रतिफल	457
25. उत्पादन-साधनो का श्रेष्ठतम सयोग	476
26. बाजार की अवस्थायें	481
27. कुल आगम, सीमात आगम व लोच	500
28. मूल्य सिद्धात तथा बाजार-मूल्य	511
29. पूर्ण प्रतिस्पर्धा : मूल्य व उत्पादन निर्धारण	525
30. कीमत निर्धारण मे समय तत्व	540
31. एकाधिकार के अन्तर्गत मूल्य व उत्पादन निर्धारण	558
32. अपूर्ण स्पर्धा : मूल्य व उत्पादन निर्धारण [(1) एकाधिकृत प्रतिस्पर्धा 594 (ii) अल्पविक्रेताधिकार 603]	594
33. उत्पादन साधनो का मूल्य-निर्धारण (सीमात उत्पादकता सिद्धात)	619
34. लगान	650
35. मजदूरी	672
36. ब्याज	698
37. लाभ की प्रकृति	718

नोट :— भूमि, श्रम तथा पूँजी आदि साधनो की माग व पूर्ति की विशिष्ट दशाओ तथा सीमात उत्पादकता सिद्धान्त का विभिन्न साधनो के सदर्भ मे विश्लेपण से सम्बन्धित विषय सामग्री, तद्सम्बन्धी मूल अध्यायो मे सम्मिलित है।

1

आर्थिक प्रणाली के कार्य

(Functions of the Economic System)

"Every economy must somehow solve the three fundamental economic problems What kinds and quantities shall be produced of all possible goods and services How economic resources shall be used in producing these goods For whom the goods shall be produced—i e What the distribution of income among different individuals and classes is to be"

Paul A Samuelson

1 आर्थिक समस्या
(The Economic Problem)

अर्थशास्त्र आर्थिक समस्याओ का अध्ययन करता है। आर्थिक समस्याओं का उदय 'चुनाव की समस्या' के कारण होता है। हम सभी जानते हैं कि मनुष्य की आवश्यकताओ का अंत नही है। मनुष्य अपनी सभी आवश्यकताओ को सतुष्ट नही कर सकता है क्योकि उसकी आवश्यकताओ की तुलना मे उसके साधन सीमित होते हैं। साधनो के वैकल्पिक उपयोग (Alternative uses) हो सकते हैं अत मनुष्य वैकल्पिक उपयोग वाले इन साधनो से अपनी आवश्यकताओ की सतुष्टि के लिए प्रयत्न करता है। इसके लिए उसके सामने चुनाव की समस्या खडी होती है—वह अपने सीमित साधनो का प्रयोग, असीमित आवश्यकताओ मे से किन आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए करे, जिससे उसे अधिकतम सतुष्टि मिल सके। वह आवश्यकताओ की सतुष्टि उनकी तीव्रता (Intensity) के आधार पर करता है। इस प्रकार प्रत्येक आर्थिक क्रिया के तीन मुख्य तत्व होते हैं

(1) मानवीय आवश्यकताए (2) साधन तथा (3) चुनाव की समस्या या उत्पादन की विधिया

1 मानवीय आवश्यकताएं (Human Wants) जिस प्रकार आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है उसी प्रकार आवश्यकताएं सभी आर्थिक क्रियाओं की उद्गम हैं। मानव समाज का सम्पूर्ण अर्थतन्त्र आवश्यकताओं पर आधारित है। मनुष्य की आवश्यकताओं की कोई सीमा नहीं है तथा किसी अवधि विशेष में सभी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं की जा सकती। मनुष्य के सामने आवश्यकताओं का तांता लगा रहता है। मनुष्य की आवश्यकताएं (i) जीवन को बनाए रखने के तथा (ii) जीवन स्तर में सुधार के लिए होती हैं (iii) साथ ही साथ कुछ लिए आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी नयी आवश्यकताएं जन्म लेती हैं।

2. साधन (Means or Resources). साधनों द्वारा आवश्यकताओं की सन्तुष्टि की जाती है। एक अर्थ व्यवस्था में हजारों प्रकार के साधन पाये जाते हैं। इन सभी साधनों को मोटे तौर पर दो भागों में बाँटा जा सकता है—(i) मानवीय साधन या श्रम (Human Resources) तथा (ii) मानवेत्तर साधन (Non Human Resources) मानवीय साधन का अभिप्राय श्रम या सभी प्रकार के मानवीय प्रयत्नों से है, जिसका उपयोग वस्तुओं के निर्माण के लिए किया जाता है। मानवेतर साधन या धन का अभिप्राय उन सभी मानवेतर वस्तुओं से है जिनकी सहायता से उत्पादन किया जाता है जैसे-भूमि, खनिज पदार्थ, मशीन, भवन आदि।

साधनों के कई लक्षण होते हैं-(i) साधन सीमित होते हैं (ii) साधनों के कई उपयोग हो सकते हैं तथा (iii) किसी भी वस्तु के उत्पादन के लिए साधनों को विभिन्न अनुपातों में मिलाया जा सकता है।

3 चुनाव की समस्या या उत्पादन की विधियाँ (The Problem of Choice or Techniques of Production). आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए वस्तुओं तथा सेवाओं का उपयोग किया जाता है। वस्तुओं तथा सेवाओं को पैदा करने के लिए साधनों का उपयोग किया जाता है। जिन विधियों से साधनों का उपयोग उत्पादन के लिए किया जाता है उन्हें उत्पादन की प्रविधियाँ कहते है। आर्थिक क्रियाओं का उद्देश्य आवश्यकताओं की सन्तुष्टि है। आवश्यकताओं की सन्तुष्टि मनुष्य के जीवन स्तर को निर्धारित करती है। ऊँचे जीवन स्तर के लिए अधिक से अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति आवश्यक है। इसके लिए मनुष्य सर्वोत्तम उत्पादन विधियों को अपनाने का प्रयत्न करता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि किसी भी समस्या को आर्थिक समस्या कहे जाने के लिए तीन तत्वों का पाया जाना आवश्यक है—(i) मानवीय आवश्यकताएँ (ii) साधन (iii) चुनाव की समस्या या उत्पादन की विधियाँ, इन तीनों तत्वों का एक ही साथ पाया जाना आवश्यक है। अर्थशास्त्र आर्थिक समस्याओं का अध्ययन है अत. यह कहा जा सकता है कि अर्थशास्त्र इस बात का अध्ययन है कि

मनुष्य अपने सीमित साधनों का आवटन अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किस प्रकार करता है। (Economics is the study of how men allocate their limited resources to provide for thier wants) आर्थिक समस्या का उदय दुर्लभता (Scarcity) के कारण होता है। यदि आवश्यकता एक ही है तो यह आर्थिक समस्या नही बल्कि प्राविधिक समस्या होगी। विद्यार्थियो को यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि यदि उद्देश्य (end) एक है तथा साधन अनेक हैं तो यह प्राविधिक समस्या (Technological Problem) होगी। यदि उद्देश्य तथा साधन दोनो अनेक हैं तो समस्या आर्थिक होगी। (Multiplicity of ends and multiplicity of means raises economic problem, if end is one then it is technological problem)

2. आर्थिक-प्रणाली
(The Economic System)

आर्थिक प्रणाली का अभिप्राय ऐसे संस्थात्मक ढाँचे (Institutional framework) से है जिसके अन्तर्गत आर्थिक क्रियाओ का संचालन होता है। ऐसे ढाँचे के अन्तर्गत उत्पादन, उपभोग, विनिमय वितरण तथा राजस्व सम्बन्धी क्रियाओं का सचालन होता है। आज कल आर्थिक क्रियाओ मे राज्य का हस्तक्षेप बढता जा रहा है। प्रत्येक देश मे कम या अधिक मात्रा मे राज्य आर्थिक क्रियाओ पर नियन्त्रण रखता है तथा अर्थ व्यवस्था के विभिन्न अगो के सम्बन्ध मे वैधानिक नियम बनाता है। इस प्रकार आर्थिक प्रणाली के स्वरूप का निर्माण राज्य के हस्तक्षेप की प्रकृति तथा सीमा पर निर्भर है। राज्य द्वारा पारित विधानो के अतिरिक्त सामाजिक परम्पराएँ तथा नियम भी बहुत कुछ अशो मे आर्थिक प्रणाली का स्वरूप निर्धारित करते हैं। राज्य के हस्तक्षेप की सीमा व मात्रा तथा आर्थिक संगठन के ढाँचे के अनुसार अर्थ व्यवस्था कई प्रकार की हो सकती है, जैसे पूंजीवादी अर्थव्यवस्था, समाजवादी अर्थव्यवस्था, मिश्रित अर्थव्यवस्था आदि।

अर्थव्यवस्था का जो भी स्वरूप हो, प्रत्येक अर्थव्यवस्था को कुछ आधारभूत समस्याओ का सामना करना पड़ता है चाहे अर्थव्यवस्था पूंजीवादी हो या साम्यवादी या किसी अन्य प्रकार की। प्रोफेसर Frank. H. Knight ने यह मत प्रकट किया है कि प्रत्येक प्रकार की आर्थिक प्रणाली को किसी न किसी रूप मे पाच कार्य करने पड़ते हैं।[1] आगे हम इन पाँच मौलिक कार्यो का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे। प्रोफेसर सेम्युलसन ने कहा है कि किसी भी अर्थव्यवस्था को तीन मौलिक आर्थिक समस्याओ का समाधान करना पड़ता है।

---

[1]. Knight, Frank. H. "Social Economic organisation" Contemporary society . Syllabus and Selected Readings, Edited by Harry D Gideonse and others, 4th edition Chicago : The University of Chicago Press, 1935 PP. 125-137

"Every economy must some how solve the three fundamental economic problems What kinds and quantities shall be produced of all possible goods and services, How economic resources shall be used in producing these goods, For Whom the goods shall be produced—i e What the distribution of income among different individuals and classes is to be"

अर्थात् प्रत्येक आर्थिक सगठन को किसी न किसी प्रकार तीन मौलिक आर्थिक समस्याओं का समाधान करना पडता है—

(i) सभी सम्भावित वस्तुओं तथा सेवाओं में से किस प्रकार की वस्तुओं तथा सेवाओं का किस मात्रा म उत्पादन किया जाए।

(ii) इन वस्तुओं के उत्पादन के लिए आर्थिक साधनों का प्रयोग किस प्रकार किया जाए ?

(iii) वस्तुओं का उत्पादन किनके लिए किया जाए अर्थात् विभिन्न व्यक्तियों तथा वर्गों म आय का वितरण किस प्रकार किया जाए ?

प्रोफेसर नाइट (Prof Knight) ने आर्थिक प्रणाली की जिन पाँच समस्याओं का उल्लेख किया है वे निम्नलिखित हैं—

(i) किन वस्तुओं का उत्पादन किया जाए ?

(ii) उत्पादन का सगठन क्या हो ?

(iii) उत्पादित वस्तुओं का वितरण किस प्रकार किया जाए ?

(iv) जिन वस्तुओं की कमी है उनकी राशनिंग अल्पकाल म किस प्रकार की जाए ? तथा

(v) अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता को किस प्रकार से कायम रखा जाए तथा उत्पादन क्षमता को किस प्रकार बढ़ाया जाए ?

(i) वस्तुओं के उत्पादन का निर्धारण (What is to be Produced ?) :

प्रत्येक अर्थव्यवस्था को यह निर्णय लेना पडता है कि किन वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन किया जाए। इसके लिए उपभोक्ताओं की महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं का ध्यान रखा जाता है। अर्थव्यवस्था के साधन सीमित होते हैं। समाज की सभी प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति पूर्ण रूप से करना सम्भव नहीं होता है। अतः अर्थव्यवस्था को इस बात का निर्णय करना पडता है कि समाज की सापेक्षिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए किन किन वस्तुओं का उत्पादन किया जाए। इसके लिए सीमित साधनों तथा असीमित आवश्यकताओं के बीच चुनाव करना पडता है।

अत अर्थ व्यवस्था को यह निर्णय करना पडता है कि उत्पादन के साधनों का उपयोग उत्पादन के लिए किस प्रकार किया जाए। इस प्रकार विभिन्न उत्पादों के लिए विभिन्न पडतों का आवटन किस प्रकार किया जाए ? (How the inputs should be allocated to different outputs ?)

एक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में इस समस्या का समाधान कीमत प्रणाली द्वारा किया जाता है। वस्तुतः मूल्यांकन की समस्या प्रत्येक प्रकार की अर्थव्यवस्था में पाई जाती है, परन्तु पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में कीमत प्रणाली का प्रमुख स्थान है। वस्तुओं तथा सेवाओं का मूल्यांकन एक स्वतंत्र अर्थव्यवस्था में कीमतों के सदर्भ में किया जाता है। कीमत निर्धारण में उपभोक्ताओं का प्रमुख हाथ रहता है। विभिन्न प्रकार की वस्तुओं में से किन वस्तुओं को खरीदा जाए इसका निर्णय उपभोक्ताओं द्वारा किया जाता है। कीमत, वस्तुओं की पूर्ति की अवस्था तथा वस्तुओं को खरीदने के लिए उपभोक्ताओं की तत्परता द्वारा निश्चित की जाती है। यदि किसी वस्तु की पूर्ति, अन्य बातों के समान रहने पर, अधिक है, तो उसकी कीमत कम होगी। यदि उपभोक्ता की तत्परता अधिक है तो कीमत अधिक होगी। इस प्रकार उपभोक्ताओं द्वारा जो आय विभिन्न वस्तुओं के खरीदने के लिए व्यय की जाती है उसके द्वारा विभिन्न वस्तुओं व सेवाओं का मूल्य निर्धारित होता है। उपभोक्ता-वस्तुओं के सम्बन्ध में जो बात लागू होती है वह उत्पादन साधनों के भी सम्बन्ध में सही है। उत्पादन साधनों की कीमत माग तथा पूर्ति द्वारा निधारित होती है। हम कीमत प्रणाली का विवरण निम्नलिखित प्रकार से प्रस्तुत कर सकते हैं—

(i) किन वस्तुओं का उत्पादन किया जाए? इसका निश्चय उपभोक्ताओं के अधिमानों (Consumers' Preferences) द्वारा किया जाता है। उनके निरप्रनि के निर्णयों के अनुसार उत्पादन की मात्रा तथा किस्म का निर्धारण होता है। उन्हे जो कुछ भी आय प्राप्त होती है वह उत्पादन का परिणाम होती है। वे उत्पादन के विभिन्न साधनों के स्वामी के रूप में उत्पादन में भाग लेते हैं तथा आय प्राप्त करते हैं। इस आय को वे उत्पादित वस्तुओं को खरीदने के लिए व्यय करते हैं। इस प्रकार अर्जित आय पुनः उत्पादकों को हस्तान्तरित हो जाती है। आय का यह चक्राकार प्रवाह निरन्तर चलता रहता है।

(ii) वस्तुओं का उत्पादन किस प्रकार किया जाए? इसका निर्णय विभिन्न उत्पादकों की प्रतिस्पर्द्धा द्वारा किया जाता है। न्यूनतम लागत की उत्पादन विधि, अधिकलागत की उत्पादन विधि का स्थान ग्रहण करती रहती है। प्रत्येक उत्पादक कार्य क्षमता में वृद्धि करने तथा लागत को न्यूनतम रखने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार वह कीमत को न्यूनतम रखने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार कीमत प्रणाली द्वारा तीन प्रश्नों का हल प्राप्त होता है—क्या, कैसे तथा किसके लिए उत्पादन किया जाए? प्रो० सैम्यूएलसन् ने ठीक ही कहा है[1] :

---

[1]. Paul A Samuelson, Economics, An Introductory Analysis, 958, P. 40

"Like a master who gives his donkey carrots and kicks to coax him forward, the pricing system deals out profits and losses to get the What, How and For Whom questions answered."

(iii) उत्पादन किसके लिए किया जाए, इस बात का निर्धारण उत्पादक सेवाओ की बाजार मे माग तथा पूर्ति द्वारा किया जाता है। मजदूरी, लगान, ब्याज लाभ आदि के रूप मे आय प्राप्त होती है। उपभोक्ताओ के अधिमानो तथा लागत व पूर्ति सम्बन्धी निर्णय द्वारा क्या पैदा किया जाए ? का निश्चय किया जाता है।

कीमत प्रणाली के सचालन मे स्पर्द्धा का प्रमुख हाथ होता है। परन्तु वास्तविक जगत मे पूर्ण स्पर्द्धा नही पाई जाती है। फर्मों को इस बात का ज्ञान नही रहता है कि उपभोक्ताओ की रुचि मे परिवर्तन कब होगा। अत: किसी वस्तु के अधिक उत्पादन तथा कम उत्पादन की समस्या खडी होती है। इसी प्रकार बहुत से उत्पादक दूसरे उत्पादको की उत्पादन विधियो के विषय मे नही जानते। अतः लागत भी न्यूनतम नही होती है। एकाधिकार के कारण भी पूर्ण स्पर्द्धा की अवस्था नही पाई जाती। इन कारणो मे साधनो का दोषपूर्ण आवटन, गलत कीमतो तथा एकाधिकारिक लाभ आदि समस्याए उठ खडी होती हैं।

(II) उत्पादन का सगठन (Organisation of Production) :

एक अर्थव्यवस्था को दूसरा महत्वपूर्ण निर्णय इस बात का करना पडता है कि साधनो का सगठन किस प्रकार से किया जाए जिससे इच्छित वस्तुओ का उत्पादन उचित परिमाण म किया जा सके। उत्पादन के सगठन के अन्तर्गत दो बातो पर ध्यान दिया जाता है–(i) साधनो का प्रयाग उन वस्तुओ सम्बन्धी उद्योगो मे अधिक किया जाए जिन वस्तुओ को उपभोक्ता अधिक चाहते हैं तथा साधनो का प्रवेश उन उद्योगोमे रोका जाए जिनके द्वारा उत्पादित वस्तुओ को उपभोक्ता कम चाहते है। (ii) फर्मों द्वारा साधनों का कुशलता पूर्वक उपयोग किया जाए, जिससे देश के साधनों का दुरुपयोग न हो सके।

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे वस्तुत कीमत प्रणाली द्वारा उत्पादन का सगठन किया जाता है। उपभोक्ताओ के अधिमानों तथा पसन्द का इस कार्य मे महत्वपूर्ण हाथ रहता है। साधनों के स्वामी अपने साधनो के बदले अधिकतम प्रतिफल प्राप्त करना चाहते हैं। अधिक प्रतिफल, उत्पादन साधनो के स्वामियो को उन्ही फर्मो से प्राप्त हो सकता है जो फर्में अधिक लाभ कमाती है। अधिक लाभ कमाना उन्ही फर्मो के लिए सम्भव होता है जिनके द्वारा उत्पादित वस्तुओ को उपभोक्ताओ द्वारा अधिक पसन्द किया जाता है। जिन वस्तुओ को उपभोक्ता अधिक पसन्द करते है उनके लिए वे अधिक कीमतें देने के लिए भी तैयार हो जाते हैं इससे उत्पादन करने वाली फर्मों को अधिक लाभ होता है। इसके विपरीत जिन वस्तुओ को उपभोक्ता

कम पसन्द करते है उनकी कीमतें कम होती हैं फलस्वरूप उत्पादक फर्म को कम कीमत प्राप्त होती है तथा उनका लाभ कम होता है। अत व उत्पादन साधनो के स्वामियो को अधिक प्रतिफल देने की स्थिति मे नही होते हैं। उत्पादन के स्वामी अपने साधन उन्ही फर्मो को देते हैं जिनसे उन्हे अधिक प्रतिफल प्राप्त होता। है इस प्रकार उत्पादन के साधन कम प्रतिफल देने वाली फर्मों मे हटकर अधिक प्रतिफल देने वाली फर्मों के पास हस्तान्तरित होते रहते हैं। इस प्रकार साधनो का उपयोग उचित रूप से होता है।

प्रत्येक फर्म अपने लाभ का अधिकतम करना चाहती है। इसके लिए फर्म उत्पादन लागत को न्यूनतम करने का यत्न करती है। उत्पादन विभिन्न साधनो के सम्मिलित प्रयास का फल है। उत्पादक विभिन्न उत्पादन साधनो के उचित सयोग से उत्पादन करता है। वह प्रत्येक दृष्टि से उत्पादन लागत को कम करने का प्रयत्न करता है। इसके लिए वह विभिन्न उत्पादन साधनो की लागत तथा उन्नत उत्पादन प्रविधि पर ध्यान देता है।

(iii) उत्पादित वस्तुओं का वितरण (*Distribution of produced commodities*)

एक आर्थिक प्रणाली को उत्पादित वस्तुओ के वितरण की समस्या का समाधान करना पडता है। पूजीवादी अर्थव्यवस्था म कीमत प्रणाली द्वारा वस्तुओ का वितरण किया जाता है। वस्तुए आय द्वारा खरीदी जाती हैं। अत अर्थव्यवस्था मे अधिक आय वाले व्यक्तियो का उत्पादन की क्रिया म अधिक हाथ रहता है। किसी व्यक्ति की आय दो बातो पर निर्भर है। (i) उत्पादन साधनो की उसके पास पाई जाने वाली मात्रा तथा (ii) उत्पादन साधनो के बदले प्राप्त होने वाले प्रतिफल की मात्रा।

जिन व्यक्तियो के पास उत्पादन के साधन अधिक मात्रा मे होते है तथा इनके बदले जिन्हे अधिक प्रतिफल प्राप्त होता है उनकी आय अधिक होती है।

कीमत प्रणाली द्वारा अधिकाश अशो मे आय का यह अन्तर स्वत दूर होता जाता है। उत्पादन की क्रिया मे साधनो के उचित प्रयोग न करने से आय मे जो अन्तर होता है उसे कीमत प्रणाली द्वारा दूर किया जाता है। इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है–मान लीजिए श्रमिको का एक समूह है जो समान रूप मे किसी कार्य विशेष को करने के लिए कुशल है। इस समूह मे से कुछ श्रमिक एक प्रकार की वस्तु का उत्पादन करते हैं तथा कुछ श्रमिक दूसरी प्रकार की वस्तु का उत्पादन करते है। मान लीजिए दूसरी प्रकार की वस्तु का मूल्य प्रथम प्रकार की वस्तु से अधिक है। इस वजह से दूसरी प्रकार की वस्तु पैदा करने वाले श्रमिको को ऊची मजदूरी प्राप्त होगी तथा उनकी आय अधिक होगी। प्रथम प्रकार की वस्तु

पैदा करने वाले श्रमिकों को, कीमत कम होने के कारण, कम मजदूरी प्राप्त होगी तथा उनकी आय कम होगी। यद्यपि उनकी कुशलता दूसरे प्रकार की वस्तु पैदा करने वाले श्रमिकों के समान है। आय के इस अन्तर को देख कर प्रथम प्रकार की वस्तु पैदा करने वाले श्रमिकों में से कुछ श्रमिक दूसरे प्रकार की वस्तु पैदा करने वाले उद्योग मे चले जायेंगे। क्योंकि उन्हे वहां अधिक मजदूरी मिलती है इस प्रकार दूसरे प्रकार की वस्तुओं की पूर्ति बढेगी। पूर्ति बढने के कारण उस वस्तु की कीमत घटेगी। प्रथम प्रकार की वस्तु की पूर्ति घट जायेगी अतः उसकी कीमत बढ जायेगी। कीमतो मे इस परिवर्तन के कारण दूसरी प्रकार की वस्तु पैदा करने वाले श्रमिकों की आय घटेगी। इस प्रकार दोनो प्रकार की वस्तु पैदा करने वाले श्रमिकों की आय का अन्तर समाप्त हो जायेगा। यह याद रखना चाहिए कि उपर्युक्त विधि उसी समय क्रियाशील होगी जबकि (i) श्रमिकों को बाजार की अवस्थाओं का पूर्ण ज्ञान हो तथा (ii) उनकी गतिशीलता में कोई बाधा नहीं हो। परन्तु वास्तविक जगत में इन दोनो शर्तों का पाया जाना कल्पना मात्र है। यही कारण है कि पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था मे व्यक्तियो की आय मे पर्याप्त अन्तर पाया जाता है तथा समाज मे आर्थिक विषमता पायी जाती है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था मे आय के अन्तर को दूर करने मे कीमत प्रणाली असफल सिद्ध होती है। आर्थिक विषमता बढती जाती है अतः इस आर्थिक विषमता को दूर करने के लिए सरकार को आवश्यक कदम उठाने पडते हैं।

(iv) अल्पकाल मे राशनिंग की व्यवस्था (Rationing in a Very short period)

प्रत्येक प्रकार की आर्थिक प्रणाली को अति अल्पकाल मे उन वस्तुओं के लिए, किसी न किसी प्रकार की राशनिंग की व्यवस्था करनी पडती है जिनकी पूर्ति कम होती है। ऐसी वस्तुओं के आवटन की व्यवस्था आर्थिक प्रणाली को करना पडता है। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में यह कार्य कीमत प्रणाली द्वारा किया जाता है। जिस वस्तु की कमी होती है उसकी कीमत बढ जाती है फलस्वरूप उपभोक्ता ऐसी वस्तु की कम मात्रा खरीदता है। कीमत उस समय तक बढती जाती है जब तक सभी उपभोक्ता स्थिर पूर्ति को लेने के बिन्दु पर नहीं आ जाते। इसके विपरीत जिस वस्तु की अधिकता होती है उसकी कीमत उस बिन्दु तक घटती जाती है जिस बिन्दु पर क्रेताओं द्वारा खरीदे जाने वाली मात्रा इतनी अधिक हो जाती है कि वे बाजार में उपलब्ध समस्त पूर्ति को खरीद सके। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था मे वस्तु के उपभोग को नियमित करने मे सट्टा (Speculation) महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। सटोरिए भविष्य मे होने वाली मूल्य की घट बढ का अनुमान लगाते हैं तथा क्रय–विक्रय द्वारा मूल्य व पूर्ति को प्रभावित करते हैं।

(४) उत्पादन क्षमता का अनुरक्षण तथा विकास (Economic Maintenance and Growth) :

प्रत्येक आर्थिक प्रणाली अधिक से अधिक विकसित होने का प्रयत्न करती है। आर्थिक विकास के लिए पूंजी आवश्यक है। अतः प्रत्येक प्रकार की आर्थिक प्रणाली किसी न किसी प्रकार से अधिक से अधिक पूँजी का सचय व विनियोजन करने का प्रयास करती है। आर्थिक साधनों की मात्रा मे वृद्धि, उनकी किस्मो मे सुधार तथा उत्पादन विधि मे निरन्तर सुधार करने का प्रयत्न प्रत्येक आर्थिक प्रणाली करती रहती है। श्रम-शक्ति का विकास वैज्ञानिक तथा प्राविधिक शिक्षा के विकास द्वारा किया जाता है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे दक्षता का विकास कीमत प्रणाली द्वारा प्रेरित होता है। अधिक कुशल व प्रशिक्षित व्यक्ति को कम कुशल व कम प्रशिक्षित व्यक्ति की अपेक्षा ऊची दर पर पारिश्रमिक प्राप्त होता है। अत श्रमिक अपनी कुशलता मे वृद्धि करने का प्रयत्न करते रहते हैं।

आर्थिक विकास के लिए पूँजी ईंधन के समान कार्य करती है। उत्पादन के लिए पूजी आवश्यक है। प्रत्येक प्रकार को आर्थिक प्रणाली आर्थिक विकास के लिए पूजी का अधिकाधिक प्रयोग करती है। उत्पादन की क्रिया मे जिस पूंजी का प्रयोग किया जाता है उसमे मूल्य ह्रास (Depreciation) होता रहता है। आर्थिक प्रणाली इस बात का प्रयत्न करती है कि प्रति वर्ष कम से कम, जितना मूल्य ह्रास होता है उससे अधिक मात्रा मे नई पूँजी का विनियोजन किया जाए जिससे पूँजी की मात्रा बढती रहे तथा आर्थिक विकास होता रहे। उत्पादन प्रणाली मे ज्यो ज्यो सुधार होता जाता है, उत्पादन की श्रेष्ठ विधियों का इस्तेमाल बढता जाता है, उसके साथ ही साथ उत्तरोत्तर अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है। विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे विभिन्न प्रकार के उद्योगो के लिए पूँजी का प्रयोग किया जाता है। इसे पूँजी प्रसार (Capital widening) कहते है। विकास के साथ ही साथ जब उद्योगो में पहले की अपेक्षा, श्रेष्ठ उत्पादन विधियो के कारण, उन्ही उद्योगो म पहले की अपेक्षा अधिक पूजी का इस्तेमाल करना पड़ता है तो इसे पूँजी की गहनता (Deepening of Capital) कहते हैं।

पूंजी बचत का परिणाम है। अतः पूजी मे समाज का त्याग निहित है। प्रत्येक अर्थ व्यवस्था इस बात का प्रयत्न करती है कि वर्तमान उपभोग का त्याग कर अधिक से अधिक पूजी का विनियोजन करे। पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था मे कीमत प्रणाली तथा लाभ द्वारा पूंजी संग्रह तथा विनियोजन को प्रोत्साहन मिलता है।

आर्थिक विकास के साथ ही साथ उत्पादन प्रविधि मे भी सुधार होता रहता है। उत्पादन प्रविधि मे सुधार द्वारा साधनो की दी हुई मात्रा द्वारा पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा मे उत्पादन किया जा सकता है। विभिन्न प्रकार के आविष्कारो द्वारा उत्पादन विधि मे सुधार करने का प्रयत्न निरन्तर चलता रहता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रत्येक प्रकार की आर्थिक प्रणाली को पाच प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं। ये पाचो समस्याए पूँजीवादी, समाजवादी आदि सभी प्रकार की अर्थ व्यवस्थाओ म पाई जाती हैं। इन समस्याओ का समाधान विभिन्न आर्थिक प्रणालियो मे अलग अलग ढग तथा नीतियों द्वारा किया जाता है। इन समस्याओ का समाधान किस प्रकार किया जाए। इसके लिए विभिन्न अर्थ व्यवस्थाओ मे अलग-अलग तरीके अपनाये जाते हैं। तरीको की विभिन्नता के कारण भी विभिन्न प्रकार की आर्थिक प्रणालियो मे मौलिक अन्तर पाय जाते है तथा एक आर्थिक प्रणाली दूसरे से भिन्न नजर आती है।

3 आर्थिक प्रणाली की कार्य विधि
(The Processes of Economic System)

आर्थिक प्रणाली का कोई भी रूप हो प्रत्येक आर्थिक प्रणाली मे आर्थिक क्रियाओ का स्वरूप एकसा होता है तथा आर्थिक-जीवन मूल रूप म एक प्रकार से प्रवाहित होता है। प्रत्येक आर्थिक प्रणाली मे आर्थिक-जीवन परिवार (House hold) तथा फर्मों के बीच, चक्राकार रूप मे प्रवाहित होता रहता है। (Whatever the form of economic organisation, the basic processes of economic life consists of a circular flow between households and firms)[1]

1. परिवार (Household) या उपभोक्ता (Consumer) : किसी भी अर्थ व्यवस्था मे परिवार को मूल ईकाई माना जाता है। परिवार आर्थिक जीवन की मुख्य उपभोक्ता इकाई है। परिवार व्यक्तियो (Persons) का समूह है जो अपनी वर्तमान आय या भूतकाल की आय का उपयोग अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए, वस्तुओ को खरीद कर करता है। परिवारो द्वारा इस प्रकार व्यय की गई राशि को 'उपभोग पर व्यय' कहते हैं।

2 साधन स्वामी (The factor owner) · आर्थिक प्रणाली मे दूसरी प्रमुख इकाई साधन स्वामी होता है। जिस व्यक्ति या सस्था के पास साधन होता है वह उसका प्रयोग प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उत्पादन के लिए करता है। सामान्य रूप स प्रत्येक परिवार किसी न किसी साधन (भूमि,श्रम, प्रबन्ध, पूँजी आदि) का स्वामी होता है, जो उत्पादन के लिए साधन प्रदान करता है तथा साधन के बदले मे आय प्राप्त करता है जिसका उपयोग वह उपभोग के लिए करता है।

3. व्यावसायिक फर्म (Business firm) : आर्थिक जीवन मे फर्म मूल उत्पादक इकाई होती है। फर्म वैयक्तिक या सार्वजनिक (Private or Public)

1 Sickle J V. Van, and Rogge B A. Introduction to Economics, 1968 P 13

स्वामित्व की हो सकती है। फर्म एक दुकान के रूप में (व्यक्तिगत या सार्वजनिक), एक स्टील मिल के रूप मे (व्यक्तिगत या सार्वजनिक), या कृषि फार्म (व्यक्तिगत या सामूहिक) या किसी अन्य रूप मे कार्य कर सकती है। फर्म द्वारा उत्पादनकार्य किया जाता है। आर्थिक प्रणाली का कोई भी रूप हो, एक फर्म की मुख्य विशेषता यह है कि यह साधनो का एकत्रित रूप होती है जिन्हे वस्तुओ के उत्पादन के लिए एकत्रित किया जाता है। फर्म उत्पादन के लिए उत्पादन साधनो का प्रयोग करती है तथा इसके लिए जो कुछ व्यय करती है, उसे लागत कहते हैं, उनके अन्तिम रूप मे ये लागतें साधन स्वामियो के लिए आय होती हैं। फर्मों के समूह को (एक प्रकार का या मिलता जुलता उत्पादन करने वाली) उद्योग कहते हैं।

इस प्रकार परिवार तथा फर्म दोनो, दो प्रकार के बाजारो मे कार्य करती हैं—(i) उपभोग्य वस्तुओ तथा सेवाओ के बाजारो मे तथा (ii) साधनो के बाजारो मे।

आर्थिक क्रियाओं का चक्राकार प्रवाह (The Circular flow of economic activities).

प्रत्येक प्रकार की आर्थिक प्रणाली मे परिवारो तथा फर्मों के बीच आर्थिक क्रियाओ का चक्राकार प्रवाह चलता रहता है। यहा पर हम आर्थिक क्रियाओ के चक्राकार प्रवाह पर प्रकाश डालेंगे। आर्थिक क्रियाओ के चक्राकार प्रवाह का केन्द्र विन्दु (परिवारो से फर्मों को) साधनो का प्रवाह तथा इसके विपरीत दिशा में वस्तुओ तथा सेवाओ का प्रवाह (फर्मों से परिवारो की ओर) होता है। परिवार फर्मों को साधन प्रदान करते हैं तथा फर्म परिवारो को वस्तुऐ तथा सेवाएँ प्रदान करती हैं। इस मूलचक्र (Primary Circuit) का स्पष्टीकरण चित्र संख्या 1 द्वारा होता है:

चित्र स० 1



प्रत्येक अर्थ व्यवस्था मे मुद्रा का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार आर्थिक क्रियाओ के चक्राकार प्रवाह मे एक दूसरा चक्र भी क्रियाशील होता है जिसे मौद्रिक चक्र (Monetary Circuit) कहते है। आज कल परिवार अपने साधनो का,

वस्तुओं तथा सेवाओं से वस्तु विनिमय (Barter) नहीं करते बल्कि वे साधनों के बदले मुद्रा प्राप्त करते हैं तथा इस मुद्रा का प्रयोग वे वस्तुओं तथा सेवाओं के विनिमय के लिए करते हैं। इस प्रकार मौद्रिक चक्र के अन्तर्गत दो बातें सम्मिलित हैं—प्रथम फर्मों से परिवारों को मुद्रा का प्रवाह तथा द्वितीय, (प्रथम के विपरीत) परिवारों से फर्मों को मुद्रा का प्रवाह। परिवार आवश्यक वस्तुएँ तथा सेवाएँ फर्मों से क्रय करते हैं तथा फर्मों को मुद्रा में भुगतान करते हैं। आर्थिक क्रियाओं के इस दोहरे चक्र का स्पष्टीकरण चित्र संख्या 2 द्वारा होता है। फर्मों से परिवारों को जो मुद्रा प्रवाहित होती हैं वह फर्म की दृष्टि से लागत (cost) होती है तथा परिवार की दृष्टि से आय होती है। इसी प्रकार फर्मों को जो मुद्रा परिवारों से प्रवाहित होती है वह परिवारों के लिए उपभोग व्यय (Consumption expenditure) है तथा फर्मों के लिए कुल आय (gross revenues) होती है।

चित्र स० 2



इस चक्राकार प्रवाह को 'धन चक्र' (Wheel of wealth) भी कहते हैं। आर्थिक क्रियाओं का यह चक्राकार प्रवाह पूँजीवादी, समाजवादी आदि सभी अर्थ-व्यवस्थाओं में पाया जाता है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व होता है तथा आर्थिक निर्णय बाजार-तन्त्र या कीमत प्रणाली (Market Mechanism or price system) द्वारा लिये जाते हैं। समाजवादी अर्थ व्यवस्था में साधनों पर राज्य का स्वामित्व होता है तथा आर्थिक निर्णय राज्य द्वारा लिये जाते है। साधनों का स्वामित्व चाहे जिस प्रकार का हो, आर्थिक निर्णय चाहे जिस प्रकार लिये जाते हो, आर्थिक क्रियाओं के उपर्युक्त चक्राकार प्रवाह पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह चक्राकार प्रवाह प्रत्येक प्रकार की अर्थव्यवस्था में पाया जाता है।

[आर्थिक क्रियाओं के इस चक्राकार प्रवाह को किसी भी आधुनिक अर्थ-व्यवस्था के सम्बन्ध में निम्न लिखित प्रकार से भी स्पष्ट किया जा सकता है। विद्यार्थी आर्थिक क्रियाओं के चक्राकार प्रवाह को या तो उपर्युक्त विधि द्वारा स्पष्ट करें या वे अग्र लिखित विधि का प्रयोग कर सकते हैं।]

आर्थिक क्रियाओं का चक्राकार प्रवाह (द्वितीय विधि)

पहले व्यक्ति स्वावलम्बी था तथा वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं करता था। वह उत्पादक तथा उपभोक्ता-दोनों ही था। परन्तु आधुनिक उत्पादन विक्रय के लिये किया जाता है। उत्पादन के लिए विभिन्न प्रकार के उत्पादन साधनों को एकत्रित किया जाता है तथा उनके सहयोग से उत्पादन-साधनों को प्रतिफल देना आवश्यक होता है।

अतः लगान, मजदूरी, ब्याज, वेतन व लाभांश के रूप में विभिन्न उत्पादन-साधनों को भुगतान किया जाता है। विनियोजकों को ब्याज व लाभांश तथा कर्मचारियों को मजदूरी व वेतन के रूप में आय प्राप्त होती है। इस आय का उपयोग वे वस्तुओं तथा सेवाओं को खरीदने के लिए करते हैं। इस प्रकार उत्पादन द्वारा आय प्राप्त होती है, तथा आय द्वारा उत्पादन को खरीदा जाता है। अत प्रत्येक व्यक्ति दो रूपों में आर्थिक क्रियाओं में भाग लेता है—उत्पादन के साधन के रूप में वस्तुओं का उत्पादन करने में, तथा उपभोक्ता के रूप में उत्पादित वस्तुओं को क्रय कर उनका उपभोग करने में। इस दोहरी क्रिया में फर्में भी भाग लेती हैं—वे उत्पादन-साधनों को आय के रूप में भुगतान करती हैं तथा क्रेताओं को वस्तुओं और सेवाओं का विक्रय करती हैं। इस प्रक्रिया का परिणाम इस प्रकार होता है—उत्पादन द्वारा आय होती है आय का उपयोग क्रय-शक्ति के रूप में व्यय करके किया जाता है। व्यय करने के कारण उत्पादन की माग होती है। इस प्रकार आय व्यय तथा उत्पादन चक्राकार चलते रहते हैं। इस चक्राकार क्रिया में न तो कोई आरम्भ बिन्दु होता है, न अन्तिम बिन्दु। अत. राष्ट्रीय आय एक प्रवाह के रूप में निरन्तर निर्बाध बहती रहती है।

उत्पादन के साधनों की मात्रा, उनकी उत्पादन-शक्ति तथा वस्तुओं के माग-परिवर्तन के अनुसार राष्ट्रीय आय भी घटती-बढती रहती है। इस प्रकार राष्ट्रीय आय स्थिर या निश्चित कोष नहीं है। यह एक निरन्तर बहने वाला प्रवाह है, जिसमें उतार-चढाव होते रहते है। इसी राष्ट्रीय आय में से उत्पादन के साधनों को हिस्सा प्रदान किया है।

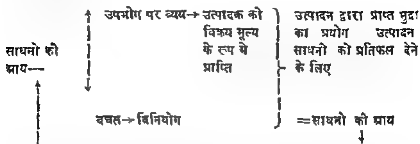
अत नागरिकों की आय = उत्पादन साधनों को मुद्रा के रूप में भुगतान = उत्पादन का विक्रय मूल्य।

प्राप्त आय को उपभोग पर व्यय किया जाता है तथा कुछ भाग बचत के रूप में शेष रहता है अत —

आय = उपभोग + बचत

बचत का उपयोग पूंजीगत वस्तुओं को खरीदकर विनियोग के रूप में किया जाता है। इन पूंजीगत वस्तुओं का प्रयोग उत्पादन के लिए किया जाता है, जिससे

पुन आय प्राप्त होती है। इस प्रकार आर्थिक क्रियाओ द्वारा आय का एक चक्राकार प्रवाह बन जाता है



आर्थिक क्रियाओ के इस चक्राकार प्रवाह से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि (1) यदि उत्पादन साधन कम है तो कुल उत्पादन भी कम होगा (2) उत्पादको को विक्रय-मूल्य के रूप मे प्राप्ति इस बात पर निर्भर है कि साधनो को कितनी मात्रा मे भुगतान किया जाता है। उत्पादन-साधनों को किया गया भुगतान और विक्रय द्वारा प्राप्त धनराशि अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। किसी भी देश मे आय एव रोजगार का निर्धारण इन्ही के द्वारा होता है।

साधनो को किया गया भुगतान उत्पादन लागत के बराबर होता है, इसे 'कुल राष्ट्रीय उत्पादन का पूर्ति-मूल्य' (Aggregate supply price of the national output) कह सकते हैं। साधन, प्राप्त आय का उपयोग वस्तुओ तथा सेवाओ को खरीदने के लिए करते हैं, अत कुल खरीद-मूल्य को राष्ट्रीय उत्पादन का 'माग मूल्य' (demand price) कह सकते है। 'पूर्ति मूल्य' तथा 'माग मूल्य' एक दूसरे पर निभर है। इन दानो का असन्तुलन देश की आय तथा रोजगार मे परिवतन लाता है। राष्ट्रीय उत्पादन के माग-मूल्य को ऊँचा रखकर रोजगार मे वृद्धि की जा सकती है।

सदर्भ-ग्रन्थ

1 Due and Clower, Intermediate Economic Analysis, 1963 Ed., Chap 1

2. Van Sickle, J. V, and Rogge, B A., Introduction to Economics 1968 Ed, Chap. 1.

3 Stigler, George J, Theory of Price, 1966 Ed Chap 2.

4 Samuelson, Paul A, Economics-An Introductory Analysis 1958 Ed., Chap 2

5 Leftwich Richard H, The Price System and Resource Allocation, 3rd Ed Chapter I & II

अभ्यास प्रश्न

1 आर्थिक समस्या किसे कहते है ?

(सकेत · इस प्रश्न के उत्तर के लिए मानवीय आवश्यकताएँ, साधन तथा चुनाव की समस्या पर प्रकाश डालिए तथा स्पष्ट करिये कि जहा भी अनेक आवश्यकताऐ तथा सीमित साधन होंगे उसे आर्थिक समस्या कहेगे ।)

2 आर्थिक प्रणाली के कार्यों का उल्लेख कीजिए ।

(सकेत : आर्थिक प्रणाली के पाँचो कार्यों को स्पष्ट रूप से समझाईए ।)

3 आर्थिक क्रियाओ के चक्राकार प्रवाह को स्पष्ट कीजिए ।

(सकेत सक्षेप मे परिवार तथा फर्म के सम्बन्धो पर प्रकाश डालिए तथा इस अध्याय म दिये गये दोनो चित्रो की सहायता से चक्राकार प्रवाह को स्पष्ट कीजिए या अध्याय के अन्त मे दी गई विधि से चक्राकार प्रवाह को स्पष्ट कीजिए ।)

4 पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे कीमत प्रणाली के महत्व पर प्रकाश डालिए ।

(सकेत सबसे पहले यह स्पष्ट कीजिए कि कीमत प्रणाली का पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे महत्त्वपूर्ण स्थान है । इसके पश्चात् आर्थिक प्रणाली के पाचो कार्यों का उल्लेख करते हुए यह स्पष्ट कीजिए कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे इन पाचो कार्यों का सचालन कीमत प्रणाली द्वारा किस प्रकार किया जाता है ।)

2

अर्थशास्त्र की परिभाषा
(Definition of Economics)

"The rationale of any definition is to be found in the use which is actually made of it."

—Robbins

अर्थशास्त्र का जन्म सन् 1776 मे एडम स्मिथ (Adam Smith) की महान कृति 'राष्ट्रों के धन के स्वरूप तथा कारणो की जाच' (*An Enquiry into the Nature and Causes of Wealth of Nations*) के प्रकाशन के साथ हुआ था। उस समय इसका नाम 'राज्य अर्थव्यवस्था' (*Political Economy*) रखा गया, जो उस समय से लगभग एक शताब्दी तक प्रयोग मे लाया जाता रहा। 19वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे इस विज्ञान को एक नया नाम देने के कई प्रयास किए गए। व्हेटली (Whately) ने यह सुझाव दिया कि इसका नाम 'राज्य अर्थव्यवस्था' से बदल कर 'विनिमय का विज्ञान' (*Catallactics* or Science of Exchanges) रख दिया जाय। हर्न (Hearn) ने इसे 'धन का विज्ञान' (*Plutology*) कहना उचित समझा था। इन्ग्राम (Ingram) ने इसे 'धन पैदा करने का विज्ञान' (*Chrematistics* or the Science of money-making) नाम देने पर जोर दिया था।

परन्तु नाम बदलने के इन सभी प्रयत्नो के बावजूद भी 19वी शताब्दी के मध्य तक इसका नाम 'राज्य अर्थव्यवस्था' ही प्रचलित रहा। प्रोफेसर मार्शल (Prof Marshall) की विख्यात पुस्तक 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त' (*Principles of Economics*) सन् 1890 मे प्रकाशित हुयी। उस समय तक अर्थशास्त्र के क्षेत्र का पर्याप्त विकास हो जाने तथा 'धन के विज्ञान' के रूप में इस शास्त्र की कटु आलोचना होने के कारण मार्शल ने उसे 'अर्थशास्त्र' (Economics) नाम देकर उसे उसकी सकीर्ण सीमाओ से मुक्ति प्रदान की। उस समय से आज तक यही नाम प्रयोग किया जाता रहा है, यद्यपि इधर कुछ वर्षो से इसे अधिक वैज्ञानिक

आधार प्रदान करने के लिए कुछ विद्वानों ने, जिनमें प्रोफेसर के० ई० बोल्डिंग (Prof K. E. Boulding) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त' (*Principles of Economics*) के स्थान पर 'आर्थिक विश्लेषण' (*Economic Analysis*) नाम का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया है।

अर्थशास्त्र एक विकासशील एवं गतिशील विषय है। इस शास्त्र की सर्व मान्य परिभाषा देने की समस्या आज भी बनी हुयी है। अर्थशास्त्रियों में इसकी परिभाषा के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। इन मतभेदों के आधार पर ही बारबरा वूटन (Barbara Wooton) ने यह कहा है कि "छः अर्थशास्त्रियों के एकत्रित होने पर सात मत होंगे।"[1] जे० एन० कन्स का भी इस सम्बन्ध में यह कहना है कि 'राज्य अर्थव्यवस्था ने परिभाषाओं से अपना गला घोंट लिया है।"[2] जैकब वाइनर (Jacab Viner) ने तो यहां तक कहा है कि "जो कुछ अर्थशास्त्री करते है, वह अर्थशास्त्र है।"[3] अर्थशास्त्र की परिभाषाओं में भिन्नता तथा उसकी सर्वमान्य परिभाषा के सम्बन्ध में मतभेद इस बात की ओर संकेत करता है कि आर्थिक गतिविधियों में निरन्तर परिवर्तन होने के कारण अर्थशास्त्र के विषय क्षेत्र में भी निरन्तर एवं क्रमिक विस्तार होता रहा है। ऐसी स्थिति में समय तथा परिस्थितियों के अनुसार इस शास्त्र की परिभाषाओं में कुछ सीमा तक भिन्नता होना स्वाभाविक है। इसकी सीमाएं तथा विषय क्षेत्र या सामग्री न तो पहले ही निश्चित थी और न आज तक ही निश्चित हो पायी है। इसीलिए रिचार्ड जोन्स (Richard Jones) तथा काम्टे (Comte) ऐसे पुराने अर्थशास्त्री तथा जैकब वाइनर, मारिस डॉब (Maurice Dobb), गुन्नार मिर्डल (Gunnar Myrdal) तथा वान माइजेस (Von Mises) ऐसे नवीन अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र की परिभाषा देने की आवश्यकता नहीं समझते।

परन्तु परिभाषा न देने की विचारधारा उपयुक्त प्रतीत नहीं होती, क्योंकि किसी भी शास्त्र के क्षेत्र तथा इसकी विषय-सामग्री का ज्ञान, उसकी परिभाषा के द्वारा बहुत कुछ अंशों में हो जाता है। क्षेत्र परिभाषित न होने पर इसके अन्तर्गत उन बातों को भी सम्मिलित किया जा सकता है जिनका अर्थशास्त्र से कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

अर्थशास्त्र की परिभाषा
(Definition of Economics)

विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र को विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया है। अध्ययन की सुविधा एवं सरलता की दृष्टि से इन सभी परिभाषाओं को चार

[1] "Whenever six economists are gathered, there are seven opinions" —Barbara Wooton *'Lament of Economics*.

[2] "Political Economy is said to have strangled itself with definitions" —J N Keynes

[3] 'Economics is what economists do" — Jacob Viner.

वर्गों मे बाटा जा सकता है (1) धन सम्बन्धी परिभाषाए (Wealth Definitions), (2) कल्याण प्रधान परिभाषा (Welfare Definition), (3) दुर्लभता प्रधान परिभाषा (Scarcity Definition); तथा (4) आवश्यकता विहीनता सम्बन्धी परिभाषा (Wantlessness Definition)।

1. धन प्रधान परिभाषा
(Wealth Definition)

अर्थशास्त्र के जन्मदाता एडम स्मिथ तथा उनके अनुयायियों, प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र को 'धन का विज्ञान' कहकर परिभाषित किया था। उनके द्वारा दी गयी अर्थशास्त्र की परिभाषाओं मे धन पर ही विशेष बल दिया गया है। एडम स्मिथ ने अपनी पुस्तक "An Enquiry into the Nature and Causes of Wealth of Nations" मे इसे राष्ट्रीय सम्पत्ति के स्वभाव तथा कारणों के अध्ययन का शास्त्र मानकर 'राजनैतिक अर्थ व्यवस्था"(Political Economy) की सज्ञा दी उन्होने इस विषय को एसा शास्त्र बतलाया जो राष्ट्रो के धन-सम्बन्धी कारणों एव प्रयत्नो का ज्ञान कराता है।[4]

विवेचना कुछ आलोचकों का यह मत है कि एडम स्मिथ (Adam Smith) ने अपनी उपर्युक्त परिभाषा मे धन को प्रधानता दी है तथा अर्थशास्त्र को धन का शास्त्र माना है। परन्तु यह सकुचित मान्यता इस परिभाषा मे कही पर स्पष्ट रूप से व्यक्त नही है। वास्तव मे एडम स्मिथ ने राजनैतिक अर्थ व्यवस्था के विषय के उद्देश्यो को अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। उनके अनुसार अर्थशास्त्र का मुख्य उद्देश्य व्यक्तियों तथा राष्ट्र को धनी तथा समृद्धिशाली बनाना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए व्यक्ति तथा राष्ट्र दोनो के ही द्वारा धन की व्यवस्था करना आवश्यक है। अत अर्थशास्त्र धन की व्यवस्था के लिए किए गए प्रयत्नो का अध्ययन है।

फ्रास के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री जे० बी० से (J B. Say) ने एडम स्मिथ के विचारो का समर्थन करते हुए कहा कि "अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो धन का अध्ययन करता है।[5] वाकर (Walker), जो अमेरिका के एक प्रमुख अर्थशास्त्री थे, का भी यह मत था कि "अर्थशास्त्र ज्ञान की वह शाखा है जो धन से सम्बन्धित है।"[6] जे० एस० मिल ने भी अर्थशास्त्र को 'मनुष्य से सम्बन्धित धन का विज्ञान' कह कर परिभाषित किया।[7] इन परिभाषाओ से अग्रलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

4. "Economics is concerned with enquiring into the causes of the wealth of nations." —*Adam Smith*
5. "Economics is the science which treats of wealth." —*J. B. Say*
6. "Economics is that body of knowledge which relates to wealth." —*Walker*
7. "Economics is the science of wealth related to man." —*J. S. Mill*

(i) **धन का विशेष महत्व** : प्राचीन या प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र को धन या सम्पत्ति का विज्ञान माना है जिसका उद्देश्य स्वहित के लिए धन एकत्र करने के उपायों का अध्ययन करना है। अतः इन अर्थशास्त्रियों के विचार से अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री का केन्द्र-बिन्दु धन है।

(ii) **आर्थिक मनुष्य की कल्पना** : एडम स्मिथ तथा उनके समर्थकों की यह धारणा थी कि व्यक्तिगत समृद्धि बढ़ने पर ही राष्ट्रीय धन एवं सम्पत्तियों में वृद्धि सम्भव है। यही कारण है कि एडम स्मिथ ने एक ऐसे 'आर्थिक मनुष्य' (Economic Man) की कल्पना की जो केवल स्वहित की भावना से प्रेरित होकर धन कमाने के लिए प्रयत्नशील रहता है तथा जिस पर नैतिक विचारों का प्रभाव नहीं पड़ता है।[8]

(iii) **मनुष्य का गौण स्थान** : धन को ही मानवीय सुखों का एक मात्र आधार एवं मापदण्ड मान कर प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने धन को प्रमुख स्थान प्रदान किया तथा मनुष्य को गौण। उनके विचार से धन से मनुष्य धनी अथवा निर्धन होता है। एडम स्मिथ ने इस विचार का समर्थन करते हुए लिखा है "प्रत्येक व्यक्ति उस सीमा तक ही धनी या निर्धन है जहां तक कि वह मानव जीवन की आवश्यकताओं, सुविधाओं तथा सुखों का आनन्द ले सकता है।"[9]

आलोचना

1. **धन पर अधिक जोर** : 'धन के शास्त्र' के रूप में अर्थशास्त्र की कटु आलोचनाएं की गयी। धन पर जोर देने के कारण यह लाभ तो अवश्य हुआ कि निजी तथा राष्ट्रीय सम्पत्ति में वृद्धि हुई, परन्तु इस अपूर्ण एवं संकुचित विचार-धारा ने अनेक घातक, असामाजिक एवं आर्थिक अनैतिकताओं को जन्म दिया। सामान्य वर्ग की दशा बहुत ही हीन हो गयी। समाज सुधारकों ने उस समय के समाज की हीन दशा के लिए प्राचीन अर्थशास्त्रियों द्वारा दी गयी अर्थशास्त्र की परिभाषा को दोषी ठहराया। इन अर्थशास्त्रियों ने जीवन के उच्चतर मूल्यों पर ध्यान नहीं दिया। उन्होंने मनुष्य को भौतिकता (Materialism) का पाठ पढ़ाया। इन अर्थशास्त्रियों ने धन को साध्य (end) माना, साधन नहीं। इंगलैंड में कार्लाइल (Carlyle), रस्किन (Ruskin) तथा विलियम मौरिस ने प्राचीन अर्थशास्त्रियों की कड़ी निन्दा की। कार्लाइल ने अर्थशास्त्र की प्राचीन परिभाषा की आलोचना करते

---

8 " ... the mystical 'economic man' who is under no ethical influences and who pursue pecuniary gain warily and energetically but mechanically and selfishly" —*Marshall*

9 "Every man is rich or poor according to the degree in which he can afford to enjoy the necessaries, conveniences and amusements of life" —*Adam Smith*

हुए कहा कि 'धन के विज्ञान' के रूप में अर्थशास्त्र को 'कुबेर का अर्थशास्त्र' (Gospel of Mammon) कहना अधिक उपयुक्त होगा। रस्किन ने इसे 'अधम विज्ञान' (A bastard science) बतलाया। उनका विचार था—धन की अपेक्षा मनुष्य का जीवन अधिक महत्वपूर्ण है। मनुष्य अच्छी तरह जीवन व्यतीत करने के लिए ही धन प्राप्त करता है न कि धनी बनने के लिए। अन्य विचारकों ने अर्थशास्त्र को 'रोटी-टुकड़े का विज्ञान' (Bread and Butter Science) तथा "स्वार्थी विज्ञान' के नाम से सम्बोधित किया और इसकी कटु आलोचनाएं की।

2 आर्थिक मनुष्य की कल्पना निराधार इन अर्थशास्त्रियों ने एक आर्थिक मनुष्य (Economic Man) की कल्पना की जो निरन्तर स्वार्थ से प्रेरित होकर काम करता है तथा जिस पर नैतिकता, धर्म, आचार आदि का प्रभाव नहीं पड़ता है। ऐसे मनुष्यों के हितों में वृद्धि होने से समाज के हित में भी वृद्धि होती है। परन्तु यह धारणा निर्मूल थी। सामाजिक मनुष्य 'आर्थिक मनुष्य' से भिन्न होता है तथा वह मानव मूल्यों (Human Values) से भी प्रभावित होता है।

जर्मन ऐतिहासिक विचारधारा (Historical School) के अर्थशास्त्रियों ने 'स्वहित या स्वार्थ' की मान्यता की कटु आलोचना की और कहा कि सामाजिक हित केवल निजी स्वार्थों से ही सम्भव नहीं हो सकता। व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्व देना आवश्यक है। अतः यह स्पष्ट है कि प्राचीन अर्थशास्त्रियों की मान्यताएं काल्पनिक थी। (इस दोष को दूर करने तथा अर्थशास्त्र के क्षेत्र को अधिक व्यापक बनाने के उद्देश्य से ही ऐतिहासिक विचारधारा के समर्थक रोशर (Roscher) ने अर्थशास्त्र की एक नयी परिभाषा प्रस्तुत की। उनके अनुसार "राष्ट्रीय अथवा राजनैतिक अर्थ व्यवस्था से हमारा तात्पर्य उस विज्ञान से है जिसका सम्बन्ध किसी राष्ट्र अथवा उसके आर्थिक राष्ट्रीय जीवन के विकास के नियमों से है।"[10])

3 मनुष्य की उपेक्षा : इन अर्थशास्त्रियों ने 'धन' पर जोर दिया तथा मनुष्य की उपेक्षा की। वस्तुतः अर्थशास्त्र का सम्बन्ध मनुष्य से अधिक है। 'मनुष्य' की उपेक्षा कर 'धन' की महत्ता पर अधिक जोर देना उचित नहीं था।

4 अर्थशास्त्र के क्षेत्र का सकुचित होना : धन प्रधान परिभाषाओं ने अर्थशास्त्र के क्षेत्र को सीमित कर दिया। इन परिभाषाओं के अनुसार केवल धन सम्बन्धी क्रियाओं का अध्ययन ही अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री बन गयी जबकि अर्थशास्त्र का क्षेत्र वस्तुत बहुत विस्तृत है।

10 "By the science of national or Political Economy, we understand the science which has to do with the laws of development of the economy of nation or with the economic national life"
—*Roscher*

उपर्युक्त 'धन प्रधान' परिभाषाओं की आलोचनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये परिभाषाएं संकुचित, वास्तविकता से दूर तथा दोषपूर्ण हैं। इन अर्थशास्त्रियों ने धन को ही केन्द्र बिन्दु मान लिया। एडम स्मिथ ने स्पष्ट रूप में लिखा है, 'Political Economy proposes to enrich both, the people and the sovereign' अर्थात् अर्थशास्त्र का उद्देश्य जनता तथा राज्य को धनी बनाना है। अर्थशास्त्र के इस उद्देश्य तथा धन की प्रधानता के आधार पर हम इन अर्थशास्त्रियों की कटु आलोचना कर सकते हैं, फिर भी हम यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इन अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र का एक स्वतन्त्र विषय के रूप में प्रतिष्ठित किया तथा भविष्य के आर्थिक विचारों के लिए आधार प्रस्तुत किया। यदि हम तत्कालीन परिस्थितियों तथा अर्थशास्त्र के प्रारम्भ पर ध्यान दें तो सम्भवत हम इन अर्थशास्त्रियों को उतना दोष नहीं देंगे जितना दोषारोपण उन पर किया गया है। आधुनिक अर्थशास्त्र का प्रारम्भ, कम से कम आंशिक रूप में, वाणिज्यवादी लेखकों द्वारा किया गया जिन्हें "परामर्शदाता, प्रशासक तथा प्रचारक" (Consultants, administrators and pamphleteers) की संज्ञा दी गई है। ये लेखक व्यावहारिक परिणामों (Practical results) पर जोर देते थे। एडम स्मिथ तथा उनके समर्थक इस प्रभाव से वंचित नहीं रह सके। उन्होंने अर्थशास्त्र को एक व्यावहारिक विषय के रूप में देखा। वाणिज्यवादियों के प्रभाव के कारण ही एडम स्मिथ के विचार इस प्रकार के थे। एडम स्मिथ ने व्यावहारिक पक्ष पर अधिक ध्यान दिया। यही कारण है कि उन्होंने 'धन' को अधिक महत्व दिया।

2 कल्याण-प्रधान परिभाषा
(Welfare Definition)

इंगलैंड के समाज सुधारकों की आलोचनाओं तथा जर्मन ऐतिहासिक विचारधारा के अनुयायियों के नवीन विचारों से यह स्पष्ट हो गया कि प्राचीन अर्थशास्त्रियों के विचार उपयुक्त नहीं थे।

यह विचार जोर पकड़ता गया कि धन साधन मात्र (Means) है, साध्य (End) नहीं है। वस्तुत साध्य तो मानव-कल्याण (Human Welfare) है। अत अब धन की अपेक्षा मनुष्य को अर्थशास्त्र में प्रधानता दी गई[11] तथा मानव का भौतिक कल्याण अर्थशास्त्र का केन्द्र बिन्दु हो गया। प्रो० मार्शल, पीगू, फेयर चाइल्ड, सीगर, रिचार्ड्स, पेन्सन, बेवरिज आदि प्रमुख अर्थशास्त्रियों की परिभाषाओं में अर्थशास्त्र का उद्देश्य 'मानव-कल्याण' की वृद्धि करना बतलाया गया। अत इन अर्थशास्त्रियों द्वारा दी गई परिभाषाओं को 'कल्याण प्रधान' परिभाषा कहा जाता है।[12]

11. "The starting point and goal of our science is man" —*Roscher*

12. "Economic activities rather than economic goods form the subject matter of the science." —*Carter*

(क) मार्शल की परिभाषा :

अल्फ्रेड मार्शल प्रथम अर्थशास्त्री थे जिन्होंने सन् 1890 में अपनी विख्यात पुस्तक 'Principles of Economics' द्वारा अर्थशास्त्र को तीव्र आलोचनाओं, निन्दाओं तथा अपयश से बचाकर एक सम्मानपूर्ण विषय के रूप में प्रतिष्ठित किया। उन्होंने अर्थशास्त्र का उद्देश्य मानव-कल्याण (Human Welfare) माना। 'धन' को मानव कल्याण का साधन मात्र माना तथा अर्थशास्त्र को 'सामाजिक हित का एक यन्त्र' (an engine of social betterment) का रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया।

मार्शल के समय में परिस्थितियां बदल चुकी थीं। औद्योगिक विकास के कारण नई आर्थिक समस्याएं प्रकाश में आईं। अतः अर्थशास्त्र के स्वरूप में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया। जर्मन अर्थशास्त्रियों द्वारा आगमन प्रणाली पर तथा आस्ट्रियन स्कूल द्वारा 'वैयक्तिक दृष्टिकोण' पर विशेष जोर देने के कारण आर्थिक सिद्धान्तों को आधुनिक रूप प्रदान करना आवश्यक हो गया था। अर्थशास्त्र धन-प्रधान परिभाषाओं के कारण बहुत बदनाम हो चुका था। अतः मार्शल ने इन सभी बातों का ध्यान रखते हुए, अर्थशास्त्र के पुराने सिद्धान्तों का, तत्कालीन समस्याओं के प्रकाश में नए ढंग से विश्लेषण किया। इस बात का उन्होंने अपनी पुस्तक में स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है।[13]

मार्शल ने देखा कि अर्थशास्त्र की बदनामी का प्रमुख कारण 'धन' पर विशेष जोर देना है, इसलिए उन्होंने इस दोष को दूर करने का प्रयत्न किया। उन्होंने यह कार्य बड़ी चतुराई और कुशलता से किया। उन्होंने धन से ध्यान हटाकर, आर्थिक-कल्याण पर जोर दिया, जो धन या वस्तुओं से प्राप्त होता है। इसी प्रकार उन्होंने देश को समृद्ध बनाने के तरीकों (measures) पर जोर न देकर, देश के कल्याण पर जोर दिया जो उन तरीकों का ही परिणाम है। उन्होंने 'धन' को केवल साधन माना जिसकी कामना मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए करता है। उनके विचार से आवश्यकताओं की सतुष्टि ही मानव कल्याण है और मानव-कल्याण (Human Welfare) मनुष्य की क्रियाओं का लक्ष्य है। अतः मार्शल के अनुसार अर्थशास्त्र धन का विज्ञान नहीं बल्कि मानव कल्याण का विज्ञान है। इस प्रकार अर्थशास्त्र का केन्द्र बिन्दु है—'मनुष्य' तथा उसका आर्थिक कल्याण।

मार्शल ने तत्कालीन विचारों को समन्वित कर अर्थशास्त्र की एक नयी परिभाषा प्रस्तुत की। उनके अनुसार

---

[13] The present treatise is an attempt to present a modern version of old doctrines with the aid of new work and with reference to the new problems of our age"

"जीवन के साधारण व्यावसाय मे मनुष्य की क्रियाओं का अध्ययन ही अर्थशास्त्र है। यह जाच करता है कि मनुष्य किस प्रकार धन प्राप्त करता है और किस प्रकार उसका प्रयोग करता है…इस प्रकार एक ओर यह धन का अध्ययन है और दूसरी ओर जो अधिक महत्वपूर्ण है, मनुष्य के अध्ययन का एक भाग है।"

"Political Economy or Economics is a study of man's actions in the ordinary business of life, it enquires how he gets his income and how he uses it………. Thus, it is on one side the study of wealth and on the other and more important side, a part of the study of man" —*Marshall, Economics of Industry*

प्रो० मार्शल ने उपर्युक्त परिभाषा के उद्देश्य को अधिक विस्तृत करने के लिए उसमे सशोधन किया। यह सशोधित परिभाषा इस प्रकार थी :

"अर्थशास्त्र जीवन के साधारण व्यवसाय मे मानव-जाति का अध्ययन है, यह व्यक्तिगत तथा सामाजिक क्रियाओं के उस भाग की जाच करता है जिनका भौतिक कल्याण के साधनो की प्राप्ति तथा उनके प्रयोग से बड़ा घनिष्ट सबंध है"

"Economics is a study of mankind in the ordinary business of life; it examines that part of individual and social action which is most closely connected with the attainment and with the use of material requisites of well-being"

—*Marshall, Principles of Economics.*

मार्शल की परिभाषा की व्याख्या :—

1. मनुष्य का अध्ययन : अर्थशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है, जिसके अध्ययन का विषय 'मनुष्य' है। अर्थशास्त्र मे मनुष्य का स्थान प्रमुख है तथा धन का गौण। एडम स्मिथ आदि ने धन को अर्थशास्त्र मे प्रमुख स्थान प्रदान किया था। मार्शल ने धन के महत्व को स्वीकार किया, परन्तु उन्होने धन को साधन मात्र माना तथा 'मनुष्य' पर अधिक जोर दिया। मार्शल ने स्पष्ट रूप से कहा है "एक ओर तो यह (अर्थशास्त्र) धन का अध्ययन है दूसरी ओर जो अधिक महत्वपूर्ण है, मनुष्य के अध्ययन का एक भाग है।" अर्थशास्त्र मे केवल मनुष्य की क्रियाओ का अध्ययन किया जाता है, पशु-पक्षी आदि की क्रियाओ का नही।

2. सामाजिक (Social) वास्तविक (Real) तथा सामान्य (Normal) मनुष्य का अध्ययन : एडम स्मिथ तथा उसके समर्थको ने एक 'आर्थिक मनुष्य' की कल्पना की थी। मार्शल के अनुसार अर्थशास्त्र 'रहस्यपूर्ण आर्थिक मनुष्य' की क्रियाओ का अध्ययन नही करता है, बल्कि सामान्य मनुष्य की क्रियाओ का अध्ययन करता है जो हाड-मास का सामान्य प्राणी होता है तथा जिसका सामाजिक जीवन होता है और वह नैतिकता तथा आचार-विचार से प्रभावित होता है तथा वह स्वार्थी-मात्र नही होता है। मार्शल ने स्पष्ट रूप से कहा है—

"Man is a normal being made of flesh and blood and he has his individual and social behaviour and not the mystical 'economic man."

अर्थशास्त्र असामाजिक, (समाज से बाहर रहने वाले योगी सन्यासी आदि) तथा असामान्य व्यक्तियों (पागल आदि) की क्रियाओं का अध्ययन नहीं करता है।

3. मानव जीवन के सामान्य व्यवसाय का अध्ययन : मार्शल के अनुसार अर्थशास्त्र मानव जीवन के सामान्य व्यवसाय सम्बन्धी क्रियाओं का अध्ययन करता है। 'सामान्य व्यवसाय' का अर्थ मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं से है। एक मनुष्य के जीवन के कई पहलू होते हैं, जैसे सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, आदि। अर्थशास्त्र मानव जीवन के केवल आर्थिक पहलू का अध्ययन करता है। आर्थिक पहलू का तात्पर्य है, धन अर्जित करने की विधियां तथा धन का उपयोग' ('it enquires how he gets his income and how he uses it')। आर्थिक पहलू के अन्तर्गत आर्थिक क्रियाएँ आती हैं जो धन या आय के उत्पादन, उपभोग, विनिमय वितरण आदि से सम्बन्धित हैं।

4. भौतिक कल्याण का अध्ययन : अर्थशास्त्र में मानव कल्याण का अध्ययन किया जाता है, परन्तु 'मानव कल्याण' के भी सभी पक्षों का अध्ययन नहीं किया जाता है, बल्कि केवल आर्थिक या भौतिक कल्याण का ही अध्ययन किया जाता है। मार्शल ने मानव समाज के भौतिक या आर्थिक कल्याण पर विशेष बल दिया है। उनके अनुसार अर्थशास्त्र का उद्देश्य भौतिक कल्याण के लिए साधनों को प्राप्त करना तथा उनका प्रयोग करना है। इससे यह स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र का अन्तिम लक्ष्य मानव-कल्याण की वृद्धि है। अतः अर्थशास्त्रियों का कर्त्तव्य केवल आर्थिक तथ्यों का अध्ययन करने के उपरान्त कुछ सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना ही नहीं है, बल्कि उनका कर्त्तव्य उन सिद्धान्तों का ज्ञान करना भी है जिनके द्वारा भौतिक कल्याण सम्भव हो सकता है। इस प्रकार मार्शल ने अपनी परिभाषा के अन्तर्गत मानव-कल्याण को अर्थशास्त्र का उद्देश्य निर्धारित करके 'कल्याणकारी अर्थशास्त्र' (Welfare Economics) के लिए मजबूत आधार प्रदान किया है।

5. मुद्रा 'भौतिक कल्याण' का मापक : कौन सी क्रिया भौतिक या आर्थिक है तथा कौन सी क्रिया अभौतिक है? इसका स्पष्टीकरण मार्शल की इस परिभाषा में नहीं मिलता है, परन्तु मार्शल ने अन्य स्थल पर यह बात स्पष्ट रूप से कही है कि भौतिक कल्याण, मानव-कल्याण का वह भाग है जिसे नापा जा सकता है। अर्थशास्त्र का एक स्वतन्त्र विषय के रूप में अस्तित्व केवल इसी कारण है कि इसका सम्बन्ध मुख्यतः मानवीय क्रिया के उस भाग से है जिसकी माप की जा सकती

है।[16] मार्शल ने मुद्रा को आर्थिक क्रियाओं तथा भौतिक-कल्याण का मापक माना है।

'In the world in which we live money, as representing general purchasing power, is so much the best measure of motives that no other can compete with it. But this is, so to speak, an accident.[17]"
—*Marshall*

इस प्रकार मार्शल के अनुसार अर्थशास्त्र भौतिक-कल्याण का अध्ययन करता है तथा भौतिक-कल्याण, मानव-कल्याण का वह भाग है जिसे मुद्रा द्वारा नापा जा सकता है।[18]

पीगू, कैनन, चैप मैन, बेवरिज आदि ने भी मार्शल की परिभाषा का अनुमोदन किया है।

मार्शल की परिभाषा की आलोचना :

यद्यपि मार्शल ने अर्थशास्त्र को 'धन के विज्ञान' के स्थान पर 'मानव विज्ञान' (Human Science) तथा 'सामाजिक विज्ञान' (Social Science) के रूप मे प्रतिष्ठित किया, तथापि उनके द्वारा दी गई अर्थशास्त्र की परिभाषा की आलोचना की गई। सन् 1932 मे प्रोफेसर राबिन्स (Prof Lionel Robbins) ने अपनी पुस्तक "An Essay on the Nature and Significance of Economic Science" मे मार्शल की परिभाषा के दोषो का उल्लेख करते हुए उसकी कटु आलोचना की :

1. **'जीवन के साधारण व्यवसाय' का अर्थ अस्पष्ट होना** राबिन्स ने 'जीवन के साधारण व्यवसाय' वाक्यांश की आलोचना करते हुए कहा कि मार्शल ने यह स्पष्ट नही किया है कि जीवन के साधारण व्यवसाय कौन-कौन से हैं। यह भी कही पर स्पष्ट नही है कि कौन सी ऐसी क्रियायें है जो इस वर्ग मे न आने के

[16]. "The *raison deter* of economics as a separate science is that it deals chiefly with that part of man's action which is most under the control of measurable motives"
—*Marshall*

[17]. Marshall's Inaugural lecture at Cambridge in 1885, Quoted by I M Kirzner in his book, The Economic Point of View,' p. 94

[18]. कुछ लोगो का यह मत है कि भौतिक-कल्याण की मुद्रा द्वारा मापनीयता पर सर्वप्रथम पीगू ने प्रकाश डाला। परन्तु यह सत्य नही है। वास्तव मे पीगू ने मार्शल के इस विचार को ग्रहण किया था। 'Usually this formulation of economics is ascribed to Pigou. In fact Pigou seems to have simply taken over this definition from Marshall without much ado."

—*I. M. Kirzner*, op cit p 96.

कारण असाधारण मानी जायेंगी । ऐसी स्थिति मे राबिन्स का यह विचार है कि यह वाक्यांश अस्पष्ट एव भ्रामक है, क्योंकि सामान्यत मानवीय क्रियाओं को साधारण तथा असाधारण वर्गों मे रखना अत्यन्त कठिन है। अत राबिन्स का यह मत है कि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत उन समस्त मानवीय क्रियाओं का अध्ययन किया जाना चाहिय जिनका सम्बन्ध मानवीय आवश्यकताओ की सन्तुष्टि से हो, ऐसी क्रियायें चाहे मनुष्य-जीवन के साधारण व्यवसाय मे सम्बन्धित हो या असाधारण व्यवसाय से ।

2 भौतिक तथा अभौतिक साधनों मे भेद भ्रामक प्रोफेसर मार्शल ने अपनी परिभाषा म भौतिक साधनो तथा भौतिक कल्याण की बात की है । राबिन्स के विचार मे भौतिक तथा अभौतिक साधनों मे भेद करना अनुचित है, क्योंकि साधनो तथा मानवीय प्रयत्नो के वर्गीकरण के कारण अर्थशास्त्र का क्षेत्र सकुचित हो जाता है तथा यह भेद करना सभव भी नही है । अर्थशास्त्र को एक मानव विज्ञान मानने पर यह कहना उचित प्रतीत नही होता कि अमुक क्रियायें और साधन तथा उनसे सम्बन्धित हित भौतिक हैं और शेष अभौतिक । राबिन्स का विचार है कि यदि एक व्यक्ति को मदिरा पान से ही अधिक सुख मिलता है या किसी व्यक्ति को मनोरजन से ही अधिक सन्तोष का अनुभव होता है तो ऐसे सुख या ऐसी सतुष्टि को अभौतिक या अनार्थिक कहकर अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे सम्मिलित न करना उचित नहीं है । राबिन्स क अनुसार मानव कल्याण भौतिक तथा अभौतिक दोनो प्रकार के पदार्थों या साधनो से सम्भव है, यदि वे पदार्थ या साधन सीमित अथवा दुलभ हैं, उनके वैकल्पिक उपयोग हैं तथा मनुष्य उनसे किसी न किसी प्रकार की सतुष्टि प्राप्त करता है । अत यह कहना भ्रामक होगा कि अर्थशास्त्र केवल भौतिक कल्याण का ही अध्ययन है ।

वास्तविक जगत म हम 'भौतिक' व 'अभौतिक के बीच रेखा नही खीच सकते हैं । इनका अन्तर सदैव स्पष्ट नही होता है । मार्शल के अनुसार गायक, चित्रकार अध्यापक आदि की सेवाएं मानव कल्याण म वृद्धि करती हैं परन्तु ये सवाएँ भौतिक नही हैं, अत अर्थशास्त्र के अन्तर्गत उनका अध्ययन नही किया जा सकता । राबिन्स ने इस तर्क का तीव्र विरोध किया है और कहा है

"Is it not misleading to go on describing Economics as the study of the causes of material welfare ? The services of the opera dancer are wealth Economics deals with the pricing of these services, equally with the pricing of the services of a cook "[19] - *Robbins*

इसी प्रकार भौतिक तथा अभौतिक कल्याण के सम्बन्ध मे, मजदूरी के सदर्भ मे राबिन्स ने कहा है "मजदूरी का ऐसा कोई भी सिद्धात असहनीय होगा, जो

[19] L Robbins, *An Essay on the Nature & Significance of Economic Science*, London, 1949, p. 9

भुगतान के उस भाग पर जो अभौतिक उद्देश्यों पर व्यय किया जाता है या अभौतिक सेवाओं के लिए दिया जाता है, ध्यान नहीं देता हो।"

("A theory of wages which ignored all those sums which were paid for immaterial services or were spent on immaterial ends would be intolerable")

3. *क्रियाओं का 'आर्थिक' तथा 'अनार्थिक' वर्गीकरण उचित नहीं* मार्शल न केवल उन मानवीय क्रियाओं को ही अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री माना है जिनका सम्बन्ध धन से है अर्थात् आर्थिक हैं। जिन क्रियाओं का सम्बन्ध धनोपार्जन तथा धन के व्यय करने से नहीं है, वे मार्शल द्वारा अनार्थिक क्रियायें मानी गयी हैं। राबिन्स ने मानव-क्रियाओं के इस प्रकार के वर्गीकरण की आलोचना करते हुए कहा है कि किसी क्रिया के धन से सम्बन्धित होने पर ही उसे आर्थिक क्रिया कहना तथा उसे अर्थशास्त्र के अध्ययन का विषय मानना अनुचित है। वस्तुतः उन सभी क्रियाओं को जिनके द्वारा मनुष्य की असीमित आवश्यकताओं तथा दुर्लभ साधनों के मध्य समन्वय स्थापित किया जाता है, आर्थिक क्रियाओं के रूप में अर्थशास्त्र के अध्ययन का विषय मानना चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक क्रिया का सम्बन्ध धन से ही हो। यदि उसका सम्बन्ध दुर्लभ साधनों से है और किसी व्यक्ति को उनका चुनाव करके ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करना सम्भव हो सकता है तो ऐसी क्रिया को आर्थिक क्रिया ही कहा जायेगा। उदाहरणार्थ, जब एक व्यक्ति अपने सीमित समय को अपने दैनिक कार्यक्रम में इस प्रकार विभाजित करता है कि उसे समस्त कार्यों को पूरा करके अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त होती है तब सीमित समय और अनेक कार्यों में अधिकतम सन्तोष प्राप्त करने के लिये किया गया प्रयास आर्थिक क्रिया के वर्ग में ही रखा जायेगा। इसे अर्थशास्त्र की परिधि से बाहर रखना उसके क्षेत्र को सकुचित करना होगा।

4 *अर्थशास्त्र का सम्बन्ध कल्याण से जोडना अनुचित* मार्शल ने अर्थशास्त्र का सम्बन्ध भौतिक कल्याण से जोडा है। राबिन्स का कहना है कि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध भौतिक कल्याण से जोडना उचित नहीं है। बहुत सी ऐसी वस्तुएँ हैं, जिनसे भौतिक कल्याण में वृद्धि नहीं होती है, बल्कि कमी होती है (जैसे शराब या अन्य नशीली वस्तुएँ), फिर भी ऐसी वस्तुओं के उत्पादन विक्रय आदि क्रियाओं का अध्ययन अर्थशास्त्र में किया जाता है। इसी प्रकार 'युद्ध' द्वारा सामान्यतः मानव कल्याण में कमी होती है, फिर भी 'युद्ध अर्थ-व्यवस्था' का अध्ययन अर्थ-शास्त्र में किया जाता है। इसके अतिरिक्त 'भौतिक कल्याण' का सम्बन्ध मनुष्य की मनः स्थिति से है। इसे मुद्रा द्वारा नहीं नापा जा सकता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र का सम्बन्ध चाहे अन्य किसी भी वस्तु से हो, परन्तु, इसका सम्बन्ध भौतिक कल्याण से नहीं है।

"Whatever Economics is concerned with, it is not concerned with the causes of material welfare as such" — *Robbins*

5 अर्थशास्त्र केवल सामाजिक विज्ञान ही नहीं है अर्थशास्त्र केवल सामाजिक विज्ञान ही नही है बल्कि मानव-विज्ञान भी है। परन्तु मार्शल ने इसे केवल समाज-विज्ञान माना है। उनके अनुसार इसमे केवल सामाजिक तथा वास्तविक व्यक्तियो की क्रियाओ का ही अध्ययन किया जाता है। उन व्यक्तियो की क्रियाओ का जो सामाजिक नहो है और जो एकान्तवास करते है अथवा जिनके कार्य समाज के अन्य सामान्य व्यक्तियो से भिन्न होते हैं, अर्थशास्त्र मे कोई महत्व नही है।

राबिन्स का इस सम्बन्ध मे यह मत है कि अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे केवल समाज मे रहने वाले व्यक्तियो की ही आर्थिक क्रियाओ को सम्मिलित करने का अर्थ उसके क्षेत्र को सकुचित तथा सीमित करना होगा। प्रत्यक व्यक्ति चाहे वह समाज मे रहता हो या समाज से अलग रहता हो, जीवन-यापन के लिए प्रयत्न करता ही है। उसके सभी प्रयत्नो का सम्बन्ध सीमित साधनों स है। अतः अर्थशास्त्र के क्षेत्र से इन एकातवासी तथा समाज से अलग रहने वाले व्यक्तियो को अलग नही कर सकते। अर्थशास्त्र के नियम समाज से बाहर रहने वाले व्यक्तियो पर भी लागू होते हैं।

6. उद्देश्यों के प्रति अर्थशास्त्र की तटस्थता : यदि मार्शल की परिभाषा को सही मान लिया जाए तो अर्थशास्त्री का कार्य यह भी होगा कि वह यह बतलाए कि कौनसा कार्य अच्छा है तथा कौनसा बुरा है। इस प्रकार नीति निर्देशन करना भी अर्थशास्त्री का कर्त्तव्य होगा। इस प्रकार अर्थशास्त्र एक आदर्श विज्ञान (Normative Science) हो जाएगा। राबिन्स का कथन है कि नीति निर्देशन करना — अच्छा या बुरा बतलाना—नीतिशास्त्र का काय है। अर्थशास्त्र उद्देश्यों के प्रति तटस्थ है (Economics is neutral between the ends) अर्थशास्त्र का नीतिशास्त्र के क्षेत्र मे प्रवेश करना उचित नही है।

7 मार्शल ने अर्थशास्त्र के क्षेत्र को सीमित कर दिया है मार्शल तथा उसके समर्थको द्वारा दी गई परिभाषाएं वर्ग विभेदात्मक (Classificatory) हैं। उन्होंने क्रियाओ का वर्गीकरण आर्थिक तथा अनार्थिक, कल्याण का वर्गीकरण भौतिक तथा अभौतिक, मनुष्य का वर्गीकरण सामाजिक तथा असामाजिक के रूप मे किया है। उनके अनुसार 'अनार्थिक', 'अभौतिक' तथा 'असामाजिक' का अध्ययन अर्थशास्त्र नही करता है। इसके अतिरिक्त अर्थशास्त्र सामान्यत वस्तु विनिमय (Barter) की क्रियाओ का भी अध्ययन नही करता है। इस प्रकार इन परिभाषाओ के कारण अर्थशास्त्र का क्षेत्र अत्यन्त ही सकुचित हो जाता है।

उपर्युक्त कारणो के आधार पर राबिन्स ने कहा है कि 'कल्याण' सम्बन्धी

परिभाषाएं दोषपूर्ण, सकुचित तथा अवैज्ञानिक हैं। फिर भी बहुत से अर्थशास्त्री अब भी मार्शल की परिभाषा से सहमत है।

(ख) प्रो० पीगू की परिभाषा :

प्रो० पीगू ने मार्शल की परिभाषा के मूल तत्वों को स्वीकार किया तथा उन्होंने अर्थशास्त्र की परिभाषा मे व्यक्ति तथा समाज के भौतिक कल्याण के अतर्गत आर्थिक कल्याण के पक्ष को विशेष महत्व प्रदान किया। उनके अनुसार, "**अर्थशास्त्र आर्थिक कल्याण का अध्ययन है। आर्थिक कल्याण का आशय सामाजिक कल्याण के उस पक्ष से है जिसे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप मे मुद्रा के मापदण्ड से सम्बन्धित किया जा सकता है।**[20]

उपर्युक्त परिभाषा के द्वारा प्रो० पीगू ने मार्शल की परिभाषा को अधिक विस्तृत एव व्यापक बनाने की चेष्टा की है। प्रो० पीगू की परिभाषा की सबसे बडी विशेषता यह है कि उन्होंने अथशास्त्र को एक फलदायक शास्त्र एव विज्ञान माना है। उनके विचार मे यह शास्त्र एव विज्ञान आर्थिक कल्याण का अध्ययन है। उन्होंने इस आर्थिक कल्याण के माप को सभव बनाने के लिए मुद्रा के मापदण्ड का समावेश किया तथा मानव-कल्याण मे वृद्धि करने वाले उन सभी भौतिक तथा अभौतिक साधनो को अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे सम्मिलित किया है जो मुद्रा से नापे जा सकते हैं।

परन्तु प्रोफेसर पीगू की परिभाषा अस्पष्ट तथा सकुचित है। आलोचको का यह मत है कि आर्थिक कल्याण की व्याख्या सम्भव नही है और मुद्रा द्वारा मापनीय भौतिक तथा अभौतिक साधनो का वर्गीकरण करना भी कठिन है। इस परिभाषा ने एक ऐसी अर्थव्यवस्था को महत्व प्रदान किया है जिसमे मुद्रा का ही अधिक महत्व है। मुद्रा रहित समाज मे प्रो० पीगू की परिभाषा महत्वहीन है।

(ग) कल्याण प्रधान अन्य परिभाषाएं

प्रो० मार्शल तथा पीगू द्वारा दी गई परिभाषाओ का कल्याण-प्रधान परिभाषाओ मे विशिष्ट स्थान है। इन दोनो अर्थशास्त्रियो ने अर्थशास्त्र के उद्देश्य को व्यापक दृष्टिकोण प्रदान किया। इन दोनो के अतिरिक्त कुछ अन्य अर्थशास्त्रियो ने भी अर्थशास्त्र को अपने-अपने ढग से परिभाषित किया, यद्यपि उनकी परिभाषाओ मे भी मूल विचार वही हैं, जिन पर मार्शल तथा पीगू ने जोर दिया है।

---

20. Economics is a study of economic welfare, economic welfare being described as that part of welfare which can be brought directly or indirectly into relation with the measuring rod of money."

—*Pigou*

प्रो० कैनन (Cannan) के अनुसार "अर्थशास्त्र का उद्देश्य उन सामान्य कारणों का स्पष्टीकरण करना है जिन पर मनुष्य का भौतिक कल्याण आधारित है।"[21]

फेयर चाईल्ड (Fair Child) ने मार्शल की कल्याण प्रधान परिभाषा को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'अर्थशास्त्र मानवीय आवश्यकताओं तथा उनको सन्तुष्ट करने के उन साधनों का विज्ञान है जिनके द्वारा मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने वाली वस्तुएं प्राप्त करते हैं।"[22]

पेंसन (Penson) ने इस सम्बन्ध में अपनी सूक्ष्मतम परिभाषा दी है, 'अर्थशास्त्र भौतिक कल्याण का विज्ञान है।"[23]

3 दुर्लभता प्रधान परिभाषा (Scarcity Definition)

प्रोफेसर राबिन्स ने प्रो० मार्शल तथा उनके अनुयायियों की भौतिकवादी विचारधारा का खण्डन किया। उन्होंने प्रो० मार्शल की परिभाषा की कटु आलोचना की तथा अर्थशास्त्र को नवीन एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण से परिभाषित किया उनके अनुसार, 'अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो लक्ष्यों और विभिन्न उपयोग वाले दुर्लभ साधनों के मध्य पारस्परिक सम्बन्ध के रूप में मानव व्यवहार का अध्ययन करता है।"

'Econom cs is the science which studies human behaviour in a relationship between ends and scarce means which have alternative uses"[24] —*Robbins*

राबिन्स की परिभाषा की व्याख्या

1 लक्ष्य या उद्देश्य (Ends) राबिन्स का कथन है कि मनुष्य के लक्ष्य अनेक तथा असीमित हैं। लक्ष्य का अर्थ आवश्यकताओं से है। इन आवश्यकताओं का अन्त जन्म से मरण तक भी नहीं होता और उनकी सन्तुष्टि की समस्या मनुष्य के सामने सदैव बनी रहती है। मनुष्य जीवन भर अपनी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए प्रयत्न करता रहता है, परन्तु आवश्यकताओं का क्रम बना ही रहता है तथा वह सभी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाता है। व्यक्ति को महत्वपूर्ण व कम

---

[21]. 'The aim of Political Economy is the explanation of the general causes on which the material welfare of human beings depends." —*Cannan*

[22]. "Economics is the science of human wants and of the means by which men obtain the things that satisfy them." —*Fair Child*

[23]. "Economics is the science of material welfare" —*Penson*

[24]. L. Robbins, op cit. p. 16

महत्वपूर्ण आवश्यकताओ के बीच चुनाव करना पडता है क्योंकि वह सभी आवश्य कताओ की पूर्ति नही कर सकता है । मनुष्य का जीवन अल्प है उसके पास समय कम है तथा प्रकृति भी कृपण है अत विभिन्न आवश्यकताओ के बीच चुनाव करना आवश्यक है ।"[25]

2 साधनो का सीमित एव दुर्लभ होना (Limited Means) असीमित आवश्यकताओ की सन्तुष्टि की समस्या का कारण यह है कि व्यक्ति के पास अपनी आवश्यकताओ की सन्तुष्टि अथवा अपने लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए पर्याप्त साधन नही होते । यदि व्यक्ति के साधन भी आवश्यकताओ की तरह असीमित हो तो उसकी सभी आवश्यकताओ की सन्तुष्टि हो सकती है । ऐसी परिस्थिति मे व्यक्ति के सामने कोई आर्थिक समस्या नही रहेगी । यहा पर साधनो के सीमित या दुर्लभ होने का अर्थ यह है कि साधन माग की तुलना मे कम होते है ।

3 साधनो के वैकल्पिक उपयोग (Alternative uses) साधन दुलभ होने के साथ साथ विभिन्न उपयोग वाले होते हैं । यही कारण है कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओ एव उद्देश्यो की तीव्रता के आधार पर ही उन साधनो का चुनाव करता है । साधनो की दुलभता मात्र से ही आर्थिक समस्याओ का जन्म नही होता । यदि साधनो के वैकल्पिक उपयोग नही हो तो दुलभ होते हुये भी उनका "आर्थिक उपयोग'—अधिकतम सतुष्टि की दृष्टि से नही किया जा सकता है । यह आवश्यक है कि एक साधन के विभिन्न उपयोग हो । व्यक्ति के सामने यही समस्या रहती है कि वह सीमित साधन का उपयोग किस आवश्यकता की पूर्ति के लिए करे । व्यक्ति आवश्यकताओ की तीव्रता के आधार पर, उनकी सन्तुष्टि के लिए साधनो का उपयोग करता है । यदि किसी साधन का एक ही उपयोग किया जा सकता है तो आर्थिक समस्या का जन्म नही होगा ।

4. लक्ष्यो के महत्व मे विभिन्नता साधनों के केवल वैकल्पिक प्रयोग से ही आर्थिक समस्या उत्पन्न नही होती है । यह आवश्यक है कि लक्ष्यो की तीव्रता या महत्व समान नही हो । यदि दो लक्ष्य या आवश्यकतायें समान महत्व की हैं तथा उनकी सन्तुष्टि के लिए एक साधन है तो व्यक्ति यह निर्णय नही कर सकता है कि किस आवश्यकता की पूर्ति करे । आर्थिक समस्या के लिए यह आवश्यक है कि आव श्यकताओं की तीव्रता मे भिन्नता हो जिससे चुनाव करने मे सुविधा हो ।

उपर्युक्त तथ्यो पर आधारित राबिन्स की परिभाषा अधिक व्यापक है । इस परिभाषा के आधार पर अर्थशास्त्र मे दुर्लभ साधना (Scarce means) तथा विभिन्न

[25] "We are sentient creatures with bundles of desires and aspirations. . But the time is limited...Life is short Nature is niggardly"
— *Robbins, op cit p 13*

महत्व की असीमित आवश्यकताओ एव लक्ष्य (ends) के बीच चुनाव के आधार पर मानव-व्यवहार के उस पक्ष का अध्ययन का विषय माना गया है जिसके द्वारा मनुष्य अपने उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए विभिन्न उपयोग वाले अपने दुर्लभ साधनो का चुनाव करके अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करता है। यह स्मरणीय है कि राबिन्स के अनुसार आर्थिक समस्या का जन्म उसी समय होगा, जबकि उपरोक्त चारो शर्तों की पूर्ति एक ही साथ होती हो।

राबिन्स की परिभाषा की विशेषतायें :

1. अर्थशास्त्र विशुद्ध एव वास्तविक विज्ञान है : प्रो० राबिन्स का कथन है कि अर्थशास्त्र विशुद्ध विज्ञान है जिसका उद्देश्य आदर्शों का प्रतिपादन करना नही है और न तो कला के रूप म उसका उद्देश्य वास्तविकता तथा आदर्श के मध्य सम्बन्ध स्थापित करना ही है। यह तो मानव-व्यवहारो की विवेचना उनके वास्तविक रूप मे करता है। अर्थशास्त्र उद्देश्यो के प्रति तटस्थ रहता है।

2. मानव व्यवहारो का विश्लेषणात्मक अध्ययन है प्रो० राबिन्स ने अर्थशास्त्र मे साधनो की दुर्लभता का समावेश करके साधनो के भौतिक तथा अभौतिक वर्गीकरण के प्रश्न को समाप्त कर दिया। उनका विचार है कि अर्थशास्त्र मनुष्य की क्रियाओ के केवल उस पहलू का ही अध्ययन करता है जिसका सम्बन्ध दुर्लभ साधनो के चुनाव से है। अत अर्थशास्त्र मानव की उस निर्णय प्रवृत्ति का अध्ययन है जिसका सम्बन्ध दुर्लभ साधनो तथा विभिन्न लक्ष्यो मे समन्वय स्थापित करने से है। यह आवश्यक नही है कि वे साधन भौतिक ही हो। यदि अभौतिक साधनो, जैसे समय और शक्ति, के प्रयोग मे भी इस प्रकार के निर्णय या चुनाव की आवश्यकता पडती है, तो इनको भी अर्थशास्त्र के क्षेत्र म सम्मिलित किया जायेगा।

राबिन्स ने आर्थिक तथा अनार्थिक क्रियाओ के भेद का पूर्णरूपेण खण्डन करते हुए कहा कि मानवीय क्रियाओ का इस प्रकार का वर्गीकरण सम्भव नही है। एक मनुष्य की एक ही प्रकार की क्रिया को दो विभिन्न परिस्थितियो मे आर्थिक तथा अनार्थिक मानना उचित प्रतीत नही होता। उदाहरणस्वरूप यदि कोई व्यक्ति आत्म-सन्तोष के लिए गाना गाता है तो मार्शल के अनुसार यह अनार्थिक क्रिया कही जायेगी, क्योकि इसका सम्बन्ध धनोपार्जन से नही है। परन्तु यदि वही व्यक्ति गाना गाकर धनोपार्जन करने लगे तो ऐसी क्रिया आर्थिक क्रिया कहलायेगी। राबिन्स का इस सम्बन्ध मे यह विचार है कि ये दोनो ही कार्य सीमित समय और शक्ति के प्रयोग के सम्बन्ध में निर्णय लेने से इस प्रकार से सम्बन्धित है कि दोनो मे भेद करना कठिन है। असीमित आवश्यकताओ तथा दुर्लभ साधनो के होने पर उसमे समन्वय स्थापित करने की आवश्यकता होती है। इस सम्बन्ध मे मनुष्य अपनी

क्रियाओं मे निर्णय या चुनाव पक्ष को अधिक महत्व देता है। राबिन्स के मतानुसार ऐसी समस्त क्रियायें आर्थिक क्रियायें मानी जायेंगी और उन सबका ही अर्थशास्त्र मे अध्ययन किया जायेगा।

3. **प्रवृत्तियो की मुद्रा द्वारा माप नहीं** मानवीय प्रवृत्तिया धन के मापदण्ड से मापनीय हैं या नही ? इस सम्बन्ध मे राबिन्स ने मुद्रा या धन के मापदण्ड को कोई स्थान नही दिया है।

4. **अर्थशास्त्र का क्षेत्र अधिक विस्तृत है** राबिन्स की परिभाषा इस मान्यता पर आधारित है कि मनुष्य का निर्णय पक्ष (Choice Making) सर्वकालीन तथा सर्वव्यापी है। उनका विचार है कि साधनो के सीमित होने पर उनके चुनाव का प्रश्न प्रत्येक व्यक्ति के समक्ष आता है, चाहे वह व्यक्ति समाज में रहे या समाज से बाहर रहे। इस आधार पर राबिन्स इसे केवल सामाजिक शास्त्र ही नही मानते। उनका कथन है कि अर्थशास्त्र का क्षेत्र इससे भी अधिक विस्तृत है। इस प्रकार राबिन्स ने अर्थशास्त्र के क्षेत्र को बहुत व्यापक बना दिया है। राबिन्स के अनुसार,

"Our Economics holds good under barter as well as under money exchange, under individual as well as under social human conduct, under capitalist as well as under socialist society"

राबिन्स की परिभाषा की आलोचना : राबिन्स की परिभाषा अधिक तर्कयुक्त तथा उपयुक्त मानी जाती है, फिर भी उसकी भी आलोचनायें की गयी हैं

1 **अर्थशास्त्र का क्षेत्र अधिक व्यापक होना** प्रो० राबिन्स ने मानवीय क्रियाओ के आर्थिक तथा अनार्थिक भेद को समाप्त करके समस्त मानवीय प्रवृत्तियो के निर्णय करने के पक्ष को ही विशेष महत्व दिया है। यही कारण है कि अर्थशास्त्र का क्षेत्र इतना अधिक विस्तृत तथा व्यापक हो गया है कि यह समझना कठिन हो जाता है कि किन मानवीय क्रियाओं का अध्ययन अर्थशास्त्र मे किया जाना चाहिए ? फलस्वरूप बहुत से ऐसे विषयों के सम्बन्ध मे, जिनका सम्बन्ध सीमित साधनो के चुनाव से होता है, यह समस्या बनी रहती है कि इनका अध्ययन अर्थशास्त्र मे किया जाना चाहिए अथवा नही। राबिन्स के अनुसार इनको अर्थशास्त्र के अध्ययन का विषय मानना चाहिए। उदाहरणार्थ राबिन्स के अनुसार जब किसी व्यक्ति के समक्ष अपनी आराधना के सम्बन्ध मे राम या कृष्ण म चुनाव करने (Choice making) की समस्या होती है या कोई विद्यार्थी शॉ के बदले शेक्सपियर के नाटको को पढने के सम्बन्ध मे चुनाव करे तो इस निर्णय प्रवृत्ति का अर्थशास्त्र के अध्ययन का विषय माना जा सकता है। परन्तु व्यावहारिक रूप मे इन समस्याओ का अर्थशास्त्र मे कोई स्थान नही है। इसके अतिरिक्त चुनाव या निर्णय का उद्देश्य अधिक सन्तोष है।

अत केवल इस निर्णय प्रवृत्ति को ही अर्थशास्त्र के अध्ययन का आधार मान लेना उपयुक्त प्रतीत नही होता।

2 उद्देश्यों के प्रति तटस्थता प्रो० राबिन्स ने अर्थशास्त्र की परिभाषा को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि "अर्थशास्त्र का सम्बन्ध केवल साधनों से है उद्देश्यों का अध्ययन अर्थशास्त्र के क्षेत्र से बाहर है।"[26] उनका विचार है कि "अर्थशास्त्र उद्देश्यो के प्रति तटस्थ है।" उन्होने अर्थशास्त्र को वास्तविक विज्ञान माना है और इसी आधार पर उनका कथन है कि विशुद्ध विज्ञान के रूप मे अर्थशास्त्र को वर्तमान वास्तविक तथ्यो के आधार पर 'जो है' (What is) से सम्बन्धित सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना चाहिए। अर्थशास्त्री का यह कर्तव्य नही है कि वह इन सिद्धान्तो का प्रतिपादित करते समय आदर्श पक्ष अर्थात् 'क्या होना चाहिए (What ought to be) को ध्यान मे रक्खे।

आलोचको का यह विचार है कि राबिन्स का यह दृष्टिकोण उचित नही है। साधनों का पूर्ण रूप से उपयोग करने तथा उनका पूर्ण लाभ उठाने का आधार अधिकतम सन्तोष प्राप्त करना है। इस भावना के पीछे सामाजिक तथा मानवीय कल्याण के उद्देश्य भी निहित हैं। मनुष्य की प्रत्येक क्रिया मे आदर्श की भावना रहती है। यदि केवल वास्तविकता को ही ध्यान मे रखा जाय तो बारबार वूटन (Barbara Wooton) के अनुसार अर्थशास्त्र एक शुष्क विज्ञान मात्र रह जायेगा। 'अर्थशास्त्रियों के लिए अपनी विवेचना मे से आदर्श पक्ष को पूर्णत पृथक कर देना बहुत ही कठिन है।'[27]

फ्रेजर (Fraser) के भी विचार से यह स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र एक सामाजिक शास्त्र है तथा उसका उद्देश्य केवल सिद्धान्तो का प्रतिपादन करना ही नहीं है। इसका क्षेत्र इससे भी अधिक विस्तृत है। उनके अनुसार 'अर्थशास्त्र (का क्षेत्र) मूल्य सिद्धान्त तथा साम्य विश्लेषण से कहीं अधिक विस्तृत है।'[28] अर्थशास्त्र केवल वास्तविक विज्ञान ही नही है, बल्कि एक आदर्श विज्ञान भी है जो सामाजिक समस्याओं के वास्तविक तथा आदर्शात्मक दोनो पहलुओ का अध्ययन करता है।

3 साधनों तथा लक्ष्यो का अस्पष्ट होना प्रो० राबिन्स ने अपनी परिभाषा मे प्रयुक्त 'लक्ष्यों' तथा 'दुर्लभ साधनो' शब्दो को स्पष्ट नही किया है। ये शब्द यह व्यक्त

[26] "Economics deals with means The study of ends lies outside its scope"

[27] "It is very difficult for economists to divest their discussions of all normative significance" —*Barbara Woodton*

[28] "Economics is more than a value theory or equilibrium analysis." —*Fraser*

करते हैं कि मनुष्य के समक्ष अनेक लक्ष्य होते हैं जिनको प्राप्त करने के लिए उनके पास जो साधन होते हैं वे दुर्लभ होते हैं। उनके अनुसार जब किसी एक साधन द्वारा किसी एक लक्ष्य की पूर्ति कर ली जाती है, तब साधन और लक्ष्य का पारस्परिक सम्बन्ध समाप्त हो जाता है।

परन्तु आलोचकों का मत इसके विपरीत है। उनका विचार है कि मनुष्य या समाज का एक ही लक्ष्य है—अधिकतम सन्तुष्टि या प्रसन्नता (Maximum satisfaction or happiness) प्राप्त करना। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ही अनेक साधन होते हैं, न कि अनेक साधन और अनेक लक्ष्य होते हैं। वास्तव में अर्थशास्त्र के अध्ययन का विषय तो यह है कि इन दुर्लभ साधनों का प्रयोग किस विधि से किया जाये कि मनुष्य या समाज अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त कर सके। अतः राबिन्स का यह निष्कर्ष कि अनेक दुर्लभ साधनों और लक्ष्यों के कारण एक निरन्तर बनी रहने वाली समस्या का अध्ययन ही अर्थशास्त्र का विषय है, अस्पष्ट तथा भ्रामक है।

4. साधनों के साथ वैकल्पिक प्रयोगों तथा दुर्लभ शब्दों का प्रयोग प्रो० राबिन्स ने अपनी परिभाषा में साधनों (means) के साथ दुर्लभ (scarce) तथा 'जिनका वैकल्पिक प्रयोग हो सकता है' (which have alternative uses) शब्दों का प्रयोग किया है। कुछ आलोचकों का यह मत है कि इन शब्दों के द्वारा साधनों की विशेषतायें व्यक्त करने की आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले सभी साधन वैकल्पिक प्रयोग वाले ही होते हैं। ऐसे साधन दुर्लभ भी होते हैं। ये दोनों ही उपलब्ध साधनों की स्वाभाविक विशेषतायें होती हैं। राबिन्स ने इन विशेषणों का प्रयोग करके साधनों के वर्गीकरण की समस्या खड़ी कर दी है जिससे अर्थशास्त्र एक जटिल विषय बन गया है।

5. आर्थिक निष्कर्षों के लिए निगमन प्रणाली को ही मान्यता अनुचित है प्रो० राबिन्स ने आर्थिक निष्कर्षों को ज्ञात करने के लिए केवल निगमन प्रणाली (Deductive Method) के प्रयोग को ही अधिक उपयुक्त माना है। परन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में वास्तविक तथ्यों का अध्ययन करने तथा उचित निष्कर्षों को ज्ञात करने के लिए "आगमन प्रणाली" (Inductive Method) की भी आवश्यकता पड़ती है।

6. मानव-कल्याण के साथ सम्बन्ध नहीं है प्रो० राबिन्स ने अपनी परिभाषा में मानव-कल्याण के उद्देश्य को कोई महत्व प्रदान नहीं किया है। परन्तु वस्तुतः समस्त आर्थिक क्रियाओं का अन्तिम लक्ष्य मानव-कल्याण में वृद्धि करना होता

है। यदि अर्थशास्त्र इस सम्बन्ध में तटस्थ रहे और यदि उसका सम्बन्ध मनुष्य या समाज के हित-अहित, सुख दुख तथा वैयक्तिक एवं सामाजिक कल्याण से न रहे, तो यह शास्त्र मानव-समाज के लिए अनुपयोगी हो जायेगा। वह एक निश्चित सिद्धान्त-वादी शुष्क तथा भावनाहीन विज्ञान-मात्र रह जायेगा।

7 **उचित निर्णय की प्रवृत्ति व्यापक नहीं है :** प्रो० राबिन्स की यह मान्यता कि मनुष्य की यह सहज एवं स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने के लिए सदैव दुर्लभ साधनों के सम्बन्ध में निश्चित निर्णय लेता है तथा यह निर्णय पक्ष ही उसकी आर्थिक क्रियाओं को सचालित करता है, गलत तथा अव्यावहारिक है, क्योंकि वास्तविक जीवन में अधिकांश आवश्यकतायें साधनों के सम्बन्ध में बिना किसी निर्णय या चुनाव के सन्तुष्ट कर ली जाती हैं। विवेकपूर्ण तथा न्यायपूर्ण चुनाव और प्रतिस्थापन की प्रयत्नशीलता मानवीय प्रवृत्तियों एवं क्रियाओं में यदा-कदा ही देखने को मिलती है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राबिन्स की परिभाषा में भी कई दोष हैं। राबिन्स की पुस्तक के प्रकाशन के तुरन्त पश्चात् ही, सन् 1933 में Prof Souter ने अपने एक लेख द्वारा, राबिन्स की परिभाषा की कटु आलोचना की। उन्होंने इस परिभाषा के आधार पर राबिन्स को "Juggler with a static verbal logic" और 'Profane sunderer of form from substance' कहा। साउटर की इस तीव्र भर्त्सना का कारण यह था कि राबिन्स ने अपनी परिभाषा द्वारा अर्थशास्त्र को पूर्ण रूप से अन्य विषयों से अलग माना, ऐसे विषयों से भी सम्बन्ध नहीं रखता, जिनसे अर्थशास्त्र किसी न किसी रूप में घनिष्ट रूप से सम्बन्धित है, जैसे मनोविज्ञान, समाजशास्त्र (Sociology) तथा प्रविधि-शास्त्र (Technology)। अन्य विषयों से सम्बन्ध विच्छेद तथा उद्देश्यों के प्रति तटस्थता के कारण साउटर के अनुसार, राबिन्स ने अर्थशास्त्र को 'Purely formal science of implications' बना दिया। राबिन्स ने 'भावात्मक तर्क' (Abstract reasoning) को अर्थशास्त्र का आधार माना। इस प्रकार साउटर के अनुसार राबिन्स का दृष्टिकोण पूर्णरूप से औपचारिक (formalistic) था। साउटर ने कहा कि यदि राबिन्स के मत को अन्य विषयों पर भी लागू किया जाए, अर्थात यदि अन्य विषय भी एक दूसरे से सम्बन्ध न रक्खें तो सभी विषयों का अस्तित्व खतरे में पड़ जायेगा। ('each of which can be sealed in airtight receptacle only on the penalty of death') इस प्रकार राबिन्स के मत को यदि मान लिया जाए तो साउटर के अनुसार हमें अर्थशास्त्र के अन्तिम दिन देखने के लिए तैयार रहना चाहिए।

मार्शल तथा राबिन्स की परिभाषाओं की तुलना
(Comparison between Marshall's & Robbins' Definitions)

(क) समानताएँ यद्यपि राबिन्स ने अपने पूर्ववर्ती अर्थशास्त्री मार्शल की कटु आलोचना की है, तथापि दोनो ही विद्वानो ने इस विषय के अध्ययन के प्रमुख उद्देश्य मे कोई अन्तर नही माना है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के सम्बन्ध मे अपनाये गये दृष्टिकोणो मे कुछ मौलिक विभिन्नता अवश्य है, परन्तु उनके विचारो मे निम्नलिखित समानतायें भी पायी जाती है

(i) मार्शल तथा राबिन्स दोनो ने अर्थशास्त्र को विज्ञान माना है।

(ii) मार्शल ने 'अधिकतम कल्याण' (Maximization) पर जोर दिया है तथा राबिन्स ने 'मितव्ययिता' (Economizing) पर, परन्तु दोनो के द्वारा ही अधिकतम सन्तुष्टि होगी।

(iii) मार्शल ने 'धन' तथा राबिन्स ने 'सीमित साधन' शब्द का प्रयोग किया है, परन्तु दोनो का अर्थ वास्तव मे एक ही है।

(ख) असमानताएँ यद्यपि अर्थशास्त्र के अध्ययन के उद्देश्य के सम्बन्ध मे प्रो० मार्शल तथा प्रो० राबिन्स एक मत हैं, फिर भी आर्थिक प्रयत्नो तथा साधनो के सम्बन्ध मे व्यक्त किए गए उनके विचारो मे कुछ असमानताएँ हैं। दोनो की परिभाषाओ मे अन्तर का अध्ययन निम्नलिखित आधारो पर किया जा सकता है :

(1) मानवीय क्रियाओ का वर्गीकरण मार्शल के अनुसार अर्थशास्त्र मे मनुष्य की धन-सम्बन्धी अर्थात आर्थिक क्रियाओ का ही अध्ययन किया जाता है। जिन क्रियाओ का सम्बन्ध धन से नही होता, वे अनार्थिक क्रियायें कहलाती हैं। ऐसी क्रियाओ का अध्ययन अर्थशास्त्र मे नही किया जाता राबिन्स ने समस्त मानवीय कार्यो के उस पक्ष को अर्थशास्त्र के अध्ययन का विषय माना है जिनका सबध असीमित आवश्यकताओं तथा सीमित साधनो मे समन्वय स्थापित करने से हो, चाहे उन कार्यो का सबध धन से हो या न हो। राबिन्स की परिभाषा के अनुसार सभी आर्थिक तथा अनार्थिक क्रियायें अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे सम्मिलित की जा सकती हैं।

(2) साधनो का वर्गीकरण मार्शल तथा उनके समथको ने भौतिक कल्याण के आधार पर, केवल भौतिक साधनो को ही अर्थशास्त्र के अध्ययन का विषय माना है। राबिन्स ने अपनी परिभाषा मे उन समस्त साधनो को अर्थशास्त्र के अध्ययन का विषय माना है जो दुर्लभ होते है, चाहे वे साधन भौतिक हो या अभौतिक।

(3) अर्थशास्त्र के अध्ययन का लक्ष्य : मार्शल तथा उनके अनुयायियो के अनुसार अर्थशास्त्र के अध्ययन का उद्देश्य मानव-कल्याण है। वह मानव-कल्याण की वृद्धि के लिए आदर्शवादी सिद्धान्तो का प्रतिपादन भी करता है परन्तु राबिन्स का दृष्टिकोण इससे भिन्न है। अर्थशास्त्र के उद्देश्य के सम्बन्ध मे राबिन्स तटस्थ हैं।

(4) अध्ययन का क्षेत्र : मार्शल ने अर्थशास्त्र को एक सामाजिक विज्ञान माना है। उनके अनुसार अर्थशास्त्र में एक ऐसे व्यक्ति की ही क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है जो सामाजिक, सामान्य तथा वास्तविक हो, अर्थात् वह एक औसत एवं सामान्य व्यक्ति की तरह वास्तविक रूप में मानव समाज में रहता हो। राबिन्स के अनुसार अर्थशास्त्र में ऐसे व्यक्ति की आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है जिसके समक्ष असीमित आवश्यकताओं तथा दुर्लभ साधनों के मध्य समन्वय की समस्या बनी रहती है। यह आवश्यक नहीं है कि वह व्यक्ति समाज में रहता ही हो। यदि वह मानव समाज के बाहर है तो भी उसकी आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन अर्थशास्त्र में किया जायेगा।

(5) मानवीय प्रवृत्तियों की माप मार्शल ने अर्थशास्त्र के अध्ययन के अन्तर्गत केवल उन मानवीय क्रियाओं को ही सम्मिलित किया है जो मुद्रा के मापदण्ड द्वारा मापनीय होती हैं, क्योंकि इस मापदण्ड के द्वारा ही भौतिक कल्याण को नापा जा सकता है तथा उससे सम्बन्धित योजनायें कार्यान्वित की जा सकती है। राबिन्स ने आर्थिक तथा अनार्थिक, भौतिक तथा अभौतिक क्रियाओं के भेद को अस्वीकार करके, मानवीय प्रवृत्तियों की माप की आवश्यकता ही नहीं समझी है। वह मानवीय क्रियाओं के उस आर्थिक पक्ष को ही इस विषय की सामग्री मानते हैं, जो दुर्लभ साधनों के चुनाव से सम्बन्धित होता है।

उपर्युक्त असमानताओं को निम्न सारणी द्वारा प्रकट किया जा सकता है

मार्शल	राबिन्स
1. अर्थशास्त्र मानव की धन सबंधी क्रियाओं का अध्ययन है।	1 अर्थशास्त्र दुर्लभ साधनों के उपयोग से सम्बन्धित क्रियाओं का अध्ययन है।
2. अर्थशास्त्र सामाजिक विज्ञान है।	2. अर्थशास्त्र मानव विज्ञान है।
3. अर्थशास्त्र विज्ञान व कला दोनों है।	3. अर्थशास्त्र केवल वास्तविक विज्ञान है।
4. अर्थशास्त्र का सम्बन्ध भौतिकता से है।	4 अर्थशास्त्र का सम्बन्ध भौतिक तथा अभौतिक दोनों प्रकार की क्रियाओं से है।
5 मार्शल की परिभाषा वर्गीकरणी (Classificatory) है। इसमे मनुष्य को सामाजिक व असामाजिक, क्रियाओं को आर्थिक व	5 राबिन्स की परिभाषा विश्लेषणात्मक (Analytical) है। इसमें किसी प्रकार का वर्गीकरण नहीं है।

अनार्थिक, तथा कल्याण को भौतिक व अभौतिक के रूप मे वर्गीकृत किया गया है।	
6. मानवीय प्रवृत्तियो (Human-motives) को मुद्रा द्वारा नापा जा सकता है।	6. मानवीय प्रवृत्तियो को न तो नापने की आवश्यकता है और न मुद्रा द्वारा उन्हे नापा ही जा सकता है।
7 मार्शल की परिभाषा व्यावहारिक है।	7. राबिन्स की परिभाषा सैद्धान्तिक है।

4 आवश्यकता-विहीनता-परिभाषा
(Wantlessness Definition)

अर्थशास्त्र के पाश्चात्य दृष्टिकोण की मान्यता अधिकतम सन्तोष तथा भौतिक सुख एव कल्याण पर आधारित है। इसके फलस्वरूप ही पाश्चात्य विद्वानो ने आवश्यकताओ के अनन्त होने तथा उनकी सन्तुष्टि के लिए किये जाने वाले प्रयत्नो को ही अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री माना है। भारतीय विचारक एव अर्थशास्त्री प्रोफेसर जे० के० मेहता का दृष्टिकोण पाश्चात्य दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न है। उनका कथन है कि "मानव व्यवहार का सर्वव्यापक उद्देश्य आवश्यकताओ को समाप्त करना है।"[29] उन्होने आगे कहा है कि 'आवश्यकताओ से मुक्ति पाने की समस्या ही आर्थिक समस्या है।'[30] अत उनके अनुसार "अर्थशास्त्र को मानव क्रियाओ के उस विज्ञान के रूप मे परिभाषित करना चाहिए जिसमे आवश्यकता विहीनता की दशा को पहुचने का प्रयास किया जाता है।"

"Economics must, therefore, be defined as the science of human activities considered as an endeavour to reach the state of wantlessness" —*J. K. Mehta*

प्रो० मेहता की परिभाषा भारतीय-दर्शन से प्रभावित है। "सादा जीवन उच्च विचार" (*Simple living and high thinking*) *भारतीय संस्कृति का* आधार है। महात्मा गाधी इस आदर्श मे अटूट विश्वास रखते थे। उन्होने भी आवश्यकताओ को न्यूनतम रखने पर जोर दिया, क्योकि आवश्यकताओ की वृद्धि से मनुष्य का असतोष बढता है। महात्मा गाधी ने कहा है।

---

[29]. "It can, therefore, be maintained that elimination of wants is one universal of all behaviour." —*J. K Mehta*

[30] "The problem of gaining freedom from wants is regarded as an economic problem" —*J K Mehta*

"The human mind is like a restless bird, the more it gets, the more it wants and still remaining unsatisfied" —*Gandhi*

प्रो० मेहता इस विचार के समर्थक हैं। उन्होने भी आवश्यकताओ को कम करने पर जोर दिया है। उनका विचार है कि आवश्यकताओ का पूर्णत लोप सभव नही है। मनुष्य अपनी आवश्यकताओ का चुनाव इस प्रकार अवश्य कर सकता है कि उनको धीरे-धीरे कम करके भी वह अधिकतम सन्तुष्टि का अनुभव कर सके। उन्होने आनन्द (Pleasure), कष्ट (Pain) तथा सन्तुष्टि (Satisfaction) के आधार पर 'आनन्द एव कष्ट के सिद्धात' (Pleasure and Pain Theory) का प्रतिपादन किया है। इस सिद्धान्त के द्वारा उन्होने यह सिद्ध किया है कि यदि मनुष्य ऐसी आवश्यकताओ का सर्वथा त्याग कर दे जिनकी सन्तुष्टि साधनो के अभाव मे असम्भव है तो उसका मानसिक असतुलन से होने वाले कष्ट से मुक्ति मिल जायेगी। अन्य आवश्यकताओ की पूर्ति करने के लिए की जाने वाली क्रियाओ के सम्बन्ध मे वह क्षणिक मानसिक असन्तुलन अनुभव करेगा। वह अपने प्रयासो द्वारा थोडी सी आवश्यकताओ की पूर्ति करके मानसिक सन्तुलन प्राप्त करने मे सफल होता है, उस सीमा तक वह आनन्द (Pleasure) का अनुभव करता है। परन्तु वास्तविक सुख (real happiness) इस क्षणिक आनन्द मे नही है, बल्कि उसके स्थायी मानसिक सन्तुलन की स्थिति मे है, जिसे प्रो० मेहता 'इच्छा रहित अवस्था' (State of wantlessness) कहते है। इस स्थिति तक पहुचने के लिए यह आवश्यक है कि प्रारम्भ से ही असीमित आवश्यकताओं म से कुछ अनिवार्य आवश्यकताओ का ही चुनाव किया जाये जिससे सीमित साधनो का अधिकाधिक उपयोग सम्भव हो सके तथा आनन्द मिल सके।

प्रो० मेहता तथा प्रो० राबिन्स के दृष्टिकोणो की तुलना

प्रो० मेहता तथा राबिन्स द्वारा निर्णय पक्ष को अधिक महत्व देने के कारण इन दोनो विद्वानो द्वारा दी गयी अर्थशास्त्र की परिभाषाओ से यह ज्ञात होता है कि—

1 राबिन्स ने आवश्यकताओ की वृद्धि पर बल दिया है, जबकि प्रो० मेहता ने इन आवश्यकताओ को क्रमश: कम करने तथा अन्तत उनको समाप्त करने पर विशेष जोर दिया है।

2 राबिन्स ने अर्थशास्त्र को एक वास्तविक परन्तु तटस्थ विज्ञान माना है, जबकि प्रो० मेहता ने अधिकतम सुख के चरम लक्ष्य को निर्धारित करके इसे एक आदर्श (Normative) विज्ञान माना है।

3 राबिन्स अधिकतम उपयोगिता मे विश्वास रखते हैं। प्रो० मेहता अधिकतम सुख की स्थिति मे विश्वास रखते हैं जो 'आवश्यकता विहीनता' की अवस्था में प्राप्त होता है। राबिन्स का दृष्टिकोण आवश्यकताओ का सतुष्टि तक ही सीमित है,

जबकि प्रो० मेहता का दृष्टिकोण दूरवर्ती है, क्योंकि उनका कथन है कि मनुष्य को इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि वह पूर्ण मानसिक सतुलन की स्थिति के अपने अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करे।

प्रोफेसर मेहता के दृष्टिकोण की आलोचना यद्यपि दर्शन और नीतिशास्त्र (विशेषकर भारतीय दर्शन) के दृष्टिकोण से प्रो० मेहता के विचार उचित और तर्क युक्त प्रतीत होते हैं, फिर भी इस भौतिकवादी युग म वे यथार्थ एव व्यावहारिक नही माने जा सकते। साधारण जीवन मे असीमित आवश्यकताओ की सन्तुष्टि से ही अधिकतम सुख प्राप्त किया जा सकता है, न कि उनको कम करने पर। ऐसा व्यक्ति जो अपनी आवश्यकताओं को कम करने अथवा आवश्यकता विहीनता की स्थिति को प्राप्त करने का प्रयास करता है, इस भौतिकवादी युग में एक काल्पनिक या समाज के बाहर रहने वाला व्यक्ति माना जायेगा। अत प्रो० मेहता का विचार दार्शनिक, अव्यावहारिक एव काल्पनिक हे जो वास्तविकता से परे है। अर्थशास्त्र एक वास्तविक विज्ञान है जिसमे वास्तविक स्थिति तथा वास्तविक मानवीय प्रवृत्तियों का अध्ययन किया जाता है। यदि अर्थशास्त्र प्रो० मेहता के आदर्शात्मक पहलू को मान्यता प्रदान करके आवश्यकता विहीनता के आदर्श को ही महत्व देने लगे तो वह एक अव्यावहारिक एव काल्पनिक विज्ञान माना जायेगा।

प्रो० मेहता ने उपलब्ध साधनों के सीमित होने के कारण आवश्यकताओ को कम करने पर विशेष जोर दिया है। उन्होने इन साधनो मे वृद्धि करने के लिए प्रयत्नशील होने के पक्ष को कोई महत्व नही दिया है, क्योंकि उन्होने आवश्यकताओ से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य या वास्तविक सुख माना है। परन्तु इस भौतिकवादी युग मे प्रो० मेहता के द्वारा बतलाए गए मानव जीवन के इस लक्ष्य को स्वीकार नही किया जा सकता। वास्तविकता तो यह है कि वर्तमान युग मे मनुष्य अधिक से अधिक सुखी रहना चाहता है। उसका यह विश्वास है कि भौतिक सुख आवश्यकताओ की वृद्धि तथा उनकी सतुष्टि से ही सम्भव है। यही कारण है कि वह अपने सीमित साधनो मे वृद्धि करने का प्रयास करता है। यदि वह प्रो० मेहता के कथनानुसार सासारिक मोहमाया का परित्याग कर दे, तो देश के आर्थिक एव औद्योगिक विकास की आवश्यकता ही नही होगी। इस विचार-धारा के अनुसार न तो किसी व्यक्ति को आर्थिक प्रयत्न करने की आवश्यकता होगी और न ही देश के आर्थिक विकास की। यह एक ऐसी पलायनवादी तथा निराशावादी धारणा है जिसे स्वीकार कर लेने पर वह व्यक्ति, समाज तथा देश की आर्थिक प्रगति मे बाधक होगी। इसका परिणाम यह होगा कि अर्थशास्त्र की नीव जो आवश्यकताओ की वृद्धि (Maximisation of wants) तथा उनकी सतुष्टि के लिए किए जाने वाले आर्थिक प्रयासो पर आधारित है कमजोर हो जायेगी। ऐसी स्थिति मे अर्थशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता नही रहेगी।

सर्वोत्तम परिभाषा

विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा दी गयी अर्थशास्त्र की विभिन्न परिभाषाओं के विवेचन के पश्चात् यह ज्ञात करना आवश्यक है कि कौन सी परिभाषा सबसे अधिक उपयुक्त तथा व्यावहारिक है ? स्पष्ट रूप से किसी भी परिभाषा को सर्वोत्तम कहना कठिन है। जैसा कि आलोचनाओं से स्पष्ट है, प्रत्येक परिभाषा में कोई न कोई दोष है। प्रो० बोल्डिंग (Boulding) ने भी यह कहा है कि अर्थशास्त्र की जितनी भी परिभाषाएं दी गई हैं, उन सब में कोई न कोई त्रुटि है। कुछ परिभाषाएं संकुचित हैं तथा कुछ अत्यन्त ही व्यापक। बोल्डिंग ने कहा है, अर्थशास्त्र को 'मानव के सामान्य जीवन व्यवसाय का अध्ययन' कहना अर्थशास्त्र को बहुत व्यापक विषय बनाना है। इसे भौतिक कल्याण का अध्ययन' कहना अर्थशास्त्र के क्षेत्र को संकुचित बनाना है। अर्थशास्त्र को 'मानवीय मूल्यांकन तथा चुनाव' से सम्बन्धित करना अत्यन्त ही व्यापक है। इसी प्रकार इसे मुद्रा द्वारा मापनीय मानवीय कार्यों का अध्ययन' कहना भी संकुचित दृष्टिकोण है।

"To define it as 'a study of mankind in the ordinary business of life is surely too broad To define it as the study of material wealth is too narrow. To define it as the study of human valuation and choice is again probably too wide, and to define it as the study of that part of human activity subject to the measuring rod of money, is again too narrow" *A E Boulding : Economic Analysis* p 3

विभिन्न अर्थशास्त्रियों के विचारों के आधार पर हम मोटे रूप में दो विचार-धाराएं पाते हैं-कुछ अर्थशास्त्री मार्शल की परिभाषा को सर्वोत्तम बतलाते हैं तथा कुछ रॉबिन्स की परिभाषा को। रॉबिन्स ने स्वयं अर्थशास्त्र की उत्तम परिभाषा की कसौटी का उल्लेख किया है। उनके अनुसार 'किसी परिभाषा की सत्यता की अन्तिम कसौटी, साधारण बोल चाल में प्रयुक्त शब्दों से उसकी प्रत्यक्ष अनुरूपता न होकर, उस विज्ञान की अन्तिम विषय सामग्री से सम्बन्धित मुख्य सिद्धान्तों को सही रूप में प्रकट करने की क्षमता है।"[31]

हम रॉबिन्स की इस कसौटी से सहमत हैं। इस दृष्टि से एडम स्मिथ की परिभाषा की जांच करने पर यह ज्ञात होता है कि यह परिभाषा सर्वथा अव्यावहारिक तथा अनुपयुक्त है, क्योंकि उन्होंने मनुष्य के स्थान पर धन को अधिक महत्व देकर मनुष्य तथा उसकी क्रियाओं की उपेक्षा की है। प्रो० मेहता की परिभाषा भी

[31]. "The final test of validity of any such definition is not its apparent harmony with certain usages of everyday speech, but its capacity to describe exactly the ultimate subject matter of the main generalisations of the science" —*Robbins*

वास्तविकता से परे मानी जाती है। यह वास्तविक तथ्यों से दूर है तथा इस भौतिकवादी युग के लिए अनुपयुक्त है।

आधुनिक अर्थशास्त्री राबिन्स की परिभाषा को अधिक उपयुक्त मानते हैं। उनका विचार है कि राबिन्स की परिभाषा सैद्धान्तिक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अधिक उपयुक्त है, क्योंकि राबिन्स ने आवश्यकताओं की बहुलता तथा उनकी अधिकतम सतुष्टि पर बल दिया है। राबिन्स की परिभाषा में अर्थशास्त्र के सभी सिद्धान्तों का समावेश हो जाता है। अधिकाश अर्थशास्त्री राबिन्स की परिभाषा को पूर्ण, शुद्ध तथा वैज्ञानिक मानते हैं। Prof Macfie ने तो राबिन्स की परिभाषा को 'अन्तिम परिभाषा' मान लिया है।

"What he (Robbins) has said cannot be resaid To me it appears final within its chosen scope"

—*Macfie, An Essay on Economy and Value*

इसके साथ ही साथ उन्होंने सभी मनुष्यों की समस्त क्रियाओं के निर्णय पक्ष को, जो असीमित आवश्यकताओं तथा सीमित एवं दुर्लभ साधनों के मध्य सम्बन्ध स्थापित करता है, अर्थशास्त्र के अध्ययन का विषय माना है जिससे अर्थशास्त्र का क्षेत्र अधिक विस्तृत हो गया है। फिर भी राबिन्स की परिभाषा वैज्ञानिक है तथा वह अर्थशास्त्र की आत्मा व शरीर दोनों को प्रकट करने में अधिकांश अंशों में सफल है। उनकी परिभाषा में यदि कोई दोष है तो यह है कि उन्होंने अर्थशास्त्र को उद्देश्यों के प्रति तटस्थ माना है। परन्तु इसके सम्बन्ध में राबिन्स का विचार है कि यदि लक्ष्य अनेक हैं तो यह आर्थिक समस्या है। यदि लक्ष्य एक ही है तथा यह बतलाना है कि किस विधि से उस लक्ष्य को पूरा किया जाये तो यह प्राविधिक (Technological) समस्या है, आर्थिक नहीं। (Multiplicity of ends and multiplicity of means raises economic problem If end is one then it is technological problem)। इस प्रकार राबिन्स की परिभाषा शुद्ध है।

मार्शल ने केवल भौतिक साधनों तथा सामाजिक मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं को ही अर्थशास्त्र के अध्ययन का विषय माना है अत मार्शल की परिभाषा सकुचित तथा सीमित मानी जाती है। मार्शल की परिभाषा की सबसे अधिक आलोचना 'भौतिक' शब्द के प्रयोग के कारण की गई है।[32]

फिर भी व्यावहारिक तथा यथार्थवादी दृष्टिकोण से मार्शल की परिभाषा अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है, क्योंकि मार्शल अर्थशास्त्र का उद्देश्य सामाजिक

32. 'This fatal word 'material' is probably more responsible for the ignorant slanders on the 'dismal science' than any other economic description." —*Alec L, Macfie*

कल्याण में वृद्धि करना मानते है, जबकि राबिन्स अर्थशास्त्र के इस आदर्श पहलू की ओर से तटस्थ है। मार्शल ने मनुष्य जीवन के सामान्य व्यवहारों तथा भौतिक कल्याण की वृद्धि मे अर्थशास्त्र के उपयोग को महत्व दिया है, जबकि राबिन्स आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के सम्बन्ध में मानवीय प्रवृत्तियों के निर्णय पक्ष की वास्तविकता पर विचार करने के उपरान्त यह स्पष्ट व्यक्त नही करते कि उसके आगे मनुष्य को क्या करना चाहिये ? यही कारण है कि कुछ विद्वानों का मत है कि अर्थशास्त्र यदि वास्तविक विज्ञान (Positive Science) होने के साथ-साथ आदर्श विज्ञान (Normative Science) नही हो तो व्यावहारिक जीवन में उसका विशेष महत्व नही रहेगा। वह समाज विज्ञान के रूप मे उपयोगी नही हो सकेगा। वर्तमान समाजवादी विचारधारायें भी मानव कल्याण तथा भौतिक कल्याण को अर्थशास्त्र के उद्देश्य के रूप मे स्वीकार करती हैं। ऐसी स्थिति में राबिन्स की परिभाषा एकपक्षीय मानी जाती है, क्योंकि वह मानव-कल्याण में वृद्धि करने के आदर्शात्मक तथ्य के प्रति शान्त हैं। राबिन्स के इस तटस्थ दृष्टिकोण के कारण ही उनकी परिभाषा की अपेक्षा मार्शल की परिभाषा की मान्यता बढती जा रहा है।

संकेत

1. अर्थशास्त्र को धन का विज्ञान कह कर परिभाषित किया गया है। क्या यह परिभाषा पर्याप्त है ? (Jodhpur, T.D C., Arts 1963)

[संकेत—प्रथम धन सम्बन्धी परिभाषाएँ देकर उनकी व्याख्या कीजिए और आलोचना देते हुए सिद्ध कीजिए कि ये परिभाषाएँ अपूर्ण तथा दोष पूर्ण हैं।

2. "अर्थशास्त्र मनुष्य के साधारण जीवन व्यवसाय के सम्बन्ध मे अध्ययन है।" अर्थशास्त्र की इस परिभाषा की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।]

(Ravishankar, B. Com. Pali, 1963)

[संकेत—मार्शल की परिभाषा की विस्तृत विवेचना कीजिए तथा उसकी परिभाषा की मुख्य आलोचनाएं दीजिए।]

3. रोबिन्स की परिभाषा की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। क्या कल्याणवादी अर्थशास्त्र का अध्ययन उनकी परिभाषा के अन्तर्गत आता है ?

[Ravi., B.A. Final, 1965, Lucknow, B.A. I, 1963]

[संकेत—रोबिन्स की परिभाषा दीजिए तथा उसकी प्रमुख आलोचनाएं दीजिए। इसके पश्चात् यह बताइए कि इस परिभाषा का सम्बन्ध, आर्थिक कल्याण से प्रत्यक्ष रूप से नही है; यद्यपि आर्थिक कल्याण का विचार भी चयन की समस्या से सम्बन्धित है।]

4. "अर्थशास्त्र एक विज्ञान है जो मानवीय आचरण का इच्छारहित अवस्था मे पहुचने के लिए साधन के रूप मे अध्ययन करता है।"—मेहता। इस कथन की विवेचना कीजिए।

[संकेत—'इच्छा रहित अवस्था' के विचार की व्याख्या कीजिए तथा उपर्युक्त कथन की विवेचना करते हुए बताइये कि यह विचार वर्तमान भौतिकवादी युग मे कहाँ तक तर्क सगत है ?]

5. मार्शल तथा रोबिन्स द्वारा दी गयी परिभाषाओ का मूल्याकन (evaluation) कीजिए। इन दोनो मे से किसको आप पसन्द करते हैं और क्यो ?

[सकेत—दोनो की परिभाषाओं की समालोचना कीजिए तथा यह बताइए कि सैद्धान्तिक दृष्टि से राबिन्स तथा व्यावहारिक दृष्टि से मार्शल की परिभाषा अधिक उपयुक्त हैं।]

3

अर्थशास्त्र की प्रकृति व क्षेत्र
(Nature and Scope of Economics)

"The theory of Economics does not furnish a body of settled conclusions immediately applicable to policy. It is a method rather than a doctrine an apparatus of the mind technique of thinking which helps its possessor to draw correct conclusions"

J. M Keynes

प्रत्येक शास्त्र के अन्तर्गत कुछ निश्चित विषयों का अध्ययन किया जाता है। अतः यह जानना आवश्यक है कि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत किन विषयों का अध्ययन किया जा सकता है? हम यह जानते हैं कि अर्थशास्त्र एक गत्यात्मक विषय है। इस शास्त्र के विकास के साथ ही साथ इसके अन्तर्गत आने वाली विषय सामग्री (Subject Matter) भी विस्तृत होती गई। क्रमिक विकास के कारण अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई तथा परिभाषा की ही भांति अर्थशास्त्र के क्षेत्र के सम्बन्ध मे भी विवाद उठ खडे हुये।

किसी भी विषय के क्षेत्र का अभिप्राय उसके अन्तर्गत अध्ययन की जाने वाली विषय-सामग्री, उस विषय की प्रकृति व स्वरूप, तथा उसकी परिसीमाओं या मर्यादाओं से है। अत अर्थशास्त्र के क्षेत्र का स्पष्टीकरण निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर पर निर्भर है :

1. **अर्थशास्त्र का विषय क्या है (Subject Matter) :** यह एक सामाजिक शास्त्र है या मानव शास्त्र? इसके अन्तर्गत मनुष्य की क्रियाओं का सम्बन्ध केवल धन से है या वैकल्पिक प्रयोग वाले दुर्लभ साधनों से?

2 **अर्थशास्त्र की प्रकृति (Nature) क्या है?** (i) क्या अर्थशास्त्र विज्ञान है? (ii) यदि वह विज्ञान है, तो वास्तविक विज्ञान है या आदर्श विज्ञान? तथा (iii) क्या अर्थशास्त्र कला है?

3 **अर्थशास्त्र की मान्यताएं तथा सीमायें क्या हैं?**

1. अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री
(The Subject Matter of Economics)

एडम स्मिथ तथा अन्य प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र को धन का विज्ञान माना था। एडम स्मिथ ने 'आर्थिक मनुष्य' (Economic Man) की कल्पना की थी। परन्तु अर्थशास्त्र के अन्तर्गत धन को ही अध्ययन का विषय मानना किसी भी विचारक के द्वारा उचित नहीं माना गया।

डा० मार्शल तथा उनके समर्थकों ने अर्थशास्त्र के उद्देश्य तथा उसके विषय के सम्बन्ध में निम्नलिखित दृष्टिकोण प्रस्तुत किया

(अ) अर्थशास्त्र एक सामाजिक शास्त्र है जिसमे मनुष्य की उन समस्त आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है जो उसके भौतिक कल्याण से सम्बन्धित हैं;

(ब) भौतिक कल्याण का अर्थ भौतिक आवश्यकताओं की अधिकतम सन्तुष्टि से है;

(स) आर्थिक क्रियाओं का अर्थ उन समस्त मानवीय क्रियाओं से है जो धन से सम्बन्धित हैं, इस प्रकार मार्शल ने अर्थशास्त्र में धन की अपेक्षा मनुष्य को प्राथमिकता प्रदान की तथा यह स्पष्ट कर दिया कि अर्थशास्त्र मे केवल ऐसे ही व्यक्तियों का अध्ययन किया जाता है जो सामाजिक, वास्तविक तथा सामान्य होते हैं। मार्शल ने केवल उन्ही क्रियाओं तथा साधनों को अर्थशास्त्र का विषय माना है जो आर्थिक तथा भौतिक हो।

रॉबिन्स ने मार्शल द्वारा निर्धारित अर्थशास्त्र की विषय सामग्री को सकुचित तथा अवैज्ञानिक माना। राबिन्स ने उन सभी मानवीय क्रियाओं को अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री माना जिनका सम्बन्ध असीमित आवश्यकताओं तथा दुर्लभ साधनों से है। असीमित आवश्यकताओं की सीमित साधनों द्वारा सतुष्टि के लिए चुनाव की समस्या उठती है। अत. राबिन्स ने चुनाव (Choice) या मूल्याकन (Valuation) की समस्या को अर्थशास्त्र का मुख्य विषय माना है। (Valuation is the central problem of Economics' *Robbins*) राबिन्स के अनुसार अर्थशास्त्र की विषय सामग्री निम्नलिखित है :

(1) अर्थशास्त्र मे सभी व्यक्तियों का, चाहे वे समाज मे रहते हो या समाज के बाहर, अध्ययन किया जाता है,

(2) इसके अन्तर्गत सभी व्यक्तियों की समस्त क्रियाओं के उस निर्णय पक्ष का अध्ययन किया जाता है जिसका सम्बन्ध वैकल्पिक प्रयोग वाले दुर्लभ साधनों तथा असीमित आवश्यकताओं से होता है, तथा

(3) दुर्लभ साधनों में उन समस्त भौतिक तथा अभौतिक साधनों को सम्मिलित किया जाता है जो मनुष्य की आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने के लिए उपयोग में लाये जाते हैं।

इस प्रकार राबिन्स ने सभी व्यक्तियों (सामाजिक तथा असामाजिक) समस्त क्रियाओं (आर्थिक तथा अनार्थिक) और समस्त साधनों (भौतिक तथा अभौतिक) को अर्थशास्त्र के अध्ययन का विषय माना है। आजकल राबिन्स का मत ही अधिक प्रचलित है।

आर्थिक क्रियाओं के विभाग : अर्थशास्त्र की विषय सामग्री को निम्नलिखित विभागों में बाटा गया है।

1. उपभोग (Consumption) इसके अन्तर्गत मनुष्य की आवश्यकताओं तथा उनकी सन्तुष्टि से सम्बन्धित नियमों का अध्ययन किया जाता है।

2. उत्पादन (Production) मानवीय आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने वाली वस्तुओं के उत्पादन अथवा निर्माण, विभिन्न साधनों की प्राप्ति, उपलब्ध पदार्थों में उपयोगिता का सृजन अथवा उनकी उपयोगिता में वृद्धि करने से सबन्धित प्रयत्नों एव प्रयासों को उत्पादन की विषय-सामग्री के अन्तर्गत रखा गया है।

3. विनिमय (Exchange) : वस्तुओं का उत्पादन सामूहिक रूप से होने के कारण उनके विनिमय की समस्या उत्पन्न होती है। अत उनके मूल्य-निर्धारण, क्रय-विक्रय, मुद्रा, बैंक-व्यवस्था आदि विषयों को विनिमय के अन्तर्गत रखा गया है।

4 वितरण (Distribution) : किसी वस्तु की उत्पत्ति विभिन्न साधनों के सहयोग का प्रतिफल है। अत विनिमय द्वारा प्राप्त प्रतिफल का सहयोगी साधनों मे वितरित करने की समस्याओं तथा तत्सम्बन्धी सिद्धातो को वितरण का विषय माना गया है।

5. सार्वजनिक राजस्व (Public Finance) उपरोक्त विभागों के अतिरिक्त अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री मे पाचवा विभाग सार्वजनिक राजस्व भी है। इस विभाग को सम्मिलित करने का कारण यह है कि आधुनिक अर्थ-व्यवस्था का सचालन सरकार द्वारा किया जाता है। अत यह आवश्यक है कि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत राज्य की आय के स्रोतो, उसके व्यय की मदो तथा राजकीय वित्तीय व्यवस्था आदि का अध्ययन किया जाय।

अर्थशास्त्र समाजशास्त्र है (Social Science) या मानव शास्त्र (Human Science) ?

मार्शल ने अर्थशास्त्र को 'जीवन के साधारण क्रिया-कलाप मे मानव जाति का अध्ययन' कहकर इसके समाज-शास्त्र होने पर बल दिया है। मार्शल के अनुसार

अर्थशास्त्र सामाजिक मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन करता है। समाज के बाहर रहने वाले साधु सन्यासी तथा राबिन्सन क्रूसो जैसे एकान्तवासी अर्थशास्त्र के अध्ययन की विषय सामग्री नहीं है। प्रो० राबिन्स ने अर्थशास्त्र को मानव शास्त्र माना है। उन्होंने कहा है, 'अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मानवीय आचरण का अध्ययन करता है।' असीमित आवश्यकताओं तथा सीमित साधनों के चुनाव की समस्या प्रत्येक व्यक्ति के समक्ष रहती है चाहे वह समाज के अन्दर रहता हो या समाज के बाहर।

इन दो विचारधाराओं के अतिरिक्त एक तीसरी विचारधारा भी है, जिसने इन दोनों विचारधाराओं के बीच का मार्ग अपनाया है। इस मध्यम मार्ग के समर्थक अर्थशास्त्रियों का मत है कि अर्थशास्त्र विनिमय, वितरण, तथा राजस्व विभागों के आधार पर एक समाज-शास्त्र है। परन्तु उत्पादन तथा उपभोग सम्बन्धी मानव की क्रियाओं के आधार पर अर्थशास्त्र एक मानवशास्त्र प्रतीत होता है, क्योंकि उत्पादन तथा उपभोग सम्बन्धी क्रियायें समाज के बाहर रहने वाले व्यक्ति को भी करनी पड़ती है। 'उपयोगिता ह्रास नियम' तथा 'प्रतिस्थापन का नियम' समाज के बाहर रहने वाले व्यक्तियों पर भी लागू होता है। 75850

व्यावहारिक दृष्टि से अर्थशास्त्र 'समाज शास्त्र' प्रतीत होता है। इसकी अधिकांश विषय-सामग्री समाज से ही सम्बन्धित है, यद्यपि यह सत्य है कि अर्थशास्त्र के उत्पादन तथा उपभोग के नियम समाज के बाहर रहने वाले व्यक्तियों पर भी लागू होते हैं। वर्तमान समय में अर्थशास्त्र के समष्टिक पहलू (Macro) पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है, जो समाज की आर्थिक समस्याओं पर प्रकाश डालता है। इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से अर्थशास्त्र मानव शास्त्र है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से समाज शास्त्र है।

2 अर्थशास्त्र की प्रकृति
(Nature of Economics)

अर्थशास्त्र विज्ञान है या कला या दोनों ? अर्थशास्त्र का अध्ययन करने के पूर्व यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है, क्योंकि ज्ञान की दो शाखायें हैं—विज्ञान तथा कला। विज्ञान (Science) ज्ञान का क्रमबद्ध अध्ययन है जो कार्य और कारण के पारस्परिक सम्बन्ध को निर्धारित करता है[1]। इस प्रकार विज्ञान वास्तविक स्थिति का अध्ययन करते हुए कार्य तथा परिणाम में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करता है।

---

[1] "Science is a systematised body of knowledge It is that knowledge which establishes a relationship between cause and effect."
—*J N Keynes*

उपर्युक्त परिभाषा से यह निष्कर्ष निकलता है कि विज्ञान का प्रथम उद्देश्य वास्तविक तथ्यों को क्रमबद्ध रूप मे एकत्र करना है। इसके पश्चात् वह एक निश्चित रूप मे उनका वर्गीकरण करता है और परिणाम-सम्बन्धी नियमो एव सिद्धातो का प्रतिपादन करता है।

विज्ञान की दो शाखायें हैं—(1) वास्तविक विज्ञान (Positive Science) तथा (2) आदर्श विज्ञान (Normative Science)। वास्तविक या यथार्थ विज्ञान का उद्देश्य वस्तु स्थिति अर्थात् यथार्थ तथ्या का ज्ञान कराना है। इसमे केवल इसी प्रश्न का उत्तर मिलता है कि यथार्थ वस्तु स्थिति या तथ्य 'क्या है' (What is)। अतः इसका कार्य वास्तविक तथ्यो से सम्बन्धित कारणो और परिणामो के मध्य सम्बन्ध स्थापित करना है। यह आदर्शों का प्रतिपादन नही करता। आदर्श विज्ञान का उद्देश्य आदर्शों को प्रस्तुत करना है। इसके द्वारा 'क्या होना चाहिये' (What ought to be) प्रश्न का समाधान मिलता है। यह किसी भी वस्तु स्थिति मे क्या सत्य या उचित है और क्या असत्य या अनुचित है, इसका बोध कराता है। वाछनीय या अवाछनीय आदर्शों को स्पष्ट करते हुए यह उचित आदर्शों की प्राप्ति के लिय मार्ग प्रदर्शन करता है।[3]

क्या अर्थशास्त्र विज्ञान है ?

(क) अर्थशास्त्र को विज्ञान मानने के पक्ष मे निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं :

1 अर्थशास्त्र मे मानव व्यवहारो का अध्ययन क्रमबद्ध एव व्यवस्थित रूप मे किया जाता है। इसका उद्देश्य भी आर्थिक तथ्यो को एकत्रित तथा वर्गीकृत करके उनसे सम्बन्धित कारणा एव परिणामो के पारस्परिक सम्बन्ध को ज्ञात करना है।

2 इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ही अर्थशास्त्र के अध्ययन की सम्पूर्ण विषय सामग्री पाच भागो—उपभोग, उत्पादन, विनिमय, वितरण तथा राजस्व मे बाट दी गयी है और इन विभागो म मनुष्य की क्रियाओ से सम्बन्धित आवश्यक नियमों का अध्ययन किया जाता है।

3 आर्थिक क्रियाओ की माप के लिए 'मुद्रा' का प्रयोग किया जाता है। अर्थशास्त्री इस मापक के कारण आर्थिक निष्कर्षों मे निश्चितता ला देता है।

---

3 "Positive Science may be defined as a body of systematised knowledge concerning 'what is,' a Normative Science or regulative science is a body of systematised knowledge relating to criteria of 'what ought to be', and concerned with the *ideal* as distinguished from the *actual* The objective of a positive science is the establishment of uniformities, of a normative science, the determination of ideals"

—J N. Keynes, *Scope and Method of Polical Economy p 16*

इस प्रकार विश्लेषणात्मक और वैज्ञानिक अध्ययन (Analytical and scientific study) की दृष्टि से अर्थशास्त्र विज्ञान है।

(ख) कुछ अर्थशास्त्री निम्नलिखित तर्कों के आधार पर अर्थशास्त्र को विज्ञान नहीं मानते हैं :

1. आर्थिक सिद्धान्तो के विषय मे अर्थशास्त्री एक मत नही है। इस प्रकार अर्थशास्त्र मे निश्चितता नही है, जबकि विज्ञान सुनिश्चित होता है, उसमे तथ्य के विषय मे मतभेद का प्रश्न ही नही उठता है।

2 अर्थशास्त्र मानव व्यवहार का अध्ययन करता है। मानव व्यवहार विभिन्न परिस्थितियो के अनुसार बदलते रहते हैं, अत मानव-व्यवहार के सम्बन्ध मे कारण-परिणाम के आधार पर जो नियम अर्थशास्त्रियो द्वारा बनाये जाते है, वे पूर्ण रूप से सत्य नही सिद्ध होते हैं, जबकि वैज्ञानिक नियम पूर्ण रूप से सत्य होते हैं।

3. मुद्रा को आर्थिक क्रियाओ का मापक माना जाता है। परन्तु मुद्रा आर्थिक क्रियाओं का सही मापक नही है। विज्ञान म जिन मापको का प्रयोग किया जाता है, वे सही स्थिति का ज्ञान करात हैं। इस प्रकार उचित तथा शुद्ध मापक क अभाव मे अर्थशास्त्र को विज्ञान नही माना जा सकता है।

4 वैज्ञानिक नियमो के निर्माण के लिये सही आकडे (Statistics) आवश्यक हैं। आर्थिक-विषयो से सम्बन्धित परिस्थितियां जैसे तकनीक, सस्थायें आदि बदलती रहती हैं। फलस्वरूप इनसे सम्बन्धित आकडे भी बदलते रहते है। आर्थिक विषयो के सम्बन्ध मे विश्वसनीय आकडे भी नही मिलते हैं। 'आकडे कुछ भी सिद्ध कर सकते है' (Statistics can prove anything)। यह कथन आर्थिक आकडो के सम्बन्ध मे अधिक सही है। इस प्रकार इन आकडो पर आधारित आर्थिक नियम भी सही नही होते हैं।

इन तर्कों के होते हुये भी अर्थशास्त्र को विज्ञान की कोटि मे रखा जा सकता है। वस्तुत: कुछ आर्थिक नियम भी वैज्ञानिक नियमो की भाति सही होते है। मानव व्यवहार परिवर्तनशील होते हुए भी एक सामान्य दिशा तथा एकरूपता की ओर सकेत अवश्य करते हैं।

अर्थशास्त्र वास्तविक विज्ञान है या आदर्श विज्ञान ?
(Is Economics Positive or Normative Science ?)

हम पहले 'वास्तविक विज्ञान' तथा आदर्श-विज्ञान का अर्थ स्पष्ट कर चुके है। प्राय सभी अर्थशास्त्री इस बात से सहमत हैं कि अर्थशास्त्र वास्तविक विज्ञान है। मतभेद अर्थशास्त्र के 'आदर्श विज्ञान' होने के सम्बन्ध मे है। अर्थशास्त्र का

आदर्शात्मक पहलू भी है या नहीं ? इस सम्बन्ध मे अर्थशास्त्रियो मे पर्याप्त मतभेद है ।

अर्थशास्त्री का कार्य उपदेश देना नही है, बल्कि वास्तविक स्थिति का ज्ञान कराना है । उसे एक वैज्ञानिक की तरह, उद्देश्यो के प्रति तटस्थ रहना चाहिए । यह मत उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक काफी प्रचलित था । Myrdal के अनुसार प्राय सभी प्रमुख अर्थशास्त्रियो ने उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक अर्थशास्त्र को वास्तविक विज्ञान माना गया ।

"Almost all leading economists, from N Senior and J. S Mill onwards" had made pronouncement "that the science of economics should be concerned only with what is and not what ought to be" — *G Myrdal Value in Social Theory*, p. 237

परन्तु बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ से ही अर्थशास्त्र तथा नीतिशास्त्र के सम्बन्धो के विषय म विवाद उठ खडा हुआ । जर्मनी की एतिहासिक विचारधारा (Historical School) के अर्थशास्त्रियो ने बडे जोरदार ढग से कहना प्रारम्भ किया कि अर्थशास्त्र का आदर्शात्मक पहलू भी है तथा अर्थशास्त्र का नीतिशास्त्र से घनिष्ट सम्बन्ध है । शुम्पीटर ने लिखा है कि सन् 1909 मे Vienna की मीटिंग में '*Werturteil*' (Value judgement) के सम्बन्ध मे अर्थशास्त्रियो के बीच विवाद ने इतना उग्र रूप धारण किया कि उनमे हाथा-पाई होते होते बची । उसके पश्चात् यह विवाद कई वर्षों तक शान्त रहा, परन्तु 1932 मे राबिन्स की पुस्तक के प्रकाशन के साथ ही यह विवाद पुन चल पडा ।

अर्थशास्त्र को केवल वास्तविक विज्ञान मानने वाले अर्थशास्त्रियो मे सीनियर कैरनेस, राबिन्स आदि प्रमुख हैं । इसी प्रकार वास्तविक तथा आदर्श विज्ञान मानने वाले अर्थशास्त्रियो मे एडम स्मिथ, मार्शल, पीगू आदि प्रमुख हैं ।

1 अर्थशास्त्र वास्तविक विज्ञान है

अर्थशास्त्र को केवल वास्तविक विज्ञान मानने वाले अर्थशास्त्रियों का मत है कि वास्तविक विज्ञान के रूप मे इसका उद्देश्य आर्थिक समस्याओ के कारणो तथा परिणामो म पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करना है । उनका कहना है कि एक वैज्ञानिक के रूप मे किसी भी अर्थशास्त्री के लिए आर्थिक आदर्शों के सम्बन्ध म अपना मत देना उचित नही है । उचित-अनुचित ज्ञान कराने का कार्य नीतिशास्त्रियो का है । अर्थशास्त्रियो का कार्य केवल वास्तविकता के आधार पर वर्तमान एव वास्तविक स्थिति के कारणों एव परिणामो को ज्ञात करना तथा उनका विश्लेषण करना है ।

इस विचारधारा के समर्थकों में जे० बी० से, सीनियर (Senior), केरनेस तथा राबिन्स के नाम उल्लेखनीय हैं। इस सम्बन्ध में जे० बी० से का कथन है "हम जनता को केवल यह बताने के लिए उत्तरदायी हैं कि अमुक तथ्य क्यों और कैसे किसी अन्य तथ्य का परिणाम है। चाहे यह निष्कर्ष स्वीकृत हो या अस्वीकृत इतना ही यथेष्ठ है कि अर्थशास्त्री द्वारा उसके कारणों को प्रदर्शित एवं व्यक्त कर दिया जाए परन्तु उसे इस सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का परामर्श नहीं देना चाहिए। सीनियर का भी यही विचार था कि अर्थशास्त्री का कार्य परामर्श देना नहीं बल्कि उन सामान्य नियमों का उल्लेख कर देना है जिनकी उपेक्षा करना घातक सिद्ध हो सकता है। केरनेस ने अर्थशास्त्रियों को यह सलाह दी है कि वे लक्ष्यों के प्रति उसी प्रकार तटस्थ रहें जिस प्रकार एक यान्त्रिक (Mechanic) रेलवे निर्माण की प्रति स्पर्द्धात्मक योजनाओं के प्रति रहता है।[3]

राबिन्स ने अर्थशास्त्र को वास्तविक विज्ञान माना है। उनके अनुसार अर्थशास्त्री का कर्तव्य वास्तविक तथ्यों का अनुसंधान कर वास्तविक स्थिति को स्पष्ट कर देना मात्र है उसका कार्य लक्ष्यों के औचित्य के सम्बन्ध में राय देना नहीं है। मानव कल्याण विषय पर सुझाव या उपदेश प्रस्तुत करना अर्थशास्त्री के कार्यक्षेत्र की परिधि से परे है। उसका कर्तव्य साधनों के अध्ययन तक ही सीमित है। वह केवल विशुद्ध अनुसंधान कर्त्ता है, उपदेशक नहीं।[4] अर्थशास्त्री लक्ष्यों या उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मार्ग निर्देशन नहीं करता। वह लक्ष्यों के प्रति तटस्थ रहता है।[5] उसे आदर्शों तथा नैतिक शिक्षा से परे रहना चाहिए।

'वास्तविक विज्ञान' होने के पक्ष में दिये गए तर्क

(i) **तर्क पर आधारित** विज्ञान का काम 'कारण' तथा 'परिणाम' के सम्बन्ध को बतलाना है। अर्थशास्त्र भी अन्य विज्ञानों की भाँति कारण तथा परिणाम के सम्बन्ध को बतलाता है। विज्ञान का आधार तर्क होता है। अर्थशास्त्र केवल उन्हीं विषयों से सम्बन्धित है, जिनका निश्चय तर्क द्वारा किया जा सकता है। अच्छा या बुरा बतलाना अर्थशास्त्र का कार्य नहीं है। अर्थशास्त्री यह बतलाएगा कि 'प्रत्यक्ष कर' तथा 'अप्रत्यक्ष कर' की क्या हानियाँ तथा लाभ है, परन्तु इन दोनों में कौन अच्छा है ? यह बतलाना अर्थशास्त्री का कार्य नहीं है।

---

[3] "Political economy stood neutral as regards ends as mechanic stands neutral between rival schemes of railway construction" —*Cairness*

[4] "The function of economists consists in exploring and explaining and not advocating and condemning". —*Robbins*

[5] "Economics is neutral between ends" —*Robbins*

(ii) **श्रम विभाजन :** राबिन्स के अनुसार मानव-ज्ञान मे भी श्रम-विभाजन का सिद्धान्त लागू किया जाना चाहिये। सभी विज्ञान एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। इस प्रकार सब कुछ करने के चक्कर मे अर्थशास्त्री कुछ नही कर सकेगा। अत अर्थशास्त्री का कार्य आर्थिक समस्या के विश्लेषण तक ही सीमित होना चाहिए। नीति निर्देशन का कार्य 'नीति-शास्त्र' के लिए छोड देना चाहिए।

(iii) **उद्देश्य का पहले से ही निर्धारण :** राबिन्स ने कहा है कि अर्थशास्त्र की परिभाषा से ही स्पष्ट है कि आर्थिक विषयो के सम्बन्ध मे नीति सम्बन्धी राय नही दी जा सकती है। अर्थशास्त्र का सम्बन्ध उन क्रियाओ से है जिनका उद्देश्य (Ends) पहले से ही निश्चित होता है तथा समस्या विशेष के अध्ययन के दौरान लक्ष्य बदलता नही है। इस प्रकार 'लक्ष्य' के सम्बन्ध म यदि अर्थशास्त्री उपदेश देता है तो वह अर्थशास्त्र की सीमा का उलघन करता है।[6]

(iv) **यथार्थ तथा आदर्श की खाई को पाटना असम्भव** राबिन्स ने कहा है कि यथार्थ (Positive) तथा आदर्श (Normative) सम्बन्धी अध्ययन मे पर्याप्त अन्तर है। ये दोनो एक दूसरे से भिन्न है, दोनो मे अन्तर इतना अधिक है कि उस अन्तर को दूर करना असम्भव है। दोनो की सीमाए पूर्णरूप से अलग हैं। **अर्थशास्त्र निश्चय किए जाने योग्य तथ्यो का अध्ययन करता है, नीतिशास्त्र मूल्यांकन तथा कर्त्तव्यो का अध्ययन करता है।** ('Economics deals with ascertainable facts, ethics with valuations and obligations') अर्थशास्त्री यदि उपदेश देता है तो वह अर्थशास्त्र तथा नीतिशास्त्र को मिलाने की अनाधिकार चेष्टा करता है। वास्तविक तथा आदर्श के नियमो के बीच इतनी चौडी खाई है जिसे भरने की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।[7]

(v) **'सतुलन' के आधार पर भी अर्थशास्त्र यथार्थ विज्ञान है :** अर्थशास्त्री सन्तुलन (Equilibrium) की बातें करते हैं। सन्तुलन के शुद्ध सिद्धान्त द्वारा हमे यह ज्ञात करने मे सहायता मिलती है कि वर्तमान प्राविधिक तथा वैधानिक वातावरण मे, विभिन्न आर्थिक तथ्यो के मूल्यो मे उन सम्बन्धो को कैसे स्थापित किया जा सकता है, जिनमे विचलन (Variation) की प्रवृत्ति सामान्यत नहीं होगी। **सन्तुलन द्वारा यह ज्ञात होता है कि अधिकतम सन्तुष्टि के लिए साधनो का वितरण किस प्रकार किया जाय। परन्तु इसके द्वारा किसी आदर्श का ज्ञान नहीं होता।** यह प्रदर्शित करना कि 'कुछ परिस्थितियों' मे माग की सन्तुष्टि अन्य वैकल्पिक परि-

6. *I M Kirzner*, op cit p. 138

7. "Between the generalisation of positive and normative studies there is a logical gulf fixed which no ingenuity can disguise and no juxtaposition in space or time bridge over." —*Robbins*

स्थितियों की अपेक्षा अधिक हो सकती है, यह नहीं सिद्ध करता कि वे 'कुछ परि-स्थितियां' वांछनीय हैं। सन्तुलन अधिकतम कल्याण का प्रतीक नहीं है। सन्तुलन की स्थिति आदर्श स्थिति नहीं है। 'सन्तुलन सिद्धांत में अनुमोदन का बल नहीं है। संतुलन तो संतुलन मात्र है।"[8]

2. अर्थशास्त्र आदर्श विज्ञान भी है :

रॉबिन्स के उक्त विचार मार्शल, पीगू, फ्रेजर, बूटन तथा हाट्रे आदि विद्वानों से भिन्न हैं। इन विद्वानों ने अर्थशास्त्र को आदर्श विज्ञान माना है तथा यह कहा है कि अर्थशास्त्र विज्ञान के रूप में मानव-कल्याण से सम्बन्धित है। अत इसे आदर्श से अलग नहीं रखा जा सकता। इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए मार्शल ने 'कल्याण की भौतिक आवश्यकताओं' पर जोर दिया है तथा पीगू ने धन का अध्ययन मानव-कल्याण की दृष्टि से किया है। उनके अनुसार अर्थशास्त्र केवल प्रकाशदायक ही नहीं है बल्कि फलदायक भी है। यदि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध नीति-निर्धारण से नहीं होता तो आर्थिक तन्त्र धनी व्यक्तियों को अधिक धनी तथा निर्धनों को अधिक निर्धन बना देता। परन्तु अर्थशास्त्र में नीति निर्देशन का प्रमुख स्थान होने के कारण ही मानवजाति पूर्ण शोषण तथा असमानता की विषम स्थिति से वंचित रह सकी है। इस प्रकार यथार्थता के औचित्य पर प्रकाश डालना तथा मार्ग-दर्शन कराना अर्थशास्त्री का कर्त्तव्य है। पीगू के विचार, इस सम्बन्ध में अत्यन्त ही महत्वपूर्ण हैं "अर्थ-शास्त्र का अध्ययन करते समय हमारा दृष्टिकोण या हमारी भावना एक दार्शनिक की तरह 'केवल ज्ञान के लिए ज्ञान' प्राप्त करना ही नहीं होनी चाहिए वरन् उस चिकित्सक का दृष्टिकोण होना चाहिए, जिसका उद्देश्य अपने ज्ञान के द्वारा दूसरों के दुःखों को दूर करना है।"[9]

पीगू ने अपने विचारों को और भी स्पष्ट करते हुए साफ शब्दों में कहा है "अर्थशास्त्र मुख्यतः न तो बौद्धिक व्यायाम के रूप में महत्वपूर्ण है और न ही सत्य के लिए सत्य के साधन के रूप में, बल्कि नीतिशास्त्र की दासी एवं व्यवहार का दास बनने में है।"

"Economics is chiefly valuable neither as an intellectual

---

[8]. "There is no penumbra of approbation round the theory of equilibrium. Equilibrium is just equilibrium."

—*Robbins op. cit p 143*

[9]. "Our impulse is not the philosopher's impulse—knowledge for the sake of knowledge, but rather the physiologists' knowledge for the healing that knowledge may help to bring about."

—*Pigou*

gymnastic nor as a means of winning truth for its own sake but as a handmaid of Ethics and servant of practice." —*Pigou*

हाट्रे ने आदर्श पक्ष को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है : "अर्थशास्त्र को नीतिशास्त्र से अलग नही किया जा सकता·········अर्थशास्त्र को केवल मूल्यांकन तथा नैतिक मानदण्ड का एक दिये गए तथ्य के रूप मे ही अध्ययन नही करना चाहिए, वरन् उसे इन मूल्यांकनो एव आदर्शों की अन्तिम सत्यता के सम्बन्ध मे अपना निर्णय भी देना चाहिए।"

वारबारा वूटन ने यथार्थवादी अर्थशास्त्रियो की आलोचना करते हुए कहा है कि "हम अपना अधिकाश समय सैद्धान्तिक उपकरणो के बनाने मे लगाते हैं लेकिन उनका लाभ उठाने मे बहुत ही कम समय देते है।" इस प्रकार उन्होने अर्थशास्त्र के आदर्श पक्ष पर जोर दिया है।

अर्थशास्त्र के आदर्श विज्ञान होने के पक्ष मे तर्क :

1. लक्ष्य की प्रकृति आदर्श-मूलक . राबिन्स यह मानकर चलते हैं कि उद्देश्य पूर्व निश्चित होते हैं। यदि यह सही मान लिया जाए तो अर्थशास्त्र की कोई उपयोगिता नही रह जाएगी। *Prof* Parsons ने यह मत व्यक्त किया है कि राबिन्स ने भावात्मक लक्ष्य (abstract end) की जो कल्पना की है वह निराधार है। वस्तुत: लक्ष्य उद्देश्य तथा प्रयत्न से सम्बन्धित है जो वास्तव मे आदर्श पहलू से सम्बन्ध रखते हैं। अत जब भी हम 'लक्ष्य' की बात करेंगे, 'आदर्श' का तत्व स्वतः आ जाता है।[10]

2. मानव प्रकृति 'आदर्श' से प्रभावित : Veblen ने कहा है कि मनुष्य की प्रकृति प्रभावपूर्ण कार्य करने की तथा बेकार के प्रयत्नो से बचने की है। वह सेवादायकता या कार्यकुशलता का प्रशसक तथा अयोग्यता, बर्बादी तथा व्यर्थता का विरोधी है। वह जीवन के निरर्थक कार्यों को पसन्द नही करता है। वह लक्ष्य की प्राप्ति या सफलता चाहता है। अर्थशास्त्र मानव व्यवहारो का अध्ययन है, अत: वह आदर्श पहलू की उपेक्षा नही कर सकता है। ऐसा करना मानव-प्रकृति की उपेक्षा करना है। कोई भी मानव-शास्त्र, मानव प्रकृति की उपेक्षा कर जीवित नहीं रह सकता है।[11]

3. श्रम विभाजन के आधार पर विभाजन गलत . यह कहना तर्कयुक्त नही है कि अर्थशास्त्री कारण व परिणाम का विश्लेषण मात्र कर दे तथा राय देने का

---

[10] *J. M. Kirzner*, op cit. p. 139

[11] "There is in the human character "a taste for effective work and a distaste for futile effort...Man is possessed of a discriminating sense of purpose...Economic theory must run back to this ubiquitous human impulse." — *Veblen*

कार्य नीतिशास्त्री पर छोड दे। ऐसा करना उचित नही है तथा समय की बर्बादी भी है। अत अर्थशास्त्री को विश्लेषण क साथ ही साथ आदर्श के सम्बन्ध मे भी राय देनी चाहिए।

4. 'संतुलन' केवल सतुलन के लिए सम्बन्धी तर्क उचित नहीं : राबिन्स के अनुसार सतुलन केवल सतुलन मात्र है। उसमे अनुमोदन का बल नही है। यदि यह सही है तो मजदूरी का निर्धारण माग व पूर्ति के सतुलन द्वारा कराके अर्थशास्त्री को उचित मजदूरी या न्यूनतम मजदूरी की बात नही करनी चाहिए। परन्तु वास्तव मे अर्थशास्त्री उचित मजदूरी की भी बात करत हैं जो 'आदर्श' का सूचक है।

5. अर्थशास्त्र एक उपयोगी विषय : कल्याणवादी अर्थशास्त्र . व्यावहारिक दृष्टि से हम जानते है कि अर्थशास्त्र मे कल्याणवादी अर्थशास्त्र (Welfare Economics) का विकास होता जा रहा है जो आदर्श पहलू का अध्ययन है। आजकल 'राजस्व' तथा आर्थिक नियोजन (Economic Planning) का महत्व बढता जा रहा है। ये दोनो ऐसे विषय है, जिनमे अर्थशास्त्री आदर्श-पक्ष की उपेक्षा नही कर सकता है। अर्थशास्त्र को 'सामाजिक प्रगति का इन्जिन' कहा जाता है। अर्थशास्त्र आदर्श-पहलू की उपेक्षा कर सामाजिक प्रगति मे सहायक नही हो सकता है।

6. औद्योगिक प्रगति : वर्तमान युग औद्योगिक युग है। औद्योगीकरण के कारण नई समस्याए पैदा हो गई हैं। सामाजिक सुरक्षा, न्यूनतम मजदूरी, श्रम-कल्याण, औद्योगिक विकास का स्वरूप आदि ऐसी समस्याए है जिनके समाधान के लिए अर्थशास्त्री को 'क्या करना चाहिए' प्रश्न का भी उत्तर देना पड़ता है जो आदर्श का सूचक है।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अर्थशास्त्र का 'आदर्श' पहलू भी है। इस प्रकार यह आदर्श-विज्ञान भी है। वर्तमान समय मे अधिकांश अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र को यथार्थ विज्ञान तथा आदर्श विज्ञान दोनो मानते हैं। व्यावहारिक रूप मे हम जानत ह कि आज व्यावसायिक तथा औद्योगिक फर्मे भी अर्थशास्त्री को परामर्शदाता (Adviser) के रूप म रखती ह तथा अर्थशास्त्री कर, उत्पादन, विनियोग, नियोजन आदि के सम्बन्ध मे सलाह देता है। आज अर्थशास्त्र की एक महत्वपूर्ण शाखा के रूप मे 'Managerial Economics' का महत्व बढता जा रहा है, जो व्यावहारिक समस्याओ के लिए समाधान प्रस्तुत करता है। इस प्रकार 'वास्तविक' तथा 'आदर्श' विज्ञान सम्बन्धी विवाद अब पुराना पड़ गया है। राबिन्स ने जो बात सन् 1932 मे मे कही, वह व्यावहारिक दृष्टि से आज उपयुक्त प्रतीत होती है। अब तो यह निर्विवाद रूप से माना जाने लगा है कि अर्थशास्त्र एक आदर्श विज्ञान भी है, तथा आदर्श के विषय मे राय देना अर्थशास्त्री का कर्त्तव्य है। Prof Macfie (जो राबिन्स के समर्थक हैं) ने भी, राबिन्स की परिभाषा का समर्थन करते हुए भी, कहा है

"...economics is fundamentally a normative science, not merely a positive science like Chemistry".

यथार्थवादी तथा आदर्शवादी दोनों विचारधाराओं के पक्ष में दिए गए तर्कों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अर्थशास्त्र वास्तविक विज्ञान तथा आदर्श विज्ञान दोनों ही है। वास्तव में यह मानव विज्ञान है, अतः विज्ञान के रूप में यह न तो वास्तविक तथ्यों की उपेक्षा कर सकता है और न ही निश्चित् आदर्शों के प्रतिपादन के उत्तरदायित्व से अपने आप को मुक्त कर सकता है। अतः अर्थशास्त्र न तो केवल वास्तविक या यथार्थ विज्ञान है और न आदर्श विज्ञान मात्र। यह एक ऐसा सामाजिक एवं मानव विज्ञान है जिसके अन्तर्गत यथार्थ आर्थिक तथ्यों के आधार पर आर्थिक आदर्शों का उल्लेख किया जाता है। उदाहरणार्थ, विनिमय के अन्तर्गत हम माग और पूर्ति का अध्ययन करते हैं जिससे यह ज्ञान होता है कि मूल्य का निर्धारण किस प्रकार किया जाता है, परन्तु इसके साथ ही साथ अर्थशास्त्र उचित मूल्य का भी अध्ययन करता है। उत्पादन में वास्तविक आंकड़ों के आधार पर जन-संख्या के घनत्व का यथार्थ रूप में अध्ययन किया जाता है, परन्तु अर्थशास्त्र आदर्श या अनुकूलतम जनसंख्या के विवेचन की भी उपेक्षा नहीं करता। इसी प्रकार वितरण में उचित मजदूरी, उचित लगान, उचित लाभ और उचित ब्याज के सम्बन्ध में आदर्शों का अध्ययन अर्थशास्त्र में किया जाता है। अतः यह निष्कर्ष उचित है कि अर्थशास्त्र वास्तविक तथा आदर्श विज्ञान दोनों है।

3. क्या अर्थशास्त्र कला भी है? (Is Economics Art also ?)

अर्थशास्त्र कला है या नहीं ? इस सम्बन्ध में भी अर्थशास्त्रियों में काफी मत-भेद है। एडम स्मिथ, मिल, रिकार्डो, मार्शल, पीगू आदि अर्थशास्त्र को कला भी मानते हैं। इसके विपरीत वालरस, सीनियर, शुम्पीटर, राबिन्स आदि अर्थशास्त्र को कला नहीं मानते हैं। यह प्रश्न अधिक विवादग्रस्त इसलिए हो जाता है कि मार्शल तथा पीगू ने भी इस सम्बन्ध में ऐसे विचार दिये हैं जिनके यदि शाब्दिक अर्थ पर ध्यान दिया जाए तो उनके अनुसार अर्थशास्त्र कला नहीं है परन्तु उन्होंने जो कुछ कहा है, उसके भावार्थ पर ध्यान दिया जाए तो अर्थशास्त्र 'कला' प्रतीत होता है। अतः इस प्रश्न पर विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है।

कला ज्ञान की वह शाखा है जो निश्चित उद्देश्यों या आदर्शों की प्राप्ति के लिए उपायों या विधियों का ज्ञान कराती है। विज्ञान से वास्तविक स्थिति का ज्ञान होता है। कला सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप प्रदान करने की विधि बतलाती है। 'जानना' विज्ञान है तथा 'करना' कला है। विज्ञान आचरण का सिद्धान्त मात्र है। जब सिद्धान्तों का आचरण व्यवहार में होता है तब उसे कला कहते हैं। 'वास्तविक विज्ञान' द्वारा बतलाई गई वस्तु-स्थिति, तथा 'आदर्श-विज्ञान' द्वारा निर्देशित

आदर्श या सर्वोत्तम उपाय द्वारा लक्ष्य तक पहुँचने की विधि क्या होगी ? इसका ज्ञान कला कराती है। कला एक ऐसा पुल है जो वास्तविक विज्ञान तथा आदर्श विज्ञान को मिलाती है।

'अर्थशास्त्र कला नहीं है' के पक्ष मे तर्क .

1. कला तथा विज्ञान एक दूसरे से भिन्न कला तथा विज्ञान की प्रकृति एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न है। दोनों के क्षेत्र अलग-अलग हैं । अत अर्थशास्त्र यदि विज्ञान है तो वह कला नही हो सकता।

2 आर्थिक समस्याओं की प्रकृति कोई भी आर्थिक समस्या वास्तव मे विशुद्ध आर्थिक समस्या नही होती है । आर्थिक समस्याएं राजनैतिक, सामाजिक तथा संस्थागत परिस्थितियों से प्रभावित होती हैं। अत. केवल आर्थिक दृष्टि से ही अर्थशास्त्री समस्याओं के समाधान के लिए उचित विधि नही बतला सकता है। यदि वह विधि या उपाय बतलाता है तो भी सफलता नही मिलेगी। अर्थशास्त्री द्वारा प्रस्तुत विश्लेषण कला का आधार तो हो सकता है, परन्तु स्वयं कला का रूप ग्रहण नही कर सकता है। मार्शल के शब्दों मे,

"The type of science at the economist will endeavour to develop must be one adapted to form the basis of an art It will not indeed itself be an art It is a science pure and applied rather than a science and an art" —*Marshall*

मार्शल के अनुसार, अर्थशास्त्री को आर्थिक समस्या का अध्ययन करने के पश्चात् पीछे हट जाना चाहिए तथा अन्तिम निर्णय सम्बन्धी दायित्व सामान्य ज्ञान (Common Sense) पर छोड़ देना चाहिए।

3 आर्थिक निष्कर्षों का नीति निर्धारण मे तुरन्त उपयोग नहीं अर्थशास्त्री का कार्य आर्थिक समस्याओं का विश्लेषण करना है, नीति निर्धारण करना नही। अर्थशास्त्र के नियमो का उपयोग प्रत्यक्ष रूप से तुरन्त नीति-निर्धारण के लिए नही किया जा सकता है। इतना अवश्य है कि आर्थिक विश्लेषण नीति निर्धारण मे अन्य तत्वों के साथ, एक सहायक तत्व हो सकता है। जे एम केन्स के शब्दों मे, "अर्थशास्त्र ऐसे निश्चित नियम प्रदान नही करता है जिन्हे तत्काल ही किसी नीति के लिए प्रयोग मे लाया जा सके। यह सिद्धान्त नही बल्कि विश्लेषण का एक ढंग है। यह विचार करने की विधि तथा मस्तिष्क के लिए एक यन्त्र है, जिससे अपनाने वालो को सही निर्णय पर पहुचने मे सहायता मिलती है।" जब नीति निर्धारण मे आर्थिक नियमो का तत्काल उपयोग नही किया जा सकता है तब अर्थशास्त्र को कला भी नही कह सकते है।

'अर्थशास्त्र कला है', के पक्ष मे तर्क

1. अर्थशास्त्र सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक दोनो अर्थशास्त्र के कला न होने

के पक्ष मे यह तर्क दिया जाता है कि कला व विज्ञान की प्रकृति भिन्न है। अतः अर्थशास्त्र कला व विज्ञान दोनो नही हो सकता है। परन्तु हमे यह नही भूलना चाहिये कि ज्ञान की कोई शाखा या विषय ऐसा भी हो सकता है जो सैद्धान्तिक दृष्टि से विज्ञान हो तथा व्यावहारिक दृष्टि से कला भी हो। अर्थशास्त्र ऐसा ही विषय है।

2. व्यावहारिक अर्थशास्त्र (Applied Economics) कला का ही प्रतीक है : आजकल व्यावहारिक अर्थशास्त्र, कल्याणकारी अर्थशास्त्र राजस्व आदि का महत्व अर्थशास्त्र मे बढता जा रहा है। Managerial Economics (जो आर्थिक सिद्धान्तो के व्यावहारिक उपयोग का अध्ययन है) का महत्व बढता जा रहा है। आजकल आर्थिक सलाहकार व्यावहारिक नीति के विषय मे राय देते है। अत अर्थशास्त्र की आधुनिक प्रवृत्तियो के आधार पर इसे कला कहना अनुपयुक्त नही होगा।

अर्थशास्त्री को चाहिये कि वह आर्थिक समस्याओ का विश्लेषण करे तथा उनको दूर करने के उपाय बतलाए। एक दार्शनिक के रूप मे उसे यथार्थता की ओर संकेत करके तटस्थ नही हो जाना चाहिये। व्यक्ति तथा समाज से सम्बन्धित अनेक समस्यायें हैं जिनका विश्लेषण मात्र ही लाभदायक नही होगा। यदि सरकार द्वारा लगाये गये करो की आलोचना की जाए, लकिन एक आदर्श कर-प्रणाली को प्राप्त करने के उपाय न बतलाये जायें, तो अर्थशास्त्री मानव-कल्याण मे वृद्धि करने के उद्देश्य की प्राप्ति मे सफल नही हो सकता। उसका कार्य, पीगू के कथनानुसार, उसी प्रकार होगा जैसे कि एक डाक्टर किसी रोगी की बीमारी का निदान तो कर दे परन्तु उसका इलाज करने के लिये आवश्यक औषधियो को न बतलाये। यह सभी जानते हैं कि देश मे बेकारी की समस्या है, व्यक्तिगत आय कम है, वस्तुओ के उत्पादन की मात्रा मे कमी है। यदि अर्थशास्त्र मे इन समस्याओ के कारणो का विश्लेषण ही किया जाय और इन समस्याओ को हल करने के उपायो को न बताया जाय, तो उसे एक फलदायक विज्ञान नही कहा जायेगा। इस प्रकार जब अर्थशास्त्र इन समस्याओ के वास्तविक पहलू का अध्ययन करने के उपरान्त निश्चित आदर्शों की प्राप्ति के सम्बन्ध मे आवश्यक उपाय भी बतलाता है तब इसे 'कला' की श्रेणी मे रखा जाता है।

निष्कर्ष : उक्त कथन से यह स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र विज्ञान के रूप मे वास्तविक आर्थिक तथ्यो को एकत्र एव संग्रह करता है और उनका विश्लेषण करने के उपरात वह आर्थिक नियमो के रूप मे उनके कारणो एव परिणामो मे सम्बन्ध स्थापित करता है। इसके उपरात मानव कल्याण के दृष्टिकोण से वह कुछ आदर्शों की ओर संकेत करता है और अन्त मे उन प्रस्तुत तथ्यों के आधार पर आदर्शों की प्राप्ति म जो समस्यायें आती है उनके समाधान के उपायो को प्रस्तुत करता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र वास्तविक विज्ञान, आदर्श विज्ञान तथा कला, तीनो ही हैं।

2. अर्थशास्त्र के अध्ययन का महत्व (Significance of Economics)

अर्थशास्त्र के अध्ययन का क्या महत्व है ? इस प्रश्न का उत्तर अत्यन्त ही जटिल है । कुछ अर्थशास्त्री यह मानते हैं कि अर्थशास्त्र का उद्देश्य आर्थिक समस्याओं के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करना मात्र है । दूसरी ओर ऐसे अर्थशास्त्री भी हैं जिन्होने अर्थशास्त्र को व्यावहारिक विज्ञान (Applied Science) माना है तथा उन्होने यह विचार व्यक्त किया है कि अर्थशास्त्र का उद्देश्य आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए हल प्रस्तुत करना भी है । इस प्रकार उन्होने अर्थशास्त्र का उद्देश्य नीति-निर्धारण माना है । अर्थशास्त्रियों का एक तीसरा भी वर्ग है जिसने मध्यम मार्ग अपनाया है । उनके अनुसार अर्थशास्त्र के द्वारा ऐसे सिद्धान्त निश्चित नही किए जाते जिनका व्यावहारिक दृष्टि से तुरन्त उपयोग किया जा सके । इन तीनो प्रकार के मतों के अध्ययन के पश्चात् ही हम अर्थशास्त्र के अध्ययन के महत्व के सम्बन्ध म निर्णायक राय प्रस्तुत कर सकते हैं ।

1. अर्थशास्त्र का महत्व केवल सैद्धान्तिक है (Economics has only theoretical significance) : प्रोफेसर राबिन्स, शुम्पीटर, वालरस तथा कूर्नो (Cournot) आदि अर्थशास्त्रियो ने यह मत प्रकट किया है कि अर्थशास्त्र का कार्य नीति निर्धारण करना नही है । अर्थशास्त्र विशुद्ध विज्ञान है । यदि अर्थशास्त्र का उद्देश्य नीति-निर्धारण तथा व्यावहारिक निर्देशन करना मान लिया जाय तो एक विशुद्ध विज्ञान के रूप मे इसकी प्रतिष्ठा समाप्त हो जायेगी । राबिन्स ने कहा है कि अर्थशास्त्री का कार्य विभिन्न उद्देश्यो की उपयुक्तता (desirability) के सम्बन्ध मे राय देना नही है । ऐसी परिस्थिति मे यह प्रश्न उठता है—तब अर्थशास्त्र का क्या महत्व रह जायेगा ? राबिन्स ने इसका उत्तर इस प्रकार दिया है :

यदि हमारे समक्ष विभिन्न उद्देश्यो के बीच चुनाव करने की समस्या हो (किस उद्देश्य को पहले पूरा किया जाय ?) तो अर्थशास्त्र का अध्ययन हमे यह बतलाता है कि अमुक उद्देश्य को प्राथमिकता देने के विभिन्न परिणाम क्या होंगे ? इसके द्वारा यह ज्ञात नही होगा कि कौन सा उद्देश्य श्रेष्ठतम है ? अत चुनाव करने का कार्य सम्बन्धित व्यक्ति का है, अर्थशास्त्र का नही । किस वस्तु या उद्देश्य को प्राथमिकता दी जाय ? इस प्रश्न का उत्तर कोई भी विज्ञान नहीं दे सकता । विज्ञान का कार्य केवल विभिन्न सम्भावनाओ का विश्लेषण प्रस्तुत करना मात्र है । व्यक्ति को यह जानना चाहिए कि विभिन्न विकल्पो (alternatives) के परिणाम क्या होंगे, क्योकि चुनाव सम्बन्धी विवेकशीलता का अर्थ है कि चुनाव करने वाला विभिन्न विकल्पो के विषय मे जानकारी रखता हो और वह यह जानता हो कि यदि उसने अन्य उद्देश्यो को छोड़कर किसी उद्देश्य-विशेष को चुना है, तो अन्य उद्देश्यो के

छोड़ने से उसे क्या हानि होगी ? यही पर अर्थशास्त्र का व्यावहारिक महत्व प्रकट होता है। हमें अर्थशास्त्र द्वारा चुने गये विभिन्न उद्देश्यों के आशय तथा परिणाम का ज्ञान प्राप्त होता है। इसके द्वारा हमारे लिए ऐसे उद्देश्यो का चुनाव करना सम्भव हो पाता है जो परस्पर एक दूसरे से सगत (Consistent) हैं।[1] इस प्रकार राबिन्स के अनुसार अर्थशास्त्र का महत्व केवल सैद्धान्तिक है। अर्थशास्त्र द्वारा विभिन्न नीतियो की जाच करने म सहायता मिलती है। अर्थशास्त्र हमे नीति को वैकल्पिक सम्भावनाओ के महत्वपूर्ण परिणामो की जानकारी प्राप्त कराने मे सहायक होता है।[2] इसके द्वारा नीति-निर्देशन नही किया जाता। अर्थशास्त्र विवक पूर्ण निर्णय पर पहुचने मे सहायक होता है। राबिन्स के शब्दो में, **"अर्थशास्त्र विवेकपूर्ण कार्य करने की विधि प्रदान करता है तथा हमारे साधनों तथा उद्देश्यो के बीच चुनाव की क्रिया का सगत ढग से सपादन सम्भव बना देता है।"**

"Economics provides a technique of rational action and makes it possible to act more consistently in choosing out ends and our means for attaining them" —*Robbins*

2. अर्थशास्त्र का व्यावहारिक महत्व भी है (Economics has practical importance also). एडम स्मिथ, जे० एस० मिल, रिकार्डो तथा पीगू आदि अर्थशास्त्रियो न अर्थशास्त्र को व्यावहारिक दृष्टि स उपयोगी माना है। इनक अनुसार कोई भी अथशास्त्री आर्थिक विश्लेषण करते समय सैद्धान्तिक रूप से तटस्थ नही रह सकता। अर्थशास्त्री का काय विभिन्न आर्थिक विषयो पर राय देना तथा नीति-निर्देशन करना भी है। अथशास्त्री एक दार्शनिक नही है, बल्कि एक चिकित्सक है "जिसे समाज के आर्थिक स्वास्थ्य के लिये निदान तथा चिकित्सा करनी है।[3]" फ्रेजर ने कहा है, "एक अर्थशास्त्री, जो केवल अथशास्त्री है, केवल साधारण सुन्दर मछली है।"[4] इस प्रकार अर्थशास्त्री का कार्य नीति-निर्धारण तथा नीति-निर्देशन दोनो है।

अन्य वैज्ञानिक विषयो की भाँति अर्थशास्त्र भी व्यावहारिक समस्याओ के समाधान मे मदद देता है। राबिन्स का यह कहना कि विज्ञान का कार्य नीति-निर्देशन

1 "Economics can make clear to us the implications of the different ends we may choose. It makes it possible for us to select a system of ends which are mutually consistent with each other" —*Robbins*

2 "It enables us to conceive the far reaching implications of alternative possibilities of policy" —*Ibid, p, 156*

3 "He (the economist) should diagnose and prescribe for the economic health of the society." —*Smithies*

4 "An economist who is only an economist is a poor pretty fish" —*Fraser*

करना नहीं है, हमारी राय में उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। यहा तक कि शुद्ध विज्ञान भी वास्तविक समस्याओं के समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है। उदाहरण के लिए, खगोल विज्ञान (Astronomy) द्वारा नाविकों की समस्याओं के समाधान प्रस्तुत किये गए। चिकित्सा-विज्ञान का विकास बीमारी दूर करने के लिए किया गया। अत यह कहा जा सकता है कि विज्ञानों का विकास मानव-समाज की कठिनाइयों को दूर करने के लिए ही किया गया। चूंकि अर्थशास्त्र एक समाज विज्ञान है, अत: इसके द्वारा विभिन्न आर्थिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया जा सकता है। बेरोजगारी, मुद्रा-स्फीति, मूल्य-स्तर विदेशी व्यापार, मजदूरी, लाभ, राष्ट्रीय करण, सम्पत्ति तथा आय का वितरण, कृषि, उद्योग, आदि से सम्बन्धित अनेक समस्यायें है जिनका विश्लेषण अर्थशास्त्र द्वारा किया जाता है तथा इन समस्याओं के समाधान के लिए उचित तथा आवश्यक सुझाव प्रस्तुत किए जाते है। इस प्रकार अर्थशास्त्र का अध्ययन व्यावहारिक दृष्टि से अत्यन्त ही उपयोगी है। "अर्थशास्त्र **मूल्य सिद्धान्त या सन्तुलन-विश्लेषण मात्र नहीं है, यह इससे अधिक है।"**[5] इस कथन द्वारा यह स्पष्ट होता है कि अर्थशास्त्र केवल सैद्धान्तिक विश्लेषण ही नहीं प्रस्तुत करता वरन् आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए उचित उपाय भी बतलाता है। इस प्रकार व्यावहारिक दृष्टि से यह एक उपयोगी विषय है।

3 **अर्थशास्त्र विश्लेषण का एक ढंग है जो सही निर्णय पर पहुंचने में सहायक होता है (Economics is a method of analysis which helps to draw correct conclusions)** : उपरोक्त दोनो विचारधाराएं परस्पर विरोधी हैं। रॉबिन्स आदि अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र के सैद्धान्तिक महत्व को मानते हैं। दूसरी ओर प्रोफेसर पीगू आदि इसके सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक महत्व को स्वीकार करते हैं। परन्तु मार्शल, जे० एम० केन्स आदि ऐसे अर्थशास्त्री हैं जिन्होंने उपरोक्त दोनों विचार धाराओं में समन्वय स्थापित कर मध्यम मार्ग अपनाया है। मार्शल ने कहा है "अर्थशास्त्र का प्रमुख उद्देश्य सामाजिक समस्याओं के समाधान में मदद देना है।"[6] इस कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि अर्थशास्त्री आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए मार्ग निर्देशन करे। यह कथन केवल इस सत्य की ओर संकेत करता है कि अर्थशास्त्री का कार्य सामाजिक समस्याओं का विश्लेषण करना तथा विभिन्न नीतियों के सम्भावित प्रभावों का उल्लेख करना है। कौन सी नीति अपनाई जाय ? यह बतलाना अर्थशास्त्री का कर्त्तव्य नहीं है। प्रो० ब्राउन के अनुसार, 'आर्थिक सिद्धांत

[5] "Economics is something more than mere value theory or equilibrium analysis." —*Fraser*

[6] "The dominant aim of Economics is to contribute to a solution of social problems." —*Marshall*

स्वयं व्यावहारिक समस्याओं के समाधान नहीं प्रस्तुत करता; बल्कि यह एक यंत्र है जो उनकी खोज (व्यावहारिक समस्याओं) में प्रयुक्त होता है।"

केन्स ने अर्थशास्त्र के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है 'अर्थशास्त्र ऐसे निश्चित नियम प्रदान नहीं करता जिन्हें तत्काल ही किसी नीति के लिए प्रयोग में लाया जा सके। यह सिद्धांत नहीं वरन् विश्लेषण का एक ढंग है। यह विचार करने की एक विधि तथा मस्तिष्क के लिए एक यंत्र है जिसको अपनाने वालों को सही निर्णय पर पहुंचने में सहायता मिलती है।" इस प्रकार अर्थशास्त्र के सिद्धांतों को तुरन्त नीति के रूप में कार्यान्वित नहीं किया जा सकता। अर्थशास्त्र समस्याओं की जानकारी के लिए उपयोगी तथ्य प्रस्तुत करता है। उन तथ्यों का प्रयोग करना अथवा न करना व्यक्ति विशेष पर निर्भर है। इसके अन्तर्गत ऐसे तथ्यों का अध्ययन किया जाता है जो मानव-कल्याण को प्रभावित करते हैं। अतः मानव समस्याओं को समझने में अर्थशास्त्र मदद देता है। अर्थशास्त्री वर्तमान आर्थिक संस्थाओं को अधिक उपयोगी बनाने के लिए आवश्यक सुझाव प्रस्तुत करता है। उन संस्थाओं में वह आमूल परिवर्तन करने के लिए भी सुझाव दे सकता है, यदि उसे इस बात का निश्चय हो जाय कि वे संस्थाएँ सुधारों के बावजूद भी कुशलतापूर्वक नहीं चलाई जा सकतीं। फिर भी, उसका प्रमुख कर्त्तव्य वर्तमान अर्थ-व्यवस्था में सुधार लाना ही है, सर्वथा एक नई अर्थ-व्यवस्था का निर्माण करना नहीं। अर्थशास्त्री एक नई अर्थ-व्यवस्था के निर्माण करने के लिए रूपरेखा प्रस्तुत नहीं करता। वह उस यांत्रिक (Mechanic) की भाँति है जो पुरानी मोटरों की मरम्मत तथा उनका नवीनीकरण करता है। वह नई प्रकार की मोटरों की रूपरेखा (Design) तैयार नहीं करता। इस प्रकार अर्थशास्त्री एक तथ्य विश्लेषक, व्यावहारिक मार्गदर्शक तथा नीति निर्देशक है।

क्या अर्थशास्त्र व्यावहारिक समस्याओं का समाधान कर सकता है ?
(Can Economics Solve Practical Problems ?)

इस विषय में अर्थशास्त्रियों में पर्याप्त मतभेद है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार अर्थशास्त्री का कर्त्तव्य आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करना है। उसे समस्याओं के समाधान नहीं बतलाने चाहिये। उनका कहना है कि अर्थशास्त्री के सुझाव बहुत महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं। उसके द्वारा निर्देशित समाधान भी सही हो सकता है, परन्तु किसी भी समस्या के समाधान के लिए केवल आर्थिक आधार पर ही निर्णय नहीं दिया जा सकता है। व्यावहारिक समस्यायें जटिल होती हैं तथा उनके राजनैतिक सामाजिक तथा नैतिक आदि पहलू भी होते हैं। इन सब पर विचार किए बिना, समस्या के समाधान के लिए राय देना उचित नहीं है। साथ ही साथ हम अर्थशास्त्री से यह आशा नहीं कर सकते हैं कि वह इन सभी विषयों का ज्ञाता है। सीनियर

(Senior)ने स्पष्ट रूप से कहा है कि अर्थशास्त्री के निष्कर्ष कितने ही सही हों, परन्तु उसे राय देने का अधिकार नही है। राय देने का अधिकार उस सिद्धातवादी को प्राप्त नही होता जिसने एक दृष्टिकोण विशेष से विचार प्रस्तुत किया हो—

"The economist's conclusions, whatever be their generality and their truth, do not authorise him in adding a single syllable of advice That privilege belongs to the writer or to the statesman··· not to the theorist who has considered only though among the most important of these causes"

पीगू ने भी कहा है कि यद्यपि अर्थशास्त्री को सामाजिक उन्नति का लक्ष्य सदा सामने रखना चाहिये, परन्तु उसका कार्य आक्रमण की सीमा के सामने खडे होने का नहीं है, बल्कि धैर्य के साथ उस सीमा के पीछे खड़े होकर युद्ध सामग्री तैयार करना है—

'Though for the economist the goal of social betterment must be *held ever in sight, his own special task is not to stand* in the forefront of attack but patiently behind the lines to prepare the armament *of knowledge* '
—*Pigou*

राबिन्स ने भी कहा है कि अर्थशास्त्री का कार्य समस्या का विश्लेषण करना मात्र है, उसे राय देने का अधिकार नही है। राबिन्स के विचार इस सम्बन्ध मे पूर्ण रूप से स्पष्ट हैं। परन्तु मार्शल तथा पीगू के विचार भ्रामक है। मार्शल तथा पीगू दोनो ने यह विचार व्यक्त किया है कि अर्थशास्त्री का कार्य समस्याओ के लिए समाधान प्रस्तुत करना नही है, परन्तु उन्होने कुछ ऐसी भी बात कही हैं, जिनका परोक्ष रूप मे वास्तविक अर्थ यह निकलता है कि अर्थशास्त्री का कार्य राय देना भी है या कम से कम समस्या के समाधान मे सहयोग देना है। मार्शल ने कहा है "The aims of study are to gain knowledge for its own sake and to obtain guidance in the practical conduct of life and especially social life" इसी प्रकार पीगू ने भी कहा है कि अर्थशास्त्री की स्थिति एक दार्शनिक की स्थिति नही है, बल्कि वह एक चिकित्सक की भांति है जो अपने ज्ञान का उपयोग रोग को दूर करने के लिए करता है। इन विचारो से स्पष्ट है कि मार्शल तथा पीगू ने भी किसी न किसी रूप में यह कहा है कि अर्थशास्त्री को व्यावहारिक समस्याओ के समाधान मे सहयोग देना चाहिये।

कल्याणवादी अर्थशास्त्र (Welfare Economics) इसी बात का प्रतीक है। प्रबन्धात्मक अर्थशास्त्र (Managerial Economics) आर्थिक नियोजन' आदि अर्थशास्त्र की व्यावहारिक शाखाऐ है। आजकल अर्थशास्त्री आर्थिक समस्याओ के समाधान मे महत्वपूर्ण योग देते हैं। अत अर्थशास्त्री यदि व्यावहारिक समस्याओं

के समाधान के लिए राय देता है तो वह सर्वथा अपनी सीमा के ही अन्दर है। राय देना अर्थशास्त्री की अनाधिकार चेष्टा नहीं है, बल्कि उसका कर्तव्य है।

यह सही है कि अर्थशास्त्र के पास समस्याओं के समाधान के लिए पूर्व निश्चित नुस्खे नहीं हैं, परन्तु अर्थशास्त्र ऐसा विषय अवश्य है जिसका अध्ययन सही निर्णय पर पहुचने मे सहायक होता है। अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र के ज्ञान का उपयोग निर्णय या सुझाव देने के लिए कर सकता है।

प्रश्न व संकेत

1 "The function of an economist is to explore and explain and not to advocate or c ndemn." Discuss (Agra B A, 1967)

'एक अर्थशास्त्री का कार्य खोज तथा व्याख्या करना है, न कि अनुमोदन करना या निन्दा करना।" विवेचना कीजिए

[संकेत—इस कथन का आशय समझाइए। रोबिन्स द्वारा सैद्धान्तिक पहलू पर दिये गये जोर को स्पष्ट करते हुए सैद्धान्तिक दृष्टि से अर्थशास्त्री के कार्यों की समीक्षा कीजिए]

2 "Whatever economics is concerned with, it is not concerned with the causes of Material Welfare"—Robbins Discuss

"अर्थशास्त्र का सम्बन्ध चाहे जिससे हो, पर उसका सम्बन्ध भौतिक कल्याण के कारणो से नहीं है।" रोबिन्स। विवेचना कीजिए।

(Bihar, 1963, Indore, B Com I, 1965)

[संकेत—भौतिक कल्याण सम्बन्धी रोबिन्स के विचार बताइए। रोबिन्स के अनुसार अर्थशास्त्र का सम्बन्ध चयन की समस्या से किस प्रकार है, समझाइये।

3 "अर्थशास्त्र ऐसे निश्चित तथा तैयार निष्कर्ष नहीं देता है जिनका नीति के लिए तत्काल प्रयोग हो सकता हो। यह तो एक रीति है न कि एक सिद्धांत मस्तिष्क का एक यन्त्र तथा सोचने की एक कला है जो इसके अधिकारी को सही निष्कर्ष प्राप्त करने मे सहायता करती है।—" केन्ज। विवेचना कीजिए।

[संकेत—केन्ज के इस कथन की व्याख्या कीजिए। इसके पश्चात् केन्ज द्वारा अर्थशास्त्र के कलात्मक पक्ष पर दिये गये जोर का वर्णन कीजिए तथा अर्थशास्त्र के महत्व पर सविस्तार प्रकाश डालिए।]

4 'एक अर्थशास्त्री, जो केवल अर्थशास्त्री है वह केवल एक सुन्दर व असहाय मछली की तरह है।"—फ्रेजर

[संकेत—प्रथम यह बताइए कि अर्थशास्त्र सैद्धातिक व व्यावहारिक, दोनो ही प्रकार का अध्ययन है। इसके पश्चात् यह बताइए कि अर्थशास्त्री का कार्य केवल विश्लेषण करना ही नहीं अपितु उसकी व्यावहारिक उपयोगिताए बताना भी है।]

4

आर्थिक विश्लेषण की शाखाएं (I)

(Branches of Economic Analysis)

"Macro-economics deals with economic affairs 'in large' It concerns the overall dimensions of economic life It looks at the total size and shape . ..it studies the character of the forest independently of the trees which compose it"

—Garder Ackley

आर्थिक-विश्लेषण के लिए विभिन्न विधियो (approaches) या दृष्टिकोणो का उपयोग किया जाता है। अर्थशास्त्री आर्थिक समस्याओ के विश्लेषण के लिए इन विधियो मे से किसी एक विधि या कई विधियो द्वारा विश्लेषण करता है। सामान्य रूप से आर्थिक विश्लेषण के लिए निम्नलिखित दृष्टिकोण अपनाए जाते हैं

1 व्यष्टि तथा समष्टि आर्थिक विश्लेषण (Micro and Macro Economic Analysis)

2 आंशिक विश्लेषण तथा पूर्ण विश्लेषण (Partial Analysis and Total Analysis) तथा

3. साम्य विश्लेषण (Equilibrium Analysis) अगले पृष्ठो मे, इन सभी पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है ·

1. व्यष्टि व समष्टि आर्थिक विश्लेषण

(Micro and Macro Economic Analysis)

अन्य विषयो की भांति अर्थशास्त्र भी कई शाखाओ तथा उपशाखाओ मे विभाजित किया गया है। व्यष्टि अर्थशास्त्र और समष्टि अर्थशास्त्र, अर्थशास्त्र की दो शाखाये है जो किसी आर्थिक समस्या के अध्ययन के लिए दो प्रकार के दृष्टिकोणो (Approaches) सूक्ष्म विश्लेषण (Micro analysis), तथा व्यापक विश्लेषण (Macro analysis) पर आधारित हैं। व्यष्टि या सूक्ष्म अर्थशास्त्र के अन्तर्गत किसी

अर्थव्यवस्था की इकाइयो जैसे व्यक्तियो, परिवारो, फर्मो आदि का अध्ययन किया जाता है। समष्टि या व्यापक अर्थशास्त्र के अन्तर्गत अर्थ-व्यवस्था की किसी समस्या का समग्र रूप से अध्ययन किया जाता है, इकाइयो पर ध्यान नही दिया जाता है, जैसे राष्ट्रीय-आय, देश मे बचत, देश का कुल उपभोग आदि। व्यष्टि अर्थशास्त्र 'विशिष्ट' (Particular) से सम्बन्धित है, जबकि समष्टि अर्थशास्त्र 'सामान्य' (General) से सम्बन्धित है। अत. यह कहा जा सकता है कि व्यष्टि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध व्यक्तिगत इकाइयो से है जबकि समष्टि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत अर्थव्यवस्था का समग्र रूप मे अध्ययन किया जाता है। प्रो० चेम्बरलिन ने व्यष्टि अर्थशास्त्र तथा समष्टि अर्थशास्त्र मे माडल (Model) की दृष्टि से विभेद किया है। उनके अनुसार, "व्यष्टि माडल पूर्णतया व्यक्तिगत व्याख्या पर आधारित है तथा अन्तर्वैक्तिक सम्बन्धों का अध्ययन करता है जबकि समष्टि माडल कुल सम्बन्धो की व्याख्या करता है।"

"The micro model is built solely on the individual and deals with inter personal relations only, the macro model, on the other hand, deals with aggregative relations" — *Chamberlin*

व्यष्टि व समष्टि अर्थशास्त्र की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि
(Historical Background of Micro & Macro Economics)

'व्यष्टि अर्थशास्त्र' तथा 'समष्टि अर्थशास्त्र' दोनो के ही अध्ययन-रीतियो से पुराने अर्थशास्त्री परिचित थे। परन्तु प्राचीन अर्थशास्त्रियो ने व्यष्टि दृष्टिकोण (Micro-approach) या सूक्ष्म विश्लेषण (Micro analysis) पर अधिक ध्यान दिया था। ऐतिहासिक दृष्टि म व्यापक या समष्टि अर्थशास्त्र (Macro Economics) (Micro Economics) की अपेक्षा पुराना है। एडम स्मिथ के पूर्व, आर्थिक विचारधारा के लिए वाणिज्यवादियो (Mercantilists) तथा फिजियोक्रेट्स ने जो पृष्ठभूमि तैयार की थी वह समष्टि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत आती है। व्यष्टि अर्थशास्त्र (Micro) के जन्मदाता एडम स्मिथ थे। इस प्रकार समष्टि दृष्टिकोण की अपेक्षा पुराना है। वाणिज्यवादी सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था की समस्या मे रुचि रखते थे। उनका मुख्य विषय 'राष्ट्रीय समृद्धि के लिये उचित सरकारी नीति' थी। वे राष्ट्रीय समृद्धि के लिये सरकारी हस्तक्षेप मे विश्वास रखते थे जिससे देश के समस्त साधनो का समुचित उपयोग किया जा सके। फिजिओक्रेट्स भी समष्टि दृष्टिकोण के समर्थक थे। प्रसिद्ध फिजिओक्रेट (Quesney) की अर्थ-व्यवस्था की तालिका (*Tableaou Economique*) इस बात का प्रमाण है।

व्यष्टि अर्थशास्त्र के जन्मदाता एडम स्मिथ थे। एडम स्मिथ तथा उसके समर्थक 'स्वहित की भावना' (self interest) को सम्पूर्ण आर्थिक क्रियाओ का आधार मानते थे। उन्होने वस्तु विशेष किस प्रकार पैदा की जाती है उसकी कीमत

का निर्धारण किस प्रकार किया जाता है, आय का उत्पादन के विभिन्न साधनों में वितरण किस प्रकार किया जाता है, आदि समस्याओं पर प्रकाश डाला। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों में से अधिकांश ने सूक्ष्म विश्लेषण तथा व्यापक विश्लेषण दोनों का ही प्रयोग किया। एडम स्मिथ तथा उसके समर्थकों ने भी यह माना कि समस्त आर्थिक सगठन का सचालन व्यक्तियों की स्वहित भावना के कारण सुचारु रूप से होता है। मार्शल के समय में व्यष्टि या सूक्ष्म विश्लेषण का काफी विकास हुआ। मार्शल के समकालीन अर्थशास्त्रियों में से अधिकांश का ध्यान विश्लेषण की इस विधि पर ही केन्द्रित रहा।

माल्थस तथा सिसमांडी और मार्क्स ऐसे अर्थशास्त्री थे जिन्होंने उपर्युक्त मत के प्रति असहमति प्रकट की। वे स्वहित पर आधारित स्व-सन्तुलनीय (Self adjusting) अर्थ-व्यवस्था में विश्वास नहीं रखते थे। एडम स्मिथ ने भी कुछ ऐसे विचार प्रकट किए—समाज की हित भावना, कुल उत्पादन, पूर्ण रोजगार आदि-जो समष्टि अर्थशास्त्र या व्यापक विश्लेषण के अन्तर्गत आते है। परन्तु माल्थस प्रथम अर्थशास्त्री थे जिन्होंने समष्टि अर्थशास्त्र या व्यापक विश्लेषण सम्बन्धी विचार प्रकट किए। उन्होंने जनसख्या की समस्या पर विस्तार पूर्वक प्रकाश डाला। इसके पश्चात् मार्क्स ने सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था की समस्याओं का विवेचन किया। नवीन प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों (Neo-classical economists) का ध्यान मुख्यत. व्यष्टि अर्थशास्त्र या सूक्ष्म विश्लेषण पर ही केन्द्रित रहा, यद्यपि मुद्रा, सामान्य मूल्य आदि के सम्बन्ध मे उनके द्वारा प्रकट किए गये विचारों को समष्टि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

सन् 1929–32 की विश्व आर्थिक मदी (Great Depression) ने अर्थशास्त्रियों का ध्यान, सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था की समस्याओं की ओर आकर्षित किया। अत समष्टि अर्थशास्त्र का महत्व बढ गया। समष्टि अर्थशास्त्र का सर्वप्रथम विधिवत व वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करने का श्रेय लार्ड केन्स (E. M. Keynes) को प्राप्त है। उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ, 'The General Theory of Employment, Interest and Money' जो सन् 1936 मे प्रकाशित हुआ, समष्टि अर्थशास्त्र के क्षेत्र म अद्वितीय स्थान रखता है। यद्यपि इसके पूर्व वालरस, शुम्पीटर, फिशर आदि ने व्यापक विश्लेषण के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया था। पूर्ण रोजगार, राष्ट्रीय आय, राजस्व, व्यापार चक्र, आर्थिक विकास आदि विषय समष्टि अर्थशास्त्र के प्रमुख अङ्ग बन गए। आजकल व्यापक या समष्टि व विश्लेषण का महत्व बढता जा रहा है तथा सूक्ष्म या व्यष्टि विश्लेषण एक प्रकार से पृष्ठभूमि (Background) मे चला गया है।

व्यष्टि अर्थशास्त्र (Micro Economics)

व्यष्टि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत व्यक्तियों तथा व्यक्तियों के निश्चित समूहों का अध्ययन किया जाता है। इसमें किसी अर्थव्यवस्था के विभिन्न पहलुओं का अलग-अलग अध्ययन करते है। यह विशेष व्यक्तियों, फर्मों, उद्योगों, व्यक्तिगत मूल्यों, मजदूरी, आय आदि का अध्ययन है। इस प्रकार व्यष्टि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत व्यक्तिगत उपभोक्ताओं क्रेताओं तथा विक्रेताओं के व्यवहारों का अध्ययन किया जाता है। अतः व्यष्टिगत अर्थशास्त्र विशेष (Particular) का अध्ययन है। क्रेता क्रय किस प्रकार करता है ? एक फर्म उत्पादित वस्तुओं की कीमत किस प्रकार निश्चित करती है ? विभिन्न वस्तुओं की कीमतों म अन्तर क्यों है ? आदि समस्याओं का अध्ययन व्यष्टिगत अर्थशास्त्र की विषय सामग्री है। बोल्डिंग के अनुसार "व्यष्टि अर्थशास्त्र विशिष्ट आर्थिक अङ्गों (इकाइयों) तथा उनके पारस्परिक प्रभाव और विशिष्ट आर्थिक मात्राओं तथा उनके निर्धारण का अध्ययन है।"

"Micro-economics is the study of particular economic organisms and their interaction and particular economic quantities and their determination." —*K. E. Boulding*

प्रो० जे० के० मेहता ने व्यष्टि अर्थशास्त्र को वैयक्तिक इकाइयों से सम्बन्धित होने के कारण क्रूसो की अर्थ-व्यवस्था की संज्ञा दी है (A micro economic study is essentially the study of Cruso economy)। गार्डनर एक्ले (Gardner Ackley) के अनुसार "व्यष्टि अर्थशास्त्र उद्योगों, उत्पादों और फर्मों म कुल उत्पादन के विभाजन तथा प्रतिस्पर्द्धी उपयोग के लिए साधनों के वितरण का अध्ययन करता है। यह आय वितरण की समस्या का अध्ययन करता है। यह विशेष वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्य निर्धारण से सम्बन्धित है।"[1] इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि व्यष्टि अर्थशास्त्र व्यक्तियों तथा व्यक्तियों के निश्चित समूहों की आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन है।[2] व्यष्टि अर्थशास्त्र मे योगों (aggregates) का भी अध्ययन किया जाता है, परन्तु ये योग सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था से सम्बन्धित नहीं होते हैं (Micro economics also uses aggregates, but not in a context

1 "Micro-economics, on the other hand, deals with division of the total output among industries, products and firms, and the allocation of resources among competing use. It considers problems of income distribution Its interest is in relating prices of particular goods and services ' Gardner Ackley, Macro economic Theory, p 4

2 "Micro-economics is the study of economic actions of individuals and well defined groups of individuals " *Henderson & Quandt Micro-economic Theory*, p. 2

which relates them to an economy wide total'-*Ackley*)। उपभोग सम्बन्धी नियम उपयोगिता ह्रास नियम, उपभोक्ता की बचत, सम-सीमांत उपयोगिता नियम आदि, उत्पादन में फर्मो, उद्योगों का उत्पादन विनिमय में इकाइयों द्वारा मूल्य निर्धारण, वितरण में विभिन्न साधनों में उत्पादन का वितरण आदि समस्याएं व्यष्टि अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री है। व्यष्टि अर्थशास्त्र में सीमांत विश्लेषण (Marginal analysis) का महत्वपूर्ण स्थान है।

व्यष्टि विश्लेषण के प्रयोग (Uses of Micro-Analysis)

1. अर्थशास्त्र आर्थिक समस्याओं का अध्ययन है। व्यष्टि अर्थशास्त्र अर्थ-व्यवस्था की इकाइयों या अङ्गों का अध्ययन करता है। सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था की समस्याओं के अध्ययन में, अङ्गों या वैयक्तिक इकाइयों का अध्ययन सहायक सिद्ध होता है।

2 व्यष्टि अर्थशास्त्र वैयक्तिक आय, व्यय, बचत, आदि पर प्रकाश डालता है जो सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के विश्लेषण में भी सहायक होता है।

3 आजकल प्रबन्धात्मक अर्थशास्त्र (Managerial Economics) का महत्व बढ़ रहा है। प्रबन्धात्मक अर्थशास्त्र, आर्थिक विधियों (Economic Tools) के प्रयोग द्वारा किस प्रकार निर्णय लिए जाए ? इस बात का ज्ञान कराता है। व्यष्टि अर्थशास्त्र व्यक्तियों, फर्मों आदि का अध्ययन करता है। इस प्रकार इसका अध्ययन आर्थिक निर्णय लेने में सहायक होता है।

4. व्यष्टि अर्थशास्त्र वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्य निर्धारण तथा उत्पादन साधनों के अंश निर्धारण की विधि बतलाता है।

5. वैयक्तिक इकाइयों की समस्याओं का अध्ययन कर, उनके लिए उचित निर्देशन में सहायक होता है।

व्यष्टि अर्थशास्त्र की सीमायें (Limitations of Micro Economics) :

1. सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था का ज्ञान नहीं. व्यष्टि अर्थशास्त्र केवल वैयक्तिक इकाइयों का ही अध्ययन करता है अत. इसके द्वारा अर्थ-व्यवस्था का पूरा चित्र हमारे सामने नहीं आ पाता है।

2. वैयक्तिक स्थिति सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था की प्रतीक नहीं. यह आवश्यक नहीं है कि वैयक्तिक निर्णयों का योग राष्ट्रीय निर्णय के अनुकूल हो। कभी-कभी व्यक्तिगत हित तथा राष्ट्रीय हित भिन्न होते हैं। उदाहरण के लिए, भारत में उपभोक्ता उद्योगों में विनियोजन करना व्यक्तिगत साहसियों के लिए लाभदायक है, परन्तु यदि सभी उद्योगपति केवल उपभोक्ता उद्योगों में ही विनियोजन करने लगे तो देश के औद्योगीकरण में बाधा पड़ेगी।

3. कुछ आर्थिक समस्याओ के अध्ययन के लिये अनुपयुक्त : व्यष्टि अर्थशास्त्र धीरे धीरे वर्तमान आर्थिक समस्याओ के अध्ययन के लिए अनुपयुक्त सिद्ध हो रहा है। आजकल अधिकाश निर्णय राष्ट्रीय स्तर पर लिए जाते हैं। सरकार का आर्थिक क्रियाओ मे हस्तक्षेप बढता जा रहा है। रोजगार, प्रशुल्क नीति, आय व धन का वितरण, आयात, निर्यात, राजस्व, औद्योगीकरण, आर्थिक नियोजन आदि राष्ट्रीय महत्व के विषय हैं। इनसे सम्बन्धित समस्याओ के अध्ययन के लिए व्यष्टि अर्थशास्त्र सर्वथा उपयुक्त नही है।

समष्टि अर्थशास्त्र (Macro-Economics) :

समष्टि अर्थशास्त्र व्यष्टि अर्थशास्त्र से भिन्न है। इसके अन्तर्गत व्यक्तिगत इकाइयो तथा उनकी समस्याओ का अध्ययन नही किया जाता, बल्कि समूहो का अध्ययन किया जाता है। समूहो (Aggregates) का अध्ययन करने के कारण ही इसे (Aggregative Economics) भी कहते हैं। इसमें सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था की समस्याओ का अध्ययन किया जाता है, जैसे कुल राष्ट्रीय उत्पादन, कुल उपभोग, कुल आय, बचत तथा विनियोग आदि। किसी अर्थ-व्यवस्था के इन सभी तत्वो तथा उनकी समस्याओ एव उनके पारस्परिक सम्बन्धो और प्रभावो आदि का अध्ययन इसकी विषय-सामग्री है।

बोल्डिग के अनुसार **"समष्टि अर्थशास्त्र व्यक्तिगत इकाइयों का नहीं बल्कि उनके योग (या समूह) का अध्ययन करता है। इसमे व्यक्तिगत आय के स्थान पर राष्ट्रीय आय, व्यक्तिगत कीमतों के स्थान पर कीमत स्तर, व्यक्तिगत उत्पादन के स्थान पर राष्ट्रीय उत्पादन का अध्ययन किया जाता है।"**

"Macro-Economics deals not with individual quantities as such but with aggregates of these quantities, not with individual incomes but with national income, not with individual prices, but with price-level, not with individual output but with national output." —*K E Boulding, Economic Analysis, p 3*

बोल्डिग ने अपनी दूसरी पुस्तक Reconstruction of Economic Theory मे समष्टि अर्थशास्त्र को इस प्रकार परिभाषित किया है—**'समष्टि अर्थशास्त्र आर्थिक मात्राओ के योगो व औसतो की प्रकृति, सम्बन्धो तथा व्यवहारो का अध्ययन है।"** (Macro economics is the study of nature, relationship and behaviour of aggregates and averages of economic quantities)

प्रो० एकले के अनुसार समष्टि अर्थशास्त्र आर्थिक समस्याओ के वृहद् रूप का अध्ययन है। इसका सम्बन्ध आर्थिक जीवन के 'सपूर्ण' पहलुओ से है। यह कहा

जा सकता है कि यह जंगल की विशेषताओं का अध्ययन करता है, जंगल के अलग-अलग वृक्षों से इसका सम्बन्ध नहीं है।[3]

यह आवश्यक नहीं है कि समष्टि अर्थशास्त्र में केवल सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित योगों का ही अध्ययन किया जाए। इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के योगों से छोटे भागों का भी अध्ययन किया जा सकता है, परन्तु ऐसे छोटे योगों का सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के योगों का उप-भाग होना चाहिए।

('Macro economics uses aggregates smaller than for the whole economy, but only in a context which makes them sub divisions of an economy-wide total " —*Ackley*

समष्टि अर्थशास्त्र का क्षेत्र अत्यन्त ही व्यापक है। इसके अन्तर्गत कुल उत्पादन, अर्थव्यवस्था के साधनों की रोजगार स्थिति, सामान्य मूल्य-स्तर, मौद्रिक तथा बैंकिंग समस्याएँ, व्यापार-चक्र, राष्ट्रीय आय, विदेशी व्यापार व राजस्व आदि का अध्ययन किया जाता है।

4 व्यष्टि अर्थशास्त्र तथा समष्टि अर्थशास्त्र की तुलना

Micro तथा Macro 'ग्रीक' भाषा के शब्द हैं। प्रथम का अर्थ 'छोटा' तथा द्वितीय का अर्थ 'बड़ा' है। अर्थशास्त्र में सर्वप्रथम इन शब्दों का प्रयोग ओसलो विश्वविद्यालय के प्रो० रैगनर फ्रिश (*Prof Ragnar Frisch*) ने किया तथा ये शब्द अब अत्यधिक प्रचलित हो गए हैं। वस्तुतः व्यष्टि तथा समष्टि अर्थशास्त्र में भेद नया नहीं है। व्यष्टि तथा समष्टि के अन्तरों के प्रचलित होने के पूर्व कीमत तथा आय विश्लेषण रीतियाँ प्रचलित थीं। कीमत-विश्लेषण (Price Analysis) तथा आय विश्लेषण (Income Analysis) रीतियाँ क्रमशः व्यष्टि तथा समष्टि रीतियाँ हो गयीं। व्यष्टि अर्थशास्त्र में कीमतों का महत्व है। इसके अन्तर्गत कीमत-निर्धारण तथा साधनों के विशिष्ट उपयोग का अध्ययन किया जाता है, दूसरी ओर समष्टि अर्थशास्त्र में सामान्यतया राष्ट्रीय आय तथा कुल साधनों के रोजगार का अध्ययन किया जाता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि व्यष्टि अर्थशास्त्र में आय का अध्ययन तथा समष्टि अर्थशास्त्र में कीमतों का अध्ययन नहीं किया जाता। व्यष्टि अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों में व्यक्तियों के आय-निर्धारण का अध्ययन सामान्य कीमत-निर्धारण के

[3] "Macro economics deals with economic affairs 'in large'. It concerns the overall dimensions of economic life It looks at the total size and shape and functioning of the 'elephant' of economic experience, rather than the working or articulation or dimensions of the individual parts To alter the metapher, it studies the character of the forest independently of the trees which compose it "

—*Gardner Ackley*, op cit p, 4

अन्तर्गत आ जाता है, जैसे उत्पादन साधनों के बदले व्यक्ति आय प्राप्त करते हैं तथा उत्पादन साधनों की कीमत अन्य वस्तुओं की कीमतों की भांति ही निर्धारित की जाती है।

5 व्यष्टि तथा समष्टि अर्थशास्त्र की अन्तर्निर्भरता (Inter-dependence of Micro & Macro Economics)

'व्यष्टि' तथा 'समष्टि' एक ही विषय की दो शाखाएं हैं। वे एक दूसरे की सहयोगी तथा पूरक हैं। उन्हें एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न तथा स्वतन्त्र नहीं समझना चाहिए। आर्थिक विश्लेषण के लिए दोनों की आवश्यकता पड़ती है। निम्नलिखित उदाहरण इस बात पर प्रकाश डालते हैं

1 व्यष्टि अर्थशास्त्र के लिए समष्टि अर्थशास्त्र की आवश्यकता :

(क) मान लीजिए एक फर्म को अपने श्रमिकों की मजदूरी दर का निश्चय करना है। यह एक व्यष्टिगत समस्या है, परन्तु मजदूरी दर का निर्धारण करते समय उस फर्म को अन्य फर्मों की मजदूरी दरों तथा राष्ट्रीय मजदूरी नीति को ध्यान में रखना पड़ेगा, जो सैद्धान्तिक दृष्टि से समष्टि अर्थशास्त्र का विषय है।

(ख) यदि फर्म अपनी वस्तु की कीमत निर्धारित करना चाहती है तो उसे अन्य वस्तुओं की कीमतों पर भी ध्यान देना होगा।

(ग) एक फर्म को अपनी उत्पादन मात्रा निश्चित करते समय, समाज की मांग, आय तथा रोजगार आदि पर ध्यान देना पड़ेगा जो समष्टि अर्थशास्त्र के विषय हैं।

2 समष्टि अर्थशास्त्र भी व्यष्टि अर्थशास्त्र पर निर्भर

(क) व्यक्तियों के योग से समाज बनता है। इसी प्रकार फर्मों के योग से, 'उद्योग' तथा विभिन्न उद्योगों के योग से अर्थ व्यवस्था बनती है। अत सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के विषय में स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करने के लिए, उसके अङ्गों का ज्ञान आवश्यक है। जैसे 'राष्ट्रीय आय' समष्टिगत समस्या है, परन्तु राष्ट्रीय आय व्यक्तियों की आय का ही योग है।

(ख) सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था की गतिविधियों का ज्ञान, अर्थ व्यवस्था के विभिन्न अवयवों के ज्ञान द्वारा ही सम्भव है। यदि हम सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था के लिए योजना बना रहे हैं तो व्यक्तिगत फर्मों, उद्योगों आदि की योजनाओं को भी ध्यान में रखना पड़ेगा। इस प्रकार 'समष्टि-अर्थशास्त्रीय विश्लेषण' के लिए 'व्यष्टि-अर्थ शास्त्रीय विश्लेषण' आवश्यक है।

इस प्रकार अर्थशास्त्र की ये दोनों शाखाएं एक दूसरे की सहयोगी हैं तथा वे परस्पर एक दूसरे पर निर्भर हैं। आर्थिक विश्लेषण के लिए दोनों का ज्ञान आवश्यक है।

प्रो० सैम्युग्लसन (Prof Samuelson) के शब्दो मे,

' There is really no opposition between micro and macro economics Both are absolutely vital And you are only half educated, if you understand the one while being ignorant of the other "

समष्टि अर्थशास्त्र के विकास के कारण
(Contributory Factors of the Development of Macro-Economics)

आजकल समष्टि अथशास्त्र का महत्व बढ रहा है। समष्टि अथशास्त्र ने आर्थिक सिद्धान्तो के ढाचे मे क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया है।[4] केन्स की पुस्तक के प्रकाशन के पश्चात् समष्टि अथशास्त्र का विकास बडी तेजी से हो रहा है। इस निरतर विकास के निम्नलिखित कारण हैं

1. जैसा कि इस पुस्तक के प्रथम अध्याय म लिखा जा चुका है, फिजिग्रोक्रेट्स ने 'भुगतान के चक्राकार प्रवाह' (Circular flow of payment) का जिक्र किया। इस सिद्धान्त ने समष्टि अथशास्त्र का शिलान्यास किया। आगे चलकर वालरस शुम्पीटर केन्स आदि अर्थशास्त्रियो ने समष्टि अथशास्त्र के विकास मे महत्व पूर्ण योग दिया।

2 मार्शल तथा पीगू ने राष्ट्रीय लाभाश (National Dividend) के सम्बन्ध म समष्टि मूलक विचार प्रस्तुत किया। पीगू के ग्रन्थ Economics of Welfare ने समष्टि अर्थशास्त्र के विकास मे बडी सहायता दी।

3 मौद्रिक अथशास्त्र (Monetary Economics) का विकास समष्टि के आधार पर ही हुआ। मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त आदि मौद्रिक सिद्धातो का प्रतिपादन समष्टिगत पृष्ठभूमि म ही किया गया। केन्स न मौद्रिक सिद्धान्त को सामान्य आर्थिक सिद्धान्त का एक अङ्ग माना तथा सम्पूर्ण अथ व्यवस्था की माग, आय, उपभोग बचत विनियोग आदि का विश्लेषण प्रस्तुत किया।

4 व्यापार चक्रो (Business Cycles) का विश्लेषण भी सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था के स दभ म किया गया। सन् 1929–32 का विश्व आर्थिक मन्दी के कारण, अथशास्त्रियो का ध्यान इस तरफ अधिक आकर्षित हुआ। व्यापार चक्रो का विश्लेषण सम्पूर्ण अथ व्यवस्था को एक इकाई मानकर किया गया।

5 धीरे धीरे आर्थिक क्रियाओ म राज्य का हस्तक्षप बढता गया। अथ व्यवस्था के नियमन, नियन्त्रण तथा सचालन क लिए विभिन्न देशो का सरकार ने उचित आर्थिक नीतिया अपनायी। कृषि नीति व्यापार नीति, औद्योगिक नीति, मौद्रिक

---

[4] Macro Economics has brought 'a considerable upheaval in the structure of economic theory —*R G D Allen*

नीति तथा वित्तीय-नीति आदि का निर्माण सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था के ही लिए किया जाता है, जो समष्टि अर्थशास्त्र से सम्बन्धित है।

6. 'आर्थिक नियोजन' में भी सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था को ध्यान में रखा जाता है। आजकल आर्थिक नियोजन का महत्व बढ़ता जा रहा है। धीरे-धीरे सभी देश, किसी न किसी रूप में आर्थिक नियोजन को अपना रहे हैं। आर्थिक नियोजन में सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के लिए लक्ष्य निर्धारित किए जाते हैं जो समष्टिगत विश्लेषण से सम्बन्धित हैं। आर्थिक विकास (Economic growth) सम्बन्धी समस्याओं का विश्लेषण भी समष्टिगत होता है।

इनके अतिरिक्त समष्टि अर्थशास्त्र के अधिकाधिक प्रयोग का कारण, आर्थिक समस्याओं की जटिलता भी है। इन जटिल आर्थिक समस्याओं का विश्लेषण, समष्टिगत दृष्टिकोण से करने में सुविधा रहती है। अर्थ-व्यवस्था के समग्र एवं गतिशील रूप को समझने के लिये समष्टिगत विश्लेषण अधिक उपयोगी सिद्ध होता है।

समष्टि अर्थशास्त्र के भेद (Types of Macro-Economics)

समष्टि अर्थशास्त्र के सामान्यतया तीन भेद किये जाते हैं

1. समष्टि स्थैतिक (Macro Statics) इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था का अध्ययन सतुलन अथवा स्थायी स्थिति में किया जाता है। सतुलन की स्थिति में आय, उपभोग, विनियोग, आदि का अध्ययन करता है। अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तन होते रहते हैं, इन परिवर्तनों के कारण विभिन्न यौगिक (aggregates) क्रिया प्रतिक्रिया द्वारा नए नए सतुलन स्थापित करते रहते हैं। इन विभिन्न सतुलन स्थितियों का अध्ययन, 'समष्टि-स्थिर विश्लेषण' कहलाता है।

2. तुलनात्मक समष्टि स्थैतिक (Comparative Macro Statics) : अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तन के कारण नए सतुलन बिन्दु स्थापित होते रहते हैं। तुलनात्मक समष्टि स्थैतिक, इन विभिन्न सतुलन बिन्दुओं का तुलनात्मक अध्ययन करता है।

3. समष्टि प्रावैगिक (Macro Dynamics) : यह गतिशील अर्थ-व्यवस्था का निरन्तर अध्ययन है। अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न घटक (Variables) जैसे उपभोग, विनियोग आदि परिवर्तित होते रहते हैं। यह अर्थशास्त्र इन निरन्तर होने वाले परिवर्तनों का विश्लेषण करता है तथा उनके समायोजनों की भी व्याख्या करता है। प्रो० कुरिहारा (Prof Kurihara) ने समष्टि प्रावैगिक को निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट किया है

"Macro Dynamics studies changing relations and indicates step by step, what is cause and what is effect. It describes the changing universe as it is related to previous or subsequent adjustments......the time paths of macro dynamic method enables one

to see a motion picture of the functioning of economy as a progressive whole."[5]

समष्टि अर्थशास्त्र के उपयोग तथा गुण
(Uses & Merits of Macro-Economics)

1. अर्थव्यवस्था की जटिलता को समझने में सरलता . आजकल अर्थ-व्यवस्था में जटिलताए (Complexities) बढती जा रही है। समष्टि-अर्थशास्त्र द्वारा इन जटिलताओं को समझने में सहायता मिलती है, क्योंकि इसके द्वारा अर्थ-व्यवस्था के परिवर्तनो, अन्तर्सम्बन्धो तथा आर्थिक सगठनो पर प्रकाश डाला जाता है।

2. विभिन्न समस्याओं के समाधान में सहायक . समष्टि अर्थशास्त्र सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था का विश्लेषण करता है। राष्ट्रीय आय, रोजगार, जनसख्या, पूँजी निर्माण तथा आर्थिक विकास से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं का समाधान, समष्टि विश्लेषण द्वारा सम्भव हो जाता है।

3 उचित आर्थिक नीति के निर्माण में सहायक : लोक कल्याणकारी राज्य, आर्थिक-नियोजन तथा आर्थिक समस्याओ की बढती हुई जटिलता के कारण सरकार का महत्व आर्थिक क्षेत्र मे बढता जा रहा है। सरकार अर्थ-व्यवस्था के सचालन के लिए उत्पादन, व्यापार, राजस्व, मूल्य आदि के सम्बन्ध मे आवश्यक नीति बनाती है। समष्टि-आर्थिक-विश्लेषण, पूरी अर्थ-व्यवस्था का चित्र हमारे समक्ष रखता है, जिससे नीति-निर्धारण मे बडी सहायता मिलती है। प्रो० बोल्डिंग के शब्दो मे, "आर्थिक नीति की दृष्टि से समष्टि अर्थशास्त्र का बडा महत्व है, क्योकि सरकार की आर्थिक नीतियो का सम्बन्ध किसी एक व्यक्ति से न होकर सभी व्यक्तियो के समूहो से होता है।"

4. व्यष्टि अर्थशास्त्र की सीमाएं · कुछ आर्थिक समस्याएं ऐसी हैं जिनका अध्ययन समग्र रूप मे ही किया जा सकता है, जैसे राष्ट्रीय आय, राजस्व, सामान्य-मूल्य स्तर आदि। व्यष्टि अर्थशास्त्र के नियमो का निर्माण तथा उनकी परख भी समग्र-रूप मे ही की जा सकती है। अतः व्यष्टि-अर्थशास्त्र की सीमाओ के कारण भी, समष्टि-अर्थशास्त्र उपयोगी सिद्ध होता है।

5 समष्टि-मूलक विरोधाभासों के कारण : कुछ आर्थिक सत्य व्यक्तियो के सदर्भ मे तो सही होते हैं, परन्तु समाज के सदर्भ मे सही नही होते हैं, जैसे बचत, व्यक्तिगत दृष्टिकोण से उचित है, परन्तु यदि सभी लोग अधिक से अधिक बचत करने लगे तो देश मे प्रभाव-पूर्ण माग (effective demand) कम हो जाएगी जो

[5] *Kurihora, Introduction to Keynesian Dynamics, p. 2.*

विभिन्न आर्थिक संकटों का कारण बन सकती है। इन समष्टिगत आर्थिक विरोधाभासों (Macro economic paradoxes) के कारण, आर्थिक समस्या का समग्र रूप में अध्ययन आवश्यक हो जाता है। प्रो० बोल्डिंग ने इन विरोधाभासों को समष्टिगत विश्लेषण का कारण माना है।

समष्टि-आर्थिक विश्लेषण की सीमाएँ
(Limitations of Macro-Analysis)

आजकल समष्टि-आर्थिक विश्लेषण का अधिकाधिक प्रयोग होने लगा है तथा इसका महत्त्व बढ़ता जा रहा है, परन्तु इसकी भी कुछ सीमाएं हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है :—

1 व्यक्ति तथा छोटे समूहों के योग के आधार पर निकाले गए निष्कर्ष भ्रामक: समष्टि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध योगों (aggregates) से है। कभी-कभी व्यक्ति तथा समूहों से सम्बन्धित परिणामों के योग को समष्टिगत-विश्लेषण का आधार मान लिया जाता है, क्योंकि समाज या अर्थ-व्यवस्था व्यक्तियों तथा समूहों का ही योग है। परन्तु ऐसे योगों पर आधारित निष्कर्ष भ्रामक सिद्ध हो सकते हैं। व्यक्तियों तथा समूहों की प्रकृति, अर्थ-व्यवस्था में भिन्न हो सकती है। कोई कार्य प्रवृत्ति या उद्देश्य व्यक्तियों या व्यक्तियों के छोटे समूहों के लिए ठीक हो सकता है, परन्तु यदि हम उस कार्य या प्रवृत्ति को सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के लिए ठीक मान लें तो ऐसा करना कठिनाई पैदा कर सकता है, जैसे बचत करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए ठीक है परन्तु यदि सभी लोग बचत करने लगें तो इसका परिणाम भयकर हो सकता है।[6] अधिक बचत के कारण प्रभाव पूर्ण माग कम हो सकती है जिससे बेरोजगारी में, वृद्धि होगी तथा अर्थव्यवस्था मन्दी के कुचक्र में फस सकती है। अत व्यक्तियों या समूहों के आधार पर निकाले गए निष्कर्ष सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के लिए घातक सिद्ध हो सकते हैं।

अर्थशास्त्री अपनी व्यक्तिगत धारणा या निष्कर्ष को यदि समाज का निष्कर्ष मान ले अथवा अपने व्यक्तिगत अनुभव का समाज का अनुभव मानकर पूरे समाज के सम्बन्ध में वही निष्कर्ष सही मान ले तो ऐसा निष्कर्ष निराधार सिद्ध हो सकता है। प्रो० बोल्डिंग ने स्पष्ट रूप से कहा है "समष्टि अर्थशास्त्र में हमको व्यक्तिगत अनुभव से कोई निष्कर्ष नहीं निकालने चाहिये। अपने व्यक्तिगत अनुभव से निष्कर्ष निकालने की हममें सामान्य आदत होती है तथा हम इस आदत का अनुसरण करते हैं, परन्तु सामाजिक चिंतन में त्रुटियों का यह एक बड़ा स्रोत है।

6 While individual saving is a virtue, national saving may prove a calamity —*J. M. Keynes*

"In Macro Economics therefore, we must be on our guard against generalising from our individual experience Generalising from our own experience is such a common habit that we constantly fall into it, it is however, one of the greatest sources of error in social thinking" — *K E Boulding*

यह आवश्यक नही है कि व्यक्ति के सम्बन्ध मे निष्कर्ष समस्त समाज के सम्बन्ध म भी ठीक हो।

2 **समूह या समाज मे पाए जाने वाले भेदो की उपेक्षा** (*The differences within aggregates or groups might be ignored*) : समष्टि विश्लेषण मे समूहो के योगो क आधार पर अध्ययन करते हैं, परन्तु कभी कभी समूहो मे पाये जाने वाले अन्तर की उपेक्षा कर दी जाती है इस प्रकार जो निष्कर्ष निकाले जाते हैं उनसे वास्तविक स्थिति का ज्ञान नही होता है। उदाहरण के लिए मान लीजिये कि किसी देश मे एक वर्ष विशेष मे विकास दर (rate of growth) 5% है। दूसरे वर्ष भी विकास दर 5% है, परन्तु दूसरे वर्ष प्रकृति अनुकूल होने के कारण कृषि उत्पादन मे पहले वर्ष की अपेक्षा बहुत अधिक वृद्धि हुई है। दोनो वर्षो मे विकास दर पाच प्रतिशत है जो यह बतलाती है कि अर्थ व्यवस्था का विकास ठीक ढग से हो रहा है। परन्तु वास्तव मे यह निष्कर्ष ठीक नही है। कृषि उत्पादन मे अत्यधिक वृद्धि होते हुए भी विकास दर पहले के ही समान है, इसका यह अर्थ है कि उद्योगो आदि के उत्पादन मे काफी कमी हुई है जो यह बतलाता है कि अर्थ-व्यवस्था का विकास ठीक नही हुआ है। यदि हम अर्थ व्यवस्था का समूह क्षेत्र के अनुसार (Sector-wise) अध्ययन करें तो यह दोष प्रकट हो जायगा। बोल्डिग ने यह सुझाव दिया है कि हम **समूह की अलग-अलग मदो के स्वभाव पर भी ध्यान देना चाहिये। उनकी प्रक्रियाओ का अध्ययन करना चाहिये, तब निष्कर्ष पर पहुचना चाहिये। समूह की अपेक्षा समूह की रचना महत्वपूर्ण है।**

3. **समूह की माप सम्बन्धी कठिनाई** समष्टि आर्थिक विश्लेषण म विभिन्न समूहो को नापते समय भी कठिनाई होती है। विभिन्न प्रकार की वस्तुओ की माप के लिये मापक की आवश्यकता पडती है। सामान्यतया मुद्रा का प्रयोग मापक के लिए किया जाता है, परन्तु मुद्रा की मापक के रूप मे अपनी सीमायें हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि समष्टि विश्लेषण मे कुछ कठिनाइयो का सामना करना पडता है तथा इस विधि द्वारा निकाले गये निष्कर्ष भी सदैव सही नही होते हैं। दोषपूर्ण निष्कर्ष वैयक्तिक इकाइयो के योग को आधार मानने कारण भी हो सकते हैं तथा समग्र के योग के अध्ययन के कारण भी। अत सही निष्कर्ष के लिये व्यष्टि तथा समष्टि दोनो प्रकार के विश्लेषण की आवश्यकता पडती है।

2. आंशिक विश्लेषण एवं पूर्ण विश्लेषण
(Partial Analysis and Total Analysis)

आर्थिक सिद्धान्तो या व्यवस्था का अध्ययन करने के दो अन्य महत्वपूर्ण दृष्टिकोण भी है जिन्हे आंशिक विश्लेषण (Partial Analysis) तथा पूर्ण विश्लेषण (Total Analysis) भी कहते हैं। यद्यपि आर्थिक व्यवस्था विश्लेषण की ये विधियां आर्थिक विश्लेषण की दो मुख्य शाखाओं व्यष्टि अर्थशास्त्र (Micro Economics) तथा समष्टि अर्थशास्त्र (Macro Economics) के समान ही हैं, फिर भी कुछ निश्चित पहलुओ मे ये सूक्ष्म तथा व्यापक विश्लेषण की विधियो से भिन्न हैं।

(1) आंशिक विश्लेषण :

आंशिक विश्लेषण को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है 'आंशिक विश्लेषण सापेक्षिक रूप से अर्थ-व्यवस्था के छोटे क्षेत्रो म आर्थिक प्रवृत्तियो के विश्लेषण के लिए खोजी गयी एक कुशल विधि है। इसमें गहन अध्ययन एव जाच के लिए परिवर्तनशील घटको (*Variables*) की एक सीमित सख्या को ध्यान मे रखा जाता है।"

व्याख्या : आर्थिक विश्लेषण के इस दृष्टिकोण के अन्तर्गत आर्थिक व्यवस्था का अध्ययन करते समय हम उन बाहरी घटको पर ध्यान नही देते जो अर्थ व्यवस्था के आंशिक क्षेत्र को प्रभावित करते हैं। इसके अन्तर्गत अन्य घटको को स्थिर मानकर किसी भी आर्थिक समस्या का अध्ययन किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, किसी भी वस्तु विशेष का, मूल्य सिद्धान्त के अन्तर्गत, मूल्य निर्धारित करते समय अन्य वस्तुओ के मूल्यो को स्थिर या यथावत मान लिया जाता है। इससे किसी वस्तु-विशेष के मूल्य की प्रवृत्ति का विश्लेषण करना सरल हो जाता है। यदि अन्य घटकों, अर्थात् अन्य वस्तुओ के मूल्यो को, यथावत् नही माना जाये, तो समस्या विशेष का अध्ययन अधिक जटिल हो जायेगा। इस तथ्य को हम इस उदाहरण से भी स्पष्ट कर सकते हैं कि यदि हम अन्य वस्तुओ के मूल्यो तथा उपभोक्ताओ की आय को परिवर्तनशील मानकर किसी वस्तु विशेष के मूल्य को निर्धारित करना चाहे तो केवल माग व पूर्ति के विश्लेषण के आधार पर मूल्य निश्चित करना सम्भव नही हो सकेगा, क्योकि निश्चित रूप से अन्य वस्तुओ के मूल्यो तथा उपभोक्ताओ की आय का भी इस पर प्रभाव पडेगा। परन्तु यदि इन सभी तथ्यो एव घटको का भी विश्लेषण किया जाए तो अनेक जटिलताओ के कारण आंशिक विश्लेषण करना कठिन हो जायेगा। इस प्रकार की जटिलताओ को दूर करने तथा किसी समस्या विशेष के विश्लेषण को अधिक सरल बनाने के उद्देश्य से आंशिक विश्लेषण का तरीका प्रयोग मे लाया जाता है। इस सम्बन्ध मे ध्यान देने योग्य बात है कि अर्थव्यवस्था के क्षेत्र विशेष के आंशिक

विश्लेषण के परिणाम उसी स्थिति में ठीक निकलेंगे जबकि उसको प्रभावित करने वाले अन्य बाहरी घटकों को उचित मूल्य (Values) प्रदान कर दिये गये हो। यदि बाहरी घटकों के मूल्य आंशिक विश्लेषण के अन्तर्गत माने गये मूल्यों से भिन्न होंगे तो आंशिक विश्लेषण के निष्कर्ष सही नहीं होंगे।

प्रोफेसर शुम्पीटर के अनुसार आंशिक विश्लेषण सम्बन्धी प्रमाणित विधि कूरनो (Cournot) या मार्शल (Marshall) का 'बाजार माग वक्र' (Market Demand curve) है जो दिए हुए मूल्य पर क्रेताओं द्वारा किसी वस्तु विशेष की निश्चित मात्रा खरीदने की इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है।

अर्थशास्त्र के लिए आंशिक विश्लेषण का विचार नया नहीं है। इस प्रकार के विश्लेषण के तरीके की शुरुआत वस्तु विशेष के बाजार में प्रचलित मूल्य तथा उसकी स्थानीय उपलब्ध मात्रा के पारस्परिक सम्बन्धों में हुयी। बाद में मार्शल, कूरनो आदि अर्थशास्त्रियों ने आंशिक विश्लेषण विधि को एक निश्चित स्वरूप प्रदान किया। वास्तव में मार्शल को आंशिक विश्लेषण के तरीके का निर्माता कहा जा सकता है। मार्शल ने मूल्य निर्धारण सिद्धान्त के अन्तर्गत एक वस्तु का मूल्य निर्धारित करते समय अन्य वस्तुओं के मूल्यों तथा उपभोक्ताओं की आय आदि घटकों को स्थिर एवं यथावत् माना था। आंशिक विश्लेषण के तरीके को सूक्ष्म एवं व्यापक विश्लेषण की विधियों के बीच का एक मार्ग या तरीका कहा जा सकता है।

गुण आंशिक विश्लेषण के तरीके को अपनाने पर आर्थिक प्रवृत्तियों का अध्ययन करना सरल हो जाता है। सभी परिवर्तनशील घटकों को ध्यान में रखते हुए किसी समस्या विशेष का अध्ययन व जाच करने में जो कठिनाई होती है, उसे आंशिक विश्लेषण विधि के अन्तर्गत कुछ निश्चित घटकों को स्थिर मानकर अधिक सरल बनाया जा सकता है। प्राप्त निष्कर्षों को अन्य घटकों के प्रभाव को ध्यान में रखते हुए परिवर्तित किया जा सकता है। इस प्रकार यह विधि किसी आर्थिक तथ्य का विश्लेषण करने की एक वैज्ञानिक विधि है।

दोष : इस विधि को अपूर्ण एवं अवास्तविक कहा जा सकता है। इसे अपूर्ण इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इसके अन्तर्गत किसी समस्या विशेष के सभी घटकों को ध्यान में नहीं रखा जाता। यह अवास्तविक इस अर्थ में है कि यह दृष्टिकोण विभिन्न आर्थिक प्रवृत्तियों अथवा अर्थ-व्यवस्था में अलग अलग क्षेत्रों की पारस्परिक निर्भरता पर ध्यान नहीं देता। कुछ निश्चित घटकों को स्थिर मानकर या अर्थ-व्यवस्था के किसी क्षेत्र (Sector) विशेष को अन्य क्षेत्रों (Sectors) से स्वतन्त्र मानकर अध्ययन व जाच करना वास्तविक विश्लेषण नहीं है। इन कमियों तथा दोषों के बावजूद भी इस प्रकार की विश्लेषण विधि का प्रयोग किया जाता रहा है, यद्यपि वालरस, परेटो आदि अर्थशास्त्रियों ने इस विधि की कटु आलोचना की है।

(2) पूर्ण या सामान्य विश्लेषण (Total Analysis) :

आर्थिक प्रवृत्तियों के अध्ययन व जाच मे पूर्ण या सामान्य विश्लेषण विधि का प्रयोग नया है। आंशिक विश्लेषण के विपरीत सामान्य विश्लेषण विधि किसी आर्थिक प्रवृत्ति के अध्ययन व जाच की वह विधि है जिसके अन्तर्गत सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के सभी क्षेत्रों की अन्तर्निर्भरता के आधार पर उस आर्थिक प्रवृत्ति का विश्लेषण किया जाता है। अन्य शब्दों मे, सामान्य विश्लेषण विधि के अन्तर्गत सभी परिवर्तनशील घटकों (Variables) के प्रभाव को एक साथ ध्यान मे रखते हुए निष्कर्ष निकाले जाते हैं। यह ठीक है कि इस विधि के द्वारा अध्ययन व जाच करने पर सम्पूर्ण विश्लेषण विधि अधिक जटिल हो जाती है, लेकिन वास्तविक आर्थिक निष्कर्ष निकालने के लिए इस दृष्टिकोण व तरीके को अपनाना आवश्यक है। सामान्यतया यह कहा जाता है कि सभी घटकों को एक साथ ध्यान मे रखते हुए किसी समस्या का विवेचन करना कठिन ही नही बल्कि असम्भव है। परन्तु आधुनिक काल मे अर्थशास्त्र मे गणितीय विधियों के प्रयोग ने विश्लेषण की इस पद्धति को अपनाना सरल बना दिया है।

इस विधि का प्रयोग सर्वप्रथम वालरस (1834–1910) द्वारा किया गया था। उनके इस कार्य मे उनके समकालीन परेटो (1843–1923) ने भी पूर्ण सह-योग प्रदान किया। वर्तमान काल मे वालरस तथा परेटो की इस महत्वपूर्ण विधि को हिक्स, सैम्युएलसन, ओहलिन आदि अर्थशास्त्रियो ने बहुत ही आगे बढाया है।

यद्यपि वालरस की इस विश्लेषण विधि को 'पूर्ण एव वास्तविक' कहा जाता है, फिर भी कुछ अर्थशास्त्रियो ने इसका विरोध किया है। अमेरिकन अर्थशास्त्री स्टिगलर (Stigler) के अनुसार कोई आर्थिक विश्लेषण इस अर्थ मे सामान्य नही हो सकता कि उसमे सभी सम्बन्धित आर्थिक तथ्यो का समावेश किया गया है। पूर्ण या सामान्य विश्लेषण मे व्यापार चक्र (Business Cycles), प्राविधिक सुधार (Technological improvements) आदि का समावेश नही किया गया है। इस आधार पर इसे पूर्ण विश्लेषण विधि न कहकर 'अधिक समाविष्ट' (More inclusive) विधि कहना अधिक उपयुक्त होगा।

3. साम्य विश्लेषण
(Equilibrium Analysis)

1. परिभाषा :

साम्य का अर्थ विश्राम (Rest) की स्थिति है। 'Equilibrium' शब्द, दो लैटिन शब्दो से बना है *acquus+libra* पहले शब्द का अर्थ है समान तथा दूसरे का अर्थ है सतुलन अर्थात् समान सतुलन। 'साम्य' शब्द का प्रयोग अर्थशास्त्र मे इतना अधिक किया जाता है कि कुछ लोग अर्थशास्त्र को साम्य-विश्लेषण (Equilibrium

Analysis) के नाम से पुकारते है। सामान्य रूप से साम्य का अर्थ विश्राम की स्थिति या 'सतुलन' है। उदाहरण के लिए यदि कोई पुस्तक मेज पर रक्खी है तो उसे हम साम्य की अवस्था म कहेंगे, क्योकि पुस्तक अपनी स्थिति को बदल नही सकती है। इसके विपरीत यदि पुस्तक ऊपर से नीचे हवा मे गिर रही है तो यह गिरती हुई पुस्तक साम्य की अवस्था मे नहीं हैं, क्योकि पुस्तक विश्राम की स्थिति मे नही है। इस प्रकार "कोई भी वस्तु साम्य की अवस्था मे उस समय होती है जबकि उस पर क्रियाशील शक्तिया इस प्रकार की है कि उस वस्तु की अवस्था म परिवर्तन की प्रवृत्ति नही पाई जाती है।" ('Any thing is in equilibrium when the forces acting on it are such that it has no tendency to change its conditions' *Boulding*) एक दूसरे उदाहरण द्वारा 'साम्य' को और भी स्पष्ट किया जा सकता है। यदि एक रस्सी मे पत्थर का टुकडा बाध-कर, दीवार मे लगी हुई एक खूटी से लटका कर टाग दिया जाए तो शुरू म कुछ समय तक वह पत्थर इधर उधर रस्सी के सहारे हिलता रहेगा परन्तु कुछ समय पश्चात् पत्थर रस्सी के सहारे बिल्कुल विश्राम की स्थिति मे आ जाएगा तथा उसका हिलना डुलना बन्द हो जाएगा। इस स्थिति को हम कहेंगे कि रस्सी से बधा पत्थर सतुलन की स्थिति मे है, क्योकि वह ऐसी स्थिति मे है जहा पर उसे इधर-उधर हिलाने वाली विरोधी शक्तिया एक दूसरे के ठीक बराबर है, जिससे कि पत्थर एक ही अवस्था मे है।

उपर्युक्त उदाहरण (रस्सी से बधा पत्थर) साम्य के उस अर्थ को पूर्ण रूप से प्रकट नही करता है, जिस अर्थ मे उसका प्रयोग अर्थशास्त्र मे किया जाता है। गणित तथा भौतिक शास्त्र मे साम्य का अर्थ 'विश्राम' होता है, विश्राम की स्थिति वह स्थिति है जो गतिहीन तथा निष्क्रिय है (motionless and inactive), परन्तु अर्थशास्त्र मे साम्य का अर्थ 'गतिहीन तथा निष्क्रय विश्राम' नहीं है, बल्कि सक्रिय विश्राम (active rest) है। यदि किसी अर्थ-व्यवस्था म सभी आर्थिक शक्तिया निष्क्रिय या क्रियाहीन हो जाए तो यह स्थिति अर्थ व्यवस्था के लिए दुर्भाग्य पूर्ण होगी। अर्थशास्त्र मे साम्य का अर्थ निष्क्रयता (inactive) नही, बल्कि एसी सक्रियता है, जिसके फलस्वरूप विभिन्न मदो (Variables) की दरो मे परिवर्तन न हो। उदाहरण क लिए अर्थ-व्यवस्था मे उत्पादन तथा उपभोग दोनो बदलते रहते है। साम्य की अवस्था वह अवस्था होगी जिसमे उत्पादन तथा उपभोग की मात्रा मे तो परिवर्तन हो परन्तु उनकी वृद्धि की दरो मे परिवतन नही हो। प्रो० जे० के० मेहता ने सतुलन को निम्नलिखित शब्दो मे परिभाषित किया है, "अर्थशास्त्र मे साम्य 'गति परिवर्तन' की अनुपस्थिति बतलाता है जबकि भौतिक विज्ञानो मे यह (साम्य) गति की ही अनुपस्थिति को बतलाता है।"

"equilibrium denotes in economics absence of change in movement while in the physical sciences it denotes absence of movement itself." J. K. *Mehta*

अर्थ-व्यवस्था मे आर्थिक क्रियाएं सक्रिय रहती हैं, उनकी शक्तियां इस प्रकार क्रियाशील होती है कि वे एक दूसरे को तटस्थ (Neutral) कर देती हैं, ऐसी स्थिति को साम्य की स्थिति कहते है। निम्नलिखित उदाहरण अर्थशास्त्र मे साम्य की स्थिति को स्पष्ट करने मे सहायक सिद्ध होंगे :

(क) एक उपभोक्ता साम्य की स्थिति मे उस समय होता है जबकि उसके द्वारा विभिन्न वस्तुओ तथा सेवाओ पर किया गया व्यय उसे अधिकतम-संतुष्टि (Maximum Satisfaction) देता है। यदि वह विभिन्न वस्तुओ तथा सेवाओ की मात्रा मे परिवर्तन करता है (दी हुई आय से) तो उसे मिलने वाला सन्तोष निश्चित रूप से कम हो जाता है।

(ख) एक फर्म साम्य की अवस्था मे उस समय होती है जबकि उसका उत्पादन ऐसे बिन्दु पर होता है, जिस पर उसका लाभ अधिकतम हो जाता है। यदि उस मात्रा से वह कम या अधिक उत्पादन करता है तो उसका लाभ कम हो जाएगा।

(ग) उत्पादन के साधनो का स्वामी उस समय साम्य की अवस्था मे होता है जबकि उसे उन साधनो द्वारा अधिकतम आय प्राप्त होती है। यदि वह उन साधनो के रोजगार मे परिवर्तन करता है तो उसकी आय कम हो जाएगी।

2 साम्य के प्रकार (Kinds of Equilibrium) :

अर्थशास्त्र मे साम्य का वर्गीकरण विभिन्न शीर्षको के अन्तर्गत किया गया है :

साम्य के प्रकार

1	2	3	4	5
(i) स्थिर साम्य (Stable)	(i) अल्पकालिक साम्य (Short Term)	(i) आंशिक साम्य (Partial or Particular)	(i) एकाकी (Single or Unique)	(i) स्थैतिक (Static)
(ii) अस्थिर साम्य (Unstable)	(ii) दीर्घकालीन साम्य (Long Term)	(ii) सामान्य साम्य (General)	(ii) अनेक तत्वीय (Multiple)	(ii) गतिशील (Dynamic)
(iii) तटस्थ साम्य (Neutral)				

1. स्थिर अस्थिर और तटस्थ साम्य (Stable Unstable and Neutral) :

(i) स्थिर साम्य (Stable Equilibrium) : स्थिर साम्य की अवस्था अर्थ व्यवस्था की वह अवस्था है, जबकि किसी कारण से अर्थ-व्यवस्था मे कुछ हल-

चल (disturbance) या परिवर्तन होता है, परन्तु तुरन्त ऐसी शक्तियां क्रियाशील हो जाती है जो अर्थ-व्यवस्था को पुन: पहले की स्थिति अर्थात् हलचल से पूर्व की स्थिति मे ला देती हैं। इस प्रकार पहले जैसी स्थिति पुन: हो जाती है।

(ii) अस्थिर सन्तुलन (Unstable Equilibrium) · जब किसी स्थिति मे इस प्रकार की हलचल या इस इस प्रकार का परिवर्तन उत्पन्न हो जाए कि अन्य परिस्थितियो मे भारी परिवर्तन होने के कारण पूर्व स्थिति प्राप्त न हो सके तब ऐसी स्थिति अस्थाई सन्तुलन की स्थिति कही जाती है।

(iii) तटस्थ सन्तुलन (Neutral Equilibrium) · उस स्थिति को तटस्थ सन्तुलन कहते हैं जिसमे परिवर्तनकारी शक्तिया प्रभावहीन होती हैं जिससे प्रारम्भिक स्थिति नही हो पाती है और न तो वर्तमान स्थिति प्रारम्भिक स्थिति से काफी दूर ही हट पाती है।

प्रोफेसर शुम्पीटर ने सन्तुलन की उपर्युक्त स्थितियो को स्पष्ट करने के लिए सन्तुलन-मूल्य का इस प्रकार विश्लेषण किया है। एक स्थायी सन्तुलन मूल्य वह मूल्य है जिसमे थोडा सा परिवर्तन होने पर भी ऐसे शक्तिया प्रवृत्त हो जाती हैं जो उसको पुन: प्रारम्भिक मूल्य पर ले आती हैं। एक तटस्थ सन्तुलन मूल्य वह मूल्य है जिसमे इस प्रकार की शक्तिया विद्यमान ही नही होती। अस्थायी सतुलन मूल्य वह मूल्य है जिसमे ऐसी परिवर्तनकारी शक्तिया उत्पन्न हो जाती हैं जो उसे प्रारम्भिक सन्तुलन मूल्य से दूर ले जाती है।"[1] आर्थिक विश्लेषण मे स्थायी सन्तुलन का ही प्रयोग अधिक किया गया है।

पागू ने उपर्युक्त सन्तुलनो को इस प्रकार स्पष्ट किया है। भारी लोहे की पेंदी (Heavy keel) वाला जहाज स्थायी सन्तुलन की स्थिति मे रहता है, एक ओर पड़ा हुआ अण्डा तटस्थ सन्तुलन की स्थिति मे रहता है, और एक सिरे पर खड़ा सतोलित किया अण्डा अस्थायी सन्तुलन की स्थिति मे रहता है। उपर्युक्त तीन प्रकार के साम्य मे से प्रथम—स्थिर-साम्य व्यावहारिक रूप मे पाया जाता है। अस्थिर तथा तटस्थ साम्य काल्पनिक स्थितिया है, व्यावहारिक दृष्टि से उनका विशेष महत्व नही है।

---

1 "A stable equilibrium value is an equilibrium value that, if changed by a small amount, calls into action forces that will lead to reproduce the old value, a neutral equilibrium value an equilibrium value, that dose not know any such forces, an unstable equilibrium value, is an equilibrium value, change in which calls forth forces which tend to move the system farther and farther away from the equilibrium value." —*Prof. Schumpeter*

(ब) समय के आधार पर : समय के आधार पर सन्तुलन के निम्नलिखित भेद किए जा सकते हैं। मार्शल ने सर्वप्रथम कीमत सिद्धांत में समय तत्व पर जोर दिया।

1. अल्पकालिक सन्तुलन (Short-term Equilibrium) : अल्पकालिक सन्तुलन की स्थिति वह है जिसमें माग मे परिवर्तन होने पर वर्तमान उत्पादन के साधनों की सहायता से ही पूर्ति का समायोजन कर लिया जाता है। इस प्रकार की स्थिति में माग के बढ़ने पर उत्पादन के साधनो मे वृद्धि करना सम्भव नहीं होता।

2. दीर्घकालीन सन्तुलन (Long-term Equilibrium) : यह वह स्थिति है जिसमें माग बढ़ने पर उत्पादन के साधनो मे वृद्धि करने के पर्याप्त अवसर उपलब्ध रहते हैं। इस प्रकार बढ़ी हुई माग के अनुसार, उत्पादन के पैमाने मे परिवर्तन कर, पूर्ति बढ़ाई जा सकती है। इस प्रकार माग और पूर्ति में जो नया साम्य स्थापित होता है, उसे दीर्घकालीन साम्य कहते हैं। दीर्घकालीन साम्य या सन्तुलन को दूसरे ढग से भी स्पष्ट किया जा सकता है। दीर्घकालीन साम्य वह साम्य है जो लम्बे समय तक बना रहता है।

(स) अन्य भेद : सन्तुलन के अन्य भेद भी हैं—आंशिक सन्तुलन (Partial Equilibrium) और सामान्य सन्तुलन (General Equilibrium)

1. आंशिक या विशिष्ट सन्तुलन (Partial or Particular Equilibrium) : आंशिक या विशिष्ट सन्तुलन का सम्बन्ध एक व्यक्ति, उपभोक्ता उत्पादक फर्म या उद्योग से होता है। उपभोक्ता के सन्तुलन की स्थिति वह स्थिति है जिसमें वह दी गई परिस्थितियों में एक निश्चित मात्रा में धन व्यय करके अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करता है। उत्पादन के सन्तुलन की स्थिति वह स्थिति मानी जाती है जबकि वह वर्तमान उत्पादन की परिस्थितियों में अधिकतम लाभ प्राप्त करने मे समर्थ होता है। एक फर्म उस समय सन्तुलन की स्थिति मे होती है जबकि वह अपने उपलब्ध साधनो का पूर्ण उपयोग करने मे समर्थ होती है तथा उसका लाभ अधिकतम होता है। अन्त में जब किसी एक उद्योग की यह स्थिति आ जाती है कि उसमें किसी अन्य उत्पादन इकाई के प्रवेश करने या उसमे किसी एक इकाई के निकलने पर अधिकतम लाभ प्राप्त करना असभव हो जाता है, तब ऐसी स्थिति को उस उद्योग की सन्तुलन स्थिति कहते हैं। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि आंशिक या विशिष्ट सन्तुलन का क्षेत्र किसी एक आर्थिक इकाई या क्षेत्र तक ही सीमित है। इसका यह लाभ अवश्य है कि किसी एक आर्थिक क्षेत्र से सम्बन्धित समस्याओं का विश्लेषण करने मे सुविधा में होती है।

आंशिक या विशिष्ट साम्य कुछ मान्यताओं पर आधारित है—(i) हम अन्य बातों को स्थिर मान लेते हैं, जैसे एक उद्योग की माग व पूर्ति की दशाओं का

विश्लेषण करते समय हम यह मान लेते है कि उस उद्योग की माग व पूर्ति की दशाए अन्य उद्योगो की माग व पूर्ति की दशाओ से प्रभावित नही होगी ।

(ii) यह साम्य सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था का विश्लेषण नही करता है, बल्कि अर्थ-व्यवस्था के एक अग या भाग का ही विश्लेषण करता है ।

2. सामान्य सन्तुलन (General Equilibrium) · सामान्य सन्तुलन के अन्तर्गत किसी एक आर्थिक इकाई या क्षेत्र-विशेष का अध्ययन नही किया जाता, वरन् देश की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था मे कार्यशील तत्वो का अध्ययन किया जाता है । सामान्य सन्तुलन सम्पूर्ण आर्थिक तत्वो तथा उनके प्रभावो को दृष्टिगत रखता है, जबकि आशिक या विशिष्ट सन्तुलन किसी एक तत्व का ही अध्ययन करता है ।

सामान्य साम्य वास्तविकता के नजदीक है । यह अर्थ-व्यवस्था के सभी परिवर्तनशील तत्वो का विश्लेषण करता है । यह अपने मे आशिक साम्य को भी सम्मिलित कर लेता है । यह अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न तत्वो या अगो की अन्त-निर्भरता को भी ध्यान मे रखता है । सामान्य साम्य के लिए यह आवश्यक है कि अर्थ व्यवस्था की सभी इकाइया, एक ही साथ आशिक साम्य की अवस्था मे हो । जिस प्रकार मानव शरीर को साम्य या सामान्य दशा मे हम उसी समय कह सकते है, जबकि शरीर के सभी अग साम्य अवस्था मे हो अर्थात् किसी भी अग मे कोई कष्ट न हो । सामान्य साम्य के लिए आवश्यक है कि अर्थ-व्यवस्था के सभी अग या भाग साम्य की अवस्था मे हो । लेफ्टविच के शब्दों मे, "पूरी अर्थ व्यवस्था सामान्य-साम्य की स्थिति मे उसी समय होगी जबकि अर्थ-व्यवस्था की सभी इकाइया एक साथ ही आशिक साम्य की स्थिति मे हो । सामान्य का विचार सभी आर्थिक इकाइया तथा अर्थ-व्यवस्था के सभी अगो के पारस्परिक निर्भरता पर जोर देती है ।"

"General equilibrium for the entire economy could exist only if all economic units were to achieve simultaneous particular equilibrium adjustments. The concept of general equilibrium stresses the interdependence of all economic units and of all segments of the economy on each other" *Richard H. Leftwich,* (The Price System and Resource Allocation, 1966 p. 329)

सामान्य-साम्य विश्लेषण के रूप (Varients of General Equilibrium)

आजकल सामान्य साम्य विश्लेषण के दो रूप प्रचलित है ।

(क) पहले प्रकार का विश्लेषण, वालरस (Walras) द्वारा प्रस्तुत विश्लेषण पर आधारित है । इसे (Walrasian Version) कहते हैं । वालरस के आधार पर किए जाने वाले विश्लेषण मे अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों के अर्थसम्बन्धो के विषय मे सैद्धान्तिक आधार प्रस्तुत किया जाता है । हम यह जानते है कि सामान्य

साम्य विश्लेषण मे अर्थ-व्यवस्था के सभी अगो के अर्थसम्बन्धो पर विचार किया जाता है। इससे विश्लेषण अत्यन्त ही जटिल हो जाता है। वालरस के आधार पर किए जाने वाले विश्लेषण मे गणित का अधिक प्रयोग किया जाता है। आर्थिक इकाइयो की अन्तर्निर्भरता को युगपद समीकरणो (Simultaneous equations) द्वारा विभिन्न इकाइयो को आधार मानकर प्रकट करते है। इस विधि म समीकरणो की सख्या उतनी ही होती है, जितनी इकाइयो (Variables) का मूल्य ज्ञात करना होता है। इससे समीकरणो की एक लम्बी श्रृखला सी बन जाती है जिन्हें हल करना सरल कार्य नही है।

(ख) दूसरे प्रकार का सामान्य साम्य विश्लेषण लियोन्तिफ (W. W. Leontief) द्वारा प्रस्तुत 'पडत-उत्पादन' (Input-Output) विश्लेषण पर आधारित है। वस्तुत लियोन्तिफ द्वारा प्रस्तुत विश्लेषण वालरस के सिद्धान्तो का व्यावहारिक रूप है। इस विधि मे अर्थ-व्यवस्था को विभिन्न क्षेत्रो या उद्योगो (परिवारो को भी सम्मिलितकर) तथा सरकार को अन्तिम माग (final demand) मे सम्बन्धित उद्योग मान लेते है। प्रत्येक उद्योग के विषय मे यह मान लिया जाता है कि वह अन्य उद्योगो को अपना उत्पादन बेचता है। बेचा गया उत्पादन (output) खरीदने वाले उद्योगो के लिए पडत (Input) मान लिया जाता है। प्रत्येक उद्योग, अन्य उद्योगो के उत्पादन का खरीददार भी मान लिया जाता है। इस प्रकार सभी उद्योग एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं। इस आधार पर आकडो का सग्रह किया जाता है जो एक उद्योग द्वारा दूसरे उद्योगो को दी जाने वाली वस्तुओ तथा सेवाओ को प्रकट करते है। इस आधार पर अर्थ-व्यवस्था की प्रमुख हलचलो का विश्लेषण किया जाता है। [यह विधि अभी विकसित की जा रही है। इस विधि का विकास मुख्यत प्रो० लियोन्तिफ, (जो रूसी अर्थशास्त्री थे, तथा अब वे अमेरिकी नागरिक हैं) और गोखले इन्स्टीट्यूट, पूना के प्रो० पी० एन० माथुर द्वारा किया जा रहा है। इस विधि से अर्थशास्त्र को बडी आशाए हैं]

सामान्य साम्य-सिद्धान्त के उद्देश्य तथा महत्व : सामान्य साम्य विश्लेषण सिद्धान्त दो प्रकार के उद्देश्यो के लिए विश्लेषण का यन्त्र (Tools) प्रदान करता है। पहला, सैद्धान्तिक दृष्टि से इस प्रकार का विश्लेषण अर्थ व्यवस्था के समस्त अगो का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इससे अर्थ-व्यवस्था का पूरा चित्र एक ही साथ हमारे सामने आ जाता है। अर्थ व्यवस्था की कार्य विधि समझाने मे इससे बडी मदद मिलती है। दूसरा, हमे यह समझाने मे मदद मिलती है कि आर्थिक हलचलो का सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था पर क्रमशः किस प्रकार तथा किस सीमा तक प्रभाव पडता है। इससे आर्थिक हलचलो के अन्तिम प्रभावों का ज्ञान होता है। एक उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए, सूती कपडो की माग बढ जाती है।

हमे यह ज्ञात करना है कि इसका अर्थ-व्यवस्था पर क्या प्रभाव पडेगा । पहले हम 'विशिष्ट साम्य' की दृष्टि से अध्ययन करेंगे । हम यह पाएगे कि माग बढ जाने के कारण, कपडे की कीमत बढेगी, उत्पादन बढेगा तथा उत्पादक को अधिक माल प्राप्त होगा । परन्तु बढी हुई माग का प्रभाव यही तक सीमित नही होगा । कपडे के उत्पादको की आय तथा लाभ से वृद्धि होने के कारण उनके द्वारा उपयोग मे लाई जाने वाली वस्तुओ की भी माग बढ जाएगी । इसका प्रभाव अन्य उद्योगो पर भी पडेगा । सूती कपडो की स्थानापन्न वस्तुओ की माग बढेगी । अन्य उद्योगो के उत्पादन साधनो का सूती-वस्त्र उद्योग मे अधिक लाभ होने के कारण स्थानान्तर (Transfer) होगा । इस प्रकार पूरी अर्थ-व्यवस्था प्रभावित होगी । यदि हमे पूरी अर्थ-व्यवस्था पर पडे प्रभावो की जानकारी करनी है तो सामान्य साम्य विश्लेषण ही सहायक होगा ।

4. एकाकी तथा अनेक तत्वीय साम्य (*Single or unique and Multiple* **Equilibrium**) :

(i) एकाकी साम्य (Single or unique) : जब साम्य की शर्तों की पूर्ति एक ही कीमतो तथा वस्तुओ की मात्राओ द्वारा हो जाती है, तो उसे एकाकी साम्य कहते हैं । ('*A position of unique equilibrium arises if there is a* single sets of prices and quantities which fulfil the conditions of equilibrium—*Stigler*)

(ii) अनेक तत्वीय साम्य (*Multiple*) : जब साम्य की शर्तों की पूर्ति कई बिन्दुओ पर विभिन्न कीमतो तथा वस्तु की मात्राओ द्वारा हो जाती है, तो उसे अनेक तत्वीय साम्य की स्थिति कहते हैं ।

("Multiple positions of equilibrium exist when several different sets of prices and quantities will meet the equilibrium conditions"—*Stigler*)

अर्थशास्त्रियो की यह धारणा थी कि स्थिर साम्य की एक ही स्थिति हो सकती है । अर्थात् एक विशिष्ट कीमत तथा विशिष्ट मात्रा पर ही साम्य की स्थिति हो सकती है । मार्शल ने इस धारणा को निर्मूल सिद्ध किया तथा यह बतलाया कि मांग तथा पूर्ति मे एक से अधिक साम्य-बिन्दु हो सकते हैं । (यद्यपि यह स्थिति व्यावहारिक दृष्टि से बहुत कम पाई जाती है) यह स्थिति (अनेक तत्वीय साम्य) उस समय पाई जाती है जबकि माग रेखा कुछ दूरी तक बेलोचदार होती है तथा तत्पश्चात् कुछ दूरी तक लोचदार हो जाती है । व्यावहारिक दृष्टि से यह स्थिति उस समय पाई जाती है, जबकि बाजार उपभोक्ताओ के आय समूहा (Income Group) के आधार पर विभाजित हो. यद्यपि यह स्थिति पूर्णतया काल्पनिक है ।

5. स्थैतिक गतिशील साम्य* (Static and Dynamic equilibrium) :

(i) स्थैतिक साम्य (Static) : जब अर्थ-व्यवस्था मे उत्पादन, उपभोग जनसंख्या, माग पूर्ति आदि को स्थिर मान लिया जाता है तो उसे स्थैतिक साम्य की स्थिति कहते हैं।

(ii) गतिशील साम्य (Dynamic) : इसका सम्बन्ध गतिशील अर्थ-व्यवस्था से है। जब किसी अर्थ व्यवस्था के विभिन्न तत्वो मे समान दर से परिवर्तन होता है तो उसे गतिशील साम्य कहते हैं। प्रो॰ मेहता के अनुसार जो साम्य एक निश्चित अवधि के बाद भी पूर्ववत बना रहता है उसे स्थैतिक साम्य, तथा जो साम्य एक निश्चित अवधि के पश्चात् बदल जाता है उसे गतिशील साम्य कहते हैं। वस्तुतः अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न तत्वो मे समान दर से परिवर्तन की बात, काल्पनिक तथा भ्रामक है।

साम्य की वास्तविकता

साम्य के सम्बन्ध मे, एक प्रश्न उठाया जाता है—क्या साम्य वास्तविक जगत मे पाया जाता है ? (क) यद्यपि साम्य वास्तविक जगत में नही पाया जाता है, फिर भी वास्तविक जगत मे साम्य की ओर जाने की प्रवृत्ति पाई जाती है। साम्य की स्थिति को हम आदर्श स्थिति कह सकते हैं। (ख) यदि निश्चित मूल्य पर माग तथा पूर्ति बराबर हो जाती है तो यह मानना पडेगा कि साम्य वास्तविक रूप मे भी पाया जाता है। परन्तु यदि यह स्थिति वास्तविक जगत मे पाई भी जाए तो वह क्षणिक या बहुत कम समय के लिए बनी रहेगी। 'साम्य (concept) का सैद्धान्तिक रूप मे ही अधिक महत्व है।

नोट :— इस अध्याय सम्बन्धी प्रश्न व संकेत अध्याय 5 के अन्त मे देखिये।

*'स्थैतिक' तथा 'गतिशील' के सम्बन्ध मे विस्तारपूर्वक अध्ययन के लिए अध्याय 5 देखिए।

5

आर्थिक विश्लेषण की शाखाएं (II)
(Branches of Economic Analysis)

"Dynamic economics is, as it were, a running commentary on static economics The laws of static economics must, therefore, apply to dynamics"

J. K. Mehta

स्थैतिक तथा गतिशील अर्थशास्त्र
(Static and Dynamic Economics)

आधुनिक आर्थिक सिद्धान्तों को समझने के लिए अर्थशास्त्र में प्रयोग में लाये जाने वाले स्थैतिक (Static) तथा गतिशील (Dynamic) शब्दों के अन्तर को समझना बहुत ही आवश्यक है। आर्थिक विषयों के विश्लेषण में कुछ मान्यताओं को आधार मान लिया जाता है। ये मान्यताएं कुछ दशाओं या परिस्थितियों से सम्बन्धित होती हैं। दशा सम्बन्धी मान्यताओं के आधार पर ही अर्थशास्त्र को दो प्रमुख शाखाओं में विभाजित किया जाता है—स्थैतिक अर्थशास्त्र (Static Economics) तथा गतिशील अर्थशास्त्र (Dynamic Economics)। इन दो शब्दों के अर्थों के विषय में अर्थशास्त्रियों में काफी मतभेद है। कुछ अर्थशास्त्री इन शब्दों का प्रयोग अर्थशास्त्र की अध्ययन विधियों के रूप में करते हैं, जबकि कुछ अन्य अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि ये शब्द अर्थशास्त्र की दो शाखाओं को व्यक्त करते हैं। प्रो० नाइट के अनुसार अर्थशास्त्र में "स्थैतिक तथा गतिशील शब्दों के दुर्भाग्यपूर्ण प्रयोग ने अनावश्यक भ्रम पैदा हो गया है।" (Needless confusion has been caused by the unfortunate use of the terms 'Static' and 'dynamic')। परन्तु आर्थिक विश्लेषण की दृष्टि से अर्थशास्त्र को 'स्थैतिक' तथा 'गतिशील' वर्गों में विभाजित करना उचित है।[1]

[1] "The correct charting of a line of demarcation between them should have beneficial result on the progress of Economics"

Prof Harrod.

1. स्थैतिक अर्थशास्त्र (Static Economics)

1. स्थैतिक का अर्थ : सामान्य तौर पर स्थैतिक शब्द 'स्थिर', 'निष्क्रिय', 'विश्राम' की या 'गतिहीन' अवस्था या स्थिति का द्योतक है। परन्तु अर्थशास्त्र में इस शब्द का अर्थ 'स्थिर', 'निष्क्रय' या 'गतिहीन' नहीं है। अर्थशास्त्र मे स्थैतिक का अभिप्राय गतिहीन, निष्क्रिय या स्थिर अर्थ-व्यवस्था से नहीं है, अपितु ऐसी अर्थ-व्यवस्था से है जिसमे गति होती है, परन्तु गति की दर समान रहती है। आर्थिक वातावरण समय तत्व से सर्वथा अप्रभावित रहने के कारण, उसमे अनिश्चितता व उतार-चढाव नही होते। सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था एक निश्चित एवं नियमित गति से चलती रहती है। प्रो० हैरोड ने 'स्थैतिक' को इस प्रकार परिभाषित किया है, 'स्थैतिक सन्तुलन का अर्थ विश्राम की अवस्था नहीं है, बल्कि वह अवस्था है जिसमे दिन-प्रतिदिन तथा वर्ष प्रतिवर्ष कार्य चलती से निरन्तर हो रहा हो, परन्तु उसमे वृद्धि या कमी नहीं हो रही हो। इस सक्रिय परन्तु अपरिवर्तनशील प्रक्रिया को स्थैतिक अर्थशास्त्र कहा जाना चाहिए।'

"Thus a static equilibrium by no means implies a state of idleness, but one in which work steadily is going forward day by day and year by year but without increase or diminution...that it is to this active but unchanging process that the expression static economics should be applied." Sir R Harrod.

इस शब्द के अर्थ के विषय मे इतने भिन्न विचार प्रकट किये गये है कि हम एक निश्चित निष्कर्ष पर नही पहुँच सकते हैं। अतः यहा पर इस शब्द के सम्बन्ध मे प्रकट किए गए विचारो पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

(i) मार्शल के अनुसार, "स्थैतिक अवस्था के सभी महत्वपूर्ण लक्षण ऐसे स्थान पर प्रदर्शित किए जा सकते हैं जहा जनसंख्या तथा धन दोनो बढ रहे हो तथा दोनों मे वृद्धि की दर लगभग समान होती है, और भूमि की कोई कमी नही होती है। उत्पादन की दशाओ तथा विधियो मे बहुत कम परिवर्तन होता है और जहा मनुष्य का चरित्र स्वय स्थिर रहता है।"[2]

(ii) प्रो० मैकफाई के शब्दो मे, "स्थैतिक दशा एक ऐसी आर्थिक प्रणाली है जिसमे वे साधन जो कि उत्पादन, उपभोग, विनिमय तथा वितरण को नियन्त्रित

[2] "Nearly all the distinctive features of a stationary state may be exhibited in a place where population and wealth are both growing, provided they are growing at about the same rate and there is no scarcity of land and, provided also, the methods of production and the conditions change very little and, above all, where the character of man himself is a constant quantity" —*Marshall*

करते हैं, स्थिर हो अथवा स्थिर मान लिए गये हों। जनसंख्या को न तो बढती हुई मानते हैं न घटती हुई और उसके आयु के ढांचे मे परिवर्तन नहीं होता है। उत्पादन प्रणाली तथा कुल उत्पादन पूर्ववत् रहते हैं या कम से कम यदि जनसंख्या मे वृद्धि होती है तो यह मान लिया जाता है कि कुल उत्पादन भी उसी दर से बढ रहा है।"[3] प्रो० टिन बर्जिन (Tinbergen), स्टिगलर (Stigler) तथा प्रो० क्लार्क (B Clark) ने भी 'स्थैतिक' को मैकफाई की ही तरह, स्थिर अर्थ व्यवस्था माना है। स्टिगलर ने ऐसी अर्थ-व्यवस्था को स्थैतिक कहा है जिसमे तीन बातों–रुचि, साधनों तथा प्रविधि (Technology) मे कोई परिवर्तन नहीं होता है। क्लार्क ने ऐसी अर्थ व्यवस्था को स्थैतिक माना है जिसमे पाच बातों–जनसंख्या, पूँजी, उत्पादन प्रणाली मनुष्य की आवश्यकताओं और वैयक्तिक इकाइयो के स्वरूप मे कोई परिवर्तन नहीं होता है। पीगू ने 'स्थैतिक' स्थिति का स्पष्टीकरण एक उदाहरण द्वारा किया है। उनके अनुसार 'स्थैतिक' मे भी परिवर्तन होते है, परन्तु ये परिवर्तन महत्वपूर्ण नहीं होते हैं। पीगू ने इसका स्पष्टीकरण इन शब्दों मे किया है, 'जिन बूंदो से झरना बनता है वे सदा बदलती रहती है किन्तु झरना अपरिवर्तित रहता है। इसी प्रकार 'स्थैतिक' की स्थिति मे होने वाले परिवर्तन महत्वपूर्ण नहीं होते हैं।

(iii) प्रोफेसर जे० के० मेहता ने 'स्थैतिक' तथा 'गत्यात्मक' के सम्बन्ध मे अपना मौलिक विचार व्यक्त किया है। उनके अनुसार स्थैतिक स्थिति वह है जो एक निश्चित समय या अवधि के पश्चात् भी उसी रूप मे बनी रहती है। परन्तु यदि निश्चित समय के पश्चात् अवस्था मे परिवर्तन हो जाता है तो उसे गत्यात्मक स्थिति कहेंगे। उदाहरण के लिए हम एक सप्ताह की अवधि ले लें। यदि एक सप्ताह के पश्चात् भी सतुलन की स्थिति पूर्ववत रहती है तो इसे स्थैतिक स्थिति कहेंगे, परन्तु यदि एक सप्ताह के पश्चात् सतुलन के परिवर्तन हो जाता है तो इसे गत्यात्मक स्थिति कहेंगे। इस प्रकार 'स्थैतिक' तथा 'गत्यात्मक' स्थिति के निर्धारण मे एक निश्चित समय या अवधि का महत्वपूर्ण स्थान है।

(iv) जे० आर० हिक्स के अनुसार, "आर्थिक सिद्धान्त के उन भागो को 'आर्थिक स्थैतिक' कहा जाता है जिसमे हम तिथि का ध्यान नहीं रखते और न या-

[3] "The stationary state is an economic system in which the factors which control production and consumption, distribution and exchange are constant Population is regarded as neither increasing nor decreasing and its age composition does not alter methods of production and the total output remain the same, or at least, if population grows, total output must be regarded as growing at the same rate" —*Macfie*

त्मक उन भागों को कहते हैं, जिनमें प्रत्येक इकाई या मात्रा का सम्बन्ध किसी तिथि से होता है।"

"We call economic statics those parts of economic theory where we do not trouble about dating, economic dynamics those parts where every quantity must be dated." —*J. R. Hicks, Value and Capital*

इस प्रकार हिक्स के अनुसार 'तिथिकरण' (dating) महत्वपूर्ण है। हैरोड ने 'तिथिकरण' पर आपत्ति की है। हैरोड ने कहा है कि 'गत्यात्मक' के अन्तर्गत निरन्तर होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन किया जाना चाहिए। परन्तु यदि एक निश्चित अवधि में होने वाले परिवर्तनों की तुलना किसी अन्य निश्चित अवधि के परिवर्तनों से की जाए तो इसे "तुलनात्मक स्थैतिक" (Comparative Statics) की संज्ञा देनी चाहिए।

2 स्थैतिक विश्लेषण की सीमाएं (Limitations of Static Analysis) :

1 स्थैतिक स्थिति काल्पनिक स्थैतिक 'स्थिर अर्थ-व्यवस्था का विश्लेषण करता है, परन्तु वास्तविक संसार गतिशील है। अर्थ-व्यवस्था में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन हुआ करते हैं। परिवर्तनशील संसार को स्थिर मानकर अध्ययन करना एक भ्रम है। इस आधार पर मार्क्स ने इसे 'सैद्धान्तिक कल्पना' (Methodological Fiction) कहा है। प्रो० एजवर्थ ने कहा है, "परिवर्तनशील को स्थिर मान लेने के कारण अर्थशास्त्र में बहुत से काल्पनिक विचार भर गए हैं। (The treating as constant of what is variable is the source of most of the fallacies in Political Economy' *Edgeworth*)

2. स्थैतिक की मान्यताएं अवास्तविक : 'स्थैतिक' जिन मान्यताओं पर आधारित है, वे काल्पनिक हैं। जैसे पूर्ण प्रतियोगिता, दी हुई रुचि, पूर्णज्ञान, जनसंख्या का निश्चित आकार, पूर्ण गतिशीलता, अनिश्चितता की अनुपस्थिति आदि मान्यताएं वास्तविकता से बहुत दूर हैं। वास्तविक संसार की परिवर्तनशील दशाओं के विश्लेषण के लिए स्थैतिक विधि उपयुक्त नहीं है। प्रो० हिक्स ने ठीक ही कहा है, 'स्थैतिक अवस्था अन्त में कुछ नहीं है, बल्कि वास्तविकता से दूर भागना है' ('Stationary state is in the end, nothing but an evasion)।

स्थैतिक विश्लेषण का क्षेत्र तथा महत्व (Scope and Importance of Static Analysis) : उपर्युक्त सीमाओं के होते हुए भी स्थैतिक विश्लेषण का अर्थशास्त्र में महत्वपूर्ण स्थान है।

1. अर्थशास्त्र की बहुत सी विषय सामग्री 'स्थैतिक' पर आधारित : कीमत-निर्धारण उत्पादन के साधनो का हिस्सा-निर्धारण, उपभोक्ता का सतुलन, अन्त-र्राष्ट्रीय-व्यापार आदि विषय सामग्री तथा इनसे सम्बन्धित आर्थिक नियम स्थैतिक विश्लेषण पर आधारित हैं। इसी प्रकार 'व्यापार चक्रों' मे सम्बन्धित सिद्धान्तो को भी 'स्थैतिक' से पूर्णतया अलग नही किया जा सकता है। प्रो० हैरोड के अनुसार राबिन्स की परिभाषा भी मुख्यत स्थैतिक विश्लेषण पर आधारित है। केन्स के भी कुछ विचार 'स्थैतिक' पर आधारित हैं।

2 'परिवर्तन' स्थैतिक मे पूर्णतया उपेक्षित नहीं है यह मान ना कि 'परिवर्तन' स्थैतिक विश्लेषण की सीमा के पूर्ण रूप से बाहर है, निराधार है। स्थैतिक मे भी एक बार परिवर्तन (Once over change) के कारण उत्पादन सम स्याओ का अध्ययन किया जाता है। 'स्थैतिक' का अर्थ पूर्ण स्थिरता नही है।

3 परिवर्तनशील अर्थव्यवस्था का अध्ययन कठिन आर्थिक परिवर्तन बडे ही जटिल (Complex) होते है। इन जटिल परिवर्तनो का वैज्ञानिक अध्ययन बहुत कठिन है। गतिशील अर्थ-व्यवस्थाओ का अध्ययन गतिशील अवस्थाओ को छोटी-छोटी स्थैतिक अवस्थाओ मे विभाजित करने से सुविधाजनक हो जाता है। लगातार परिवर्तन मे अनिश्चितता का तत्व अधिक होता है। इस प्रकार 'गतिशील' का अध्ययन बहुत कठिन हो जाता है।

अत विभिन्न स्थैतिक अवस्थाओ को 'गतिशील' की अलग-अलग अवस्थाएँ मानकर अध्ययन करना अधिक उपयुक्त है। इस बात को ध्यान मे रखते हुए प्रो० मेहता ने कहा है कि गतिशील अर्थशास्त्र स्थैतिक की 'लगातार टीका' है, अत स्थैतिक के नियम 'गतिशील' पर भी लागू होते हैं।

"Dynamic economics is as it were, a running commentary on static economics The laws of static economics must, therefore, apply to dynamics"
—*J K Mehta*

4 आशाओ व सम्भावनाओ (Expectations and Probabilities) का भी अध्ययन स्थैतिक विश्लेषण के सम्बन्ध मे यह कहा जाता है कि आशाओ व सम्भावनाओ पर इसके द्वारा प्रकाश नही डाला जा सकता है। परन्तु यह कथन पूर्णरूप से सही नही है। सीमित रुप से, कुछ परिस्थितियो मे, वर्तमान तथा भूतकाल की कई स्थैतिक अवस्थाओं के आधार पर निष्कर्ष निकालकर भविष्य की गतिविधियो के सम्बन्ध मे भी सम्भावनाए व्यक्त की जा सकती है। फिर भी, आशा व 'संभावना' मुख्यतया गतिशील अर्थशास्त्र के विषय हैं।[4]

[4] 'Such Theory (static theory) can be successful in predicting the behaviour of the price system in certain circumstances in which dynamic considerations are not critical'. *Richard G. Lipsey*, An *Introduction to Positive Economics, p 531*

5. उच्च-गणित का ज्ञान आवश्यक नहीं गतिशील विश्लेषण के लिए गणित का ज्ञान आवश्यक है, नित्य-प्रति होने वाले परिवर्तनो का अध्ययन, उच्च-गणित की सहायता के बिना करना सम्भव नही है। परन्तु 'स्थैतिक' विश्लेषण के लिए गणित का ज्ञान अनिवार्य नही है।

उपर्युक्त महत्व के होते हुए भी, यह मानना पडेगा की परिवर्तनशील अर्थ-व्यवस्था की गतिविधियो के विश्लेषण के लिए स्थैतिक-विश्लेषण का उपयोग बहुत ही सीमित मात्रा मे किया जा सकता है। स्थैतिक विश्लेषण की दो प्रमुख सीमाएं है—(क) स्थैतिक विश्लेषण का प्रयोग उस मार्ग के विषय मे भविष्यवाणी के लिए नही किया जा सकता, जिस पर बाजार एक सतुलन की अवस्था से दूसरे सतुलन की अवस्था की ओर बढ रहा हो, तथा (ख) स्थैतिक विश्लेषण द्वारा यह भी नही बतलाया जा सकता है कि एक दी गई सतुलन की अवस्था मे पहुचा जा सकता है या नही।[5] इन सीमाओ के होते हुए भी स्थैतिक विश्लेषण के महत्व को अस्वीकार नही किया जा सकता है।

2. गतिशील अर्थशास्त्र (Dynamic Economics)

1 गतिशील अर्थशास्त्र का अर्थ.

गतिशील अर्थशास्त्र का सम्बन्ध परिवर्तन से है। स्थैतिक विश्लेषण अर्थ व्यवस्था मे दिन-प्रति-दिन होने वाले परिवर्तनो का अध्ययन करने के लिए उपयुक्त नही है। गतिशील अर्थशास्त्र द्वारा अर्थ-व्यवस्था मे लगातार होने वाले परिवर्तनो, इन परिवर्तनो की प्रक्रिया (Process) तथा परिवर्तन को प्रभावित करने वाले कारणो का विश्लेषण किया जाता है। गतिशील अर्थशास्त्र को विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया गया है।

(1) रिचार्ड लिप्से के अनुसार, "गतिशील अर्थशास्त्र अर्थ-व्यवस्था की प्रणालियो, वैयक्तिक बाजारो या सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की असतुलित दशाओ का अध्ययन है।"

"Dynamic Analysis may be defined as the study of the behaviour of systems, single markets or whole economics, in disequilibrium situations"

---

5 "First, it cannot be used to predict the path which the market follows when moving from one equilibrium to another, and, second, it cannot predict whether or not a given equilibrium position can ever be attained"

Richard G. Lipsey op cit p. 119.

अर्थ-व्यवस्था सामान्यतया सतुलन मे नही रहती है। परिवर्तन अर्थ-व्यवस्था की प्रमुख विशेषता है, जिसके कारण असतुलन पैदा होता रहता है। इन असतुलित अवस्थाओ का अध्ययन गतिशील अर्थशास्त्र द्वारा किया जाता है।

(ii) जे० बी० क्लार्क के अनुसार गतिशील अर्थ-व्यवस्था मे पाच विशेषताए पाई जाती हैं—(i) जनसख्या, (ii) पूँजी, (iii) उत्पादन विधियाँ, (iv) औद्योगिक सगठनो के रूप म परिवर्तन तथा (v) उपभोक्ताओ की आवश्यकताओं मे वृद्धि। जिन अर्थ-व्यवस्थाओं मे ये परिवर्तन होते रहते हैं, उन्हे 'गतिशील' तथा जिनमे ये परिवर्तन नही होने, उन्हे स्थैतिक कहते हैं। गतिशील विश्लेषण इन परिवर्तनो की प्रक्रियाओ का विश्लेषण है।

(iii) हिक्स के अनुसार गतिशील अर्थशास्त्र वह है जिसमे प्रत्येक मात्रा का तिथीकरण (Dating) किया जाता है। हिक्स ने तिथीकरण पर बहुत जोर दिया है।

(iv) हैरोड ने गतिशील अर्थशास्त्र को अर्थ-व्यवस्था मे निरन्तर होने वाले परिवर्तनो का विश्लेषण कहा है। उनके अनुसार, "गतिशील का सम्बन्ध विशेषतया निरन्तर होने वाले परिवर्तनों के प्रभावों तथा निश्चित किए जाने वाले मूल्यो मे परिवर्तनो की दरो से है।[6]

(v) बोमल ने गतिशील अर्थशास्त्र का सम्बन्ध भूतकालीन तथा आगामी घटनाओ के आधार पर की जाने वाली भविष्यवाणी से बतलाया है। उनके अनुसार,

"Economic dynamics is the study of economic phenomena in relation to preceding and succeeding events" —Baumol

'गत्यात्मक' के अन्तर्गत हम विभिन्न तत्वो (Variables) के सहसम्बन्धो के आधार पर किसी अर्थ व्यवस्था की भविष्य सम्बन्धी अवस्थाओ का अनुमान लगाते है। बोमल के अनुसार, 'गतिशील अर्थशास्त्र आर्थिक वातावरण की पूर्ववर्ती एव परवर्ती घटनाओ के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन है।"

'स्थैतिक' तथा 'गतिशील' के विषय मे उपरोक्त स्पष्टीकरण से ऐसा आभास होता है कि वे किसी अर्थ व्यवस्था की वास्तविक स्थितियो के प्रतीक है। परन्तु वे किसी अर्थ-व्यवस्था की अवस्थाओ के प्रतीक नही हैं। 'अर्थ-व्यवस्था' के उदाहरण द्वारा केवल इन दोनो को समझाने का प्रयास किया गया है। वस्तुत. स्थैतिक तथा

---

[6] "Dynamics will specially be concerned with the effects of continuing changes and with rates of change in the values that have to be determined" Harrod, *Towards a Dynamic Economics*, p 8

गत्यात्मक आर्थिक विश्लेषण की दो रीतियां (approaches) हैं। अर्थशास्त्र के विभिन्न विषयों का विश्लेषण इन दोनों रीतियों द्वारा किया जाता है।

2. गतिशील अर्थशास्त्र की उपयोगिता तथा महत्व :

'गतिशील अर्थशास्त्र' आर्थिक जगत की वास्तविकताओं का विश्लेषण करता है। इसके महत्व का अनुमान हम निम्नलिखित विवरण में लगा सकते हैं।

1. वास्तविकता के निकट : गतिशील अर्थशास्त्र, स्थैतिक अर्थशास्त्र की तुलना में वास्तविकता के अधिक नजदीक है। इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। स्थैतिक के अनुसार यदि किसी वस्तु के उत्पादन से हानि उठानी पड़ती है तो उस वस्तु का उत्पादन बन्द कर दिया जाएगा। परन्तु गतिशील अर्थशास्त्र यह बतलाता है कि अल्पकाल में स्थायी लागतों (Fixed costs) के बराबर हानि उठाते हुए भी भविष्य में लाभ की सम्भावनाओं के कारण उत्पादन जारी रहेगा। वास्तव में व्यवहार में ऐसा ही किया जाता है। (यह उदाहरण Tinbergen ने दिया है)। गतिशील अर्थशास्त्र परिवर्तनों का अध्ययन करता है। हम जानते हैं कि अर्थ-व्यवस्था में रुचि, जनसंख्या, उत्पादन-विधि आदि में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। स्थैतिक इन परिवर्तनों का अध्ययन करने में असमर्थ है।

2. कुछ समस्याओं का अध्ययन 'गतिशील' द्वारा ही सम्भव : कुछ आर्थिक समस्याएं ऐसी हैं, जिनका विश्लेषण गतिशील रीति द्वारा ही किया जा सकता है। जैसे एक सतुलन की स्थिति से दूसरे सतुलन की स्थिति में बदलने के बीच से सम्बन्धित समस्याओं तथा प्रक्रियाओं का अध्ययन, गतिशील रीति द्वारा ही किया जा सकता है। इसी प्रकार जनसंख्या सम्बन्धी समस्याएं आर्थिक विकास, व्यापार-चक्र बचत, विनियोग, लाभ के सिद्धान्त आदि का विश्लेषण गतिशील अर्थशास्त्र द्वारा ही किया जा सकता है।

3. मानवीय प्रवृत्तियों पर आधारित समस्याओं के विश्लेषण के लिए : जो आर्थिक क्रियाएं मानव की प्रवृत्तियों पर अधिक आधारित हैं या ऐसे आर्थिक विषय जो मनोवैज्ञानिक तत्वों से प्रभावित होते हैं, उनका विश्लेषण गतिशील अर्थशास्त्र द्वारा ही किया जा सकता है, जैसे व्यापार चक्र, विनियोजन आदि।

4. अधिक लचीला (Flexible) : गतिशील विश्लेषण काफी लचीला है, इसमें किसी प्रकार की हठधर्मी (Rigidity) नहीं पाई जाती है। गतिशील अर्थशास्त्र अधिक से अधिक सम्भावनाओं तथा अधिक से अधिक उपयुक्त नमूनों (Model) पर विचार करता है। इस लचीलेपन के कारण, आर्थिक विकास तथा नियोजन सम्बन्धी जटिल समस्याओं के अध्ययन में गतिशील विश्लेषण विशेष रूप से सहायक सिद्ध होता है।

5 **प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा भी प्रयोग :** प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री सामान्यतया स्थैतिक विश्लेषण में विश्वास रखते थे, परन्तु उन्होंने भी कुछ समस्याओं के अध्ययन के लिए गतिशील-विश्लेषण का सहारा लिया जिससे इसके महत्व का ज्ञान होता है। उदाहरण के लिए रिकार्डो की वितरण की समस्या तथा माल्थस की जनसंख्या की समस्या का अध्ययन गतिशील विश्लेषण के ही अन्तर्गत होता है। मार्शल ने भी गतिशील-विश्लेषण की पूर्ण रूप से उपेक्षा नहीं की।

6. **अन्य महत्व .** प्रो० राबिन्स ने गतिशील-विश्लेषण को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उनके अनुसार गतिशील-विश्लेषण निम्नलिखित प्रमुख कार्य करता है : (क) इसकी व्याख्या वास्तविक स्थिति से सम्बन्धित होने के कारण, अधिक सही तथा उपयोगी होती है, (ख) आर्थिक-सिद्धान्तों की सत्यता की जाँच में सहायक होती है, तथा (ग) यह उन तत्वों पर भी प्रकाश डालता है, जिनके सम्बन्ध में स्थैतिक अर्थशास्त्र मौन रहता है। इसके द्वारा भविष्यवाणी करने में सहायता मिलती है।

3. **गतिशील अर्थशास्त्र की सीमाएँ (*Limitations*) :**

1. गतिशील विश्लेषण के लिए उच्च गणित तथा इकोनामेट्रिक्स का ज्ञान आवश्यक है। अतः विश्लेषण की यह रीति बहुत कठिन है।

2. वास्तविक जगत में परिवर्तन बड़ी तेजी से होते हैं। तेजी से होने वाले इन सभी परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए, गतिशील विश्लेषण करना बहुत ही कठिन है। परिवर्तनों की तीव्रता के कारण, गतिशील विश्लेषण बड़ा जटिल तथा पेचीदा हो जाता है। अतः बहुत से अर्थशास्त्री इन पेचीदगियों से बचने के लिए स्थैतिक विश्लेषण का सहारा लेते हैं। स्टोनियर तथा हेग के विचार इस सम्बन्ध में स्पष्ट हैं :

'In any case, the real world is very complex place and the creation of a theory of economics which tries to take account of all or even most of that complexity would be beyond the capacity of any human brain."

3. **गतिशील अर्थशास्त्र का सीमित विकास :** गतिशील अर्थशास्त्र अपेक्षाकृत अर्थशास्त्र की नई शाखा है। विश्लेषण के इस ढंग का अभी पूर्णरूप से विकास नहीं हो पाया है। यद्यपि रूज (Roos), टिनबर्जिन (Tinbergen), कैप (Kapp), हरोड (Harrod), मीरडल (Myrdal), ओहलिन (Ohlin), हैन्सेन (Hansen), कुजनेट्स (Kuznets) आदि अर्थशास्त्रियों ने इस शाखा को समृद्ध तथा पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है, फिर भी अर्थशास्त्र की यह शाखा पूर्ण विकसित नहीं हुई है।

इस सम्बन्ध में स्टिगलर ने ठीक ही कहा है, 'In fact no very general theory of economic dynamics has yet been invented.'

वस्तुत आर्थिक समस्याओं के वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन के लिए आर्थिक-विश्लेषण की इन दोनों रीतियों—स्थैतिक तथा गतिशील—की आवश्यकता पड़ती है। वर्तमान समय मे गतिशील विश्लेषण का महत्व बढ रहा है तथा निकट भविष्य मे, यह रीति एक विकसित तथा पूर्ण रीति हो जाएगी।

प्रश्न तथा संकेत

1. स्थैतिक तथा गतिशील के विचारो को व्याख्या कीजिए। आर्थिक विश्लेषण मे उनकी क्या उपयोगिता है ?

या

"वास्तव में सूक्ष्म और व्यापक अर्थशास्त्र मे कोई विरोध नहीं है। दोनों अत्यन्त आवश्यक हैं। यदि आप एक को समझते हैं और दूसरे से अनभिज्ञ (Ignorant) रहते है तो आप केवल अर्द्ध शिक्षित है।" सेम्युलसन के इस कथन की विवेचना कीजिए।

[संकेत—सूक्ष्म तथा व्यापक अर्थशास्त्र मे आर्थिक समस्याओ के विश्लेषण के दृष्टिकोण से मुख्य समानताए बताइए तथा यह सिद्ध कीजिए कि आर्थिक समस्याओ के विश्लेषण के लिए दोनो ही आवश्यक हैं।]

2. सूक्ष्म अर्थशास्त्र (Micro economics) तथा व्यापक अर्थशास्त्र (Macro economics) का अन्तर स्पष्ट कीजिए। आर्थिक समस्याओं के अध्ययन मे व्यापक दृष्टिकोण के महत्व को समझाइए।

[संकेत—प्रथम भाग में सूक्ष्म तथा व्यापक अर्थशास्त्र मे अन्तर बताइए तथा द्वितीय भाग मे व्यापक दृष्टिकोण की महत्ता स्पष्ट कीजिए।]

3. अर्थशास्त्री को आर्थिक व्यष्टिभाव तथा आर्थिक समष्टिभाव (Macro economics) दोनो प्रकार की समस्याओ का अध्ययन करना पड़ता है। आर्थिक व्यष्टिभाव तथा आर्थिक समष्टिभाव रीतियां एक दूसरे की विकल्प (alternate) नहीं बल्कि पूरक है।" इस कथन की विवेचना कीजिए।

(Vik, B com. II, 1964)

[संकेत—आर्थिक व्यष्टिभाव तथा समष्टिभाव दोनो की परिभाषा दीजिए। इसके बाद इनके महत्व, प्रयोग तथा सीमाएं बताते हुए दोनो की परस्पर निर्भरता स्पष्ट कीजिए।]

4. आंशिक विश्लेषण (Partial Analysis) तथा पूर्ण विश्लेषण (Total Analysis) का आशय स्पष्ट कीजिए। क्या आंशिक विश्लेषण व्यावहारिक दृष्टिकोण से उपयोगी कहा जा सकता है ?

5. स्थैतिक तथा प्रावैगिक अर्थशास्त्र के बीच अन्तर बताइए । इनमे से आप किसे अधिक सामान्य तथा आधार-भूत (General and Fundamental) समझते हैं ?

[सकेत—प्रथम भाग मे स्थैतिक तथा प्रावैगिक अर्थशास्त्र की बीच अन्तर बताइए । द्वितीय भाग मे दोनो की महत्ता तथा प्रयोग स्पष्ट करते हुए निष्कष दीजिए कि दोनो ही आवश्यक हैं ।]

6 स्थैतिक तथा प्रावैगिक अर्थशास्त्र के बीच अन्तर को स्पष्ट कीजिए तथा दोनो की आवश्यकता की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए ।

7. 'साम्य' शब्द का अर्थ स्पष्ट कीजिए । विभिन्न प्रकार की साम्य परिस्थितियो के बीच अन्तर बताइए ।

(Lucknow, B A. I, 1961)

8 साम्य से आप क्या समझते हैं ? आशिक तथा साधारण साम्यो के विचारो की व्याख्या कीजिए । कारणो सहित बताइए कि सामान्य साम्य की लगातार स्थिति वाछनीय है या नही ?

(Ravishanker, B com. I, 1965)

9. "सामान्य साम्य एक मिथ्या नाम (Misnomer) है, कोई भी आर्थिक विश्लेषण इस अर्थ मे सामान्य नही है कि वह सभी सम्बन्धित तथ्यो पर एक साथ विचार कर सके ।" इस कथन की व्याख्या कीजिए । प्रो० स्टिगलर

[सकेत—इस कथन को स्पष्ट कीजिए तथा सामान्य-साम्य विश्लेषण की सीमाओं को लिखिए ।]

10. सस्थिति (Equilibrium) से आप क्या समझते हैं ? स्थिर तथा प्रावैगिक सस्थितियो (Static and Dynamic equilibria) को स्पष्ट रूप से समझाइए ।

(Lucknow, B. A. I, 1958)

[संकेत—साम्य के विचार को स्पष्ट कीजिए तथा स्थिर व प्रावैगिक दशाओं को उदाहरण द्वारा समझाइए, विशेषत प्रो० मेहता के दृष्टिकोण को ध्यान मे रखते हुए ।]

6

अर्थशास्त्र की अध्ययन-विधियां
(Methods of Economics)

"There is not any one method of investigation which can properly be called the method of Economics but every method must be made serviceable in its proper place, either singly or in combination with others"

—Marshall

विज्ञान का निर्माण नियमो द्वारा किया जाता है। अर्थशास्त्र भी एक विज्ञान है अत अन्य विज्ञानो की भाति, इसके द्वारा भी आर्थिक घटनाओ के अध्ययन, परीक्षण एव विश्लेषण द्वारा कारण तथा परिणाम के पारस्परिक सम्बन्धो के आधार पर नियमो का निर्माण किया जाता है। इन सिद्धान्तो या नियमो की खोज के लिए विभिन्न रीतियो या विधियो (Methods) का प्रयोग किया गया है। रीति का अभिप्राय उस तर्क पूर्ण प्रणाली से है जिसका प्रयोग सच्चाई को खोजने या उसे व्यक्त करने के लिए किया जाता है।' ('Method Means the logical Process used in discovering or in demonstrating the truth'—Luigi cossa) जिन विधियो द्वारा आर्थिक नियमो का निर्माण किया जाता है उन्हे अर्थशास्त्र की विधिया कहते हैं। रीति या अध्ययन-विधि का अर्थ उस विधि से है जिसके द्वारा सत्य या वस्तु स्थिति की खोज की जाती है। नियमो की सत्यता कुछ अशो मे उनके अध्ययन की उचित विधियो पर निर्भर है। अर्थशास्त्रियो ने आर्थिक नियमो के निर्माण तथा आर्थिक अध्ययन के लिए सामान्यतया दो विधियो या रीतियो का प्रयोग किया है

1 निगमन या अनुमान रीति (Deductive or Abstract Method)
2 आगमन या ऐतिहासिक रीति (Inductive or Historical Method)

1. निगमन रीति (Deductive Method)

इसी रीति के अनुसार किसी पूर्व-कथित सामान्य, स्वयंसिद्ध सत्य को आधार मानकर किसी विशिष्ट सिद्धान्त या नियम तक पहुचा जाता है। इस रीति को अनु-

मान रीति (Hypothetical Method) भी कहते हैं, क्योंकि कुछ अनुमान या धारणायें तथ्यों से कभी-कभी मेल नहीं खातीं, परन्तु वे तथ्यों के इतने निकट हो सकती हैं कि उन्हें आधार मानकर तर्क द्वारा परिणाम निकाले जा सकते हैं। पहले स्वयं सिद्ध बातों को आधार मान लेते हैं तथा उस आधार पर नियमों का निर्माण करते हैं तथा बाद में उस सामान्य कथन की जांच, व्यक्तिगत मामलों के संदर्भ में की जाती है। इस प्रकार, इस विधि के अनुसार हम सामान्य से विशिष्ट की ओर अग्रसर होते हैं। (from general to particular) सर्वप्रथम, अध्ययन की जाने वाली परिस्थिति या समस्या के वास्तविक सरल रूप का ज्ञान प्राप्त करना होता है। इसके पश्चात् इस सम्बन्ध में पूर्व कथित सामान्य आधारभूत सिद्धान्त एवं धारणा की जानकारी प्राप्त की जाती है। अन्त में, उसकी सहायता से तर्कपूर्ण विधि द्वारा निश्चित निष्कर्ष निकाले जाते हैं। उदाहरणार्थ, "प्रत्येक व्यक्ति 'अधिकतम सन्तुष्टि' प्राप्त करना चाहता है" या प्रत्येक व्यक्ति वस्तुएं सस्ती दर पर क्रय करना चाहता है, ये सर्वमान्य तथ्य हैं। समस्या यह है कि क्या ये सत्य सभी व्यक्तियों पर लागू होते हैं। विभिन्न देशों तथा समयों में जांच करने पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति की आर्थिक क्रियाओं का उद्देश्य अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करना ही है तथा प्रत्येक व्यक्ति सस्ती दर पर क्रय करना चाहता है।

अधिकांश प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने इस रीति को उपयुक्त माना है। एडम-स्मिथ, रिकार्डो, सीनियर, मिल, कैरनेस, (Cairness) आदि अर्थशास्त्री इस रीति के प्रबल समर्थक थे। इन्होंने मानव-व्यवहारों के कुछ तथ्यों को सत्य मानकर उनके आधार पर कुछ आर्थिक नियमों का प्रतिपादन किया, जैसे मनुष्य की प्रकृति स्वार्थी है, मनुष्य की इच्छा अधिक से अधिक धन संग्रह करने की होती है, भूमि पर क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है, आदि। इन अर्थशास्त्रियों की बहुत सी धारणायें अवास्तविक थीं और यथार्थ वस्तु-स्थिति से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। मार्शल, जेवन्स, फिशर आदि ने भी निगमन रीति का प्रयोग किया, परन्तु उन्होंने ज्ञात किए गए परिणामों की सहायता से निगमन प्रणाली के आधारभूत सत्य को सही बनाने के लिए भी प्रयत्न किया।

निगमन-रीति को अमूर्त रीति (Abstract Method), काल्पनिक रीति (Hypothetical Method) तथा विश्लेषणात्मक रीति (Analytical Method) भी कहते हैं। गणितीय रीति (Mathematical Method) निगमन रीति का ही एक रूप है। Jevons, Edgeworth, Hicks आदि ने गणितीय रीति का काफी प्रयोग किया है। आजकल 'गणितीय निगमन रीति' का प्रयोग बढ़ता जा रहा है।

बोल्डिंग (Boulding) ने निगमन प्रणाली को 'Method of Intellectual Experiment' कहा है। वस्तुतः यह प्रणाली शुद्ध गणित के सिद्धान्तों से मिलती

जुलती है। जिस प्रकार गणित मे हम कुछ सरल सिद्धान्तो या तथ्यो से प्रारम्भ करते हैं तथा उनमे धीरे-धीरे गूढ प्रश्नो का समावेश करते जाते हैं, उसी प्रकार कुछ सामान्य आर्थिक विचार धाराओ के आधार पर गूढ आर्थिक समस्याओ को सुल झाने का प्रयत्न करते हैं। उदाहरण के लिए मिल ने अपने विख्यात अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त की प्रतिष्ठा निगमन रीति द्वारा ही की है। उसने इस मान्यता स प्रारम्भ किया कि मुक्त व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन से सभी देश लाभान्वित होंगे। प्रारम्भ मे उसने केवल दो वस्तुओ तथा दो देशो का उदाहरण लिया। बाद मे विभिन्न देशो तथा विभिन्न वस्तुओ के उदाहरणो द्वारा इस मान्यता की पुष्टि की। इसी प्रकार मूल्य निर्धारण-सिद्धान्त तथा वितरण के सिद्धात, माग तथा पूर्ति सिद्धात, उपयोगिता ह्रास नियम आदि निगमन रीति द्वारा ही निर्मित किए गये हैं।

निगमन रीति के गुण (*Merits of Deductive Method*) :

(1) सरलता यह रीति सर्वसाधारण के लिए सरल है। इस रीति क अनुसार जटिल घटनाओ का भी विश्लेषण सरलतापूर्वक कर लिया जाता है। यदि इनका अलग-अलग निरीक्षण करने के पश्चात् एक सामान्य सत्य को ज्ञात करना हो तो यह कार्य अत्यन्त कठिन होगा। परन्तु एक सर्वमान्य सत्य को आधार मानकर तर्क-वितर्क द्वारा किसी विशिष्ट सत्य पर पहुचना सरल है।

(2) निष्कर्षों की शुद्धता एव विश्वसनीयता निगमन रीति द्वारा निकाले गये निष्कर्ष अधिक शुद्ध होते हैं, क्योंकि इनमे त्रुटियो का निवारण एव समाधान तर्कशास्त्र के नियमो के अनुसार सम्भव है। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानो का यह मत है कि ज्ञात को आधार मानकर गणितशास्त्र की सहायता से अज्ञात का अनुमान लगाना सरल है। यह अनुमान प्राय शुद्ध एव स्पष्ट ही होता है। कैरनेस ने कहा है कि अर्थ-विज्ञान के अध्ययन की यह रीति उसी समय उपयोगी हो सकती है जबकि इस प्रणाली को सावधानीपूर्वक काम मे लाया जाये।

(3) तथ्यो और आकडो को एकत्र करने की आवश्यकता नहीं : इस रीति की उपयोगिता अर्थशास्त्र के उन विभागो के अध्ययन मे अधिक है जिनमे आर्थिक तथ्यो एव आकडो का सकलन कठिन एव असम्भव है। विनिमय एव वितरण विभागो मे इस प्रणाली के प्रयोग द्वारा बिना आकडो के विशिष्ट निष्कर्षों को ज्ञात करने म अधिक सुविधा होती है।

(4) निष्कर्ष सर्वव्यापी तथा सार्वजनिक होते हैं : निगमन प्रणाली द्वारा निकाले गये निष्कर्ष सामान्य एव सर्वमान्य सत्य पर आधारित होने के कारण सभी देशों तथा सभी कालो मे सत्य होते हैं। सभी मनुष्यो की मरणशीलता का निर्विवाद सत्य किसी भी काल मे, किसी भी देश के किसी भी व्यक्ति के सम्बन्ध मे सत्य

उतरेगा, उसी प्रकार आर्थिक क्षेत्र मे उपयोगिता ह्रास नियम प्रत्येक देश, प्रत्येक अवस्था तथा काल मे सिद्ध होगा।

(5) पक्षपात का अभाव इस प्रणाली मे तर्क–वितर्क द्वारा एक आधार–भूत सामान्य सत्य से विशिष्ट सत्य निकाला जाता है, अत उस निष्कर्ष पर व्यक्तिगत विचारो का कोई प्रभाव नही पडता। इससे यह लाभ होता है कि आर्थिक घटनाओ का उचित तथा पक्षपात रहित विश्लेषण किया जा सकता है।

(6) भविष्यवाणी की सुविधा इस रीति से अध्ययन करने पर आर्थिक घटनाओ का अनुमान लगाना सरल होता है जिससे उनके सम्बन्ध मे भविष्यवाणी सरलतापूर्वक की जा सकती है।

(7) आगमन प्रणाली द्वारा ज्ञात निष्कर्षों की जाच करने की कसौटी आगमन या अनुभव प्रणाली द्वारा निकाले गये निष्कर्षो अथवा प्रतिपादन नियमो की सत्यता की जाच निगमन प्रणाली द्वारा की जा सकती है। इस रीति के अनुसार उन निष्कर्षों को सामान्य सत्य मानकर उनसे विशिष्ट निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। यदि विशिष्ट निष्कर्ष सामान्य की पुष्टि करते हैं तो आगमन प्रणाली द्वारा प्रतिपादित नियमो को ठीक माना जा सकता है।

निगमन रीति के दोष (Demerits of Deductive Method)

निगमन प्रणाली का उपयोग, यदि सावधानी पूवक नही किया जाए, तो वह एक दोषपूर्ण प्रणाली सिद्ध हो सकती है। इसके निम्नलिखित दोष है

(1) निष्कर्ष अवास्तविक एव काल्पनिक होते हैं निगमन प्रणाली म एक काल्पनिक स्वयसिद्ध सत्य को आधार मानकर तक द्वारा विशिष्ट निष्कर्ष निकालने की विधि भ्रामक है। इस सम्बन्ध मे **प्रोफेसर निकलसन** का यह कथन है कि "निगमन प्रणाली का सबसे बडा खतरा यह है कि सत्यता की जाच करने का अरुचिकर काय कोई भी व्यक्ति नही करना चाहता।"[1] यही कारण है कि इसके अनुसार निकाले गये निष्कर्षों को वास्तविक घटनाओ पर लागू नहीं किया जा सकता। यह आवश्यक नही कि निगमन प्रणाली के आदश तथ्य प्रत्येक देश, काल तथा अवस्था मे उपस्थित हो। इसके साथ ही साथ सामान्य सत्य की सत्यता का पता लगाना अथवा उसके आदर्श स्वरूप को निर्धारित करना भी एक कठिन कार्य है। इन परिस्थितियो मे ये आदर्श सवव्यापी तथा सवकालीन नही हो सकते। ये वास्तविकता क विपरीत होग और आधार त्रुटिपूर्ण होने पर निकाले गए निष्कर्ष भी गलत होगे।

(2) तथ्यो और आकडो के अभाव मे सही निष्कर्ष निकलना कठिन है इस प्रणाली का एक दोष यह भी है कि आधारभूत सत्य को परखने तथा उसकी जाच

---

[1] "The great danger of the deductive method lies in the natural aversion of the labour of verification" —*Nicholson*

करने की कोई विधि नहीं है। प्राचीन अर्थशास्त्रियों की सबसे बड़ी भूल यह थी कि उन्होंने एक अमूर्त तथा काल्पनिक सत्य को वास्तविक मानकर उसके आधार पर विशिष्ट सत्य ज्ञात करने की चेष्टा की।[a] यदि वे तर्क के स्थान पर वास्तविक तथ्यों के आधार पर स्वीकार किए गये सामान्य सत्य की वास्तविकता को परख लेते, तो विशिष्ट निष्कर्षों मे त्रुटिया होने की संभावनायें कम हो जाती।

(3) यह रीति अपूर्ण है निगमन रीति के समर्थकों ने सामान्य सत्य को ही विशिष्ट सत्य या निष्कर्ष निकालने के लिये निर्णायक माना है। वे उसको परिवर्तनशील नही मानते। अतः सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों मे होने वाले परिवर्तन तथा उनके प्रभाव का ज्ञान, इससे प्राप्त नही हो पाता। विशिष्ट निष्कर्षों को ज्ञात करने के लिए परिवर्तनशील सामाजिक तथ्यो को ध्यान मे रखना आवश्यक है जो केवल अनुभव या आगमन रीति (Inductive Method) से ही सम्भव है। इस आधार पर यह कहा जाता है कि निगमन रीति स्वयं मे अपूर्ण एवं अपर्याप्त है।

(4) सभी आर्थिक समस्याओ का अध्ययन सम्भव नहीं : इस रीति द्वारा अर्थशास्त्र की सभी समस्याओं का अध्ययन नही किया जा सकता है। आर्थिक-नियोजन, बेरोजगार, आर्थिक विषमता आदि के अध्ययन के लिये यह रीति उपयुक्त नही है। अत. केवल इसी रीति पर निर्भर रहने से, अर्थशास्त्र का पूर्ण विकास नही किया जा सकता है।

इन दोषो के होते हुये भी, निगमन प्रणाली कुछ आर्थिक समस्याओं के अध्ययन के लिए उपयुक्त है। यदि इस रीति का प्रयोग सावधानी पूर्वक किया जाय तो यह बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकती है। *Cairnes* ने इस रीति के सम्बन्ध मे कहा है :

"The method of deduction is incomparable when conducted under proper checks, the most powerful instrument of discovery ever wielded by human intelligence." —*Cairnes*

2. आगमन रीति (Inductive Method)

इसके अन्तर्गत तथ्यों के निरीक्षण, अध्ययन एवं प्रयोग करने के पश्चात् विशिष्ट निष्कर्ष निकाले जाते है और अन्त मे इन विशिष्ट निष्कर्षों की एक रूपता की जाच करके सामान्य सिद्धान्तो या नियमो का प्रतिपादन किया जाता है। इस प्रकार आगमन पद्धति के अनुसार हम विशिष्ट सत्यो से सामान्य सत्य (form the particular to general) की ओर अग्रसर होते हैं। यही कारण है कि इस पद्धति

---

[a] "The mistake of the Classical School did not consist in too frequent use of the abstract method, but having too often mistaken the abstract for reality." —*Gide*

को प्रायोगिक पद्धति (Experimental Method) भी कहा जाता है। उदाहरणार्थ जब हम माँग में वृद्धि के कारणों का अध्ययन करते हैं तब हमें यह ज्ञात होता है कि विभिन्न वस्तुओं का मूल्य कम होने पर पहले की अपेक्षा माग बढ गई है। अत इन विशिष्ट तथ्यों से निकाले गए निष्कर्षों के आधार पर इस सामान्य नियम का प्रतिपादन कर दिया गया है कि वस्तुओं के मूल्यों मे कमी होने पर उनकी माग बढ जाती है।

जिन आर्थिक घटनाओं के सम्बन्ध में प्रयोग सम्भव है वहा प्रायोगिक विधि से अध्ययन करने पर निष्कर्ष निकाले जाते हैं, परन्तु कुछ ऐसी भी घटनायें या आर्थिक तथ्य हैं जिनके सम्बन्ध में केवल ऐतिहासिक एव वास्तविक घटनाओं को ही आधार मानकर विशिष्ट निष्कर्ष निकाले जाते हैं और उनके अनुसार सामान्य नियमों का प्रतिपादन किया जाता है। इस रीति को ऐतिहासिक प्रणाली (Historical Method) कहने का एक कारण यह भी है कि निगमन प्रणाली का खण्डन करने वाले जर्मनी के ऐतिहासिक स्कूल (Historical School) के अनुयायी विद्वानों ने आर्थिक नियमों के निर्माण में इस रीति को अधिक महत्व प्रदान किया था। इन विद्वानों में रोशर, हिल्डीब्रैंड (Hildebrand) तथा फ्रेडरिक लिस्ट के नाम विशेष उल्लेखनीय है। ऐतिहासिक स्कूल के इन विद्वानों द्वारा अपनायी गई इस प्रणाली के समर्थकों में इगलैंड के क्लिफ लेसली (Cliff Leslie) का नाम भी सम्मिलित किया जाता है। परन्तु इस प्रणाली का उपयोग पहले भी किया था। एडम स्मिथ ने कई स्थानों पर इस रीति का अनुकरण किया है और माल्थस का जनसख्या सिद्धान्त इसी विधि पर आधारित है।

आगमन रीति को 'प्रायोगिक रीति' (Experimental Method), 'वास्तविक रीति' (Realistic Method) तथा 'साख्यिकी रीति' (Statistical Method) भी कहते है।

आगमन रीति के गुण (Merits of Inductive Method)

(1) **निकाले गये निष्कर्षों का वास्तविक होना** परीक्षण और प्रयोग के आधार पर आर्थिक घटनाओं और तथ्यों का उनके वास्तविक रूप में अध्ययन करने पर जो निष्कर्ष निकाले जाते है, वे सत्य होते हैं। दैनिक जीवन की व्यावहारिक समस्याओं का हल अनुभव के आधार पर सही रूप में ज्ञात किया जा सकता है। इन विशिष्ट निष्कर्षों को लेकर स्थापित किया सामान्य सत्य भी वास्तविक से भिन्न नहीं होगा।

(2) **निष्कर्षों की जाच सम्भव है** - आगमन प्रणाली का सबसे बडा गुण यह है कि किसी भी निष्कर्ष की सत्यता की जाँच प्रयोगों द्वारा की जा सकती है।

वर्तमान युग मे 'सांख्यिकी' ने इस कार्य को सुगम बना दिया है। तथ्यो का संग्रह कर यथार्थता की जाच कर ली जाती है जिससे किसी भी निष्कर्ष के गलत होने की सम्भावना नही रहती।

(3) **निगमन प्रणाली का पूरक होना :** आगमन प्रणाली की अवलोकन एव प्रायोगिक विधि से निगमन प्रणाली के सामान्य सत्य की वास्तविकता एव यथार्थता की जाच करके उसकी पुष्टि की जा सकती है। इसके अतिरिक्त आगमन प्रणाली द्वारा निगमन प्रणाली के आधारभूत सत्यो मे देश, काल और परिस्थितियो के अनुसार आवश्यक सशोधन करके उनको प्रामाणिक बना सकते हैं तथा उनको उपयोग म ला सकते हैं।

(4) **एक प्रावैगिक विधि** आगमन रीति प्रावैगिक दृष्टिकोण (Dynamic Approach) पर आधारित है। इसका अर्थ यह है कि यह रीति इस मान्यता को मानती है कि आर्थिक परिस्थितिया बदलती रहती हैं। अत आर्थिक नियम बनाते समय इन परिवर्तनशील परिस्थितियो का ध्यान रखना चाहिए। इस प्रकार यह रीति आर्थिक-विषयो के सम्बन्ध मे व्यापक दृष्टिकोण अपनाती है जो अर्थशास्त्र के विकास के लिए अच्छा है।

आगमन रीति के दोष (Demerits of Inductive Method) :

(1) **सरल नहीं है** इस प्रणाली का सबसे बडा दोष यह है कि सर्व-साधारण इस प्रणाली का प्रयोग नही कर सकता। अवलोकन, प्रयोग एव निरीक्षण करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए सम्भव नही है। इसमे श्रम एव समय का अपव्यय भी होता है।

(2) **नियमो के असत्य होने की सम्भावना** इस प्रणाली का दूसरा दोष यह है कि सकलित सूचनाओ तथा आकडो के अपर्याप्त तथा अविश्वसनीय होने पर उनसे निकाले गये निष्कर्ष भी अशुद्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त इसमे व्यक्तिगत पक्षपात का दोष भी है। यदि एकत्र किए गए आकडो अथवा तथ्यो की इच्छानुसार व्याख्या तथा विवेचना की जायें और उनसे मनमाने परिणाम निकाले जायें तो वे वास्तविकता से परे होंगे। इसके द्वारा निकाले गए निष्कर्ष सदैव निष्पक्ष नही होते हैं।

(3) **आर्थिक समस्याओ के अध्ययन में प्रायोगिक विधि की अनुपयोगिता :** कई आर्थिक समस्याए अधिक जटिल होती हैं जिनको प्रभावित करने वाली ऐसी परिस्थितिया होती हैं जो एक दूसरे से इतनी अधिक मिश्रित हैं कि उनका अलग-अलग अध्ययन करना कठिन हो जाता है। इसके अतिरिक्त ये समस्यायें सामाजिक होती हैं जिनका सम्बन्ध मनुष्य से होता है। चूंकि मनुष्य की प्रवृत्तिया परिवर्तनशील तथा सामाजिक वातावरण से प्रभावित होने वाली होती हैं, अतः आर्थिक समस्याओ

एव तथ्यों के प्रयोगो की सम्भावनायें न्यूनतम है। मनुष्य के भौतिक कल्याण सम्बन्धी जटिल आर्थिक समस्याओं के अध्ययन के लिए, जिनके सम्बन्ध मे व्यापक निष्कर्ष निकालना कठिन है, आगमन प्रणाली अनुपयुक्त है। इन समस्याओं का अध्ययन करने के लिए निगमन प्रणाली ही सहायक सिद्ध हो सकती है।

(4) केवल आगमन रीति का प्रयोग अपर्याप्त अर्थशास्त्र का विकास केवल आगमन रीति द्वारा हो सभव नही है। किसी भी विज्ञान का विकास केवल तथ्यो के सग्रह तथा परीक्षण द्वारा ही नही होता है, जैसा कि जेवन्स ने कहा है।

"Though observation and induction must ever be the ground of all certain knowledge of nature, their unaided employment could never have led to the results of modern science" —*Jevons*

वस्तुत विज्ञान के विकास के लिए आगमन के साथ ही साथ निगमन रीति की भी आवश्यकता पडती है।

3 अध्ययन की रीतियो के सम्बन्ध मे विवाद
(Controversy over the Methods of Study)

अर्थशास्त्र मे समय समय पर निगमन तथा आगमन रीतियों का प्रयोग किया गया है। अत यह प्रश्न उठता है कि कौन सी रीति अधिक उपयुक्त है ? इस सम्बन्ध मे अर्थशास्त्रियो मे काफी मतभेद रहा है। प्राचीन या प्रतिष्ठित अग्रज अर्थशास्त्रियो न निगमन या अनुमान प्रणाली को ही अधिक महत्व दिया था, क्योकि (i) उस समय वे आर्थिक तथ्यो के सम्बन्ध मे निश्चितता (certainty) स्थापित करना चाहते थे, उनका मत था कि निश्चितता निगमन प्रणाली द्वारा ही सम्भव है, (ii) उस समय के विद्वानो का यह मत था कि अर्थशास्त्र के अध्ययन का विषय मनुष्य होने के कारण उस पर प्रयोग सम्भव नही है। (iii) उस समय अर्थशास्त्र या साख्यिकी (Statistics) का विकास नही हुआ था जिससे अवलोकन या निरीक्षण की विधि को अपनाना सम्भव नही था, (iv) निगमन प्रणाली के समर्थक अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र तथा तर्कशास्त्र के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध मानते थे। यही कारण है कि वे निगमन प्रणाली के अनुसार निकाले गये निष्कर्षों की त्रुटियो (Fallacies) को दूर करने के लिए तर्कशास्त्र के नियमो को ही उपयोग मे लाने की राय देते थे। परन्तु प्राचीन अग्रेज अर्थशास्त्रियो द्वारा निगमन प्रणाली को अधिक महत्व देने का परिणाम यह हुआ कि अर्थशास्त्र एक अव्यावहारिक एव अवास्तविक विज्ञान माना जाने लगा।

19वी शताब्दी मे जर्मनी के ऐतिहासिक स्कूल के अर्थशास्त्रियो ने अर्थशास्त्र को एक वास्तविक विज्ञान के रूप मे प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की। उन्होने प्राचीन अग्रेजी अर्थशास्त्रियो के इस विचार का खण्डन किया कि निगमन प्रणाली ही

आर्थिक समस्याओ के अध्ययन के लिए सबसे उपयुक्त रीति है। ऐतिहासिक स्कूल के अर्थशास्त्रियो का मत था कि निगमन प्रणाली अर्थशास्त्र को औपचारिक तथा अव्यावहारिक शास्त्र बनाने मे सहायक हुई है। उसका अनुकरण करने पर निकाले गये निष्कर्ष या सत्य वास्तविकता से दूर होते हैं। उनका कथन था कि वास्तविक तथ्यो का अध्ययन करने के लिए आगमन विधि ही सबसे उपयुक्त है, क्योकि आर्थिक क्षेत्र मे *विभिन्न समस्याओ के सम्बन्ध म सामान्य सत्यता या स्वय सिद्धियो को आधार* मानकर निकाले गए निष्कर्ष वास्तविक नही कहे जा सकते। अत जब तक आगमन या अनुभव प्रणाली के द्वारा विशिष्ट तथ्यो का निरीक्षण नही किया जायेगा, तब तक एक सामान्य सत्य की वास्तविकता परखी नही जा सकती। इस प्रकार आगमन या अनुभव प्रणाली द्वारा ज्ञात किए गए निष्कर्षो की सत्यता की जाँच निगमन या अनुमान प्रणाली के सामान्य सत्य से भी करना आवश्यक है जिससे गलत धारणाओ और पक्षपात पूर्ण दृष्टिकोण के कारण होने वाली त्रुटियो को दूर किया जा सके।

दोनो रीतिया आवश्यक तथा एक दूसरे की पूरक :

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र के वैज्ञानिक अध्ययन, उसके नियमो के प्रतिपादन तथा उन नियमो की जाच करने के लिए निगमन तथा आगमन दोनो ही विधियो को साथ साथ अपनाना अधिक उपयोगी होगा, क्योकि अर्थशास्त्र के तथ्यो अथवा उसकी समस्याओ मे विभिन्नता होने के कारण उनको हल करने तथा निष्कर्षों के निकालने मे दोनो की ही आवश्यकता पडती है। ये दोनो प्रणालिया वास्तव मे प्रतिस्पर्द्धी (Rival) प्रणालियां न होकर एक दूसरे की पूरक हैं। इसी आधार पर वैगनर (Wagner) ने कहा है कि 'इन विधियों म से किसको चुना जाय ? इस प्रश्न का वास्तविक हल आगमन तथा निगमन विधियो मे किसी एक का चुनाव करने से नही, वरन् दोनो को अपनाने से ही हो सकता है।'[3] मार्शल ने इस पूरक तत्व का स्पष्ट करते हुए श्मोलर (Schmoller) के उस कथन का उल्लेख किया है जिसमे यह कहा गया कि **"जिस प्रकार चलने के लिए दाहिने और बाये दोनो पैरों की आवश्यकता होती है उसी प्रकार अर्थ विज्ञान के अध्ययन के लिए निगमन तथा आगमन दोनो ही रीतियो की आवश्यकता पडती है।"**

"Induction and deduction are both necessary for scientific thought just as the right and the left foot, both are needed for walking"

—*Schmoller*

3 "The true solution of the contest about method is not to be found in the selection of deduction or induction, but in acceptance of deduction and induction" — *Wagner*

जिस घटना या समस्या के सम्बन्ध मे आवश्यक आकडे उपलब्ध होते है और जिनके निष्कर्ष पर मानव-स्वभाव या प्रकृति का कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नही पडता, (बल्कि उसके सम्बन्ध मे वास्तविक तथ्यो एव घटनाओ को ही विशेष महत्व देने की आवश्यकता पडती है) उसके अध्ययन के लिए आगमन या अनुभव प्रणाली उपयुक्त मानी जाती है। इसमे आकडो के प्रयोग एव निरीक्षण द्वारा विशेष परिस्थितियो के अनुसार निकाले गए निष्कर्ष सत्य और वास्तविकता के अनुरूप होते हैं। उदाहरणार्थ, उत्पादन और राजस्व की समस्याओ के परीक्षण एव प्रयोग द्वारा ही उत्पत्ति ह्रास नियम, जनसख्या सिद्धान्त, नियोजन तथा कर सम्बन्धी नियमो का निर्माण सम्भव हो सका है। परन्तु जहा पर मानव प्रकृति या स्वभाव की ही प्रधानता है और जिसका प्रयोगात्मक अध्ययन किसी भी प्रकार सम्भव नही है, वहा निगमन प्रणाली के अनुसार स्वय-सिद्ध तथ्य को आधार मानकर आगे बढना होगा और विशिष्ट निष्कर्ष ज्ञात करने होगे, जैसे उपयोगिता ह्रास नियम, सीमान्त उपयोगिता नियम उपभोक्ता की बचत आदि।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र के सम्पूर्ण विषय के अध्ययन के लिए कोई एक ही विधि उपयुक्त नही है। दोनो ही विधियो का उपयोग आवश्यक है। यदि निगमन विधि का प्रयोग विशिष्ट निष्कर्षो या सत्यो को ज्ञात करने के लिए किया जाता है तो उसके सामान्य सत्य की परख आगमन विधि के द्वारा करने की आवश्यकता पडती है। यदि आगमन विधि से विशिष्ट निष्कर्ष निकालकर किसी सामान्य सत्य की स्थापना की गयी है, तो ज्ञात निष्कर्षो की सत्यता की परख निगमन विधि की स्वय सिद्धियो से की जाती है। यही कारण है कि प्रोफेसर मार्शल ने दोनो विधियो का साथ-साथ प्रयोग करने को ही अधिक उपयोगी माना है। उनका कहना है कि **"खोज की कोई भी ऐसी रीति नहीं है जिसे हम अर्थशास्त्र की रीति कह सके बल्कि समुचित स्थान पर प्रत्येक रीति का या तो व्यक्तिगत रूप में या अन्य रीतियो के साथ मिलाकर उपयोग करना चाहिए।"**

"There is not anyone method of investigation which can properly be called the method of Economics; but every method must be made serviceable at its proper place, either singly or in combination with others." *Marshall*

आधुनिक अर्थशास्त्री इसी विचारधारा के समर्थक हैं। श्मोलर (Schmoller), केन्स और वैगनर आदि ने भी अर्थशास्त्र के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए इन दोनो विधियो को ही आवश्यक माना है।

प्रश्न व संकेत

1. "अन्वेषण (Investigation) की कोई भी एक ऐसी रीति नहीं है जिसे अर्थशास्त्र के अध्ययन की उचित रीति कहा जा सके, बल्कि प्रत्येक का यथा-स्थान या तो अकेले या मिश्रित रूप मे प्रयोग किया जाना चाहिए।"—मार्शल। व्याख्या कीजिए। (Raj, 1961)

[संकेत—अन्वेषण की दोनो विधियो आगमन व निगमन की कमिया बताते हुए स्पष्ट कीजिए कि दोनो के प्रयोग का उचित क्षेत्र क्या है ?]

2. अर्थशास्त्र के अध्ययन मे निगमन तथा आगमन प्रणालियो के प्रयोग की व्याख्या कीजिए और बताइए कि अर्थशास्त्र के विभिन्न विभागो मे उनकी उपयोगिता मे क्या परिवर्तन होता है ? (Raj B A, 1961, Agra B A., 1953)

[संकेत— दोनो विधियो के प्रयोग बताइए तथा अर्थशास्त्र के विभिन्न विभागो मे उनकी उपादेयता का विवेचन कीजिए।]

3. आर्थिक नियमो को निकालने की रीतिया बताइए। क्या ये रीतिया एक दूसरे की सहायक होती है ? (Raj B. A, 1964)

[संकेत–दोनो विधियो (आगमन व निगमन) का विवेचन कीजिए तथा दोनों की परस्पर अन्तर्निर्भरता बताइए।]

4. आगमन व निगमन विधि की सविस्तार आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

7

अर्थशास्त्र के नियमों की प्रकृति
(Nature of Economic Laws)

"The propositions of Economics are on all fours with the propositions of all other Sciences"

—Robbins

प्रत्येक विज्ञान के कुछ नियम होते है, जिनके आधार पर उस विज्ञान का अध्ययन किया जाता है। ये नियम सामान्यतया कारण-परिणाम के सम्बन्धो को व्यक्त करते हैं (Law is a statement of a causal relationship between two sets of phenomena)। 'नियम सामान्य कथन या सामान्य प्रवृत्ति के प्रतीक होते हैं जो लगभग सत्य तथा निश्चित होते हैं।'[1] 'नियम' शब्द का प्रयोग भी विभिन्न अर्थों मे किया जाता है।

खेलकूद मे नियम बद्ध आचरण आवश्यक है, देश मे शांति बनाये रखने के लिए सरकारी कानून अनिवार्य हैं, सामाजिक व्यवस्था तथा व्यक्तिगत सुख के लिए सामाजिक एव नैतिक आदर्शों को मानना आवश्यक है। प्राकृतिक विज्ञानो मे कुछ नियमो तथा निर्दिष्ट सूत्रो (Formulae) के होने से वैज्ञानिक परिस्थितियो का अध्ययन सरल हो जाता है। नियमो की इसी प्रकार की उपयोगिता के कारण ही अर्थशास्त्र के भी कुछ 'आर्थिक नियम' है। ये आर्थिक नियम आर्थिक घटनाओ एव परिस्थितियो के 'कारण और परिणाम' के आधार पर उनके पारस्परिक एव सापेक्षिक सम्बन्ध का उल्लेख करते हैं।

---

1 "The term 'law' means then, nothing more than the general proposition or statement of tendencies, more or less certain, more or less definite." — *Marshall*

1. नियमों का वर्गीकरण

ज्ञान-सम्बन्धी सिद्धान्तो तथा वैज्ञानिक नियमों के अतिरिक्त 'आदेश मूलक', 'सस्थागत' तथा 'नैतिक' नियम भी होते है। इन नियमो की अपनी अलग विशेषताए होती है।

1. सरकारी कानून या नियम (Statutory Laws) : देश का शासन चलाने तथा नागरिको के कर्त्तव्यो को निर्धारित करने के लिए सरकार द्वारा बनाए गए नियम सरकारी नियम अथवा कानून कहलाते हैं। इन नियमो का क्षेत्र किसी एक देश तक ही सीमित रहता है। सरकार अपनी प्रशासनिक सुविधा के लिए इनमे समय-समय पर परिवर्तन करती रहती है। अत यह कहा जा सकता है कि सरकारी कानून स्थायी नही रहते। देश के किसी भी नागरिक के लिए इन नियमो का पालन न करना अपराध माना जाता है और अपराधी व्यक्ति दण्ड का भागी होता है।

2. सामाजिक अथवा सस्थागत नियम (Social or Institutional Laws) किसी सस्था या समाज-विशेष के द्वारा अपने सदस्यो के पारस्परिक व्यवहारो तथा सस्था या समाज के कार्यों को विधिवत् चलाने के लिए बनाए गए नियम, सामाजिक एव सस्थागत नियम कहलाते हैं। इन नियमो मे भी समाज या सस्था के सदस्यो की इच्छानुसार परिवर्तन किया जाता है। इनका पालन करना अनिवार्य नही है।

3. प्रथामूलक या नैतिक नियम (Moral or Religious Laws) : नैतिक नियम धर्म एव सदाचार पर आधारित होते है। इनका सम्बन्ध मनुष्य के सामाजिक तथा वैयक्तिक आचरण से होता है, क्योकि य मानव जीवन के आदर्शों का प्रतिपादन करते है। इन नियमो का पालन करना अनिवार्य नही है। नैतिक आदर्श, देश, काल और समाज की सीमाओ मे नही बाधे जा सकते। इनकी सत्यता सार्वभौमिक एव सर्वकालीन होती है।

4. वैज्ञानिक नियम (Scientific Laws) : वैज्ञानिक नियम दो घटनाओं और परिस्थितियो के कारण—परिणाम (Cause and Effect) के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या करते हैं। इसका प्रतिपादन परीक्षण एव अवलोकन द्वारा किया जाता है। प्राकृतिक विज्ञानों (Natural Sciences) जैसे भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, जीव विज्ञान आदि से सम्बन्धित नियम सर्वत्र तथा सर्वदा सत्य उतरते हैं। उदाहरणार्थ, गुरुत्वाकर्षण का नियम (Law of Gravitation) इस तथ्य का उल्लेख करता है कि यदि किसी वस्तु को ऊपर उछाला जाय तो वह पृथ्वी पर आ गिरती है। प्रथम घटना किसी वस्तु का ऊपर उछाला जाना है जिसके कारण हो पृथ्वी पर आ गिरती। वस्तु का गिरना एक परिणाम के रूप मे द्वितीय घटना है।

दोनों घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या गुरुत्वाकर्षण नियम द्वारा की जाती है ।

1 आर्थिक नियमों की परिभाषा

आर्थिक नियमों को भी वैज्ञानिक नियमों के वर्ग में रखा गया है । आर्थिक नियम आर्थिक घटनाओं तथा आर्थिक परिस्थितियों के कारण—परिणाम के पारस्परिक एवं सापेक्षिक सम्बन्ध का उल्लेख करने वाले सामान्य कथन होते हैं । मार्शल के अनुसार, "आर्थिक नियम या आर्थिक प्रवृत्तियों के कथन, वे सामाजिक नियम हैं जिनका सम्बन्ध आचरण की उन शाखाओं से है जिनमें सम्बन्धित मनोवृत्तियों की शक्ति की माप मुद्रा-मूल्य द्वारा की जा सकती है ।"

'Econom c Laws or statements of economic tendencies are those social laws relating to branches of conduct in which the strength of the motives chiefly concerned can be measured by a money price" —*Marshall*

मार्शल ने 'आर्थिक-प्रवृत्तियों' पर जोर दिया है । राबिन्स ने 'मानव व्यवहार' की चुनाव प्रवृत्ति का उल्लेख किया है । राबिन्स के अनुसार, "आर्थिक नियम मानव व्यवहार की एकरूपताओं से सम्बन्धित कथन हैं, जिन पर सीमित साधनों द्वारा, असीमित आवश्यकताओं को पूरा करने से सम्बन्धित मानव-व्यवहार निर्भर होता है" ।

"Economic laws are statements of uniformities about human behaviour concerning the disposal of scarce means with alternative uses for the achievement of ends that are unlimited" —*Robbins*

वैज्ञानिक नियमों की भांति आर्थिक नियम भी कारण-परिणाम के सम्बन्धों को प्रकट करते हैं । आर्थिक नियम आर्थिक प्रवृत्तियों की व्याख्या करते हैं । ये नियम यह बतलाते हैं कि परिस्थिति विशेष में, अमुक कारण का क्या परिणाम होगा ? जैसे माग का नियम यह बतलाता है कि अन्य बातों के समान रहने पर किसी वस्तु की कीमत में वृद्धि होने पर, उस वस्तु की माग कम हो जाती है । उपर्युक्त विवरण के आधार पर आर्थिक नियमों की परिभाषाओं से तीन मुख्य लक्षण प्रकट होते हैं । (i) आर्थिक नियम सामाजिक नियम हैं, (ii) वे मानव प्रवृत्तियों पर आधारित हैं, तथा (iii) उनका सम्बन्ध उन्हीं प्रवृत्तियों से है, जिनके उद्देश्यों को मुद्रा द्वारा नापा जा सकता है । (ये लक्षण मार्शल की परिभाषा पर आधारित हैं ।)

2 आर्थिक नियमों की प्रकृति या विशेषताएं
(Nature of Economic Laws)

कुछ विद्वानों ने अर्थशास्त्र के नियमों पर कई आक्षेप लगाये हैं । उनका कथन है कि आर्थिक नियमों की सत्यता जब अन्य बातों के यथावत' रहने पर ही

निर्भर है तब उनमे व्यावहारिकता एव निश्चितता का अभाव है। उनके विचार मे इन्हे काल्पनिक कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। आर्थिक नियमो की निम्नलिखित विशेषताए है :

1 **आर्थिक नियम काल्पनिक हैं (Hypothetical) :** आर्थिक नियम निश्चित परिस्थितियो में ही सत्य होते है। इनकी सत्यता सदैव और सर्वत्र प्रमाणित नही हो पाती। वैज्ञानिक नियमो के समान परीक्षण और अवलोकन द्वारा निश्चित एव सही निष्कर्ष निकालना कठिन है। परिवर्तनशील मानवीय प्रवृत्तियो से सम्बन्धित सिद्धात या प्रनुमान कभी भी निश्चित और पूर्ण नही हो सकते। इनमे **'अन्य बातो के समान रहने'** (Other things being equal) की शर्त लगी होती है। इस शर्त के जुडे रहने के कारण ही सेलिगमैन ने आर्थिक नियमो को काल्पनिक माना है।[2]

परन्तु यदि प्राकृतिक विज्ञान के नियमो की प्रकृति से आर्थिक नियमो की प्रकृति की तुलना की जाये तो यह ज्ञात होता है कि प्राकृतिक विज्ञान के नियमो मे भी अनिश्चितता, अपूर्णता तथा कल्पना का तत्व पाया जाता है।[3] वास्तव म वैज्ञानिक नियम **'यदि अन्य बातें यथावत रहे'** की मान्यता पर ही आधारित है। उदाहरणार्थ, गुरुत्वाकर्षण का नियम (Law of gravitation) पृथ्वी की आकर्षण शक्ति का उल्लेख करता है। यह इस तथ्य की व्याख्या करता है कि किसी वस्तु को ऊपर उछालने पर वह नीचे गिरेगी। परन्तु यदि किसी गुब्बारे मे हाइड्रोजन गैस भर दी जाय तो वह नीचे आने के स्थान पर ऊपर ही उठता जायेगा। पृथ्वी की आकर्षण शक्ति की परिधि या सीमा के बाहर चले जाने पर कोई भी वस्तु पृथ्वी पर नही गिरेगी। इससे यह स्पष्ट है कि वैज्ञानिक नियमो की सत्यता भी कुछ निश्चित परिस्थितियो म ही प्रमाणित की जा सकती है। अतः वैज्ञानिक नियमो को भी काल्पनिक कहा जा सकता है। परन्तु इस दृष्टिकोण से दोनो विज्ञानो—प्राकृतिक तथा अर्थ-शास्त्र—के नियमो मे केवल इतना ही अन्तर है कि वैज्ञानिक नियम उतने काल्पनिक नही होते जितने कि आर्थिक नियम। (अर्थशास्त्र के सभी नियम काल्पनिक नही हैं।)

2. **अर्थशास्त्र के नियमो का कम निश्चित होना** आर्थिक नियम प्राकृतिक विज्ञानो के नियमो की अपेक्षा कम निश्चित होते हैं। प्राकृतिक विज्ञान के नियम

---

2 "Economic Laws are essentially hypothetical' —*Seligman*

3 "They (Economic Laws) are hypothetical only in the same sence as are the laws of physical science, for these laws also contain or imply conditions But there is more difficulty in making the conditions clear, and more danger in any failure to do so in economics than in physics" —*Marshall*

व्यापक एव निश्चित होते है, परन्तु आर्थिक नियम सर्वत्र तथा सदैव ही निश्चित रूप से लागू नही होते । रसायन शास्त्र का यह सिद्धात कि आक्सीजन और हाइड्रोजन को यदि 2 और 1 के अनुपात म मिलाया जाय तो एक निश्चित दबाव और तापमान पर उनका मिश्रण पानी मे परिवर्तित हो जायेगा यह परिणाम सर्वत्र और सभी समयो मे निश्चित रूप से सही निकलेगा । परन्तु अर्थशास्त्र के 'माग के नियम' के सम्बन्ध मे यदि यह कहा जाये कि 'किसी वस्तु के मंहगे होने पर लोग उसे खरीदना बन्द कर देगे तो व्यावहारिक रूप मे यह देखने को मिलेगा कि वास्तविकता यह नही है । वस्तुओ के मूल्यो मे वृद्धि हो जाने पर भी देश प्रेम की भावना मे सस्ती विदेशी वस्तुओ की अपेक्षा लोग देश मे निर्मित महगी वस्तुओ को खरीदते है । इस उदाहरण मे यह स्पष्ट है कि आर्थिक नियमो की क्रियाशीलता मे निश्चितता की कमी है ।

3 आर्थिक नियम पूर्ण (Exact) नहीं हैं : आर्थिक नियम वैज्ञानिक नियमों की तरह पूर्ण और सही (Exact) भी नही हैं । आर्थिक परिस्थितियो एव घटनाओ और मानवीय प्रवृत्तियो मे परिवर्तन होने के कारण उनके अनुमान निश्चित रूप से सही नही उतरते । इनमें गणितात्मक शुद्धता (Mathematical Exactness) का अभाव है । उदाहरणार्थ, रसायन शास्त्र के सिद्धात के अनुसार यदि आक्सीजन और हाइड्रोजन की मात्राएं दुगुनी कर दी जायें तो प्राप्त पानी की मात्रा भी दुगुनी हो जायेगी । परन्तु इसके विपरीत यदि यह कहा जाये कि किसी वस्तु के मूल्य मे दुगुनी वृद्धि हो जाने पर उसकी माग घटकर आधी रह जायेगी, तो यह कथन पूर्णत: सही नही होगा । इन दोनो परिस्थितियो मे एक निश्चित एव पूर्ण गणितात्मक सम्बन्ध स्थापित नही किया जा सकता । आर्थिक नियम केवल किसी एक विशेष कारण के होने वाले परिणाम या प्रभाव के स्वरूप, प्रकृति (Nature of Effect) तथा दिशा का अनुमान ही लगा सकते हैं,[4] जो व्यापक रूप मे पूर्णत सत्य नही होते ।

4. आर्थिक नियम सापेक्षिक हैं (Economic Laws are Relative) आर्थिक नियमो को भी दो वर्गो मे रखा गया है । एक वर्ग ऐसे आर्थिक नियमो का है जिनमे सार्वभौमिक नियम (Universal Laws) आते है । अत: ये नियम सर्वत्र और सदैव एक ही प्रकार से क्रियाशील होते है । उदाहरणार्थ, 'माग और पूर्ति' का नियम सार्वभौमिक नियम है ।

---

4 "They (economic laws) are *qualitative* rather than quantitative, they tell the kind or direction of change that is expected rather than the amount of change." —*Waugh*

द्वितीय वर्ग उन आर्थिक नियमो का है जो सापेक्षिक (Relative) हैं। ये समय तथा स्थान के अनुसार परिवर्तनशील हैं। ये सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक नही होते। बैंकिंग, करेंसी तथा व्यापार से सम्बन्ध रखने वाले सभी आर्थिक नियम इसी वर्ग मे आते है, क्योकि ये विभिन्न स्थानो पर विभिन्न समयो म प्रचलित आर्थिक सगठन तथा व्यापार एव उद्योग की भिन्न-भिन्न पद्धतियो पर आधारित होते है। अत ये समय तथा स्थान के आधार पर सापेक्षित मान जाते हैं। इन नियमो का प्रतिपादन 'अनुभव रीति' (Inductive Method) द्वारा किया जाता है और अधिकाश आर्थिक नियम इसी वर्ग मे आते हैं।

3 आर्थिक नियमो की अपूर्णता के कारण
(Why Economic Laws are Less Exact ?)

जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है आर्थिक नियम प्राकृतिक विज्ञानो की भाँति पूर्णत: निश्चित एव सही नही होते, इसके निम्नलिखित कारण हैं :

1 अर्थशास्त्र में परिवर्तनशील मानवीय प्रवृत्तियो का अध्ययन अर्थशास्त्र के अध्ययन का विषय मनुष्य है और प्राकृतिक विज्ञानो के अध्ययन की सामग्री 'पदार्थ' (Matter) है। मनुष्य एक चेतन प्राणी है, जिसकी भावनाए परिवर्तनशील होती हैं। उसके व्यवहार केवल आर्थिक भावनाओ से ही प्रभावित नही होते वरन् उस पर अनार्थिक भावनाओ जैसे देश प्रेम, स्नेह, दया ममता आदि का भी प्रभाव पड़ता है। वह एक स्वतन्त्र तर्कयुक्त एव बुद्धिशील प्राणी है। अत मानवीय भावनाए और मानवीय प्रवृत्तिया सर्वत्र तथा सर्दव एक सी नही रहती। इसके विपरीत प्राकृतिक विज्ञानो मे अध्ययन किए जाने वाले प्राकृतिक पदार्थ अपरिवर्तनशील, जड, निर्जीव और अचेतन होते हैं। इनका प्रयोग, परीक्षण एव विश्लेषण करना सरल होता है। इन पर समय और स्थान की विभिन्नता का भी कोई प्रभाव नही पडता। अत प्राकृतिक पदार्थों से सम्बन्धित नियम प्रामाणिक एव सत्य उतरते हैं।

विषय-सामग्री मे अन्तर होने के कारण आर्थिक नियमो तथा प्राकृतिक विज्ञानों के नियमो मे भिन्नता होना स्वाभाविक है। आर्थिक नियमो का सम्बन्ध मनुष्य के उन व्यवहारो के आर्थिक पक्ष से है जो समय-समय पर और स्थान-स्थान पर अन्य गैर आर्थिक भावनाओ से भी प्रभावित होते रहते हैं, अत ये नियम पूर्ण एव निश्चित नही होते।

2. आर्थिक नियमो का परीक्षण प्रयोगशालाओ मे सम्भव नहीं है : प्राकृतिक विज्ञानो के नियमो की सत्यता की जाच प्रयोगशालाओ मे प्रयोग तथा परीक्षण करके की जा सकती है। वैज्ञानिक तत्वो मे समान प्रकृति पायी जाती है और इसकी खोज करके एक सार्वभौमिक सत्य का प्रतिपादन किया जा सकता है। परन्तु आर्थिक

नियमो की सत्यता की जाच के लिए मानवीय क्रियाओ पर प्रयोग करना कठिन है और न उनके परीक्षण के लिए कोई प्रयोगशाला ही है। समस्त मानव समाज की आर्थिक क्रियायें प्रयाग की सामग्री है, अत उनकी सत्यता प्रमाणित करना एक कठिन कार्य है। यही कारण है कि आर्थिक नियम पूर्णत प्रामाणिक तथा सत्य नही होते।

3. **अर्थशास्त्र मे मानव प्रवृत्तियो का मापदण्ड प्रामाणिक नहीं है :** अर्थशास्त्र मे मानव-प्रवृत्तियो की माप मुद्रा द्वारा की जाती है। मुद्रा को मापदण्ड के रूप मे प्रयोग करने के कारण ही मनुष्य की आर्थिक प्रवृत्तियो की सही नाप ज्ञात नही की जा सकती। उदाहरणार्थ किसी भी व्यक्ति की आवश्यकता की तीव्रता उसके द्वारा त्याग की जाने वाली मुद्रा की मात्रा से ज्ञात की जाती है। परन्तु त्याग की जाने वाली मुद्रा की मात्रा का अनुमान लगाते समय एक धनी व्यक्ति की तुलना मे एक निधन व्यक्ति के लिए सीमित मुद्रा की उपयोगिता को भी ध्यान मे रखना आवश्यक होगा। इसके अतिरिक्त मुद्रा की क्रय-शक्ति अन्य वस्तुओ के मूल्यो के सदृश 'माग और पूर्ति' के नियम के अनुसार परिवर्तनशील है। अत जब स्वय मापदण्ड की क्रय-शक्ति अनिश्चित हो तो उसके द्वारा आर्थिक प्रवृत्तियो का माप करके निकाले गये निष्कर्ष या अनुमान भी निश्चित, सार्वभौमिक तथा पूर्ण नही हो सकते।

4 **अन्य तत्वो का प्रभाव :** जैसा पहले कहा जा चुका है, अर्थशास्त्र में मानव प्रवृत्तियो का अध्ययन किया जाता है जो परिवर्तनशील होती हैं। साथ ही साथ मानव व्यवहार केवल सामान्य प्रवृत्तियो से ही प्रभावित नही होता है। कुछ मनोवैज्ञानिक तत्व आर्थिक क्रियाओ को बहुत प्रभावित करते हैं। ये तत्व हैं भविष्य के प्रति आशा या निराशा की भावना। आशा व निराशा के विषय मे कोई अनुमान नही लगाया जा सकता है और न उन्हे नापा ही जा सकता है। मन्दी (Depression) के समय अर्थशास्त्री परिस्थितियो को ध्यान मे रखकर सोचता है कि आर्थिक-भविष्य ठीक नही है परन्तु किसी कारणवश यदि व्यापारी वर्ग मे आशा का सचार हो जाता है तो मन्दी समाप्त होने लगती है। अर्थशास्त्र मे ऐसे अनिश्चित तत्वो की जानकारी और माप के लिए कोई मापक नही है अत इन तत्वो की जानकारी के न होने के कारण आर्थिक नियम सत्य नही सिद्ध होते हैं। मूर ने कहा है, "अर्थशास्त्र म कोई ऐसा सुविधाजनक मापक नही है जिससे व्यावसायिक कार्यों के प्रवाह को नापा जा सके क्योकि व्यावसायिक कार्य भय एव हास्यप्रद आशावाद के झोंको से भी प्रभावित होते हैं, जिनके विषय मे भूकम्प की ही भाति भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है।[5]

[5] 'In Economics, there is no convenient yardstick by which to measure the currents in business affairs for these are subject to gusts of fear or perhaps of fantastic optimism as unpredictable as earthquakes' *Moore & others* Modern Economics

वास्तव मे अब तक, आर्थिक घटनाओ को प्रभावित करने वाले सभी तत्व ज्ञात नहीं हो पाए हैं। इन अज्ञात तत्वो की जानकारी के बिना की गई भविष्यवाणियाँ भी गलत सिद्ध हो जाती हैं।

4 क्या अर्थशास्त्र एक निश्चित विज्ञान है ?
(Is Economics an Exact Science ?)

उपर्युक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि अर्थशास्त्र के नियम मानव-व्यवहारो, प्रवृत्तियो तथा अन्य अनिश्चित तत्वो पर आधारित होने के कारण पूर्ण रूप से सत्य सिद्ध नही होते है। आर्थिक नियमो की इस सीमा (Limitation) के कारण क्या अर्थशास्त्र को एक निश्चित विज्ञान कहना चाहिए ? राबिन्स ने अर्थशास्त्र को एक शुद्ध विज्ञान माना है तथा यह विचार प्रकट किया है कि अर्थशास्त्र के नियम, उसी प्रकार सत्य हैं जिस प्रकार विज्ञान के नियम। उन्होने कहा है, 'अर्थशास्त्र के नियम अन्य विज्ञानो के नियमो के पूर्णतया समान हैं।" यदि पूरा तथ्य दिए हुए हो तो, उन पर आधारित परिणाम भी सत्य होते हैं।"

"Economic laws are on all fours with the propositions of all other sciences · If the data they postulate are given, then the consequences they predict necessarily follow" —*Robbins*

आर्थिक नियमों की सत्यता के आधार पर भी अर्थशास्त्र को निश्चित विज्ञान कहा जा सकता है -

1 अधिकाश आर्थिक नियम पूर्ण तथा सत्य हैं सभी आर्थिक नियम एक जैसे नही होते हैं। (i) *Stable Laws* : अर्थशास्त्र मे कुछ नियम ऐसे हैं, जो प्रकृति पर अधिक निर्भर हैं, ऐसे नियम सार्वभौमिक तथा उसी प्रकार सत्य है जिस प्रकार किसी भी विज्ञान के नियम जैसे उत्पादन ह्रास नियम। (ii) Unstable Laws द्वितीय वर्ग मे अर्थशास्त्र के वे नियम आते हैं जो मानव प्रवृत्तियो पर आधारित हैं। ये नियम सापेक्षिक (Relative) हैं तथा समय व स्थान के अनुसार बदलते रहते हैं। वे पूर्ण रूप से सत्य सिद्ध नही होते हैं। क्योंकि वे कुछ शर्तो पर आधारित होते हैं, जैसे 'माग का नियम' (iii) (Laws dependent upon basic human nature) मानव प्रवृत्तियो पर भी आधारित सभी नियम कम सत्य नही होते हैं। मानव-प्रकृति मे भी कुछ मौलिक तत्व होते हैं, जो सभी स्थान व समय मे समान रहते हैं। मानव प्रकृति की इन मौलिक प्रवृत्तियो पर आधारित नियम भी सार्वभौमिक होते हैं, जैसे ग्रेशम का उपभोगिता ह्रास नियम, आवश्यकताओ के बीच चुनाव सम्बन्धीनियम।

आर्थिक नियमों के उपर्युक्त वर्गीकरण के आधार पर यह स्पष्ट है कि प्रथम तथा तृतीय वर्ग के नियम पूर्णतया सत्य होते हैं उसी प्रकार सत्य हैं, जिस प्रकार अन्य विज्ञानों के नियम।

2. सामूहिक व्यवहार के सम्बन्ध मे भविष्यवाणी सभव (Group behaviour is predictable) ऊपर, द्वितीय वर्ग के नियमो के सम्बन्ध मे हम कह चुके हैं कि मानव प्रवृत्तियों पर आधारित होने के कारण ये नियम सार्वभौमिक नही होते हैं। यद्यपि ये नियम प्रत्येक व्यक्ति के सम्बन्ध मे सही नहीं होते हैं परन्तु समूह (Group) पर ये नियम भी सत्य सिद्ध होते हैं। व्यक्तिगत रूप से कोई व्यक्ति किसी नियम के विरुद्ध व्यवहार कर सकता है, परन्तु सामूहिक-व्यवहार, नियम के अनुकूल ही है। आर्थिक नियम सामान्य तथा औसत रूप से अवश्य लागू होते हैं। अत समूह के सदर्भ मे आर्थिक नियमो की सत्यता को चुनौती नही दी जा सकती है । वर्तमान तथ्यों के आधार पर सही भविष्यवाणी करना, वैज्ञानिक नियमो की प्रमुख विशेषता है। अर्थशास्त्र के नियमो पर आधारित, समुदाय के विषय मे की गई भविष्यवाणियां सामान्यतया सही नही होती हैं। अतः द्वितीय वर्ग के आर्थिक नियमों मे भी वैज्ञानिक नियमो के तत्व मौजूद है।

3. वैज्ञानिक नियम भी शर्तों पर आधारित : आर्थिक नियमों की सबसे अधिक आलोचना इस आधार पर की जाती है कि वे सदैव कुछ शर्तों पर आधारित होते हैं अत उन्हे सार्वभौमिक नही कहा जा सकता है। परन्तु अन्य विज्ञानो के नियमों मे भी शर्तें होती हैं। उदाहरण के लिए, गुरुत्वाकर्षण का नियम भी यह मान कर चलता है कि गुरुत्वाकर्षण की शक्ति की कोई विरोधी शक्ति क्रियाशील नही है। इस प्रकार हम, केवल शर्त के आधार पर, आर्थिक नियमों को अनिश्चित नही कह सकते हैं। आर्थिक नियम भी अपनी शर्तों के सदर्भ म ही पूर्ण सत्य सिद्ध होते हैं।[6]

4 केवल भौतिक-शास्त्र व रसायन शास्त्र के नियमों से तुलना अनुचित अर्थशास्त्र के नियमो की तुलना केवल भौतिक शास्त्र तथा रसायन शास्त्र के नियमों से ही करके, उन्हे कम सत्य प्रमाणित करना ठीक नही है। प्राकृतिक विज्ञानो म भी अतरिक्ष विज्ञान (Meteorology) तथा जीवन-विज्ञान (Biology) के नियम भौतिक शास्त्र क नियमों की भाति सत्य नही होते हैं, जैसे अन्तरिक्ष विज्ञान की मौसम सम्बन्धी भविष्यवाणी गलत हो सकती है। इससे केवल सभावना का ही ज्ञान होता है। जब सभावनाओं का विज्ञान (Science of Probabilities) होते हुए भी अन्तरिक्ष विज्ञान को प्राकृतिक विज्ञान की श्रेणी मे रखा जा सकता है तो अर्थशास्त्र को किस तर्क के आधार पर हम विज्ञान की श्रेणी मे नही रखेंगे ?

---

[6] "There is no difference whatsoever between the nature of economic laws and that of the laws of the physical science...and in so for as they follow logically or mathematically from their assumptions, they are both equally exact or accurate also in themselves" *Mehta, Rudra & others, ' Fundamentals of Economics P 16"*

5 **अन्य सामाजिक विज्ञानों की अपेक्षा आर्थिक नियम अधिक सत्य :** अन्य सामाजिक विज्ञानों के नियमों की अपेक्षा अर्थशास्त्र के नियम अधिक पूर्ण, निश्चित और सही होते है । इसका एकमात्र कारण यह है कि अर्थशास्त्र में मनुष्य की क्रियाओं के आर्थिक पहलू का मापदण्ड मुद्रा है, जबकि अन्य सामाजिक शास्त्रों में मानवीय क्रियाओं को मापने के लिए कोई भी मापदण्ड नही है । यही कारण है कि अर्थशास्त्र में प्रतिपादित नियमों को एक निश्चित सामान्य कथन के रूप में कार्य कारण के पारस्परिक सम्बन्ध को व्यक्त करने में सुविधा होती है । मुद्रा सर्वत्र और सदैव प्रयुक्त होती है, अत. मुद्रा के मापदण्ड के आधार पर अनुमानित आर्थिक नियम अन्य सामाजिक विज्ञानों के नियमों की अपेक्षा अधिक पूर्ण एव निश्चित माने जाते हैं । इस सम्बन्ध में मार्शल का यह कथन उल्लेखनीय है : 'जिस प्रकार रसायनशास्त्री की शुद्ध तराजू ने रसायनशास्त्र को अन्य भौतिक विज्ञानों की अपेक्षा अधिक पूर्ण एव शुद्ध बना दिया है उसी प्रकार अर्थशास्त्र की इस (मुद्रा रूपी) तराजू ने, चाहे यह कितनी ही भद्दी और अपूर्ण क्यों न हो, अर्थशास्त्र को सामाजिक विज्ञानों की अन्य किसी भी शाखा की तुलना में अधिक पूर्ण एव निश्चित बनाया है ।"[7]

मार्शल द्वारा आर्थिक नियमों की वास्तविक प्रकृति पर प्रकाश प्रो॰ मार्शल का मत है कि आर्थिक नियमों की वास्तविक प्रकृति ज्ञात करने के लिए, उनकी तुलना प्राकृतिक विज्ञान के सरल तथा निश्चित गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त से न करके, ज्वार-भाटे के नियम से करना चाहिए ।

"The laws of economics are to be compared with the laws of tides rather than with the simple and exact law of gravitation."
—*Marshall*

आर्थिक नियमों की तुलना ज्वार-भाटे के नियम से करने पर उनकी प्रकृति का वास्तविक स्वरूप ज्ञात हो जाता है । इसका कारण यह है कि ज्वार-भाटे का नियम हमें यह ज्ञात कराता है कि चन्द्रमा के आकार में वृद्धि होने से लहरों के चढाव में वृद्धि होती जाती है और पूर्ण चन्द्र के दिन 'सम्भवत' ज्वार सबसे अधिक ऊँचा होगा । परन्तु इस भविष्यवाणी में 'सम्भवत' शब्द जुडे रहने के कारण, यह स्पष्ट है कि यह नियम उन आकस्मिक प्राकृतिक परिवर्तनों जैसे आंधी, तूफान, अत्यधिक वर्षा आदि को दृष्टिगत रखता है जिनके कारण पूर्ण चन्द्र के दिन भी अत्यधिक ज्वार रहने की सम्भावना निश्चित नहीं है । ठीक यही स्थिति आर्थिक नियमों की भी है । जिस प्रकार ज्वार भाटे के सम्बन्ध में की गई भविष्यवाणी सामान्य

[7] "Just as the chemist's fine balance has made chemistry more exact than other physical sciences, so this economist's balance, rough and imperfect it is, has made Economics more exact than any other branch of social sciences."
—*Marshall*

परिस्थितियों तथा अन्य बातों के यथावत् रहने पर ही सही उतरती है और प्रतिकूल परिस्थितियो के होने पर उसके सही होने की सम्भावना नही रहती, उसी प्रकार आर्थिक नियमो के अनुमान सामान्य परिस्थितियो मे ही क्रियाशील होते है । मनुष्य के स्वभाव की स्वतन्त्रता के कारण मानव समाज की आर्थिक घटनाओ और परिस्थितियो मे आकस्मिक परिवर्तन होने की सम्भावनायें रहती है, अत आर्थिक नियम आर्थिक व्यवहारो के सम्बन्ध में केवल अनुमान या सम्भावनाए ही व्यक्त कर सकते हैं। गुरुत्वाकर्षण नियम के सीधे और निश्चित सिद्धान्त की तरह इसमें भी गई भविष्यवाणी सर्वत्र एव सदैव ठीक नही होगी । अत आर्थिक नियमों की क्रियाशीलता के सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ कहना ठीक नही है । इन नियमो मे 'सम्भावना' का तत्व अधिक है और वह भी उस स्थिति मे जबकि 'अन्य परिस्थितिया समान रहें' (Other things remaining the same) । अत मार्शल का यह मत महत्वपूर्ण है कि आर्थिक नियमो की तुलना ज्वार-भाटे के नियम से करना उचित है न कि सीधे और निश्चित गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त से ।

प्रश्न व सकेत

1 आर्थिक नियमों की विशेषताओ की विवेचना कीजिए । क्या ये नियम उसी प्रकार प्राप्त किये जाते हैं जिस प्रकार कि प्राकृतिक विज्ञानो के नियम ?
(Raj , B A. 1963)

(सकेत : आर्थिक नियमो की प्रमुख विशेषताए बताइए तथा आर्थिक व प्राकृतिक विज्ञानो के नियमो को प्राप्त करने के तरीको मे अन्तर बताइए ।)

2. "अर्थशास्त्र एक विज्ञान है परन्तु वह एक अनिश्चित विज्ञान (Inexact Science) है ।" इस कथन की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए ।
(Patna B. A , 1966 A)

(सकेत प्रथम भाग मे अर्थशास्त्र को विज्ञान मानने के पक्ष मे तर्क दीजिए। दूसरे भाग मे आर्थिक नियमो के कम निश्चित होने के कारण बताते हुए निष्कर्ष निकालिए । पृष्ठ 120–23 पर दिया गया वर्णन ध्यान में रखिए ।)

3. "अर्थशास्त्र के नियमो की तुलना गुरुत्वाकर्षण जैसे सरल तथा सही नियम की अपेक्षा ज्वार भाटे के नियमो से करनी चाहिए ।' विवेचना कीजिए ।
(Bihar B A 1966 A)

(सकेत : आर्थिक नियमो का आशय स्पष्ट कीजिए तथा आर्थिक नियमो की विशेषताए बताइए । अन्त मे निष्कर्ष दीजिए ।)

4 आर्थिक नियमो के स्वभाव की व्याख्या कीजिए तथा उन रीतियो को भी बताइए जिनके द्वारा इन नियमो को निकाला जाता है ।

(सकेत : आर्थिक नियमो का अर्थ बताइए तथा विशेषता का विवेचन कीजिए । दूसरे भाग मे आगमन व निगमन रीतियो का विवेचन कीजिए ।)

8

उपयोगिता-विश्लेषण
(Utility Analysis)

"The word 'utility' was defined, for the purposes of economic analysis, as the satisfaction, or pleasure, or benefit derived by a person from the consumption of wealth"

—Edward Nevin

1. सामान्य परिचय
(Introduction)

अर्थशास्त्र में उपयोगिता विश्लेषण का महत्वपूर्ण स्थान है। उपयोगिता का सम्बन्ध उपभोक्ता से होता है। उपभोक्ता का अर्थ किसी भी व्यक्ति, इकाई या समूह से है, जिसके पास आय (बजट) होती है तथा जो वस्तुओं व सेवाओं का उपभोग करता है। उपभोक्ता एक व्यक्ति, व्यक्तियों का समूह, परिवार, फर्म या संस्था हो सकती है। 'उपयोगिता' शब्द का प्रयोग अर्थशास्त्र में बहुत पुराना है। 'उपयोगिता' के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों की धारणाएं भी बदलती रही है। मुख्य रूप से हम उन धारणाओं को तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं :

(1) **उपयोगिता सम्बन्धी पुराने विचार** सर्वप्रथम 'उपयोगिता का विचार' (utility concept) पर प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने प्रकाश डाला। उन्होंने उपयोगिता को मनोविज्ञान से सम्बन्धित कर, आनन्द तथा कष्ट (Pleasure and pain) के सन्दर्भ में इसकी व्याख्या की। पुराने प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने उपयोगिता को समझने की कोशिश की परन्तु वे किसी निर्णय पर नहीं पहुंच पाए। उन्होंने देखा कि बहुत सी वस्तुओं की कीमतें, उन वस्तुओं के उपयोग (usefulness) या लाभदायकता के अनुसार है, परन्तु साथ ही साथ उन्होंने यह भी देखा कि कुछ वस्तुएं ऐसी हैं जो बहुत उपयोगी नहीं हैं, परन्तु उनकी कीमत बहुत ऊंची है, जैसे पानी, मनुष्य के लिए अति आवश्यक तथा उपयोगी है, परन्तु उसकी कीमत सामान्यतया

कुछ नही है । इसके विपरीत 'हीरा' मनुष्य के लिए पानी की तुलना मे बहुत ही कम उपयोगी है, परन्तु इसकी कीमत बहुत अधिक है । इस प्रकार के विरोधाभासों के कारण, उन्होने कीमत सिद्धान्त की व्याख्या अन्य प्रकार से की तथा कीमत को उपयोगिता से सम्बन्धित नही माना । यदि उन्होने पानी तथा हीरा की 'सीमान्त उपयोगिता' पर ध्यान दिया होता (वे 'सीमान्त उपयोगिता' के विषय मे नही जानते थे) तथा 'चुनाव की समस्या' पर भी विचार करते तो विरोधाभास का उत्तर मिल जाता ।

(2) **आधुनिक विचार :** वस्तुत उपयोगिता के आधुनिक सिद्धान्त का प्रारम्भ सन् 1870–80 मे जेवन्स (W S. Jevons), मेन्गर (Carl Menger), तथा वालरस (Leon Walras) द्वारा हुआ । इन अर्थशास्त्रियो ने उपयोगिता की विस्तारपूर्वक व्याख्या की तथा 'सीमान्त उपयोगिता' का स्पष्टीकरण कर उन्होने पानी तथा हीरे सम्बन्धी विरोधाभास का कारण बतलाया । इन अर्थशास्त्रियो के अतिरिक्त मार्शल, पीगू आदि ने उपयोगिता का विश्लेषण प्रस्तुत किया तथा यह माना कि उपयोगिता की माप की जा सकती है । बीसवी शताब्दी मे उपयोगिता के सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किए गए । सामान्य विचारधारा यह रही कि किसी वस्तु की उपयोगिता को संख्या द्वारा व्यक्त नही किया जा सकता, केवल उनके क्रम के अनुसार महत्व पर प्रकाश डाला जा सकता है । मार्शल आदि द्वारा बतलाए गए, उपयोगिता सम्बन्धी विचार ('Cardinal Approach') के नाम से जाने जाते हैं । उपयोगिता के क्रम सम्बन्धी विचार ('Ordinal Approach') के नाम से जाने जाते है (इस अध्याय मे आगे 'उपयोगिता की माप' शीर्षक के अन्तर्गत इन्हे समझाया गया है) । इन सभी विचारो को, (विशेषत जो बीसवी शताब्दी मे प्रकट किए गए) 'Neoclassical utility concept' के नाम से जाना जाता है ।

3 **वर्तमान विचार** सन् 1930 के पश्चात् हिक्स, अलेन आदि अर्थशास्त्रियो द्वारा उपयोगिता विश्लेषण नए ढग से किया गया । उन्होने उपयोगिता विश्लेषण के लिए उदासीनता वक्रो (Indifference Curves) का प्रयोग किया (जिसके सम्बन्ध मे इस पुस्तक मे एक अलग अध्याय है) तथा 'Ordinal Approach' पर जोर दिया । 'उपयोगिता की माप के सम्बन्ध मे कई अर्थशास्त्रियो ने नए विचार प्रस्तुत किए उनमें हिक्स, अलेन, सैम्युएलसन, मोरगेनस्टर्न तथा न्यूमैन के विचार प्रमुख हैं । (उपयोगिता सम्बन्धी इन आधुनिक विचारो के अध्ययन के लिए, उपभोग का अन्तिम अध्याय देखिए)

इस प्रकार 'उपयोगिता के सम्बन्ध मे सैद्धान्तिक दृष्टि से, अर्थशास्त्र मे विचार बदलते रहे हैं ।

(क) उपयोगिता का अर्थ (Meaning of Utility)

आर्थिक क्षेत्र में किसी वस्तु या सेवा का महत्व केवल दुर्लभता के कारण ही नहीं होता है। बहुत सी वस्तुओं के दुर्लभ होने पर भी उनकी कोई इच्छा नहीं करता। उपभोक्ता किसी वस्तु को इसलिए चाहता है कि उसमें उपयोगिता का तत्व निहित है और वस्तु के उपभोग से उपभोक्ता को आनन्द, सन्तोष या लाभ (pleasure, satisfaction or benefit) प्राप्त होता है। अतः अर्थशास्त्र में 'उपयोगिता' का अर्थ 'आवश्यकता सन्तुष्ट करने की शक्ति' से लिया जाता है। (Utility is want satisfying power) वस्तुतः 'अर्थशास्त्र में कोई भी वस्तु (या सेवा) उपयोगिता का सूचक है, इसका अर्थ केवल इतना है कि कुछ व्यक्ति उसे चाहते हैं। वे उसे क्यों चाहते हैं ? इससे अर्थशास्त्रियों का कोई सम्बन्ध नहीं है।"[1] उपयोगिता की परिभाषा के आधार पर, हम निम्नलिखित विशेषताएं पाते हैं.

(1) **अर्थशास्त्र में उपयोगिता का अर्थ किसी वस्तु में निहित लाभदायकता तथा टिकाऊपन से नहीं है :** आर्थिक दृष्टि से उपयोगिता का अभिप्राय किसी वस्तु या सेवा में निहित किसी आवश्यकता को सन्तुष्ट करने की क्षमता या शक्ति से है। इसके कारण ही किसी वस्तु की माग होती है तथा उपभोक्ता उसे प्राप्त या क्रय करने के लिए इच्छुक व तत्पर होता है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह स्मरण रहे कि अर्थशास्त्र में उपयोगिता का अर्थ 'लाभदायकता' नहीं है। उपयोगिता या सन्तुष्टि उन वस्तुओं में भी प्राप्त होती है, जो लाभदायक नहीं होती। कुछ वस्तुएं ऐसी होती हैं (जैसे अफीम, शराब) जिनका उपभोग सामाजिक दृष्टि से अवांछनीय तथा लाभदायकता' की दृष्टि से हानिकारक माना जाता है। परन्तु इनमें भी कुछ व्यक्तियों की आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने का गुण या शक्ति होने के कारण, वे व्यक्ति इनको क्रय करते हैं। उपयोगिता का नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। (The concept of utility is ethically neutral) इस प्रकार अफीम और शराब में भी आर्थिक दृष्टि से उपयोगिता का गुण निहित है। अतः **एडवर्ड नेविन के अनुसार, "आर्थिक विश्लेषण में उपयोगिता का अर्थ उस सन्तुष्टि या आनन्द या लाभ से है जो किसी व्यक्ति को धन या सम्पत्ति (Wealth) के उपभोग से प्राप्त होता है।'**

(2) *उपयोगिता और सन्तोष (Utility and Satisfaction)* दोनों शब्दों का समान अर्थ नहीं होता उपयोगिता तो केवल किसी वस्तु विशेष के प्रति उप-

1 "In economics the expression 'a commodity conveys utility' means merely that some people want it, why they want it, is not the concern of economists" —*Edward Nevin*
सामान्यतः आर्थिक विश्लेषण में उपयोगिता शब्द के लिए desiredness, satisfyingness, vendibility, ophelimity, usefulness, serviceability आदि अनेक शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

भोक्ता की इच्छा की तीव्रता (intensity or urgency) का संकेत मात्र है। प्राय उपभोक्ता जितनी तृप्ति की आशा (expected satisfaction) रखता है, वह कभी कभी पूर्ण नही भी होती है। उदाहरणस्वरूप, उपभोक्ता किसी आम के रंग को देखकर उसके मीठा होने की आशा रखता है, किंतु वास्तविक उपभोग से पता चलता है कि वह उतना मीठा नही था। अत. तृप्ति किसी वस्तु के उपभोग से मिलने वाले वास्तविक सुख या सतोष का द्योतक है।

(3) उपयोगिता वस्तुगत (Objective) नहीं बल्कि व्यक्तिगत (Subjective) होती है वस्तु. की उपयोगिता का अनुभव या भाव व्यक्ति मे निहित है, वह उस वस्तु मे निहित नही होता जिसके द्वारा व्यक्ति उसका अनुभव करता।[2] किसी वस्तु से व्यक्ति को क्या उपयोगिता मिलगी ? यह उस व्यक्ति की उस वस्तु के लिए इच्छा की तीव्रता, रुचि, आदत आदि पर निभर है। उपयोगिता व्यक्ति से सम्बन्धित है वस्तु से नही।

(4) उपयोगिता सापेक्षिक (Relative) होती है उपयोगिता की धारणा सापेक्षिक है। यह कहना कि कोई वस्तु व्यक्ति के लिए उपयोगी है, इसका अर्थ यह है कि वह वस्तु उस व्यक्ति के लिए महत्वपूर्ण है।

अर्थशास्त्र मे जब भी उपयोगिता की बात करते हैं तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि किसी वस्तु विशेष म अन्य दी हुई वस्तुओ की तुलना मे अधिक उपयोगिता है। उपयोगिता की बात तुलना के ही सदर्भ मे की जा सकती है अत उपयोगिता की धारणा एक सापेक्षिक धारणा है।

---

[2] "Utility is something experienced within a person and is not inherent in the physical commodity with the aid of which he experiences it" —*Edward Nevin*

[3] उपयोगिता के सापेक्षिक तत्व को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। अधिकाश भारतीय लेखको ने 'सापेक्षिक' का दूसरे ढग से अर्थ लगाया है, जो निराधार है। हम यहा पर किर्ज़्नर के विचार उद्दृत कर रहे हैं, जो 'सापेक्षिक' को समझने मे सहायक होगा।

"Utility reveals itself only in acts of choice when two or more goods are being *compared* Thus it is quite meaningless to conceive of the utility of a loaf of bread as it were, in vacuum All we can say is that a loaf of bread may have either more or less utility than a glass of beer a news magazine or twenty cents .. Utility refers to position on a scale of values Without other goods or services, there is no scale of values and hence no utility concept at all". *I. M. Kirzner*, Market Theory and the Price System p 57.

(ख) उपयोगिता की माप (Measurement of Utility)

उपयोगिता अथवा 'आवश्यकता-सतुष्टि की शक्ति' एक व्यक्तिनिष्ट (Subjective) तथा मनोवैज्ञानिक धारणा है। अतः 'उपयोगिता की माप' के सम्बन्ध मे अर्थशास्त्रियो मे मतभेद है। उपयोगिता की माप के सम्बन्ध मे प्रचलित विचारधाराओ को दो वर्गों मे रखा जा सकता है :

(क) गणनावाचक विचारधारा (The Cardinalists) : मार्शल, पीगू आदि अर्थशास्त्री यह मानते हैं कि उपयोगिता को मोटे रूप से नापा जा सकता है। उन्होने मुद्रा को उपयोगिता का मापक माना है। उनके अनुसार कोई व्यक्ति, जब किसी वस्तु को खरीदता है तो उसका भुगतान मुद्रा द्वारा करता है। वह वस्तु की कीमत, उस वस्तु से प्राप्त होने वाली उपयोगिता से अधिक नही चुकाएगा। अत कीमत वस्तु की उपयोगिता की माप है। जैसे एक पुस्तक की कीमत यदि दस रुपया दी जाती है तो उस पुस्तक की उपयोगिता दस रुपए के बराबर है। इस प्रकार मार्शल के अनुसार किसी वस्तु की उपयोगिता को सीधी सख्याओ जैसे 1, 2, 3...आदि द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। 1, 2, 3 आदि सख्याओ को गणित मे Cardinal Numbers कहा जाता है। इन सख्याओ को एक दूसरे से आनुपातिक रूप मे भी प्रकट किया जा सकता है, जैसे दो, एक का दुगुना, तथा तीन एक का तीन गुना है। जब हम वस्तु की उपयोगिता को इस प्रकार की सख्याओ द्वारा व्यक्त करते है तो उसे Cardinal utility कहते है। इस प्रकार जब वस्तुओ की उपयोगिता का सख्याओ मे व्यक्त किया जाता है, तब इसका अर्थ यह है कि विभिन्न वस्तुओ की उपयोगिताओ की तुलना की जा सकती है। जैसे हम कह सकते हैं कि पुस्तक की उपयोगिता 50 तथा कलम की उपयोगिता 25 है। अत. पुस्तक, कलम से दुगुनी उपयोगी है। उपयोगिता सम्बन्धी यह विचार धारा 'Neoclassical-school' की देन है।

(ख) क्रमवाचक विचारधारा (The Ordinalists) उपयोगिता सम्बन्धी उपर्युक्त विचारधारा हमारे सामने कई प्रकार की कठिनाइया लाती है। अत पैरेटो, हिक्स आदि ने कहा है कि उपयोगिता को नापा नही जा सकता है। उसे इस प्रकार मापो मे व्यक्त नही किया जा सकता है। उन्होने यह विचार व्यक्त किया है कि उपयोगिता को न तो विभाजित किया जा सकता है और न इसे जोडा या घटाया जा सकता है।[4] इन अर्थशास्त्रियो के मत मे, वस्तुओ के विभिन्न सयोजनो (Combinations) के आधार पर, उन्हे क्रमानुसार प्रकट किया जा सकता है जैसे हम यह नही कह सकते हैं कि एक कप काफी की उपयोगिता 50 तथा एक गिलास दूध की

4. 'Utility as a magnitude does not possess the property of divisibility. Hence it is wrong to use numbers for utility, for that would suggest that we can add and substract utilities' —*Charles Kennedy*

उपयोगिता 100 है। हम अधिक से अधिक यह कह सकते है कि उपभोक्ता काफी की तुलना मे दूध को अधिक उपयोगी समझ रहा है। दूध तथा काफी से प्राप्त उपयोगिता की तुलना नही की जा सकती है। यह कदापि नही कहा जा सकता है कि दूध की उपयोगिता काफी से दुगुनी है या तीन गुनी। गणित मे, पहला, दूसरा, तीसरा आदि को Ordinal Numbers कहा जाता है। ऐसी सख्याओ से क्रम का बोध होता है, सख्या विशेष का नही। हम यह नही कह सकते है कि 'दूसरा पहले' का दुगना है या तीसरा पहले का तीन गुना है। पहला, दूसरा, तीसरा 10, 20 और 30 भी हो सकते हैं और 1, 100, 100,000 भी हो सकते हैं। इस प्रकार क्रमवाचक विचारधारा उपयोगिता को मापनीय नही मानती है।

क्या वास्तव मे उपयोगिता मापनीय है ? (Is Utility Measurable ?) उपर्युक्त दो विचारधाराए एक दूसरे की विरोधी हैं।

(क) उपयोगिता के परिमाण को मापनीय मानने वाले अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि उपयोगिता को अप्रत्यक्ष रूप से मापा जा सकता है। इसके लिए यह ज्ञात किया जाता है कि किसी वस्तु की इकाई प्राप्त करने के लिए उपभोक्ता किस मात्रा मे धन या द्रव्य त्याग करने के लिए तत्पर है ? जो धन देने के लिए तत्पर रहता है, उतना धन वह दूसरी इकाई के लिए त्याग नही करता। इस प्रकार वह अगली इकाइयो के लिए पहले की अपेक्षा और भी कम रकम देना चाहता है। अत. यह कहा जा सकता है कि विभिन्न इकाइयो से प्राप्त होने वाली उपयोगिता की माप उनके लिए दी जाने वाली मौद्रिक इकाइयो द्वारा जा सकती है।

(ख) उपयोगिता मापनीय नहीं है क्रमवादियो (Ordinalists) के विचार मे उपयोगिता को नापा नही जा सकता है। क्योकि (i) उपयोगिता स्वभावत अमापनीय है—सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनो दृष्टियो के साथ ही साथ उपभोक्ता के व्यवहारो के बहुत से पक्षों का अध्ययन, उपयोगिता की माप के बिना भी किया जा सकता है। अत न तो उपयोगिता मापनीय है और न उसे मापने की आवश्यकता है। (ii) उपयोगिता एक मनोवैज्ञानिक तथा व्यक्तिगत विचार है। किसी भी मनोवैज्ञानिक तथा व्यक्तिगत विचार को, सख्याओ या किसी अन्य पैमाने से नापा नही जा सकता है। (iii) विभिन्न व्यक्तियो तथा परिस्थितियो मे कोई वस्तु उपयोगी हो सकती है तथा दूसरी परिस्थिति मे अनुपयोगी। अत ऐसी परिवर्तनशील तत्व की माप नही की जा सकती। (iv) किसी भी वस्तु को मापने के लिए किसी पैमाने की आवश्यकता होती है। उपयोगिता को मापने के लिए कोई निश्चित तथा सर्वमान्य पैमाना नही है। मार्शल ने 'मुद्रा' को उपयोगिता का मापक माना है परन्तु मुद्रा निश्चित तथा विश्वसनीय मापक नही है।

पैरेटो, ऐलेन, हिक्स इत्यादि अर्थशास्त्री उपयोगिता को मापनीय नही मानते हैं, और न वे उपयोगिता की माप को आवश्यक ही मानते हैं। हिक्स ने तटस्थता वक्र या उदासीनता वक्र विश्लेषण (Indifference curves Analysis) की नई विधि निकाली है, जिसमें उपयोगिता को मापने की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

(ग) कुल उपयोगिता तथा सीमांत उपयोगिता (Total Utility and Marginal Utility)

1 कुल उपयोगिता (Total Utility) किसी वस्तु की निश्चित मात्रा के उपभोग से प्राप्त कुल सतुष्टि को कुल उपयोगिता कहते हैं। दूसरे शब्दो में किसी वस्तु की एक निश्चित मात्रा में से प्रत्येक इकाई से जो उपयोगिता मिलती है, उन सबके योग को कुल उपयोगिता कहते हैं। प्रो० स्ट्रिजेनर के शब्दो मे "किसी वस्तु के स्टॉक से उपयोगिता का जो परिमाण प्राप्त होता है, उसे कुल उपयोगिता कहते हैं।" (Total utility refers to the Quantity of (Cardinal) utility afforded by a stock of a commodity")

सन्तुष्टि का योग वस्तु की इकाइयो में वृद्धि होने पर बढ़ता ही जाता है, परन्तु इसके बढ़ने की गति इकाइयो की मात्रा मे वृद्धि के समान तीव्र नहीं होती।[3] इस प्रकार कुल या पूर्ण उपयोगिता मे वृद्धि तो होती है, किन्तु मन्द गति से। इसका कारण यह है कि किसी वस्तु के उपभोग की क्रिया में जैसे जैसे उसकी इकाइयों की मात्रा बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे उसकी प्रत्येक अतिरिक्त इकाई (successive unit) से प्राप्त उपयोगिता क्रमश घटती जाती है।

2 सीमान्त उपयोगिता (Marginal Utility) का अभिप्राय उपयोगिता की उस वृद्धि से है जो उस वस्तु की अतिरिक्त इकाई से प्राप्त होती है। अन्य शब्दो में, सीमान्त उपयोगिता उपभोग का अतिरिक्त इकाई से कुल उपयोगिता में हुयी अतिरिक्त वृद्धि को कहते हैं। इस प्रकार दो क्रमिक सम्पूर्ण उपयोगिताओं का अन्तर ही सीमान्त उपयोगिता है अथवा, कहा जा सकता है कि "सीमान्त उपयोगिता उस दर को प्रकट करती है, जिस दर पर, वस्तु के स्टॉक की मात्रा में परिवर्तन होने पर कुल उपयोगिता मे परिवर्तन होता है

---

3 "The total utility of a thing to any one increases with every increase in his stocks of it, but not, as fast as his stock increases" —*Marshall*

4 Marginal utility is "the extra amount of satisfaction to be obtained from having an additional small increment of a commodity". —*J. L. Hanson*

"Marginal utility refers to the *rate* at which total utility changes as the size of the stock of the commodity changes".

—*I. M. Kirzner*

उपरोक्त दोनो प्रकार की उपयोगिताओ को निम्नलिखित सारणी द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। इस सारणी का निर्माण इस आधार पर किया गया है आवश्यकताओ की यह विशेषता है कि आवश्यकता-विशेष को पूर्ण रूप से सन्तुष्ट करने के लिए उपभोक्ता को किसी वस्तु की कई इकाइयो का उपभोग करना पड़ता है। वह प्रत्येक इकाई की वृद्धि के साथ सन्तुष्ट होता जाता है जिससे प्रत्येक अतिरिक्त इकाई से प्राप्त होने वाली उपयोगिता क्रमश घटती जाती है।

सन्तरों की इकाइयां	प्राप्त उपयोगिता	कुल उपयोगिता	सीमान्त उपयोगिता	
1	12	12	12	धनात्मक सीमान्त उपयोगिता
2	10	22	10	
3	9	31	9	
4	7	38	7	
5	5	43	5	
6	0	43 (अधिकतम)	0	शून्य सी०उ०
7	–4	39 (घटती हुयी)	–4	ऋणात्मक

रेखाचित्रो द्वारा स्पष्टीकरण *पूर्ण उपयोगिता तथा सीमान्त उपयोगिता* को रेखाचित्र द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है। उपर्युक्त सारणी मे सन्तरो की इकाइयो से प्राप्त सीमान्त तथा पूर्ण उपयोगिताओ की सख्याओ को अकित करन पर चित्र सख्या 1 मे दो वक्र बनत है जिनसे निम्नलिखित महत्वपूर्ण तथ्यो का स्पष्टीकरण होता है

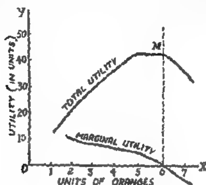
(1) पूर्ण उपयोगिता मे वृद्धि तो होती है, परन्तु घटती हुयी दर से। एक निश्चित बिन्दु (M) पर पहुचने के बाद उसमे भी ह्रास प्रारम्भ हो जाता है।

(2) सीमान्त उपयोगिता क्रमश घटती जाती है तथा शून्य की स्थिति मे पहुचकर नकारात्मक (Negative) हो जाती है।

(3) पूर्ण उपयोगिता M बिन्दु पर अधिकतम होती है जहा सीमान्त उपयोगिता शून्य होती है।

(4) सीमान्त उपयोगिता के नकारात्मक होते ही पूर्ण उपयोगिता कम होने लगती है, अर्थात् जब तक सीमान्त उपयोगिता धनात्मक (Positive) है, पूर्ण उपयोगिता मे वृद्धि होती जाती है। परन्तु जब सीमान्त उपयोगिता नकारात्मक (Negative) हो जाती है, तब पूर्ण उपयोगिता भी क्रमश: घटने लगती है।

(5) उपभोक्ता की सन्तुष्टि की चरमावस्था (Point of Satiety) पर पूर्ण उपयोगिता अधिकतम होती है और वहां सीमान्त उपयोगिता शून्य हो जाती है।

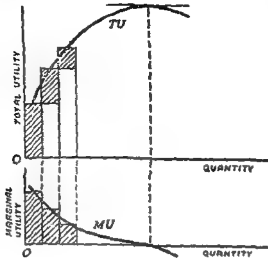


चित्र नं० 1

कुल उपयोगिता तथा सीमान्त उपयोगिता का सम्बन्ध : 'सीमान्त उपयोगिता' तथा 'कुल उपयोगिता' से सम्बन्धित वक्रों को दूसरे ढंग से भी प्रदर्शित किया जा सकता है। मान लीजिए एक उपभोक्ता के पास किसी वस्तु की तीन इकाइयां हैं। वह सोचता है कि वह एक या दो या तीनों इकाइयों का उपभोग करे। अतः उसके सामने उपभोग की ये तीन सम्भावनाएं हैं। वस्तु की एक इकाई कुछ उपयोगिता देगी, दो इकाइयां और अधिक उपयोगिता देंगी, तीन इकाइयां उससे भी अधिक उपयोगिता देंगी। जैसे-जैसे वस्तु की अधिक इकाइयों का उपभोग किया जाएगा, कुल उपयोगिता बढ़ती जाएगी। परन्तु साथ ही साथ उपभोक्ता की सन्तुष्टि भी बढ़ती जाएगी, इस प्रकार उत्तरोत्तर इकाइयों से उसे क्रमशः कम उपयोगिता प्राप्त होगी। अर्थात्, कुल उपयोगिता में वृद्धि, घटती हुई दर पर होगी।

चित्र 2 में कुल उपयोगिता तथा सीमान्त उपयोगिता के सम्बन्ध को दिखलाया गया है। चित्र के ऊपरी भाग में बने तीन आयत, बढ़ती हुई कुल उपयोगिता प्रदर्शित कर रहे हैं। तीनों आयतों के बाद भी कुल उपयोगिता वक्र (TU) ऊपर उठता गया है, जो यह बतलाता है कि अधिकाधिक इकाइयों का उपभोग करने से कुल उपयोगिता बढ़ती जाएगी। चित्र के नीचे का भाग केवल कुल उपयोगिता में वृद्धि को प्रदर्शित करता है अर्थात् सीमान्त उपयोगिता को प्रकट करता है। किसी भी मात्रा की सीमान्त उपयोगिता, उस मात्रा की कुल उपयोगिता वक्र की ढाल (slope) कही जा सकती है। किसी भी बिन्दु पर कुल उपयोगिता वक्र की ढाल उस बिन्दु पर अतिरिक्त उपयोगिता को प्रकट करता है तथा सम्बन्धित मात्रा के लिए, सीमान्त उपयोगिता वक्र की ऊंचाई के बराबर होता है।

जब कुल उपयोगिता वक्र उच्चतम बिन्दु पर पहुंच जाता है, तब उसका ढलाव शून्य हो जाता है। जब कुल उपयोगिता अधिकतम होती है, तब सीमान्त



चित्र न० 2

उपयोगिता शून्य होती है। इस चित्र के आधार पर कुल उपयोगिता तथा सीमान्त उपयोगिता के बीच निम्नलिखित सम्बन्ध स्पष्ट रूप से प्रकट होते हैं।

कुल उपयोगिता तथा सीमान्त उपयोगिता में सम्बन्ध

जब कुल उपयोगिता (When Total is)	तब सीमान्त उपयोगिता (Then Marginal is)
1. समान दर से बढ रही है	1. पूर्ववत या समान
2. बढती हुई दर से बढ रही है	2. बढ रही है।
3. घटती हुई दर से बढ रही है	3. घट रही है।
4. अधिकतम है	4 शून्य है।
5. घट रही है	5. ऋणात्मक है।

सीमान्त उपयोगिता सदैव सीमान्त इकाई की होती है। सीमान्त इकाई किसी वस्तु की वह इकाई है जो सबसे कम उत्कट इच्छा (least intense desire) को सन्तुष्ट करती है। इस प्रकार यदि सम्पूर्ण उपयोगिता किसी वस्तु की कुल उपभोग की इकाइयो की उपयोगिताओ का योग है, तो सीमान्त उपयोगिता निम्न विधि से भी ज्ञात की जा सकती है :

$$\text{सीमान्त उपयोगिता} = \frac{\text{कुल उपयोगिता मे वृद्धि}}{\text{उस वस्तु की सख्या मे वृद्धि}}$$

कुछ अर्थशास्त्रियो ने भारित या भारशील सीमान्त उपयोगिता (Weighted marginal utility) शब्द का भी प्रयोग किया है। प्रो० बोल्डिंग (prof.

Boulding) के अनुसार किसी वस्तु से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता में यदि उस वस्तु के मूल्य से भाग दिया जाता है, तो हमें भारयोल सीमान्त उपयोगिता प्राप्त होती है। इसे हम निम्न रूप से प्रकट कर सकते हैं.

$$\text{भारित सीमान्त उपयोगिता} = \frac{\text{'अ' वस्तु की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{'अ' वस्तु का मूल्य}}$$

सीमान्त विचार का महत्व * (Importance of the Concept of Margin) :

(i) अर्थशास्त्र में सीमान्त विचार का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रो० जे० के० मेहता के शब्दों मे, "लगभग समस्त आर्थिक ढाचा सीमान्त उपयोगिता के विचार पर आधारित है" ("almost the entire economic structure is based on *the conception of marginal utility*".) 'सीमान्त' का प्रयोग अर्थशास्त्र के सभी विभागो मे किया गया है। उपभोग के क्षेत्र मे सीमान्त उपयोगिता, उत्पादन के क्षेत्र म सीमान्त लागत, विनिमय के क्षेत्र मे सीमान्त आय तथा सीमान्त लागत, तथा वितरण के क्षेत्र मे सीमान्त उत्पादकता का महत्वपूर्ण स्थान है। इसी प्रकार राजस्व के क्षेत्र मे भी 'सीमान्त' का प्रयोग विभिन्न समस्याओ के सन्दर्भ मे किया जाता है।

उपभोग सम्बन्धी कई सिद्धान्त, जैसे क्रमागत उपयोगिता-ह्रास नियम, सम सीमान्त उपयोगिता नियम, माग का नियम, उपभोक्ता की बचत आदि सीमान्त विचार पर आधारित है।

(ii) सीमान्त उपयोगिता की धारणाओ ने अर्थ के इस विरोधाभास (paradox) को समाप्त करने मे सहायता की है कि "पानी, हीरो (diamonds) से क्यो कम मूल्यवान है ?" पानी की पूर्ण उपयोगिता असीमित है, परन्तु उसकी पूर्ति अधिक होने के कारण उसकी सीमान्त उपयोगिता शून्य के बराबर ही रहती है। इसके विपरीत हीरो की पूर्ण उपयोगिता अपेक्षाकृत कम होगी, परन्तु हीरो की पूर्ति स्वल्प तथा दुर्लभ होने के कारण, इनकी सीमान्त उपयोगिता अधिक होगी। यही कारण है कि दुर्लभ तथा स्वल्प वस्तुओ का मूल्य होता है, जबकि असीमित मात्रा मे उपलब्ध वस्तुओ का कोई बाजार मूल्य नहीं होता। यदि किसी स्थान पर पानी भी दुर्लभ एव स्वल्प वस्तु हो जाय तो उसकी सीमान्त उपयोगिता अधिक होने पर उसका भी बाजार मूल्य होगा।

*सीमान्त के विचार का अर्थशास्त्र मे बडा महत्व है। यहा पर हम संक्षिप्त विवरण दे रहे हैं, जिसका सम्बन्ध 'सीमान्त उपयोगिता' से है। अन्य विभागो मे भी 'सीमान्त' का महत्व है, परन्तु विद्यार्थी जब तक उनका अध्ययन न कर लें, सीमान्त के महत्व को समझना उनके लिए कठिन होगा। अतः हमने इस पुस्तक के अन्त म, सीमान्त के महत्व पर अलग से प्रकाश डाला है। देखिए परिशिष्ट—1

(iii) सीमान्त उपयोगिता तथा मूल्य : प्रत्येक इकाई की सीमान्त उपयोगिता का अनुमान उस वस्तु की प्रत्येक इकाई के लिए दिए जाने वाले मूल्य से लगाया जा सकता है। प्रत्येक उपभोक्ता उस वस्तु की अतिरिक्त इकाइयां उस इकाई तक खरीदता जायेगा, जब तक कि इकाई की सीमान्त उपयोगिता उसके लिए त्याग की जाने वाली रकम के बराबर न हो जाय। जब तक धन की सीमान्त उपयोगिता वस्तु के मूल्य के बराबर रहती है, वस्तु की सीमान्त उपयोगिता मूल्य के मूल्य ही होती है, जैसा कि नीचे दी गयी सारिणी मे स्पष्ट किया गया है :

सन्तरो की सीमान्त उपयोगिता

इकाइया	त्याग करने की तत्परता के आधार पर (पैसो मे)	मूल्य (पैसो मे)	धन की सीमान्त उपयोगिता (पैसो मे)
1	75	25	—
2	62	25	25
3	56	25	25
4	40	25	25
5	25	25	25
6	10	25	25

उपर्युक्त सारणी मे यह स्पष्ट किया गया है कि धन या मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता समान तथा स्थायी रहने पर किसी भी वस्तु के बाजार मे धन या मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता के बराबर ही वस्तु का मूल्य होता है। अत प्रत्येक इकाई का मूल्य धन की सीमात उपयोगिता के बराबर ही है। उपभोक्ता संतरे की पाचवी इकाई पर आकर रुक जायेगा, क्योकि उससे प्राप्त उपयोगिता का मूल्य त्याग किए जाने वाले धन के बराबर है। छठी इकाई की उपयोगिता 10 पैसे के बराबर है जबकि मुद्रा की सीमात उपयोगिता के तुल्य धन अर्थात् प्रचलित मूल्य—25—पैसो का त्याग करना होगा। अत. पाचवी इकाई ही सीमात इकाई है जिससे प्राप्त होने वाली उपयोगिता को ही सीमात उपयोगिता कहा जायेगा।

मुद्रा के मापदण्ड द्वारा उपयोगिता के परिमाण की माप के सम्बन्ध मे कुछ अर्थशास्त्रियो का यह मत है कि ऐसी माप उसी समय सम्भव हो सकती है, जबकि मुद्रा की सीमात उपयोगिता स्थायी या समान रहे यदि इस मापदण्ड की सीमान्त उपयोगिता स्वय परिवर्तनशील है, तो समय तथा व्यक्ति की विभिन्नता के कारण किसी वस्तु को परिवर्तनशील उपयोगिता का मापना कठिन होगा। अतः मुद्रा के मापदण्ड द्वारा उपयोगिता उसी समय मापनीय हो सकती है, जबकि मौद्रिक इकाई की सीमान्त उपयोगिता समान रहे। परन्तु व्यावहारिक जगत मे ऐसा न होने के कारण ही तटस्थता-वक्र (Indifference Curve) विधि के द्वारा उपयोगिता के परिमाण की माप करने मे सुविधा होती है।

2. उपयोगिता ह्रास नियम
(The Law of Diminishing Utility)

उपयोगिता विश्लेषण (Utility analysis) के अन्तर्गत 'उपयोगिता ह्रास नियम' का महत्वपूर्ण स्थान है। यह नियम माग-विश्लेषण का भी आधार है। यद्यपि इस नियम का उल्लेख बेन्थम (Bentham) के आर्थिक सिद्धान्तो मे मिलता है, परन्तु आवश्यकताओ की सन्तुष्टि के सम्बन्ध मे सर्वप्रथम (सन् 1854 ई० मे) इसका उल्लेख जर्मन अर्थशास्त्री एच० एच० गोसेन (H. H. Gossen) ने किया। यही कारण है कि इस नियम को 'गोसेन का प्रथम नियम' (The First Law of Gossen) या सन्तुष्टि का नियम (Law of Satiety) कहा जाता है। मूल्य निर्धारण की व्याख्या मे इसका प्रयोग सबसे पहले विलियम स्टेन्ली जेवन्स (William Stanley Jevons) ने किया।

1. उपयोगिता ह्रास नियम का आधार (Basis of the Law of Diminishing utility) : आवश्यकताओ के लक्षणो से यह स्पष्ट है कि आवश्यकताए अनन्त हैं किन्तु उनमे से किसी एक आवश्यकता को पूर्णतया सन्तुष्ट किया जा सकता है। मार्शल के अनुसार "आवश्यकताओ की असीमित किस्मे है, परन्तु प्रत्येक आवश्यकता विशेष की सीमा (Limit) है। मानव-प्रकृति की इस मौलिक प्रवृत्ति का उल्लेख 'सन्तुष्टि या पूर्ति योग्य आवश्यकताओ के नियम (Law of satiable wants) अथवा ह्रासमान उपयोगिता के नियम के रूप मे किया जा सकता है।" इस आधार के अतिरिक्त यह नियम इस तथ्य पर भी आधारित है कि किसी आवश्यकता की पूर्ति करने की प्रक्रिया मे किसी वस्तु की प्रत्येक अगली इकाई का उपभोग करने पर आवश्यकता की तीव्रता (intensity of wants) मे कमी होती है तथा वस्तु विशेष की उपयोगिता भी कम होने लगती है।

मानव-प्रकृति की ये मानसिक तथा शारीरिक (psychological and physiological) प्रवृत्तिया दैनिक व्यवहारो मे देखने को मिलती हैं। इन प्रवृत्तियो के आधार पर ही इस नियम का निर्माण किया गया है। वस्तुतः किसी वस्तु को रखने तथा उसको प्रयोग करने मे प्रसन्नता का अनुभव होता है।

2 नियम की परिभाषा उपयोगिता ह्रास नियम किसी वस्तु की मात्रा मे घट-बढ तथा सीमान्त उपयोगिता मे कमी तथा वृद्धि के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है। यह ज्ञात होता है कि **"किसी वस्तु की उपयोगिता इसकी मात्रा की विपरीत दिशा में परिवर्तित होती है।"** इसका अर्थ यह है कि किसी वस्तु की मात्रा मे वृद्धि होने पर उसकी प्रत्येक अतिरिक्त इकाई की उपयोगिता घट जाती है, तथा उसकी मात्रा मे कमी होने पर, उसकी उपयोगिता बढ जाती है।

एडवर्ड नेविन के अनुसार, "किसी वस्तु के उपभोग के क्रम मे प्रत्येक वृद्धि के साथ उस वस्तु की अतिरिक्त इकाइयो से प्राप्त होने वाली उपयोगिता क्रमश घटती जाती है।"[1] इस तथ्य को सन् 1854 ई० मे गोसेन ने इन शब्दो मे व्यक्त किया था 'जब कि पूर्ण सन्तुष्टि का बिन्दु नहीं आ जाता तब तक एक ही ओर उसी सन्तुष्टि की मात्राओ मे वृद्धि करने पर क्रमश उसका ह्रास होता जाता है।"[2]

(The amount of one and the same satisfaction declines as we proceed with that satisfaction, until satiety ■ reached)

प्रो० मार्शल ने इस नियम की व्याख्या इन शब्दो मे की है 'अन्य बातो के समान रहने पर, एक व्यक्ति के पास किसी वस्तु की जितनी मात्रा पहले से है उसमे एक दी हुई मात्रा से वृद्धि करने पर जो अतिरिक्त लाभ मिलता है, वह प्रत्येक वृद्धि के साथ घटता जाता है।'[3]

उपयोगिता ह्रास नियमो को 'सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम' (Law of Diminishing Marginal Utility) भी कहा जाता है। प्रो० बोल्डिंग (Prof Boulding) के अनुसार, "जैसे जैसे कोई उपभोक्ता, अन्य वस्तुओ के उपभोग को समान (constant) रखते हुए, किसी एक वस्तु के उपभोग म वृद्धि करता जाता है, वैसे-वैसे परिवर्तनशील वस्तु की सीमान्त उपयोगिता निश्चित रूप से कम होनी चाहिए।"[3]

3 स्पष्टीकरण यह नियम इस अनुभव पर आधारित है कि उपभोग की क्रिया मे जैसे जैसे हमारे पास किसी वस्तु की मात्रा बढती जाती है अन्य बातो के समान रहने पर, उस वस्तु की प्रत्येक अगली इकाई की अतिरिक्त उपयोगिता क्रमश घटती जाती है। धीरे धीरे एक ऐसी स्थिति आती है जहा उपभोक्ता की आवश्यकता पूर्णतया स तुष्ट हो जाती है। इस स्थिति पर पहुँचने पर उपभोग की गयी अतिरिक्त इकाई की उपयोगिता शून्य हो जाती है। यदि इस सीमा के बाद भी उपभोग की क्रिया चलती रहे तो अगली इकाइयो से उसे उपयोगिता के स्थान पर अनुपयोगिता

1 The extra satisfaction derived from the consumption of additional units of any commodity tends to decline as the quantity consumed increases" —Edward Nevin

2 The additional benefit which a person derives from a given increase of a stock of a thing diminishes, other things being equal, with every increase in the stock that he already has' —Marshall

3 "As a consumer increases the consumption of any one commodity, keeping constant the consumption of all other commodities, the marginal utility of the variable commodity must eventually decline." —Boulding

(disutility) मिलेगी, जिसे नकारात्मक उपयोगिता (negative utility) कहा जाता है, जैसा कि नीचे दी गयी तालिका में स्पष्ट किया गया है क्रमश उपभोग की गयी वस्तु की इकाइयों से प्राप्त कुल उपयोगिता घटते हुए क्रम से बढ़ती है तथा *अतिरिक्त इकाई की सीमान्त उपयोगिता क्रमश घटती जाती है।* अत चैपमैन के अनुसार किसी वस्तु की जितनी अधिक मात्रा हमारे पास होती है, उतनी ही कम हम उसकी अतिरिक्त मात्रा चाहते हैं अथवा अतिरिक्त वृद्धि की हम उतनी ही अधिक इच्छा नही रखते।"[4] इस प्रकार वस्तु के स्टाक मे प्रत्येक अतिरिक्त इकाई की वृद्धि से सीमान्त उपयोगिता कम होती जाती है, परन्तु स्टाक मे प्रत्येक इकाई की कमी करने पर सीमान्त उपयोगिता बढ़ती जाती है। स्टाक में परिवर्तन होने से उपयोगिता मे विपरीत क्रम मे परिवर्तन होता है, परन्तु यह आवश्यक नही है कि यह परिवर्तन उसी अनुपात मे हो।

4 **उदाहरण द्वारा नियम की व्याख्या** इस नियम की व्याख्या अधिक स्पष्ट रूप से करने के लिए रोटियों की इकाइयों के उपभोग से प्राप्त उपयोगिता को अधोलिखित तालिका मे दिखलाया गया है

रोटी से प्राप्त उपयोगिता

उपभोग इकाइयां (रोटी)	सीमान्त उपयोगिता (सन्तुष्टि की इकाइयां)		कुल उपयोगिता (सन्तुष्टि की इकाइयां)	
1	20	सीमान्त उपयोगिता घटते हुए क्रम से	20	कुल उपयोगिता में घटते हुए क्रम से वृद्धि
2	14		34	
3	10		44	
4	8		52	
5	6		58	
6	0	शून्य भी उ	58	सन्तुष्टि का अन्तिम बिन्दु
7	−2	अनुपयोगिता	56	

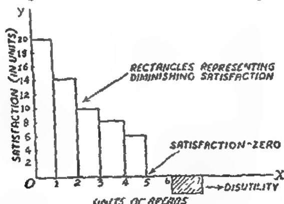
तालिका से स्पष्ट है कि पहली रोटी की उपयोगिता 20, दूसरी की 14, तीसरी की 10, चौथी की 8, पांचवीं की 6, छठी की शून्य तथा सातवीं की −2 इकाइयों के बराबर है। इससे यह ज्ञात होता है कि पहली रोटी उपभोग करने के बाद प्रत्येक अगली इकाई (दूसरी, तीसरी, चौथी, पांचवीं) की इकाई की उपयोगिता घटती जाती है। छठी रोटी का उपभोग करने पर पूर्ण सन्तुष्टि प्राप्त होती है, अत इस रोटी की उपयोगिता शून्य के बराबर है। इसके पश्चात् भी सातवीं रोटी का

[4] "The more we have of a thing the less we want additional increments of it, or the more we want not to have additional increments of it." —*Chapman*

उपभोग करने पर उपयोगिता मिलने के स्थान पर अनुपयोगिता मिलने लगती है, जो ऋणात्मक (–2) है।

इस सम्बन्ध मे यह ध्यान मे रखना चाहिए कि ह्रासमान उपयोगिता नियम सीमान्त उपयोगिता मे घटने (ह्रास) की दर (the rate of decline of marginal utility) का उल्लेख नहीं करता। इस नियम के आधार पर यह नही कहा जा सकता कि सीमान्त उपयोगिता तीव्र या धीमी गति से घट रही है अथवा ह्रास की दर परिवर्तनशील है या समान। इस नियम स केवल इतना ही पता चलता है कि किसी वस्तु की इकाइयो मे वृद्धि होने पर प्रत्येक अतिरिक्त इकाई की उपयोगिता घटती जाती है।

उपर्युक्त तालिका की सहायता से रेखाचित्र बनाकर सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम को स्पष्ट किया जा सकता है। चित्र 3 मे OX अक्ष (axis) पर रोटी की इकाइयो को तथा OY पर उसकी प्रत्येक इकाई से प्राप्त उपयोगिता की इकाइयो को अंकित किया गया है। प्रत्येक इकाई से प्राप्त उपयोगिता को अलग अलग आयतो द्वारा व्यक्त किया गया है। प्रत्येक अतिरिक्त इकाई से प्राप्त उपयोगिता को व्यक्त करने वाले आयत का आकार घटता जाता है, जो यह व्यक्त करता है कि प्रत्येक अतिरिक्त इकाई से प्राप्त सन्तुष्टि क्रमश घटती जाती है। छठी रोटी मे शून्य के बराबर सन्तुष्टि प्राप्त होती है और 7 वी रोटी से सन्तुष्टि प्राप्त होने के

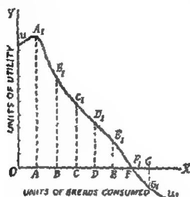


चित्र नं० 3

स्थान पर उसमे नुकसान होने की सम्भावना है जिससे उससे सम्बन्धित आयत OX अक्ष के नीचे दिखलाया गया है।

अब यदि OX अक्ष के प्रत्येक बिन्दु (A, B, C, D, E, F तथा G) पर जो रोटियो की प्रत्येक इकाई को व्यक्त करता है प्राप्त उपयोगिता की इकाइयो के बराबर ऊंची एक खडा रेखा (vertical line) खींच दी जाय तथा उनके ऊपरी

बिन्दुओं को मिला दिया जाय तो उपयोगिता-वक्र चित्र 4 में दिए गए आकार का होगा :



चित्र न० 4

OA इकाई की सीमान्त उपयोगिता AA_1, तथा AB की सीमान्त उपयोगिता BB_1, शीर्ष रेखाओं द्वारा मापी गयी है। इसी प्रकार प्रत्येक इकाई (BC CD, DE, EF, FG) की सीमान्त उपयोगिता को CC_1, DD_1, EE_1, GG_1, द्वारा व्यक्त किया गया है।

सीमान्त उपयोगिता को व्यक्त करने वाली AA_1, BB_1, CC_1 आदि शीर्ष रेखाएं क्रमशः छोटी होती गयी है। A_1, B_1, C_1, आदि बिन्दुओं को मिलाने पर दायीं ओर झुकता हुआ वक्र (UU_1) बनता है जिसे उक्त वस्तु (रोटियों) का उपयोगिता वक्र (utility curve) कहते हैं। यह वक्र OX को कहीं न कहीं अवश्य काटेगा। उपर्युक्त चित्र में UU_1 वक्र OX को F या F_1 बिन्दु पर काटता है, जो यह व्यक्त करता है कि EF इकाई की सीमान्त उपयोगिता शून्य के बराबर है। उपभोक्ता इस बिन्दु पर पूर्ण सन्तुष्टि प्राप्त कर लेता है। यदि वह इसके बाद भी FG अतिरिक्त इकाई का उपयोग करे, तो वक्र OX अक्ष के नीचे की ओर झुकता है, जिससे यह ज्ञात होता है कि उपभोक्ता उपयोगिता प्राप्त करने के बदले अनुपयोगिता अथवा नकारात्मक उपयोगिता प्राप्त करने लगा है।

5. उपयोगिता ह्रास नियम क्यों लागू होता है ? इस सम्बन्ध में प्रो० बोल्डिंग (Prof Boulding) ने दो कारणों का उल्लेख किया है (1) वस्तुएं एक दूसरे की पूर्ण स्थानापन्न (Perfect substitute) न होकर अपूर्ण स्थानापन्न (Imperfect substitutes) होती हैं, अर्थात् विभिन्न उपभोग वस्तुओं के उचित अनुपातों (appropriate proportion) में प्रयोग करने पर ही यह नियम लागू होता है, उदाहरणार्थ, यदि कोई उपभोक्ता सिगरेट तथा चाय का उपभोग करता है तथा

उनकी मात्राओं का एक उचित अनुपात निर्धारित कर लेता है। मान लीजिए ये मात्रायें X तथा Y है। यदि उचित अनुपातों मे इन दोनो वस्तुओं का उपभोग करने के लिए यह सिगरेट की मात्रा स्थिर रखता है और चाय की मात्रा को क्रमश बढाता है तो चाय के प्रत्येक अगले प्याले (इकाई) से उसे घटती हुई उपयोगिता मिलेगी। तथा (2) आवश्यकता विशेष पूर्णतया सन्तुष्ट की जा सकती है, अर्थात् सन्तुष्टि के अन्तिम बिन्दु (point of satiety) पर पहुचकर वस्तु की मात्रा बढने पर भी तृप्ति नही बढती क्योंकि उस बिन्दु पर सीमान्त उपयोगिता शून्य के बराबर होती है।

बोमल (Baumol) के अनुसार इस नियम के लागू होने का कारण यह है कि हम पहला स्थान सबसे अधिक महत्व वाले उपयोग को देते हैं। उन्होंने इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए यह उदाहरण दिया है, "यदि हमारे पास केक' (Cake) का एक ही टुकडा है तो हम उसे अपने बच्चे को खाने के लिए दे देंगे, यदि दो हैं तो द्वितीय टुकडा अपनी पत्नी का देंगे, यह तीसरा टुकडा हो तो उसे अपने लिए रखेंगे और चौथा होने पर उसे अपनी सास को देंगे।[5]" ऐसा ही विचार प्रो० हैरोड (Harrod) ने भी व्यक्त किया है। कुछ दशाओं मे वस्तु से अधिक उपयोगिता मिलती है और कुछ मे कम। उपभोक्ता सबसे अधिक महत्वपूर्ण उपयोग को ही प्राथमिकता प्रदान करता है।

6. नियम की सीमाए तथा मान्यताए (Limitations and Assumptions of the Law) : उपयोगिता ह्रास नियम अन्य बातों के यथावत् या समान रहने पर ही लागू होता है। यह वाक्यांश इस नियम के सम्बन्ध मे कुछ सीमाओं एव मान्यताओं की ओर सकेत करता है जो निम्नलिखित है :

(1) उपभोक्ता की मानसिक स्थिति एक सी रहनी चाहिए : यह नियम उसी समय लागू होगा जबकि उपभोक्ता की मानसिक स्थिति मे किसी प्रकार का परिवर्तन न हो जैसे, यदि कोई उपभोक्ता किसी समय खाना खाने के दौरान मे दो रोटिया खाने के बाद भाग या शराब का प्रयोग करता है, तो उसकी मानसिक स्थिति मे परिवर्तन हो जायेगा। इसके पश्चात्, हो सकता है कि तीसरी रोटी से उसे पहले उपभोग की गयी दो रोटियो की तुलना मे अधिक सन्तुष्टि मिले। इस प्रकार मानसिक स्थिति मे परिवर्तन हो जाने पर यह नियम लागू नही होगा।

(2) वस्तु की प्रत्येक इकाई का परिमाण उचित होना चाहिए : उपभोग्य-वस्तु की प्रत्येक इकाई का परिमाण उचित होना चाहिए (*sizeable unit*), अन्यथा

---

[5] .. ...'because we give priority to more highly valued uses if we have only one cake, we feed it to our child, if we have two we give the second to our wife, a third we keep for ourselves, and a fourth we give to our mother-in-law." —*Baumol.*

प्रारम्भिक अवस्था में ही आवश्यकता की तीव्रता घटने के स्थान पर अधिक हो जायेगी। उदाहरणार्थ, यदि एक प्यासे व्यक्ति को चम्मच से पानी पिलाया जाय, तो कुछ चम्मच पानी की इकाइयों तक उसकी उपयोगिता घटने के स्थान पर बढ़ती जायेगी।

(3) वस्तु की प्रत्येक इकाई का रूप, रंग, गुण समान होना चाहिए : उपभोग वस्तु की प्रत्येक इकाई का रूप, रंग एवं गुण समान होना चाहिए। यदि किसी अगली इकाई का रूप परिवर्तित कर दिया जावे (सूखी रोटी के स्थान पर पूड़ी दे दी जाए), तो अगली इकाई से मिलने वाली उपयोगिता घटने की अपेक्षा बढ़ेगी।

(4) उपभोग के समय में अन्तर नहीं किसी वस्तु के उपभोग का समय निश्चित होना चाहिए तथा उस समय में वस्तु की इकाइयों का उपभोग लगातार किया जाना चाहिए अन्यथा यह नियम लागू नहीं होगा। यदि हम भोजन दो बार करते हैं तो प्रत्येक बार भोजन करने पर सन्तोष मिलेगा। परन्तु यदि दो बार भोजन के मध्य समय का कोई समान अन्तर न हो, तो दूसरी बार के भोजन से उपयोगिता कम प्राप्त होगी।

(5) उपभोक्ता की आदतों, रुचि, फैशन तथा आय में परिवर्तन नहीं होना चाहिए यह नियम उसी समय लागू होता है जब उपभोक्ता की आदतें, रुचियां तथा आय समान रहती हैं। इनमें से किसी में परिवर्तन होने पर वस्तु की उपयोगिता घटने के स्थान पर बढ़ जाती है।

(6) वस्तुओं के मूल्य में परिवर्तन नहीं यदि उपभोग की जाने वाली वस्तु का उपभोग करते समय किसी अगली इकाई का मूल्य बढ़ या घट जाता है तो सीमांत उपयोगिता कम या अधिक होने पर यह नियम लागू नहीं होगा। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति आम का उपभोग करता है तो 50 पैसे एक आम का मूल्य होने पर वह अधिक से अधिक 3 आमों का क्रमशः उपभोग करने के लिए तत्पर होगा। परन्तु यदि 2 आम खाने के बाद प्रति आम मूल्य 25 पैसे हो जाता है, तो वह अब 4 आमों का उपभोग करना चाहेगा।

(7) स्थानापन्न (Substitute) का मूल्य समान रहना चाहिए उपभोग की जाने वाली वस्तु की स्थानापन्न वस्तु का मूल्य भी पहले के समान रहना चाहिए, अन्यथा यह नियम लागू नहीं होगा। चाय और काफी दो स्थानापन्न वस्तुएं हैं। यदि चाय की कीमत बढ़ जाती है, तो काफी की उपयोगिता पहले की अपेक्षा बढ़ जायगी।

(8) सुखमय मानसिक स्थिति का होना पैटेन (Petten) के अनुसार इस नियम की कार्यशीलता सुखमय अर्थ व्यवस्था (Pleasure Economy) में ही सम्भव है, क्योंकि इस प्रकार की अर्थव्यवस्था में उपभोक्ता वस्तुओं का उपभोग करके आनन्द

एव सन्तोष का अनुभव करता है। विशेष रुचि के साथ किसी वस्तु का उपभोग करने पर ही उपयोगिता के क्रमश घटने का नियम लागू होगा। परन्तु दु खमय अर्थव्यवस्था (Pain Economy) मे उपभोक्ताओं की आर्थिक असमर्थता के कारण उन्हे सभी वस्तुओ के उपभोग के अवसर उपलब्ध नही होते। अत उन्हे अत्यन्त कष्ट का अनुभव होना है। जब तक उपभोक्ता दु खमयी मानसिक स्थिति मे रहेगा तब तक उपभोग की अगली इकाइया कम सन्तोष प्रदान करने के स्थान पर अधिक सन्तोष प्रदान कर सकती हैं।

(9) **प्रदर्शन-प्रभाव न पडना** उपभोक्ता पर प्रदर्शन-प्रभाव (*demonstration or Dusenberry Effect*) न पडने पर ही यह नियम लागू होगा। यदि निम्न आय-वर्ग के लोग उच्च-आय के व्यक्तियो का अनुकरण करने लगे तो वे सम्भवत किसी वस्तु को अधिक मात्रा मे रखना प्रारम्भ कर देंगे। उनके द्वारा प्राप्त की गई क्रमिक इकाइया एक निश्चित सीमा तक घटती सीमान्त उपयोगिता प्रदान नही करती है।

7. नियम के तथाकथित अपवाद (Alleged Exceptions) : यह नियम अपनी मान्यताओं के अन्तर्गत सदैव सत्य उतरता है। फिर भी अर्थशास्त्रियों ने इसके निम्नलिखित अपवादो का उल्लेख किया है .

(1) **यदि किसी वस्तु की बहुत थोडी सी मात्रा की इकाई का उपभोग किया जाय, तो यह नियम लागू नहीं होगा।** प्रो० चैपमैन ने चाय बनाने के लिए कोयले के प्रयोग का उदाहरण देते हुए कहा कि यदि कोई व्यक्ति, मान लीजिए 100 ग्राम कोयले का प्रयोग करता है, तो यह इकाई इतनी कम मात्रा में है कि उपभोक्ता को कोयले की दूसरी 100 ग्राम मात्रा की इकाई से अधिक उपयोगिता प्राप्त होगी। परन्तु यह अपवाद ठीक नही है, क्योकि इस नियम की यह मान्यता है कि उपभोग की जाने वाली इकाई की मात्रा उपयुक्त तथा उचित होनी चाहिए।

(2) **दुर्लभ वस्तुओ के सम्बन्ध मे नियम का लागू न होना .** यह नियम दुर्लभ वस्तुओ (rare articles) जैसे डाक-टिकट, दुर्लभ चित्र तथा प्रदर्शन-वस्तुओ, के सम्बन्ध मे लागू नही होता इनकी मात्रा मे प्रत्येक वृद्धि के साथ इनकी सीमान्त उपयोगिता मे कमी नही बल्कि वृद्धि होती है। परन्तु इस सम्बन्ध मे ध्यान रखना चाहिए कि इन वस्तुओं की विभिन्न इकाइयो की उपयोगिता के स्थान पर समूह (*group or set*) की उपयोगिता ज्ञात की जानी चाहिए। वस्तुत' डाक टिकट सग्रह करने वाला व्यक्ति विभिन्न प्रकार के डाक-टिकटो के 'सेट' के सग्रह मे विशेष रुचि रखता है। यदि वह एक ही प्रकार के टिकटो का पूरा 'सेट' लेता है, तो उसी प्रकार के टिकटो के दूसरे सेट की उपयोगिता निश्चय ही कम होगी। यही स्थिति अन्य दुर्लभ तथा बहुमूल्य वस्तुओं की दशाओ मे भी रहती है।

(2) **शराब पीने तथा अच्छी कविता या मधुर संगीत की इच्छा का संतुष्ट न होना :** कुछ अर्थशास्त्रियों का यह विचार है कि शराब पीने की इच्छा तथा अच्छी कविता या मधुर संगीत बार-बार सुनने की इच्छा कभी सन्तुष्ट नहीं होती। परन्तु शराबी की मानसिक स्थिति में परिवर्तन होने पर यह नियम लागू नहीं होता, क्योंकि इस नियम की यह मान्यता है कि उपभोक्ता की मानसिक स्थिति में परिवर्तन नहीं होने पर ही यह नियम सत्य होगा। अत यह अपवाद निराधार है। कविता तथा संगीत के सम्बन्ध में यह कहना गलत है कि उसी कविता या गान को सुनने पर प्रत्येक बार समान संतुष्टि प्राप्त होती है। पहली बार उसे सुन लेने के पश्चात्, दूसरी बार उसके सुनने में उतनी रुचि नहीं होती। अतः यहां पर भी यह नियम लागू होता है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि परिस्थितियों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होना चाहिए, अन्यथा यह नियम लागू नहीं होगा।

(4) **पूरक वस्तुओं के सम्बन्ध में नियम का लागू न होना :** कुछ पूरक वस्तुओं (Complementary goods), जैसे चाय दूध चीनी, मोटर-पेट्रोल आदि, के सम्बन्ध में यह नियम लागू नहीं होता। दूध और चीनी के मिलने पर चाय की उपयोगिता में वृद्धि होती है। परन्तु यहां पर पूरक वस्तुओं को सम्मिलित करके उनकी सामूहिक उपयोगिता को ध्यान में रखना तथा इस नियम की सत्यता की जांच करना ठीक नहीं होगा। प्रत्येक पूरक वस्तु की विभिन्न इकाइयों से क्रमश घटती हुयी उपयोगिता प्राप्त होगी।

(5) **कंजूस की धन की इच्छा का सन्तुष्ट न होना :** एक कंजूस व्यक्ति की धन की इच्छा कभी सन्तुष्ट नहीं होती और धन की प्रत्येक अतिरिक्त इकाई से अधिक सन्तुष्टि प्राप्त होती है। परन्तु अर्थशास्त्र में एक कंजूस व्यक्ति असामान्य व्यक्ति माना जाता है, क्योंकि उसकी मानसिक दशा अन्य सामान्य व्यक्तियों की तरह नहीं होती, अत कंजूस द्वारा धन-संग्रह की इच्छा अर्थशास्त्र के अध्ययन के क्षेत्र के बाहर है। इसे इस नियम का अपवाद मानना ठीक नहीं है। इसी प्रकार शारीरिक शक्ति को प्राप्त करने की इच्छा को अपवाद मानना ठीक नहीं है।

(6) **कुछ वस्तुओं या सेवाओं का प्रयोग बढ़ने पर भी उनकी उपयोगिता नहीं घटती :** कुछ वस्तुएं ऐसी होती हैं जिनकी उपयोगिता कुछ व्यक्तियों के पास उनकी अतिरिक्त इकाइयों के बढ़ने पर अधिक होती है। जैसे टेलीफोन प्रयोग करने वालों की स या बढ़ने पर टेलीफोन-सम्बन्ध (telephonic connections) बढ़ने के साथ-साथ उसकी उपयोगिता बढ़ती जाती है। परन्तु यह अपवाद निराधार है। यहां यदि एक व्यक्ति के पास एक टेलीफोन के बाद अतिरिक्त टेलीफोन की वृद्धि की जाय तो उसकी उपयोगिता निश्चित ही कम होगी।

उपर्युक्त अपवादों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि इस नियम का कोई वास्तविक अपवाद नहीं है। इस सम्बन्ध में प्रो० टॉजिग का यह विचार है कि "इस नियम की गति ऐसी है और यह इतना विस्तृत तथा इतना कम अपवाद वाला है कि इसमें कोई विशेष गलती नहीं होगी, यदि इसे एक विश्वव्यापी नियम मान लिया जाय।"[6]

प्रो० टॉजिग ने कुछ वास्तविक अपवादों (real exceptions) का उल्लेख किया है। उनके अनुसार पहला अपवाद यह है कि यदि किसी धनी समाज में प्रत्येक व्यक्ति के पास दो कारें हों, तो एक कार रखने वाला व्यक्ति दूसरी कार ले लेने पर उस दूसरी इकाई से अधिक सन्तुष्टि पायेगा। परन्तु इस सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि कार की दूसरी इकाई के पश्चात् तीसरी कार लेने पर उसे घटती हुयी उपयोगिता मिलेगी।

उनका दूसरा अपवाद अच्छी कविता सुनने के सम्बन्ध में है। उनके अनुसार एक अच्छी कविता को प्रत्येक बार सुनने पर पहले की अपेक्षा अधिक आनन्द आता है। परन्तु इस स्थिति में भी एक बिन्दु (समय) ऐसा आयेगा जिसके बाद उस कविता को सुनने पर पहले जैसा आनन्द नहीं आयेगा।

8. नियम की आलोचना

(1) यह एक **मनोवैज्ञानिक घटना** है, जो दैनिक अनुभव तथा व्यक्तिगत सवेदनशीलता पर आधारित है। व्यावहारिक नियम को सवेदनशीलता के आधार पर बनाने करने का अर्थ यह है कि नियम अस्पष्ट तथा गलत है।

(2) यह उपयोगिता को **मापनीय** मानता है। यह इस नियम की सबसे बड़ी त्रुटि है, क्योंकि उपयोगिता की प्रत्यक्ष माप सम्भव नहीं है। यह कहा जाता है कि परोक्ष रूप में, दिए जाने वाले मूल्य से उपयोगिता की माप सम्भव हो सकती है, किन्तु यह माप विश्वसनीय नहीं समझी जा सकती।

(3) यह सिद्धान्त उपभोक्ता के **व्यक्तिगत विचारों को विशेष महत्व देता है,** परन्तु व्यक्ति सर्दव तर्क एव बुद्धि से ही कार्य नहीं करता। उसकी रुचि, इच्छा तथा भावनायें किसी न किसी रूप में अन्य बातों से प्रभावित होती रहती है। अर्थशास्त्र का सम्बन्ध भावनाओं से नहीं, वरन् सीमित साधनों के द्वारा यथासम्भव अधिकतम सन्तुष्टि की प्राप्ति से है। अर्थशास्त्र का उद्देश्य इच्छाओं एव भावनाओं का विश्लेषण करना नहीं है।

---

[6] "The tendency operates so widely and with so few exceptions that there is no significant inaccuracy in speaking of it as universal." —*Taussing*

(4) यह नियम व्यष्टि प्रधान है। आधुनिक अर्थशास्त्र समष्टिगत विश्लेषण पर अधिक बल देता है। समष्टिगत अर्थशास्त्र में वैयक्तिक सीमान्त उपयोगिता के विश्लेषण का कोई विशेष स्थान नहीं है।

(5) यह नियम इस मान्यता पर आधारित है कि आवश्यकता विशेष की पूर्ण सन्तुष्टि सम्भव है। परन्तु उपभोग की अवधि लम्बी होने पर मानवीय आवश्यकता की पूर्ण सन्तुष्टि सम्भव नहीं हो सकती। उस अवधि में अन्य आवश्यकताओं के उत्पन्न होने पर उसके सीमित साधन और भी सीमित हो जाते हैं, जिससे आवश्यकता विशेष की सन्तुष्टि भी पूर्णरूप से नहीं हो पाती।

(6) यह नियम मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता के स्थिर रहने पर सत्य उतरता है, परन्तु यह मान्यता उचित नहीं है। अन्य वस्तुओं की तरह मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता भी परिवर्तनशील है। इसके आधार पर ही विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने समाजवाद तथा प्रगतिशील कर व्यवस्था (Progressive Taxation) का समर्थन किया है। धनी व्यक्तियों से इसीलिए कर अधिक लिया जाता है कि उनके लिए मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता कम होती है।

मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता को स्थिर मानकर प्रतिष्ठित (Classical) अर्थशास्त्रियों ने पूँजीवाद तथा स्वतन्त्र अर्थ व्यवस्था (Free economy) को मजबूत बनाने का प्रयत्न किया था। परन्तु उन लोगों ने सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम का उल्लेख नहीं किया था। यदि वे इस नियम को सत्य मानते, तो वे स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था की नींव नहीं रख पाते, क्योंकि स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था तथा सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम परस्पर विरोधी आर्थिक तथ्य है। यही कारण है कि आधुनिक अर्थशास्त्री मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता को स्थिर मानने के लिए तैयार नहीं है। उन्होंने उपभोक्ता की सापेक्षिक पसन्दगी (relative preferences) के आधार पर तटस्थता वक्र (Indifference Curve) द्वारा उपयोगिता का विश्लेषण किया है।

(7) उपयोगिता ह्रास नियम उपभोक्ताओं के उपभोग करने की शारीरिक क्षमता को सीमित मानता है। उसकी यह मान्यता है कि उपभोक्ता प्रारम्भिक इकाई का उपभोग करने के पश्चात् थक जाता है, फलस्वरूप उसकी उपभोग करने की क्षमता में कमी होती है। तत्पश्चात् वस्तु की प्रत्येक अगली इकाइयों के उपभोग से उसकी उपभोग करने की क्षमता में कमी आती जाती है, जिससे क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम लागू होता है। परन्तु सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम यह स्थिति कहीं पर प्रकट नहीं करता।

(8) आलोचना का एक आधार यह है कि इस नियम की यह मान्यता है कि किसी वस्तु की उपयोगिता केवल उसी वस्तु की मात्रा पर निर्भर है। व्यवहार

मे सामान्यतया यह सत्य भी है कि वस्तु की उपयोगिता उसकी मात्रा पर ही निर्भर करती है, किन्तु उस वस्तु की उपयोगिता केवल स्वयं की मात्रा पर ही नही, बल्कि अन्य पूरक तथा स्थानापन्न (complementary and substitutes) वस्तुओ की मात्रा की पूर्ति पर भी, निर्भर है। अत किसी भी वस्तु की उपयोगिता न केवल उस वस्तु की मात्रा, बल्कि अन्य पूरक तथा स्थानापन्न वस्तुओ की मात्रा, का कार्य (function) है। सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम इन सम्बन्धित वस्तुओ के मिश्रित प्रभावो (cross effects) पर ध्यान नही देता।

9. नियम का महत्व (Importance) :

सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम मार्शल के आर्थिक विश्लेषण का केन्द्र बिन्दु है। इसके माध्यम से उपयोगिता को आधार मानते हुए, उन्होंने माग के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इस दृष्टि से इस नियम का, सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनो रूपो मे महत्व है :—

(1) **मूल्य-निर्धारण के लिए महत्वपूर्ण** : यह नियम इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि पूर्ति मे वृद्धि के साथ ही मूल्य मे कमी क्यो आती है ? अतः यह मूल्य-सिद्धान्त के व्यक्तिगत तत्वो (subjective elements) की व्याख्या मे सहायता प्रदान करता है। **माग-वक्र नीचे की ओर दायीं तरफ** (downward sloping to the right) **क्यों झुकती है** ? इसकी व्याख्या इस नियम द्वारा सम्भव हो पाती है। उपभोक्ता की सन्तुलन की अवस्था (consumer's equilibrium) तथा उपभोक्ता की बचत (consumer's surplus) की व्याख्या मे भी इस नियम से सहायता मिलती है। इस दृष्टि से यह नियम मूल्य-सिद्धान्त के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है।

(2) **आधुनिक कर-प्रणाली का आधार** : मौद्रिक अर्थ-व्यवस्था मे इस नियम का महत्व और भी बढ गया है। व्यक्ति की मौद्रिक आय मे वृद्धि के साथ ही मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता उसके लिए घटती जाती है, अर्थात् धनी व्यक्तियो के लिए मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता कम और गरीब व्यक्तियो के लिए अधिक क्यो होती है ? इसका विश्लेषण इस नियम के आधार पर भी किया जा सकता है। इसी तथ्य को ध्यान मे रखते हुए हम इसका महत्व सार्वजनिक वित्त (Public Finance) मे प्रगतिशील कर-प्रणाली के सम्बन्ध मे पाते हैं। प्रगतिशील कर-व्यवस्था के पक्ष मे तर्क के रूप मे यह कहा जाता है कि मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता अधिक आय वालो के लिए कम होती है। इसी दृष्टिकोण से न्यूनतम त्याग का सिद्धान्त (Least aggregate sacrifice) आज इतना महत्वपूर्ण हो गया है।

(3) **वस्तुओ की उपयोगिता तथा विनिमय-सम्बन्धी मूल्यो के अन्तर को स्पष्ट करने मे सहायक है** : यह नियम उपयोगिता सम्बन्धी मूल्य और विनिमय

सम्बन्धी मूल्यों (value-in-use and value-in-exchange) की व्याख्या करने तथा उनमें अन्तर स्पष्ट करने में सहायक है। उपभोग-वस्तुओं, जैसे हवा, सूर्य का प्रकाश आदि, का विनिमय मूल्य इतना कम क्यों है ? इसे यह नियम स्पष्ट करता है क्योंकि बहुलता के कारण इनकी सीमान्त उपयोगिता बहुत कम होती है और फलस्वरूप विनिमय मूल्य नाम मात्र का होता है। ठीक इसके विपरीत सीमित वस्तुएं आर्थिक वस्तुओं की श्रेणी में आती हैं, जिनकी सीमान्त उपयोगिता अपेक्षाकृत अधिक होने के कारण उनका विनिमय-मूल्य अधिक होता है।

(4) यह नियम उपभोग तथा उत्पादन की जटिलता के कारणों पर प्रकाश डालने में सहायक है। आज के युग में उत्पादित वस्तुओं के रूप एवं मात्रा में इतनी विभिन्नता (variety) क्यों बढ़ती जाती है तथा उत्पादन एवं उपभोग इतना जटिल क्यों होता जा रहा है ? इनकी व्याख्या इस नियम की सहायता से सम्भव है। टॉजिग ने भी यही विचार प्रकट किया है

"It is this fact of Diminishing Marginal Utility that explains the growing variety in the articles produced and the growing complexity of production and consumption"

(5) इस नियम पर आधारित अन्य नियमों की सहायता से उपभोक्ता अपने सीमित साधनों का उचित प्रयोग करने में समर्थ 'सम-सीमान्त उपयोगिता नियम' अथवा सर्वाधिक सन्तुष्टि का नियम' अथवा 'प्रतिस्थापन का विचार' इसी नियम पर आधारित है, जिससे उपभोक्ता अपने साधनों का सर्वाधिक लाभप्रद उपयोग करने में समर्थ होता है।

चूंकि यह नियम एक मनोवैज्ञानिक सत्य है, इसलिए इसका क्षेत्र काफी व्यापक है। कैरनक्रॉस ने इसी तथ्य को बड़े ही रुचिपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करते हुए कहा है, 'यह केवल रोटी एवं मक्खन, रेलयात्रा, व्यक्ति के हैट आदि वस्तुओं पर ही लागू नहीं होता, बल्कि अर्थशास्त्रियों के व्याख्यानों, राजनीतिज्ञों के भाषणों तथा जासूसी कहानियों के अनेक संदिग्ध व्यक्तियों के सम्बन्ध में भी समान रूप से सत्य है।"[7]
अतः यह स्पष्ट है कि इस नियम का व्यावहारिक महत्व अधिक है।

3 ह्रासमान सीमान्त प्रतिस्थापकता नियम
(Law of Diminishing Marginal Substitutability)

उपयोगिता ह्रास नियम, जिसे 'ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता नियम' (Law of Diminishing Marginal Utility) भी कहते हैं, की आलोचना से यह स्पष्ट

---

7 "It can be applied not only to things like butter and bread, railway journeys, man's hats, and so on, but also to the lectures of economists, the speeches of politicians and even the number of suspects in detective stories." —Cairncross.

है कि यह नियम दो ऐसी धारणाओं पर आधारित है जो वास्तविक नहीं हैं। इस नियम के सम्बन्ध में मार्शल की यह धारणा है कि (1) मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता स्थायी है (marginal utility of money is constant) तथा जेवन्स की यह धारणा है कि (ii) वस्तु या सेवा की उपयोगिता को संख्या में व्यक्त किया जा सकता है (Utility can be expressed in quantities)। मार्शल तथा जेवन्स की ये धारणाये आधुनिक अर्थशास्त्रियों को मान्य नहीं हैं। अत आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने ह्रासमान सीमांत उपयोगिता नियम के स्थान पर 'ह्रासमान सीमान्त प्रतिस्थापकता नियम' का उल्लेख किया है। इस नियम को बनाने वाले प्रो० हिक्स तथा एलेन (Profs Hicks and Allen) है।

ह्रासमान सीमांत उपयोगिता नियम का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमे एक निश्चित समय मे एक ही वस्तु के उपभोग पर ध्यान दिया जाता है। परन्तु वास्तविक स्थिति यह नहीं है। सत्य तो यह है कि उपभोक्ता एक साथ ही कई वस्तुओं की उपयोगिता पर एक साथ ही ध्यान देता है। चूंकि प्रत्येक उपभोक्ता के पास साधन सीमित होते हैं व उसकी आवश्यकतायें अनन्त तथा कई प्रकार की होती हैं, अत वह पूर्ण सन्तुष्टि के बिन्दु तक किसी एक ही वस्तु के उपभोग की बात नहीं सोचता। वास्तव मे वह उस बिन्दु तक विभिन्न वस्तुओं की तुलनात्मक उपयोगिता पर विचार करता है। अत उपभोक्ता की माग की सही व्याख्या करने के लिए एक ही वस्तु के उपभोग पर विचार न करके उसकी पसन्दगी के क्रम अथवा प्राथमिकता के क्रम (Scale of preferences) पर विचार करना होगा। प्राथमिकता के क्रम पर विचार करने पर ही उपभोक्ता की माग की सही व्याख्या की जा सकती है।

साधनो की कमी के कारण उपभोक्ता के सामने हमेशा यह कठिनाई बनी रहती है कि वह दो वस्तुओ, (मान लीजिए x तथा y) मे से किसको प्राथमिकता दे ? इसका कारण स्पष्ट है। साधनो (धन) की कमी के कारण वह दोनो वस्तुओ को अपनी जरूरत के अनुसार नहीं खरीद सकता। अत उसे एक वस्तु (x) को प्राप्त करने के लिए दूसरी वस्तु (y) का त्याग करना पडेगा। इस प्रकार उपभोक्ता इन दोनो वस्तुओ के तुलनात्मक महत्व को ध्यान मे रखकर एक वस्तु को दूसरी वस्तु से प्रतिस्थापित (*Substitute*) करता जाता है। इसका अर्थ यह है कि x तथा y वस्तुओ मे यदि x वस्तु का अधिक महत्व है तो वह y वस्तु का त्याग करके x वस्तु प्राप्त करेगा। परन्तु इस प्रकार ज्यो-ज्यो एक वस्तु x की अधिक इकाइयो को वह ग्रहण या प्राप्त करता जाता है त्यो त्यो उसका महत्व उसके लिए घटता जाता है तथा दूसरी वस्तु y का, जिसका वह त्याग करता जाता है, महत्व क्रमशः बढता जाता है। अत. यह स्पष्ट है कि प्रारम्भ मे उपभोक्ता किसी वस्तु के लिये किसी अन्य वस्तु या

मुद्रा की जितनी मात्रा का त्याग करता है, बाद मे उतना त्याग नही करना चाहता। इस आधार पर ही यह कहा जाता है, "जैसे जैसे कोई व्यक्ति किसी वस्तु की इकाइयों को प्राप्त करता जाता है, त्यो-त्यो उस वस्तु की किसी दूसरी वस्तु के लिए सीमान्त प्रतिस्थापन दर घटती जाती है।"

(The Marginal Rate of Substitution of one commodity for another decreases as an individual possesses increasing quantities of this commodity)

उदाहरण मान लीजिये एक व्यक्ति के लिए दो वस्तुओ, चाय तथा सिगरेट, के प्राथमिकता क्रम (Scale of preferences) नीचे की तालिका के अनुसार हैं।

तालिका से स्पष्ट है कि सिगरेट के रूप मे चाय की प्रतिस्थापन दर क्रमश घटती जाती है, अर्थात् प्रारम्भ मे उपभोक्ता 1 प्याला चाय के लिए 6 सिगरेटो का और बाद मे दूसरे, तीसरे तथा चौथे प्याले के लिए क्रमश 5, 4 तथा 1 सिगरेट ही

प्राथमिकता-क्रम

क्रम	उचित संयोग या अनुपात		सिगरेट के रूप मे चाय की प्रतिस्थापन दर
	चाय के प्यालो की संख्या	सिगरेटो की संख्या	
प्रारम्भ मे	5	30	1 प्याला चाय के लिए 6 सिगरेटो का त्याग
दूसरी बार	6	25	1 प्याला चाय के लिए 5 सिगरेटो का त्याग
तीसरी बार	7	21	1 प्याला चाय के लिए 4 सिगरेटो का त्याग
चौथी बार	8	20	1 प्याला चाय के लिए 1 सिगरेट का त्याग

देना चाहता है। अत यह स्पष्ट है कि "सीमान्त प्रतिस्थापन दर वह दर है जिस पर कोई उपभोक्ता किसी एक वस्तु की एक बहुत ही छोटी मात्रा को किसी दूसरी वस्तु की एक छोटी मात्रा के लिए, अपनी कुल सन्तुष्टि मे परिवर्तन लाए बिना, विनिमय कर सकता है।"[8] उपर्युक्त उदाहरण मे सिगरेट के रूप म चाय की प्रतिस्थापन दर क्रमश 1 6, 1 5, 1 4 1 1 है जो क्रमश घटती गयी है।

कुछ अर्थशास्त्रियो का यह विचार है कि ह्रासमान सीमान्त प्रतिस्थापकता

[8] "A consumer's Marginal Rate of Substitution is the rate at which a consumer can exchange a very small amount of one commodity for a very small amount of the other without affecting the total utility."

नियम ह्रासमान सीमान्त उत्पादकता नियम का रूपान्तर है। प्रो० हिक्स इस विचार से सहमत नहीं हैं। वास्तविकता भी यही है कि ह्रासमान सीमान्त प्रतिस्थापकता नियम ह्रासमान सीमान्त उत्पादकता नियम का रूपान्तर नहीं हो सकता, क्योंकि

(i) यह नियम उपयोगिता के परिमाणात्मक मापन (Quantitative measurement) पर आधारित नहीं है, बल्कि उसके तुलनात्मक महत्व पर आधारित है।

(ii) इस नियम के अन्तर्गत मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता को स्थिर नहीं माना जाता।

(iii) यह नियम एक वस्तु के अध्ययन तक ही सीमित नहीं है, बल्कि उपभोक्ता की आवश्यकताओं की दूसरी वस्तुओं को भी ध्यान में रखते हुए उनके तुलनात्मक महत्व पर आधारित है।

(iv) यह नियम दो वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताओं के आधार पर उनकी प्रतिस्थापन दर निर्धारित करने में सहायक होता है।

(4) सम–सीमान्त उपयोगिता नियम
(Law of Equi-Marginal Utility)

सम-सीमान्त उपयोगिता नियम उपभोक्ता की अधिकतम सन्तुष्टि से सम्बन्धित है। सर्वप्रथम इस नियम का उल्लेख सन् 1858 ई० में जर्मन अर्थशास्त्री एच० एच० गोसेन (H H. Gossen) ने किया था। इसलिए इस नियम को 'गोसेन का दूसरा नियम' (Second Law of Gossen) भी कहा जाता है। गोसेन के नियम का आधार यह था कि मनुष्य की आवश्यकताएं असीमित हैं, कोई भी व्यक्ति उन सभी आवश्यकताओं को पूरी तरह एक साथ सन्तुष्ट नहीं कर सकता, क्योंकि उसके पास साधन (धन) सीमित हैं। ऐसी स्थिति में उसे अपनी आवश्यकताओं को तीव्रता के आधार पर विभिन्न वस्तुओं के महत्व एवं उपयोगिता की दृष्टि से उनमें चुनाव करना होता है। ऐसे चुनाव में वह कम उपयोगिता की वस्तु के स्थान पर अधिक उपयोगिता की वस्तु प्रतिस्थापित करता जाता है। इस प्रकार आचरण करने पर अन्त में उसको अधिकतम सन्तुष्टि मिल पाती है। गोसेन के अनुसार "यदि सभी आवश्यकताओं को पूर्ण सन्तुष्टि के बिन्दु तक तृप्त करना सम्भव नहीं है, तो अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न आवश्यकताओं को सन्तुष्टि उस बिन्दु पर रोक दी जाय जिस बिन्दु पर उनकी तीव्रता समान हो जाय।"[1] इन तथ्यों के आधार पर ही इस नियम के कई नाम हैं, जैसे

[1] "If it is not possible to gratify all wants to the point of satiety, it is necessary, in order to obtain maximum satisfaction to discontinue the satisfaction of different wants at the want at which their intensity has become equal." —*Gossen*

'अधिकतम सन्तुष्टि नियम' (Law of Maximum Satisfaction), प्रतिस्थापन नियम (Law of Substitution), तटस्थता नियम (Law of Indifference), 'व्यय की मितव्ययता का नियम' (Law of Economy of Expenditure) आदि।

1. नियम की परिभाषा :

प्रत्येक व्यक्ति अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करना चाहता है। परन्तु धन तथा समय सीमित होने के कारण अधिकतम सन्तुष्टि पाने के लिए उसे विभिन्न सन्तुष्टियों का इस प्रकार चुनाव करना होता है कि उपभोग बन्द करते समय, उसे प्रत्येक चुनाव से समान सन्तुष्टि प्राप्त हो सके। मार्शल ने इस नियम को इस प्रकार स्पष्ट किया है, "यदि एक व्यक्ति के पास एक ऐसी वस्तु है, जिसको कई प्रकार से उपयोग में लाया जा सकता है तो वह उसे (वस्तु) विभिन्न उपयोग में इस प्रकार बाटेगा जिससे प्रत्येक उपयोग से समान सीमान्त उपयोगिता प्राप्त हो सके।"[1] प्रो० मेहता ने इस नियम की परिभाषा में निश्चित काल पर विशेष जोर दिया है। उनके अनुसार, "यदि एक निश्चित काल में कोई वस्तु कई आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकती है तो उसको एक निश्चित मात्रा से अधिकतम सन्तोष प्राप्त करने के लिए, उसे कई अलग अलग आवश्यकताओं के बीच इस प्रकार बाटना चाहिए कि उस निश्चित काल में सभी दशाओं में उसकी सीमान्त उपयोगिता लगभग समान हो।" इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि उपभोक्ता अधिकतम सन्तुष्टि उसी समय प्राप्त कर सकता है जबकि वह प्रतिस्थापन द्वारा अलग अलग वस्तुओं से समान सीमान्त उपयोगिता प्राप्त करे।

2. नियम का स्पष्टीकरण

उपयोगिता ह्रास नियम यह बतलाता है कि यदि कोई उपभोक्ता किसी वस्तु की मात्रा लगातार बढ़ाता जाता है, तो प्रत्येक अगली इकाई से प्राप्त उपयोगिता क्रमशः घटती जाती है। अतः यदि वह उस वस्तु की अधिक मात्रा न खरीदकर उसके स्थान पर कोई अन्य वस्तु खरीद ले तो उसे सम्भवतः अधिक उपयोगिता प्राप्त होगी। इस प्रकार वह कम उपयोगिता प्रदान करने वाली वस्तु के स्थान पर अधिक उपयोगिता प्रदान करने वाली वस्तु खरीदता है अर्थात् वह एक वस्तु का प्रतिस्थापन (Substitution) दूसरी वस्तु से करता है। विभिन्न वस्तुओं की क्रमागत इकाइयों से प्राप्त उपयोगिता को ध्यान में रखकर वह अधिकतम उपयोगिता प्रदान करने वाली वस्तुओं को खरीदेगा। इस प्रकार खरीद करने के पश्चात् यदि इस विधि द्वारा उसकी कुल मुद्रा वस्तुओं के खरीदने में व्यय कर दी जाती है तो उपभोक्ता को यह मालूम

[1] "If a person has a thing which he can put to several uses, he will distribute it among these uses in such a way that it has the same marginal utility in all." —Marshall

होगा कि उसे मुद्रा की प्रत्येक अन्तिम इकाई से खरीदी गई प्रत्येक वस्तु से समान सीमान्त उपयोगिता प्राप्त होती है। इस प्रकार व्यय के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि सम सीमान्त उपयोगिता नियम यह बतलाता है कि एक निश्चित आय में से विभिन्न वस्तुओं पर किए गए समस्त व्यय, सीमान्त पर, विभिन्न वस्तुओं की सीमान्त इकाई में समान उपयोगिता प्रदान करते हैं। एक उदाहरण द्वारा इस नियम को और स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए किसी व्यक्ति के पास कुल दस रुपये हैं। वह नारंगी, सेब तथा मिठाई पर अपना रुपये व्यय करना चाहता है। मुद्रा की विभिन्न इकाइयों को इन तीनों वस्तुओं की खरीद पर व्यय करने से मान लीजिए उसे निम्नलिखित उपयोगिताएं प्राप्त हो सकती हैं

नारंगी, सेब तथा मिठाई से प्राप्त उपयोगिता

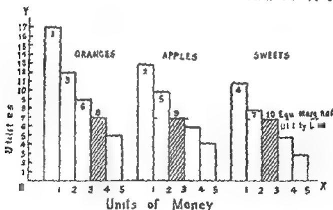
मुद्रा की इकाइयां	नारंगी	सेब	मिठाई
1	17 (1)	13 (2)	11 (4)
2	12 (3)	10 (5)	8 (7)
3	9 (6)	7 (9)	7 (10)
		30	26
4	7 (8)	6	5
	45		
5	5	4	4

सारणी से स्पष्ट है कि यदि वह पहला रुपया व्यय करना चाहता है तो वह पाता है कि उसे नारंगी, सेब तथा मिठाई से क्रमशः 17, 13 और 11 उपयोगिता प्राप्त हो रही है। अतः वह पहला रुपया नारंगी पर व्यय करेगा, क्योंकि नारंगी से उसे अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है। विभिन्न वस्तुओं की उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए वह पहला रुपया नारंगी पर, दूसरा रुपया सेब पर, तीसरा नारंगी पर, चौथा मिठाई पर, पांचवा सेब पर, छठा नारंगी पर, सातवां मिठाई पर, तथा अन्तिम तीन रुपए में से एक रुपया नारंगी पर एक रुपया सेब पर तथा एक रुपया मिठाई पर व्यय करेगा। उपयोगिता की दृष्टि से इस प्रकार वह चार रुपये के संतरे, तीन रुपये के सेब तथा तीन रुपए की मिठाई खरीदेगा, तभी उसे अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त होगी। सारणी से स्पष्ट है कि अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि तीनों वस्तुओं पर व्यय की गयी सीमान्त इकाई से प्राप्त उपयोगिताएं समान हों। नारंगी, सेब तथा मिठाई पर क्रमशः 4 3, व 3 रुपए व्यय करता है। इन तीनों वस्तुओं पर व्यय किए गए रुपया की सीमान्त इकाइयों से (चौथे तीसरे, व तीसरे रुपयों से) उसे प्रत्येक वस्तु से समान उपयोगिताएं प्राप्त हो रही हैं (प्रत्येक दशा में 7)।

उपर्युक्त विधि से व्यय करने पर ही उपभोक्ता को अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त होगी। इन तीनों वस्तुओं की खरीदी हुई कुल इकाइयों से उपभोक्ता को 45+30+26=101 कुल उपयोगिता प्राप्त हो रही है। मान लीजिए, वह नारंगी पर एक रुपया और अधिक (कुल पांच रुपए) व्यय करना चाहता है इसका अर्थ यह होगा कि वह सेब पर एक रुपया कम (कुल दो रुपए) व्यय करेगा। ऐसी स्थिति में उसे कुल उपयोगिता 101 से कम प्राप्त होगी (नारंगी पर पांच रुपया व्यय करने से 50+सेब पर दो रुपया व्यय करने से 23+मिठाई पर तीन रुपए व्यय करने से 26=99 कुल उपयोगिता प्राप्त होगी)। विद्यार्थी अन्य संयोगों (Combinations) द्वारा भी परीक्षण कर देख सकते हैं कि उपभोक्ता को प्रत्येक अन्य दशा में कुल उपयोगिता 101 से कम प्राप्त होगी जैसे उपभोक्ता यदि चार नारंगी, चार सेब तथा दो मिठाइयां खरीदता है तो भी उसे कुल उपयोगिता नारंगी से 45+सेब से 36+मिठाई से 19=100 प्राप्त होगी। इस प्रकार अधिकतम सन्तुष्टि उसी अवस्था में प्राप्त होगी, जबकि खरीदी गई प्रत्येक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता समान हो।

3 रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण

(1) नीचे दिए गए चित्र में आधार रेखाओं OX पर नारंगी, सेब तथा मिठाई पर व्यय की गयी रुपया की इकाइयां तथा खड़ी रेखाओं OY पर उन

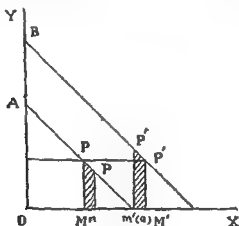


चित्र नं० 5

वस्तुओं की उपयोगिताएं दिखलायी गयी हैं। आधार रेखाओं पर बने आयत (rectangles) रुपये की प्रत्येक इकाई के व्यय से प्राप्त इन वस्तुओं की उपयोगिताओं को व्यक्त करते हैं। गहरे रंग के आयत तीनों वस्तुओं की समान सीमान्त उपयोगिता को प्रदर्शित करते हैं। इन आयतों के ऊपरी भाग को छूती हुयी खींची गयी

रेखा सम सीमान्त उपयोगिता की रेखा (Equi-marginal Utility Line) है, जो आधार रेखा के समानान्तर होती है।

(ii) उपर्युक्त उदाहरण को चित्र स 6 द्वारा भी स्पष्ट किया गया है। दिए गए चित्र मे, OX अक्षर पर वस्तुओं की मात्रा तथा OY पर सीमान्त उपयोगिताए प्रदर्शित की गई हैं। सुविधा की दृष्टि से हम मान लेते हैं कि उपभोक्ता केवल दो वस्तुए — नारंगी तथा सेब खरीद रहा है। उपभोक्ता के पास OM +OM मुद्रा है। A तथा B वक्र क्रमशः नारंगी तथा सेब को प्रकट कर रहे हैं, जो यह बतलाते हैं कि ज्यो-ज्यो नारंगी तथा सेब की अधिक मात्राए खरीदी जाती हैं, उनकी उपयोगिताए क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम के अनुसार घट रही हैं। यदि OM



चित्र न० 6

मुद्रा नारंगी तथा OM' मुद्रा सेब को खरीदने मे व्यय की जाती हैं तो नारंगी तथा सेब स प्राप्त सीमान्त उपयोगिताएं बराबर है (MP=M'P')। नारंगी तथा सेब की कुल उपयोगिताए क्रमश OMPA तथा OM'P'B हैं। सम-सीमान्त उपयोगिता नियम के अनुसार ये उपयोगिताए अधिकतम होनी चाहिए। यदि मुद्रा किसी अन्य विधि से खर्च की जाती है तो कुल उपयोगिताए कम होनी चाहिए। जैसे, मान लीजिए उपभोक्ता नारंगी पर Mm मुद्रा अधिक खर्च करता है तो नारंगी की सीमान्त उपयोगिता MP से घटकर mp हो जाती है। मुद्रा एक निश्चित मात्रा मे है, अत नारंगी पर जितना अधिक व्यय किया जाएगा, सेब पर उतनी ही मात्रा मे कम व्यय किया जाएगा। मान लीजिए, उपभोक्ता सेब पर M'm मुद्रा कम व्यय करता है (या a के बराबर कम व्यय करता है, चित्र मे M'm' की दूरी = a है) जो Mm के बराबर है (चित्र मे Mm=M'm' प्रदर्शित किया गया है)। सेब पर M'm' कम व्यय करने से, सेब की सीमान्त उपयोगिता M'P' से बढकर m'P' हो

जाती है। चित्र से स्पष्ट है कि अब इस नई स्थिति में नारंगी तथा सेब की सीमान्त उपयोगिताएं समान नहीं है। (सेब की सीमान्त उपयोगिता नारंगी से अधिक है, दोनो की सीमान्त उपयोगिताए समान न होने का परिणाम यह हुआ है कि अब मुद्रा के इस नए वितरण से कुल उपयोगिताए कम हो गई हैं।

कुल उपयोगिताओं के घटने का प्रमाण यह है कि मुद्रा की Mm मात्रा नारंगी पर अधिक व्यय की जाती है तो नारंगी की कुल उपयोगिता में MmPP के बराबर वृद्धि होती है, तथा सेब पर M'm' मुद्रा कम व्यय करने से सेब की कुल उपयोगिता में M'PP'm' के बराबर कमी होती है। अत नारंगी पर अधिक व्यय करने से कुल उपयोगिता जिस मात्रा से बढती है, सेब पर कम व्यय करने से उससे अधिक मात्रा में कुल उपयोगिता कम हो जाती है (चित्र से, स्पष्ट है कि M'P P'm' का क्षेत्रफल MmPP से अधिक है)। अत उपभोक्ता व्यय में जिस प्रकार से भी परिवर्तन करे उसे कुल उपयोगिता पहले की अपेक्षा कम प्राप्त होगी। उसे अधिकतम सतुष्टि उसी समय प्राप्त होगी जबकि वह मुद्रा इस प्रकार से व्यय करे कि उसे नारंगी तथा सेब दोनो से समान सीमान्त उपयोगिता प्राप्त हो सके।

4 नियम की मान्यताए (Assumptions of the Law) :

यह नियम इन मान्यताओं पर आधारित है कि (i) उपभोक्ता अधिकतम सतुष्टि प्राप्त करना चाहता है, (ii) उपभोक्ता की आय सीमित होती है तथा वह अपनी आय का उपयोग विभिन्न वस्तुओ और सेवाओ के खरीदने के लिए करता है, (iii) वस्तुओ से प्राप्त उपयोगिता मापी जा सकती है, अर्थात् हम विभिन्न इकाइयो से प्राप्त उपयोगिताओ को सख्या मे व्यक्त कर सकते हैं (iv) वस्तुए छोटी तथा विभाज्य हैं, (v) उपभोक्ता अपनी आय को सोच समझ कर विवेकपूर्ण ढग से व्यय करता है, (vi) आय तथा व्यय की अवधि एक ही है, (vii) मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता समान रहती है, तथा (viii) अन्य बातें — उपभोक्ता की आय, स्वभाव तथा वस्तुओ के मूल्य आदि—पूर्ववत रहती हैं।

नियम की आधुनिक व्याख्या—आनुपातिक सीमान्त उपयोगिता नियम (Law of Proportional Marginal Utility) :

आधुनिक अर्थशास्त्रियो का यह कहना है कि विभिन्न वस्तुओ की सीमान्त उपयोगिता की समानता के आधार पर इस नियम की व्याख्या करना ठीक नहीं है। इस आधार पर नियम की व्याख्या करने मे वस्तुओ के मूल्यो को ध्यान मे नही रखा जाता। किन्तु किसी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता की धारणा स्वय ही उसके मूल्य पर आधारित है, क्योकि उपभोक्ता पहले किसी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता को उसके मूल्य के साथ तुलना करता है, उसके बाद वह यह निश्चित करता है कि

वह उस वस्तु की कितनी मात्रा खरीदेगा। इसके अतिरिक्त अविभाज्य तथा अधिक कीमत वाली वस्तु की सीमान्त उपयोगिता का किसी कम कीमत वाली वस्तु के बराबर करने से जो स्थिति उत्पन्न होगी वह अवास्तविक एवं अव्यावहारिक होगी। साइकिल तथा सन्तरे की सीमान्त उपयोगिताओं को बराबर करने के लिए कई साइकिलें खरीदनी पडेगी। उपभोक्ता केवल सीमान्त उपयोगिता को बराबर करने के विचार से कभी ऐसा नहीं करेगा।

अत यह स्पष्ट है कि उपभोक्ता विभिन्न वस्तुओं से मिलने वाली सीमान्त उपयोगिताओं को समान नहीं बनाना चाहता, बल्कि वह उन वस्तुओं पर किये जाने वाले रुपये की सीमान्त उपयोगिता को समान बनाना चाहता है। इस सम्बन्ध में प्रो० बोल्डिंग ने भारयुक्त सीमांत उपयोगिता (Weighted Marginal Utility) का उल्लेख किया है। उनके अनुसार यदि किसी वस्तु की सीमांत उपयोगिता को उसके मूल्य से भाग दे दिया जाय, तो उस वस्तु की भारयुक्त सीमांत उपयोगिता मालूम होगी। इस प्रकार मालूम की गयी भारयुक्त सीमान्त उपयोगिताएं जहां पर बराबर होगी, वहीं उपभोक्ता को अधिकतम सतोष प्राप्त होगा। प्रो० पी० सी जैन (Prof P C Jain) के अनुसार अधिकतम सन्तोष प्राप्त करने के लिए "एक उपभोक्ता विभिन्न वस्तुओं पर अपना धन इस प्रकार खर्च करेगा कि उन वस्तुओं की सीमांत उपयोगिताएं उनके मूल्यों के अनुपात में हों।"[8] इस आधार पर:

$$\frac{\text{x वस्तु की सी० उ०}}{\text{x वस्तु का मूल्य}} = \frac{\text{y वस्तु की सी० उ०}}{\text{y वस्तु का मूल्य}} = \frac{\text{z वस्तु की सी० उ०}}{\text{x वस्तु का मूल्य}} \text{ आदि}$$

$$\left[\frac{\text{Marginal Utility of Commodity X}}{\text{Price of Commodity X}} = \frac{\text{Marginal Utility of Commodity Y}}{\text{Price of Commodity Y}} = \frac{\text{Marginal Utility of Commodity Z}}{\text{Price of Commodity Z}} \ldots\ldots\right]$$

मूल्यों तथा सीमान्त उपयोगिताओं के समान अनुपात के आधार पर सम-सीमान्त उपयोगिता नियम की व्याख्या करने के कारण ही इसे आनुपातिक सीमांत उपयोगिता नियम या आनुपातिक नियम (Law of Proportional Marginal Utility or Law of Proportionality) कहते हैं। इस नियम के अनुसार सीमांत उपयोगिताओं के बराबर होने पर विचार नहीं किया जाता, बल्कि कई वस्तुओं से मिलने वाली सीमान्त उपयोगिताओं और उनके पारिस्परिक मूल्यों के अनुपात के बराबर

[8] "A consumer will spend money on different commodities in such a way that the marginal utilities of the different commodities are proportional to their prices." —*P. C. Jain*

होने पर विचार किया जाता है। इस आधार पर ही यह कहा जाता है कि यदि उपभोक्ता दो ऐसी वस्तुओं को खरीदना चाहता है जिनमे से एक वस्तु का मूल्य दूसरी वस्तु के मूल्य से दुगुना है, तो अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने के लिए उनकी सीमांत उपयोगिताओं को उनके मूल्यों का समानुपाती होना आवश्यक है। यदि पहली वस्तु का मूल्य दूसरी वस्तु के मूल्य से दुगुना है, तो उसकी सीमान्त उपयोगिता भी पहली वस्तु की सीमांत उपयोगिता से दुगुनी होनी चाहिए। इसका आधार यह है कि किसी वस्तु की सीमांत उपयोगिता उसके लिए दिए गए मूल्य के बराबर होती है। अतः मूल्य के दुगुने होने पर यदि सीमांत उपयोगिता MU तथा मूल्य P है तो .

$$\left\{\begin{array}{c}\text{पहली वस्तु} \\ \text{की सी. उ. तथा} \\ \text{उसके मूल्य का} \\ \text{अनुपात}\end{array}\right\}\cdots\frac{MU}{P}=\frac{2MU}{2P}\cdots\left\{\begin{array}{c}\text{दूसरी वस्तु की} \\ \text{सी. उ. तथा} \\ \text{उसके मूल्य का} \\ \text{अनुपात}\end{array}\right\}$$

इसके विपरीत, मान लीजिए, दो वस्तुओं के मूल्यों में इस प्रकार का अन्तर है कि उनकी सीमान्त उपयोगिताएं उनके मूल्यों की समानुपाती नहीं है। ऐसी स्थिति में अधिकतम सन्तुष्टि पाने के लिए उपभोक्ता को एक वस्तु को दूसरी वस्तु से उस समय तक इस प्रकार प्रतिस्थापित करना होगा, जब तक कि दोनों वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताओं तथा उनके मूल्यों में आनुपातिकता (proportionality) स्थापित न हो जाय। उदाहरण के लिए,, माना कि उपभोक्ता X वस्तु की 10 इकाइयां तथा Y वस्तु की 7 इकाइयां खरीदना चाहता है, तथा

x वस्तु की सीमांत उपयोगिता=5 y वस्तु की सीमांत उपयोगिता=3
x वस्तु का मूल्य =2 y वस्तु का मूल्य =4

उपभोक्ता को y वस्तु खरीदने में नुकसान है, क्योंकि इस वस्तु की सीमांत उपयोगिता उसके मूल्य से कम है, जबकि X वस्तु की सीमांत उपयोगिता उसके मूल्य से अधिक है। ऐसी स्थिति में वह y वस्तु के स्थान पर x की अतिरिक्त इकाइयां उस समय तक खरीदता जायेगा जब तक कि x वस्तु की सीमांत उपयोगिता क्रमशः घटती हुयी उसके मूल्य (2) के बराबर न हो जाय। इस स्थिति तक उसे कोई हानि नहीं होगी। y वस्तु न खरीदने के कारण उसकी सीमांत उपयोगिता बढ़ेगी और अन्त में वह बढ़कर 4 तक पहुंच जायेगी। इस स्थिति पर पहुँचने पर x तथा y वस्तुओं की सीमांत उपयोगितायें तथा मूल्यों के अनुपात बराबर होंगे।

$$\left[\frac{\text{X वस्तु की सी॰ उ॰ (2)}}{\text{X वस्तु का मूल्य (2)}}=\frac{\text{Y वस्तु की सी॰ उ॰ (4)}}{\text{Y वस्तु का मूल्य (4)}}\right]$$

इन अनुपातों के बराबर होने पर उपभोक्ता को अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त होगी।

6. नियम का व्यावहारिक उपयोग या महत्व (Application or Importance)

सम सीमान्त उपयोगिता या प्रतिस्थापन नियम का उपभोग अर्थशास्त्र के प्रत्येक विभाग मे किया जा सकता है। इसका प्रयोग आर्थिक विश्लेषण के किसी भी क्षत्र मे किया जा सकता है, जैसा कि निम्नलिखित विवरण से स्पष्ट है

(i) उपभोग प्रत्येक बुद्धिमान उपभोक्ता अपने सीमित साधनो से अधिकतम उपयोगिता या सतुष्टि प्राप्त करना चाहता हैं। अधिकतम सतुष्टि प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न प्रकार की वस्तुए खरीदते समय, कम उपयोगिता वाली वस्तुओ के स्थान पर अधिक उपयोगिता वाली वस्तुए खरीदी जाए, अर्थात् कम उपयोगिता वाली वस्तुओ का प्रतिस्थापन (Substitution) अधिक उपयोगिता वाली वस्तुओ द्वारा किया जाए। अधिकतम सतुष्टि के लिए यह आवश्यक है कि मुद्रा को विभिन्न वस्तुओ के खरीदते समय इस प्रकार व्यय किया जाए कि खरीदी जाने वाली समस्त वस्तुओ की सीमान्त उपयोगिताऐ समान रहें। इसी प्रकार विभिन्न उपयोगो वाली किसी वस्तु को किस उपयोग मे लाया जाऐ ? इस प्रश्न का भी समाधान इसी नियम के पालन द्वारा किया जा सकता हैं। इतना ही नही बल्कि वर्तमान एव भविष्य की आवश्यकताओ मे से प्राथमिकता दी जाए ? इस बात का निर्णय भी इस नियम की सहायता से किया जा सकता है।

(ii) उत्पादन यह नियम उत्पादन-साधनो को विभिन्न उत्पादन-क्रियाओ के बीच बाटने मे सहायक होता है। उत्पादन के क्षेत्र मे इस नियम के आधार पर यह निश्चित किया जा सकता है कि विभिन्न उत्पादन साधनो को किस अनुपात मे प्राप्त तथा प्रयोग किया जाय कि कम से कम लागत पर अधिक से अधिक उत्पादन सम्भव हो सके। इसके लिए महगे साधन को सस्ते साधन से प्रतिस्थापित करने मे यह नियम सहायक होता हैं। इसीलिए इसको **प्रतिस्थापन–नियम** (Law of substitution) कहा जाता हैं। इस नियम के आधार पर विभिन्न साधनो की सीमान्त उपयोगिताओ तथा मूल्य के अनुपातो मे समानता लाने मे सहायता मिलती है। उत्पादन के साधनो के विभिन्न प्रयोगो की सीमान्त उत्पादकता मे समानता स्थापित करने मे भी यह नियम लागू होता हैं।

(iii) विनिमय यह नियम मूल्य निर्धारण मे सहायक होता है। वस्तु खरीदते समय कोई भी व्यक्ति वस्तु की सीमान्त उपयोगिता मे अधिक मूल्य नहीं चुकाता। विनिमय करना एक वस्तु का दूसरे वस्तु द्वारा प्रतिस्थापन करना है। इसके द्वारा अधिक दुर्लभ वस्तु को दुर्लभ वस्तु द्वारा प्रतिस्थापित किया जा सकता है।

4 "The application of the principle of substitution extends over almost every field of economic enquiry" —*Marshall*

(iv) वितरण : वितरण के क्षेत्र में इस नियम को सम-सीमान्त उत्पादकता नियम (Law of Equi-Marginal Productivity) कहते हैं। प्रत्येक उत्पादन साधन को उसकी सीमान्त उत्पादकता के अनुसार हिस्सा प्राप्त होता है। उत्पादक सभी साधनों का प्रयोग ऐसे अनुपात में करता है, जिससे कि उनकी सीमान्त उत्पादकता समान रहे, अन्यथा वह एक साधन की प्रतिस्थापना दूसरे साधन द्वारा करता है। अतः यह सिद्धान्त उत्पादन साधनों का पुरस्कार निर्धारित करने में सहायक होता है। देश में आर्थिक विषमता की समस्या का समाधान भी इस नियम की सहायता से किया जा सकता है। यदि देश में मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता सभी व्यक्तियों के लिए समान है तो इसका अर्थ यह होगा कि उस देश में आय व धन का वितरण समान है।

(v) राजस्व राजस्व के क्षेत्र में 'अधिकतम सामाजिक लाभ' का सिद्धान्त (Maximum Social Advantage Principle) सम-सीमान्त उपयोगिता सिद्धांत पर ही आधारित है। सरकार कर लगाते समय इस बात का ध्यान रखती है कि समाज के विभिन्न वर्गों पर उनकी आय के अनुसार कर का भार समान पड़े जिससे किसी वर्ग विशेष को कर देने में अधिक कष्ट न उठाना पड़े। इस प्रकार राजस्व के क्षेत्र में न्यायपूर्ण दृष्टि से कर लगाने में यह सिद्धान्त सहायक होता है।

इस प्रकार 'सम-सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त' का पालन प्रत्येक प्रकार के आर्थिक मामलों तथा निर्णयों में किया जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति इस नियम का पालन करके अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त कर सकता है। यद्यपि प्रत्येक विचारशील व्यक्ति इस नियम का पालन अक्षरशः नहीं करता फिर भी किसी न किसी रूप में वह इस सिद्धान्त का पालन करता ही है। चैपमैन के शब्दों में, 'हम प्रतिस्थापन नियम या सम-सीमान्त व्यय नियम के अनुसार अपनी आय को वितरित करने के लिए उस भांति बाध्य नहीं होते जिस प्रकार ऊपर हवा में फेंका गया पत्थर पृथ्वी पर विवश होकर आ गिरता है फिर भी हम मोटे रूप से ऐसा ही करते हैं (अर्थात् इस नियम का पालन करते हैं) क्योंकि हम तर्कशील प्राणी हैं।"[5]

7 नियम की आलोचना (Criticism of the Law)

यह नियम जिन मान्यताओं पर आधारित हैं, उनका उल्लेख पहले किया जा

[5] "We are not of course, compelled to distribute our income according to the Law of Substitution or Equi Marginal Expenditure as a stone thrown in air is compelled, in a sense, to fall back to the earth but, as a matter of fact, we do so in a certain rough fashion because we are reasonable" —Chapman

चुका है। वस्तुओं की विभाज्यता, आय तथा व्यय की अवधि का एक ही होना, मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता सदैव समान रहना, उपभोक्ता की आय, रुचि आदि पूर्ववत रहती हैं, आदि इस नियम की मान्यताएं हैं। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इन मान्यताओं का वास्तविक जगत में पाया जाना संदेहपूर्ण है। सामान्यत इस नियम की निम्नलिखित आलोचनाएं की जाती है :

(i) वस्तुओं की विभाज्यता (Divisibility of goods) यह नियम यह मानकर चलता है कि वस्तु का विभाजन अपरिमित सीमा तक किया जा सकता है, परन्तु बहुत सी वस्तुए ऐसी होती है जिन्हें छोटे-छोटे हिस्सों में विभाजित नहीं किया जा सकता, जैसे घडी, मोटरकार आदि। अत ऐसी अविभाज्य वस्तुओं को खरीदते समय उपभोक्ता इस नियम का पालन पूर्ण अर्थों मे नही कर सकता।

(ii) आय तथा व्यय की अवधि का एक होना (Synchronization of the Period of Income and Expenditure) बहुत सी वस्तुओं के उपभोग का समय आय प्राप्ति के समय से भिन्न होता है। यह नियम इस मान्यता पर आधारित है कि वस्तुओं तथा सेवाओं का उपभोग उसी अवधि मे होता है जिस अवधि मे कुल मौद्रिक आय व्यय की जाती है। आय तथा व्यय के समय मे विभिन्नता के कारण, वस्तुओं से प्राप्त होने वाली उपयोगिताओं का सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता। अत इस नियम के अनुसार व्यय करना कठिन होता है।

(iii) वस्तु की पूर्ति (Supply of goods) यह नियम यह मानकर चलता है कि वस्तुओं की पूर्ति अपरिमित है तथा अधिक उपयोगी वस्तु को उपभोक्ता किसी भी मात्रा मे खरीद सकता है। परन्तु व्यवहार मे कभी-कभी ऐसा सम्भव नही होता है। जैसे उपभोक्ता के लिए, मान लीजिए, चीनी, चाय की अपेक्षा, अधिक उपयोगी है, परन्तु राशनिंग के कारण वह अधिक चीनी नही खरीद सकता है अर्थात् चाय की प्रतिस्थापना चीनी द्वारा नहीं कर सकता है।

(iv) उपभोक्ता की लापरवाही तथा अज्ञानता (Carelessness and Ignorance) . बहुत से व्यक्ति खरीद करते समय वस्तु की उपयोगिता की माप नही करते। वे 'अधिकतम सतुष्टि' का विचार भी अपने मस्तिष्क मे नहीं लाते। ग्रामीण भारतीय जनता इसका ज्वलत उदाहरण है। अज्ञानता के कारण भी व्यक्ति विभिन्न वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता का अनुमान नही लगा पाता है।

(v) मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता परिवर्तनशील है (Fluctuating Marginal Utility of Money) यह नियम यह मानकर चलता है कि मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता प्रत्येक दशा मे समान रहती है। परन्तु यह मान्यता यथार्थ

से बहुत दूर है। अन्य वस्तुओं की भांति मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता भी परिवर्तनशील है।

8. नियम की सीमाएं (Limitations of the Law)

वास्तव में इस नियम की प्राय सभी मान्यताएं वस्तु-स्थिति से दूर हैं। इसकी कुछ निम्नलिखित सीमाएं हैं

(1) व्यय में विवेकशीलता तथा हिसाब का अभाव : सामान्यतः कोई भी उपभोक्ता व्यय करते समय विभिन्न वस्तुओं की उपयोगिताओं की तुलना नहीं करता, बल्कि वह स्वभाव के अनुसार व्यय करता है। एक अत्यन्त ही समझदार तथा गणना करने वाला व्यक्ति ही उतनी सावधानी से व्यय करता है, जितनी कि इस नियम के प्रतिपादकों ने कल्पना की है।

(2) उपयोगिता का मापनीय न होना : वास्तव में, उपयोगिता की मापनीयता ही एक विवादग्रस्त विषय है। उपयोगिता की माप का कोई उचित मापदण्ड न होने के कारण हम उपयोगिताओं की माप नहीं कर सकते। अत इस नियम के अनुसार व्यय करना भी अत्यन्त ही कठिन है। यह नियम उपयोगितावादी अर्थशास्त्रियों के मानसिक व्यायाम का एक नमूना है।

(3) बजट अवधि (Budget Period) का अनिश्चित होना प्रो० बोल्डिंग का यह कहना है कि सामान्यतया उपभोक्ता की बजट अवधि निश्चित नहीं होती। अत प्राय यह नियम लागू नहीं होता, क्योंकि यह एक निश्चित बजट-अवधि में ही कार्यशील हो सकता है। इसका कारण यह भी है कि एक उपभोक्ता किसी अवधि विशेष की सीमित आय उसी अवधि में सम्भावित आवश्यकताओं पर इस प्रकार बांटना चाहता है कि उसे अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त कर सके। परन्तु बजट-अवधि निश्चित नहीं होने से वह उस उद्देश्य को पूरा नहीं कर पाता।

(4) रीति-रिवाज, आदत आदि के प्रभाव रीति रिवाजों, आदत, फैशन आदि, के कारण भी उपभोक्ता अपने व्यय में मितव्ययता नहीं कर पाता। रीति-रिवाजों को उसे मानना पड़ता ही है। उन पर उसे अपने सीमित धन के कुछ भाग को खर्च करना पड़ता है। इसी प्रकार उसे अपनी आदत जन्य भी आवश्यकताओं (चाय-सिगरेट आदि) को पूरा करने के लिए कुछ धन व्यय करना पड़ता है। अत. यह कहना ठीक नहीं होगा कि उपभोक्ता समझदारी से ही अपनी आय को खर्च करता है। ये रीति-रिवाज, फैशन तथा उसकी आदतें उसकी विवेकशीलता में बाधक हैं।

5 पूरक वस्तुओ (Complementary Goods) के सम्बन्ध मे यह नियम लागू नही होता यह नियम उन वस्तुओ के सम्बन्ध मे लागू नही होता जो किसी अन्य वस्तु की पूरक होती हैं। उदाहरणार्थ, मोटर पेट्रोल, फाउन्टेनपेन स्याही आदि वस्तुए एक निश्चित अनुपात म ही खरीदी जाती है। इनम प्रतिस्थापन का सिद्धात लागू नही हो सकता है।

6 वस्तुओ के मूल्य मे परिवर्तन किसी भी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता उसके मूल्य पर निर्भर करती है। मूल्य ज्यादातर बदलते रहते है, जिसकी वजह से सीमान्त उपयोगिताए भी बदलती रहती है, जिस कारण विभिन्न वस्तुओ की सीमात उपयोगिताओ तथा मूल्यो की आनुपातिकता मे समानता नही होती।

प्रश्न तथा सकेत

(क) उपयोगिता (सामान्य प्रश्न)

1 सीमान्त तथा कुल उपयोगिता विश्लेपण के महत्व की विवेचना कीजिए। क्या उपयोगिता को मापा जा सकता है?

(Rajasthan B A 1964)

[सकेत सर्वप्रथम उपभोग, उत्पादन विनिमय वितरण तथा राजस्व के क्षेत्र मे सीमान्त तथा कुल उपयोगिता विश्लेपण की महत्ता बताइए, तत्पश्चात् उपयोगिता मापने के सम्बन्ध मे मतभेद का विवेचन कीजिए।]

2 'उपयोगिता एक क्रमवाचक (ordinal) विचार है न कि गणनावाचक' (cardinal) विचार।' विवेचना कीजिए।

(Bihar B A Hons , 1965 A)

[सकेत प्रश्न को दो भागो मे विभक्त कर प्रथम भाग मे उपयोगिता का अर्थ बताइए तथा द्वितीय भाग मे यह स्पष्ट कीजिए कि उपयोगिता को मापा नही जा सकता और इसलिए यह क्रमवाचक विचार है न कि गणनावाचक।]

3 सीमान्त उपयोगिता तथा कुल उपयोगिता का अन्तर बताइए। यह सिद्ध कीजिए कि जब एक वस्तु की 'सीमान्त उपयोगिता शून्य होती है तो उसकी 'कुल उपयोगिता' अधिकतम होती है।

(Agra B Com I 1965)

[सकेत आरम्भ मे सक्षेप मे उपयोगिता का अर्थ बताइए। इसके पश्चात् सीमान्त तथा कुल उपयोगिता का स्पष्ट विवेचन कीजिए। अन्त मे सीमान्त तथा कुल उपयोगिता का सम्बन्ध बताते हुए यह स्पष्ट कीजिए कि जहा सीमान्त उपयोगिता शून्य के बराबर होती है वहा कुल उपयोगिता अधिकतम होती है।]

4. अर्थशास्त्र में सीमान्त उपयोगिता के महत्व को बताइए। यह उपयोगिता ह्रास नियम से किस प्रकार सम्बन्धित है ?

[संकेत सर्वप्रथम अर्थशास्त्र के पाचों विभागों में सीमान्त उपयोगिता का महत्व बताइए। इसके बाद यह स्पष्ट कीजिए कि उपयोगिता ह्रास नियम सीमान्त उपयोगिता विश्लेषण पर ही आधारित है।]

(ख) उपयोगिता-ह्रास नियम

1. उपयोगिता ह्रास नियम को बताइए और व्याख्या कीजिए कि किस प्रकार इससे माग का नियम निकाला जाता है।

(Jodhpur T.D.C., Arts, 1964)

[संकेत · सर्वप्रथम उपयोगिता ह्रास नियम की विवेचना कीजिए। इसके बाद यह स्पष्ट कीजिए कि किस प्रकार इससे माग का नियम निकाला जाता है।]

2. "किसी वस्तु की जितनी अधिक मात्रा हमारे पास होगी उतनी ही उस वस्तु की अतिरिक्त मात्रा के लिए हमारी आवश्यकता कम होगी।" इस कथन को रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट कीजिए। क्या यह हमेशा सत्य होता है ?

(Rajasthan T.D.C. Com, 1964)

[संकेत सर्वप्रथम उपयोगिता ह्रास नियम की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। इसके पश्चात् इसके नियम के प्रमुख अपवाद या सीमाए बताइए।]

3. किन दशाओं के अन्तर्गत उपभोग की वस्तु की मात्रा में वृद्धि होने पर भी सीमान्त उपयोगिता नहीं घटती, और क्यों ?

[संकेत सक्षेप में उपयोगिता ह्रास नियम की परिभाषा देते हुए इसके अपवादों की पूर्ण विवेचना कीजिए।]

(ग) सम-सीमान्त उपयोगिता नियम

1. उपभोग में प्रतिस्थापन के सिद्धान्त (Law of Substitution in Consumption) की व्याख्या कीजिए। यह किस प्रकार उपभोक्ता को सौस्थिति (equilibrium) की दशा तक पहुचने में मदद करता है ?

(Allah., B A I, 1965)

[संकेत · सम सीमान्त उपयोगिता नियम को रेखाचित्र व उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए। इसके पश्चात् बताइए कि इसके प्रयोग से ही उपभोक्ता को अधिकतम सतुष्टि प्राप्त होगी और वह सतुलन की स्थिति में होगा।]

2. 'प्रतिस्थापन के नियम की व्याख्या कीजिए और बताइए कि वह अर्थशास्त्र के प्रत्येक क्षेत्र में लागू होता है।

[संकेत : सम-सीमान्त उपयोगिता नियम की रेखाचित्र व उदाहरण सहित व्याख्या कीजिए और इसके पश्चात् अर्थशास्त्र के प्रत्येक क्षेत्र उत्पादन, विनिमय, वितरण तथा राजस्व के क्षेत्र में इस नियम के प्रयोग को बताइए ।]

3. सम-सीमान्त उपयोगिता नियम की विवेचना कीजिए और एक चित्र की सहायता से यह सिद्ध कीजिए कि उपभोक्ता को अधिकतम सतुष्टि प्राप्त होती है यदि वह इस नियम के अनुसार कार्य करता है ।

(Indore, B Com. I, 1965)

4. अर्थशास्त्र मे प्रतिस्थापन के नियम के प्रयोग की विवेचना कीजिए । यह नियम उपयोगिता ह्रास नियम से किस प्रकार सम्बन्धित है ?

(Agra B A. I, 1962)

[संकेत सर्व प्रथम 'प्रतिस्थापन के नियम' का आशय स्पष्ट कीजिए ; तत्पश्चात् संक्षेप मे अर्थशास्त्र के विभिन्न विभागो मे इसके प्रयोग को बताते हुए उपयोगिता ह्रास नियम के साथ इसका सम्बन्ध बताइए ।]

9

उपयोगिता-विश्लेषण (II) उपभोक्ता की बचत
(Utility Analysis Consumers Surplus)

"The differenre between what we would pay and what we have to pay is called consumer's surplus"

—Penson

'उपभोक्ता का अतिरेक' या 'उपभोक्ता की बचत' के सम्बन्ध मे प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो ने कही-कही जिक्र किया है। प्रो० जेवन्स ने इसके विषय मे निश्चित विचार व्यक्त किया था, परन्तु फ्रांस के अर्थशास्त्री डुपिट (Dupuit) पहले अर्थशास्त्री थे जिन्होंने सर्वप्रथम इस विषय का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया तथा रेखा चित्र द्वारा इसे समझाने का प्रयत्न किया। (सन् 1844 ई० मे) प्रो० मार्शल ने सन् 1879 ई० मे इस सिद्धात के विषय मे अपने मौलिक विचार व्यक्त किये तथा बाद मे अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'Principles of Economics' मे इसके सम्बन्ध म विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत किया। प्रो० जे० आर० हिक्स ने उदासीनता या तटस्थता वक्रों की सहायता से इस सिद्धात को स्पष्ट किया है तथा प्रसिद्ध भारतीय अर्थशास्त्री डा० ए० के० दास गुप्ता ने इस विषय पर अपने महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किए हैं।

1. परिभाषा (Definition)

व्यावहारिक जीवन मे हम बहुत सी ऐसी वस्तुए खरीदते हैं, जिनके प्राप्त न होने पर शायद हम बहुत अधिक मूल्य चुकाने को तैयार हो जाते या बहुत सी वस्तुए ऐसी होती हैं जिन्हे प्राप्त करने के लिए हम सामान्यत अधिक मूल्य देने को तैयार हो जाते है। उदाहरणार्थ, नमक, पोस्टकार्ड, अखबार आदि हम क्रय करते हैं। यदि ये वस्तुए बाजार मे उपलब्ध नही हो, तो अत्यधिक उपयोगी एव आवश्यक होने के कारण हम उन्हे प्राप्त करने के लिए उनके सामान्य मूल्य से कई गुना अधिक मूल्य देने को तैयार हो जायेंगे। इन वस्तुओ के लिए हम जो मूल्य देते हैं, उससे बहुत अधिक मूल्य चुकाने के लिए तैयार रहते है। इस प्रकार किसी वस्तु का

जो मूल्य हम चुकाते हैं, तथा वस्तु को प्राप्त करने के लिए जो मूल्य चुकाने को तैयार हो जाते, इन दोनों मूल्यों के अन्तर को 'उपभोक्ता का अतिरेक' कहते हैं। जैसे हम पोस्टकार्ड 10 पैसे म खरीदते हैं, परन्तु यदि पोस्टकार्ड आसानी से नही मिल पाता है, तो हम सम्भवत (अन्य विकल्पो की अनुपस्थिति मे) एक पोस्टकार्ड के लिए 15 पैसे देने को भी तैयार हो जाते। अतः 15—10=5 पैसे हमारे लिए 'उपभोक्ता का अतिरेक' है। मार्शल ने 'उपभोक्ता की बचत' को इस प्रकार परिभाषित किया है, "किसी वस्तु के उपभोग से वंचित रहने की अपेक्षा एक व्यक्ति (उपभोक्ता) जो कीमत उस वस्तु के लिये देने को प्रस्तुत है और जो कीमत वह वास्तव मे चुकाता है, उनका अन्तर ही सन्तुष्टि की बचत का आर्थिक माप है। इसे उपभोक्ता की बचत' कहा जा सकता है।"

"The excess of the price which one is willing to pay rather than go without the thing over which he actually pays is the economic measure of this surplus of satisfaction. It may be called the Consumer's Surplus" —*Marshall*

प्रोफेसर जे० के० मेहता ने इसे इस प्रकार परिभाषित किया है "किसी वस्तु के उपभोग से प्राप्त सन्तुष्टि तथा उस वस्तु को प्राप्त करने के लिए त्याग के अन्तर को ही उपभोक्ता की बचत कहते है।"[1] प्रो० पेन्सन के शब्दों में, "हम जो कुछ चुकाने को तैयार हैं और जो कुछ हमको चुकाना पड़ता है, इन दोनो के अन्तर को 'उपभोक्ता की बचत' कहते हैं।" अत जो हम चुकाने को तैयार हो जाते तथा जो हम वास्तव मे चुकाते है इनका अन्तर ही 'उपभोक्ता का अतिरेक' है।

2. 'उपभोक्ता की वचत' तथा 'उपयोगिता ह्रास नियम' का सम्बन्ध :

ये दोनों सिद्धान्त घनिष्ट रूप से सम्बन्धित हैं। वस्तुतः 'उपभोक्ता की बचत' का सिद्धान्त *'उपयोगिता ह्रास नियम' के आधार पर ही प्रस्तुत किया गया है।* उपयोगिता ह्रास नियम *यह बतलाता है कि किसी वस्तु की इकाइयो का उपभोग करने पर,* अन्य बातो के समान रहने पर, उस वस्तु की उत्तरोत्तर इकाइयो से प्राप्त उपयोगिता क्रमश घटती जाती है। जब हम कोई वस्तु खरीदते है, तब उस वस्तु से हमे उपयोगिता प्राप्त होती है और उस वस्तु के लिए चुकाए गये मूल्य के रूप मे हम उपयोगिता का त्याग करते हैं। खरीदने की इस क्रिया मे प्राप्त उपयोगिता, त्याग की गई उपयोगिता से अधिक होती है। परन्तु ज्यो-ज्यो हम किसी वस्तु की अधिक इकाइयाँ खरीदते जाते है, उस वस्तु की इकाइयो की उपयोगिता हमारे लिए उत्तरोत्तर कम

---

[1] "Consumer's surplus obtained by a person from a commodity is the difference between the satisfaction which he derives from it and which he foregoes in order to procure that commodity"

—*J. K. Mehta, Groundwork of Economics*, P. 52

होती जाती है, तथा हम उस समय वस्तु की अतिरिक्त इकाइयों को खरीदना बन्द कर देते हैं जबकि मूल्य के रूप में त्याग की जाने वाली उपयोगिता, उस वस्तु की इकाई से प्राप्त उपयोगिता के बराबर हो जाती है। यदि इसके पश्चात् भी उस वस्तु का खरीदना जारी रखा जाय, तो त्याग की गई उपयोगिता प्राप्त की जाने वाली उपयोगिता से अधिक होगी जो हमारे लिए हानि की सूचक है। वस्तु की जिस इकाई को खरीदने से प्राप्त तथा उसके खरीदने के लिये त्याग की गई उपयोगिताएं बराबर होती हैं, उस इकाई से पूर्व खरीदी गई समस्त इकाइयों से प्राप्त उपयोगिता, त्याग की गई उपयोगिता से अधिक होती है। इस प्रकार से प्राप्त अधिक उपयोगिताओं के योग को ही उपभोक्ता की बचत कहते हैं। दूसरे शब्दों में।

(i) उपभोक्ता की बचत = (कुल उपयोगिता)—(कीमत × खरीदी गई इकाइयां)

इसी प्रकार मार्शल के अनुसार सम्पूर्ण बाजार के लिए भी उपभोक्ता की बचत ज्ञात की जा सकती है।

(ii) बाजार-सम्बन्धी उपभोक्ता की बचत = माग-मूल्यों का योग— वास्तविक कीमत

Consumer's surplus for the whole market = Aggregate Market Demand prices—Actual Selling Price

माग-मूल्य का अर्थ वह मूल्य है, जिसे उपभोक्ता चुकाने को तैयार है। इस प्रकार सभी उपभोक्ताओं के माग मूल्यों को जोड़कर, कुल-उपयोगिता ज्ञात की जाती है। इसी प्रकार प्राप्त कुल उपयोगिता में से क्रेताओं द्वारा वास्तविक चुकाई गई कीमतों को घटा दिया जाता है। अतः शेष ही उपभोक्ता की बचत होती है हम यह कह सकते हैं कि उपभोक्ता की आय, रुचि आदि में विभिन्नता के कारण, उन्हें प्राप्त उपयोगिताओं का अनुमान लगाना कठिन है, परन्तु मार्शल ने कहा है कि यह कोई कठिनाई नहीं है क्योंकि उपभोक्ताओं के ये अन्तर, सामूहिक रूप से, एक-दूसरे से समायोजित (Cancel out) हो जाएंगे।

3. स्पष्टीकरण

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर 'उपभोक्ता की बचत' का स्पष्टीकरण एक उदाहरण द्वारा किया जा सकता है। मान लीजिए एक व्यक्ति बाजार में अमरूद खरीदता है। प्रत्येक अमरूद की कीमत 2 पैसे है।

अग्रलिखित सारणी से अमरूदों की इकाइयां, उनसे प्राप्त उपयोगिता तथा उपभोक्ता की बचत का ज्ञान होता है:

अमरूदो से प्राप्त उपयोगिता (पैसो मे)

अमरूदो की इकाई	प्राप्त उपयोगिता या कीमत जो उपभोक्ता देता	कीमत	उपभोक्ता की बचत
1	10	2	10—2=8
2	8	2	8—2=6
3	6	2	6—2=4
4	5	2	5—2=3
5	3	2	3—2=1
6	2	2	2—2=0
	कुल उपयोगिता	कुल कीमत	उपभोक्ता की कुल बचत
	34	6×2=12	22

यह व्यक्ति पहला अमरूद खरीदता है तो उसे 10 पैसे के बराबर उपयोगिता प्राप्त होती है। परन्तु वह कीमत केवल 2 पैसे देता है। वह ज्यो ज्यो अमरूद की अधिक इकाइया खरीदता है उपयोगिता ह्रास नियम के अनुसार उत्तरोत्तर इकाइयो से प्राप्त उपयोगिता घटती जाती है। छठवा अमरूद खरीदने पर उपयोगिता तथा त्याग की गई उपयोगिता घटती जाती है (2पैसे)। अतः वह सातवा अमरूद नही खरीदेगा। इन छः अमरूदो से उसे कुल 34 पैसो के बराबर उपयोगिता प्राप्त होती है तथा वह दो पैसे प्रति अमरूद की दर से 12 पैसे के बराबर उपयोगिता का त्याग करता है। इस प्रकार उसे 34—12=22 उपयोगिता के बराबर उपभोक्ता की बचत प्राप्त होती है।

4. रेखा चित्र द्वारा स्पष्टीकरण :

उपरोक्त उदाहरणो के आधार पर रेखाचित्र न 7 तैयार किया गया है जो उपभोक्ता की बचत को स्पष्ट करता है चित्र मे OY रेखा पर अमरूदो की इकाइया तथा OX पर उनसे प्राप्त उपयोगितायें प्रदर्शित की गई है। OMNR आयत अमरूदो की कीमतो को प्रकट करता है। इस आयत के ऊपर जो आयत बने हुए हैं वे उपभोक्ता की बचत को प्रकट करते हैं।

5 उपभोक्ता की बचत की मान्यताएं (Assumptions) :

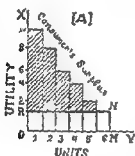
मार्शल द्वारा प्रस्तुत 'उपभोक्ता' की बचत' का सिद्धान्त अग्रलिखित मान्यताओ पर आधारित है।

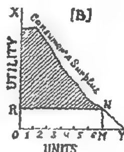
(1) उपयोगिता की माप की जा सकती है, तथा मुद्रा उपयोगिता की माप का कार्य कर सकती है। इस प्रकार उपभोक्ता की बचत माप द्वारा ज्ञात की जा सकती है।

(2) मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता समान रहती है। खरीदने की क्रिया में मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता में परिवर्तन नहीं होता है।

(3) वस्तु की उपयोगिता उसकी पूर्ति पर निर्भर है। अन्य वस्तुओं की पूर्ति से वस्तु विशेष की उपयोगिता प्रभावित नहीं होती है।

(4) हम जिस वस्तु के सम्बन्ध में उपभोक्ता की बचत ज्ञात करते हैं, उस वस्तु की कोई स्थानापन्न (substitute) वस्तु नहीं होती है और यदि होती भी है तो हमें ऐसी वस्तुओं को एक ही वस्तु मान लेना चाहिए।





चित्र नं० 7

6. उपभोक्ता की बचत की आलोचना . इसे मापने में कठिनाइयां
(Criticism and Difficulties in the measurement of Consumer's surplus)

उपरोक्त तालिका तथा रेखाचित्रों से ऐसा प्रतीत होता है कि उपभोक्ता की बचत की माप सरलतापूर्वक की जा सकती है। परन्तु व्यावहारिक रूप से निम्नलिखित कारणों से इसकी माप करना अत्यन्त ही कठिन है। 'उपभोक्ता की बचत' की आलोचनाएं मुख्यतः इसकी मापनीयता के प्रश्न पर ही केन्द्रित हैं।

(1) उपयोगिता मापनीय नहीं है : 'उपभोक्ता की बचत' इस मान्यता पर आधारित है कि उपयोगिता को नापा जा सकता है, परन्तु हम यह जानते हैं कि उपयोगिता का सम्बन्ध मनुष्य की मानसिक स्थिति से है, इस प्रकार उपयोगिता एक मनोवैज्ञानिक विचार है, जिसे नापा नहीं जा सकता है। साथ ही साथ उपयोगिता एक व्यक्ति निष्ठ (subjective) विचार है, अतः किसी भी विधि द्वारा उपयोगिता की माप नहीं की जा सकती है। उपभोक्ता की बचत, प्राप्त उपयोगिता,

तथा त्याग की जाने वाली उपयोगिता का अन्तर है, जब हम उपयोगिता को नाप नहीं सकते है, तब उपभोक्ता की बचत भी ज्ञात नही की जा सकती है।

(2) **उपभोक्ता की रुचि मे अन्तर** सभी उपभोक्ताओं की अभिरुचि (Taste) समान नही होती है। एक उपभोक्ता किसी वस्तु को बहुत चाहता है तथा दूसरा उसी वस्तु को उतना पसन्द नहीं करता है। यदि इस प्रकार के दोनो उपभोक्ता किसी वस्तु को खरीदते हैं तो वे बाजार मे समान मूल्य चुकायेंगे, परन्तु प्रथम उपभोक्ता की पसन्दगी अधिक होने के कारण, उस दूसरे उपभोक्ता की अपेक्षा अधिक उपयोगिता अर्थात् उपभोक्ता की बचत प्राप्त होगी। इस सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि यदि उपभोक्ताओं की संख्या बहुत अधिक है तो उनमे से कुछ की पसन्द किसी वस्तु के लिये अधिक होगी तथा कुछ की कम। इस प्रकार उन समस्त उपभोक्ताओं के सन्दर्भ मे उपभोक्ता की औसत बचत की माप की जा सकती है।

(3) **आर्थिक स्थिति मे अन्तर** एक धनी उपभोक्ता किसी वस्तु के लिए अधिक मूल्य चुकाने को तत्पर हो सकता है जबकि एक निर्धन उपभोक्ता उतना अधिक मूल्य चुकाने को तैयार नही होगा। बाजार में धनी व निर्धन—दोनों प्रकार के उपभोक्ताओं मे समान मूल्य लिया जाता है, अत उपभोक्ता की बचत की परिभाषा के अनुसार धनी उपभोक्ता के लिए उपभोक्ता की बचत अधिक होगी तथा निर्धन उपभोक्ता के लिए कम। इस प्रकार आय मे विभिन्नता के कारण उपभोक्ता की बचत मे भी विभिन्नता होती है, अत इसकी सही माप करना कठिन है। उपभोक्ताओं की संख्या अधिक होने पर औसत रूप से हम इस स्थिति मे भी उपभोक्ता की बचत ज्ञात कर सकते है।

(4) **कीमतों की सूची की अप्राप्यता** हम उपभोक्ता की माग-सूची, बाजार मूल्य के आधार पर तैयार करते हैं, परन्तु हम यह नही जान सकते है कि विभिन्न उपभोक्ता अपनी आवश्यकताओं की तीव्रता के आधार पर कितना मूल्य देने को तैयार होंगे। इस प्रकार इस मूल्य की जानकारी के अभाव मे उपभोक्ता की बचत की माप अत्यन्त ही कठिन है।

(5) ***अनिवार्य आवश्यकताओं की उपभोक्ता की बचत*** अनिवार्य आवश्यकताओं की तीव्रता बहुत अधिक होती है। उन आवश्यकताओं की पूर्ति करना जीवन-रक्षा के लिए आवश्यक है। ऐसी आवश्यकता से सम्बन्धित किसी वस्तु की प्रारम्भिक इकाइयों की उपयोगिता की माप करना कठिन है। इसी प्रकार सामाजिक प्रतिष्ठा की प्रतीक वस्तुओं की उपयोगिता की माप भी अमापनीय होती है। ऐसी दशाओं मे उपभोक्ता की बचत की माप करना बहुत कठिन है। प्रो॰ पेटन (Patten) ने

उपभोग की दो स्थितियों का वर्णन किया है—(i) दुःखमय अर्थ-व्यवस्था (Pain Economy) तथा (ii) सुखमय अर्थ-व्यवस्था (Pleasure Economy)। जीवन-रक्षक आवश्यकताओं की पूर्ति से उपभोक्ता केवल कष्ट निवारण करता है, सन्तुष्टि या आनन्द प्राप्त नहीं करता है। जब जीवन रक्षक अनिवार्यताओं की सन्तुष्टि हो जाती है, तब उपभोक्ता की स्थिति 'सुखमय' होती है। हम उपभोक्ता की बचत की माप सुखमय स्थिति में ही कर सकते हैं। प्रो० टाजिग ने भी कहा है कि उपभोक्ता की बचत का प्रश्न उसी समय उठता है जब उपभोक्ता सुख का अनुभव करने लगता है।[1]

(6) प्रतिष्ठा मूलक वस्तुओं की उपभोक्ता की बचत : प्रतिष्ठा सम्बन्धी वस्तुओं जैसे हीरा, प्राचीन मूर्ति व चित्र या कलात्मक वस्तुओं के सन्दर्भ में भी 'उपभोक्ता की बचत' ज्ञात की जा सकती है। ऐसी वस्तुओं की ऊँची कीमत होने पर ही धनी व्यक्ति उन्हें प्रतिष्ठा-मूलक तथा उपयोगी समझते हैं। यदि उनकी कीमत कम हो जाए तो उनके खरीददारों के लिए वे प्रतिष्ठा-मूलक नहीं रह जायेंगी तथा उनकी उपयोगिता कम हो जाएगी। अतः ऐसी वस्तुओं की कीमत में कमी होने से, उपभोक्ता की बचत में वृद्धि नहीं होती है। इस प्रकार ऐसी वस्तुओं की उपभोक्ता की बचत नहीं ज्ञात की जा सकती है।

(7) क्रमागत क्रय से प्रारम्भिक इकाइयों की उपयोगिता का घटते जाना : उपभोक्ता ज्यों-ज्यों किसी वस्तु की अधिकाधिक इकाइयां खरीदता जाता है, प्रारम्भ में क्रय की गई इकाइयों की उपयोगिता घटती जाती है। उपभोक्ता की बचत की माप करते समय हम पहले खरीदी गई वस्तुओं की उपयोगिता में हुए इस परिवर्तन पर ध्यान नहीं देते हैं। परन्तु यह कठिनाई अवास्तविक है, क्योंकि उपभोक्ता की माप सारिणी औसत नहीं बल्कि सीमान्त उपयोगिता प्रदर्शित करती है। किसी वस्तु की अधिकाधिक इकाइयां खरीदने से वस्तु की विभिन्न इकाइयों की औसत उपयोगिता घटती जाती है सीमान्त उपयोगिता सूची के अनुसार ही रहती है। अतः माप-सम्बन्धी यह कठिनाई वास्तविक नहीं है।

(8) मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता परिवर्तनशील : उपभोक्ता की बचत की माप करते समय मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता यथास्थिर मान ली जाती है, परन्तु उपभोक्ता ज्यों-ज्यों मुद्रा व्यय करता जाता है, उसके पास मुद्रा कम होती जाती है। अतः मुद्रा की क्रमागत इकाइयों की सीमान्त उपयोगिता में वृद्धि होती जाती है। इस

[1] "Only where the stage has been reached of possible comfort of some choice in the direction of expenditure, can there be anything in the form of a real surplus of satisfaction for the consumer." —*Taussig*

सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि एक वस्तु खरीदने में बहुत ही कम मुद्रा का प्रयोग किया जाता है (कुल आय की तुलना में)। अतः मुद्रा की इतनी थोड़ी मात्रा की उपयोगिता को यथा-स्थिर मान लेने से, उपभोक्ता की बचत के माप में अशुद्धि नगण्य होगी।

(9) स्थानापन्न वस्तुओं की उपयोगिता : यदि दो स्थानापन्न वस्तुयें (Substitutes) हैं तो उनकी अलग-अलग उपयोगिताओं का जोड़ उनकी सम्मिलित उपयोगिताओं से कम होता है, जैसे चाय और काफी दोनों ही अप्राप्य हो तो उपभोक्ता को अनुपयोगिता मान लीजिये 100 होगी। परन्तु केवल चाय अप्राप्य हो तो अनुपयोगिता (मान लीजिये) 30 तथा काफी के अप्राप्य होने पर 40 होगी। इस प्रकार अनुपयोगिता 40+30=70 होगी जो 100 से कम है। अतः स्थानापन्न वस्तुओं की उपयोगिता की सही माप नहीं की जा सकती है। मार्शल ने इस समस्या के समाधान के लिए यह सुझाव दिया है कि स्थानापन्न वस्तुओं की उपयोगिता समान मान लेनी चाहिए।

(10) अन्य आलोचना—यह सिद्धान्त काल्पनिक है (Other Criticism It is imaginary concept) : 'उपभोक्ता की बचत' की मापनीयता के सम्बन्ध में उपरोक्त तर्कों से ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी माप करना असम्भव है। परन्तु इसकी आलोचनाओं का प्रश्न 'मापनीयता' तक ही नहीं है, वल्कि बहुत से अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त को पूर्णतः कल्पना पूर्ण माना है। केनन, निकलसन, डेवेन पोर्ट आदि अर्थशास्त्रियों ने यह विचार व्यक्त किया है कि 'उपभोक्ता की बचत' जिन मान्यताओं पर आधारित है, वे मान्यतायें सर्वथा काल्पनिक एवं अव्यावहारिक हैं। जैसे यह सिद्धान्त इन मान्यताओं पर आधारित है : (1) उपयोगिता की माप की जा सकती है, (2) उपयोगिता को मौद्रिक इकाइयों में व्यक्त किया जा सकता है। (3) वस्तु की विभिन्न इकाइयों की उपयोगिताओं में विभिन्नता पाई जाती है। (4) मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता यथास्थिर रहती है, आदि। परन्तु ये सभी मान्यतायें अव्यावहारिक हैं। अत मान्यताओं की अव्यावहारिकता के कारण यह सिद्धान्त काल्पनिक तथा भ्रमात्मक है।

प्रो० निकलसन ने व्यंगपूर्ण शब्दों में कहा है कि यह कहना अत्यन्त ही हास्यास्पद है कि 100 पौंड आय 1000 पौंड के बराबर है। 'उपभोक्ता की बचत' वस्तुतः यही बतलाती है। इस प्रकार यह सिद्धान्त कोरी कल्पना मात्र है। परन्तु यह तर्क उतना सन्तोषजनक नहीं है जितना प्रतीत होता है। यह सम्भव है कि एक व्यक्ति 100 पौंड की आय से किसी ऐसे देश में अधिक सन्तुष्टि प्राप्त कर सकता है

जहां वस्तुयें सरलता से उपलब्ध हैं। इसके विपरीत 1000 पौंड की आय वाला व्यक्ति, सम्भव है अपेक्षाकृत कम सन्तुष्टि प्राप्त करे, यदि वह ऐसे देश में रहता है जहां वस्तुयें बड़ी कठिनाई से उपलब्ध होती है।

इस सिद्धान्त की दूसरी प्रमुख आलोचना यह प्रस्तुत की गई है कि उपभोक्ता की बचत परिवर्तनशील है। जैसे वस्तु की कीमत बढ़ने पर उससे प्राप्त उपभोक्ता की बचत कम हो जाती है। परन्तु इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि संसार में परिवर्तन हर दिशा में होते रहते हैं। कोई भी वस्तु स्थायी नहीं है।

तीसरी प्रमुख आलोचना यह है कि उपभोक्ता की बचत' का अनुमान अनिवार्यताओं के सन्दर्भ में नहीं लगाया जा सकता। ऐसी वस्तुओं की उपयोगिता असीम होती है।

उपरोक्त आलोचनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'उपभोक्ता की बचत' एक काल्पनिक तथा अवैज्ञानिक धारणा है, तथा इसकी माप नहीं की जा सकती, फिर भी इस धारणा का सैद्धान्तिक महत्व है। सेम्युएलसन ने इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में कहा है

"The subject is of historical and doctrinal interest with a limited amount of appeal as mathematical puzzle" —*Samuelson*

प्रत्येक उपभोक्ता व्यावहारिक रूप में उपभोक्ता की बचत महसूस करता है। वस्तुओं को खरीदते समय, उपभोक्ता जो कीमत चुकाता है, वह कीमत निःसन्देह उस कीमत से कम रहती है, जो उस वस्तु के प्राप्त न होने की अवस्था में उपभोक्ता चुकाने के लिए तत्पर होता है। हां, यह आलोचना सही है कि उपभोक्ता की बचत की सही माप नहीं की जा सकती।

7 उदासीनता वक्रों द्वारा उपभोक्ता की बचत की माप
(Measuring Consumer's Surplus with the Help of Indifference Curves)

प्रो० हिक्स और ऐलन ने यह कहा है कि न तो उपयोगिता की माप की जा सकती है और न मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता ही स्थिर है। उनके अनुसार हम इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं कि व्यय की मात्रा में वृद्धि के साथ साथ मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता बढ़ती जाती है। यदि हम उपभोक्ता की बचत को आय की बचत (Saving of Income) की तरह मान लें तो मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता को स्थिर मानना अनावश्यक हो जाता है। मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता को यथास्थिर मानने का अर्थ यह होगा कि हम कीमत परिवर्तन के आय प्रभाव (Income effect of

4 "*Samuelson*, Foundations of Economic Analysis, P. 207

price changes) की उपेक्षा कर रहे हैं। प्रो० हिक्स ने (i) उपयोगिता को अमापनीय (ii) मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता को परिवर्तनशील मानकर और (iii) स्थानापन्न व पूरक वस्तुओं के प्रभाव को ध्यान में रखते हुए, उदासीनता वक्रों[3] की सहायता से उपभोक्ता की बचत को मापने का ढंग बतलाया है। इस प्रकार उन्होंने मार्शल द्वारा बतलाए गए 'उपभोक्ता की बचत' के दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया। हिक्स ने 'उपभोक्ता की बचत' को नये दृष्टिकोण से देखा। उन्होंने कहा कि यदि वस्तु की कीमत गिरती है, तो उपभोक्ता के लिए इसके दो परिणाम हो सकते हैं। (i) उस सस्ती वस्तु (वस्तु जिसकी कीमत गिर गई है) की वह पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा खरीद सकता है, तथा इस प्रकार अधिक खरीदी हुई वस्तु का प्रयोग अन्य वस्तु के स्थान पर कर सकता है, जिनकी कीमत गिरी नहीं है, तथा (ii) कीमत गिर जाने से वस्तु सस्ती हो जाएगी तथा पहले जितनी मात्रा खरीदने पर उपभोक्ता का खर्च अब कम होगा। इन दोनों बातों का प्रभाव यह होगा कि उपभोक्ता, कीमत गिर जाने के कारण, पहले की अपेक्षा अच्छी स्थिति में होगा अर्थात् कीमत गिरने के कारण उपभोक्ता की वास्तविक-आय में जो वृद्धि हो जायेगी, वह वृद्धि उपभोक्ता की बचत है। हिक्स के शब्दों में, उपभोक्ता की बचत को स्पष्ट करने का सबसे अच्छा तरीका है, इसे कीमत में कमी के कारण उपभोक्ता को प्राप्त होने वाले लाभ को मौद्रिक आय के रूप में व्यक्त करना।" "The best way of looking at consumer's surplus is to regard it as a means of expressing in terms of money income, the gain which accrues to the consumer as a result of a fall in prices." (Hicks, Value and Capital, p 13) अत. हिक्स द्वारा प्रस्तुत व्याख्या अधिक वैज्ञानिक तथा उनके तर्क अधिक व्यावहारिक हैं। चित्र स० 8 द्वारा हिक्स के विचारों को समझाने का प्रयत्न किया गया है[4]

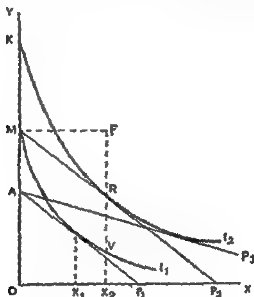
चित्र द्वारा स्पष्टीकरण चित्र से तीन प्रकार की उपभोक्ता की बचतों का ज्ञान होता है

(1) मार्शल की उपभोक्ता की बचत (The counterpart of Marshallian concept) उपभोक्ता की मौद्रिक आय (Money Income) OY अक्ष पर तथा वस्तु की मात्रा को OX पर दिखलाया गया है। MP_1 कीमत रेखा है। बिन्दु

[3] उदासीनता वक्रों के अध्ययन हेतु अध्याय 11 देखिए।

[4] अधिकांश पुस्तकों में चित्र 8 के स्थान पर दूसरे चित्र दिए गए हैं, परन्तु यह चित्र अधिक स्पष्ट है। इसकी प्रमुख विशेषता यह है कि इस एक ही चित्र द्वारा हम तीन प्रकार की उपभोक्ता की बचत को माप सकते हैं। देखिए, 'A Survey of Contemporary Economics' Edited by Ellis, Vol I, Chapter I—Value and Distribution, an article by B E Haley

R उपभोक्ता का संतुलन विन्दु है (I_2 तटस्थता वक्र पर) जो यह बतलाता है कि उपभोक्ता वस्तु की OX_2 मात्रा+OA मुद्रा के संयोग पर है। इसका अर्थ यह कि उपभोक्ता को OX_2 मात्रा खरीदने के लिए MA या FR मुद्रा देता है। दूसरे तटस्थता वक्र I_2 पर विन्दु V है जो यह बतलाता है कि उपभोक्ता वस्तु की OX_2



चित्र स० 8

मात्रा खरीदने के लिए FV या MS मुद्रा देने के लिए तैयार है, परन्तु वास्तव में वह OX_2 वस्तु की मात्रा के लिए केवल FR या MA मुद्रा ही देता है। इस प्रकार FV—FR=RV उपभोक्ता की बचत हुई। RV वही उपभोक्ता की बचत है जिसके विषय में मार्शल ने कहा था -

"The difference between what the consumer actually pays for a given quantity of a commodity and the maximum amount he could have been made to pay for it"

इस प्रकार चित्र में मार्शल द्वारा बतलायी गयी उपभोक्ता की बचत RV है, जिसे हिक्स ने तटस्थता वक्रों की सहायता से बतलाया है।

2. क्षति पूरक परिवर्तन (The Compensation Variation) : हिक्स ने एक दूसरे दृष्टिकोण से भी 'उपभोक्ता की बचत' पर विचार किया है। उनके अनुसार उपभोक्ता की बचत आय में उस क्षति-पूरक परिवर्तन के समान है, जिसकी अनुपस्थिति कीमत में कमी के लाभ को समाप्त कर देगी और उपभोक्ता पहले से अच्छी स्थिति में नहीं रहेगा।"

"Consumer's surplus is the compensating variation in income whose loss would just offset the fall in price, and leave the consumer no better off than before" —*Hicks*

यदि वस्तु के मूल्य मे कमी होती हैं तो उपभोक्ता की वास्तविक आय मे वृद्धि होती है अर्थात् वह अपनी आय द्वारा अब वस्तु की अधिक मात्रा खरीद सकता है। अत **उपभोक्ता की बचत मौद्रिक आय मे उस क्षति के बराबर होगी,** जिसके फलस्वरूप उपभोक्ता की वास्तविक आय पहले के समान रहती है। जैसे किसी व्यक्ति की दैनिक आय दो रुपए है। वह इन दो रुपयो से एक गज कपडा खरीद सकता है। यदि कपडे का भाव दो रुपए प्रति गज से घटकर एक रुपया प्रति गज हो जाए तो अब उपभोक्ता एक रुपया मे ही एक गज कपडा खरीद सकेगा। यदि उसकी आय दो रुपया प्रति दिन से कम करके केवल एक रुपया प्रतिदिन कर दी जाए तो भी उसकी वास्तविक आय मे कमी नही होगी, क्योकि वह घटी हुई आय से भी, वस्तु सस्ती हो जाने के कारण, पहले जितनी मात्रा मे वस्तु खरीद सकता है। इस प्रकार उसकी वास्तविक आय पहले जैसी ही रहेगी। अत इस उदाहरण मे उपभोक्ता की बचत एक रुपया हुई जो वस्तु की कीमत गिरने तथा मौद्रिक आय पहले के ही समान रहने के कारण प्राप्त होती है। चित्र म MP_2 पहले की कीमत रेखा है। उपभोक्ता OX_2 वस्तु की मात्रा $+$ OA मुद्रा के सयोग पर है अर्थात् वह OX_2 मात्रा के लिए FR मुद्रा देता है। अब यदि हम उपभोक्ता को ऊचे तटस्थता वक्र से नीचे तटस्थता वक्र (From higher indifference curve to lower indifference curve) पर लाए, परन्तु उपभोक्ता को हम स्वतन्त्रता दें कि वह वस्तु की जितनी मात्रा चाहे खरीद सके (*कीमत कम होने के कारण*) तो वह *अब पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा* खरीद सकेगा। यदि हम उसे पहले वाली ही तटस्थता वक्र पर रहने दें अर्थात् पहले जितनी मात्रा खरीदने दें तो वह पहले जितनी मात्रा अब कम आय से ही खरीद सकता है, अर्थात् यदि उसकी आय घटा दी जाए तो भी वह मूल्य कम होने के कारण, वास्तविक आय की दृष्टि से पहले की ही स्थिति मे रहेगा। चित्र मे स्पष्ट है कि यदि उसकी आय OM से घटाकर OA कर दी जाए तो भी वह कीमत कम होने के कारण(AP_1 कीमत रेखा घटी हुई कीमत को प्रकट करती है) पहले की ही स्थिति म रहेगा। इस प्रकार OM—OA=MA उपभोक्ता की बचत हुई जिसे हम Compensating Variation कह सकते हैं।

(3) समान परिवर्तन (Equivalent Variation) ; यदि उपभोक्ता को वस्तु खरीदने का बिल्कुल मौका न दिया जाए तो वह कीमत की कमी से लाभ नही उठा सकेगा। अत वह इसके लिए क्षति पूर्ति चाहेगा। उसे इतनी मात्रा मे क्षति पूर्ति मिलनी चाहिए जिसमे वह Higher Indifference curve पर रह सके। क्षति पूर्ति की इस मात्रा को Equivalent Variation कहते हैं। (Equivalent Variation

is the amount of added income that would compensate the consumer for the loss of the opportunity to purchase any of the commodity Haley, op cit p. 5) चित्र से स्पष्ट है कि पहले आय OM थी। उसकी वह OX_2 मात्रा +OA मुद्रा के संयोग पर था। अब यदि उसे वस्तु बिल्कुल न खरीदने दिया जाय तो वह OM मुद्रा से ही संतुष्ट नहीं होगा। OX_2 वस्तु के बदले उसे अब क्षतिपूर्ति चाहिए। अतः यदि हम उसे पहले जितना ही सन्तुष्ट रखना चाहते हैं। (पहले के तटस्थता-वक्र पर रखना चाहते हैं, अर्थात् उसे वस्तु की शून्य मात्रा +OK मुद्रा चाहिए) परन्तु वस्तु खरीदने नहीं देते हैं तो वह तटस्थता वक्र पर R बिन्दु से हट कर K बिन्दु पर जाएगा, K बिन्दु पर उसका संयोग OK मुद्रा +X वस्तु की शून्य मात्रा होगी। (उसकी आय में MK के बराबर वृद्धि होनी चाहिए) अर्थात् इस दशा में MK उपभोक्ता की बचत हुई।

Hicks ने इसे (MK मुद्रा वृद्धि को) quantity-equivalent variation in income' कहा है तथा I. M D Little ने 'quantity-compensating variation in income' कहा है। इस प्रकार चित्र सं० 8 से तीन प्रकार की उपभोक्ता बचतों का ज्ञान होता है

(i) Marshall's Consumer's Surplus=RV

(ii) Compensating Variation=MA

(iii) Equivalent Variation=MK

(इनके अतिरिक्त भी उपभोक्ता की बचत के सम्बन्ध में अन्य विचार व्यक्त किए गए हैं। परन्तु स्नातक तथा आनर्स के विद्यार्थियों के लिए उपर्युक्त विवरण ही पर्याप्त है।)

8 उपभोक्ता की बचत का महत्व (Importance of Consumer's Surplus)

विभिन्न प्रकार की आलोचनाओं तथा उपभोक्ताओं की बचत की संदेहपूर्ण मापनीयता के होते हुए भी यह सिद्धान्त अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है

(1) सैद्धान्तिक महत्व उपभोक्ता की बचत द्वारा हमें इस तथ्य का ज्ञान होता है कि हम समाज या अर्थ व्यवस्था के ऐसे अनेक लाभ प्राप्त होते हैं जिनके विषय में हम जागरूक नहीं हैं या साधारणत हमारा ध्यान उनकी तरफ नहीं जाता है। इससे इस बात का पता चलता है कि जिस देश में विभिन्न प्रकार की सस्ती वस्तुएं यथेष्ठ मात्रा में उपलब्ध होती हैं उस देश के उपभोक्ताओं को अत्यधिक मात्रा में उपभोक्ता का अतिरेक प्राप्त होता है। हम अचेत रूप में सामाजिक वातावरण से जो लाभ प्राप्त होता है, उसका अनुमान हम नहीं लगा सकते। यदि एक कुशल उत्पादक को प्राकृतिक साधन मशीन, श्रम तथा प्राविधिक ज्ञान (जो समाज से ही प्राप्त होते हैं) आदि से वंचित कर दिया जाए तो उसकी कुशलता का कुछ भी उप-

योग नहीं होगा। इन चीजों में उसे जो लाभ प्राप्त होते हैं, वे परोक्ष रूप में उसके लिए 'उपभोक्ता की बचत' के प्रतीक हैं : सैम्युएलसन के शब्दों में, विभिन्न प्रकार की वस्तुओं को कम मूल्यों पर खरीदने में समर्थ होना कम महत्त्वपूर्ण नहीं है ......यह अत्यन्त ही स्पष्ट है कि हम एक ऐसे आर्थिक जगत की सुविधाओं से लाभान्वित हो रहे हैं, जिसका निर्माण हमने कभी नहीं किया था।[5]

(2) **मूल्यों का अन्तर** उपभोक्ता की बचत द्वारा हमें प्रयोग मूल्य (Value-in use) और विनिमय मूल्य (Value-in-Exchange) का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। इन दोनों के अन्तर द्वार उपभोक्ता की बचत जानी जाती है।

(3) **आर्थिक तुलना** इस सिद्धान्त की सहायता से हम दो देशों के आर्थिक विकास तथा उन्नति (Development and Progress) की तुलना कर सकते हैं। अधिक उपभोक्ता की बचत (अन्य बातों के यथावत् रहने पर) आर्थिक उन्नति का प्रतीक है।

(4) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार** इसके द्वारा हम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त लाभों का अनुमान लगा सकते हैं। सस्ती दर पर विदेशी वस्तुएं खरीदने से अतिरिक्त उपयोगिता मिलती है, जो उपभोक्ता की बचत का द्योतक है।

(5) **मूल्य परिवर्तन का प्रभाव** इसकी सहायता से मूल्य परिवर्तन द्वारा उपभोक्ताओं पर पड़े प्रभाव की जानकारी प्राप्त की जा सकती है। मूल्य-परिवर्तन से उपभोक्ता की बचत में हुई वृद्धि उपभोक्ता के लिए हितकर होती है।

(6) **कर नीति :** सरकार इसके द्वारा विभिन्न वर्गों पर पड़े कर-भार का अनुमान लगा सकती है। अतिरिक्त कर उपभोक्ता की बचत को कम करता है, अत सरकार ऐसी कर नीति अपना सकती है, जिससे उपभोक्ता की बचत में न्यूनतम कमी हो।

(7) **एकाधिकारी** यह सिद्धान्त एकाधिकारी (Monopolist) के लिए अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। उपभोक्ता की बचत को ध्यान में रखते हुए एकाधिकारी मूल्यों में इस प्रकार परिवर्तन करता है जिससे उसका लाभ अधिकतम हो सके। यदि किसी वस्तु से उपभोक्ताओं को 'उपभोक्ता की बचत' बहुत अधिक प्राप्त होती है, तो एकाधिकारी ऐसी वस्तु का मूल्य कुछ बढ़ा सकता है। परन्तु मूल्य बढ़ाते समय इस बात का ध्यान रखना होगा कि कहीं 'उपभोक्ता की बचत' पूर्णतया समाप्त न हो जाए। ऐसी मूल्य-वृद्धि से वस्तु की मांग कम हो जाएगी।

---

[4] "The privilege of being able to buy a vast array of goods at low prices cannot be over-estimated. It is only too clear that all of us are reaping the benefits of an economic world we never made." —*Samuelson*

प्रश्न तथा संकेत

1. 'उपभोक्ता बचत' के विचार की व्याख्या कीजिए। अर्थशास्त्र में इसका क्या महत्व है ?

(Jiwaji, B. A. I, 1967, Udaipur T. D. C. Com. 1967)

[संकेत—सर्वप्रथम उपभोक्ता विचार की स्पष्ट व्याख्या कीजिए। इसके पश्चात् अर्थशास्त्र में इसका महत्व स्पष्ट कीजिए।]

2. तटस्थता वक्र विश्लेषण (Indifference curve Technique) की सहायता से उपभोक्ता बचत के निर्धारण की विवेचना कीजिए।

(Ravishankar, B. A., 1965)

3. उपभोक्ता की बचत की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए और इसके मापने की कठिनाइयों को समझाइए। (Raj., T. D. C. Com., 1964)

4. उपभोक्ता की बचत के सिद्धान्त की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए। यह कैसे मापी जा सकती है ? चित्र खींचिए। (Agra, B. Com. I, 1965)

[संकेत—प्रथम भाग में उपभोक्ता की बचत के आशय को रेखाचित्र व उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए। द्वितीय भाग में उपभोक्ता की बचत को मापने की विधियाँ बताइए। तृतीय भाग में इसको मापने के सम्बन्ध में कठिनाइयों का उल्लेख कीजिए।]

10

उपयोगिता विश्लेषण (III) : मांग
(Utility Analysis (III) : Demand)

"The demand for anything, at a given price, is the amount of it, which will be bought per unit of time at that price."

—Benham

समस्त उत्पादन-व्यवस्था 'माँग' पर आधारित है। उपभोक्ताओं की व्यक्तिगत माग, समाज की सामाजिक माग, राष्ट्र की राष्ट्रीय माग, यहा तक कि विभिन्न देशो की मागो की मात्राओ के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय 'माग' की पूर्ति करने के लिए ही किसी देश को वस्तुओ का उत्पादन बढाने के लिये आवश्यक प्रेरणाये प्राप्त होती हैं।

1. मांग का अर्थ (Meaning of Demand)

अर्थशास्त्र मे किसी इच्छा (desire) तथा आवश्यकता (need) मात्र को माग (demand) नही कहा जाता, क्योकि केवल इच्छा मात्र से ही कोई वस्तु या सेवा प्राप्त नही हो जाती। वस्तुत. जब उपभोक्ता किसी वस्तु या सेवा की इच्छा-पूर्ति के लिए मूल्य के रूप मे उचित प्रतिफल (Consideration) देने के लिए तत्पर तथा समर्थ होता है, तभी उसकी इच्छा प्रभावकारी मानी जाती है। अतः 'मूल्य से सम्बन्धित प्रभावकारी इच्छा (effective desire related to price) को ही अर्थशास्त्र मे माग कहा जाता है। मूल्य के अतिरिक्त माग का सम्बन्ध समय की एक निश्चित इकाई या अवधि (unit or period of time) से भी होता है। अत बेनहम के अनुसार **"एक दिए गए मूल्य पर किसी वस्तु की माग उसकी वह मात्रा है जो उस मूल्य पर किसी समय विशेष पर क्रय की जाएगी।"**

माग के उपर्युक्त अर्थ से यह ज्ञात होता है कि माग के अग्रलिखित तीन तत्व हैं :

(1) मांग का प्रभावोत्पादक इच्छा (effective desire) होना केवल प्रभावोत्पादक इच्छा ही मांग होती है। अत मांग में भी आवश्यकता की तरह (i) इच्छा (ii) पर्याप्त क्रय शक्ति या धन तथा (iii) क्रय शक्ति या धन व्यय करने की तत्परता का होना आवश्यक है।

(2) मांग का मूल्य से सम्बन्ध होना मांग का मूल्य से सम्बन्ध होना अनिवार्य है (Demand, in Economics, always means demand at a price)। किसी भी वस्तु या सेवा की मांग उसके मूल्य के सन्दर्भ में ही व्यक्त की जाती है। इसका कारण यह है कि बदलते हुए मूल्यों पर मांग, अर्थात् वस्तु की खरीदी जाने वाली मात्रा बदला करती है।

(3) समय की अवधि से सम्बन्ध होना माग का हमेशा एक निश्चित समय की इकाई या अवधि, जैसे प्रतिदिन, प्रति सप्ताह, प्रति महीने या प्रति वर्ष के सन्दर्भ में उल्लेख किया जाता है। अत यह कहा जाता है कि माग किसी निश्चित मूल्य पर किसी विशेष समय में होती है (Demand is at a price and at a time)।

उपर्युक्त तत्वों पर बॉबर (Bober) तथा मेयर्स (Meyers) की निम्नलिखित परिभाषाओं से अच्छा प्रकाश पड़ता है

बॉबर के अनुसार "माग से हमारा आशय एक ही दी हुई वस्तु की उन विभिन्न मात्राओं से है जो उपभोक्ता किसी एक बाजार में, किसी दिए गए समय में विभिन्न मूल्यों पर अथवा विभिन्न आयों पर अथवा सम्बन्धित वस्तुओं के विभिन्न मूल्यों पर क्रय करेंगे।"[1]

मेयर्स के अनुसार, "किसी वस्तु की माग किसी निश्चित समय में सभी संभव मूल्यों पर उस वस्तु की उन मात्राओं की सूची है जिन्हें खरीदने के लिए क्रेता तत्पर होंगे।"[2]

माग तथा प्रभावकारी माग (effective demand) में अन्तर माग किसी मूल्य पर खरीदी जाने वाली किसी वस्तु की खरीदी जाने वाली मात्राओं या संख्याओं

---

1 "By demand we mean the various quantities of a given commodity or service which consumers would buy in one market in a given period of time at various prices, or at various incomes, or at various prices of related goods." —*Bober*

2 "The demand for a goods is a schedule of the amounts that buyers would be willing to purchase *at all possible prices at any one instant of time.*" —*Meyers*

को बताती है, जबकि प्रभावकारी माग किसी व्यक्ति द्वारा उस वस्तु की वास्तव मे खरीदी गई संख्या या मात्रा को बतलाती है।

मांग तथा आवश्यकता में अन्तर :

अर्थशास्त्र मे प्रभावकारी इच्छा को माग तथा आवश्यकता दोनो ही कहा जा सकता है, किन्तु माग का अर्थ आवश्यकता से भिन्न होने के कारण 'माग' को ऐसी प्रभावकारी इच्छा कहते है जिसका सम्बन्ध मूल्य तथा समय-विशेष से होता है। वस्तुत, माग को मूल्य से सम्बन्धित आवश्यकता (want related to price) भी कहा जा सकता है। मिल के अनुसार "माग शब्द से हमारा अभिप्राय निश्चय ही माग की मात्रा से होना चाहिए।" (We must mean by the word 'demand' the quantity demanded)। इस अर्थ मे माग उसी समय व्यक्त की जा सकती है, जबकि उसे मूल्य के साथ सम्बद्ध किया जाता है। अत, आवश्यकता केवल एक ऐसी प्रभावकारी इच्छा है जिसके पीछे क्रय-शक्ति तथा वस्तु को खरीदने की तत्परता मात्र ही रहती है।

2 मांग-सूची (Demand Schedule)

(i) व्यक्तिगत मांग-सूची : वह सूची, जो एक उपभोक्ता द्वारा किसी दिए गए समय मे एक काल्पनिक बाजार मे विभिन्न मूल्यों पर खरीदी जाने वाली वस्तु की विभिन्न मात्राओं को दिखलाती है, व्यक्तिगत माग-सूची (Individual Demand Schedule) कहलाती है। यह सूची किसी वस्तु या सेवा के मूल्य तथा उसकी मागी गई मात्रा के फलनीय सम्बन्ध (functional relationship) को व्यक्त करती है।[3]

(ii) उद्योग या बाजार मांग सूची (Industry or Market Demand Schedule) : सभी उपभोक्ताओं की एक निश्चित समय व्यक्तिगत माग सूचियो मे दी गई वस्तु-विशेष की विभिन्न मूल्यो पर कुल खरीदी जाने वाली विभिन्न मात्राओं के योगो से तैयार की गई सूची उद्योग या बाजार-माग सूची कहलाती है। मान लीजिए X, Y और Z तीन व्यक्तियों की मांग सूची अग्रलिखित हैं :

---

[3] ...."Relationship between price and quantity bought is called the demand schedule or 'demand curve'. —*Semuelson*

व्यक्तिगत और बाजार माग सूची

व्यक्तिगत माग-सूचियाँ (दैनिक)				बाजार माँग-सूची (दैनिक)	
मूल्य (प्रति इकाई) रु०	मागी गयी इकाइयो की मात्राएं			मूल्य प्रति इकाई रु०	कुल मागी गयी इकाइयो की मात्राएं
	X	Y	Z		
6	2	3	1	6	6
5	4	5	3	5	12
4	6	8	4	4	18
3	8	10	7	3	25
2	10	13	11	2	34
1	12	18	14	1	44

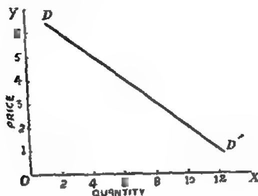
उपर्युक्त बाजार माग-सूची अनुमानो पर आधारित तथा काल्पनिक है क्योंकि वास्तविक जीवन मे बाजार माग-सूची तैयार करना असम्भव है। इस सम्बन्ध में हम केवल यह व्यक्त कर सकते है कि मूल्य के घटने पर वस्तु की माग की मात्रा बढ़ेगी तथा मूल्य-वृद्धि से माँग की मात्रा घटेगी। माग को निर्धारित करने वाले तत्त्वो मे परिवर्तन होते रहते हैं। इसके साथ ही ऐसी कोई सन्तोषजनक विधि भी नही है जिसके द्वारा यह ज्ञात किया जा सके कि प्रचलित मूल्य पर कितनी अधिक अथवा कितनी कम माग होगी ? उस समय तक इस तथ्य को ज्ञात करने का प्रश्न ही उपस्थित नही होता, जब तक कि अन्य परिस्थितियाँ (मौद्रिक आय स्तर सहित) समान रहती है। माग-सूची तो केवल इस बात की जानकारी प्रदान करती है कि किसी समय-विशेष पर एक ही बाजार मे, 'पूर्ण बाजार (Perfect market) होने पर' केवल एक ही मूल्य प्रचलित होता है।

3 माग-वक्र (Demand Curve)

"माग सूची का चित्रीयकरण माग वक्र कहलाता है।"* माग-वक्र द्वारा माग-सूची मे दी गयी माग की मात्राओ को रेखा-चित्र द्वारा भी प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार किसी वस्तु के मूल्य तथा उसकी क्रय की जाने वाली मात्राओं के सम्बन्ध को व्यक्त करने वाले रेखाचित्र पर अङ्कित वक्र माग-वक्र कहलाता है। जैसा कि दिए गए चित्र से स्पष्ट है, शीर्ष (vertical)-अक्ष (Oy-axis) पर वस्तु-विशेष के विभिन्न मूल्यो (प्रति इकाई) को अंकित किया है तथा क्षैतिज (horizontal) अक्ष (OX-axis) पर वस्तु की विभिन्न मात्राएं प्रदर्शित की गई है। दिए गए चित्र

* "......Picturization of the demand schedule is called the demand curve." —*Samuelson*

मे की माग सूची से एक माग वक्र खींचा गया है। इस वक्र को देखने पर यह ज्ञात होगा कि यह वक्र भी 'उपयोगिता वक्र' (Utility Curve) के ही अनुरूप है।



चित्र न० 9

ऊपर दिए गए चित्र में माग वक्र का रूप एक सीधी रेखा के सदृश है, किन्तु इसके कई अन्य रूप भी हो सकते हैं। वह उन्नतोदर (convex) अथवा नतोदर (concave) अथवा उसका आंशिक भाग एक रूप में तथा शेष भाग किसी अन्य रूप में हो सकता है। उसका चाहे जो भी रूप हो, अधिकांश माग वक्रों की ढाल (slope) सदैव दायीं तरफ नीचे की ओर होती है (always slope downward from left to the right)।

(i) मूल्य माग (Price Demand) किसी उपभोक्ता द्वारा एक निश्चित समय में विभिन्न कल्पित (hypothetical) मूल्यों पर किसी वस्तु या सेवा की खरीदी जाने वाली मात्राओं को 'मूल्य माग' कहा जाता है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रहे कि उक्त समय में माग को प्रभावित करने वाले तत्वों, जैसे आय, रुचि, फैशन आदि में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए। प्रत्येक उपभोक्ता की इस प्रकार की माग *व्यक्तिगत माग (individual demand)* कहलाती है। परन्तु वस्तुओं तथा सेवाओं की उपभोक्ताओं की सामूहिक या सम्मिलित माग को उद्योग या बाजार-माग (Industry or Market Demand) कहा जाता है। किसी वस्तु या सेवा की मात्रा की व्यक्तिगत अथवा बाजार माग को निर्धारित करते समय यह मान लिया जाता है कि उससे (वस्तु या सेवा से) सम्बन्धित वस्तुओं या सेवाओं (related goods or services) के मूल्यों में भी कोई परिवर्तन नहीं होता है।

(ii) आय माग (Income Demand) : आय माग का अभिप्राय वस्तुओं तथा सेवाओं की उन मात्राओं से है, जो एक निश्चित समय में, अन्य बातों के यथावत् रहने पर, उपभोक्ता विभिन्न आय स्तरों पर खरीदने के लिए तैयार है।

आय-माग को ज्ञात करते समय मूल्यों को अपरिवर्तित मानने के साथ साथ यह भी मान लिया जाता है कि उपभोक्ताओं की रुचि तथा आदतों में भी किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है। एक बाजार में निश्चित समय में विभिन्न आय स्तरों पर किसी वस्तु की क्रय की जाने वाली मात्राओं की सूची को आय-माग सूची (Income-Demand-Schedule) कहा जाता है। आय-माग, विभिन्न आय-स्तरों तथा वस्तु की क्रय की जाने वाली मात्राओं के पारस्परिक सम्बन्ध को व्यक्त करती है। अतः आय-मांग सूची (Income Demand Schedule) के एक खाने (column) में आय तथा दूसरे खाने में विभिन्न आय-स्तरों पर वस्तु की मात्राएं उल्लेखित की जाती हैं। इस सूची से आय तथा माग की मात्राओं के पारस्परिक सम्बन्ध को प्रदर्शित करने के लिए आय माग-वक्र (Income Demand Curve) खींचा जा सकता है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि आय-स्तर ऊंचा होने पर उपभोक्ता नीची किस्म की वस्तुओं (economically inferior goods) के स्थान पर अच्छी किस्म की वस्तुएं खरीदने लगता है। इस कारण अच्छी वस्तुओं की माग बढ़ जाती है और उसकी अधिक मात्राएं खरीदी जाती हैं। इसके विपरीत आय कम होने पर नीची किस्म की वस्तुओं की अधिक मात्राएं क्रय की जाती हैं।

(iii) तिरछी माग (Cross Demand) तिरछी मांग किसी वस्तु की उन मात्राओं को बताती है जो उपभोक्ता एक निश्चित समय में उस वस्तु के मूल्य तथा आय के समान रहने पर, परन्तु सम्बन्धित मूल्यों में परिवर्तन होने पर, खरीदने को तैयार है। इस प्रकार की माग वस्तु की मांगी जाने वाली मात्राओं तथा उस वस्तु से सम्बद्ध वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तन के सम्बन्ध का ज्ञान कराती है। इसके लिए यह आवश्यक है कि सम्बद्ध वस्तु प्रतियोगी (competing) या प्रतिस्थापक (substitute) हो, जैसे चाय और काफी, अथवा सहयोगी (cooperating) या पूरक (complementary) हो, जैसे चाय और चीनी। यदि काफी का मूल्य कम हो जाय और चाय का मूल्य यथावत् रहे तो उपभोक्ता निश्चित रूप से चाय के स्थान पर काफी की अधिक मात्रा क्रय करने को तैयार होगा। ऐसी स्थिति में चाय की प्रतिस्थापक वस्तु का माग-वक्र (Demand Curve) दायीं ओर नीचे से ऊपर की ओर जायेगा।

यदि कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु की पूरक है, जैसे चाय और चीनी, मोटर तथा पेट्रोल आदि, तो किसी एक आवश्यकता-विशेष की पूर्ति के लिए दोनों सहयोगी वस्तुएं आवश्यक होती हैं। उदाहरणार्थ, चाय के लिए चीनी पूरक वस्तु है। यदि चाय का मूल्य कम हो जाता है तो उसकी अधिक मात्राएं क्रय करने पर चीनी की अधिक मात्राएं क्रय की जायेंगी। इस स्थिति में चीनी का तिरछा-माग-वक्र

(Cross Demand Curve) का झुकाव चाय के माँग वक्र की तरह ही दायीं तरफ ऊपर से नीचे की ओर होगा।

उपर्युक्त दोनो स्थितियो मे किसी वस्तु की माग की मात्राओ तथा उसकी प्रतिस्थापक अथवा पूरक वस्तुओ की माग की मात्राओ के पारस्परिक सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए माग-सूची के एक खाने मे प्रथम वस्तु के मूल्यो को तथा दूसरे खाने मे दूसरी वस्तु की क्रय की जाने वाली मात्राओ को लिखते हैं।

5. मांग का नियम (The Law of Demand)

1. परिभाषा .

किसी वस्तु के मूल्य तथा माग की जाने वाली उसकी मात्रा के सम्बन्ध को व्यक्त करने वाला नियम माग का नियम कहा जाता है। यह नियम बतलाता है कि मांग मूल्य के विपरीत बदलती रहती हैं, अर्थात् अधिक मूल्य पर वस्तु-विशेष की कम मात्रा खरीदी जाएगी और कम मूल्य पर उसकी अधिक मात्रा क्रय की जाएगी, बशर्ते कि माग के अन्य निर्धारक तत्व अपरिवर्तित रहें। सैम्युएलसन (Semuelson) के अनुसार "······यदि बाजार मे किसी वस्तु की अधिक मात्रा प्रस्तुत की जाय, तो अन्य बातो के समान रहने पर, वह कम मूल्य पर ही बेची जा सकती है।[6]

माग का नियम एक गुणात्मक (qualitative), न कि परिमाणात्मक (quantitative), वर्णन है। वह किसी वस्तु की मागी जाने वाली मात्रा मे परिवर्तन की दिशा का संकेत करता है, उसके वास्तविक परिमाण (magnitude) का नहीं। जैसे यह कहा जाय कि 100 रुपए प्रति क्विन्टल की दर से किसी समय विशेष मे (प्रति सप्ताह) गेहू की मागी जाने वाली मात्रा 500 क्विन्टल है, तो 80 रु० प्रति क्विन्टल मूल्य हो जाने पर गेहू की मागी जाने वाली मात्रा कितनी होगी ? यह ज्ञात करना कठिन होगा। इस नियम के आधार पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि गेहू 500 क्विन्टल से अधिक क्रय किया जायेगा। अतः यह स्पष्ट है कि मूल्य मे वृद्धि या मूल्य मे कमी होने पर माग का नियम केवल माग की मात्रा मे क्रमशः कमी अथवा वृद्धि की ओर ही संकेत करता है, माग की जाने वाली

[5] 'When the price of a good is raised (at the same time that all other things are held constant), less of it will be demanded ·· People will buy more at lower prices and buy less at higher ones"

Samuelson

[6] "Or, what is the same thing if a greater quantity of a goods is thrown on the market, then—other things being equal—it can be sold only at a lower price." —*Samuelson*

वास्तविक मात्रा का ज्ञान इससे प्राप्त नहीं होता । माग का नियम मूल्य में परिवर्तन होने के कारण माग में होने वाले परिवर्तन के अनुपात को भी व्यक्त नहीं करता, क्योंकि यह अनुपात मूल्य में होने वाले परिवर्तन के अनुपात से कम या अधिक या, उसके बराबर हो सकता है।

माग मूल्य से प्रभावित होता है । मूल्य के अतिरिक्त कुछ अन्य तत्व भी हैं जो माग को प्रभावित करते हैं, जैसे जनसंख्या, उपभोक्ताओ की रुचि तथा आदतें, उनकी आय, सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनैतिक एव आर्थिक दशाए, सम्बन्धित वस्तुओ के मूल्य आदि । मूल्य-परिवर्तन के साथ यदि इन तत्वो मे से किसी एक मे भी परिवर्तन हो जाता है तो उसका माँग की मात्रा पर सामूहिक प्रभाव ज्ञात करना कठिन होगा । उदाहरणस्वरूप, यदि गेहूँ का मूल्य कम होने के साथ ही साथ जनसंख्या में वृद्धि हो जाय, तो गेहूँ की माग की मात्रा का अनुमान नहीं लगाया जा सकता ।

2. माग के सामान्य नियम के अपवाद (*Exceptions to the General Law of Demand*)

कुछ दशाओ मे मूल्य अधिक होने पर माग अधिक और कम मूल्य होने पर कम हो सकती है । इस प्रकार जो माग वक्र प्राप्त बनेगा, वह बाए से दाए ऊपर को उठता हुआ होगा जैसा चित्र सख्या मे दिखलाया गया है । इस प्रकार के अपवाद के निम्नलिखित कारण है

(i) प्रदर्शन उपभोग की वस्तुओ का आकर्षण (*Inducement to purchase goods of conspicious consumption*) ' कुछ वस्तुएं, जैसे आभूषण तथा प्रतिष्ठामूलक प्रदर्शनकारी वस्तुए, महगी होने पर भी धनी व्यक्तियो द्वारा अधिक मात्रा मे क्रय की जाती है । इसके विपरीत मूल्य कम होने पर वे उन्हे खरीदना बन्द कर देते है । इस प्रकार मूल्य-वृद्धि से माग मे वृद्धि तथा मूल्य-ह्रास से माग मे कमी हो सकती है ।

(ii) मूल्य वृद्धि की आशका (*When prices are expected to rise*) : कुछ वस्तुए ऐसी होती हैं, जैसे अनिवार्य आवश्यकताओ की वस्तुए, जिनकी मूल्य वृद्धि से उनकी माग कम नही होती । उस वस्तु के बाजार की प्रवृत्तियो का अध्ययन करने पर यदि यह आशका हो जाती है कि भविष्य मे सट्टे या अधिक लाभ की भावना से विक्रेता वस्तु के मूल्य मे और वृद्धि करेंगे, तो क्रेता प्रचलित अधिक मूल्य पर भी वस्तु की अधिक मात्रा क्रय करने लगते हैं।

(iii) निकृष्ट वस्तुएं (*Inferior goods*) : निर्धन व्यक्ति द्वारा क्रय की जाने वाली वस्तु निकृष्ट वस्तु कहलाती है । यदि उस व्यक्ति की आय में वृद्धि हो

जाती है, तो वह ऐसी वस्तु की कम मात्रा ही क्रय करेगा। उदाहरणार्थ, एक निर्धन व्यक्ति, गेहू का मूल्य अधिक होने के कारण, जौ अधिक मात्रा मे क्रय करता है। यदि जौ का मूल्य कम हो जाए और वह जौ की पूर्ववत् मात्रा ही क्रय करे, तो उसकी आय का कुछ भाग अपेक्षाकृत अच्छी स्थानापन्न वस्तुओ (Substitutes) को क्रय करने के लिए बच रहेगा। अत उपभोक्ता निम्न कोटि की वस्तुओ के मूल्यो मे कमी होने पर भी उनकी क्रय की जाने वाली मात्रा मे वृद्धि नही करता। यह एक विरोधाभास है जिसे *Giffen's paradox* कहते है। परन्तु यह विरोधाभास एक व्यक्ति के सन्दर्भ मे सत्य हो सकता है। सभी उपभोक्ताओ की भावनाएं तथा स्थितियां समान नही होती। अत बाजार-माग सूची इस प्रकार की प्रवृत्ति को व्यक्त नही करती।

3. माग के नियम की मान्यताए (Assumptions of the Law of Demand)

माग का नियम कुछ मान्यताओ पर आधारित है, जो निम्नलिखित हैं :

(1) उपभोक्ता की आदतें तथा रुचियां अपरिवर्तित रहे : किसी वस्तु की क्रय की जाने वाली मात्रा, उपभोक्ता की रुचि तथा आदतो पर निर्भर है। उसकी रुचि तथा आदतो मे परिवर्तन होने पर उपभोग की मात्रा भी परिवर्तित हो जाती है। *अत माग सूचि तथा माग वक्र का निर्माण इस आधार पर किया जाता है कि* उपभोक्ता के पसन्दगी मान (Scale of preferences) मे किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता।

(2) आय यथावत रहे उपभोक्ता की आय मे परिवर्तन होने पर पसन्दगी-मान पूर्णतया परिवर्तित हो जाता है। वह उसी मूल्य पर किसी वस्तु को अधिक मात्रा मे क्रय कर सकता है। निर्धन व्यक्ति की आय मे वृद्धि होने पर वह निकृष्ट वस्तुओ के स्थान पर अधिक अच्छी वस्तुए क्रय करने लगता है।

(3) अन्य वस्तुओ के मूल्यो का यथावत रहना . किसी वस्तु के सम्बन्ध मे माग का नियम उसी समय लागू होगा जब कि अन्य वस्तुओ (स्थानापन्न तथा पूरक वस्तुओ) के मूल्य यथावत् रहे। इन वस्तुओ के मूल्य मे परिवर्तन हो जाने पर वस्तु-विशेष की माग भी परिवर्तित हो सकती है।

(4) मूल्य मे और परिवर्तन की आशका न हो : वस्तु-विशेष के भावी मूल्य मे परिवर्तन की *आशका भी वर्तमान माग को प्रभावित* करती है। अत नियम की सत्यता के लिए यह आवश्यक है कि भविष्य मे मूल्य-परिवर्तन की सम्भावना न हो।

(5) वस्तु विशेष की किस्म समान हो : माग-सूची या माग-वक्र किसी वस्तु-विशेष से ही सम्बन्धित होता है। यदि वस्तु की किस्म मे अन्तर होता है तो *यह नियम चरितार्थ नही होगा।*

6 अधिकांश मांग-वक्रों का ढाल नीचे की ओर क्यों होता है ?

(Why most Demand Curves Slope downwards to the right ?)

इस प्रश्न का उत्तर मांग के नियम की व्याख्या द्वारा होती है। अधिकांश मांग की रेखाओं का ढाल दायीं तरफ नीचे की ओर होता है। इससे यह ज्ञात होता है कि मांग को प्रभावित करने वाले तत्वों में कोई भी परिवर्तन नहीं होने पर वस्तु का मूल्य बढ़ने पर कम तथा मूल्य कम होने पर उसकी अधिक मात्राएं खरीदी जायेंगी। मूल्य तथा मांग की मात्रा में विपरीत सम्बन्ध होने के कारण ही मांग वक्र का झुकाव नीचे की ओर होता है। इसके निम्नलिखित कारण हैं :

(1) ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता नियम का प्रभाव • किसी वस्तु के लिए उपभोक्ता द्वारा दिया जाने वाला मूल्य, मुद्रा के त्याग की मात्रा को व्यक्त करता है। कोई भी उपभोक्ता किसी वस्तु को प्राप्त करते समय उसकी सीमान्त उपयोगिता से अधिक त्याग करने को तैयार नहीं होता। ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता नियम यह बताता है कि किसी वस्तु की जितनी ही अधिक मात्राएं खरीदी जाती हैं, प्रत्येक अतिरिक्त इकाई की सीमान्त उपयोगिता उतनी ही घटती जाती है। इन दोनों विचारों से यह निष्कर्ष निकलता है की सीमान्त उपयोगिता के क्रमशः घटने से त्याग की मात्रा भी क्रमशः घटती जाती है, अर्थात् कम मूल्य होने पर ही किसी वस्तु की अधिक मात्राएं खरीदी जा सकती हैं। इसके विपरीत यदि मूल्य बढ़ जाता है, तो वह केवल इतनी ही इकाइयाँ खरीदेगा जिनकी उपयोगिता (सीमान्त) अधिक है। वह मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता तथा वस्तु की सीमान्त उपयोगिता के साम्य को हमेशा ध्यान में रखेगा। वस्तु की इकाई के रूप में प्राप्त की गयी कम सीमान्त उपयोगिता के लिए, वह मुद्रा की इकाई के रूप में कभी भी अधिक सीमान्त उपयोगिता का त्याग नहीं करेगा। अर्थात्, अन्य बातों के समान रहने पर, उपभोक्ता कम कीमत पर किसी वस्तु की अधिक मात्रा और अधिक कीमत पर कम मात्रा खरीदता है। इसका कारण उपयोगिता ह्रास नियम है। इस प्रकार इस तथ्य पर आधारित यदि मांग वक्र खींचा जाएगा तो उसका ढलान ऊपर से नीचे की ओर, दाहिनी तरफ झुकता हुआ होगा।

(2) घटते हुए मूल्य नए क्रेताओं को आकर्षित करते हैं : जब किसी वस्तु (मान लीजिए गेहूं) का मूल्य अधिक है, तब केवल धनी व्यक्ति ही उसे क्रय करेंगे। निर्धन व्यक्ति अन्य वस्तुओं (जौ, बाजरा आदि) से ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेंगे। फलस्वरूप अधिक मूल्य पर निर्धन व्यक्ति गेहूं नहीं खरीदेंगे। इस प्रकार गेहूं की कम मात्रा खरीदी जाएगी। इसके विपरीत घटते हुए मूल्यों पर अधिक क्रेता उस वस्तु को क्रय करने लगेंगे जिनमें से बहुत से नए क्रेता होंगे। इस प्रकार कम मूल्य पर मांग बढ़ेगी। मूल्य बढ़ने पर उस वस्तु की कम मात्रा

खरीदी जाएगी। इन तथ्यों पर आधारित जो माग वक्र बनाया जाएगा, वह नीचे दाहिनी ओर झुकता हुआ होगा।

(3) प्रतिस्थापन प्रभाव (Substitution Effect) : यदि दो वस्तुओं का उपयोग एक आवश्यकता की पूर्ति के लिए एक ही प्रकार से किया जाता है तो ऐसी वस्तुओं को एक दूसरे की प्रतिस्थापक वस्तु कहा जाता है जैसे चाय और काफी। यदि चाय की कीमत कम हो जावे तथा काफी की कीमत पूर्ववत् रहे तो कुछ लोग चाय सस्ती होने के कारण काफी के स्थान पर चाय का इस्तेमाल करने लगेंगे। इससे चाय की माग बढ जायेगी। इस प्रकार काफी को चाय से प्रतिस्थापित किया जावेगा, इसे प्रतिस्थापन प्रभाव कहते हैं। इस प्रतिस्थापन प्रभाव के कारण किसी वस्तु की कीमत गिरने पर उसकी माग बढ जाती है तथा कीमत घटने पर माग घट जाती है। इस प्रकार माग के नियम के लागू होने का कारण ज्ञात होता है। अत प्रतिस्थापन प्रभाव के कारण माग वक्र का ढलाव ऊपर से नीचे की ओर दाहिनी तरफ झुकता हुआ होता है।

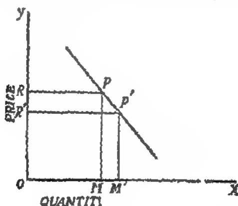
(4) आय-प्रभाव (Income Effect) : किसी वस्तु के मूल्य में कमी होने का अर्थ यह है कि उस वस्तु की पहले जितनी मात्रा कम मुद्रा से क्रय की जा सकती है। उदाहरणार्थ, मान लीजिए एक उपभोक्ता घी की कीमत 12 रु० प्रति किलो होने पर, 5 किलो घी 60 रु० में खरीदता था। यदि घी का मूल्य 10 रु० प्रति किलो हो जाता है तो घी की उतनी ही मात्रा खरीदने पर उसे 50 रु० व्यय करने पडेंगे। इस प्रकार मूल्य के कम होने पर उसका कुल व्यय, घी पर 10 रु० कम हो गया। यह दस रुपए उसके लिए एक प्रकार से आय में वृद्धि की तरह है। इस बचत या आय में वृद्धि का पूरा उपयोग या कुछ भाग का उपयोग वस्तु की अतिरिक्त मात्रा क्रय करने के लिए कर सकता है इसे 'आय प्रभाव' कहते हैं। यदि कीमत बढती है तो उपभोक्ता पहले जितनी ही मुद्रा व्यय करेगा, इस प्रकार वस्तु की कम मात्रा खरीदेगा। बढी हुई कीमत आय घटने के समान है। कम मात्रा खरीदने से वस्तु की माग कम हो जाएगी। अत आय प्रभाव माँग के नियम को स्पष्ट करता है। अर्थात् यह बतलाता है कि कीमत कम होने पर, वस्तु की अधिक मात्रा खरीदी जाएगी, इस प्रकार माग-वक्र का ढलाव बाएं से दाहिने, नीचे की ओर होगा।

7. माँग का विस्तार तथा सकुचन; माँग में वृद्धि व कमी
(Extension and Contraction in demand; Increase and Decrease in demand) .

(1) माग का विस्तार तथा संकुचन अन्य बातों के यथावत् रहने पर किसी वस्तु का मूल्य कम होने पर उसकी अधिक माग को माग का विस्तार (extension or expansion in demand) तथा अधिक मूल्य होने पर कम मात्रा की माँग को माग

का सकुंचन (contraction in demand) कहते हैं । विभिन्न मूल्यों पर वस्तु की विभिन्न मात्राओं की माग को उसी माग वक्र पर विभिन्न बिन्दुओं पर अंकित या प्रदर्शित किया जाता है । यह ध्यान रहे कि माग का विस्तार अथवा सकुंचन मूल्य परिवर्तन के कारण होता है, न कि माग की दशाओं में परिवर्तन होने के कारण । माग में इस प्रकार के परिवर्तन पर उपभोक्ता का कोई निजी प्रभाव नहीं पड़ता । वह मूल्य परिवर्तन के कारण अपनी माग की मात्राओं को परिवर्तित करने को बाध्य होता है । अतः इन परिवर्तनों को उसी माग वक्र पर ऊपर से नीचे अथवा नीचे से ऊपर की ओर जाकर स्पष्ट किया जा सकता है, जैसा कि चित्र स० 10 में दिखलाया गया है ।

मूल्य-परिवर्तन के परिणामस्वरूप माग की मात्राओं में विस्तार अथवा सकुंचन माग-रेखा पर प्रदर्शित किया जा सकता है । यह माग रेखा ही उपभोक्ता के पसदगी-मान (Scale of preferences) को व्यक्त करने वाले विभिन्न बिन्दुओं का पथ है । P'M' मूल्य पर उपभोक्ता वस्तु की OM' मात्रा क्रय करता है । यह (PM) निम्नतम मूल्य है, अतः इस वस्तु को अधिकतम मात्रा (OM') क्रय की जायेगी । यदि मूल्य M'P से बढकर PM हो जाय, तो उपभोक्ता वस्तु की OM मात्रा ही



चित्र स० 10

क्रय करेगा । इस स्थिति में हमने मूल्य-रेखा पर दायी तरफ से ऊपर की ओर बायीं ओर के झुकाव पर P' तथा P बिन्दुओं द्वारा बढ़ते हुए मूल्य पर वस्तु की मात्रा में कमी की दिशा को ज्ञात किया है । अब यदि इसकी विपरीत स्थिति लें, तो हमें उसी मूल्य रेखा पर ऊपर से नीचे की ओर चलना होगा । P बिन्दु पर उपभोक्ता द्वारा वस्तु के लिए दिया जाने वाला मूल्य अधिक है, अतः वह वस्तु की OM मात्रा क्रय करेगा । परन्तु P' पर वस्तु का मूल्य P' M' है जो PM की अपेक्षा कम है,

अत: उपभोक्ता वस्तु की OM' मात्रा क्रय करेगा। अत यह स्पष्ट है कि मूल्य परिवर्तन से माग की मात्रा परिवर्तित होती है, उपभोक्ता पहले से अपनी पसन्दगी (preferences) निर्धारित कर लेता है और उसके बाद वह मूल्य द्वारा पथ प्रदर्शन प्राप्त करता है।

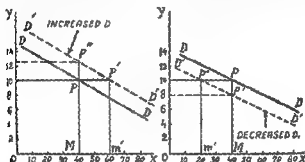
(ii) माग मे वृद्धि और कमी (Increase and decrease in demand) मूल्य के अतिरिक्त माग मे अन्य कई निर्धारक तत्व (determinants) हैं। इनमे से किसी एक मे होने वाले परिवर्तन का माग पर पडने वाले प्रभाव को ही 'मांग मे परिवर्तन' (change in demand) कहते हैं। माग मे यह परिवर्तन माग मे वृद्धि (increase in demand) अथवा माग मे कमी (decrease in demand) के रूप मे हो सकता है।

माग मे वृद्धि का आशय यह है कि दिए गए मूल्य पर वस्तु की अधिक मात्रा क्रय की जायेगी अथवा वस्तु की पूर्व मात्रा ही मूल्य के अधिक होने पर भी क्रय की जायेगी। इस प्रकार की माग मे वृद्धि कई कारणो से हो सकती है। उपभोक्ता की आय अथवा उसके परिवार मे वृद्धि होने पर, उसे मूल्य को ध्यान मे रखे बिना वस्तु की मात्रा या माग मे वृद्धि करनी पडती है। अत मूल्य मे वृद्धि की दशा मे वस्तु की माग का निर्धारक तत्व मूल्य नही होता, बल्कि व्यक्ति होता है। वही अपनी आवश्यकताओ के अनुरूप अपनी माग तथा पसन्दगी-मान (scale of preferences) निर्धारित करने मे सक्रिय रहता है। इसके विपरीत माग मे कमी का आशय यह है कि यदि मूल्य पूर्ववत् या अपरिवर्तित रहते हैं, तो मांग की मात्रा कम होगी, और यदि माग की मात्रा पूर्ववत् रहती है तो मूल्य कम होंगे। इस प्रकार, माग मे परिवर्तन होने पर नए पसन्दगी मान निर्धारित करने पर पहले की माग-सूची के स्थान पर एक नयी माग-सूची तैयार की जाती है। जब माग मे वृद्धि होगी तो प्रत्येक मूल्य मे सम्बन्धित माग की मात्रा पहले की अपेक्षा अधिक होगी। इसी प्रकार माग मे कमी होने पर प्रत्येक मूल्य से सम्बन्धित वस्तु की मात्रा पहले से कम होगी। माग वृद्धि से एक नया माग-वक्र पहले के मांग-वक्र की दायी तरफ हट कर एक ऊची स्थिति पर पहुच जाता है। माग मे कमी प्रदर्शित करने वाला नया माग वक्र पूर्व स्थिति व्यक्त करने वाले माग वक्र की बायी तरफ नीची स्थिति पर अंकित होता है।

मूल्य में वृद्धि और कमी को प्रदर्शित करने वाली मांग-सूची

मूल्य (प्र.क्वि.) रु.	मूल माग (Original Demand)	बढ़ी हुई माग (Increased Demand)	कम हुई माग (Decreased Demand)
(i) मूल्य समान रहने पर			
10	40	60	20
(ii) मूल्य बढ़ने पर			
13	40	40	—
(iii) मूल्य घटने पर			
8	40	—	20

उपर्युक्त तालिका के अनुसार माग में वृद्धि तथा माग में कमी की स्थितियों को नीचे दिए गए रेखाचित्रों (क्रमशः संख्या 11A और 11B) में प्रदर्शित किया गया है :



चित्र सं० 11 A व B

चित्र संख्या 11A में D'D'' वक्र माग में वृद्धि की स्थिति को व्यक्त करता है। माग में परिवर्तन (वृद्धि) के पूर्व मूल माग-वक्र DD है जिस पर P बिन्दु यह बतलाता है कि 10 रु० प्रति क्विटल की दर (PM) से वस्तु की 40 क्विन्टल मात्रा (OM) क्रय की जाती है। अब यदि मूल्य समान रहे, लेकिन अन्य किसी तत्व के कारण उपभोक्ता 40 क्विन्टल के स्थान पर 60 क्विन्टल खरीदना चाहे तो उसे ऊंचे वक्र (D'D) के बिन्दु P' पर जाना होगा, क्योंकि उसी मूल्य, 10 रु० (PM =P'm') पर D वक्र पर 60 क्विन्टल की मात्रा Om' नहीं प्राप्त की जा सकती। इसी प्रकार यदि मूल्य वृद्धि अर्थात् मूल्य के 10 रु० से बढ़कर 13 रु० प्रति क्विन्टल (P''M) हो जाने पर 40 क्विन्टल ही माग हो तो इस मूल्य पर माग की मात्रा OM को व्यक्त करने वाला बिन्दु (P'') DD वक्र पर न होकर नए वक्र D'D' पर होगा। यह नयी माग-रेखा D'D' ही माग में वृद्धि (Increase in demand) को व्यक्त करती है, क्योंकि उपभोक्ता ने पसन्दगी-माग को व्यक्त करने वाले इस रेखा पर ही अंकित होंगे।

चित्र सं० 11B माग मे कमी का निदर्श-चित्र (Illustration) है। माग मे परिवर्तन के पूर्व 10 रुपये पर (PM), माग की मात्रा 40 क्विन्टल (OM) है। माग मे परिवर्तन होने पर यदि 10 रु० क्विन्टल की दर से (अर्थात् PM=P'm' मूल्य पर) 20 क्विन्टल (Om') की अथवा मूल्य की दर 8 रुपए प्रति क्विन्टल (P' M) होने पर 40 क्विन्टल (OM) की माग की जाती है, तो ये दोनो ही स्थितिया माग की कमी (decrease in demand) को बतलाती हैं, क्योंकि इन दोनो ही स्थितियो मे सम्बन्धी माग को प्रदर्शित करने वाले बिन्दु P' तथा P'' पूर्व माग-रेखा D'D' पर अकित P' तथा P'' बिन्दु माग की कमी को प्रदर्शित करते हैं।

8. माग में परिवर्तन के कारण (Causes of Changes in Demand)

स्टिगलर (Stigler) के अनुसार माग के चार निर्धारक तत्व हैं : (अ) वस्तु का मूल्य, (ब) उपभोक्ता की आय (स) प्रतिस्थापक तथा पूरक वस्तुओ के मूल्य, और (द) उपभोक्ता की रुचि तथा अधिमान (Preference)। माग का नियम यह बतलाता है कि वस्तु के मूल्य को छोडकर यदि अन्य निर्धारक तत्व अपरिवर्तित रहे तो मूल्य की विपरीत दिशा मे माग की मात्रा मे विस्तार या सकुचन होता है। परन्तु इस सम्बन्ध मे यह ध्यान रहे कि यह आवश्यक नही है कि मूल्य परिवर्तन के अनुपात मे ही माग की मात्रा मे भी विस्तार अथवा सकुचन होगा। परन्तु जब माग के किसी अन्य निर्धारक तत्व मे परिवर्तन होने के कारण स्वय माग प्रभावित होती है, अर्थात् पूर्व मूल्य पर ही वस्तु की अधिक या कम मात्राए क्रय की जाती हैं, तब इसे माग मे परिवर्तन कहते हैं।

विभिन्न परिस्थितियो को ध्यान मे रखते हुए माग मे परिवर्तन के कारणो का उल्लेख निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है :

माग मे परिवर्तन के कारण

माग मे वृद्धि	माग मे कमी
1. उपभोक्ता की इच्छाए तीव्र हो जाए।	1. उपभोक्ता की इच्छाए कम तीव्र हो।
2. उपभोक्ता की आय मे वृद्धि हो जाए।	2. उपभोक्ता की आय कम हो जाए।
3. स्थानापन्न वस्तुओ के मूल्य बढ जाए।	3. स्थानापन्न वस्तुओ के मूल्य कम हो जाए।
4. पूरक वस्तुओ के मूल्य गिर जाए।	4. पूरक वस्तुओ के मूल्य बढ जाए।

यहां माग मे इस प्रकार के परिवर्तनो के कारणों का ही वर्णन किया गया है :

(1) रुचि, आदत अथवा फैशन मे परिवर्तन (Changes in taste, habit or fashion): लोगो की रुचि, आदत तथा फैशन मे परिवर्तनो के फलस्वरूप तद्-सम्बन्धी वस्तुओ की माग भी परिवर्तित हो जाती है। चाय के स्थान पर काफी, धोती के स्थान पर पैन्ट तथा सूती कपड़ो के स्थान पर टेरीलिन के कपड़े का प्रयोग इनके उदाहरण हैं।

(2) मौद्रिक तथा वास्तविक आय में परिवर्तन (Changes in the money and real incomes): लोगो की मौद्रिक आय मे परिवर्तन होने का तात्पर्य उनके द्वारा अर्जित मुद्रा अर्थात् क्रय-शक्ति की मात्रा मे परिवर्तन से है, जबकि वास्तविक आय मे परिवर्तन का आशय पूर्व आय से ही क्रय की जाने वाली वस्तुओ तथा सेवाओ की मात्रा मे परिवर्तन से है। यदि पहले की अपेक्षा वस्तुए सस्ती हो जाती हैं, तो उपभोक्ता उन वस्तुओ की पूर्व मात्रा को कम धन-राशि से क्रय करके, बची हुयी धनराशि से अन्य उत्तम वस्तुएं क्रय करता है। इसी प्रकार उसकी मौद्रिक आय बढ़ने पर, यदि वस्तुओ के मूल्य यथावत् रहे, तो उसके पसन्दगी मान मे निश्चय ही परिवर्तन होगे। अत दोनो ही स्थितियो मे माग-सूची तथा माग-वक्र को पुनः बनाने की आवश्यकता होगी।

(3) चलन मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन (Changes in the amount of money in circulation): देश मे जितनी मुद्रा चलन मे होती है, उसके परिमाण मे परिवर्तन होने पर उसका प्रभाव मुद्रा के मूल्य, वस्तुओ के मूल्यो तथा लोगो की क्रय-शक्ति पर पड़ता है। अतः लोगो को अपने व्यय को समायोजित करना पड़ता है। मूल्य वृद्धि के कारण कुछ वस्तुओ की माग कम हो जाती है और लोग कुछ नवीन वस्तुओ को अधिक मात्रा मे क्रय करना प्रारम्भ कर देते हैं।

(4) जनसंख्या मे परिवर्तन (Changes in population): जनसंख्या में वृद्धि अथवा कमी होने मे केवल माग मे ही परिवर्तन नही होता, वरन् माग की किस्म मे भी परिवर्तन हो जाता है।

(5) धन एवं सम्पत्ति तथा आय के वितरण मे परिवर्तन (Changes in the distribution of wealth and income): सामाजिक तथा आर्थिक समानता के उद्देश्य से जब सरकार अपनी कर नीति धनी वर्ग के लोगो की अतिरिक्त क्रय-शक्ति को कर के रूप मे लेकर उसे निर्धन वर्ग के व्यक्तियो मे वितरित कर देती है, तब वे लोग भी उन वस्तुओं को क्रय करने मे समर्थ होते हैं, जिन्हे वे पहले क्रय नहीं कर सकते थे। इस प्रकार उनके अधिमानो मे परिवर्तन होने से मांग मे परिवर्तन होता है।

(6) प्रतिस्थापक तथा पूरक वस्तुओ के मूल्य में परिवर्तन (Changes in the prices of other goods) : किसी वस्तु के मूल्य मे परिवर्तन होने पर उसकी प्रतिस्थापक अथवा पूरक वस्तु की माग मे भी परिवर्तन हो जाता है। चाय के मूल्यो मे वृद्धि होने पर उसकी पतिस्थापक वस्तु काफी की माग मे वृद्धि होगी। पूरक वस्तु के सम्बन्ध मे, यदि मोटर-कार का मूल्य कम हो जाता है, तो उसकी माग बढने पर उसकी पूरक वस्तु पैट्रोल की माँग भी बढ जायेगी।

(7) व्यापार की दशा मे परिवर्तन (Changes in the state of trade) व्यापारिक समृद्धि के काल (boom period) मे मूल्यो मे वृद्धि होने पर भी कुछ वस्तुओ की माग अधिक होती है और मन्दी (depression) के समय अधिकाश वस्तुओ की माग कम होती है।

(8) बचत करने की प्रवृत्ति मे परिवर्तन (Changes in the propensity to save) : यदि लोगो मे पहले की अपेक्षा बचत करने की प्रवृत्ति अधिक सक्रिय हो जाती है, तो निश्चय ही लोगों के पास क्रय-शक्ति (मुद्रा) कम होगी। फलस्वरूप लोगो की माग के स्वरूप मे भी परिवर्तन होगा। इसी प्रकार यदि तरलता पसन्दगी (Liquidity Preference) को लोग अधिक महत्व देने लगते हैं, अर्थात् यदि वे तरल (नकद) सम्पत्तियो को अधिक पसन्द करते हैं, तो भी लोगो के पास वस्तुओ को क्रय करने के लिए मुद्रा कम होगी जिससे माग भी कम हो जायेगी।

(9) अन्तर्सम्बन्धित वस्तुओं की मांग में परिवर्तन (Changes in the demand for inter-connected goods) : कुछ वस्तुए पूर्णतया अन्तर्सम्बन्धित होती हैं। इस आधार पर माग के निम्नलिखित तीन रूप हो सकते हैं

(i) व्युत्पन्न मांग (Derived demand) : किसी वस्तु या सेवा की माग उस समय व्युत्पन्न मांग कहलाती है, जबकि किसी दूसरी वस्तु या सेवा की माग के परिणामस्वरूप उसकी मांग उदय होती है। उदाहरणार्थ, रोटी की माग को सन्तुष्ट करने के लिए आटे की माग का होना स्वाभाविक है। अत. आटे की माग व्युत्पन्न माग कहलायेगी। एक की माग मे वृद्धि से दूसरे की माग मे वृद्धि होगी।

(ii) संयुक्त मांग (Joint demand) : जब दो या अधिक वस्तुएं एक साथ ही किसी वस्तु की माग की पूर्ति के लिए आवश्यक हो, तो उन सभी वस्तुओं की माग संयुक्त माग कहलाती है। उदाहरणार्थ, कक्रीट (concrete) बनाने के लिए बालू (रेत), सीमेंट तथा बजरी (कंकड-gravel) तीनो ही वस्तुएं आवश्यक है। अत अन्तिम वस्तु कक्रीट की माग मे वृद्धि या कमी होने का प्रभाव सम्बन्धित वस्तुओं की माग पर भी पडेगा।

(iii) समष्टिक मांग या मिश्रित मांग (Composite demand) : विभिन्न उद्देश्यों के लिए किसी वस्तु की कुल मांग को समष्टिक या सम्मिश्रित मांग कहते हैं। यह वास्तव में किसी वस्तु की विभिन्न मांगों का योग है। उदाहरण के लिए, यदि कोयले की मांग घरेलू ईंधन, यातायात के साधनों तथा उद्योग-धन्धों में विद्युत शक्ति उत्पादित करने के लिए की जाती है, तो इन सभी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कोयले की मांगों के योग को समष्टिक मांग कहेंगे। किसी भी उद्देश्य के लिए कोयले की मांग की मात्रा में संकुचन होने पर उसकी समष्टि मांग भी कम हो जायेगी, अथवा विस्तार होने पर बढ़ जायेगी।

प्रश्न व संकेत

1. मांग की वृद्धि और मांग के विस्तार (Increase in demand and expansion of demand) और मांग में कमी तथा मांग में संकुचन (Decrease in demand and contraction of demand) का अन्तर बताइए। उन परिस्थितियों को समझाइये जिनके अन्तर्गत मूल्यों में वृद्धि के साथ साथ मांग में वृद्धि होती है।

(Raj., B. com, T.D C, 1967)

[संकेत—सर्वप्रथम मांग में वृद्धि व विस्तार तथा मांग में कमी व संकुचन में अन्तर बताइये। इसके पश्चात् मांग के नियम के अपवादों को बताइये।]

2. अधिकांश मांग रेखायें दायें को नीचे की ओर क्यों झुकती है ?

(Bihar, B.A Hons, 1966 A)

[संकेत—सर्वप्रथम मांग रेखा का अर्थ बताइये। इसके पश्चात् कीमत तथा मांग के प्रतिलोम सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुये बताइये कि अधिकांश मांग रेखायें दायें नीचे की ओर क्यों झुकती हैं। अन्य कारणों पर भी प्रकाश डालिए।]

3 'मांग में वृद्धि' तथा 'मांग में विस्तार' के अर्थ बताइये तथा रेखाचित्रों द्वारा स्पष्ट कीजिये। क्या एक मांग रेखा तटस्थता वक्र रेखाओं की सहायता से निकाली जा सकती है ?

(Luck., B. Com., 1962)

[संकेत—प्रथम भाग में मांग में वृद्धि तथा विस्तार का रेखाचित्रों की सहायता से स्पष्टीकरण कीजिये। द्वितीय भाग में तटस्थता वक्र रेखाओं की सहायता से मांग रेखा निकालिये। देखिए पृष्ठ 234–37]

11

तटस्थता-वक्र-विश्लेषण

(Indifference-Curve-Analysis)

"Indifference-curve-analysis uses as its basis this fact that if a person has no especial preference as between a given amount of one commodity and a given amount of another—i e if he is indifferent as between these alternatives—then he derives an equal degree of satisfaction from the two sets of commodities"

—Edward Nevin

1. उपयोगिता-विश्लेषण के दोष

मार्शल ने माग के नियम की व्याख्या उपयोगिता-विश्लेषण के आधार पर की थी। उन्होंने उपयोगिता की मात्रा को मापनीय (quantitatively measurable magnitude) माना था। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियो ने इस सम्बन्ध मे मार्शल की मान्यताओं का खण्डन किया है। उनके अनुसार उपयोगिता एक व्यक्तिगत (Subjective) धारणा तथा मानसिक अवस्था का आभास मात्र (Mental phenomenon) है। सबसे पहले इटेलियन अर्थशास्त्री विलफ्रेड परेटो (Wilfred Pareto) ने सन् 1903 मे अपनी पुस्तक *'Manualed' Economic Politique* मे कहा था कि 'उपयोगिता अमाप्य होती है' (Utility is immeasurable)। इस कथन के आधार पर ही बाद मे चल कर उपयोगिता-विश्लेषण के दोषो पर प्रकाश डाला गया।

(1) उपयोगिता विश्लेषण का सबसे बड़ा दोष यह है कि उसमें स्वयं उपयोगिता की धारणा स्पष्ट नहीं है। उपयोगिता व्यक्तिगत (Subjective) तथा सापेक्ष (relative) होने के कारण एक अस्थिर तत्व है। वस्तुतः वह उपभोग के पूर्व किसी उपभोक्ता की व्यक्तिगत मानसिक भावना है जो आवश्यकता की तीव्रता तथा उसके प्रभावकारी तत्वो पर निर्भर होती है। यही कारण है कि उपयोगिता उपभोग के बाद प्राप्त किये गये सन्तोष से भिन्न है। इसके अतिरिक्त अलग-अलग

व्यक्तियों के लिए किसी एक ही वस्तु की उपयोगिता समान नहीं होती; यहां तक कि एक ही व्यक्ति के लिए विभिन्न समयों में एक ही वस्तु की उपयोगिता भी भिन्न-भिन्न होती है। अतः ऐसी व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक (psychological) या मानसिक भावना की सही माप किसी वस्तुगत प्रमाप (*objective standard*) के आधार पर सम्भव नहीं है।

(2) दूसरा दोष यह था कि मार्शल ने उपयोगिता के परिमाण की माप (*quantitative measurement*) का जो आधार माना था, वह ठीक नहीं है। उनके अनुसार किसी वस्तु के लिए दिया जाने वाला मूल्य इस वस्तु से प्राप्त होने वाली उपयोगिता का सूचक है, अतः किसी भी वस्तु या सेवा की उपयोगिता मुद्रा के रूप में माप्य है। इस धारणा पर ही उन्होंने उपयोगिता-विश्लेषण-विधि को इस तथ्य पर आधारित किया था कि उपभोक्ता जैसे-जैसे अधिक धन व्यय करता जाता है, वैसे-वैसे मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता में समान रहने की प्रवृत्ति होती है। परन्तु वास्तविकता तो यह है कि मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता स्थिर नहीं होती। मुद्रा की जैसे-जैसे अधिक इकाइयां व्यय की जायेंगी, त्यों-त्यों आय (धन) में कमी होने पर मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता बढ़ती जायेगी। अत. यह स्पष्ट है मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता के समान रहने की धारणा ठीक नहीं है। अतः उसके आधार पर मापी गयी उपयोगिता भी ठीक नहीं होगी।

2. प्राथमिकता दृष्टिकोण (Approach) का महत्व :

मार्शल तथा उनके अनुयायियों की उपयोगिता-व्याख्या (Neo classical Utility Analysis) में संख्यात्मक दृष्टिकोण (Cardinal approach) अपनाया गया था। यह दृष्टिकोण भी इस मान्यता पर ही आधारित है कि उपयोगिता मापनीय है (Neo-classical cardinal utility carries with it the assumption of measurability)। इस आधार पर यह कहा जाता है कि यदि एक प्याला चाय तथा एक प्याला दूध की उपयोगिताओं की तुलना करनी हो, तो दोनों से प्राप्त होने वाली उपयोगिताओं को संख्या-सूचक अंकों (cardinal numbers) (1, 2, 3) में व्यक्त करना उचित होगा। उदाहरणार्थ, यदि यह कहा जाय कि एक प्याले दूध की उपयोगिता एक प्याले चाय की उपयोगिता से दुगनी है तो इस कथन से कुछ स्पष्ट अर्थ भी निकलता है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने संख्यात्मक दृष्टिकोण को गलत माना है। उनका कहना है कि उपयोगिता की मात्रायें सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों रूपों से स्वभावतः अमापनीय हैं (quantities of utility are inherently immeasurable theoretically and conceptually as well as practically)। इन अर्थशास्त्रियों की यह धारणा है कि मापनीय उपयोगिता पर विचार किए बग़ैर भी

उपभोक्ता आचरण के विभिन्न पहलुओं की व्याख्या की जा सकती है। अत उन्होने उपयोगिता-व्याख्या के लिए क्रम सूचक या स्थितिक दृष्टिकोण (ordinal approach) अपनाया है। इस दृष्टिकोण के अन्तर्गत उपयोगिता मापनीय नहीं होती, बल्कि तुलनीय होती है। क्रम सूचक दृष्टिकोण से यह ज्ञात होता है कि उपभोक्ता एक वस्तु की तुलना म दूसरी वस्तु चाहेगा या नही ?

उपभोक्ता वस्तुओं के महत्व के आधार पर अपने उपभोग क्रम मे किस वस्तु की कितनी मात्रा को प्राथमिकता दी जाय, इस पर विचार करता है। इस विचार के आधार पर ही वह यह बता सकता है कि किसी वस्तु की अमुक मात्राओं की अपेक्षा वह किसी अन्य वस्तु की कितनी मात्राय लेना पसन्द करेगा। यही उसका क्रम सूचक दृष्टिकोण है। जिसे प्राथमिकता दृष्टिकोण (preference approach) कहा जाता है। उदाहरणार्थ, उपभोक्ता के सामने चाय और दूध की मात्राओं के चुनाव का प्रश्न है। प्राथमिकता दृष्टिकोण के अन्तगत उसे यह जानना आवश्यक नही होगा कि दूध की उपयोगिता चाय की उपयोगिता से कितनी अधिक या कम है। वह प्राथमिकता क्रम (Scale of preferences) के अनुसार दोनो मे प्राथमिकता के आधार पर चुनाव करेगा। वह यदि 1 प्याला दूध को पहला (first) तथा 2 प्याले को दूसरा (second) स्थान देता है तो ये क्रमसूचक सख्याय (ordinal numbers) कहलायेंगी। इन सख्याओं के आधार पर ही उपभोक्ताओं के लिये वस्तुओं के महत्व अथवा उनकी पसन्दगी के क्रम निर्धारित किये जाते है (*Ordinal utility means that the consumer is assumed to order, or rank, the subjective utilities of goods*)। इससे यह स्पष्ट है कि प्राथमिकता दृष्टिकोण के अन्तर्गत वस्तुओं की उपयोगिता की सख्यात्मक माप की जरूरत नहीं पडती। परन्तु इस सम्बन्ध म यह ध्यान रहे कि प्राथमिकता-क्रम निर्धारित करते समय भी उपभोक्ता केवल वस्तुओं को ही नही बल्कि उनकी मात्राओं को भी, निर्धारित करता है। बेनहम के अनुसार 'किसी व्यक्ति का पसन्दगी मान या प्राथमिकता क्रम उसकी रुचियों की सख्यात्मक अभिव्यक्ति है (A person's scale of preferences is the quantitative expression of his tastes)।

3 तटस्थता विश्लेषण संक्षिप्त परिचय

तटस्थता वक्र का प्रयोग नया नही है। एजवर्थ (F Y.Edgeworth) पहले अंग्रेज अर्थशास्त्री थे जिन्होने 19वी शताब्दी मे ही माग पर प्रतियोगी तथा पूरक वस्तुओं के प्रभावो का अध्ययन करने के लिए अपनी पुस्तक 'Mathematical Physics' (सन् 1881 ई०) मे तटस्थता वक्रो (Indifference Curves) का प्रयोग किया था। इसके पश्चात् तटस्थता-वक्रो का प्रयोग योरोपीय देशो के अर्थशास्त्रियों

द्वारा अधिक किया गया। इटैलियन अर्थशास्त्री विलफ्रेडो परेटो ने तो एजवर्थ की तटस्थता-वक्र प्रयोग विधि में कुछ सुधार करके उसका विस्तृत प्रयोग किया। वास्तव में परेटो ने ही सबसे पहले सन् 1903 में अपनी पुस्तक *'Manuale d' Economic* में उपयोगिता की व्याख्या के लिए क्रम सूचक दृष्टिकोण (ordinal upproach) का उल्लेख किया था। उन्होंने उपयोगिता को अप्रमापनीय माना था। उनका कहना था कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए विभिन्न वस्तुओं के बीच प्राथमिकता क्रम तैयार किया जा सकता है तथा उसे तटस्थता-वक्रों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। इसके बाद सन् 1915 में रूसी अर्थशास्त्री स्लटस्की (Slutsky) ने अपने एक लेख में परेटो की तटस्थता-विश्लेषण-विधि को स्पष्ट किया था।

सन् 1930 ई० में अंग्रेज अर्थशास्त्रियों ने पुनः इस विधि के महत्व एव प्रयोग पर ध्यान देना प्रारम्भ किया। उसके बाद से उपयोगिता के सख्यात्मक दृष्टिकोण की हमेशा आलोचना की जा रही है। परिणामस्वरूप क्रमसूचक उपयोगिता आधुनिक उपयोगिता व्याख्या का आधार बन गया है तथा तटस्थता-वक्र उसके सहायक यन्त्र हैं (...Ordinal utility was set on a throne consisting of a box of tools containing indifference curves)। वास्तव में तटस्थता वक्र ने ह्रासमान सीमान्त-वक्र का स्थान ले लिया है। इसका श्रेय दो अंग्रेज अर्थशास्त्रियों, प्रो० जे० आर० हिक्स (Prof J R Hicks) तथा प्रो० आर०जी०डी० एलेन (Prof R G. D. Allen) को है। इन्होंने सन् 1934 ई० में अपने लेख *'A Reconstruction of the Theory of Value'* में इस बात पर विशेष जोर दिया था कि क्रमसूचक उपयोगिता के आधार पर उपभोक्ता-आचरण तथा मूल्य के सिद्धान्तों का फिर से निर्माण किया जाय। इस निबन्ध में इन अर्थशास्त्रियों ने तटस्थता वक्र का बड़े ही वैज्ञानिक ढग से प्रयोग किया था। बाद में सन् 1939 में प्रकाशित अपनी पुस्तक *'Value and Capital'* में प्रो० हिक्स ने तटस्थता-वक्रों का विवरण बड़े ही विस्तार से प्रस्तुत किया। इसके पश्चात् उन्होंने अपनी नई पुस्तक *'Revision of Demand Theory'* में इन तटस्थता-वक्रों का विस्तृत रूप से प्रयोग किया। इनके अतिरिक्त आस्ट्रियन स्कूल के विचारकों, विकस्टीड (Wicksteed), वीजर (Wieser), चैम्बरलिन (Chamberlin) आदि ने भी माग-विश्लेषण के लिए तटस्थता-वक्रों का प्रयोग किया है।

4. तटस्थता-वक्र विधि के आधार

तटस्थता वक्र विश्लेषण की विधि निम्नलिखित तथ्यों पर आधारित है :

(1) पसन्दगी के मान (Scale of Preferences) : 'उपयोगिता-वक्र' (Utility Curve) केवल एक ही वस्तु की ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता को व्यक्त

करता है। परन्तु प्रत्येक विवेकशील (rational) उपभोक्ता के विभिन्न वस्तुओं के चुनाव के सम्बन्ध में अपनी पसन्दगी के मान होते है। वह उन वस्तुओं में आवश्यकताओं की पूर्ति करने की शक्ति के आधार पर उनके महत्व तथा अपनी मानसिक पसन्दगी एवं रुचि के क्रम में एक सूची तैयार करता है।

(2) **विभिन्न वस्तुओं के सयोग का निर्धारण (Desirability of Combinations of Goods)** वस्तुओं में आवश्यकताओं को सतुष्ट करने की शक्ति के क्रम में पसन्दगी मान की सूची तैयार कर लेने के पश्चात् उपभोक्ता उनके माध्यम से यह निश्चित करता है कि वस्तुओं के विभिन्न सयोगों (Combinations) में से कौन सा सयोग किसी अन्य सयोग में अधिक, कम या समान सतुष्टि प्रदान करेगा ? इन सयोगों को निश्चित करने का कारण यह है कि उपभोक्ता की माग केवल एक वस्तु तक ही सीमित नहीं रहती। विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसको अपने सीमित साधनों को ध्यान में रखकर कई वस्तुओं का चुनाव करना पडता है। विभिन्न आवश्यकताओं को सतुष्ट करने की इच्छा से ही वह केवल यह निश्चय नहीं करता कि किसी एक समय-विशेष में यह कौन सी वस्तु क्रय करना चाहता है, बल्कि वह यह निश्चय करता है कि उस काल में विभिन्न वस्तुओं के किन सयोगों से (किन किन वस्तुओं को एक साथ क्रय करने पर) उसे समान सतुष्टि या उपयोगिता प्राप्त होगी।

5. तटस्थता-वक्र विधि का अर्थ

तटस्थता वक्र विधि क्रमसूचक उपयोगिता की व्याख्या करने की एक ऐसी विधि है जिससे दो या दो से अधिक वस्तुओं के ऐसे विभिन्न सयोगों को ज्ञात किया जा सकता है जिनसे किसी उपभोक्ता को समान सन्तुष्टि मिलती है। इस विधि के द्वारा उपभोक्ता के पसदगी मान (scale of preferences) के आधार पर विभिन्न वस्तुओं के उन सयोगों को ज्ञात करने में सुविधा होती है जिनसे प्राप्त पूर्ण उपयोगिता समान रहती है। चू कि उपभोक्ता उनमे से किसी भी सयोग के द्वारा अधिकतम सन्तुष्टि या पूर्ण उपयोगिता प्राप्त कर सकता है, अत वह इन सयोगों के चुनाव के सम्बन्ध में तटस्थ या उदासीन (Indifferent) रहता है। अत एडवर्ड नेविन (Edward Nevin) के अनुसार, 'तटस्थता-वक्र विश्लेषण का आधार यह है कि यदि किसी उपभोक्ता को दो विभिन्न वस्तुओं की दी गयी मात्रा के सम्बन्ध में कोई विशेष रुचि या पसदगी नहीं है, अर्थात् वह इन दो विकल्पों के प्रति तटस्थ या उदासीन है, तो वह इन दो वस्तुओं के सयोग से समान सन्तुष्टि प्राप्त करता है।" [1]

---

[1] "An indifference schedule may be defined as a schedule of various combinations of goods that will be equally satisfactory to the individual concerned." —*Meyers*

अत अब माग विश्लेषण के लिए यह जानना आवश्यक नहीं है कि किसी उपभोक्ता को किसी वस्तु के उपभोग से कितनी मात्रा म सन्तुष्टि या उपयोगिता मिलती है। यद्यपि माग-व्याख्या में उपयोगिता तत्व अब भी मौजूद है फिर भी अब उसके परिमाण की माप आवश्यक नहीं है। तटस्थता वक्र-विश्लेषण इस तथ्य की जानकारी प्रदान करने म सहायक होता है कि एक दिए हुए समय म क्या विभिन्न वस्तुओं का एक सयोग (combination) उतना ही वाछनीय (desirable) है जितना कि दूसरा ? अथवा दूसरे की अपेक्षा अच्छा है ? यही कारण है आधुनिक अर्थशास्त्रियो ने उपयोगिता विश्लेषण के लिए तटस्थता वक्र विधि का प्रयोग किया है। इस विधि के द्वारा उन्होंने उपयोगिता की सही एव वैज्ञानिक व्याख्या करने की चेष्टा की है।

6 तटस्थता वक्र-विधि का स्पष्टीकरण

(1) तटस्थता सूची या तालिका द्वारा तटस्थता वक्र के निर्माण के लिए सबसे पहले एक तटस्थता सूची या तालिका (Indifference Schedule) तैयार की जाती है।

तटस्थता तालिका (दो या दो से अधिक) वस्तुओं के ऐसे विभिन्न सयोगो की तालिका होती है जो किसी व्यक्ति को समान रूप से सन्तोषजनक होते हैं। दो या अधिक उपभोग वस्तुओं की तटस्थता तालिका दो वस्तुओं के सयोगों की सूची है, यह सूची इस क्रम से तैयार की जाती है कि कोई उपभोक्ता किसी भी सयोग को किसी दूसरे की तुलना मे प्राथमिकता नहीं देता तथा इस प्रकार सभी सयोगो के प्रति उदासीन रहता है।[2] सुविधा की दृष्टि से निम्नलिखित सूची में केवल दो वस्तुओं के ऐसे कई सयोग दिये गए हैं जिनमे प्रत्येक की पूर्ण उपयोगिता समान है :

माना कि एक उपभोक्ता को दो वस्तुओ—सेब और सतरे—से समान पूर्ण उपयोगिता वाले सयोगो का निश्चित करना है। वह उनके सयोगो के निम्नलिखित क्रम निश्चित कर सकता है

तटस्थता सूची—1

सयोग क्रम	सेब		सन्तरे	सेब के स्थान पर सतरे के प्रतिस्थापन की दर		
				सेब		सन्तरे
पहला	12	+	0			
दूसरा	8	+	1	4	=	1
तीसरा	5	+	2	3	=	1
चौथा	3	+	3	2	=	1
पाचवा	2	+	4	1	=	1

[2] "An indifference schedule is a list of combinations of two commodities, the list being so arranged that a consumer is indifferent to the combinations prefering none of them to any of the others."

उपर्युक्त सूची से यह ज्ञात होता है कि उपभोक्ता को केवल 12 सेवों से जितनी उपयोगिता प्राप्त होती है उतनी ही उपयोगिता 8 सेवों तथा 1 सन्तरे के संयोग से भी प्राप्त हो सकती है। अब वह सोचता है कि यदि 4 सेवों का त्याग करके उसके स्थान पर 1 सन्तरा प्राप्त किया जाय, तो उसको 8 सेव तथा 1 सन्तरे का नया संयोग उतना ही संतोषप्रद होगा जितना कि पहला अथवा अन्य कोई। यह उनकी केवल एक मानसिक धारणा है। इसी आधार पर वह सेवों की मात्रा को अतिरिक्त सन्तरों की मात्रा से कई प्रकार से प्रतिस्थापित करने पर विचार करता है जैसे तीसरे (5+2) चौथे (3+3) तथा पांचवें (2+4) संयोगों में प्रत्येक समान रूप से सन्तोषप्रद होगा। ये सभी संयोग समान सन्तुष्टि के संयोग हैं। उनमें से न तो कोई संयोग किसी दूसरे से अच्छा है न ही खराब। इसका कारण यह है कि उपभोक्ता दोनों वस्तुओं की थोड़ी बहुत मात्राएं चाहता है। परन्तु यहां पर प्रश्न उसकी इच्छाओं तथा वस्तुओं की मात्राओं के बीच सम्बन्ध का है। उपर्युक्त तालिका में सेव तथा सन्तरे की मात्राएं इस क्रम से रखी गयी हैं कि उपभोक्ता सभी संयोगों के प्रति तटस्थ है। प्रत्येक संयोग समान रूप से वांछनीय (desirable) है वह उनमें से किसी भी संयोग का चुनाव करने पर उतना ही सुखी होगा जितना कि किसी दूसरे संयोग का चुनाव करने पर।[3]

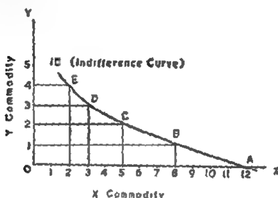
(ii) तटस्थता वक्र या रेखा द्वारा तटस्थता सूची में दिये गए संयोगों को रेखाचित्र द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है। इस रेखाचित्र में तटस्थता-वक्र (Indifference Curve) किन्हीं दी गई वस्तुओं के ऐसे संयोगों को प्रदर्शित करता है, जो किसी उपभोक्ता की दृष्टि से समान सन्तुष्टि के संयोग होते हैं। इस आधार पर ही यह कहा जाता है कि तटस्थता वक्र विधि दो या अधिक वस्तुओं के विभिन्न संयोग को रेखाचित्र द्वारा व्यक्त करने की विधि है जिससे यह ज्ञात होता है कि उपभोक्ता किस क्रम से दो या अधिक वस्तुओं के विभिन्न संयोगों को सामान्य रूप से पसन्द करता है।

यदि OX आधार रेखा तथा OY खड़ी रेखा पर हम क्रमश: सेव और सन्तरे के विभिन्न संयोगों को प्रदर्शित करने के लिए बिन्दु अंकित करें तो इन बिन्दुओं को मिलाने पर एक वक्र या रेखा (Curve) बनती है। चूंकि उपभोक्ता इस रेखा पर खड़े बिन्दुओं द्वारा व्यक्त विभिन्न संयोगों को समान रूप से पसन्द करता है और वह उनमें चुनाव करने के प्रति तटस्थ रहता है अत इस रेखा को उदासीनता रेखा

[3] "....the quantities of...are so arranged that the consumer is indifferent among the combinations. Each one is equally desirable; he considers himself equally well off in having any one of the combinations as in having any other."

(*Indifference Curve*) कहा जाता है। इस रेखा की रचना चित्र सं० 12 के अनुसार की जा सकती है :

नीचे दिए गए चित्र मे A, B C, D तथा E बिन्दु सेव तथा सन्तरे के विभिन्न सयोगो को व्यक्त करते हैं। A बिन्दु पर उसे केवल 12 सेवो से जितनी सन्तुष्टि मिलती है, उतनी B बिन्दु पर उसे 8 सेवो तथा 1 सन्तरे से सन्तुष्टि मिलेगी, उतनी ही सन्तुष्टि C बिन्दु पर 5 सेवो व 2 सन्तरो को प्राप्त करने पर मिलेगी, अथवा C बिन्दु पर 3 सेव व 3 सन्तरे से, अथवा D बिन्दु पर 2 सेव व 4



चित्र सं० 12

सन्तरे से मिलेगी। B,C,D, व E बिन्दु उपभोक्ता को समान सन्तोष प्रदान करने वाले सेव तथा सन्तरे के सयोगो का व्यक्त करते हैं। इन बिन्दुओ को मिलाकर उनसे गुजरने वाली एक रेखा (Indifference curve) खीची जा सकती है। इस रेखा पर जितने बिन्दु हैं, वे सेवो और सन्तरो के उन सयोगो को व्यक्त करते हैं जिनके प्रति उपभोक्ता तटस्थ रहता है। अत. इन बिन्दुओ के बिन्दु पथ (Locus) को ही उदासीनता वक्र (*Indifference Curve*) कहा जाता है।[4] उदासीनता-वक्र को 'समान उपयोगिता वक्र'(*Iso-utility Curve*) भी कहा जा सकता है।

इस सम्बन्ध मे यह स्मरण रखना चाहिए कि इस विधि से हम यह ज्ञात नही करते कि प्रत्येक वस्तु (सेव या सन्तरे) से अलग-अलग किस मात्रा मे उपयोगिता या सन्तुष्टि प्राप्त होती है। हमे तटस्थता सूची तथा वक्र से केवल यह पता चलता है कि दो वस्तुओ के ऐसे कौन कौन से सयाग हैं जो किसी उपभोक्ता के लिए समान

[4] "It is the locus of the points representing pairs of quantities between which the individual is indifferent, so it is termed as indifference curve." —*Eastham*

सन्तुष्टि के सयोग हो सकते हैं। वास्तव मे तटस्थना-वक्र-विधि की यह विशेषता है कि हम उपयोगिता को मापनीय माने बिना माग के नियम को व्याख्या कर सकते हैं।

7. तटस्थता-वक्र और प्रतिस्थापन की दर (Rate of Substitution) :

तटस्थता सूची–I को देखने पर यह ज्ञात होता है कि जब उपभोक्ता सेवो के उपभोग की मात्रा को घटाकर 12 सेवो के स्थान पर 8 सेव लेने का विचार करता है तो 1 सन्तरे के उपभोग मे वृद्धि होती है। इसी प्रकार जब वह 8 सेवो के स्थान पर 5 सेवो का उपभोग करने का विचार करता है, तब पुनः 1 अतिरिक्त सन्तरे के उपभोग की वृद्धि होती है, अर्थात् वह 5 सेवो के साथ 2 सन्तरो का उपभोग कर सकता है। चौथे सयोग मे सेवो का उपभोग 5 से घटकर 3 के बराबर हो जाता है, जबकि सन्तरो की सख्या 2 से बढकर 3 हो जाती है। इस प्रकार दूसरे, तीसरे चौथे, पाचवें समान सन्तुष्टि वाले सयोगो को प्राप्त करने के लिए क्रमश 4, 3, 2, व 1 सेवो के स्थान पर एक-एक सन्तरे की दर से प्रतिस्थापन किया जाता है। इसी दर को प्रतिस्थापन की दर (Rate of Substitution) कहा जा सकता है। सन्तरो की वह मात्रा जो सेव की सीमान्त उपयोगिता की कमी की पूर्ति करती है, सेव के स्थान पर सन्तरे की 'सीमान्त प्रतिस्थापन-दर' (Marginal Rate of Substitution) कहलाती है। अत उपभोक्ता के लिए सीमान्त-प्रतिस्थापन-दर वह दर है जिस पर वह दो वस्तुओ के सयोगो से प्राप्त पूर्ण उपयोगिता को बिना प्रभावित किए किसी एक वस्तु की न्यूनतम मात्रा को किसी अन्य वस्तु की न्यूनतम मात्रा से प्रतिस्थापित करता है। इसका कारण यह है कि किसी वस्तु की मात्रा मे वृद्धि करने पर उसकी अतिरिक्त इकाई की उपयोगिता घटती है, तथा जिस वस्तु का त्याग किया जाता है, उसकी मात्रा में कमी होने पर उसकी उपयोगिता मे वृद्धि होती है। उपर्युक्त उदाहरण के अनुसार जैसे-जैसे सन्तरो की मात्रा मे वृद्धि तथा सेवो की मात्रा मे कमी की जाती है, वैसे वैसे सन्तरो की मात्रा मे वृद्धि होने पर सेव की तुलना मे उसका सीमान्त महत्व कम होता जाता है और सेवो की मात्रा मे कमी होने से उनका सीमान्त महत्व बढता जाता है। इस सिद्धान्त को ही प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (Marginal Rate of Substitution-MRS) अथवा वस्तु प्रतिस्थापन-दर (Rate of Commodity Substitution) कहते हैं।

सीमान्त-महत्व की धारणा का मूलभूत आधार यह है कि उपभोक्ता उपभोग वस्तुओ के विभिन्न सयोगो से समान उपयोगिता प्राप्त करने का विचार करता है। उस उद्देश्य को पूरा करने के लिए वह एक ही तटस्थता-वक्र पर बना रहना चाहता है। वह उस पर जैसे-जैसे आगे बढता जाता है, प्राप्त की जाने वाली वस्तु का सीमान्त महत्व त्याग की जाने वाली वस्तु की तुलना मे घटता जाता है। यही कारण है कि

त्याग की जाने वाली वस्तु की एक इकाई के बदले में प्राप्त की जाने वाली वस्तु की उत्तरोत्तर अधिक इकाइयाँ लेनी पड़ती हैं जिससे उस रेखा पर विभिन्न बिन्दुओं द्वारा व्यक्त संयोगों से समान उपयोगिता प्राप्त हो। फलस्वरूप तटस्थता-वक्र मूल बिन्दु उन्नतोदर (convex to the origin) होता है, अर्थात् उसका ढाल नीचे की ओर दायीं तरफ चौड़ा होता है परन्तु ऊपर की तरफ ढालू होता है।[5] उपभोक्ता जैसे-जैसे वक्र पर ऊपर की ओर बढ़ता जायेगा, वक्र का ढाल (=Syn) भी बढ़ता जायेगा।[6] इस तटस्थता वक्र के ढाल का विशेष महत्त्व है क्योंकि इसके द्वारा ही यह निश्चित होता है कि किसी तटस्थता वक्र के विभिन्न बिन्दुओं पर सीमान्त महत्व क्या होगा ?

8. पसन्दगी-मान या प्राथमिकता-क्रम (Scale of Preferences) में परिवर्तन का प्रभाव

उपभोक्ता के पसन्दगी-मान या प्राथमिकता क्रम में परिवर्तन होने पर वस्तुओं के विभिन्न संयोग की एक नयी तटस्थता-सूची (Indifference Schedule) तैयार करनी होगी। इस सूची या तालिका में संयोग के रूप में बदलने के कारण तटस्थता-रेखा की स्थिति भी बदल जाती है। वस्तुओं के ऐसे विभिन्न संयोगों के रूप को, जिनसे उपभोक्ता को अलग अलग सन्तुष्टि या उपयोगिता प्राप्त होती है, अलग अलग तटस्थता-रेखाओं द्वारा दिखाया जा सकता है। परन्तु ध्यान रहे कि प्रत्येक तटस्थता वक्र के विभिन्न बिन्दु एक निश्चित सन्तुष्टि-स्तर के संयोगों को ही व्यक्त करते। इस प्रकार प्रत्येक सन्तुष्टि-स्तर का तटस्थता-वक्र भी स्वभावतः भिन्न होता है। इस दृष्टि से यदि हम विभिन्न तटस्थता वक्रों के एक समूह को ले लें, जिसमें प्रत्येक वक्र एक अलग सन्तुष्टि स्तर पर वस्तुओं के संयोगों को प्रदर्शित करे, तो हमें एक तटस्थता मानचित्र (Indifference Map) प्राप्त होगा। अतः एक ऐसे चित्र को, जिसमें एक नहीं वरन् अनेक तटस्थता या उदासीनता वक्र दिखलाए जाते हैं, तटस्थता मानचित्र कहते हैं। तटस्थता रेखाओं की स्थिति जैसे-जैसे दायीं ओर ऊपर की तरफ हटती जाती है त्यों त्यों वे अधिक सन्तुष्टि या उपयोगिता वाले संयोगों को बताती हैं। परन्तु जैसे-जैसे तटस्थता रेखाएं बायीं ओर नीचे की तरफ उतरती जाती हैं,

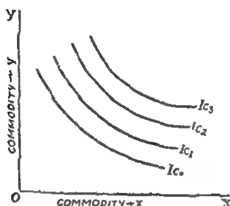
[5] "Thus, as one moves along an indifference curve the assumption that it is convex to the origin, that it gets flatter to the right and steeper upwards implies that the marginal significance of the one good in terms of the other will always diminish progressively as one acquires more of the former good."

—*Stonier and Hague, page 47.*

[6] "The slope of the indifference (—Syn) increases as the consumer moves upward along the curve......"

—*Stigler.*

त्यों त्यों वे कम सन्तुष्टि या उपयोगिता के सयोग व्यक्त करती हैं। ऐसी तटस्थता रेखाओं का एक मानचित्र नीचे दिया जा रहा है :



चित्र सं० 13

माना कि उपर्युक्त तटस्थता मान-चित्र में IC_1 वह उदासीन वक्र है जो तटस्थता सूची—1 में दिए गए सेवों व सन्तरों के विभिन्न सयोगों को प्रदर्शित करता है। अब यदि उपभोक्ता की आय, रुचि आदि में परिवर्तन हो जाने पर सेव व सन्तरे के अनुपात में भी परिवर्तन हो जायें और वह निम्नलिखित संयोगों से अधिक सन्तुष्टि प्राप्त करने लगे, तो निश्चय ही इन परिवर्तित सयोगों को अधिक पसन्द करेगा :

तटस्थता सूची—2

सयोग क्रम	सेव		सन्तरे
पहला	12	+	2
दूसरा	8	+	3
तीसरा	6	+	4
चौथा	5	+	5

उपर्युक्त सूची के प्रथम सयोग से उपभोक्ता 12 सेवों के साथ 2 सन्तरे पाता है, जबकि सूची—1 के अनुसार उसे 12 सेवों के साथ शून्य सन्तरा मिलता है। इसी प्रकार अन्य सयोगों में भी सेवों और सन्तरों की मात्राएं अधिक है। अतः वह सूची – 2 के सयोगों को अधिक पसन्द करेगा, क्योंकि इन परिवर्तित सयोगों से प्राप्त की गयी सन्तुष्टि का स्तर अधिक ऊंचा होगा। यही कारण है कि इस सूची के विभिन्न सयोगों को व्यक्त करने वाले बिन्दु पहले वाले तटस्थता-वक्र पर स्थित नहीं हो सकते। वे पहली सूची के विभिन्न सयोगों के बिन्दुओं से ऊंचे स्तर पर स्थित

होंगे। अत ये बिन्दु तटस्थता-वक्र IC_2 पर होंगे। इसी प्रकार उपभोक्ता IC_3 तटस्थता वक्र द्वारा व्यक्त दो वस्तुओं (सेब तथा सन्तरे) के विभिन्न सयोगो के प्रति उदासीन या तटस्थ रहेगा, लेकिन इन सयोगो को IC_2 के समस्त सयोगो से अधिक पसन्द करेगा, क्योंकि IC_3 उदासीन वक्र IC_2 उदासीन वक्र की तुलना मे ऊचे स्तर के सयोगो को व्यक्त करता है। परन्तु IC_0 उदासीनता वक्र IC_1, IC_2 व IC_3 तटस्थता वक्रों की तुलना में दो वस्तुओं के ऐसे सयोगो को प्रदर्शित करता है जिनसे प्राप्त सन्तुष्टि का स्तर नीचा होगा क्योंकि यह वक्र अन्य वक्रों की अपेक्षा नीचे स्तर पर है।

तटस्थता वक्र एक नक्शे की 'परिधि रेखा' (Contour Line) के समान होता है। जिस प्रकार परिधि-रेखा पर स्थित सभी स्थानो की ऊचाई एक समान रहती है, उसी प्रकार एक दिए हुए तटस्थता वक्र पर स्थित विभिन्न बिन्दुओं वाले सयोगो से समान सन्तुष्टि प्राप्त होती है। किन्तु परिधि रेखाओ और तटस्थता रेखाओं की यह तुलना उचित नही है। दोनो मे कुछ अन्तर है। हम परिधि रेखाओ पर ऊचाई 'फुट', 'मीटर' जैसी इकाइयो द्वारा नाप सकते हैं, लेकिन तटस्थता वक्र के द्वारा प्राप्त हुई सतुष्टि परिमाण मे व्यक्त नही की जा सकती, क्योंकि उपयोगिता या सन्तुष्टि व्यक्तिगत (Subjective) होने के कारण अमापनीय है। उपयोगिता या सन्तुष्टि को ठीक-ठीक माप करने की कोई इकाई (Unit) नही है। हम इतना ही कह सकते हैं कि एक तटस्थता वक्र दूसरे तटस्थता वक्र की तुलना में एक ऊचे सन्तुष्टि स्तर के समान सयोगो को बताता है, किन्तु यह नही कह सकते कि यह सन्तुष्टि कितनी अधिक या कितनी कम है? हम तटस्थता वक्रो द्वारा व्यक्त विभिन्न सन्तुष्टि स्तरो के सयोगो को इकाइयो द्वारा स्पष्ट नही कर सकते।[7] तटस्थता वक्र IC_0, IC_1, IC_2, IC_3 इत्यादि केवल विभिन्न सतुष्टि स्तरो (levels of satisfactions) को व्यक्त करते हैं।

9 तटस्थता वक्र की प्रकृति (Nature & Properties of Indifference Curve)

तटस्थता वक्र यह नही बताता कि दो वस्तुओ के विभिन्न सयोगो से उपभोक्ता को कितनी सतुष्टि मिलती है। यह केवल इतना ही बताता है कि विभिन्न

7 'An indifference curve is thus like a contour line on a map which shows all places at the same height above level. Instead of representing height, each indifference curve represents a level of satisfactions It is, however, quite impossible to measure levels of satisfactions in the way hat one can measure heights above sea level There are obviously no units of measurement" —*Stonier and Hague*

संयोगो से उपभोक्ता को समान सन्तुष्टि मिलती है। तटस्थता-वक्र मे एक वस्तु को OY (axis) पर तथा दूसरी को OX अक्ष (axis) पर दिखलाते हैं। हम एक त्रिअक्षीय चित्र (Three-dimensional diagram) के द्वारा तीन वस्तुओ को भी ले सकते हैं, किन्तु ऐसी स्थिति मे उसे तटस्यता वक्र न कह कर (तटस्थता-सतह Indifference Surface) कहा जाएगा। इसके द्वारा तीन वस्तुओ के अन्य विभिन्न सयोगो को व्यक्त किया जा सकता है, जो उपभोक्ता के लिए समान महत्व के होगे। ऐसी दशा मे तटस्थता-वक्र का स्वरूप अधिक जटिल हो जाता है। फलस्वरूप तटस्थता-वक्र बनाते समय दो ही वस्तुओ पर विचार करना ठीक होगा, क्योकि जो बात दो या तीन वस्तुओ के सम्बन्ध मे ठीक है, वही अनेक वस्तुओ के विषय मे भी समान रूप से सही होगी, और उपभोक्ता द्वारा बहुत सी वस्तुओ के विभिन्न सयोगो पर विचार करने से भी हमारे निष्कर्ष मे कोई परिवर्तन नही होगा।

10. विशेषताएं :

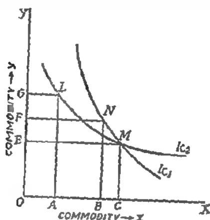
तटस्थता-वक्र के स्वरूप के सम्बन्ध मे उसकी कुछ मूलभूत विशेषताओ का उल्लेख किया जाता है, जो निम्नलिखित हैं :

(1) तटस्थता वक्र पर सभी बिन्दु समान उपयोगिता प्रदान करने वाली वस्तुओ के सयोगो को व्यक्त करते हैं। **(All points on an indifference-curve reflect equal utility-yielding combinations of goods)** : यह विशेषता इस तथ्य की द्योतक है कि वस्तुओ के विभिन्न सयोगो से समान पूर्ण उपयोगिता मिलने के कारण ही उपभोक्ता उनके प्रति तटस्थ रहता है। वक्र पर इन सयोगो के बिन्दुओ से विभिन्न सयोगो का ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

(2) किसी तटस्थता-वक्र की दायीं ओर का तटस्थता वक्र उसकी बायीं तरफ के तटस्थता-वक्र की अपेक्षा अधिक सन्तुष्टि वाले सयोगों को व्यक्त करता है **(An indifference curve to the right of another indicates combinations—each of which yields a higher total satisfaction than any combination on a curve to the left)**। जैसा कि पिछले चित्र मे स्पष्ट किया जा चुका है कि किसी तटस्थता वक्र की दायी तरफ जितने भी वक्र होंगे वे अपेक्षाकृत उससे अधिक सन्तुष्टि के सूचक होगे। इसके विपरीत उसकी बायी ओर के तटस्थता वक्र कम सन्तुष्टि के सूचक होंगे।

(3) विभिन्न तटस्थता-वक्र एक दूसरे को नहीं काटते **(Indifference Curves cannot intersect)** : विभिन्न तटस्थता-वक्र विभिन्न मात्राओ मे दो वस्तुओ के सयोगो को दिखलाते हैं। अतः दो तटस्थता-वक्र न तो एक दूसरे को स्पर्श

ही करते हैं और न ही वे एक दूसरे को काटते हैं। यदि वे एक दूसरे को काटने लगें तो फल यह होगा कि एक तटस्थता-वक्र पर वह विन्दु उतनी ही सन्तुष्टि प्रदान करेगा, जितना कि दूसरे तटस्थता-वक्र का वह विन्दु जिस पर वे एक दूसरे को काटते हैं। इस तथ्य को निम्न चित्रों से स्पष्ट किया जा सकता है:



चित्र सं० 14

इस चित्र मे दो तटस्थता-वक्र IC_1 व IC_2 एक दूसरे को M विन्दु पर काटते हैं। इन वक्रो से निम्नलिखित सयोगो को ज्ञात किया जाता है :

IC_1 वक्र के समान पूर्ण उपयोगिता वाले सयोग ,

$OC_x + OE_y = OB_x + OF_y$

इसी प्रकार IC_2 वक्र के समान पूर्ण उपयोगिता वाले सयोग :

$OC_x + OE_y = OA_x + OG_y$

∵ M विन्दु IC_1 तथा IC_2 दोनो ही तटस्थता वक्रो पर हैं। अत इनसे व्यक्त होने वाले IC_1 व IC_2 पर सयोग $(OC_x + OE_y)$ एक ही हैं। परन्तु प्रत्येक वक्र पर सयोगो के विन्दु समान पूर्ण उपयोगिता के सयोगो को व्यक्त करते हैं–

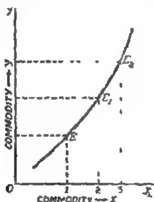
∴ $OB_x + OF_y = OA_x + OG_y$ अर्थात् $OF_y = OG_y$

परन्तु ऐसा होना निराधार एव असम्भव है, क्योंकि जैसा कि चित्र से स्पष्ट है OG मात्रा OF मात्रा से अधिक है। अत दो सयोगो की पूर्ण उपयोगिता को समान बनाने के लिए एक ही वस्तु की अधिक मात्रा दूसरे सयोग म कम मात्रा के बराबर नहीं हो सकती। इससे यह स्पष्ट है कि दो उदासीन-रेखायें एक दूसरे को नहीं काट सकतीं।

(4) तटस्थता-वक्र सदैव ऊपर से नीचे की ओर झुकता जाता है (**Always slopes downwards to the right**) : ऐसा होना स्वाभाविक है, क्योंकि जब एक

वस्तु (X) की मात्रा में वृद्धि होती है, तब दूसरी वस्तु (Y) की मात्रा में कमी होनी चाहिये, अन्यथा संयोग समान पूर्ण उपयोगिता वाले नहीं हो सकते। यदि तटस्थता वक्र नीचे की तरफ बाएँ से दाएँ न झुके तो उसके दो और सम्भव रूप हो सकते है :

(i) नीचे से ऊपर की तरफ दायीं ओर मुड़ सकता है : इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक अगले बिन्दु से अधिक सतुष्टि की प्राप्ति होगी, क्योंकि प्रत्येक अगले बिन्दु E, E_1 व E_2 पर X और Y की मात्रायें बढती जाती हैं। प्रत्येक अगला बिन्दु इन वस्तुओं की अधिक इकाइयों वाले संयोगों को प्रकट करता है। चित्र स० 15 से स्पष्ट है कि E बिन्दु पर Y और X दोनों की एक-एक इकाई का संयोग प्राप्त होता है, E_1 बिन्दु पर दो-दो इकाइयां मिलती है और E_2 पर तीन तीन इकाइयां। इन



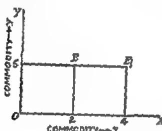
चित्र स० 15

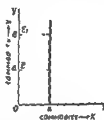
तीनों बिन्दुओं में सबसे नीचे के बिन्दु E पर अवश्य ही ऊपर के बिन्दुओं की तुलना में कम सतुष्टि मिलेगी। परन्तु यह स्थिति तटस्थता वक्र की परिभाषा के विपरीत है तथा अस्वाभाविक है क्योंकि एक तटस्थता-वक्र के सभी बिन्दुओं पर समान सतोष मिलना चाहिये। अत स्पष्ट है कि तटस्थता वक्र कभी भी दाहिनी ओर ऊपर की ओर नहीं उठ सकता। यह स्थिति उसी समय सम्भव है जबकि दो वस्तुओं में से किसी एक वस्तु से प्राप्त सतोष नकारात्मक (negative) हो जाय।

(ii) आधार रेखा (OX) के समानान्तर (Horizontal) या खडी रेखा (OY) के समानान्तर (Vertical) यदि तटस्थता वक्र आधार रेखा (OX) के समानान्तर है तो उपभोक्ता को X वस्तु की मात्रा अधिक प्राप्त होगी, जबकि Y की मात्रा पूर्ववत् रहेगी। चित्र 16 (1) में उपभोक्ता E बिन्दु पर 2X+5Y से सतोष प्राप्त करता है। परन्तु E_1 बिन्दु पर X वस्तु की मात्रा में तो वृद्धि होती है, अर्थात् वह 4 के बराबर हो जाती है, लेकिन Y की इकाइयां 5 ही रहती हैं। अत स्पष्ट है कि

उपभोक्ता E_2 के संयोग को अधिक पसन्द करेगा। यह स्थिति भी अस्वाभाविक है, अतः तटस्थता-वक्र कभी भी आधार रेखा के समानान्तर नहीं हो सकता।

इसी प्रकार तटस्थता-वक्र (चित्र–16–2) OY खड़ी रेखा के समानान्तर भी नहीं हो सकता। तटस्थता-वक्र एक खड़ी रेखा के रूप में एक होने पर X वस्तु की मात्रा तो समान रहती है, लेकिन Y वस्तु की मात्रा में वृद्धि होती जाती है। फलस्वरूप प्रत्येक अगला संयोग (E_1) अधिक वांछनीय होगा। यह स्थिति भी अस्वाभाविक मानी जाती है। अतः तटस्थता-वक्र कभी भी खड़ी रेखा OY के समानान्तर भी नहीं हो सकता।





(1) चित्र सं० 16 (2)

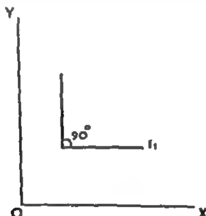
(5) सभी तटस्थता वक्र मूल बिन्दु के प्रति उन्नतोदर होते हैं (All Indifference curves are convex to the origin) : तटस्थता-वक्र के उन्नतोदर (Convex) होने का अर्थ यह है कि यह एक वस्तु का दूसरी वस्तु की तुलना में सीमान्त महत्व (Marginal Significance) स्पष्ट करता है।* जैसे-जैसे हम किसी तटस्थता वक्र पर नीचे की ओर बढते है, उपभोग की गई एक वस्तु (X) की मात्रा में वृद्धि होती है, परन्तु दूसरी वस्तु (Y) की मात्रा में कमी होती है। इस प्रकार X की सीमान्त उपयोगिता घटती है, जबकि Y की सीमान्त उपयोगिता में वृद्धि होती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि Y वस्तु की कमी पूर्ति X वस्तु की मात्रा में पूर्ति करके ही की जा सकती है। केवल ऐसा वक्र जो अपने मूल बिन्दु से उन्नतोदर (convex to the origin) होता है, इस स्थिति को व्यक्त कर सकता है। ऐसे वक्र का ढाल सदैव नीचे की ओर बायें से दायें की ओर होता है जो प्रतिस्थापन की घटती सीमान्त दर को व्यक्त करता है। वस्तुतः तटस्थता-वक्र की यह प्रकृति प्रतिस्थापन की सीमान्त दर की वृद्धि (increasing marginal rate of

* "The slope of an indifference curve at any point indicates the terms at which a consumer is prepared to exchange one commodity for another i. e. what is usually called his marginal rate of substitution. —*Edward Nevin*

substitution) अथवा X वस्तु के लिए ह्रासमान प्रतिस्थापन सीमांत दर (decreasing marginal rate of substitution) व्यक्त करती है।

11, अपवाद (Exceptions) :

(i) पूरक वस्तुओं का तटस्थता वक्र : एक निश्चित अनुपात में प्रयोग में लायी जाने वाली वस्तुओं (Perfectly complementary goods), जैसे प्याला तथा प्लेट के लिए तटस्थता-वक्र का आकार भिन्न होता है। ऐसे तटस्थता वक्र का आकार दो सीधी रेखाओं के रूप में होता है। इनमें से एक रेखा आधार रेखा (OX) के समानान्तर तथा दूसरी रेखा खड़ी रेखा (OY) के समानान्तर होती है। दोनों रेखाएं एक दूसरे से 90° के कोण पर मिलती हैं



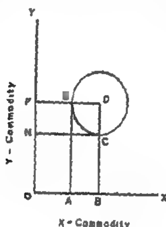
चित्र स० 17

जैसा कि चित्र स० 17 में दिखाया गया है। ऐसा इसलिए होता है कि यदि दो पूर्ण पूरक वस्तुओं में से किसी एक वस्तु की मात्राएं बढ़ा दी जाती हैं तथा दूसरी में उसी अनुपात में वृद्धि न की जाय, तो पहली वस्तु की अतिरिक्त इकाइयां बेकार हो जायेंगी। अत यह स्पष्ट है कि पूर्ण पूरक वस्तुएं एक साथ एक निश्चित अनुपात में ही खरीदी जाती जाती हैं। किसी एक वस्तु को दूसरी वस्तु के बदले में प्रतिस्थापित करके पूर्ण सन्तुष्टि का संयोग प्राप्त नहीं किया जा सकता।

(ii) तटस्थता-वक्र का गोलाकार होना :** किसी एक वस्तु की निरन्तर अधिक मात्राएं प्रयोग करने पर एक सीमा पर उपभोक्ता पूर्ण सन्तुष्टि के बिन्दु पर

**प्रो० जे० के० मेहता ने कहा है, 'तटस्थता वक्र' गोलाकार भी हो सकते हैं। परन्तु इसे सिद्ध करना अत्यन्त ही कठिन है तथा इसके लिए गणित का बहुत उच्च स्तर का ज्ञान आवश्यक है। देखिये, *R. G. D. Allen*, Mathematical Analysis 1962 p 357-58

पहुँच जाता है। उसके पश्चात् भी यदि वह उस वस्तु की अतिरिक्त इकाइयां प्रयोग मे लाता है तो उसे उपयोगिता या सन्तुष्टि के स्थान पर अनुपयोगिता या ऋणात्मक उपयोगिता (Negative utility) प्राप्त होने लगती है। ऐसी स्थिति में वह किसी अन्य वस्तु की मात्रा मे, प्रतिस्थापन नियम के आधार पर कमी करने के बजाय वृद्धि करने लगता है, जिससे उस वस्तु से भी उसे ऋणात्मक उपयोगिता मिलने लगती है।



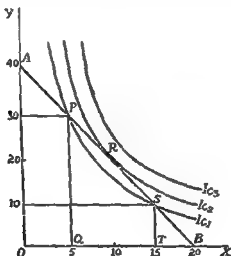
चित्र स० 18

इस प्रकार दूसरी वस्तु की ऋणात्मक उपयोगिता पहली वस्तु से प्राप्त हुयी अनुपयोगिता की पूर्ति करती है। ऐसी स्थिति मे तटस्थता वक्र दोनो वस्तुओ की इकाइयो म पूर्ण सतुष्टि के बाद भी वृद्धि होने के तथा उनसे ऋणात्मक उपयोगिता मिलने के कारण, गोलाकार (circular) या अण्डाकार (elliptical) हो जाता है, जैसा कि चित्र स० 18 से स्पष्ट है।

चित्र स० 18 मे E C सामान्य तटस्थता वक्र (Ic) है। इस वक्र पर C बिन्दु पर X वस्तु की OB मात्रा तथा Y वस्तु की ON मात्रा का सयोग उतनी ही सतुष्टि देगा जितनी E बिन्दु पर X की OA मात्रा तथा Y की OF का सयोग। CE वक्र पर किसी बिन्दु पर समान सतुष्टि के सयोग प्राप्त किए जा सकते हैं। किसी भी वस्तु (X या Y) की अधिक मात्राए उपभोग करने पर अनुपयोगिता प्राप्त नहीं होती। ऐसी स्थिति म D पूर्ण सतुष्टि का बिन्दु तथा CE (Ic) क्षेत्र प्रभावोत्पादक क्षेत्र कहलाता है। इस प्रभावित क्षेत्र से निकलकर यदि उपभोक्ता X वस्तु की अतिरिक्त मात्राओ का प्रयोग करता है तो उसे ऋणात्मक उपयोगिता मिलेगी। इस क्षति की पूर्ति करने के लिए उस Y वस्तु की मात्रा म वृद्धि करनी होगी। फलस्वरूप सामान्य तटस्थता वक्र EC गोलाकार होता जायेगा।

12. तटस्थता तथा मूल्य रेखा (Price Line) *

मूल्य-रेखा वस्तुओं के उन वैकल्पिक संयोगों के विषय में ज्ञान कराती है जो विभिन्न बिन्दुओं पर उपभोक्ता को समान सन्तुष्टि प्रदान करते हैं। उदाहरणार्थ, किसी उपभोक्ता की आय सीमित होने पर वह उसे दो वस्तुओं, X और Y, पर व्यय करना चाहता है। नीचे दिए गए चित्र सं० 19 में X वस्तु को OX पर आधार रेखा तथा Y वस्तु को OY खड़ी रेखा पर प्रदर्शित किया गया है। यदि उपभोक्ता अपनी आय Y वस्तु क्रय करने में व्यय करना चाहता है, तो वह Y वस्तु की OA मात्रा प्राप्त कर सकता है। इसके विपरीत यदि वह X वस्तु पर ही अपनी समस्त आय व्यय करना चाहे तो उसे X की OB मात्रा प्राप्त हो सकेगी। यदि A और B बिन्दु को मिला कर AB रेखा खींची जाय, तो AB रेखा को 'मूल्य रेखा', 'बजट रेखा' या 'सम्भावित उपभोग रेखा' कहा जायेगा। इस रेखा पर प्रत्येक बिन्दु उपभोक्ता की आय का X और Y वस्तुओं के क्रय पर सम्भावित बटवारा (allocation) व्यक्त करेगा। माना



चित्र सं० 19

कि उपभोक्ता के पास X और Y अथवा X या Y को क्रय करने के लिए 200 रुपये हैं। यह मान लेने पर कि यदि बाजार में X वस्तु की प्रति इकाई का मूल्य 10 रु० प्रति इकाई है तो उपभोक्ता X वस्तु की अधिक से अधिक 20 इकाइयां खरीद सकता है। यह स्थिति B बिन्दु पर व्यक्त की गई है। ऐसी स्थिति में वह Y वस्तु की एक

* Price Line को Price ratio Line या Price Opportunity Line भी कहते हैं। इसे Stigler ने Budget Line तथा Samuelson ने Consumption Possibility-Line कहा है।

इकाई भी क्रय नहीं कर सकता। इसी प्रकार यदि Y वस्तु की प्रति इकाई का मूल्य 5 रु० प्रति इकाई हो तो वह केवल Y वस्तु को ही 40 इकाइयां क्रय कर सकता है और X वस्तु को बिलकुल नहीं खरीदेगा। इस स्थिति को OY पर A बिन्दु द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

अब उपभोक्ता अपनी निश्चित आय—200 रुपयों—को निम्नलिखित तीनों विकल्पों में से किसी एक पर भी व्यय करके सामान्य सन्तुष्टि प्राप्त कर सकता है :

(i) केवल Y वस्तुओं को क्रय कर सकता है और Y की OA मात्रा प्राप्त करता है, या

(ii) केवल X वस्तुओं को क्रय करके उसकी OB मात्रा प्राप्त कर सकता है, अथवा

(iii) वह दोनों ही वस्तुओं की थोड़ी थोड़ी मात्रा क्रय करके उनके संयोग से उतनी ही सतुष्टि प्राप्त कर सकता है, जितनी कि Y वस्तु की OA मात्रा से अथवा X वस्तु की OB मात्रा से प्राप्त होती है।

यदि उपभोक्ता तीसरे विकल्प के अनुसार अपनी निश्चित आय को व्यय करता है तो उसे AB रेखा पर प्रदर्शित किसी भी बिन्दु के संयोग से समान सतुष्टि मिलेगी। उदाहरणार्थ, S बिन्दु पर X और Y वस्तुओं के संयोग $OTx+STy$ अथवा P बिन्दु पर OQ_x+PQ_y संयोग से समान पूर्ण सन्तुष्टि मिलेगी।

$\therefore$ Total Utility $=(OT_x+ST_y)=(OQ_x+PQ_y)=OA=OB$

निश्चित धन-राशि के वितरण द्वारा स्पष्टीकरण

X वस्तु की प्रत्येक इकाई का मूल्य 10 रु० तथा Y वस्तु की प्रति-इकाई-मूल्य 5 रु० है

अतः $OA=\frac{200}{5}=40$ इकाइयां→ Y वस्तु पर→ कुल व्यय $=200$ रु०

$OB=\frac{200}{10}=20$ इकाइयां→X वस्तु पर→ ,, ,, $=200$ रु०

S बिन्दु पर X और Y वस्तुओं की इकाइयों के संयोग पर कुल धनराशि के व्यय को ज्ञात करने के लिए X तथा Y वस्तु की प्रति इकाई की दर से संयोजित इकाइयों का मूल्य ज्ञात करना होगा .

$\because$ OT=X वस्तु की 15 इकाइयां $\therefore$ OT पर किया गया व्यय $15\times10=150$

$\because$ ST = Y वस्तु की 10 इकाइयां ST ,, ,, ,, $10\times5=50$

$\therefore$ OT_x+ST_y पर कुल व्यय की गयी धनराशि $=200$

इसी प्रकार पुनः AB रेखा पर P बिन्दु द्वारा प्रदर्शित संयोग का चुनाव करने पर उपभोक्ता X तथा Y वस्तुओं के निम्नलिखित संयोग से समान सतुष्टि प्राप्त करेगा :

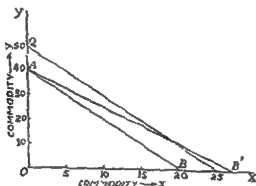
$$OQ_x+PQ_y$$

X और Y वस्तुओं के इस परिवर्तित संयोग पर भी उपभोक्ता अपनी 200 रु० की निश्चित धन राशि ही व्यय करेगा, जैसा कि नीचे स्पष्ट किया गया है :

∵ OQ = X वस्तु की 5 इकाइयाँ ∴ OQ पर किया गया व्यय $5 \times 10 = 50$
∵ PQ = Y वस्तु की 30 इकाइयाँ ∴ PQ पर किया गया व्यय $30 \times 5 = 150$
∴ $OQ_x + PQ_y$ पर कुल व्यय $= 200$

उपर्युक्त तथ्यों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मूल्य-रेखा यह ज्ञात करने में सहायक होती है कि प्रचलित मूल्यों पर वस्तुओं को खरीदने का कौन सा अवसर प्राप्त होगा ? इसलिए इसे 'मूल्य-अवसर रेखा' (Price-Opportunity-Line) भी कहा जाता है। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रहना चाहिए कि तटस्थता-वक्र अर्थात् पसन्दगी-मान और मूल्य रेखा एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं। उपभोक्ता अपने पसन्दगी-मान तथा मूल्य-रेखा को अपनी आय के अनुसार ही समायोजित करता है।[10]

मूल्य-रेखा में परिवर्तन सम्भव है। यदि वस्तुओं के मूल्य के पूर्ववत् रहने पर उपभोक्ता की आय में वृद्धि हो जाती है, तो वह अतिरिक्त क्रय शक्ति से X अथवा



चित्र सं० 20

Y वस्तुओं की अतिरिक्त इकाइयाँ क्रय करने में समर्थ होगा। नीचे दिए गए चित्र को

[10] "The price line, thus, represents the opportunities open to the consumer in the market, given prices and his income, whereas the indifference curves show his tastes independently of market conditions. It is extremely important to remember that the indifference map and the price line are quite independent of one another.
—*Stonier and Hague*.

देखने पर ज्ञात होगा कि यदि उपभोक्ता की आय बढ़कर 250 रुपये हो जाय तो प्रति इकाई मूल्य में परिवर्तन न होने पर वह X वस्तु की 25 इकाइयां या Y वस्तु की 50 इकाइयां क्रय कर सकता है। मूल्यों में परिवर्तन न होने के कारण ही नयी OR मूल्य रेखा AB के ऊपर उसके समानान्तर होगी।

इसके विपरीत यदि उपभोक्ता की आय में तो वृद्धि नहीं होती, परन्तु X वस्तु के मूल्य में परिवर्तन (कमी) हो जाता है, तो उपभोक्ता अपनी निश्चित आय (200 रु०) से Y वस्तु की तो पूर्व मात्रा (40 इकाइयां) प्राप्त कर सकता है। परन्तु यदि वह केवल X वस्तु ही क्रय करना चाहता है तो उसे इसकी अधिक इकाइयां प्राप्त हो सकती हैं। ऐसी स्थिति में मूल्य रेखा AB से हटकर AB' हो जायेगी।

13 उपभोक्ता का संतुलन (Consumer's Equilibrium)

उपयोगिता विश्लेषण-विधि यह ज्ञात करने में सहायक होती है कि कोई उपभोक्ता 'सम-सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त' (Law of Equi marginal Utility) के द्वारा किस प्रकार अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त कर सकता है। तटस्थता वक्र द्वारा किसी उपभोक्ता को दो विभिन्न वस्तुओं के उन वैकल्पिक संयोगों का ज्ञान प्राप्त होता है जिनसे उसे समान सन्तुष्टि प्राप्त हो सकती है। परन्तु वस्तुतः उपभोक्ता अपनी निश्चित आय से बाजार में विभिन्न वस्तुओं के मूल्यों के आधार पर कुछ ही आवश्यक वस्तुएं खरीदकर अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। तटस्थता वक्र विधि की सहायता से वह बिन्दु या सन्तुलन स्थिति ज्ञात की जा सकती है जिस पर उपभोक्ता को अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो सकती है। इस स्थिति को ज्ञात करने के लिए निम्नलिखित मान्यताओं को ध्यान में रखना होगा

(i) उपभोक्ता के पास व्यय की जाने वाली मुद्रा की मात्रा निश्चित एवं सीमित है।

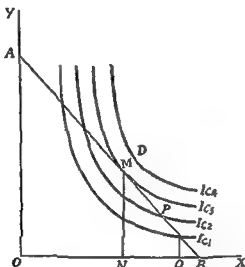
(ii) उपभोक्ता को सभी बाजार मूल्य ज्ञात हैं,

(iii) सभी वस्तुएं समरूप (homogeneous) और विभाजनीय (divisible) हैं,

(iv) उपभोक्ता विवेक से कार्य करता है, अर्थात् वह अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने के लिए विवेकपूर्ण ढंग से व्यय करता है, तथा

(v) उपभोक्ता को दो वस्तुओं के उन सभी विभिन्न संयोगों को व्यक्त करने वाले समभाव-मानचित्र (Indifference Map) का ज्ञान है जिनसे उसे समान सन्तुष्टि मिलेगी।

इन मान्यताओ के आधार पर उपभोक्ता के लिए नीचे दिये गये तटस्थता वक्र खीचे गये हैं और उपभोक्ता की निश्चित आय के आधार पर सम्भावित उपभोग की रेखा (Consumption Possibility Line) या मूल्य रेखा AB खीची गई है। उपर्युक्त मान्यताओ के आधार पर हम यह मानकर चलते हैं कि एक विवेकशील उपभोक्ता अपनी निश्चित आय से अधिकतम सन्तोष प्राप्त करना चाहता है। अत यदि उपभोक्ता IC_1 तटस्थता वक्र पर बिंदु P (जो गलती से IC_3 रेखा पर दिखलाया गया है) के सयोग के अनुसार X तथा Y वस्तुओ को क्रय करता है तो उसे अपनी आय व्यय करने पर X वस्तु की OQ मात्रा तथा Y वस्तु की PQ



चित्र स० 21

मात्रा प्राप्त होगी। ध्यान रहे कि P बिन्दु AB मूल्य रेखा पर है, अतः इसी रेखा पर M बिन्दु द्वारा प्रदर्शित सयोग के अनुसार उतनी ही आय से X तथा Y वस्तुओ की क्रमश ON तथा MN मात्राए प्राप्त होगी। M बिन्दु IC_3 तटस्थता-वक्र पर है। उपभोक्ता अधिकतम सतोष प्राप्त करने के लिए वस्तुओ के अपेक्षाकृत अच्छे सयोगो को पसन्द करता है। किसी तटस्थता-वक्र से ऊचे वक्र अच्छे सयोगो को प्रदर्शित करते हैं। अतः यह उपभोक्ता PQ+OQ सयोग जो IC_1 पर है, की अपेक्षा IC_3 के MN+ON सयोग को अधिक पसन्द करेगा। इसके साथ ही साथ निश्चित आय से समान सन्तुष्टि उन्हीं तटस्थता वक्रो से प्राप्त हो सकती है जिनको आय-मूल्य रेखा या तो काटती है या स्पर्श करती है। उपभोक्ता का सतुलन बिन्दु वह होता है, जहा आय मूल्य-रेखा तटस्थता रेखा को स्पर्श करती है [या स्पर्श-रेखा (tangent) बनती हैं]। उपरोक्त चित्र मे AB रेखा IC_1 व IC_2 तटस्थता वक्रो को काटती

है, परन्तु IC_3 तटस्थता वक्र को M बिन्दु पर स्पर्श करती है। IC_3 वक्र चूंकि IC_1 व IC_2 तटस्थता-वक्रों से उच्च स्थिति पर है, अतः IC_3 तटस्थता-वक्र के संयोगों का चुनाव ही उपभोक्ता द्वारा किया जायेगा। परन्तु IC_3 तटस्थता वक्र भी AB मूल्य रेखा को केवल M बिन्दु पर ही स्पर्श करता है, अतः AB मूल्य-रेखा IC_3 तटस्थता-वक्र की M पर स्पर्श रेखा है (Price Line is a tangent to an Indifference Curve)। इस स्पर्श बिन्दु के अतिरिक्त AB मूल्य-रेखा IC_3 को किसी अन्य बिन्दु पर नहीं काटती। अतः उपभोक्ता M बिन्दु के द्वारा X तथा Y वस्तुओं के संयोग (ON_x+MN_y) के अतिरिक्त उस आय से अन्य किसी संयोग से सन्तुष्टि प्राप्त नहीं कर सकता। अतः M बिन्दु पर प्राप्त सर्वोत्तम एवं वांछनीय है, जो उपभोक्ता सन्तुलन (Consumer's Equilibrium) का संकेत करता है। अन्य कोई भी संयोग सर्वोत्तम नहीं कहा जा सकता, क्योंकि IC_3 की बायीं ओर (जैसे P पर) वह नहीं जाना चाहेगा, क्योंकि वह निम्न स्तरीय तटस्थता वक्र IC_2 के संयोग को व्यक्त करता है। उसकी दायीं ओर (जैसे IC_4 तटस्थता-वक्र के D बिन्दु पर) वह नहीं जाना चाहेगा क्योंकि उसकी निश्चित आय की सम्भावित उपभोग-रेखा या मूल्य-रेखा (Consumption Possibility Line) AB न तो IC_4 को स्पर्श ही करती है और न उसको कहीं पर काटती ही है। यह बिन्दु उसकी मूल्य-रेखा की पहुंच के बाहर है, क्योंकि वह उच्च-स्तरीय उपभोग पर अधिक आय के वितरण को व्यक्त करता है। इस स्तर (IC_4) पर स्थित संयोग क्रय करने के लिए इस उपभोक्ता की आय पर्याप्त नहीं है।

अतः स्पष्ट है कि जिस बिन्दु पर मूल्य रेखा किसी तटस्थता वक्र को स्पर्श करती है, वह उपभोक्ता के लिए सर्वोत्तम स्थिति है। इसी बिन्दु पर उपभोक्ता सन्तुलन की स्थिति में होता है। सन्तुलन की अवस्था प्राप्त कर लेने पर उपभोक्ता उस समय तक किसी वस्तु की मात्रा अधिक नहीं खरीदेगा जब तक कि उसकी आय आदि में परिवर्तन न हो जाय।

सन्तुलन-बिन्दु (Point of tangency or equilibrium point) M पर मूल्य-रेखा (AB) तथा तटस्थता-वक्र (IC_3) दोनों का ढाल (Slope) समान है। तटस्थता-वक्र के ढाल का बिन्दु दो वस्तुओं के मध्य 'सीमान्त प्रतिस्थापन दर' (Marginal rate of substitution) या 'प्रतिस्थापन अनुपात' (ratio of substitution) को मापता है। परन्तु मूल्य-रेखा का ढाल आरम्भ से अन्त तक समान रहता है जो $\frac{OA}{OB}$ (X वस्तु के मूल्य तथा Y वस्तु के मूल्य के अनुपात) से स्पष्ट है। अतः संतुलन की स्थिति में दो वस्तुओं के मूल्य के मध्य अनुपात उन वस्तुओं के मध्य प्रतिस्थापन के अनुपात के बराबर होता है। अतः उपभोक्ता के सन्तुलन का

अभिप्राय यह है कि अधिकतम सन्तुष्टि उसी बिन्दु पर प्राप्त हो सकती है, जहा पर वस्तुओ की सन्तुष्टि उनके मूल्य के बराबर हो। इस तथ्य को इस प्रकार भी दिखाया जा सकता है :

$$\text{उपभोक्ता का संतुलन}^{8} = \frac{X \text{ की सीमान्त उपयोगिता}}{Y \text{ की सीमान्त उपयोगिता}}$$

$$= \frac{X \text{ का मूल्य}}{Y \text{ का मूल्य}}$$

ऐसी स्थिति उस बिन्दु पर, जहा मूल्य-रेखा तटस्थता वक्र को स्पर्श करे, सम्भव हो सकती है। तटस्थता वक्र की भाषा मे सीमान्त उपयोगिताए और मूल्यो का आनुपातिक सम्बन्ध क्या है ? यह इस तथ्य से प्रदर्शित होता है कि मूल्य की रेखा तटस्थता-वक्र को स्पर्श करती है। एक मूल्य रेखा एक ही तटस्थता-वक्र को स्पर्श कर सकती है, इससे अधिक को नहीं तथा मूल्य-रेखा पर स्पर्श-बिन्दु केवल एक ही हो सकता है। इसका कारण यह है कि कोई भी दो तटस्थता-वक्र एक दूसरे को काटते नही तथा तटस्थता-वक्र मूल-बिन्दु से उन्नतोदर (Convex to the origin) होते हैं। इसीलिये आधुनिक अर्थशास्त्र किसी भी उपभोक्ता के सतुलन की व्याख्या तटस्थता-वक्र के माध्यम से करते हैं। यह तो हम देख ही चुके हैं कि किस प्रकार अधिकतम सतुष्टि तटस्थता-वक्र के द्वारा स्पष्ट की जा सकती है। मूल्यो के आधार पर तटस्थता-वक्र का निर्माण नही होता तथा उपभोक्ता विभिन्न वस्तुओ के प्रत्येक सयोग को नही लेता। एक दिए हुए मूल्य पर कुछ सयोगो को ही वह लेता है और कुछ को छोड देता है। किन्तु जिस सयोग को वह लेता है उसी से उसको अधिकतम सतुष्टि मिलने की आशा की जाती है और उपभोक्ता का वही सतुलन बिन्दु होता है। अत स्पष्ट है कि तटस्थता-वक्र की विधि द्वारा हमे यह ज्ञात होता है कि दी हुई दशाओ के अन्तर्गत किस प्रकार उपभोक्ता को अधिकतम सतुष्टि मिलती है। तटस्थता-वक्र बहुत स्पष्ट रूप से उपभोक्ता के प्रत्येक सम्भव सयोगो को प्रदर्शित करता है तथा यह बताता है कि उपभोक्ता एक विशेष सयोग को क्यो पसन्द करता है ? परिणामस्वरूप उपभोक्ता द्वारा चुनाव का सिद्धात तटस्थता वक्र की विधि के द्वारा और भी अधिक स्पष्ट तथा त्रुटिहीन बन जाता है।

अपवाद : परन्तु कभी कभी विशेष परिस्थितियो मे तटस्थता-वक्र मूल-बिन्दु के उन्नतोदर (Convex) होने के बजाय नतोदर-(Concave) होते हैं। इस प्रकार की स्थिति मे उपभोक्ता दोनों वस्तुओं को क्रय करते हुए कभी उदासीनता-वक्र के

[8] "Tangency between the price-line and the indifference curve of the proportionality between marginal utilities and prices."

—*J. R. Hicks*

किसी बिन्दु पर स्थायी सन्तुलन की स्थिति में नहीं होगा। ऐसी स्थिति में हो सकता है कि तटस्थता वक्र जिस बिन्दु पर नतोदर है उस स्थिति पर क्रय की जाने वाली वस्तु का सीमान्त महत्व बढ़ रहा हो, परन्तु वह कभी भी उपभोक्ता के सतुलन की स्थिति व्यक्त नहीं करेगा। इसके अतिरिक्त वह स्थिति क्रमागत सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम के विपरीत है। अत तटस्थता-वक्र का स्वरूप मूल बिन्दु के उन्नतोदर (Convex to the origin) होना आवश्यक है। नतोदर की स्थिति कुछ समय तक रह सकती है, परन्तु लाभ की आशा में वस्तु की अधिकाधिक इकाइयां खरीदते रहने पर, पुन. उसका सीमान्त महत्व घटने लगता है और वक्र अपने मूल बिन्दु से उन्नतोदर होने लगेगा।

14. उपभोक्ता सतुलन के परिवर्तनकारी तत्व :

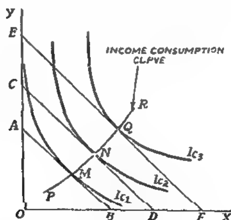
उपभोक्ता के सतुलन का यह विश्लेषण कुछ मान्यताओं पर आधारित है, किन्तु यदि उपभोक्ता की आय या वस्तु के मूल्य मे परिवर्तन हो जाय तो सतुलन बिन्दु भी बदल जाएगा। उपभोक्ता के सतुलन मे कैसा परिवर्तन होगा ? इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए हमें अपने विश्लेषण को तीन विभिन्न भागो मे विभाजित करना होगा। वे तीन विभिन्न परिवर्तन ये हैं : (i) आय प्रभाव (Income effect (ii) मूल्य-प्रभाव (Price effect) और (iii) प्रतिस्थापन प्रभाव (Substitution Effect)। अब इनका विश्लेषण हम अलग अलग करेंगे।

(I) आय-परिवर्तन का प्रभाव (Effects of Changes in Income) :

अन्य बातो के समान रहते हुए, उपभोक्ता की आय मे परिवर्तन दो प्रकार से हो सकता है (i) आय में वृद्धि द्वारा अथवा (ii) आय में कमी द्वारा। उपभोक्ता की आय में वृद्धि या कमी होने के फलस्वरूप माग में जो वृद्धि या कमी होती है, उसे ही आय प्रभाव कहते हैं। आय प्रभाव के कारण उपभोक्ता का सतुलन (Consumer's) Equilibrium) बदल जाता है अर्थात् उसकी सतुष्टि पहले की तुलना मे अधिक या कम हो जाती है। किसी उपभोक्ता की आय मे वृद्धि होने पर उसकी मूल्य रेखा (Price Line) बायें से दायी ओर ऊचे स्तर पर चली जाती है, क्योंकि दो वस्तुओं के मूल्यों के तथा उपभोक्ता की रुचियो मे बिना कोई परिवर्तन हुए अब, वह X या Y वस्तु की पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा क्रय कर सकता है। अन्य बातो के समान रहने के कारण ही तटस्थता वक्र का ढाल पहले के तटस्थता-वक्रो की तरह रहेगा और मूल्य रेखाए एक दूसरे के समानान्तर रहेगी। उपभोक्ता का उपभोग-स्तर ऊंचा उठने के कारण प्रत्येक मूल्य रेखा ऊंचे तटस्थता वक्र को स्पर्श-रेखा बन जायेगी जो अपने स्पर्श बिन्दु पर उपभोक्ता की अधिकतम सन्तुष्टि या उपभोक्ता सन्तुलन को व्यक्त करेगी। उदाहरणार्थ, उपभोक्ता की निश्चित आय पर, (दिये गए चित्र

स० 22 में) मूल्य-रेखा AB है और सन्तुलन-बिन्दु M है, जिस पर मूल्य-रेखा AB तटस्थता वक्र IC_1 को स्पर्श करती है।

यदि उपभोक्ता की आय में वृद्धि हो जाती है, तो वह X और Y वस्तुओं की अधिक मात्राए क्रय कर सकता है। अतः मूल्य-रेखा बायें से दायें ऊपर की तरफ खिसकेगी जो AB के समानान्तर होगी। यह मूल्य रेखा CD है। यह मूल्य रेखा (CD) दूसरे तटस्थता वक्र IC_2 को N पर स्पर्श करती है। यदि आय में पुन: वृद्धि होती है तो मूल्य-रेखा पुन आगे उठकर AB व CD के समानान्तर EF की स्थिति मे पहुच जाती है। यह रेखा तटस्थता-वक्र IC_3 को Q बिन्दु पर स्पर्श करती है। M, N तथा Q स्पर्श-बिन्दु उपभोक्ता-सन्तुलन की स्थितिया व्यक्त करते हैं। उपभोक्ता अपनी विभिन्न आय स्तरों पर इन बिन्दुओं द्वारा व्यक्त X तथा Y वस्तुओं के सयोगों से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करता है। आय मे वृद्धि होने से उपभोग पर पड़ने वाले परिवर्तनों को M,N,Q बिन्दुओं को मिलाने वाली रेखा PR व्यक्त करती है। अतः यह कहा जा सकता है कि एक तटस्थता मानचित्र पर दिए गए विभिन्न तटस्थता-वक्रों के सन्तुलन बिन्दुओं को जोड़ने वाली रेखा को आय उपभोग-वक्र (Income Consumption Curve) या व्यय-उपभोग वक्र (Expenditure Consumption Curve) कहते हैं।[1] यह वक्र आय मे परिवर्तन होने पर क्रय की जाने वाली वस्तुओं की मात्रा मे होने वाले परिवर्तनों को स्पष्ट रूप से व्यक्त करता है।



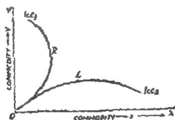
चित्र स० 22

आय उपभोग वक्र का स्वरूप (slope) तटस्थता वक्र के स्वरूप पर निर्भर

[1] "Any line drawn through the equilibrium points for all the possible levels of income is known as an income-consumption-curve." —*Stonier and Hague*

है। सामान्यतया यदि दो वस्तुओं के सापेक्ष मूल्यों (relative prices) और उपभोक्ता की रुचियों में परिवर्तन न हो तथा आय में वृद्धि हो, तो आय उपभोग वक्र का ढाल ऊपर की ओर दायीं तरफ होता है (most income consumption curves slope upwards to the right), जैसा कि चित्र सं० 22 में दिखलाया गया है। इसका अर्थ यह होता है कि आय में वृद्धि होने पर उपभोक्ता दोनों वस्तुओं को अधिकाधिक मात्राओं का उपभोग कर सकता है। अतः सामान्य वस्तुओं के सम्बन्ध में आय-प्रभाव धनात्मक (Positive) होता है, परन्तु घटिया किस्म की वस्तुओं (inferior goods) के सम्बन्ध में आय-प्रभाव ऋणात्मक (Negative) होता है। इसका अर्थ यह है कि आय में वृद्धि के बावजूद भी, उपभोक्ता घटिया वस्तुओं के उपभोग की मात्रा में वृद्धि नहीं करता है।

यदि हम ICC_1 वक्र पर है तो X वस्तु, एक सीमा के बाद (R के बाद), घटिया वस्तु होगी, क्योंकि R बिन्दु के बाद X वस्तु की मात्रा पहले की तुलना में कम खरीदी जाएगी। किन्तु ठीक इसके विपरीत यदि हम ICC_2 पर है, तो एक निश्चित सीमा, अर्थात् L के बाद, Y वस्तु घटिया वस्तु रहो जाएगी, क्योंकि L



चित्र सं० 23

बिन्दु के बाद Y वस्तु की कम मात्रा खरीदी जाती है। चित्र में दिए गए इन दो असामान्य वक्रों को देखने पर ज्ञात होता है कि ICC_1 का ढाल पीछे की ओर ICC_2 का ढाल नीचे की ओर जाता है। इसका यह अर्थ है कि एक बिन्दु पर पहुंचने के बाद आय में वृद्धि का प्रभाव कुछ वस्तुओं के लिए ऋणात्मक (Negative) हो जाता है। परन्तु आय उपभोग-वक्र का ऐसा स्वरूप (जैसा कि हम इस चित्र में देख रहे है) सामान्य रूप से देखने को नहीं मिलता। भारत जैसे अर्द्ध-विकसित देश में निर्धनता के कारण उपभोक्ता घटिया वस्तुओं का अधिक उपभोग करता है। जब उपभोक्ता की आमदनी में वृद्धि होती है, तब वह घटिया वस्तुओं के स्थान पर अच्छी वस्तुओं का उपभोग प्रारम्भ कर देता है।

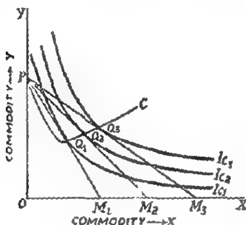
(ii) मूल्य-प्रभाव (Price Effect)

वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तनों का प्रभाव भी उपभोक्ता के सन्तुलन-बिन्दु (equilibrium position) पर पड़ता है। उपभोक्ता की आय में कोई परिवर्तन न होने पर, अर्थात् उपभोक्ता की मौद्रिक आय के स्थायी (constant) रहने पर, वस्तुओं के मूल्यों में होने वाले परिवर्तनों का माग पर पड़ने वाले प्रभाव को ज्ञात करना आवश्यक है। मूल्य परिवर्तन के परिणामस्वरूप माग पर पड़ने वाले प्रभाव को मूल्य प्रभाव (Price Effect) कहते हैं। इस प्रभाव को स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करने के लिए मूल्य-उपभोग वक्र (Price Consumption Curve) का उपयोग किया जाता है। यह वक्र इस तथ्य को बताता है कि मूल्य में कमी होने से किसी वस्तु की माग पर क्या प्रभाव पड़ता है? इस प्रभाव को ज्ञात करने के लिए यह मान कर चलना होगा कि उपभोक्ता की आय तथा उसकी रुचियों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। मौद्रिक आय पूर्ववत् रहते हुए यदि किसी वस्तु के मूल्य में परिवर्तन होता है, तो उपभोक्ता की वास्तविक आय में भी परिवर्तन होगा। मूल्य में वृद्धि होने पर वह उस वस्तु की कम मात्रा ही क्रय कर सकता है, जिससे यह कहा जा सकता है कि उसकी वास्तविक आय में कमी होती है। इसके विपरीत उस वस्तु का मूल्य कम होने पर, वह उसकी अधिक मात्रा क्रय कर सकता है अत यह कहा जा सकता है कि उसकी वास्तविक आय में वृद्धि होती है। फलस्वरूप उपभोक्ता की सतुलन स्थिति बदल जाती है।

अन्य बातों के समान होने पर, तटस्थता वक्र को स्थिर मानने पर मूल्य-परिवर्तन से मूल्य रेखा बदल जाती है, जिसके कारण तटस्थता-वक्र का स्पर्श बिन्दु (Point of Tangency) भी बदल जाता है। इस स्थिति को हम चित्र स० 24 के माध्यम से स्पष्ट कर सकते हैं।

मूल्यों में कमी के परिणामस्वरूप स्वभावत मूल्य-रेखा मूल-बिन्दु से ऊपर की ओर उठती जाती है जिससे हम एक उच्च तटस्थता वक्र पर पहुच जाते हैं। इस चित्र में हम Q_1 सतुलन-बिन्दु से प्रारम्भ करते हैं। यह बिन्दु मूल्य रेखा PM_1 पर स्थित है। अनुमान कर कि X वस्तु की कीमत में कमी होती है तथा Y वस्तु का मूल्य स्थिर रहता है। परिणामस्वरूप X वस्तु की सीमा रेखा आगे की ओर बढ़ती है। मूल्य रेखा M_1 से M_2 और फिर M_3 तक पहुच जाती है, अर्थात् उत्तरोत्तर मूल्य-रेखा PM_1 से ऊपर उठ कर PM_2, PM_3 हो जाती है। ये सभी परिवर्तित मूल्य रेखायें उच्चतर तटस्थता वक्रों का स्पर्श करती है जिन्हें हम क्रमशः Q_2 और Q_3 बिन्दुओं द्वारा व्यक्त करते हैं। यदि हम सन्तुलन के इन उत्तरोत्तर उच्च बिन्दुओं को मिला दें, तो हमें उस माग का ज्ञान प्राप्त होगा जिसका कि

उपभोक्ता मूल्य में परिवर्तन होने पर व्यवहार में लाता है। यही रेखा मूल्य-प्रभाव को प्रदर्शित करती है तथा इसे हम मूल्य-उपभोग वक्र (Price Consumption



चित्र सं० 24

Curve) कहते है। यहां हमें यह भी देखने को मिलता है कि X वस्तु उत्तरोत्तर सस्ती होती जाती है तथा मूल्य-रेखा का ढाल क्रमश: कम होता जाता है (The slope of the price lines gets less and less steep)।

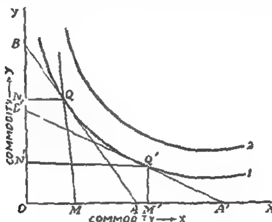
(iii) प्रतिस्थापन प्रभाव (Substitution Effect) :

यह सम्भव है कि वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तन के साथ ही साथ उपभोक्ता की आय में भी इतना परिवर्तन हो, जिससे कि उसकी स्थिति पूर्ववत् ही बनी रहे। वस्तुओं के मूल्यों तथा उपभोक्ता की आय में समकारी परिवर्तन होने के परिणाम-स्वरूप उपभोक्ता की स्थिति न तो पहले से सुधरती है और न बिगड़ती ही है। ऐसी स्थिति में उपभोक्ता उन वस्तुओं की अधिक मात्रा लेगा जिनके मूल्य कम हैं, तथा उन वस्तुओं की कम मात्रा में क्रय करेगा जिनके मूल्य अधिक हैं, क्योंकि उपभोक्ता अपेक्षाकृत महंगी वस्तुओं के स्थान पर सस्ती वस्तुएं लेता है। उसकी माग में इस प्रकार के परिवर्तन को प्रतिस्थापन-प्रभाव (Substitution Effect) कहते हैं।

यह नियम दो मान्यताओं पर आधारित है - (अ) मूल्यों में इस प्रकार का परिवर्तन होना, जिसमें एक वस्तु दूसरी वस्तु की अपेक्षा अधिक सस्ती हो जाय, तथा (ब) उपभोक्ता की मौद्रिक आय में इस प्रकार का परिवर्तन होना कि उसकी स्थिति पहले के ही समान रहे। इन दोनों मान्यताओं का आधार यह है कि जब कोई वस्तु महंगी हो जाती है, तब उपभोक्ता को उसकी कुल मात्रा क्रय करने पर जो क्षति होती है, वह मौद्रिक आय में वृद्धि द्वारा पूरी हो जाती है। मूल्य और आय में इस

प्रकार समकारी परिवर्तन को 'आय मे क्षतिपूरक परिवर्तन' (Compensating Variation in Income) कहते है।

नीचे दिए गए चित्र स० 25 मे हम उस बिन्दु से प्रारम्भ करते हैं जहा उपभोक्ता Q बिन्दु पर सन्तुलन की दशा में है। इस सन्तुलन की दशा में उपभोक्ता के पास X वस्तु की OM मात्रा तथा Y वस्तु की ON मात्रा रहती है। यहा हम मान ले कि किसी कारण Y वस्तु के मूल्य मे वृद्धि होती है और X वस्तु के मूल्य मे कमी। फलस्वरूप अब Y वस्तु की अपेक्षा X वस्तु सस्ती पडती है। ऐसी दशा में Y के मूल्य में वृद्धि होने से उपभोक्ता की वास्तविक आय मे जो कमी हुई है, उस



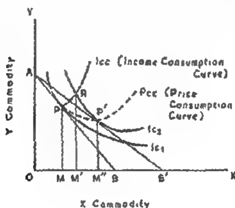
चित्र स० 25

क्षति की X वस्तु के मूल्य मे कमी होने के कारण पूर्ति हो जाती है। अत दोनों वस्तुओं के मूल्यो में परिवर्तन इस प्रकार हुए हैं कि उपभोक्ता की स्थिति पूर्ववत् रहती है और उपभोक्ता एक वस्तु के मूल्य मे कमी तथा दूसरे के मूल्य में वृद्धि के कारण उसी स्थिति मे बना रहता है जिसमें कि वह पहले था। तात्पर्य यह है कि उपभोक्ता का सन्तुलन पहले वाले तटस्थता वक्र पर ही बना रहता है। किन्तु यहा यह ख्याल रखना चाहिए कि उपभोक्ता का सन्तुलन-बिन्दु बदल जाता है। Y वस्तु के मूल्य में वृद्धि के कारण वास्तविक आय में हुई कमी (क्षति) X वस्तु के मूल्य में कमी के द्वारा पूरी हो जाती है।[10]

[10] "This compensating variation is just large enough to cancel out the change in his circumstances caused by the rise in the relative price of Y. He remains at exactly the same position in his scale of preferences (on the same indifference curve), the rise in the price of Y having been compensated for by the rise in his income." —*Stonier & Hague*

अत. इन परिवर्तनों के फलस्वरूप प्रतिस्थापन प्रभाव की उत्पत्ति होती है। Y और X वस्तु के सापेक्षिक मूल्यों में परिवर्तन हुआ है, किन्तु उपभोक्ता की स्थिति पूर्ववत् ही रहती है।[11] X वस्तु Y वस्तु की अपेक्षा अब सस्ती पड़ती है। इसलिए उपभोक्ता Y वस्तु के स्थान पर X की खरीद की मात्रा में वृद्धि करता है और वह अपनी आय का ज्यादा भाग X पर व्यय करता है तथा Y पर पहले की अपेक्षा कम व्यय करता है। परिणामस्वरूप उपभोक्ता की सन्तुष्टि पूर्ववत् बनी रहती है, क्योंकि वह परिवर्तित स्थिति में भी उसी तटस्थता वक्र पर बना रहता है, जहाँ कि वह पहले था। केवल सन्तुलन बिन्दु का स्थान बदल जाता है। Q के स्थान पर अब उपभोक्ता Q_1 पर चला जाता है। Q और Q_1 दोनों एक ही तटस्थता वक्र पर हैं और इस पर चलना प्रतिस्थापन प्रभाव का सूचक है। उपभोक्ता Y के स्थान पर X का अधिक उपभोग करता है, क्योंकि X वस्तु अपेक्षाकृत सस्ती है। प्रतिस्थापन प्रभाव का प्रदर्शन सर्दव एक ही तटस्थता वक्र पर एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु पर चल कर किया जा सकता है।[12]

15 आय तथा प्रतिस्थापन का दुहरा प्रभाव (*The Dual Effect*) : यह एक तर्कयुक्त तथ्य है कि सभी मूल्य-परिवर्तनों को आय-प्रभाव द्वारा व्यक्त किया जा सकता है, उदाहरणार्थ, मूल्य में कमी होने पर यह कहा जा सकता है कि उपभोक्ता



की वास्तविक आय में वृद्धि हो गयी है, जबकि मूल्य में वृद्धि होने से उपभोक्ता की वास्तविक आय में कमी होती है। इस कारण-परिणाम के तथ्य को सत्य मानने पर यह कहा जा सकता है कि मूल्य परिवर्तनों को सर्वप्रथम आय परिवर्तनों के रूप में स्पष्ट किया जा सकता है। मूल्य तथा आय में होने वाले परिवर्तनों के प्रभावों को चित्र सं० 26 में स्पष्ट किया गया है।

किसी एक वस्तु की कीमत का प्रत्येक परिवर्तन दोनों वस्तुओं के संयोगों का अनुपात बदल कर मूल्य रेखा का ढाल बदल देता है। इसका कारण स्पष्ट है जब किसी वस्तु (X वस्तु) की कीमत गिरती है तो इसकी माग की मात्रा एक तरफ आय प्रभाव की शक्ति और दिशा पर निर्भर करती है और दूसरी तरफ प्रति-स्थापना प्रभाव पर निर्भर करती है। X वस्तु की कीमत घटने पर उपभोक्ता के लिए उसकी माग बढ़ेगी। साथ ही X वस्तु के मूल्य के गिरने के कारण मूल्य-रेखा का ढाल भी AB से बदल कर AB' हो जाता है। अत X वस्तु का मूल्य गिरने पर उपभोक्ता प्रारम्भिक सन्तुलन स्थिति P से नवीन सन्तुलन स्थिति P' पर चला जाता है। लेकिन इसका आय उपभोग वक्र (Income Consumption Curve) पर P से R तक एक निश्चित गति के रूप में देखना अधिक उचित होगा। आय उपभोग-वक्र पर P से R तक जाना आय प्रभाव कहना सकता है, तथा उदासीनता वक्र IC_2 पर R से P' तक जाना प्रतिस्थापन-प्रभाव कहला सकता है। जब उपभोक्ता का कीमत-उपभोग वक्र (*Price Consumption Curve*) P से P' तक जाता है तो X वस्तु की माग OM से OM'' हो जाती है। वास्तव में X वस्तु की मांग में OM से MM की वृद्धि तो आय-प्रभाव का परिणाम है और शेष MM' प्रतिस्थापन प्रभाव का परिणाम है। ऐसा होने का कारण यह है कि सामान्यतया प्रतिस्थापन-प्रभाव तथा आय प्रभाव दोनों ही धनात्मक (Positive) होते हैं। ये दोनों इस तरह कार्य करते हैं कि किसी भी वस्तु की कीमत गिरने पर उसकी खरीद बढ़ जाती है।

अब यहा पर यह प्रश्न उठता है कि आय प्रभाव अथवा मूल्य-प्रभाव में से किसका अधिक प्रभाव पड़ा है? इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है, क्योंकि इन दोनों प्रवृत्तियों का सापेक्ष महत्व उन अनुपातों पर निर्भर है जिनमें उपभोक्ता अपने व्यय को इन दोनों वस्तुओं को खरीदने पर बाटेगा। X वस्तु के मूल्य में कमी होने पर उपभोक्ता की स्थिति किस सीमा तक अच्छी हो जाती है, यह इस बात पर निर्भर है कि मूल्य परिवर्तन के पहले वह X वस्तु की कितनी मात्रा का उपभोग करता था। यदि उसकी सम्बन्धित आय के अन्तर्गत X वस्तु का उपभोग अधिक था, तो अब उसकी स्थिति पहले की तुलना में काफी अच्छी होगी। ऐसी स्थिति में आय-प्रभाव अधिक शक्तिशाली होगा। परन्तु यदि पहले X वस्तु के उपभोग की मात्रा

कम थी, तो उपभोक्ता को लाभ कम होगा, और प्रतिस्थापन-प्रभाव आय-प्रभाव को शक्तिहीन बना देगा। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सामान्यतः घटिया वस्तुओं (inferior goods) को छोड़कर, अन्य वस्तुओं की दशा में, प्रतिस्थापन प्रभाव आय-प्रभाव से प्रबल (Predominant) होता है।

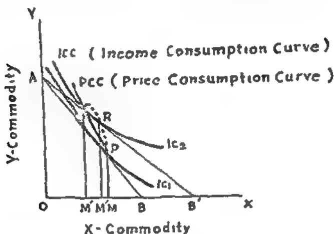
16. घटिया वस्तुएं (Inferior Goods) तथा गिफेन का विरोधाभास (Giffen's Paradox) सामान्य रूप से आय-प्रभाव तथा प्रतिस्थापन-प्रभाव के कारण किसी वस्तु की कीमत घटने पर उसकी अधिक मात्रा खरीदी जाती है। प्रतिस्थापन-प्रभाव के कारण हमेशा किसी भी वस्तु की कीमत गिरने पर उसकी अधिक मात्रायें खरीदी जाने की प्रवृत्ति होगी। परन्तु आय-प्रभाव हमेशा धनात्मक (Positive) नहीं हो सकता, अर्थात् यह आवश्यक नहीं है कि मूल्य कम होने तथा आय बढ़ने पर उपभोक्ता कम कीमत वाली वस्तु की अधिक मात्रा खरीदे। वह उस वस्तु की वास्तव में कम मात्रा भी खरीद सकता है। ऐसी स्थिति में आय-प्रभाव ऋणात्मक होता है।

उपर्युक्त स्थिति प्रायः घटिया वस्तुओं की खरीद के सम्बन्ध में उत्पन्न होती है। इसका कारण यह है कि कुछ घटिया वस्तुओं की खरीद, उपभोक्ता की आय के बढ़ने पर भी बढ़ने के स्थान पर घट जाती है। वास्तव में आय बढ़ने पर उपभोक्ता की आर्थिक स्थिति में सुधार होता है। वह घटिया वस्तुओं के स्थान पर अच्छी वस्तुयें खरीदने लगता है, जिससे मूल्य घटने पर घटिया वस्तु कम मात्रा में खरीदी जाती है। ऐसी स्थिति में आय प्रभाव ऋणात्मक कहा जायेगा। परन्तु इस स्थिति में भी यदि वह इतना कमजोर हो कि प्रतिस्थापन-प्रभाव को जो धनात्मक होता है, नहीं मिटा सके, तो उस वस्तु की अधिक मात्रा खरीदी जायेगी।

परन्तु कुछ वस्तुयें ऐसी होती हैं जिनकी खरीद के सम्बन्ध में ऋणात्मक आय-प्रभाव धनात्मक प्रतिस्थापन प्रभाव से अधिक प्रबल होता है। ऐसी स्थिति में उपभोक्ता वस्तु की कीमत कम होने पर भी उसको कम मात्रा में तथा कीमत के अधिक होने पर उसकी अधिक मात्रा खरीदेगा। इस प्रकार की स्थिति उसी समय आती है जबकि वस्तु विशेष पर व्यय किया जाने वाला उपभोक्ता की आय का अंश बहुत बड़ा हो। ऐसी दशा में वस्तु-विशेष के मूल्य में कमी होने पर उपभोक्ता की आय में अत्यधिक परिवर्तन हो जाता है।

ऐसी विशेष किस्मों की वस्तुयें, जिनकी माग इनके सस्ते होने पर कम तथा महगे होने पर अधिक होती हैं, गिफेन वस्तुयें (Giffen goods) कहलाती हैं। ये वस्तुयें घटिया वस्तुयें (Inferior goods) होती हैं। ऐसी वस्तुओं का नाम सर राबर्ट गिफेन के नाम से चला आ रहा है। उन्होंने 19वीं शताब्दी में रोटी का उदाहरण

देते हुए कहा था कि रोटी का मूल्य बढने पर भी वे मास तथा अन्य खाद्य वस्तुओ से सस्ती होगी। रोटी की कीमत बढने से निर्धन उपभोक्ताओ की आय म अधिक गिरावट होगी, अत. खाद्य वस्तुओ मे रोटी के सस्ते होने से वे उसे ही अधिक खरीदेंगे। इसके विपरीत रोटी की कीमत कम होने पर उनकी वास्तविक आय बढ जायेगी और वे रोटी के स्थान पर अन्य अच्छी खाद्य वस्तुओ को भी खरीदने लगग। इसका परिणाम यह होगा कि उनकी रोटी की खरीद की मात्रा पहले की अपेक्षा कम हो जायेगी। किसी वस्तु विशेष के मूल्य में कमी होने पर उसकी खरीद की मात्रा मे कमी तथा वस्तु विशेष का मूल्य बढने पर उसकी खरीद की मात्रा मे वृद्धि यही गिफेन का विरोधाभास (Giffen's Paradox) कहलाता है।



चित्र स० 27

चित्र स० 27 मे गिफेन-विरोधाभास को स्पष्ट किया गया है। जब X वस्तु की कीमत घटती है, तब आय मे वृद्धि होने पर मूल्य-रेखा AB से AB′ तो हो जाती है, परन्तु सन्तुलन बिन्दु P से R पर चला जाता है। इससे यह पता चलता है कि X वस्तु की OM की मात्रा घटकर OM″ हो जाती है। खरीद मे M″M की कमी कुल परिणाम के रूप मे है, क्योंकि अकेले ऋणात्मक आय-प्रभाव के फलस्वरूप तो उपभोक्ता X वस्तु की M′M कम मात्रा खरीदता और अकेले धनात्मक प्रतिस्थापन-प्रभाव के फलस्वरूप वह M″M मात्रा अधिक खरीदता। अतः इन सबका कुल परिणाम यह होगा कि उपभोक्ता X वस्तु की कम मात्रा ही खरीदेगा (OM के स्थान पर OM″), परन्तु धनात्मक प्रतिस्थापन प्रभाव के कारण वह इतनी कम मात्रा नही खरीदेगा कि X वस्तु की मात्रा OM से घटकर OM′ हो जाय। अतः यह कहा जाता है कि धनात्मक प्रतिस्थापन-प्रभाव ऋणात्मक आय-प्रभाव के कारण कम हो जाता है और उपभोक्ता X वस्तु की कीमत कम होने पर उसकी पहले की अपेक्षा

कम मात्रा खरीदता है। ऐसी दशायें असाधारण हैं, फिर भी ये कभी-कभी सम्भव होती है।

17. तटस्थता वक्रों से माग वक्रों का निर्माण
(The Derivation of Demand Curves from Indifference Curves)

तटस्थता वक्रों के द्वारा माग वक्र (Demand Curve) की रचना की जा सकती है। माग वक्र का अभिप्राय एक ऐसे वक्र से है जो किसी वस्तु की माग की गई मात्रा तथा उसके मूल्य के सम्बन्ध को व्यक्त करता है। माग-वक्र के द्वारा हम यह ज्ञात होता है कि विभिन्न मूल्यों पर किसी वस्तु की कितनी मात्रा की मांग होगी ? अत यह स्पष्ट है कि उपभोक्ता की रुचि तथा आय और अन्य वस्तुओं के मूल्य समान रहने पर किसी भी वस्तु के मूल्य मे परिवर्तन का प्रभाव उस वस्तु की मागी गई मात्रा पर पड़ता है। यही कारण है कि किसी वस्तु का माग वक्र (Demand Curve) उसके मूल्य उपभोग वक्र से (Price Consumption Curve) से किसी न किसी रूप मे सम्बन्धित है। वस्तुत यदि उपभोक्ता की आय और तटस्थता वक्रों का मानचित्र (Indifference Map) दिया गया हो, तो मूल्य-उपभोग वक्र से माग वक्र निर्मित किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि इन दोनो वक्रो से एक ही प्रकार की सूचना मिलती है। मांग वक्र यह स्पष्ट करता है कि विभिन्न मूल्यों पर किसी वस्तु की माग क्या होगी ? मूल्य उपभोग-वक्र मे यह ज्ञात होता है कि किसी वस्तु के मूल्य म परिवर्तन के परिणामस्वरूप उस वस्तु की उपभोग मात्रा क्या होगी ? इन दोनों सूचनाओं म विशेष अन्तर न होने क कारण ही कुछ अर्थशास्त्री मूल्य-उपभोग-वक्र तथा माग वक्र मे कोइ अन्तर नही मानते। परन्तु वास्तव मे इन दोनो मे कुछ निम्नलिखित अन्तर हैं

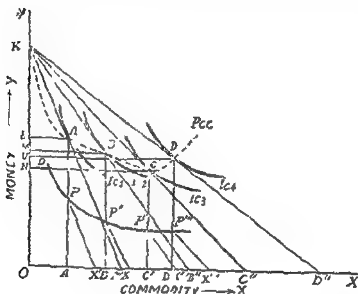
(i) मूल्य-उपभोग वक्र के द्वारा हम दो वस्तुओं का अध्ययन करते हैं जिनमे से एक वस्तु मुद्रा भी हो सकती है किन्तु माग-वक्र का निर्माण वस्तु क विभिन्न मूल्यों के आधार पर होता है।

(ii) मूल्य उपभोग वक्र किसी वस्तु के मूल्य को मौद्रिक इकाइया (रुपयो-पैसो मे) नही बतलाता। यह केवल दो वस्तुओं के मूल्यो के मध्य अनुपात को ही व्यक्त करता है। किन्तु माग-वक्र मे वस्तु क विभिन्न मूल्यो का व्यक्त किया जाता है। यही कारण है कि माग वक्र से यह जानकारी प्राप्त करने म सुविधा होती है कि दिए हुए मूल्यो पर किसी वस्तु की कितनी मात्रा मागी जायेगी ?

(iii) मूल्य उपभोग-वक्र यह स्पष्ट करता है कि किसी वस्तु के मूल्य म कमी के कारण उसके आय प्रभाव (Income Effect) तथा प्रतिस्थापन प्रभाव (Substitution Effect) क्या होंगे ? परन्तु माग वक्र द्वारा इन प्रभावों की जानकारी सम्भव नही है।

(iv) किसी वस्तु के मूल्य की जानकारी माग वक्र (Demand Curve) पर पूर्ति-वक्र (Supply Curve) बनाकर प्राप्त की जा सकती है, किन्तु मूल्य-उपभोग वक्र की सहायता से किसी वस्तु का मूल्य-निर्धारण सम्भव नही है।

माग वक्र का निर्माण करने के लिए नीचे दिए गए चित्र स० 28 म OY खड़ी रेखा पर मुद्रा की तथा X वस्तु की मात्रा की माप OX आधार रेखा पर की गयी है। KA', KB', KC'', KD'' मूल्य रेखाय खीची गई है जिनको तटस्थता वक्र 1, 2, 3, 4 क्रमशः A, B, C, D बिन्दुओ पर स्पश करते हैं। इन चार विभिन्न सन्तुलन की स्थितियो म उपभोक्ता X वस्तु को क्रमश OA, OB', OC',



चित्र स० 28

OD' मात्राय लेता है। यदि हम K, A, B, C तथा D बिन्दुओ को आपस मे मिलायें तो मूल्य उपभोग-वक्र KD अर्थात् pcc प्राप्त होगा जिसे हम मूल्य-उपभोग-वक्र (Price-Consumption Curve) कहते है। OA' वस्तु के लिए उपभोक्ता KL मुद्रा देने को तत्पर है। इस प्रकार इन विभिन्न मात्राओ के लिए वह प्रति इकाई जो मूल्य देने को तैयार है, वह इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है,

$$\frac{KL}{OA'}, \frac{KM}{OB'}, \frac{KN}{OC'} \text{ और } \frac{KU}{OD}$$

X वस्तु का मूल्य क्रमशः तेजी के साथ कम होता जाता है, जबकि उपभोक्ता K से D बिन्दु पर चलता है। दूसरे शब्दो मे, ये विभिन्न मूल्य KA'', KB'', KC''

और KD" के झुकाव के द्वारा स्पष्ट किए गए हैं। चूँकि उपभोक्ता की आय OK निश्चित है, जिसे वह खर्च कर सकता है। जब वह A बिन्दु पर है और KL मात्रा खर्च करता है तब वह OL मात्रा बचा लेता है तथा उसे दूसरे उद्देश्यों के निमित्त रख लेता है। ठीक इसी प्रकार B बिन्दु पर KM मात्रा खर्च करता है और OM मात्रा अपने पास रखता है C बिन्दु पर KN तथा D बिन्दु पर KU व्यय करता है। इन सभी तथ्यों का अध्ययन Y अक्ष से किया जा सकता है, क्योंकि उपभोक्ता की सम्पूर्ण आय OK निश्चित है। KA" मूल्य-रेखा पर किसी भी बिन्दु से, उदाहरणस्वरूप A बिन्दु से, यदि हम OX आधार-रेखा तथा OY खड़ी रेखा पर लम्ब (Perpendiculars) डालें तो इस बात का ज्ञान हो जायेगा कि उपभोक्ता कितनी मात्रा क्रय करने को तत्पर है तथा वह उसके लिए कितनी मुद्रा व्यय करने को तैयार है? यदि हम A बिन्दु से OX पर AA' लम्ब डालते हैं तो ज्ञात होता है कि उपभोक्ता OA' मात्रा खरीदना चाहता है तथा OY अक्ष पर AL लम्ब डालें तो पता चलता है कि उपभोक्ता X की OA' मात्रा के लिए KL मुद्रा व्यय करने को तैयार है। इसी प्रकार यदि KL को OA' मात्रा से भाग दें तो हमको जो मूल्य मिलगा, वही होगा जो कि OK को OA" से भाग देने से प्राप्त होता है। इसीलिए हमने $\frac{KL}{OA'}=\frac{OK}{OA}$ तथा $\frac{KM}{Ob'}=\frac{OK}{OB'}$ इत्यादि का प्रयोग किया है।

माग वक्र इससे अधिक कुछ भी नहीं कहता कि उपभोक्ता की आय निश्चित है। इससे यह भी पता नहीं चलता कि X वस्तु खरीदने के बाद उपभोक्ता के पास मुद्रा की कितनी रकम बच जाती है। माग-वक्र केवल इतना ही कहता है कि दिए हुए मूल्य पर कितनी मात्रा खरीदी जाएगी, किन्तु मूल्य-उपभोग-वक्र यह दिखलाता है कि X वस्तु की एक निश्चित मात्रा खरीदने के लिए सम्पूर्ण व्यय क्या होगा? अतः हम X वस्तु का मूल्य ज्ञात करने के लिए कुल व्यय में वस्तु की मात्रा से भाग देना होगा। जैसे जब उपभोक्ता OA' मात्रा की माग करता है तब उसके लिए KL रुपया व्यय करता है। इसलिए प्रति इकाई मूल्य $\frac{KL}{OA'}$ रुपया हुआ जो $\frac{OK}{OA''}$ रुपए के बराबर है। इसी प्रकार प्रत्येक सतुलन-बिन्दु का पता लगाया जा सकता है। उदाहरणस्वरूप, K बिन्दु पर X वस्तु की कोई भी मात्रा नहीं खरीदी जाती तथा व्यय शून्य है। किन्तु जैसे ही उपभोक्ता K से B बिन्दु पर आता है, वस्तु का मूल्य कम हो जाता है तथा उस वस्तु पर पुनः व्यय की मात्रा बढ़ जाती है। C बिन्दु के बाद X वस्तु की खरीद की मात्रा बढ़ती ही जाती है, किन्तु सम्पूर्ण व्यय में कमी आती है। वास्तव में मूल्य-उपभोग-वक्र कुल व्यय-वक्र है, किन्तु यह ऊपर से नीचे की ओर आता है (The price consumption line is really only a total outlay curve, but it is upside down)।

एक माग-वक्र खीचने के लिये हमे केवल यही जानने की आवश्यकता होगी कि X वस्तु की एक निश्चित मात्रा खरीदने के लिए उसका प्रति इकाई मूल्य क्या है ? इसका पता बहुत आसानी से लग जाता है । चित्र स० 28 मे दिए गये लम्ब AA', BB', CC', और DD' आधार रेखा (OX) के क्रमश. A B C D बिन्दुओ से खीचे गये है । यदि हम AA' रेखा पर विचार करें तो X की मात्रा का ज्ञान होगा, अर्थात् OA इकाई, जो X वस्तु के एक दिये हुये मूल्य पर खरीदी जाती है, $\frac{KL}{OA}=\frac{OK}{OA}$, किन्तु X वस्तु की प्रत्येक इकाई का मूल्य क्या है ? इसकी जानकारी हमे $\frac{KL}{OA}=\frac{OK}{OA}$ मे होती है । किन्तु यह आसान नही है कि इसे चित्र पर दिखला सकें ।

वर्तमान विश्लेषण के लिए X वस्तु की प्रत्येक इकाई के मूल्य की जानकारी प्राप्त करने के लिए AA की दाहिनी ओर OX-अक्ष पर एक इकाई पर चिन्ह लगा लेते हैं, जैसे एक इकाई=A'X पर चिन्ह लगा लिया गया है ।

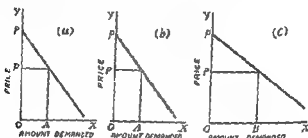
हम यह मान ले कि X की एक इकाई का प्रतिनिधित्व A'X' की दूरी से स्पष्ट है और यदि हम X' से KA' के समानान्तर X'P रेखा खीचें तो KA" का ढाल X का मूल्य दिखलायेगा। चूंकि KA" और X'P इन दोनो के ढाल समान हैं, अतः ये दोनो X वस्तु की वही प्रति इकाई मूल्य को सूचित करती हैं; जबकि X की एक इकाई का प्रतिनिधित्व A'X करता है तो A'P' की दूरी X वस्तु की एक इकाई का मूल्य सूचित करती है और उपभोक्ता X वस्तु OA' मात्रा खरीदता है। अत P उपभोक्ता के माग-वक्र पर एक बिन्दु है। यह बतलाता है कि उपभोक्ता X की कितनी मात्रा खरीदता है जबकि उसकी लागत A'P $\left(=\frac{OK}{OA'}\right)$ है। ठीक इसी प्रकार अगर हम X की एक इकाई के लिये B' की दायी ओर B'X" दूरी ले लें तथा X" से KB" के समानान्तर X"P' खीचें तो X वस्तु की एक इकाई के मूल्य की जानकारी होगी, जबकि X वस्तु की OB' मात्रा खरीदी जाती है। यह मूल्य B'P' $\left(=\frac{OK}{OB'}\right)$ होगा। अतः P' बिन्दु उपभोक्ता के माग-वक्र का एक दूसरा बिन्दु होगा जो यह दिखलाता है कि यदि X वस्तु की एक इकाई की कीमत B'P' है, तो उसकी कितनी मात्रा खरीदी जायेगी ? इसी प्रकार हम P तथा P' बिन्दु निकाल सकते हैं जिससे उपभोक्ता की X वस्तु की माग की मात्राओ का पता चलता है, जबकि उसकी एक इकाई की लागत क्रमशः CP" और D'P" है।

अब हम एक माग-वक्र DD' खीच सकते हैं। माग-वक्र (DD') X वस्तु की मात्रा को प्रदर्शित करता है जो कि उपभोक्ता X के विभिन्न मूल्यो पर खरीदने

को तैयार है। यह माग-वक्र क्रमश: P,P',P" तथा P''' बिन्दुओं से गुजरता है जो इस तथ्य का प्रदर्शन करता है कि विभिन्न मूल्यों पर X वस्तु की कितनी मात्रा की माग होती है ? जैसा कि हम देख चुके हैं, इस माग-वक्र को आसानी से उपभोक्ता के तटस्थता वक्र के आधार पर खीच सकते हैं। अतः यदि हम P,P',P' तथा P''' बिन्दुओं को मिलाकर बायी ओर D' तथा दायी ओर D तक बढ़ावें तो हमें उपभोक्ता का माँग-वक्र प्राप्त होगा।

18. बाजार मांग वक्र (Market Demand Curve) :

अब तक हमारा यह विवरण केवल व्यक्ति के माग-वक्र से सम्बन्धित था। अतः यह व्यक्तिगत माग-वक्र हुआ। किन्तु अब हमे यह देखना है कि बाजार माग-वक्र का स्वरूप क्या होगा ? बाजार-माग-वक्र का निर्माण सभी व्यक्तियों के माग वक्र के योग से बनता है।



चित्र स० 29

उपरोक्त चित्र मे दो (a व b) व्यक्तिगत माग-वक्र हैं और इन दोनों का संयुक्त रूप (c) चित्र से स्पष्ट है। (a) व (b) व्यक्तिगत माग-वक्र एक समान हैं जो इस बात का प्रदर्शन करते हैं कि OP या इससे अधिक मूल्य पर वस्तु की माग नहीं होती। यही तथ्य इन दोनों चित्रो के योग से बने (c) रेखा चित्र से स्पष्ट है। OP से कम सभी मूल्यों पर कुल माग वक्र (aggregate demand curve) यह दिखलाता है कि विचाराधीन मूल्य पर व्यक्ति की माग कितनी होती है ? उदाहरण-स्वरूप, OP' मूल्य पर माग की मात्रा, (a) और (b) दोनो ही चित्रो मे, OA है तथा चित्र (c) मे OP' मूल्य पर माग की मात्रा, OB है जो OA से दुगुनी है (demand at the Price OP' is OB' which is twice OA), क्योंकि दो व्यक्तिगत माग-वक्र एक समान हैं तथा किसी भी मूल्य पर बाजार माग-वक्र की मात्राए व्यक्तिगत माग-वक्र की मात्राओं के दुगुने के बराबर होगी। यहा यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक मूल्य पर मांग की लोच इन तीनों माग वक्रो मे एक ही है। किसी वस्तु के व्यक्तिगत माग-वक्रो के किसी भी समूह को, चाहे व्यक्तियो के

संख्या कितनी भी क्यों न हो, एक साथ जोडने से उस वस्तु के बाजार-माग-वक्र का पता चलता है, अर्थात् व्यक्तिगत उपभोक्ता प्रत्येक मूल्य पर वस्तुओ की जितनी मात्रा खरीदना चाहता है, उसको जोड देने से उस वस्तु का बाजार-माग-वक्र प्राप्त होता है। बाजार-माग-वक्र सामान्यतः दायी ओर नीचे की तरफ झुकता है, जिस प्रकार व्यक्तिगत माग-वक्र दायी ओर नीचे झुकता है।

19. तटस्थता-वक्र विधि की सीमाएं या आलोचना :
(Criticism or Limitations of the Indifference-Curve-Technique)

तटस्थता-वक्र-विधि का सम्बन्ध क्रम सूचक अको (Ordinal Numbers) से होने के कारण, वह उपयोगिता की पुरानी धारणा से, जिसका सम्बन्ध सख्या-सूचक अको (Cardinal Numbers) से है, अपेक्षाकृत अच्छी है। आधुनिक अर्थशास्त्री माग तथा उपयोगिता विश्लेषण के सम्बन्ध में इसी विधि का प्रयोग करते हैं। इसका इतना महत्व होते हुए भी इस विधि की आलोचना की गयी है। ये आलोचनाएं निम्नलिखित है :

(1) सन्तुष्टि की परिमाणात्मक मापनीयता अधिक तर्क संगत है : एफ० एच० नाइट (F H. Knight) तथा अन्य अर्थशास्त्रियो का यह विचार है कि जब कोई उपभोक्ता अपनी आय को व्यय करने की योजना बनाता है, तब वह वस्तुओ के प्रतिस्थापन-प्रभावो पर विशेष ध्यान नही देता। वह यह नही सोचता कि किसी वस्तु की अपेक्षा अन्य वस्तु की अधिक मात्रा क्रय करने पर उसका क्या महत्व होगा ? वास्तव मे इस सम्बन्ध मे वह यह सोचता है कि यदि अमुक वस्तु की मात्रा मे वृद्धि की जाय, तो दूसरी वस्तु की तुलना म कितनी अधिक सन्तुष्टि प्राप्त होगी। वास्तव मे वह सन्तुष्टि की गणना एक निश्चित परिमाण मे करना चाहता है, तथा पूर्ण उपयोगिता (Total Utility) के आधार पर ही वस्तु की मात्रा मे वृद्धि निश्चित् करना चाहता है। अतः माग-सिद्धान्त को इन तथ्यो पर आधारित करना अधिक तर्कयुक्त प्रतीत होता है।

(2) अवास्तविक मान्यताएं : डॉ० रूबी नॉरिस (Dr. Ruby Norris) ने प्रो० हिक्स (Prof J R Hicks) के माग सिद्धान्त के विश्लेषण की आलोचना करते हुए कहा है . तटस्थता-वक्र पद्धति की सबसे महत्वपूर्ण आलोचनाएं स्वय इसकी मान्यताओ मे निहित है। आर्थिक सिद्धान्त व्यक्ति के गतिशील जीवन के तथ्यो का विश्लेषण बहुत ही सीमित रूप मे करता है।[18] डॉ० नॉरिस लिखती है कि उपज-

[18] "The most important criticisms of the Indifference Curve-System stem from the unreality of its assumptions. At best economic theory can approach only remotely the bewildering dynamics of daily life."

—*Dr. Ruby Norris*

विभेद (Product Differentiation) के कारण वस्तुओं की संख्या में इतनी अधिक वृद्धि हो गयी है कि उपभोक्ता के लिए चुनाव करना कठिन हो गया है।

(3) संस्थात्मक मूल्य नियन्त्रण की उपेक्षा प्रो हिक्स की एक मान्यता यह भी है कि मूल्य के सामान्य विश्लेषण में संस्थागत मूल्य नियन्त्रण (Institutional Price Controls), अर्थात् मूल्य पर सरकारी नियन्त्रण की उपेक्षा की जा सकती है। परन्तु युद्ध काल अथवा नियोजित अर्थ व्यवस्था में इस प्रकार का नियन्त्रण माग और पूर्ति से भी अधिक महत्वपूर्ण है।

(4) उपभोक्ता के विवेकशील आचरण की धारणा काल्पनिक है तटस्थता वक्र विधि में उपभोक्ता के आचरण को विवेकशील माना गया है। यह मान्यता कि उपभोक्ता वस्तुओं के विभिन्न संयोगों में मिलने वाली सन्तुष्टि की कल्पना निरन्तर कर सकता है उचित प्रतीत नहीं होती। तटस्थता वक्र पर व्यक्त संयोग तटस्थता सूची (Indifference Schedule) के आधार पर निर्मित किए जाते हैं। वे वक्र वस्तुओं के बाजार मूल्यों पर ध्यान नहीं देते। अतः इनको कल्पित (hypothetical) तथा अज्ञात (unknown) कहा जा सकता है।

(5) उपभोक्ता की माग पर अन्य बातों के प्रभाव की उपेक्षा उपभोक्ता में विवेकशीलता की अपेक्षा भावुकता का पुट अधिक है। उपभोक्ता के व्यवहार पर परम्पराओं रुचियों तथा संस्कृति आदि का भी प्रभाव पड़ता है। तटस्थता वक्र विधि में इन बातों पर ध्यान नहीं दिया जाता।

(6) वस्तुओं की संख्या में वृद्धि होने पर यह विधि जटिल है वास्तविक जीवन में उपभोक्ता के समक्ष केवल दो वस्तुओं अथवा सेवाओं के मध्य चुनाव का प्रश्न नहीं उठता। इसके अतिरिक्त विभिन्न संयोगों के लिए मूल्यों को ज्ञात तथा स्थिर मान लेना भ्रामक है। जहां वस्तुओं की संख्या अधिक है वहां उपभोक्ता के पास दी गयी माग विश्वास कठिन है। अतः दो या तीन से अधिक वस्तुओं की माग के विश्लेषण के लिए तटस्थता वक्रों का प्रयोग करना सरल नहीं है।

(7) तटस्थता वक्र विशेष परिस्थितियों में पसन्दगी मान को व्यक्त नहीं करते प्रो० के० ई० बोल्डिंग के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भाव्य पसन्दगी सिद्धान्त के सम्पूर्ण क्षेत्र को सम्मिलित करने के उद्देश्य से वे (तटस्थता-वक्र) वास्तविकता से कहीं अधिक बातों को व्यक्त करते हैं। हम लोग कुछ विशेष परिस्थितियों में चुनाव करते हैं हम लोग अनेक स्वतन्त्र परिस्थितियों में चुनाव करने की कल्पना भी नहीं करते।[14]

[14] In seeking to cover the whole field of potential preference theory they (the indifference curves) seem to state more than what actually exists in the mind We make choices in particular situation we do not contemplate making choices in an indefinitely large number of situations —Prof K E Boulding

(8) **आनुभाविक अध्ययन का आधार नहीं है** तटस्थता वक्र विधि का प्रयोग आनुभाविक अध्ययन एव शोध (Empirical Study and Research) के लिए नही किया जा सकता। सांख्यिकी द्वारा इसके कार्यों की परीक्षा (Statistical Verification) भी सम्भव नही है।

(9) **तटस्थता मानचित्र अल्पकालीन घटना है** हाले (Hawley) के अनुसार किसी उपभोक्ता का तटस्थता मानचित्र अल्पकालीन घटना है जो बराबर परिवर्तित होता रहता है।[15]

निष्कर्ष . तटस्थता वक्र विधि की उपरोक्त आलोचनाओ एव सीमाओ के बावजूद भी इस विधि के महत्व की उपेक्षा नही की जा सकती। स्वय डॉ० नारिस ने प्रो० हिक्स की प्रशसा करते हुए कहा है कि प्रो० हिक्स ने एक ऐसे अर्थशास्त्र का विकास किया है जो पसन्दगी की स्थितियो को सख्या सूचक अको (Cardinal Numbers) के स्थान पर क्रम सूचक अको (Ordinal Numbers) से सम्बन्धित करता है। इस दृष्टि से प्रो० हिक्स ने माग विश्लेषण का मार्शल के उपयोगितावाद (Hedonism) से उद्धार किया है। डॉ० नारिस के विचार मे तटस्थता वक्र की धारणा निश्चय ही परम्परावादी विश्लेषण से श्रेष्ठ है।[16]

कुछ आधुनिक अर्थशास्त्रियो का, जिनमे एरिक रोल (Eric Roll) का नाम प्रमुख है, यह विचार है कि तटस्थता वक्र विधि कोई नई नही है, अत इसे पहले की विधियो से अच्छी विधि नही कहा जा सकता। एरिक राल के विचार से इस विधि म भी उपयोगिता का व्यक्तिगत तत्व (Subjective Element) मौजूद है। परन्तु उनका यह विचार सकुचित है। प्रो० राबर्टसन (Prof D H Robertson) के अनुसार, 'तटस्थता वक्र विश्लेषण एक नई बोतल मे पुरानी शराब मात्र ही है।"[17] प्रो० आमस्ट्राग (Prof Armstrong) का यह कहना है कि मार्शल के सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त का उपयोग किए बिना हिक्स के प्रतिस्थापन की घटती हुई सीमान्त दर के सिद्धान्त (MRS) का ज्ञान प्राप्त करना कठिन है। परन्तु इन आलोचनाओ का खण्डन करते हुए एडवर्ड नेविन ने लिखा है, "एक अर्थशास्त्री को यह भय नही होना चाहिए कि उसके सभी निष्कर्ष स्पष्ट और

---

[15] "The individual's map of indifference curves may be a short-run phenomenon, subject to frequent and possibly capricious changes" —*Hawley*

[16] 'On the whole the indifference curve approach apart from its formal perfection as a mathematical system represents improvement along some lines and stagnation in others' —*Dr Ruby Norris*

[17] "Indifference curve analysis is an old wine in a new bottle" —*Prof. D H Robertson*

अमापनीय उपयोगिता के विचार पर आधारित हैं। तटस्थता वक्र-विश्लेषण सन्तुष्टि के मापनीय तथ्य पर ध्यान दिए बिना उपभोक्ता द्वारा प्रदर्शित पसन्दगी का अध्ययन करता है।"[18]

20. तटस्थता-वक्र का महत्व एवं उपयोगिता (Usefulness of Indifference Curve or Application of Indifference-Curve Technique) :

विभिन्न त्रुटियों के बावजूद भी आज मार्शल के माग वक्र-विश्लेषण से तटस्थता-वक्र-विश्लेषण को श्रेष्ठ समझा जाता है। आधुनिक युग मे तटस्थता वक्र की पद्धति काफी लोकप्रिय है तथा इसका प्रयोग क्रमश. बढता ही जा रहा है। इसकी सहायता से आर्थिक समस्याओं का अध्ययन सरलतापूर्वक किया जा सकता है। तटस्थता-वक्र-विश्लेषण के माध्यम से माग की लोच एव प्रतिस्थापन, उपभोक्ता की बचत आदि नियमो का सरलतापूर्वक अध्ययन सम्भव है। हिक्स ने उपभोक्ता की बचत को इस विधि के द्वारा स्पष्ट करने का सराहनीय प्रयत्न किया है। इतना ही नही मूल्य विश्लेषण के सिद्धान्त मे भी इससे लाभ प्राप्त हो सकता है।

वास्तव मे तटस्थता-वक्र-विश्लेषण का प्रयोग अब आर्थिक क्षेत्र की प्रत्येक शाखा मे होने लगा है। उपभोग के अतिरिक्त इस विश्लेषण का प्रयोग उत्पादन, विनिमय, वितरण तथा कर-सिद्धान्त (Theory of Taxation) क्षेत्रो मे भी किया जाता है। बोल्डिंग ने तटस्थता वक्र विधि को आर्थिक विश्लेषण का एक सबल अस्त्र माना है, जिसके माध्यम से विभिन्न समस्याओं का हल सम्भव है।[19]

विभिन्न आर्थिक क्षेत्रो मे तटस्थता-वक्र के निम्नलिखित महत्वपूर्ण प्रयोग हैं :

(1) विनिमय के क्षेत्र मे प्रयोग तटस्थता-वक्र विश्लेषण का प्रयोग विनियम-दर (Exchange Rate) निर्धारित करने मे किया जाता है। दो वस्तुओं के मध्य निर्धारित विनिमय-दर सन्तुलन की दशा बतायेगी। इसे ही सन्तुलन-विनिमय-दर (Equilibrium Rate of Exchange) कहा जाता है। दो वस्तुओं

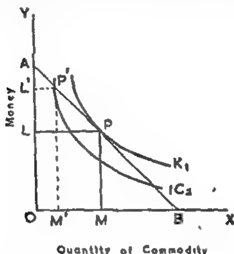
---

[18] "The economist need have no fear that all his conclusions are based on the vague and immeasurable concept of utility, indifference analysis does not require to attach a quantitative magnitude to the satisfaction derived by consumer from commodities, but simply accepts the preferences expressed in the market place."
—*Edward Nevin*

[19] The Indifference Curve is a powerful weapon of economic analysis Economics is ultimately the theory of human choices As such it covers not merely a part of life, but the whole. And the Indifference curve is the map of human choices."
—*Boulding*

की प्रतिस्थापन-सीमान्त-दर (MRS) समान होने पर ही विनिमय सम्भव हो पाता है और इससे कोई भी उपभोक्ता अपने को ठगा जैसा महसूस नहीं करता।

(2) राशनिंग तथा उपभोक्ता की सन्तुष्टि के पारस्परिक सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए प्रयोग : राशनिंग (Rationing) से उपभोक्ताओं को अधिकतम संतोष नहीं मिल पाता। उपभोक्ताओं का सन्तोष सीमित तथा कम हो जाता है। राशनिंग के समय व्यक्ति को वस्तु की एक निश्चित (*Fixed*) मात्रा ही मिल पाती



चित्र सं० 30

है, अधिक मात्रा मिलना कठिन है। इस प्रकार उस वस्तु की मात्रा कम मिलती है। अतः राशनिंग का प्रभाव बहुत कुछ वैसा ही होता है जैसा कि मूल्य बढ़ने पर होता है। अभिप्राय यह है कि तटस्थता-वक्र-विश्लेषण के द्वारा इस तथ्य को सिद्ध किया जा सकता कि राशनिंग व्यवस्था के अन्तर्गत उपभोक्ता को वस्तु विशेष की उचित मात्रा कम मिलने लगती है, जिससे उस वस्तु से उसको पूर्ण सतुष्टि नहीं मिल पाती, यद्यपि उसके पास द्रव्य या धन की मात्रा बढ़ जाती है। इस तथ्य को तटस्थता-वक्र की सहायता से ऊपर दिये गये चित्र में व्यक्त किया गया है।

चित्र में तटस्थता वक्र Ic_1 राशनिंग के पहले का वक्र है जो उपभोक्ता के पूर्ण सतुलन या उसकी सतुष्टि को P बिन्दु पर व्यक्त करता है। इस बिन्दु पर उपभोक्ता के पास वस्तु तथा द्रव्य की मात्राओं का सयोग इस प्रकार है—(OMx+Oly) इसका अर्थ यह है कि वह वस्तु की OM मात्रा खरीदता है तथा द्रव्य की OL मात्रा अपने पास रखता है। परन्तु राशनिंग के बाद उसे वस्तु की OM मात्रा प्राप्त होने लगती है। वस्तु तथा द्रव्य के सयोग को व्यक्त करने वाला तटस्थता वक्र IC_2 बजट

या मूल्य रेखा AB को P' पर काटता है। P' बिन्दु पर उपभोक्ता वस्तु की OM' मात्रा ही खरीद सकता है, जो OM मात्रा से कम है, यद्यपि उसके पास द्रव्य की मात्रा OL से बढ़कर OL' हो जाती है। इससे यह स्पष्ट है कि उपभोक्ता के पास द्रव्य की मात्रा बढ़ने पर वह वस्तु विशेष से अधिकतम सन्तुष्टि नहीं पा सकता और न ही वह सन्तुलन बिन्दु पर है। IC_2 तटस्थता-वक्र की स्थिति IC_1 तटस्थता-वक्र से नीचे की तरफ है। अत. इस वक्र पर सयोग का कोई बिन्दु कम सन्तुष्टि स्तर का सयोग होगा।

(3) करारोपण (Taxation) मे प्रयोग. उपभोक्ताओ पर कर लगाते समय तटस्थता-वक्र-विधि अधिक सहायक होती है। इसके जरिये यह पता लगाया जा सकता है कि प्रत्यक्ष (direct), आयकर (Income Tax), अथवा अप्रत्यक्ष (indirect) करो, बिक्री कर (Sales Tax) उत्पादन कर (Excise duty) का वस्तुओ के उपभोग की मात्रा पर क्या प्रभाव पड सकता है? इस प्रभाव को मालूम करके सरकार ऐसे कर लगाती है जिनसे उपभोक्ताओ पर कर का भार अधिक न पडे और वे वस्तुओ का उचित मात्रा मे उपभोग कर सके। तटस्थता-वक्र की सहायता से यह भी पता किया जा सकता है कि विभिन्न प्रकार के करो से उपभोक्ता की कार्यक्षमता पर क्या प्रभाव पडता है? क्या सरकारी कर-नीति प्रेरणा (incentives) देती है या नही?

(4) दो विकल्पो के बीच पसन्दगी या प्राथमिकता क्रम निर्धारण मे सहायक : इसका प्रयोग यह पता लगाने के लिए भी किया जा सकता है कि उपभोक्ता आय और विश्राम, वर्तमान उपभोग तथा भविष्य के उपभोग, तरल सम्पत्तियो तथा अन्य प्रकार की सम्पत्तियो में किसको अधिक पसन्द करेगा?

(5) उपभोक्ता की बचत ज्ञात करने मे सहायक : तटस्थता वक्र-विधि की सहायता से संख्या सूचक उपयोगिता (Cardinal utility) को जाने बगैर उपभोक्ता-बचत की व्याख्या की जा सकती है।

(6) सूचनाक (Index Number) की समस्या में प्रयोग : तटस्थता वक्रो की सहायता से उपभोक्ता का जीवन स्तर तुलनात्मक दृष्टि से ऊंचा है अथवा नीचा, अच्छा है या खराब, इसका पता चल सकता है।

(7) उपभोक्ता-सन्तुलन की स्थिति ज्ञात करने में सहायक : तटस्थता वक्रों के माध्यम से उपभोक्ता-सन्तुलन की स्थिति ज्ञात की जा सकती है। इस सन्तुलन की स्थिति मे उपभोक्ता को अधिकतम सन्तुष्टि मिलती है। जिस बिन्दु पर मूल्य-रेखा तटस्थता-वक्र की स्पर्श-रेखा होती है, उस बिन्दु पर उपभोक्ता दो वस्तुओ की मात्राओ के सयोग से अधिकतम सन्तुष्टि पा सकता है। तटस्थता-वक्रो की सहायता

से ही उपभोक्ता सतुलन पर आय, प्रतिस्थापन तथा मूल्य के प्रभावो को ज्ञात किया जा सकता है ।

(8) उत्पादन क्षेत्र मे प्रयोग - जिस प्रकार उपभोग के क्षेत्र मे समान सन्तुष्टि वाले सयोगो को प्रदर्शित करने वाले तटस्थता वक्रो (Iso-utility Curves) का निर्माण करके किसी उपभोक्ता के लिए उपभोग्य वस्तुओ का प्राथमिक क्रम व्यक्त किया जा सकता है, उसी प्रकार उत्पादन के क्षेत्र मे समान उत्पादन क्षमता वाले उत्पादन साधनो के सयोगो को ज्ञात करने के लिए समता-वक्रो (Iso quant Curves) का निर्माण किया जा सकता है ।

प्रश्न एव सकेत

1 तटस्थता वक्र रेखाए मूल विन्दु (origin) की ओर उन्नतोदर (Convex) क्यो होती है ? इनकी सहायता से कीमतो मे परिवर्तनो का उपभोक्ता की माग पर पडे प्रभाव का विवेचन कीजिए ।

(Raj, B A , 1964)

[सकेत सब प्रथम अनि सक्षेप मे तटस्थता वक्र रेखाओ का अर्थ स्पष्ट कीजिए । इसके पश्चात् तटस्थता-वक्र रेखा के मूल बिन्दु के प्रति उन्नतोदर (convex) होने की विशेषता का विवेचन कीजिए । अन्त मे कीमत प्रभाव की व्याख्या कीजिए ।]

2 तटस्थता वक्र रेखाओ से आप क्या समझते हैं । उनकी सहायता से माग रेखा को निकालिए ।

(Raj B A 1963)

[सकेत देखिये पृष्ठ 234-237]

3 चित्रो की सहायता से तटस्थता वक्र रेखाओ के विचार की व्याख्या कीजिए । उपयोगिता विचार के ऊपर यह कहा तक सुधार है ?

(Jodhpur T D C , Arts, 1963)

[सकेत प्रथम भाग मे उदाहरण व रेखाचित्रो की सहायता से तटस्थता-वक्र रेखाओ को स्पष्ट कीजिए । द्वितीय भाग मे यह स्पष्ट कीजिए कि कहा तक यह उपयोगिता विश्लेषण के ऊपर सुधार है ।]

4, क्या उपयोगिता मापनीय (Measurable) है ? यदि यह मापनीय नही है, तो उपभोक्ता के चुनाव सिद्धान्त (Theory of Consumer's choice) मे इस कठिनाई को कैसे दूर कर सकते हैं ?

(Allahabad, B A. I, 1964)

[सकेत सब प्रथम उपयोगिता को मापने मे कठिनाइयो का उल्लेख कीजिए । इसके पश्चात् स्पष्ट कीजिए कि तटस्थता वक्र रेखाओ की सहायता से इस कठिनाई को किस प्रकार दूर किया जा सकता है ।]

5. किसी वस्तु के मूल्य में कमी पर आय व प्रतिस्थापन प्रभाव (Income and Substitution effect) का स्पष्ट उल्लेख कीजिए।

(Bihar, B. A. Hons 1966 A)

[संकेत देखिए पृ० 230 से 234]

6 उदासीनता वक्र-टेक्नीक की सहायता से उपभोक्ता की सामान्य मांग-वक्र का निर्माण कीजिए। मांग वक्र किन परिस्थितियों में 'पीछे की ओर गिरती' होगी।

(Raj. M. Com , 1969)

समस्याएं

1. सिद्ध कीजिए कि यदि उदासीनता वक्र सीधी रेखा में या नतोदर (Concave) हो तो उपभोक्ता एक ही वस्तु खरीदेगा, दोनों नहीं।

2. पृष्ठ 233 पर घटिया किस्म की वस्तुओं का चित्र है। ऐसा रेखाचित्र खींचिए जिसमे Y वस्तु को घटिया किस्म का दिखाया गया हो।

3. 'गिफेन-प्रभाव' (Giffen Effect) को चित्र द्वारा प्रदर्शित कीजिए।

4. बताइए कि परम्परागत माग वक्र (Traditional Demand curve) को उदासीनता मान-चित्र (Indifference map) से किस प्रकार खींचा जा सकता है ?

5 माग विश्लेषण के सीमान्त उपयोगिता दृष्टिकोण की तुलना मे उदासीनता वक्र दृष्टिकोण के लाभो को समझाइए।

12

मांग की लोच
(Elasticity of Demand)

"The elasticity of demand may be defined as the percentage change in the quantity demanded which would result from one percent change in price"

—*Boulding*

1 मांग की लोच का अर्थ (Meaning of Elasticity)

माग के नियम से स्पष्ट है कि किसी वस्तु की कीमत मे कमी या वृद्धि होने से उस वस्तु की माग मे वृद्धि या कमी होती है । माग तथा कीमत मे विपरीत सम्बन्ध होता है। कीमत मे परिवर्तन के फलस्वरूप मांग मे जो परिवर्तन होता है, उसे माग की लोच कहते हैं, अर्थात् कीमत परिवर्तन के कारण माग की प्रतिकारिकता को ही माग की लोच कहते हैं (The responsiveness of demand to changes of price is called elasticity of demand) । प्रो० कैरनक्रास के शब्दो में, 'एक वस्तु की माग की लोच वह दर है जिस पर क्रय की मात्रा मे, कीमत के परिवर्तन के कारण परिवर्तन होता है ।"[1] श्रीमती जोन रॉबिन्सन के अनुसार, "माग की लोच, किसी कीमत या उत्पत्ति पर क्रय की गई मात्रा का वह आनुपातिक परिवर्तन है जो कीमत के अल्प परिवर्तन मे, कीमत के आनुपातिक परिवर्तन मे भाग देने पर प्राप्त होती है ।"[2] अर्थात् यदि किसी विन्दु पर हम माग की लोच ज्ञात करना चाहते हैं तो वह माग के आनुपातिक परिवर्तन और मूल्य के आनुपातिक परिवर्तन के अनुपात द्वारा ज्ञात की जा सकती है, अर्थात्

---

[1] "The elasticity of demand for a commodity is the rate at which the quantity bought changes as the price changes" —*Cairncross*

[2] "The elasticity of demand, at any price or at any output, is the proportional change of amount purchased in response to a small change in price divided by the proportional change of price"

—*Joan Robinson, op cit p 18*

$$\text{माग की लोच} = \frac{\text{माग का आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{मूल्य का आनुपातिक परिवर्तन}}$$

एक उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए, किसी वस्तु की कीमत पाच रुपया प्रति इकाई होने पर उस वस्तु की 40 इकाइयो की माग होती है। यदि वस्तु का मूल्य घट कर चार रुपया प्रति इकाई हो जाता है तो उस वस्तु की 50 इकाइयों की माग होती है। ऐसी अवस्था मे माग की लोच, उपरोक्त सूत्र के अनुसार, इस प्रकार ज्ञात की जाएगी।

कीमत	5 रुपए प्रति इकाई	4 रुपए प्रति इकाई
	↓	↓
माग	40 इकाइया	50 इकाइया

(i) $\text{माग का आनुपातिक परिवर्तन} = \frac{\text{माग मे परिवर्तन (वृद्धि या कमी)}}{\text{पहले की माग}} = \frac{10}{40} = \frac{1}{4}$

(ii) $\text{कीमत का आनुपातिक परिवर्तन} = \frac{\text{कीमत मे परिवर्तन (वृद्धि या कमी)}}{\text{पहले की कीमत}} = \frac{1}{5} = \frac{1}{5}$

(iii) $\text{माग की लोच} = \frac{\text{माग मे आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{कीमत मे आनुपातिक परिवर्तन}}$

$$= \frac{1}{4} \div \frac{1}{5} = \frac{5}{4} \text{ या } 1.25$$

उक्त उदाहरण मे माग अधिक लोचदार है, क्योंकि कीमत के आनुपातिक परिवर्तन की अपेक्षा, माग मे आनुपातिक परिवर्तन अधिक हुआ है, अर्थात् कीमत मे थोडी सी कमी होने पर माग मे आनुपातिक वृद्धि अधिक हुई है।

'माग की लोच' (Demand Elasticity) तथा 'माग की मूल्य-लोच' (Price elasticity of Demand) दोनो का प्रयोग एक ही अर्थ मे किया जाता है।

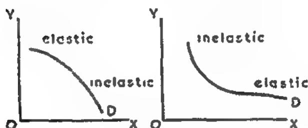
2. माग की चाप-लोच तथा बिन्दु लोच ✓
(Arc Elasticity and Point Elasticity)

जब माग की लोच, माग-रेखा के दो बिन्दुओ के बीच ज्ञात की जाती है तो उसे माग की चाप लोच (Arc Elasticity) कहते हैं। जब माग रेखा के किसी एक बिन्दु पर लोच ज्ञात की जाती है तो उसे बिन्दु लोच (Point Elasticity) कहते हैं। इन दोनो प्रकार की लोचो को ज्ञात करने की अलग-अलग विधिया हैं।

(क) मांग की चाप-लोच (Arc Elasticity) :

(1) चाप लोच ज्ञात करने की आवश्यकता - सामान्य रूप से हम पूरी माग रेखा की लोच की बात करते हैं और यह ज्ञात करते हैं कि किसी वस्तु की माग पर मूल्य-परिवर्तनो का क्या प्रभाव पड़ता है ? परन्तु इससे विभिन्न दशाओ मे पाई जाने वाली वास्तविक-स्थिति का पता नही चलता है। क्योंकि किसी वस्तु की माग कुछ

मूल्य-क्षेत्रों (Price-Range) पर लोचदार (elastic) हो सकती है तथा कुछ मूल्यो पर बेलोचदार (Inelastic) । इसी प्रकार लोच की मात्राएं (degree of elasticity) भी एक मूल्य-क्षेत्र व दूसरे मूल्य-क्षेत्र पर अलग अलग हो सकती हैं। चित्र सख्या 31 इन तथ्यों को प्रकाश मे लाता है।



चित्र सं० 31

प्रथम चित्र मे ऊचे मूल्यो पर माग लोचदार है तथा कम-मूल्यो पर बेलोचदार है। दूसरे चित्र मे ठीक इसकी विपरीत स्थिति है। व्यावहारिक रूप से ये दोनो प्रकार की माग रेखाए पाई जा सकती हैं। अत. एक ही माग-रेखा के विभिन्न भागो की लोच अलग-अलग हो सकती है। इसलिए माँग रेखा के अलग-अलग भागो की लोच ज्ञात करना, व्यावहारिक दृष्टि से आवश्यक हो जाता है। माग रेखा पर किन्ही दो बिन्दुओ के बीच की लोच को 'चाप-लोच' कहते हैं।

(2) 'चाप-लोच क्या है ? चाप-लोच, माग रेखा के एक चाप अर्थात् दो बिन्दुओ के बीच की दूरी के लिए ज्ञात करते है। जैसे चित्र सख्या 32 मे DD माग रेखा पर A व B के बीच माग की लोच। चाप लोच, दो मूल्यो और मात्राओ के एक क्षेत्र (Range) से सम्बन्धित है। जैसे, यदि कीमत सौ रुपये प्रति मन है तो चावल की माग 1000 मन है। यदि कीमत घटकर 90 रुपए प्रति मन हो जाए तो माग बढकर 1200 मन हो जाती है। यदि हम 90 — 100 रुपए (Price-Range) के लिए माग की मात्राओ के आधार पर माग की लोच ज्ञात करें तो उसे चाप-लोच कहेंगे। चाप किसी वक्र के एक भाग को कहते हैं। अतः चाप-लोच का अर्थ है, माग रेखा के एक भाग के सम्बन्ध मे लोच ज्ञात करना। चाप लोच माग रेखा पर दो बिन्दुओ के बीच, मध्य बिन्दु पर, माग की लोच बतलाती है (Arc elasticity is the elasticity at the mid point of an arc of a demand)। जब हम माग रेखा के दो बिन्दुओं के बीच चलते है (जैसे *DD* रेखा पर *A* व *B* बिन्दु) तो इनके बीच बहुत सी मांग रेखाए खीची जा सकती हैं, जिनकी वक्रता (Curvature) मे विभिन्नताएं होगी।

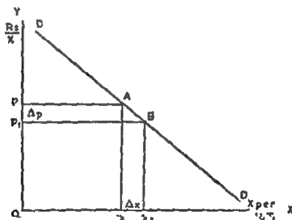
अत जब हम दो बिन्दुओ के बीच लोच या चाप-लोच ज्ञात करते हैं तो लोच, समूचे चाप से गुजरने वाली माग रेखाओ की लोचो की औसत होती है।

(3) चाप लोच ज्ञात करने के तरीके (**Methods of calculating Arc Elasticity**) : चाप-लोच ज्ञात करने के तीन निम्नलिखित सूत्रो का प्रयोग किया जाता है।

(i) पहला सूत्र (**First Formula**) हम यह जानते हैं कि माग की लोच, माग में आनुपातिक परिवर्तन तथा कीमत मे आनुपातिक परिवर्तन का अनुपात है। बीज गणित (Algebra) की भाषा मे हम कह सकते हैं।

$$e = \frac{\frac{\Delta X}{X}}{\frac{\Delta P}{P}}$$

(e=माग की लोच, ΔX=मात्रा मे परिवर्तन, ΔP=कीमत मे परिवर्तन) चित्र स० 32 मे OX अक्ष पर खरीदी जाने वाली वस्तु की मात्रा, तथा OY पर कीमत प्रदर्शित की गई है। OP कीमत पर OX_1 मात्रा खरीदी जा रही है। कीमत घट कर OP से OP_1 हो जाती है, तब खरीद की मात्रा OX से बढकर OX_1



चित्र स० 32

हो जाती है। Δ (डेल्टा) कमी या वृद्धि को प्रकट करता है। इस प्रकार ΔX वस्तु की बढी हुई मात्रा, तथा $-\Delta P$ कीमत मे हुई कमी को प्रकट करता है। इस प्रकार वस्तु की मात्रा मे ΔX परिवर्तन तथा कीमत मे $-\Delta P$ परिवर्तन हुआ है। DD माग वक्र है। OP_1 कीमत पर हम माग वक्र के बिन्दु B पर हैं तथा OP कीमत पर बिन्दु A पर हैं। हम यह जानते हैं कि

$$\text{माग की लोच} = \frac{\text{माग मे आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{कीमत मे आनुपातिक परिवर्तन}}$$

$$\text{अतः माग की लोच या } e = \frac{\frac{\Delta X}{X}}{\frac{\Delta P}{P}}$$

एक उदाहरण द्वारा हम इस सूत्र को स्पष्ट कर सकते हैं।

मान लीजिए चित्र में सम्बन्धित संख्याएं निम्नलिखित हैं :

	P = (कीमत रुपयो मे)	X = (मात्रा मनो मे)
बिन्दु A पर	100	1000
बिन्दु B पर	90	1200

यदि कीमत 100 रुपए प्रति मन है तो चावल की 1000 मन मात्रा (माग) खरीदी जाती है। यदि कीमत घटकर 90 रुपए प्रति मन हो जाती है तो चावल की माग बढकर 1200 मन हो जाती है।

(क) यदि हम माग वक्र पर बिन्दु A से बिन्दु B पर आएं तथा यदि हम सूत्र मे प्रयुक्त अक्षरो के स्थान पर संख्याएं लिख दें तो :

$$e = \frac{\frac{\Delta X}{X}}{\frac{-\Delta P}{P}} = \frac{\frac{200}{1000}}{\frac{-10}{100}} = \frac{200}{1000} \times \frac{100}{-10} = -2$$

(ख) यदि हम बिन्दु B से A पर आएं अर्थात् मान लें कि पहले 90 रु० प्रति मन कीमत पर माग 1,200 मन थी। कीमत बढकर 100 रुपये हो जाती है तो माग घटकर 1000 मन हो जाती है। ऐसी स्थिति म,

$$e = \frac{\frac{\Delta X}{X}}{\frac{\Delta P}{P}} = \frac{\frac{-200}{1200}}{\frac{10}{90}} = \frac{-200}{1200} \times \frac{90}{10} = -1 \cdot 5$$

पहली अवस्था मे माग की लोच —2 तथा दूसरी अवस्था मे —1·5 है। हम यह ध्यान मे रखना चाहिए कि यहा पर, उदाहरण म संख्याएं नही है, परन्तु जब हम A से B बिन्दु की ओर, तथा B बिन्दु से A बिन्दु की ओर जाते हैं तो इन दो दशाओ मे माग की लोच मे अन्तर पाया जाता है। इसका कारण यह है कि इन दो दशाओ मे मात्रा तथा कीमत के प्रतिशत परिवर्तनो म अन्तर है।

(ii) दूसरा सूत्र (Second Formula) उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि दोनों दशाओं में माग की लोच में पर्याप्त अन्तर है। दोनों बिन्दु, एक दूसरे से जितने ही दूर होंगे, Arc-elasticity में उतना ही अधिक अन्तर पाया जाएगा। अतः उपर्युक्त सूत्र का प्रयोग उसी समय करना चाहिए, जबकि दोनों बिन्दु एक दूसरे के निकट हों। जब हम बिन्दु A से प्रारम्भ करते है तथा फिर बिन्दु B से प्रारम्भ करते हैं तो परिणाम में बहुत अन्तर पाया जाता है। यह उपर्युक्त सूत्र का दोष है। अतः पहले सूत्र के दोषो से बचने के लिए, अन्य सूत्र का प्रयोग किया जाता है, जो निम्नलिखित है :

$$e=\frac{\frac{\Delta X}{X}}{\frac{\Delta P}{P_2}}=\frac{200}{1000}\div\frac{-10}{90}=\frac{200}{1000}\times\frac{90}{-10}=-1\cdot8$$

यहां पर P_2 दोनों मूल्यों में से कम मूल्य को तथा X दोनों मात्राओं में से कम मात्रा को प्रकट करता है। माग की लोच A और B बिन्दुओं के बीच ज्ञात की गई है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि पहले सूत्र के अनुसार A से B बिन्दु तथा B से A बिन्दु के बीच माग की लोच क्रमशः —2 व —1·5 थी। दूसरे सूत्र के अनुसार A तथा B बिन्दुओं के बीच माग की लोच—1 8 है जो दोनों के औसत के लगभग है। अतः दूसरा सूत्र अधिक विश्वसनीय है। (विद्यार्थियों को यह याद रखना चाहिए कि माग की लोच ऋण (—) में आती है, क्योंकि कीमत तथा मात्रा में विपरीत दिशाओं में परिवर्तन होता है। परन्तु जब हम माग की लोच की मात्रा की बात करते हैं तो ऋणात्मक चिन्ह (—) पर ध्यान नहीं दिया जाता है।)

(iii) तीसरा सूत्र (Third Formula) : माग की माप-लोच मालूम करने के लिए एक अन्य सूत्र का भी प्रयोग किया जाता है, जो निम्नलिखित है :

$$e=\frac{\frac{X-X_1}{X+X_1}}{\frac{P-P_1}{P+P_1}}$$

इस सूत्र द्वारा उपर्युक्त उदाहरण में दी गई सख्याओं के आधार पर यदि हम माप-लोच ज्ञात करें तो उत्तर—1·7 आएगा। इस सूत्र की भी यह विशेषता है कि यदि हम A से B तथा B से A की ओर चलें तो इस प्रकार जो माग की लोचें होंगी, उनका औसत लगभग—1·7 होगा।

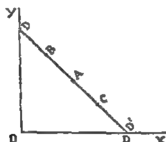
(ख) मांग की बिन्दु-लोच (Point Elasticity of Demand) :

व्यावहारिक जीवन में हम जानते हैं कि वस्तुओं की कीमतें बड़ी कम मात्राओं से बदलती हैं। किसी वस्तु की कीमत, आधा पैसा, एक पैसा, दो पैसा या

कुछ पैमों से बढ़ना व घटना साधारण बात है। यदि मूल्य मे इस प्रकार के परिवर्तन बहुत ही कम दर से होते हैं तो ऐसी दशा मे हमे माग रेखा के किसी एक बिन्दु पर, माग की लोच ज्ञात करनी पड़ती है। यह कहा जा सकता है कि बिन्दु लोच एक प्रकार की चाप-लोच है जबकि चाप के दो बिन्दुओं के बीच की दूरी शून्य हो जाती है। जब माग रेखा के एक बिन्दु पर, लोच ज्ञात की जाती है तब उसे बिन्दु लोच कहते हैं। माग रेखा भी शक्ल के अनुसार दो प्रकार की हो सकती है प्रथम सीधी माग रेखा (Linear Demand) तथा वक्र के रूप मे (curve)। इन दोनों दशाओं मे माग की बिन्दु लोच ज्ञात करने की निम्नलिखित विधियां हैं, ये विधियां मार्शल ने बतलाई हैं।

1 जब माग रेखा सीधी हो।

माग-रेखा के विभिन्न बिन्दुओं पर माग की लोच समान नहीं होती है। मार्शल ने माग-वक्र के विभिन्न बिन्दुओं पर लोच मापने की अलग विधि बतलाई है। इस विधि को रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया गया है। चित्र मे DD' एक सीधी



चित्र स० 33

माग-रेखा है, जो OX तथा OY पर D व D' बिन्दु पर मिलती है। DD' पर मध्य बिन्दु A है, अर्थात् DA=AD'। लोच ज्ञात करने के लिए इस सूत्र का प्रयोग किया जाता है

$$\text{किसी बिन्दु पर माग की लोच} = \frac{\text{वक्र पर किसी* बिन्दु से } D' \text{ तक की दूरी}}{\text{उसी* बिन्दु से } D \text{ तक की दूरी}}$$

बिन्दु A वक्र के मध्य मे है अत. A बिन्दु पर माग की लोच $= \frac{AD'}{AD} = 1$ होगी। इसी प्रकार—

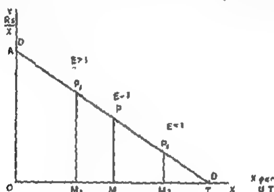
B बिन्दु पर माग की लोच $\frac{BD'}{BD}$ तथा

C बिन्दु पर माग की लोच $= \frac{CD'}{CD}$

*जिस बिन्दु पर हम माग की लोच ज्ञात करना चाहते हैं।

यदि हम माग रेखा की लम्बाई को ध्यान मे रखें तो मध्य-बिन्दु (A) से नीचे के प्रत्येक बिन्दु पर माग की लोच इकाई से कम होगी तथा मध्य-बिन्दु से ऊपर के प्रत्येक बिन्दु पर माग की लोच इकाई से अधिक होगी।

सख्यात्मक परिमाण के आधार पर माग की लोच के तीन भेद किए जा सकते हैं : (i) जब लोच की मात्रा एक से अधिक होती है तब माग को लोचदार (elastic) कहते है। (ii) जब लोच की मात्रा एक होती है तब उसे इकाई लोच (unitary elastic) कहते है तथा (iii) जब लोच की मात्रा एक से कम होती है तब उसे बेलोच (inelastic) कहते है। चित्र स० 34 मे इन्हें स्पष्ट किया गया है।



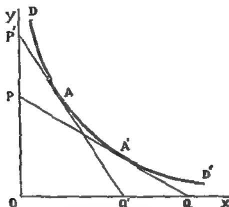
चित्र स० 34

DD माग रेखा है। P बिन्दु माग रेखा पर ऐसे स्थान पर स्थित है, जिससे PD=PD या OM=MT अतः बिन्दु P पर माग की लोच इकाई (unitary) होगी। माग रेखा पर P बिन्दु से ऊपर की ओर जितने भी बिन्दु लिए जाए वे प्रत्येक बिन्दु पर माग की लोच एक से अधिक होगी—जैसे P_1 बिन्दु पर। यदि ऊपर बढते जाए तो बिन्दु A पर, लोच infinity (∞) हो जाएगी। इसी प्रकार P बिन्दु से, माग वक्र पर नीचे के सभी बिन्दुओ पर लोच एक से कम होगी जैसे P_2 बिन्दु पर। यदि हम आगे बढते जाए तो बिन्दु T पर, माग की लोच शून्य हो जाएगी।

2 माग रेखा सीधी न होने पर

रेखा चित्र स० 34 मे माग-वक्र को DD' द्वारा प्रकट किया गया है। सामान्यतया माग-वक्र सीधी रेखा के रूप मे नही होता है। यदि माग-वक्र सीधी रेखा के रूप मे नही है तो भी हम उक्त सूत्र द्वारा माग वक्र के किसी बिन्दु पर लोच को नाप सकते है। ऐसी अवस्था म, हम जिस बिन्दु पर माग की लोच ज्ञात करना चाहते हैं, उस बिन्दु से माग वक्र पर स्पर्श रेखा (Tangent) खींचते है। अगल पृष्ठ पर चित्र द्वारा यह विधि स्पष्ट की गई है।

चित्र मे DD' माग वक्र है, जिसके A तथा A' बिन्दुग्रो पर माग की लोच ज्ञात करनी है। A तथा A' बिन्दुग्रो पर माग वक्र की स्पर्श रेखाए क्रमश: P'Q'



चित्र स० 35

तथा PQ खीची गई हैं। A बिन्दु की स्पर्श रेखा OX तथा OY को Q' व P' बिन्दु पर काटती है तथा A' बिन्दु की स्पर्श रेखा OX तथा OY को Q व P बिन्दुग्रो पर काटती है। सूत्र के अनुसार

A बिन्दु पर माग की लोच $=\frac{AQ'}{AP'}$

A' बिन्दु पर माग की लोच $=\frac{A'Q}{A'P}$

चित्र से स्पष्ट है कि A बिन्दु पर माग की लोच A' बिन्दु की अपेक्षा अधिक है।

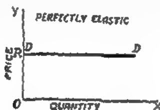
इन विधियो द्वारा लोच ज्ञात करने को ज्यामितिक विधि (Geometric technique) भी कहते हैं। इन्हे 'मार्शल की बिन्दु विधि' भी कहते हैं।

3 मांग की कीमत लोच की मात्राए
(Degrees of Price Elasticity of Demand)

माग की लोच सदैव समान नही होती है। कुछ वस्तुग्रो की माग की लोच परिस्थिति के अनुसार अधिक होती है तथा कुछ की कम होती है। यदि मूल्य परिवर्तन का किसी वस्तु की माग पर कोई प्रभाव नही पडता तो उस वस्तु की माग पूर्णतया बेलोच (Perfectly Inelastic) होती है। इसके विपरीत यदि किसी वस्तु की माग पर मूल्य-परिवर्तन का अत्यधिक प्रभाव पडता है तो उस वस्तु की माग अत्यधिक लोचपूर्ण (Perfectly Elastic) होती है। व्यावहारिक रूप मे सामान्यत ये दोनो अवस्थाए नही पाई जाती। 'पूर्णतया बेलोच' तथा 'अत्यधिक लोचपूर्ण'

के बीच, लोच की कई श्रेणियां पाई जाती हैं। इस प्रकार लोच की पांच श्रेणियां हो सकती हैं :

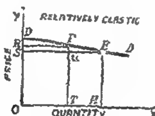
1. पूर्णतया लोचदार मांग (Perfectly Elastic Demand) : जब किसी वस्तु के मूल्य में अत्यन्त ही थोड़ी सी वृद्धि या कमी होने से, उस वस्तु की माग की मात्रा में अनन्त कमी या वृद्धि हो जाती है, तो ऐसी स्थिति में माग की लोच पूर्ण-



चित्र स० 36

तया लोचदार होती है। सामान्यतः मूल्य में परिवर्तन हुए बिना भी माग में बहुत अधिक परिवर्तन हो जाता है। रेखा चित्र स० 36 में पूर्णतया लोचदार माग वक्र प्रदर्शित किया गया है।

2. अत्यधिक या सापेक्षतया लोचदार माग (Highly or Relatively Elastic Demand) : जब किसी वस्तु के मूल्य में परिवर्तन के कारण, उसकी माग में आनुपातिक परिवर्तन अधिक होता है तो उस वस्तु की माग की लोच 'अत्यधिक

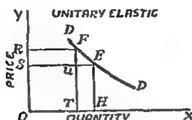


चित्र स० 37

लोचदार' कही जाती है। जैसे, यदि किसी वस्तु के मूल्य में 10% कमी होने से, उसकी माग में 25% वृद्धि हो जाती है तो उस वस्तु की माग अत्यधिक लोचदार कही जाएगी। चित्र स० 37 में 'अत्यधिक लोचदार माग वक्र दिखलाया गया है।

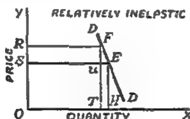
3. लोचदार या एकात्मक लोचदार मांग (Elastic or Unitary Elastic Demand) : जब किसी वस्तु की माग मे, मूल्य-परिवर्तन के अनुपात के अनुसार परिवर्तन होता है तो उस वस्तु की माग को लोचदार माग कहते हैं। जैसे किसी वस्तु के मूल्य में 10% कमी होने से उस वस्तु की माग में ठीक 10% की वृद्धि हो

जाए। ऐसी माग की लोच इकाई के बराबर होती है, अतः इसे एकात्मक लोचदार माग भी कहते हैं। चित्र स० 38 मे ऐसा माग वक्र प्रदर्शित किया गया है।



चित्र स० 38

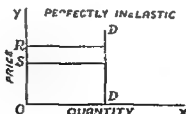
4. बेलोच या सापेक्षतया बेलोच माग (Inelastic or Relatively Inelastic Demand) : यदि किसी वस्तु के मूल्य मे परिवर्तन के कारण, उसकी माग मे बहुत कम परिवर्तन होता है तो ऐसी मांग को बेलोच माग कहते है। इसमे मूल्य-



चित्र स० 39

परिवर्तन की अपेक्षा, माग की मात्रा मे आनुपातिक परिवर्तन बहुत कम होता है। जैसे मूल्य 50% कम हो जाए तथा माग की मात्रा केवल 10% ही बढे। चित्र स० 39 मे सापेक्षतया बेलोच माग वक्र प्रदर्शित किया गया है।

5. पूर्णतया बेलोच माग (Perfectly Inelastic Demand) यदि किसी



चित्र स० 40

वस्तु के मूल्य मे बहुत अधिक परिवर्तन होने पर भी उसकी माग को मात्रा में कोई

परिवर्तन नहीं होता तो ऐसी माग को पूर्णतया बेलोच माग कहते हैं। चित्र सं० 40 में ऐसा माग वक्र दिखलाया गया है।

माग की लोच की उपरोक्त मात्राओं या श्रेणियों को गणित के सूत्रों द्वारा भी प्रकट किया जा सकता है। माग लोचदार हो सकती है, अर्थात् उसकी लोच 1 के बराबर हो सकती है या पूर्णतया लोचदार हो सकती है, अर्थात् 1 से अनन्त (Infinity) तक हो सकती है। दूसरी ओर बेलोच हो सकती है, अर्थात एक से कम हो सकती है या पूर्णतया बेलोचदार हो सकती है अर्थात उसकी लोच शून्य के बराबर हो सकती है। अतः हम गणित के सूत्रों के रूप में, उपरोक्त पाचों रूपों को निम्नलिखित प्रकार से प्रकट कर सकते हैं।

1. पूर्णतया लोचदार (Perfectly Elastic) $(E \rightarrow \alpha)$
2. अत्यधिक सापेक्षतया लोचदार (Highly Elastic) $(\alpha > E > 1)$
3. लोचदार या एकात्मक लोचदार (Elastic) $(E=1)$
4. बेलोच या सापेक्षतया बेलोच (Inelastic) $(0<E<1)$
5. पूर्णतया बेलोच (Perfectly Inelastic) $(E=0)$

4. मांग की लोच मापने की विधियाँ
(Methods of Measurement of Elasticity)

माग की लोच को मापने के लिए, मुख्यतः निम्नलिखित विधियों का प्रयोग किया जाता है

1. आनुपातिक या प्रतिशत रीति (Percentage Method or Proportionate Method)

2. कुल व्यय विधि (Method of Total Money Outlays)

3. मार्शल की बिन्दु रीति या ज्यामितिक रीति (Marshall's Point Method or Geometric Method)

1. फ्लक्स की प्रतिशत रीति (Flux's Percentage Method) :

फ्लक्स के अनुसार माग की लोच की माप के लिए, माग के प्रतिशत परिवर्तन में मूल्य के प्रतिशत परिवर्तन से भाग देते हैं। फ्लक्स ने लोच की माप के लिए निम्नलिखित सूत्र का प्रयोग किया है :

$$\text{माग की लोच} = \frac{\text{माग में प्रतिशत परिवर्तन}}{\text{मूल्य में प्रतिशत परिवर्तन}}$$

उक्त सूत्र के अनुसार (i) यदि माग तथा मूल्य में प्रतिशत परिवर्तन समान है तो माग की लोच इकाई (unity) के बराबर होगी, जैसे मूल्य मे 10% वृद्धि के कारण मांग में 10% की कमी हो जाए, (ii) यदि मांग में प्रतिशत परिवर्तन,

मूल्य मे प्रतिशत परिवर्तन से अधिक है तो माग की लोच इकाई से अधिक (More than unity) होगी, जैसे मूल्य मे 20% कमी के कारण, माग की मात्रा मे 25% वृद्धि हो जाए, (iii) यदि माग मे प्रतिशत परिवर्तन, मूल्य में प्रतिशत परिवर्तन से कम हो तो माग की लोच इकाई से कम (Less than unity) होगी, जैसे मूल्य मे 20% की कमी के कारण माग की मात्रा मे 15% वृद्धि हो जाए।

वास्तव मे यह रीति वही है, जिसे इस अध्याय के प्रारम्भ मे 'लोच की परिभाषा' शीर्षक के अन्तर्गत उदाहरण द्वारा समझाया गया है। चाप लोच (Arc-elasticity) के अन्तर्गत जो तीन सूत्र बतलाए गए हैं, वे सभी, आनुपातिक रीति के ही अन्तर्गत आते है। इसका सामान्य सूत्र निम्नलिखित है

$$\text{माग की लोच} = \frac{\text{माग मे आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{कीमत मे आनुपातिक परिवर्तन}}$$

2 कुल व्यय विधि (Method of Total Money Outlays) ·

इस विधि का प्रतिपादन मार्शल ने किया है। इस विधि द्वारा यह ज्ञात किया जाता है कि माग की लोच इकाई है, इकाई से कम है या इकाई मे अधिक है ? (इकाई के सदर्भ मे लोच ज्ञात करने के कारण इस विधि को मार्शल की इकाई रीति' (Marshall's Unitary Method) भी कहते हैं।) इस विधि द्वारा माग की लोच मापने के लिए वस्तु पर किए गए कुल व्यय (मूल्य परिवर्तन के पूर्व तथा पश्चात्) की तुलना की जाती है। निम्नलिखित उदाहरण द्वारा इस विधि का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है

विभिन्न मूल्यो पर माग तथा कुल व्यय

	प्रथम अवस्था		द्वितीय अवस्था		तृतीय अवस्था	
मूल्य प्रति इकाई रु०	माग की मात्रा	कुल व्यय (रु० मे)	माग की मात्रा	कुल व्यय (रु० मे)	माग की मात्रा	कुल व्यय (रु० मे)
5	20	100	20	100	20	100
4	25	100	40	160	24	96
3	$33\frac{1}{3}$	100	60	180	27	81

उपरोक्त सारिणी मे तीन अवस्थाए स्पष्ट हैं। तीनो अवस्थाओ म किसी वस्तु का प्रति इकाई मूल्य 5 रु० है तथा इस मूल्य पर माग की मात्रा 20 है। इसके पश्चात् मूल्य घटकर क्रमश 4 रु० व 3 रु० प्रति इकाई हो जाता है। फलस्वरूप

माग बढती है । प्रत्येक अवस्था के दूसरे कालम मे कुल व्यय दिखलाया गया है, (मांग × मूल्य प्रति इकाई) । इन कुल व्ययो के आधार पर माग की लोच की माप इस प्रकार की जाएगी :

(i) मांग की लोच इकाई के बराबर (Elasticity of Demand equal to Unity) : यदि मूल्य मे परिवर्तन के कारण माग की मात्रा में इस प्रकार परिवर्तन हो कि कुल व्यय प्रत्येक दशा मे समान रहे तो माग की लोच इकाई के बराबर होगी । उपरोक्त सारिणी के अनुसार, प्रथम अवस्था मे मूल्य के घटने पर माग बढकर 25 तथा $33\frac{1}{3}$ हो जाती है । परन्तु कुल व्यय माग की प्रत्येक मात्रा पर 100 रु० रहता है । अतः यहा पर माग की लोच इकाई के बराबर है । (प्रथम बार कुल व्यय की गई रकम से अन्य बार कुल व्यय की गई रकमो मे भाग देने से परिणाम 1 रहता है, $\frac{100}{100}=1$, $\frac{100}{100}=1$)

(ii) माग की लोच इकाई से अधिक (Elasticity of Demand more than Unity) : यदि वस्तु के मूल्य मे कमी से, माग इतनी अधिक बढ जाए कि कुल व्यय पहले की अपेक्षा अधिक होने लगे, तब मांग की लोच इकाई से अधिक होगी, जैसे द्वितीय अवस्था मे कुल व्यय 100 रुपए से बढकर, 160 रुपए तथा 180 रुपए हो जाता है । यहा पर माग की लोच इकाई से अधिक है ।

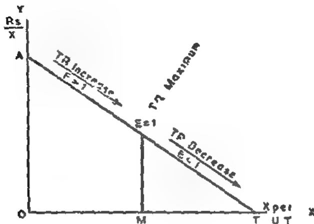
$$\left(\frac{160}{100}=1.6 \quad \frac{180}{100}=1.8\right)$$

(iii) मांग की लोच इकाई से कम (Elasticity of Demand Less than Unity) : यदि वस्तु के मूल्य मे कमी होने से माग मे इस प्रकार वृद्धि हो, जिससे कुल-व्यय पहले की अपेक्षा कम हो जाए, तो ऐसी अवस्था मे माग की लोच इकाई से कम होती है । जैसे तीसरी अवस्था मे मांग बढने पर कुल व्यय 100 रु० से घटकर 96 रु० तथा 81 रु० हो जाता है । यहा पर माग की लोच इकाई से कम है

$$\left(\frac{96}{100}=\cdot 96, \ \frac{81}{100}=\cdot 81\right)$$

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण : यहा पर यह ध्यान मे रखना चाहिए कि खरीददार व्यय करता है । जो कुछ खरीददार व्यय करता है, विक्रेता की वही कुल आय (Total Revenue or T R) है । अत. हम कुल-व्यय या कुल-आय की बात करें, वस्तुतः दानो एक ही हैं । उपर्युक्त विवरण के जो निष्कर्ष हैं, उन्हे रेखाचित्र द्वारा भी प्रदर्शित किया जा सकता है । चित्र संख्या 41 मे माग वक्र इस प्रकार का है जिससे OM=MT. यदि हम बिन्दु A से माग वक्र पर नीचे की ओर चलें तो वहा पर ME रेखा, माग रेखा को स्पर्श करती है अर्थात् बिन्दु E तक, (यद्यपि माग की

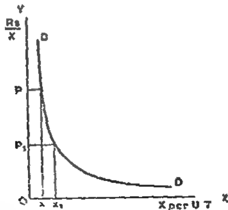
लोच घटती जा रही है) लोच एक से अधिक है अतः इस बिन्दु तक कुल आय (TR) बढ़ती जा रही है। यदि हम इससे भी नीचे की ओर चलें तो लोच घटती जाती है



चित्र स० 41

तथा एक से कम रहती है। अत कुल आय (TR) घटेगी। इसका अर्थ यह हुआ कि जहा पर लोच एक के बराबर है, वहा पर कुल आय अधिकतम है।

ऐसा भी माग वक्र हो सकता है, जिसके प्रत्येक बिन्दु पर, माग की लोच इकाई हो। ऐसी दशा मे कीमत बढाई जाए या घटाई जाए कुल-व्यय (या कुल



चित्र स० 42

आय) समान रहेगा। ऐसा माग वक्र Rectangular hyperbola जैसा हो सकता है। चित्र सख्या 42 मे इस तथ्य को प्रदर्शित किया गया है। चित्र में DD माग वक्र ऐसा माँग वक्र है जिसके प्रत्येक बिन्दु पर लोच इकाई है। चित्र से स्पष्ट है कि OP

कीमत पर OX मात्रा खरीदी जाती है। इस प्रकार कुल आय ऊँचे आयात के बराबर प्राप्त होती है। यदि कीमत घटाकर OP_1 कर दी जाती है, तब OX_1 मात्रा खरीदी जाती है। इस प्रकार जो आयत बनता है, उसका क्षेत्रफल, प्रथम आयत के बिल्कुल बराबर है। इससे यह स्पष्ट है कि कीमत कुछ भी हो, कुल-व्यय वही रहेगा।

3. रेखा गणितीय या बिन्दु रीति (Point or Geometric Method)

माग वक्र दो प्रकार का हो सकता है, सीधी माग रेखा के रूप मे और वक्र (Curve) के रूप मे। इन दोनो दशाओ मे माग की लोच बिन्दु रीति द्वारा ज्ञात की जा सकती है। इसे हम पहले 'माग की बिन्दु-लोच', शीर्षक के अतर्गत समझा चुके है (देखिए पृ० 252–254)

5 माग की लोच को प्रभावित करने वाले तत्व
(Factors Governing Elasticity)

(1) वस्तु की प्रकृति (Nature of the commodity) : सामान्यतया अनिवार्यताओ (Necessaries) की माग की लोच कम होती है तथा विलासिताओ (Luxuries) की माग की लोच अधिक होती है। आराम प्रदान करने वाली वस्तुओ (Comforts) की माग न तो अधिक लोचदार होती है और न लोचहीन। अनिवार्यताओं के बिना मानव जीवन दुष्कर हो जाता है, उनके बिना काम नही चलाया जा सकता। अत उनके मूल्यो मे वृद्धि होने पर भी माग पर विशेष प्रभाव नही पडता। विलासिताओ के मूल्यो मे वृद्धि होने पर उनकी माग बहुत कम हो सकती है क्योकि उनके बिना भी व्यक्ति जीवित रह सकता है तथा अपनी कार्यक्षमता बनाए रख सकता है।

(2) समय (Time) . अल्प काल मे, किसी वस्तु के मूल्य मे परिवर्तन का, उसकी माग पर कम प्रभाव पडता है, क्योकि उपभोक्ताओ को मूल्य परिवर्तन की जानकारी तुरन्त नही हो पाती। भविष्य मे, मूल्य मे और कमी की आशा के कारण भी उपभोक्ता मूल्य मे कमी होने पर माग मे वृद्धि नही करते।

(3) उपभोक्ता की आय (Income) एक निर्धन व्यक्ति की माग अधिकाश वस्तुओ के लिए अधिक लोचदार होती है। इसके विपरीत एक धनी व्यक्ति की माग कम लोचदार होती है। इसके साथ ही साथ यह भी स्मरणीय है कि यदि उपभोक्ता की आय का बहुत कम भाग किसी वस्तु के खरीदने मे व्यय किया जाता है तो उस वस्तु की माग कम लोचदार होती है, इसके विपरीत यदि उपभोक्ता की आय का बडा भाग किसी वस्तु के खरीदने के लिए व्यय किया जाता है तो उस वस्तु की माग अधिक लोचदार होगी।

(4) उपभोक्ता की आदत (Habit) : जिन वस्तुओ के उपयोग करने की

आदत पड जाती है उन वस्तुओ की माग कम लोचदार होती है जैसे शराब पीने वाले व्यक्ति के लिए शराब के मूल्य मे वृद्धि का उसकी माग पर बहुत कम प्रभाव पडेगा ।

(5) स्थानापन्न वस्तुएं (Substitutes) यदि किसी वस्तु की कई स्थानापन्न वस्तुए है तो उस वस्तु की माग लोचदार होगी । जैसे चाय और काफी एक दूसरे की स्थानापन्न हैं । यदि काफी की कीमत बढ जाती है तो चाय द्वारा काम चलाया जा सकता है । इस प्रकार मूल्य बढने पर काफी की माग बहुत कम हो जाएगी ।

(6) वस्तु के विभिन्न उपयोग (Different Uses) यदि कोई वस्तु विभिन्न कार्यो मे लाई जा सकती है तो उसकी माग अधिक लोचदार होगी । जैसे बिजली यदि सस्ती दर पर दी जाने लगे तो उसका विभिन्न कार्यो के लिए उपयोग होने के कारण, बिजली की माग बहुत बढ जाएगी । जिस वस्तु का प्रयोग केवल एक कार्य के लिए किया जाता है उसकी माग कम लोचदार होती है ।

(7) वस्तु के प्रयोग का स्थगन (Postponement of Consumption) : जिन वस्तुओ का प्रयोग भविष्य के लिए स्थगित किया जा सकता है, उनकी माग अधिक लोचदार होती है । जैसे यदि शीतोष्ण जलवायु वाले देश मे ऊनी कपडो का मूल्य बहुत अधिक बढ जाता है तो उनकी माग बहुत कम हो जाएगी, क्योकि लोग सूती कपडे या पुराने ऊनी कपडे से अपना काम चला लेंगे ।

(8) संयुक्त माग (Joint Demand) : यदि किसी वस्तु का उपयोग अन्य वस्तु के साथ किया जाता है तो उस वस्तु की माग की लोच कुछ अंश मे उस अन्य वस्तु की माग की लोच पर निर्भर होगी । एक वस्तु की माग बढने पर उसकी पूरक वस्तु की माग स्वत बढ जाएगी । जैसे मोटरों की माग बढने पर, पैट्रोल की माग स्वत बढ जाएगी । अत एक दूसरे की पूरक वस्तुओ की माग की लोच अधिक होती है ।

(9) समाज मे धन का वितरण (Distribution of Wealth) धन का समान वितरण होने पर वस्तुओ की माग अधिक लोचदार होगी तथा असमान वितरण से मांग की लोच कम होगी । असमान वितरण होने से समाज मे दो वर्ग होंगे-धनी तथा गरीब । धनी व्यक्तियो की माग (विलासिता-सम्बन्धी वस्तुओ की) कम लोचदार होती है; दूसरी ओर गरीब व्यक्ति केवल 'अनिवार्यताओं' को ही खरीदते हैं । अनिवार्यताओ की भी माग बहुत कम लोचदार होती है ।

(10) समाज का जीवन-स्तर (Standard of Living) : समाज का जीवन-स्तर जितना ही ऊंचा होगा वस्तुओ की माग कम लोचदार होगी, क्योंकि उच्च जीवन-स्तर सम्पन्नता का प्रतीक है तथा धनी व्यक्तियों की माग पर मूल्य-परिवर्तन का बहुत कम असर पड़ता है ।

(11) **वस्तुओं का मूल्य (Price-level)** : वस्तुओं का मूल्य बहुत ऊंचा या बहुत कम होने पर भी उनकी माग की लोच कम होती है। परन्तु मूल्य-स्तर का माग की लोच पर प्रभाव 'पूरे समाज की माग' तथा 'वर्ग-विशेष की माग' पर अलग-अलग पड़ता है। (i) **समाज की सामूहिक माग** : समूचे समाज की माग, बहुत ऊंची अथवा कम कीमत वाली वस्तुओं के लिए कम लोचदार होती है, क्योंकि बहुत ऊंची कीमत की वस्तुएं धनी लोग खरीदते है, जो ऊंची कीमत पर भी वस्तुएं खरीदेंगे। इसी प्रकार बहुत कम कीमत वाली वस्तुएं सभी लोग खरीदेंगे। सस्ती वस्तुओं की माग की लोच पर भी मूल्य मे थोड़े परिवर्तन का कम प्रभाव पड़ेगा, (ii) **वर्ग-विशेष की माग** कीमत का समाज के किसी वर्ग विशेष की माग की लोच पर, मार्शल के अनुसार, इस प्रकार प्रभाव पडेगा : "माग की लोच ऊंचे कीमतो पर अधिक होती है, तथा मध्यम कीमतो पर अधिक या काफी अधिक होती है, परन्तु कीमत मे गिरावट के साथ यह (लोच) कम होती जाती है। यदि कीमतें इतनी तेजी से गिरती हैं कि पूर्ण सन्तुष्टि की दशा आ जाए, तब यह (लोच) पूर्णतया समाप्त हो जाती है।"

6. माग की लोच के प्रकार या प्रकृति (Kinds of Elasticity of Demand)

माग की लोच की प्रकृति तीन प्रकार की हो सकती है। (i) माग की कीमत-लोच (Price Elasticity of Demand) (ii) माग की आय लोच (Income Elasticity of Demand) तथा (iii) माग की आडी या तिरछी लोच (Cross Elasticity of Demand)

(1) मांग की मूल्य लोच (Price Elasticity) :

माग की मूल्य लोच के लिए 'माग की लोच' या 'माग की मूल्य लोच' दोनों मे से किसी भी एक शब्द समूह का प्रयोग कर सकते हैं। यदि किसी वस्तु के मूल्य मे परिवर्तन के कारण, उस वस्तु की *मांग घटती या बढती है*, तो माग मे परिवर्तन की सीमा के अनुपात को 'माग की मूल्य लोच' कहते है।

(2) मांग की आय लोच (Income Elasticity) :

किसी वस्तु की 'माग की आय लोच' यह प्रकट करती है कि किसी उपभोक्ता की आय मे परिवर्तन होने पर उसकी माग पर क्या प्रभाव पड़ता है? यदि किसी वस्तु के लिए, 'माग की आय लोच' कम है तो इसका अर्थ होगा कि उपभोक्ता की आय में वृद्धि या कमी का प्रभाव उस वस्तु की माग की मात्रा पर बहुत कम पडेगा। उदाहरणार्थ, आय मे वृद्धि या कमी का प्रभाव उपभोक्ता की खाद्य-सामग्री की माग की मात्रा पर कम पड़ता है। उसकी आय मे कमी हो जाय या वृद्धि हो जाए, आवश्यकतानुसार उसे एक निश्चित मात्रा मे खाद्य-सामग्री खरीदनी पड़ेगी। परन्तु कुछ

वस्तुओं के लिए 'आय लोच' अधिक हो सकती है, जैसे मोटर-कार। आय में परिवर्तन के कारण, मोटर-कार की माग में बहुत अधिक परिवर्तन हो सकता है। इस प्रकार 'आय लोच' यह प्रकट करती है कि अन्य बातें समान रहने पर, उपभोक्ता की आय मे परिवर्तन के फलस्वरूप उपभोक्ता की माग मे क्या परिवर्तन होगा। माग की आय लोच, निम्नलिखित प्रकार ज्ञात की जा सकती है :

$$e_I \text{ या माग की आय लोच} = \frac{\text{वस्तु की माग मे आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{आय में आनुपातिक परिवर्तन}}$$

माग की आय-लोच ज्ञात करने के लिए, निम्नलिखित सूत्र का प्रयोग किया जाता है :

$$e_I = \frac{\dfrac{Q_2 - Q_1}{Q_2 + Q_1}}{\dfrac{Y_2 - Y_1}{Y_2 + Y_1}}$$

इस सूत्र म Y_2 नई आय तथा Y_1 पुरानी आय को प्रकट करते हैं। Q_1 पुरानी मात्रा तथा Q_2 नई मात्रा (वस्तु) का प्रकट करते हैं।

उपर्युक्त सूत्र द्वारा माग की आय लोच ज्ञात की जा सकती है। सूत्र से स्पष्ट है कि यदि किसी वस्तु की माग की आय लोच अधिक होगी तो उपभोक्ता की आय मे आनुपातिक परिवर्तन की तुलना मे वस्तु की माग मे अधिक वृद्धि होती है। जैसे यदि उपभोक्ता की आय में 5% वृद्धि हो तथा इसके फलस्वरूप वस्तु की माग मे 10% वृद्धि हो तो माग की आय लोच $\frac{10}{5} = 2$ होगी, जो यह प्रकट करती है कि माग की आय लोच ऊची है। (यहा यह मान लिया गया है कि वस्तुओं की कीमतें पूर्ववत हैं।) इसी प्रकार यदि उपभोक्ता की आय मे 2% वृद्धि होती है तथा वस्तु की माग मे 1% वृद्धि होती है तो मांग की आय लोच $\frac{1}{2} = \cdot 5$ होगी। अधिकाश वस्तुओं की मांग की आय लोच धनात्मक (Positive) होती है जो यह प्रकट करती है कि आय बढने पर वस्तु की अधिक मात्रा खरीदी जायेगी। जिन वस्तुओं की आय-लोच ऋणात्मक (Negative) होती है उन्हे घटिया वस्तुए (Inferior goods) कहते हैं। मांग की मूल्य लोच की ही तरह माग की आय लोच भी पांच प्रकार की हो सकती है :

(i) माग की शून्य आय लोच (Zero income elasticity of demand) इसका अर्थ यह है कि उपभोक्ता की आय मे वृद्धि हो जाने पर भी वस्तु पर कुल व्यय पहले के समान रहता है अर्थात् यदि उपभोक्ता की मौद्रिक आय मे वृद्धि हो तो भी वस्तु की माग मे कोई वृद्धि नही होती है।

(ii) मांग की ऋणात्मक आय लोच (Negative income elasticity of demand) : यह उस स्थिति को प्रकट करता है जबकि उपभोक्ता की आय में वृद्धि हो जाने पर भी वस्तु पर किये जाने वाले कुल व्यय में कमी होती है अर्थात् यदि उपभोक्ता की मौद्रिक आय मे वृद्धि हो परन्तु वस्तु की मांगी जाने वाली मात्रा में कमी हो जाय। ऐसा घटिया वस्तुओं के सम्बन्ध मे होता है।

(iii) मांग की इकाई आय लोच (Unitary income elasticity of demand) : इसका अर्थ यह है कि उपभोक्ता अपनी आय का जो भाग आय बढने के पहले खर्च करता था, ठीक वही भाग आय बढने के बाद भी खर्च करता है।

(iv) मांग की आय लोच इकाई से अधिक (Income elasticity of demand greater than unity) : यह स्थिति सामान्यतया विलासिता सम्बन्धी वस्तुओं के सम्बन्ध मे लागू होती है। यदि उपभोक्ता की आय मे वृद्धि होने पर वह पहले की अपेक्षा अपनी आय का अधिक प्रतिशत भाग किसी वस्तु पर खर्च करता है तो यह अवस्था मांग की इकाई से अधिक आय लोच ही होगी।

(v) इकाई से कम मांग की आय लोच (Income elasticity of demand less than unity) मांग की आय लोच सामान्यतया अनिवार्य आवश्यकता सम्बन्धी वस्तुओं में इकाई से कम होती है। उपभोक्ता की मौद्रिक आय म वृद्धि होने से यदि वस्तु पर किये जाने वाले व्यय मे कम आनुपातिक वृद्धि हो तो ऐसी अवस्था मे मांग की आय की लोच इकाई से कम होती है। उपभोक्ता पहले अपनी आय का जो प्रतिशत भाग एक वस्तु पर खर्च करता है, आय मे वृद्धि होने पर उस वस्तु पर कम प्रतिशत भाग खर्च करता है।

व्यावहारिक रूप मे मुख्यत तीन प्रकार की मांग की आय लोच का प्रयोग किया जाता है

1. मांग की धनात्मक आय लोच (Positive ei)।
2. मांग की शून्य आय लोच (Zero ei)।
3. मांग की ऋणात्मक आय लोच (Negative ei)।

(3) मांग की तिरछी लोच (Cross Elasticity) :

यदि दो स्थानापन्न (Substitute) वस्तुएं हैं, तो उनकी मांगें परस्पर प्रतिस्पर्धी (Competitive) होंगी। उनकी मांग प्रतिस्पर्धी होने के कारण, यदि एक वस्तु के मूल्य में वृद्धि होती है तो दूसरी वस्तु की मांग बढ जाएगी। एक वस्तु के मूल्य मे परिवर्तन का दूसरी वस्तु के मांग पर जो प्रभाव पड़ता है उसे मांग की तिरछी लोच कहते हैं। उदाहरणार्थ, यदि देशी घी के मूल्य मे 5% वृद्धि होने के

कारण वनस्पति घी की मांग मे 10% वृद्धि होती है तो 'तिरछी लोच' इस प्रकार ज्ञात की जाएगी :

$$\frac{\frac{100}{5}}{\frac{10}{10}}=\frac{100}{5} \times \frac{10}{100}=2$$

अत तिरछी लोच'=2 होगी जो यह प्रकट करती है कि घी के मूल्य में कुछ वृद्धि के कारण वनस्पति घी की माग मे दुगुनी वृद्धि होगी । यदि हम उपरोक्त दो वस्तुओ को क्रमश X व Y मान ले तो तिरछी लोच ज्ञात करने का सूत्र निम्नलिखित होगा .

$$\text{माग की तिरछी लोच}=\frac{\text{X की मांग मे आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{Y की कीमत मे आनुपातिक परिवर्तन}}$$

'माग की तिरछी लोच' ज्ञात करने के लिए निम्नलिखित सूत्र का प्रयोग किया जाता है

$$\text{माग की तिरछी लोच}=\frac{\frac{P_2-Q}{Q_2+Q_1}}{\frac{P_s2-P_s1}{P_s+P_s1}}$$

इस सूत्र मे P_s2 तथा P_s1 स्थानापन्न वस्तु की नई तथा पुरानी कीमतों को प्रकट करते हैं ।

तिरछी-लोच द्वारा स्थानापन्न वस्तुओ की निकटता (Closeness) का पता चलता है । किसी वस्तु की बिक्री, उस वस्तु की स्थानापन्न वस्तुओ की कीमत से भी प्रभावित होती है । यदि स्थानापन्न वस्तु की कीमत कम है तो विचारणीय वस्तु की कम मात्रा बेची जाएगी । यदि माग की तिरछी लोच ऊंची है तो इसका कारण यह है कि वस्तुए एक दूसरे की नजदीकी स्थानापन्न (Close Substitute) हैं । यदि तिरछी-लोच शून्य है तो इसका अर्थ यह है कि वस्तुए स्वतन्त्र हैं तथा स्थानापन्न नही हैं ।

प्रतिस्थापन लोच (Substitution Elasticity)

प्रतिस्थापन लोच, तटस्थता वक्र विश्लेषण से सम्बन्धित है । प्रतिस्थापन-लोच की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है—

दिये हुए मूल्य अनुपात के परिवर्तन के फलस्वरूप एक वस्तु दूसरी वस्तु को जिस सीमा तक प्रतिस्थापित करती है उसे प्रतिस्थापन लोच कहते हैं, यदि उपभोक्ता पहले के समान सतुष्टि प्राप्त करना चाहता है । (Substitution elasticity expresses the extent to which one commodity can be substituted for another as a consequence of a given change in their price ratio, the consumer wants to enjoy the same amount of satisfaction) प्रति-

स्थापन की प्रक्रिया में वस्तुओं के अनुपात में परिवर्तन होता है। इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए वनस्पति घी तथा शुद्ध घी की दरें 8 रुपये तथा 16 रुपये प्रति किलो ग्राम हैं। इन कीमतों पर उपभोक्ता 6 किलोग्राम वनस्पति घी तथा 4 किलो ग्राम शुद्ध घी खरीदता है। इस प्रकार वनस्पति घी तथा शुद्ध घी की खरीदी जाने वाली मात्रा का अनुपात $\frac{6}{4}$ होगा तथा उनका कीमत अनुपात $\frac{8}{16}$ होगा। इस प्रकार वस्तु अनुपात (Commodity ratio) $\frac{3}{2}$ तथा कीमत अनुपात (Price ratio) $\frac{1}{2}$ होगा। मान लीजिए शुद्ध घी की कीमत बढ़कर 24 रुपये प्रति किलोग्राम हो जाती है तथा वनस्पति घी की कीमत में कोई परिवर्तन नहीं होता। कीमत में इस परिवर्तन के कारण उपभोक्ता शुद्ध घी का कम प्रयोग करेगा तथा इस कमी की पूर्ति वह अधिक वनस्पति घी खरीदकर करेगा अर्थात् वह शुद्ध घी को वनस्पति घी से प्रतिस्थापित करेगा। यह प्रतिस्थापन किस सीमा तक होगा यह इस बात पर निर्भर है कि शुद्ध घी को वनस्पति घी द्वारा किस सीमा तक प्रतिस्थापित किया जा सकता है। मान लीजिए वह अब 8 किलोग्राम वनस्पति घी तथा 3 किलो ग्राम शुद्ध घी खरीदता है। अब वनस्पति तथा शुद्ध घी का अनुपात $\frac{8}{3}$ होगा तथा नया मूल्य अनुपात $\frac{8}{24}=\frac{1}{3}$ होगा।

ऐसी दशा में प्रतिस्थापन लोच की माप निम्न सूत्र द्वारा की जायेगी :

$$\text{प्रतिस्थापन लोच} = \frac{X \text{ व } Y \text{ वस्तुओं के संयोग-अनुपात में आनुपातिक परिवर्तन}}{X \text{ व } Y \text{ वस्तुओं के कीमत-अनुपात में आनुपातिक परिवर्तन}}$$

इस सूत्र के अनुसार वनस्पति घी व शुद्ध घी में आनुपातिक परिवर्तन इस प्रकार हुआ है। पहले वनस्पति घी व शुद्ध घी का अनुपात $\frac{3}{2}$ था तथा उनका नया अनुपात $\frac{8}{3}$ है। इस प्रकार इन दोनों में आनुपातिक परिवर्तन का अनुपात $\frac{3}{2}-\frac{8}{3}\div\frac{3}{2}=\frac{7}{9}$ है।

इसी प्रकार पहले का कीमत अनुपात $\frac{1}{2}$ था तथा नया कीमत अनुपात $\frac{1}{3}$ है। इस प्रकार कीमत अनुपात में आनुपातिक परिवर्तन $=\frac{1}{2}-\frac{1}{3}\div\frac{1}{2}=\frac{1}{3}$ होगा। सूत्र के अनुसार प्रतिस्थापन लोच $=-\frac{7}{9}\div\frac{1}{3}=-\frac{7}{9}\times\frac{3}{1}=\frac{7}{3}$ होगा। (लोच सदा सूत्र के अनुसार प्रतिस्थापन लोच का उत्तर ऋणात्मक होता है परन्तु सरलता की दृष्टि से ऋण निशान छोड़ दिया जाता है)।*

मूल्य प्रत्याशा लोच (Elasticity of price Expectations)

मूल्य प्रत्याशा (Price expectations) से माग कितनी प्रभावित होगी, यह बात मूल्य प्रत्याशा लोच पर निर्भर करती है। लोच का यह विचार 1939 में अंग्रेज

---

*'प्रतिस्थापन-लोच' का विचार (Concept) कठिन है। स्नातक कक्षाओं के लिए निर्धारित पाठ्यक्रम में इसे सम्मिलित नहीं किया गया है अतः हमने केवल उदाहरण द्वारा समझाने की चेष्टा की है। गणितीय सूत्र व रेखाचित्र का प्रयोग नहीं किया है।

अर्थशास्त्री हिक्स (J. R. Hicks) ने प्रस्तुत किया। मूल्य प्रत्याशा कई कारणों से प्रभावित होती है, जैसे–राजनैतिक निर्णय, वर्तमान तथा नवीन आर्थिक प्रवृत्तियां, प्रचलित धारणाएं, मूल्यों में परिवर्तन सम्बन्धी अनुभव आदि। हिक्स ने मूल्यानुभव तथा मूल्य प्रत्याशा को एक साथ जोड़ने का प्रयास किया है।

'मूल्य प्रत्याशा लोच' वर्तमान मूल्यों में सापेक्षिक परिवर्तन के साथ अनुमानित मूल्यों में सापेक्षिक परिवर्तन का अनुपात है। उदाहरण के लिए, एक व्यापारी देखता है कि किसी वस्तु के मूल्यों में 10% वृद्धि हुई है और इस आधार पर वह भविष्य में 20% वृद्धि की आशा करता है तो इस दशा में मूल्य प्रत्याशा लोच 2 हुई। आगे की तालिका किसी बाजार में क्रेताओं की मूल्य प्रत्याशा लोच की विभिन्न सीमाएं प्रदर्शित करती है।

अगर मूल्य प्रत्याशा लोच इकाई से ज्यादा है तो मूल्यों में वर्तमान वृद्धि माग वक्र को दाहिनी तरफ स्थानान्तरित कर देगी। माग में वृद्धि इसलिए होगी, क्योंकि क्रेता भविष्य में और अधिक मूल्य देने की अपेक्षा वर्तमान में अधिक वस्तुएं क्रय करना चाहेंगे। अगर मूल्य प्रत्याशा लोच इकाई से कम या नकारात्मक है तो ऐसी अवस्था में माग कम हो जायेगी। अगर मूल्य प्रत्याशा लोच इकाई के बराबर है तो माग समान रहेगी, इसलिए क्रय योजना परिवर्तित करने की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी।

मूल्य प्रत्याशा लोच
(Elasticity of Price Expectatons)
(वर्तमान मूल्य वृद्धि के प्रति क्रेताओं की धारणा)

लोच (elasticity)	गुणांक (Coefficient)[1]	(Remarks)[2]
उच्च (High)	∠1	क्रेता भविष्य में बढ़ते हुए मूल्यों की आशा रखते हैं।
इकाई (Unit)	1	क्रेता वर्तमान वृद्धि को स्थाई मानते हैं।
निम्न (Low)	$<1>0$	क्रेता वर्तमान वृद्धि को अस्थाई मानते हैं।
शून्य (Zero)	0	क्रेताओं का अनुमान है कि वर्तमान वृद्धि भविष्य में मूल्यों पर कोई प्रभाव नहीं रखती।
नकारात्मक (Negative)	<0	क्रेता वर्तमान वृद्धि की अपेक्षा भविष्य में मूल्यों में गिरावट की धारणा रखते हैं।

1 माना कि अनुमानित मूल्य F है और चालू मूल्य C है तो मूल्य प्रत्याशा लोच का गुणांक $\frac{\Delta F}{F} - \frac{\Delta C}{C}$ होगा।

2 यद्यपि विभिन्न क्रेताओं की अलग अलग मूल्य प्रत्याशा लोचें होती हैं। लेकिन उपर्युक्त तालिका इस मान्यता पर आधारित है कि बाजार में सभी क्रेताओं की मूल्य प्रत्याशा लोचें समान हैं।

मांग की लोच का सैद्धान्तिक व व्यावहारिक महत्व

मांग की लोच का विचार अर्थशास्त्र मे सैद्धान्तिक व व्यावहारिक दोनों ही दृष्टिकोणों से महत्वपूर्ण है। इसकी मुख्य उपयोगिताएं निम्नलिखित है .

1. मूल्य निर्धारण मे :- किसी वस्तु का मूल्य उसकी माग व पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियो द्वारा निर्धारित होता है। लकिन किसी वस्तु की पूर्ति मे वृद्धि या कमी पर वस्तु के मूल्य मे कितनी वृद्धि या कमी होगी, यह बात माग की लोच पर निर्भर करती है। यदि वस्तु की माग वलोचदार हुई तो पूर्ति मे वृद्धि या कमी का मूल्य पर अनुपातिक प्रभाव पडेगा। इसी प्रकार एकाधिकार (Monopoly) के अन्तर्गत बेलोचदार माग वाली वस्तुओ के सम्बन्ध मे एकाधिकारी अधिक मूल्य चार्ज करने मे सफल हो जायेगा।

2 सरकारी आर्थिक व वित्तीय नीतियो के लिए माग की लोच का विचार सरकार को आर्थिक व वित्तीय नीतियां निर्धारित करने म सहायता पहुचाता है। वैधानिक मूल्य नियन्त्रण के समय सरकार को माग की लोच के विचार को ध्यान मे रखना पडता है। कर लगाते समय सरकार को यह भी देखना पडता है कि उसका भार समाज के कौन से वर्ग पर पडेगा? अगर बेलोचदार माग वाली वस्तुओ पर कर लगाया गया तो सरकार को इच्छित आय प्राप्त हो जायेगी लेकिन लोचदार माग वाली वस्तुओ की दशा मे ऐसा सम्भव नही है।

3 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे : दो देशो के मध्य व्यापारिक शर्तें निर्धारित करने मे माग की लोच का सिद्धान्त बहुत महत्त्वपूर्ण है। एक देश की वस्तु का दूसरे देश की वस्तुओं के साथ किस दर पर विनिमय किया जायेगा, यह बात दोनों देशों मे उन वस्तुओ की पारस्परिक लोच (Mutual elasticity) पर निर्भर करती है।

4 विनिमय दर के निर्धारण में माग की लोच का विचार सरकार को विनिमय दर क निर्धारण म सहायता पहुचाता है। उदाहरण, के लिए अपनी देश की मुद्रा का अवमूल्यन (Devaluation) और पुनर्मूल्यांकन (Revaluation) करते समय आयात व निर्यात की लोच को ध्यान मे रखना पडता है।

5. उत्पत्ति के साधनो का प्रतिफल निर्धारित करने में : माग की लोच का विचार उत्पत्ति साधनो का प्रतिफल निर्धारित करने के निर्णय को भी प्रभावित करता है। अगर किसी उद्योग विशेष मे श्रम (Labour) की माग बेलोचदार है और स्वय-सचालक (Automation) के लिए कोई क्षेत्र न हो तो ऐसी दशा मे श्रमिक सघ (Trade Unions) अधिक मजदूरी तय कराने मे सफल हो जायेंगे। यही बात अन्य प्रसाधनो के साथ लागू होती है।

6. कीमत विभेद के लिए : दो अलग-अलग बाजारों में एक ही वस्तु के अलग-अलग मूल्य निर्धारित करते समय माग की लोच को ध्यान मे रखना पडेगा। इसी प्रकार राशिपातन के समय यह विचार बहुत सहायक सिद्ध होता है।

7. किसी उद्योग को सार्वजनिक महत्ता (Public utility) वाला उद्योग घोषित करना : कौन से उद्योग को सार्वजनिक सेवा घोषित किया जाए, यह निर्णय लेने मे माग की लोच का विचार सहायक सिद्ध होता है। यदि जीवनोपयोगी वस्तु, जिसकी माग बेलोचदार है, किसी एकाधिकारी के नियन्त्रण मे है तो ऐसी वस्तु के उत्पादन या व्यापार को सरकार को अपने हाथ मे ले लेना चाहिए।

8 माग की लोच का सिद्धान्त सम्पन्नता के मध्य दरिद्रता के विरोधाभास को स्पष्ट करता है। अधिक अच्छी फसल तुलनात्मक रूप मे बुरी फसल की अपेक्षा कृपको को कम द्रव्य प्रदान करती है। नष्ट होने वाली वस्तुओं (Perishable Commodity) के सम्बन्ध मे यह बात अधिक अच्छी तरह स्पष्ट होती है।

इस प्रकार माग की लोच का विचार सैद्धान्तिक व व्यावहारिक दोनो ही दृष्टिकोणों से महत्वपूर्ण है।

नोट—Elasticity of Demand, Total Revenue and Marginal Revenue के सम्बन्ध महत्वपूर्ण हैं। इनके पारस्परिक सम्बन्धो के विषय मे अध्ययन के लिए ? विनिमय के अन्तर्गत 'आगम' शीर्षक अध्याय देखिए।

प्रश्न व संकेत

1 मांग की लोच क्या है ? आप उसे कैसे मापेंगे ? बताइए कि विभिन्न आयो पर मांग की लोच किस प्रकार परिवर्तित होती है ?

(Allahabad, B com. I, 1964)

[संकेत : सर्व प्रथम माग की लोच के अर्थ को स्पष्ट कीजिए। इसके पश्चात् इसके मापने की विभिन्न विधियो की विवेचना कीजिए। अन्त मे माग की लोच पर आय के परिवर्तन के प्रभाव को स्पष्ट कीजिए।]

2. माग की लोच कैसे मापी जाती है ? एकाधिकारी मूल्य निर्धारण में मांग की लोच का महत्व समझाइए।

[संकेत : प्रश्न के दूसरे भाग के उत्तर के लिए 'एकाधिकार' सम्बन्धी अध्याय देखिए।]

3. कीमत लोच (Price elasticity) तथा आय लोच (Income-elasticity) मे अन्तर स्पष्ट कीजिए तथा कीमत लोच को मापने की विभिन्न विधियाँ बताइए। (Bihar, B. A. Hons, 1967 A)

[संकेत : दोनों का अन्तर स्पष्ट करिए तथा लोच मापने की विधियों को समझाइए।]

4. माग की लोच क्या है ? निम्न अंक तालिका की सहायता से तीनों परि-स्थितियों में माग की लोच निकालिए तथा उनमें अंतर क्यों है ? समझाइए।

	प्रति इकाई मूल्य (रुपयों में)	माग की मात्रा (किलो ग्राम में)
परिस्थिति 1	10	30
	8	36
परिस्थिति 2	10	30
	8	35
परिस्थिति 3	10	30
	8	38

(Gorakhpur, B. A I 1966)

[संकेत प्रथम भाग में माग की लोच के आशय को स्पष्ट कीजिए। द्वितीय भाग में माग की लोच को मापने की आनुपातिक रीति की व्याख्या कीजिए। अन्त में तीनों दशाओं में $\frac{q-q_1}{q+q_1} / \frac{P-P_1}{P+P_1}$ के प्रयोग से उत्तर निकालिए।]

5. माग की लोच नापने के विभिन्न तरीकों का विवरण दीजिए। क्या माग वक्र का Steepness' इसकी लोच का सूचक है ? यदि हाँ, तो क्यों ?

(राज०, एम० काम० 1969)

समस्याएँ (Problems)

1 अक्टूबर, 1967 को माउन्ट ट्रान्सपोर्ट कॉर्पोरेशन ने माल भाड़ा किसी निश्चित दूरी के लिए 25 रु० से 30 रु० कर दिया। एक महीने की अवधि में व्यापार की मात्रा (Volume of business) 20,58,000 रुपये से घटकर 19,25,000 रुपये हो गई।

(अ) यह मानते हुए कि व्यापार की मात्रा में सम्पूर्ण गिरावट मूल्य वृद्धि के कारण हुई है–माग की लोच निर्धारित कीजिए।

(ब) यह मान्यता अधिक वास्तविक क्यों नहीं है ?

2. क्या लोचदार वस्तु की दशा में किसी वस्तु पर किया जाने वाला कुल व्यय मूल्य में वृद्धि या कमी से घटता बढ़ता है ? यदि ऐसा है तो क्यों ?

3. किसी वस्तु के मूल्य मे परिवर्तन से उसकी माग की लोच परिवर्तन के तुरन्त बाद की अपेक्षा दीर्घकाल में अधिक क्यो होती है ? स्पष्ट कीजिए ।

4. किन दशाओ में सकरण लोच (Cross elasticity) नकारात्मक, धनात्मक और बहुत अधिक (Very high) होती है ?

5. अगर किसी वस्तु की मूल्य लोच (Price elasticity) कम है तो इसकी आय की लोच (Income elasticity) भी कम होगी । क्यो ?

6. किसी वस्तु के भविष्य मे मूल्य गिरने की धारणा का उस वस्तु की चालू माग पर क्या प्रभाव पडेगा ? विभिन्न प्रकार की लोचो की मान्यता के आधार पर इसे स्पष्ट कीजिए ।

7. एक व्यक्ति जिसकी मासिक आय 1000 रुपये है, एक सप्ताह में 4 किलोग्राम घी खरीदता है । जब उसकी आय 1200 रुपये हो जाती है तो वह 5 किलोग्राम घी प्रति सप्ताह खरीदने लगता है तो आय की लोच क्या होगी ?

8. आम का भाव 2 रुपये से बढ़कर 2 रुपये 50 पैसे प्रति किलोग्राम हो जाने पर एक व्यक्ति अगूर का उपभोग 1 किलोग्राम से बढाकर 1 50 किलोग्राम कर देता है तो बताइए सकरण लोच क्या होगी ?

13

आधुनिक उपयोगिता-विश्लेषण
(Modern Utility Analysis)

"The Modern (Utility) Theory establishes a method of measuring utility under certain conditions, shows the possibility of the increasing marginal utility of money and creates a logical foundation for making certain kinds of rational decisions"

Watson, D. S.

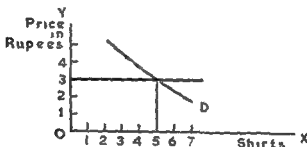
इस अध्याय के प्रथम भाग में हम उपयोगिता विश्लेषण सम्बन्धी कुछ समस्याओं जैसे उपभोक्ता की साम्य अवस्था अन्तर्वैयक्तिक उपयोगिता की तुलना, आय का वितरण तथा कल्याण और उर्द्धगामी कर व उपयोगिता पर प्रकाश डालेंगे। इससे उपयोगिता की धारणा की व्यावहारिकता स्पष्ट होगी। यह सब विवरण नव प्रतिष्ठात्मक उपयोगिता विश्लेषण (Neo-classical Utility Analysis) पर आधारित है।

द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् 'उपयोगिता' के सम्बन्ध में कुछ नए विचार प्रकट किए गए हैं। ये विचार स्नातक कक्षा के विद्यार्थियों के लिए कठिन हैं। फिर भी हमने उन विचारों का सार इस अध्याय में समझाने का प्रयत्न किया है।

उपभोक्ता की साम्य अवस्था
(Equilibrium of the Consumer)

जब उपभोक्ता किसी वस्तु की विभिन्न मात्राओं का उपभोग करता है तो उसे क्रमशः घटती हुई उपयोगिता प्राप्त होती है (उपयोगिता ह्रास नियम के अनुसार) उसके लिए मुद्रा की प्रत्येक इकाई की उपयोगिता उसकी कुल मौद्रिक आय पर निर्भर है। अतः वस्तु की इकाइयों की उपयोगिता को मुद्रा द्वारा नापा जा सकता है तथा वस्तु की एक इकाई, दो इकाइयों, तीन इकाइयों आदि के महत्व को मुद्रा के सदर्भ में प्रकट किया जा सकता है। इसके आधार पर किसी वस्तु के लिए

उपभोक्ता का माग वक्र जाना जा सकता है। (इसे समझने के लिए विद्यार्थी माग वक्र तथा माग के नियम के अध्ययन के लिए माग शीर्षक अध्याय को देखें) माग के विषय मे अध्ययन करने से यह ज्ञात होगा कि माग वक्र का ढाल नीचे की ओर झुकता हुआ होता है। घटती हुई उपयोगिता माग रेखा के झुकने का प्रमुख कारण है। बाजार माग व्यक्तिगत मागो का योग होती है। यदि कीमते बढती है तो कुछ उपभोक्ता वस्तु नही खरीदते क्योकि ऊची कीमतें उनकी व्यक्तिगत माग रेखा के ऊपर होती हैं। कम कीमतो पर उपभोक्ता वस्तु की अधिक मात्रा खरीदते हैं। इसके दो कारण हैं 1. उपभोक्ता उपयोगिता ह्रास नियम के कारण कम कीमतो पर अधिक मात्रा खरीदता है। 2 कीमत कम होने से नये क्रता भी खरीद करने लगते हैं जो अपनी रुचि या आय के कारण ऊँची कीमत पर वस्तु को खरीदने के लिए तैयार



चित्र स० 43

नही थे। इस प्रकार माग का नियम उपयोगिता ह्रास नियम तथा उपभोक्ताओ की रुचि तथा आय के अन्तर पर आधारित है। चित्र सख्या 43 मे उपभोक्ता की माग-रेखा कमीजो के लिए दिखाई गई है। कमीज की कीमत 3 रुपये हैं। 3 रुपये के बिन्दु स जो रेखा आधार रेखा के समानान्तर खीची गई है वह यह बतलाती है कि उपभोक्ता के लिए कीमत समान है चाहे वह कमीज की कितनी ही मात्रा खरीदे। उपभोक्ता पाँच कमीजें खरीदता है। यदि वह छ कमीजें खरीदेगा तो छठी कमीज की उपयोगिता उसके लिए दी गई कीमत से कम होगी अर्थात् छठी कमीज की लागत उससे प्राप्त होने वाली उपयोगिता से अधिक होगी। अतः वह छटवी कमीज न खरीद कर किसी अधिक उपयोगिता वाली वस्तु को खरीदेगा। इसके विपरीत यदि वह केवल चार कमीजें खरीदता है तो वह पाँचवी ऐसी कमीज के उपयोग के अवसर से वचित रह जायेगा जिसकी उपयोगिता उसकी कीमत के बराबर है।

उपभोक्ता उस समय साम्य की अवस्था मे होगा जबकि वह वस्तु की वह मात्रा खरीदेगा जिसकी सीमान्त उपयोगिता कीमत के रूप मे दिये गये रुपये की

उपयोगिता के बराबर होगी। उपभोक्ता के साम्य के लिए यह आवश्यक है कि वस्तु की उपयोगिता घटती रहे क्योंकि यदि यह मान लिया जाए कि सीमान्त उपयोगिता बढ़ रही है (ऐसा असाधारण स्थिति मे ही सकता है) तो भी उपयोगिता कीमत के बराबर होगी। यदि सीमान्त उपयोगिता = कीमत ($MU = P$) है तथा सीमान्त उपयोगिता (MU) बढ रही है तो उपभोक्ता साम्य की अवस्था मे नही पहुंचेगा क्योंकि वह वस्तु की अधिक मात्रा खरीदना चाहेगा।

हम यह पढ चुके हैं कि साम्य बिन्दु विरोधी शक्तियों का सतुलन बिन्दु होता है। यहाँ पर उपभोक्ता की शक्ति उसकी इच्छा है जो आय द्वारा सीमित होती है। दूसरी विरोधी शक्ति कीमत है जो वस्तु की उपलब्धता की दशा को प्रकट करती है। यदि कीमत बढती है तो उपभोक्ता कम खरीदता है। यदि कीमत घटती है तो वह अधिक खरीदता है। यदि उसकी इच्छा तीव्र होती है तो वह ज्यादा खरीदता है। यदि उसकी इच्छा तीव्र नही होती है तो वह कम खरीदता है। यदि कीमत तथा इच्छा दोनों मे परिवर्तन होता है तो नया साम्य बिन्दु इन दोनो शक्तियो को प्रकट करता है।

उपभोक्ता के साम्य का दूसरा पहलू भी है, जब वह वस्तु की साम्य मात्रा खरीदता है तो उसे प्राप्त होने वाली उपयोगिता या सन्तुष्टि अधिकतम होती है। 'अधिकतम' (Maximisation) वर्तमान परिस्थितियो मे अधिकतम सतुष्टि का प्रतीक है।

अन्तर्व्यक्ति उपयोगिता की तुलना
(Inter Personal Comparisons of Utility)

क्या एक वस्तु से दो व्यक्तियो को मिलने वाली उपयोगिताओ की तुलना की जा सकती है ? मान लीजिए राम तथा मोहन दोनो की आय समान है, वे एक ही प्रकार का कार्य करते हैं तथा एक सी ही परिस्थितियो मे रहते है। क्या यह कहना ठीक होगा कि 100 रुपया व्यय करने से या फुटबाल खेलने से या कोई अन्य कार्य करने से दोनों को समान आनन्द प्राप्त होगा ? कोई भी व्यक्ति राम और मोहन के आनन्द की तुलना नही कर सकता। इस प्रकार किसी वस्तु से विभिन्न व्यक्तियो को प्राप्त होने वाली उपयोगिताओ की तुलना नही की जा सकती। इस प्रकार उपयोगिताओ को जोड़ा नही जा सकता तथा किसी वस्तु की विभिन्न इकाइयो से प्राप्त कुल उपयोगिताओ को ज्ञात नही किया जा सकता।

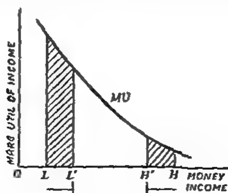
उपर्युक्त तर्क अकाट्य प्रतीत होता है। परन्तु इसे सही मान लेने पर हमे बहुत सी आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक समस्या के विषय मे मौन रहना पड़ेगा। इन समस्याओ के सम्बन्ध मे हम विचार भी नही कर सकते जब तक कि हम यह

मानकर न चलें कि समाज के व्यक्ति लगभग एक ही प्रकार के हैं तथा उपभोग से उन्हे लगभग समान संतुष्टि मिलती है। यह सही है कि विभिन्न व्यक्तियो को किसी वस्तु से प्राप्त होने वाली उपयोगिताओ की पूर्ण रूप से सही तुलना नही की जा सकती। परन्तु यह हमे स्वीकार करना पडेगा कि इस तरह की तुलना पूर्ण रूप से सही नही होते हुए भी लगभग सही होगी। यह उसी प्रकार सत्य है जिस प्रकार सभी व्यक्तियो के शारीरिक अंग एक प्रकार के होते हैं, परन्तु फिर भी एक व्यक्ति दूसरे से भिन्न होता है।

आय का पुनः वितरण तथा कल्याण
(Redistribution of Income and welfare)

प्रायः सभी देशो मे सरकार आयकर द्वारा आय प्राप्त करती हैं। कर की दरें आय की मात्रा के अनुसार ऊँची होती जाती हैं। इस प्रकार सरकार धनी नागरिको से कर के रूप मे आय प्राप्त कर, सामाजिक सेवाओ पर व्यय करती है। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से अधिक आय वाले लोगो की आय कम आय वाले (निर्धन) लोगो को हस्तातरित की जाती है। प्रश्न है, क्या धनी-व्यक्तियो की आय को निर्धन-व्यक्तियो के पास हस्तातरित कर देश के आर्थिक-कल्याण मे वृद्धि की जा सकती है?

मान लीजिये (i) आय का हस्तान्तरण उत्पादन की प्रेरणा को प्रभावित नही करता। यदि उपभोग से प्राप्त सतुष्टि, आर्थिक–कल्याण का प्रतीक है तो ऐसी दशा मे हस्तान्तरण का आर्थिक-कल्याण पर क्या प्रभाव पडेगा। (ii) यह भी मान लीजिये कि सभी व्यक्ति उपभोग-वस्तुओ तथा सेवाओ से आनन्द प्राप्त करने की



चित्र स० 44

समान क्षमता रखते है। इस मान्यता का परिणाम यह होगा कि हम प्रत्येक-व्यक्ति के लिए ही आय का एक ही ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता वक्र खीच सकते हैं। चित्र

सख्या 44 मे MU ऐसा ही वक्र है। OL गरीब व्यक्ति की तथा OH धनी व्यक्ति की आय है। मान लीजिए हम धनी व्यक्ति की आय HH' के बराबर कम करके, उसे गरीब व्यक्ति को हस्तान्तरित कर देते है, इस प्रकार गरीब व्यक्ति की आय OL' तथा धनी व्यक्ति की आय OH' हो जायगी। इस प्रकार धनी व्यक्ति की आय HH' के बराबर घट जाती है और गरीब व्यक्ति की आय LL' के बराबर बढ जाती है। इसके फलस्वरूप गरीब व्यक्ति की कुल उपयोगिता चित्र म दिखाये गये LL' के ऊपर के छायादार भाग से बढ जायेगी तथा धनी व्यक्ति को प्राप्त होने वाली उपयोगिता HH' के ऊपर दिखाये गये छायादार भाग से कम हो जायेगी। इसी आधार पर कुछ अर्थशास्त्रियो ने आय के पुनर्वितरण का समर्थन किया है।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या यह निष्कर्ष सही है ? अधिकाश अर्थ-शास्त्रियो का उत्तर होगा 'नही'। अगर हम उपयोगिता की व्यक्तिगत तुलना कर सकें तो भी लोगो की रुचि आदि मे विभिन्नता के कारण उनके आय-वक्रो की स्थिति अलग-अलग होगी। इस प्रकार यह विषय विवादग्रस्त है, परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि धनी व्यक्ति के लिए, गरीब व्यक्ति की तुलना मे मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता कम होती है, अत धनी व्यक्तियो की आय का हस्तान्तरण यदि गरीब व्यक्तियो को किया जाए तो निश्चय ही गरीब व्यक्तियों को अधिक उपयोगिता प्राप्त होगी, इस प्रकार राष्ट्र के आर्थिक कल्याण मे वृद्धि होगी।

ऊर्द्धगामी आय-कर (Progressive Income Taxation) : ऊर्द्धगामी आय कर भी विवादग्रस्त है। इस प्रकार के कर को उचित मानने का कारण यह है कि इसके द्वारा सरकार को अधिक आय प्राप्त होती है, आर्थिक विषमता म कमी की जा सकती है तथा इसका कर भार न्यायपूर्ण होता है। प्रश्न है क्या ऊर्द्धगामी आय-कर समानता (equity) की दृष्टि से उचित है ? क्या सभी प्रकार के करो मे इस प्रकार का कर अधिक न्यायपूर्ण है ? इस कर की उपयोगिता तथा सीमान्त उपयो-गिता से क्या सम्बन्ध है ?

समानता (equity) का अभिप्राय यह है कि व्यक्तियो पर कर उनकी कर-दान क्षमता (ability to pay) के अनुसार लगाया जाय। व्यक्ति की करदान क्षमता उसकी आय पर निर्भर है। उपयोगिता सिद्धान्त के विकास के साथ ही साथ 19वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध म यह माना जाने लगा कि प्रत्येक करदाता को, आय में से कर का भुगतान करते समय समान रूप से त्याग (equal sacrifices) करना चाहिए। इसका अर्थ समान कर की राशि का भुगतान नही है बल्कि समान त्याग का अभिप्राय यह है कि करदाताओ को समान रूप से उपयोगिता का त्याग करना पडे। परन्तु समान त्याग (equal sacrifice) का भी तीन अर्थों मे प्रयोग किया जाता है

1. समान सीमान्त त्याग (equal marginal sacrifice) : इसका अर्थ यह है कि कर के रूप में प्रत्येक करदाता जो कर अदा करता है उसके अन्तिम रुपये के रूप में किया गया त्याग सबके लिए समान हो। यदि सीमान्त त्याग बराबर है तो सभी करदाताओं का सम्मिलित रूप से कुल त्याग न्यूनतम होगा। यहाँ पर सम-सीमान्त नियम (Equi Marginal Principle) का प्रयोग किया जाता है। परन्तु सीमान्त त्याग उसी समय बराबर हो सकता है जबकि कर के भुगतान के पश्चात् सभी करदाताओं की आय समान शेष बचे (यह मान लिया जाय कि सभी व्यक्तियों की आय की सीमान्त उपयोगिता समान है।)

2 समान कुल त्याग (Equal absolute sacrifice) . इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक करदाता द्वारा कर के रूप में जो कुल उपयोगिता का त्याग किया जाता है, वह समान है। इस प्रकार गरीब व्यक्ति उतनी ही कुल उपयोगिता का त्याग करता है जितना कि धनी व्यक्ति करता है।

3 समान आनुपातिक त्याग (Equal proportional sacrifice) : इसका अभिप्राय यह है कि गरीब तथा धनी व्यक्तियों को जो कुल उपयोगिता उनकी आय से प्राप्त होती है वे कुल उपयोगिता का समान प्रतिशत भाग का त्याग करें। प्रश्न है : क्या समान कुल त्याग तथा समान आनुपातिक त्याग के आधार पर यह कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत आय पर ऊर्द्धगामी दर से कर लगाया जाय ? इस प्रश्न का उत्तर इस बात पर निर्भर है कि आय की सीमान्त उपयोगिता कितनी तेजी से घटती है ? परन्तु सीमान्त उपयोगिता की घटने की गति का जानना कठिन है। अतः उपयोगिता सिद्धान्त के आधार पर इस सम्बन्ध में निश्चित मत देना कठिन है।

स्वीडन के प्रसिद्ध गणितज्ञ डेनियल बर्नोली (Danial Barnoulli, 1700–1782) ने यह विचार व्यक्त किया था कि एक न्यूनतम सीमा तक आय प्राप्त करने के पश्चात् आय की सीमान्त उपयोगिता आय में वृद्धि के अनुपात में घटती जाती है। (After some minimum income is attained the marginal utility of income declines by a rate equal to the relative (i e percentage) increase in income) चित्र संख्या 45 में आय की घटती हुई सीमान्त उपयोगिता A रेखा की भाँति है जिसके प्रत्येक बिन्दु पर आय की लोच इकाई के बराबर है। मान लीजिये एक व्यक्ति की आय 10000 रुपये है तथा वह 2000 रुपया कर देता है। दूसरे व्यक्ति की आय 5000 रुपये है वह 1000 रुपये कर देता है। दोनों ही अवस्थाओं में त्याग समान है क्योंकि 10000 रुपये की सीमान्त उपयोगिता, 5000 रुपये की सीमान्त उपयोगिता की आधी है अर्थात् $2000 \times \frac{1}{2} = 1000$, यदि आय की सीमान्त उपयोगिता बर्नोली (Bernoulli) की मान्यता की अपेक्षा अधिक तेजी से गिरती है तभी यह कहा जा सकता है कि ऊर्द्धगामी दर तथा-

संख्या 44 मे MU ऐसा ही वक्र है। OL गरीब व्यक्ति की तथा OH धनी व्यक्ति की आय है। मान लीजिए हम धनी व्यक्ति की आय HH' के बराबर कम करके, उसे गरीब व्यक्ति को हस्तान्तरित कर देते है, इस प्रकार गरीब व्यक्ति की आय OL' तथा धनी व्यक्ति की आय OH' हो जायगी। इस प्रकार धनी व्यक्ति की आय HH' के बराबर घट जाती है और गरीब व्यक्ति की आय LL' के बराबर बढ जाती है। इसके फलस्वरूप गरीब व्यक्ति की कुल उपयोगिता चित्र मे दिखाये गये LL' के ऊपर के छायादार भाग से बढ जायेगी तथा धनी व्यक्ति को प्राप्त होने वाली उपयोगिता HH' के ऊपर दिखाय गये छायादार भाग से कम हो जायेगी। इसी आधार पर कुछ अर्थशास्त्रियो ने आय के पुनर्वितरण का समर्थन किया है।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या यह निष्कर्ष सही है ? अधिकाश अर्थशास्त्रियो का उत्तर होगा 'नहीं'। अगर हम उपयोगिता की व्यक्तिगत तुलना कर सकें तो भी लोगो की रुचि आदि म विभिन्नता के कारण उनके आय-वक्रो की स्थिति अलग-अलग होगी। इस प्रकार यह विषय विवादग्रस्त है, परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि धनी व्यक्ति के लिए, गरीब व्यक्ति की तुलना म मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता कम होती है, अत. धनी व्यक्तियो की आय का हस्तान्तरण यदि गरीब व्यक्तियो को किया जाए तो निश्चय ही गरीब व्यक्तियों को अधिक उपयोगिता प्राप्त होगी, इस प्रकार राष्ट्र के आर्थिक कल्याण मे वृद्धि होगी।

ऊर्द्धगामी आय-कर (Progressive Income Taxation) : ऊर्द्धगामी आय कर भी विवादग्रस्त है। इस प्रकार के कर को उचित मानने का कारण यह है कि इसके द्वारा सरकार को अधिक आय प्राप्त होती है, आर्थिक विषमता मे कमी की जा सकती है तथा इसका कर भार न्यायपूर्ण होता है। प्रश्न है क्या ऊर्द्धगामी आय-कर समानता (equity) की दृष्टि से उचित है ? क्या सभी प्रकार के करो से इस प्रकार का कर अधिक न्यायपूर्ण है ? इस कर की उपयोगिता तथा सीमान्त उपयोगिता से क्या सम्बन्ध है ?

समानता (equity) का अभिप्राय यह है कि व्यक्तियो पर कर उनकी करदान क्षमता (ability to pay) के अनुसार लगाया जाय। व्यक्ति की करदान क्षमता उसकी आय पर निर्भर है। उपयोगिता सिद्धान्त के विकास के साथ ही साथ 19वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे यह माना जाने लगा कि प्रत्येक करदाता को, आय मे से कर का भुगतान करते समय समान रूप से त्याग (equal sacrifices) करना चाहिए। इसका अर्थ समान कर की राशि का भुगतान नही है बल्कि समान त्याग का अभिप्राय यह है कि करदाताओ को समान रूप से उपयोगिता का त्याग करना पडे। परन्तु समान त्याग (equal sacrifice) का भी तीन अर्थों मे प्रयोग किया जाता है

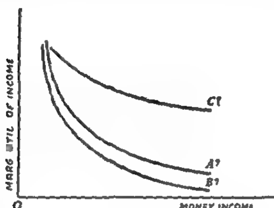
1. समान सीमान्त त्याग (equal marginal sacrifice) : इसका अर्थ यह है कि कर के रूप में प्रत्येक करदाता जो कर अदा करता है उसके अन्तिम रुपये के रूप में किया गया त्याग सबके लिए समान हो। यदि सीमान्त त्याग बराबर है तो सभी करदाताओं का सम्मिलित रूप से कुल त्याग न्यूनतम होगा। यहां पर सम-सीमान्त नियम (Equi-Marginal Principle) का प्रयोग किया जाता है। परन्तु सीमान्त त्याग उसी समय बराबर हो सकता है जबकि कर के भुगतान के पश्चात् सभी करदाताओं की आय समान शेष बचे (यह मान लिया जाय कि सभी व्यक्तियों की आय की सीमान्त उपयोगिता समान है।)

2. समान कुल त्याग (Equal absolute sacrifice) : इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक करदाता द्वारा कर के रूप में जो कुल उपयोगिता का त्याग किया जाता है, वह समान है। इस प्रकार गरीब व्यक्ति उतनी ही कुल उपयोगिता का त्याग करता है जितना कि धनी व्यक्ति करता है।

3. समान आनुपातिक त्याग (Equal proportional sacrifice) : इसका अभिप्राय यह है कि गरीब तथा धनी व्यक्तियों को जो कुल उपयोगिता उनकी आय से प्राप्त होती है वे कुल उपयोगिता का समान प्रतिशत भाग का त्याग करें। प्रश्न है : क्या समान कुल त्याग तथा समान आनुपातिक त्याग के आधार पर यह कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत आय पर ऊर्ध्वगामी दर से कर लगाया जाय ? इस प्रश्न का उत्तर इस बात पर निर्भर है कि आय की सीमान्त उपयोगिता कितनी तेजी से घटती है ? परन्तु सीमान्त उपयोगिता की घटने की गति का जानना कठिन है। अतः उपयोगिता सिद्धान्त के आधार पर इस सम्बन्ध में निश्चित मत देना कठिन है।

स्वीडन के प्रसिद्ध गणितज्ञ डेनियल बर्नोली (Danial Barnoulli, 1700–1782) ने यह विचार व्यक्त किया था कि एक न्यूनतम सीमा तक आय प्राप्त करने के पश्चात् आय की सीमान्त उपयोगिता आय में वृद्धि के अनुपात में घटती जाती है। (After some minimum income is attained the marginal utility of income declines by a rate equal to the relative (i. = percentage) increase in income) चित्र संख्या 45 में आय की घटती हुई सीमान्त उपयोगिता A रेखा की भांति है जिसके प्रत्येक बिन्दु पर भाग की सोच इकाई के बराबर है। मान लीजिये एक व्यक्ति की आय 10000 रुपये है तथा वह 2000 रुपया कर देता है। दूसरे व्यक्ति की आय 5000 रुपये है वह 1000 रुपये कर देना है। दोनों ही अवस्थाओं में त्याग समान है क्योंकि 10000 रुपये की सीमान्त उपयोगिता, 5000 रुपये की सीमान्त उपयोगिता की आधी है अर्थात् $2000 \times \frac{1}{2} =$ 1000, यदि आय की सीमान्त उपयोगिता बर्नोली (Bernoulli) की मान्यता की अपेक्षा अधिक तेजी से गिरती है तभी यह कहा जा सकता है कि ऊर्ध्वगामी कर समा-

नता की दृष्टि से उचित है। इसके लिए चित्र मे दी हुई रेखा B की भांति होनी चाहिए। तेज गति से गिरने से, 10000 रुपये की सीमान्त उपयोगिता 5000 रुपये की सीमान्त उपयोगिता से कम होगी। अतः ऐसी दशा मे कर की मात्रा 2000 रुपये से अधिक होने पर ही, 5000 रुपये पर दिये जाने वाले 1000 रुपये के त्याग के



चित्र स० 45

समान होगी। यदि सीमान्त उपयोगिता उस प्रकार घटती है जैसाकि C_1 रेखा से प्रकट है तो ऐसी दशा मे समानता के सिद्धान्त के आधार पर व्यक्तिगत आय पर ऊर्द्धगामी कर (Progressive Tax) नही लगेगा बल्कि प्रतिगामी कर (Regressive Tax) लगाना उचित होगा। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि ऊर्द्धगामी आयकर समान त्याग के सिद्धान्त की दृष्टि से उपयुक्त नही है।

आधुनिक उपयोगिता सिद्धान्त
(Modern Utility Theory)

पिछले अध्यायो मे हमने उपयोगिता के विभिन्न पहलुओ तथा उससे सम्बन्धित नियमो पर प्रकाश डाला। उपयोगिता की धारणा (concept) एक विवादग्रस्त विषय रहा है तथा समय-समय पर, विभिन्न अर्थशास्त्रियो ने विभिन्न दृष्टिकोणो से इस पर प्रकाश डाला है। इस धारणा को विकासक्रम के अनुसार, निम्नलिखित अवस्थाओ मे बाटा जा सकता है—

(i) मार्शल का सीमात उपयोगिता सिद्धान्त (The Marshallian Marginal-utility Theory)

(ii) हिक्स का उदासीनता वक्र सिद्धान्त (Hicksian Indifference-curve Theory)

(iii) सैम्युएलसन का प्रकट अधिमान सिद्धान्त (Samuelson's Revealed Preference Theory)

(iv) न्यूमैन-मार्गेन्सटर्न का सांख्यिकीय उपयोगिता सिद्धान्त (Neumann-Morgenstern Statistical utility Theory)

(v) आर्मस्ट्राग का सीमान्त अधिमान सिद्धान्त (Armstrong's Marginal Preference Theory)

उपर्युक्त में से हम प्रथम दो का अध्ययन कर चुके हैं। मार्शल का उपयोगिता विश्लेषण दो मान्यताओं पर आधारित है : (i) उपयोगिता को माप जा सकता है तथा इसकी माप का गणनावाचक संख्याओं 1, 2, 3 आदि द्वारा व्यक्त किया जा सकता है (ii) मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता अपरिवर्तित (Constant) रहती है। उदासीनता वक्र विश्लेषण इन सन्देहपूर्ण मान्यताओं को परित्याग कर, नये ढंग से उपयोगिता का विश्लेषण करता है। अब हम उपयोगिता विश्लेषण के क्षेत्र मे आधुनिक मतों पर विचार करेंगे।

आधुनिक उपयोगिता सिद्धात का विकास द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् हुआ परन्तु आधुनिक उपयोगिता सिद्धात को (Bernoullian utility Theory) कहते हैं क्योंकि इसका प्रारम्भ स्विटजरलैंड के गणितज्ञ डेनियल बर्नोली (Danial Bernoulli)–1700–1782) ने किया था। आधुनिक उपयोगिता सिद्धात की तीन मुख्य विशेषताएं हैं— (i) आधुनिक उपयोगिता का सिद्धात कुछ परिस्थितियों मे उपयोगिता की माप की विधि पर प्रकाश डालता है (ii) मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता के बढने की सम्भावना को दिखलाता है तथा (iii) कुछ प्रकार के विवेकपूर्ण निर्णयो के लिए तार्किक आधार प्रस्तुत करता है।

सेन्ट पीटर्स बर्ग पैराडॉक्स (St. Petersburg Paradox) बर्नोली के सामने एक समस्या आई जिसे उपर्युक्त नाम दिया गया है। समस्या यह थी कि मनुष्य किसी जुआ या सट्टे मे $\frac{1}{2}$ सम्भावना पर ही क्यो जोर देता है जबकि कुछ अवस्थाओं मे उसके जीतने की सम्भावना $\frac{1}{2}$ से अधिक होती है ? बर्नोली ने इस सम्बन्ध से जो कुछ कहा उसका अभिप्राय यह था कि मौद्रिक आय मे वृद्धि के साथ ही साथ मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है। यदि किसी व्यक्ति के पास 1000 रुपया है तथा वह किसी शर्त (Bet) पर 100 रुपये हारने या जीतने की बाजी लगाता है तो इसे हम विवेकपूर्ण निर्णय नहीं कह सकते क्योंकि यदि वह जीतता है तो उसके पास 1100 रु० हो जायेंगे। अर्थात् उसकी उपयोगिता 100 से बढ जायेगी। यदि वह हारता है तो उसके पास 900 रुपये रह जायेंगे अर्थात् 100 रुपये के बराबर उपयोगिता की हानि उठानी पडेगी। ह्रासमान सीमात उपयोगिता का यह अर्थ है कि हानि की अपेक्षा लाभ की उपयोगिता कम होती है। (Diminishing marginal utility means that the gain of utility is smaller than the loss even through the amounts of money are equal) इस तथ्य का स्पष्टीकरण चित्र सख्या 46 मे किया गया है।

उपयोगिता माप की सम्भावनाओं की शुरुआत कर न्यूमैन मार्गेनस्टर्न ने पुराने सख्यात्मक उपयोगिता विश्लेषण के सिद्धांत को बल प्रदान किया है।

(v) आमस्ट्राग का सीमान्त अधिमान सिद्धान्त
(Armstrong Marginal Preference Theory)

W B Armstrong विचार की दृष्टि से मार्शल की ही भांति सख्यावाचक उपयोगितावादी हैं। उन्होंने सख्यावाद (cardinalism) को पुन स्थापित करने का प्रयत्न किया है। उनका सिद्धांत दो अन्तर्निभर विचारो पर आधारित हैं। ये विचार है, (i) अनिश्चितता (uncertainty) तथा (ii) उदासीनता (Indifference)। हम पहले देख चुके है कि न्यूमैन मार्गेनस्टर्न का सिद्धांत दो मान्यताओ पर आधारित है— (i) उपभोक्ता अपने चुनाव का उद्देश्य 'निश्चित आशा (Sure Prospects) नहीं मानता। उद्देश्य की प्रकृति निश्चित होती है परन्तु उद्देश्य की प्राप्ति किस प्रकार की जाए इसके विषय मे उपभोक्ता निश्चित नही होता (ii) दूसरी मान्यता यह है कि उपभोक्ता दो स्पष्ट उद्देश्यो के बीच साफ तरीके से भेद (Discrimination) नहीं कर पाता।

हिक्स की भांति आमस्ट्राग ने भी उदासीनता वक्रो की ही सहायता ली है जो इस मान्यता पर आधारित है कि उपभोक्ता दो अवस्थाओ म भेद करने मे सफल नही होता। परन्तु हिक्स के विपरीत आर्मस्ट्राग की उदासीनता या अधिमान (Preference) एक से दूसरे को हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता, जैसे उपभोक्ता X और Y या Z के बीच भेद नही कर सकता, यद्यपि X और Z का अन्तर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार आर्मस्ट्राग ने अनिश्चितता' तथा 'उदासीनता' के सम्बन्ध में अपनी परिभाषाए दी हैं। उनके अनुसार उदासीनता का उदय कई प्रकार स हो सकता है—(i) क्षतिपूर्ति क सिद्धान्त द्वारा अर्थात् एक दिशा म हुई हानि की पूर्ति दूसरी दशा मे हुए लाभ द्वारा की जा सकती है। (Principles of Compensation) या (ii) निकटतम सम्बन्धी विचार (idea of approximation) अर्थात् उपभोक्ता के सामने दो अवस्थाए समान होती हैं परन्तु वह उनमे भेद करने म समर्थ नहीं होता है अत उनके सम्बन्ध मे उदासीन या तटस्थ रहता है। आर्मस्ट्राग का उदासीनता का विचार निकटतमता (approximation) पर आधारित है जबकि हिक्स का विचार क्षतिपूर्ति सिद्धांत पर आधारित है। यह स्पष्ट है कि (i) किसी वस्तु के पक्ष तथा विपक्ष का परिणाम है तथा (ii) का उदय दो वस्तुओ म उपभोक्ता द्वारा अन्तर न देख सकने का परिणाम है। हिक्स का विचार प्रतिस्थापन पर आधारित है जबकि आर्मस्ट्राग का विचार अधिमान पर आधारित है।

आर्मस्ट्राग ने अधिमान गहनता (Preference intensity) के सिद्धात का प्रतिपादन किया। यह गहनता उच्चतम व निम्नतम हो सकती है। आमस्ट्राग के

अनुसार अधिमान सीमान उस समय होता है जबकि उपभोक्ता इसका पता लगाने मे समर्थ हो। ऐसा उस समय होता है जबकि उपभोक्ता स्पष्ट रूप से महसूस करता हो कि वह दो वस्तुओं म मे किसको प्राथमिकता देगा ? यह भी सम्भव है कि उपभोक्ता स्पष्ट रूप से इस निर्णय पर न पहुँच सके। इस दशा मे वह उदासीनता की स्थिति में होगा। इस प्रकार आर्मस्ट्रान के सिद्धात म उदासीनता दो स्थितियों में निकटतम समानता में पैदा होती है। उदासीनता का यह सम्बन्ध दो अन्य बिन्दुओं के बीच लागू नही होगा।

फ्रिडमैन-सैवेज की परिकल्पना

(The Friedman – Savage Hypothesis)

क्या मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता हमेशा घटती है ? यदि घटती है तो व्यक्ति जुआ क्यो खेलता है ? इतना ही नहीं, कुछ व्यक्ति अधिक खतरा (Risk लेने के लिए क्यो तैयार होते हैं ? यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति जुआ आनन्द के लिए खेलता है। परन्तु यह उत्तर तर्कसगत नही प्रतीत होता। अधिक खतरा लेने की प्रवृत्ति को ही अविवेकपूर्ण कार्य नही कहा जा सकता। जुआ खेलने में तथा खतरा लेने मे व्यक्ति बडी सावधानी तथा समझ-बूझ से काम लेता है ? यदि कोई व्यक्ति बीमा की साधारण पालिसी लेता है तो ऐसा मालूम होता है कि उसके लिए आय की सीमान्त उपयोगिता घटती है। प्रिमियम का भुगतान करने के लिए मुद्रा अथवा उपयोगिता का त्याग करना पडता है। यह त्याग या हानि निश्चित होती है परन्तु उस सम्भावित हानि की तुलना मे कम होती है जो बीमा न कराने पर तथा किसी घटना के घटित होने पर होती है। मिल्टन फ्रिडमैन (Milton Friedman) और एल जे सैवेज (L. J. Savage) ने एक ही व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह द्वारा जुआ के साथ ही साथ बीमा पॉलिसी लेने जैसे विरोधी कार्यों को करने की प्रवृत्ति का स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने इस तथ्य पर भी प्रकाश डाला है कि एक ही व्यक्ति कभी खतरा उठाता है तथा कभी नहीं उठाता है। एक ही मनुष्य के कार्यों मे ऐसा विरोधाभास क्यो पाया जाता है ? Friedman तथा Savage ने यह विचार व्यक्त किया है कि अधिकाश व्यक्तियो के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि यदि उनकी आय एक स्तर से नीचे है तो आय की सीमान्त उपयोगिता घटती है। उस स्तर तथा उससे कुछ ऊचे स्तर के बीच आय की सीमान्त उपयोगिता बढती है और जब आय उस ऊचे स्तर से अधिक होती है तो आय की सीमान्त उपयोगिता घटती है।[1]

[1] Friedman—Savage hypothesis is that for most people, the marginal utility of income diminishes when incomes are below some level, increases for incomes between level and some higher level, and diminishes again when incomes are above the high level.

[*Watson, D.S. Op. cit. p 7*]

चुनाव करता है तो इसका अर्थ यह हुआ है कि वह 'क' को दृढ क्रम प्रदान करता है। अगर वह 'ग' की अपेक्षा 'ख' का चुनाव करता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि वह 'ख' को दृढ क्रम प्रदान करता है। लेकिन 'क' संयोग (जिसमे कि 'ख' का कभी चुनाव नही किया जाता है) और 'ग' संयोग (जिसमे कि 'ख' का कभी परित्याग नही किया जाता) के बीच बहुत सी मध्य दशाएं हो सकती हैं जिनमे 'ख' को स्वीकार किया जा सकता है और इसका परित्याग भी किया जा सकता है। इस प्रकार ऐसी दशाओ मे हम उपभोक्ता के चुनाव के बारे मे कोई निश्चित निर्णय नही दे सकते और कह सकते हैं कि उपभोक्ता उदासीनता की दशा मे है।

न्यूमैन मार्गेन्सटर्न का सिद्धात इस उदासीनता की स्थिति को स्वीकार करता है लेकिन एक ही घटना क्रम की आवश्यकता को स्वीकार नही करता। इस प्रकार यह कमजोर तथा लगातार अधिमानो की कल्पना है। यह मुख्यतया दो मान्यताओं पर आधारित है—(i) कि उपभोक्ता दो वस्तुओ मे से किसी एक का चुनाव अधिक स्पष्ट आधार पर नही कर सकता और इसी कारण से वह चुनाव कभी-कभी अनुपयुक्त भी सिद्ध होता है (ii) उपभोक्ता अपने चुनाव की दोनो वस्तुओ को निश्चित सम्भावना (Sure Prospects) नही मानता और इसीलिए इस चुनाव की प्रक्रिया मे हमेशा जोखिम की उपस्थिति कमजोर क्रम के विचार को स्पष्ट करती है।

न्यूमैन मार्गेन्सटर्न विधि को निम्न उदाहरणो द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

(1) एक व्यक्ति से यह कहा जाता है कि वह शर्त लगाये। इस शर्त मे उसे जीतने या हारने के अवसर 50–50 अवसर है। वह इस शर्त से इन्कार कर जाता है। फिर उससे कहा जाता है कि एक घडे मे 100 गेंदे हैं जिनमे से 55 सफेद तथा 45 काली है। यदि वह सफेद गेंद चुनता है तो वह जीत जायेगा। वह इस शर्त से भी इन्कार करता है। इसके पश्चात् उससे कहा जाता है कि उसके जीतने की सम्भावना 60–40 है। वह किसी प्रकार इस शर्त को स्वीकार कर लेता है। प्रश्न है कि यह सूचना व्यक्ति के लिए मुद्रा सम्बन्धी उपयोगिता के ज्ञान को किस प्रकार प्रकट करती है? मान लीजिए हारने पर 100 रुपये की उपयोगिता 15 इकाइयो के बराबर है, उसके हारने की सम्भावना 40% है। इस प्रकार उसकी कुल उपयोगिता की हानि की सम्भावना 0·4 × 15 = 6 0 इकाइया है। चूं कि वह जीतने की 60–40 की सम्भावना को स्वीकार करने को तैयार है अतः उसके लिए सम्भावित लाभ की उपयोगिता भी 6 इकाई होगी। इसका अर्थ यह है कि दूसरे 100 रुपये की उपयोगिता उसके लिए 10 होगी क्योकि 0 6 × 10 = 6 (यह स्थिति जीतने की 60–40 की सम्भावना पर आधारित है। इसे अग्रलिखित ढग से भी प्रकट किया जा सकता है :

उपयोगिता से सम्भावित प्राप्ति=उपयोगिता से सम्भावित हानि

प्राप्ति की सम्भावना × प्राप्त होने वाली उपयोगिता=हानि की सम्भावना

0 6 × प्राप्त उपयोगिता=0·4 × 15 अत प्राप्त उपयोगिता (लाभ) = $\frac{6}{0\ 6} = 10$

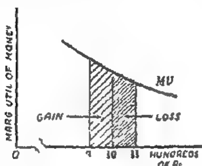
इसका परिणाम यह है कि 60–40 की सम्भावना पर यदि 100 रुपये की उपयोगिता को 1000 रुपये मे जोड दिया जाए तो उपयोगिता का लाभ 1000 रु० मे से 100 रुपये की उपयोगिता घटाने की हानि की अपेक्षा कम है। यदि वही व्यक्ति शर्त जीत जाता है तथा उन्ही शर्तों पर दूसरी शर्त मे भी बाजी लगाता है तो 100 रुपये की उपयोगिता को यदि 1100 रुपये मे जोड दिया जाए तो उपर्युक्त तर्क के अनुसार उसकी उपयोगिता $6\frac{2}{3}$ से बढ जायेगी। अत 900 रु० से प्रारम्भ कर यदि हम 100 रु० से वृद्धि करते जाए तथा 900 रु० के पश्चात प्रथम 100 रु० की उपयोगिता 15 मान लें, तो 60–40 की सम्भावना पर उस व्यक्ति की सीमान्त उपयोगिता का निर्देशाक 15 10, $6\frac{2}{3}$ उपयोगिताए आदि होगे। यह ध्यान मे रखना चाहिए कि उपयोगिता सम्बन्धी ये सख्याए पूर्णतया काल्पनिक हैं। हम कोई भी सख्या रख सकते हैं। यदि हम इन्हे चित्र पर अकित करें तो चित्र सेन्ट पीटरस बर्ग (St. Petersburg Paradox) शीर्षक के अन्तर्गत दिये गये हैं, उसी के समान होगा (देखिए चित्र सख्या 46) चित्र मे दिया गया वक्र ऊचा या नीचा हो सकता है। वक्र का प्रारम्भ बिन्दु ज्ञात करने का कोई तरीका नही है। इन सीमाओ के होते हुए भी न्यूमैन मार्गेन्सटर्न (Neumann Morgenstern) विधि द्वारा उपयोगिता नापन के लिए सख्याओ के समूह पर प्रकाश अवश्य पडता है।

2 यदि हम मानले कि एक दूसरा व्यक्ति 50–50 की सम्भावना पर शर्त लगाता है तो उसकी शर्त पर यह माना जा सकता है कि उसकी उपयोगिता सम्बन्धी हानि उपयोगिता सम्बन्धी लाभ के बराबर होगा। 900–100 की सीमा मे मुद्रा की सीमात उपयोगिता समान (Constant) रहेगी।

3 यदि एक तीसरा व्यक्ति खतरा लेने के लिए अधिक तैयार है तथा हानि की सम्भावना अधिक होने पर भी वह शर्त लगाने के लिए तैयार रहता है तो उसके लिए मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता बढती हुई होगी।

इस प्रकार न्यूमैन मार्गेन्सटर्न विधि सख्यात्मक उपयोगिता के आधार प्रदान करती है जो या तो सैद्धातिक या वास्तविक प्रयोगजनित हो सकते हैं। न्यूमैन मार्गेन्सटर्न विधि पुरानी क्लासिकल सख्यात्मक विश्लेषण के समान नही है। यह विधि वस्तुओ व सेवाओ के प्रति भावना की दृढता का माप नही करती। यह केवल जोखिम की उपस्थिति मे व्यक्तियो की चुनाव प्रक्रिया पर प्रकाश डालती है। लेकिन

OXमुद्रा की मात्राओं को 100 मे व्यक्त करती है। 9–10 तथा 10–11 के बीच की दूरी समान है। MU रेखा घटती सीमान्त उपयोगिता को प्रकट करती है। जीतने पर उपयोगिता पर वृद्धि 10–11 के बीच का छायांकित क्षेत्र जीतने पर उपयोगिता मे हुई वृद्धि को प्रकट करता है। इसके विपरीत 8–10 के



चित्र न० 46

बीच का क्षेत्र हारने पर हानि को प्रकट करता है। इस चित्र से स्पष्ट है कि उपयोगिता की हानि उसकी वृद्धि की अपेक्षा हमेशा अधिक होती है। इसमें जुए से प्राप्त होने वाले आनन्द को ध्यान में नहीं रखा गया है। मार्शल ने कहा कि जुए से प्राप्त आनन्द व्यक्ति को जीवन के अन्य ऊंचे आनन्दों से वंचित करता है। व्यक्ति अन्य कार्यों में जुए की अपेक्षा अधिक आनन्द प्राप्त कर सकता है।

(iii) सेम्युएलसन का प्रकट अधिमान सिद्धान्त
(Samuelson's Revealed Preference Theory)

इस सिद्धान्त को 'Behaviourist ordinal utility Theory' भी कहा जाता है। इस सिद्धांत की प्रमुख विशेषता दृढ क्रम बोध (Strong odering) है। इसके अनुसार दो प्रकार के क्रम निर्धारित किये जा सकते है—दृढ तथा कमजोर। दृढ क्रम में उपभोक्ता की क्रय योजना में प्रत्येक मद का एक निश्चित स्थान होता है या संख्या होती है। प्रत्येक संख्या के सामने एक मद होती है। इस प्रकार उपभोक्ता अपने अधिमानों को निश्चित रूप से प्रकट करता है। कमजोर क्रम मे कुछ मदे ऐसी हो सकती है जिन्हे अधिमानों के अनुसार क्रम से प्रकट नही किया जाता है। इसका अर्थ यह है कि यह ज्ञात नहीं किया जा सकता है कि उपभोक्ता का इस विषय में किस मद के लिए क्या अधिमान है। कमजोर क्रम के अनुसार क्रय की मदों को वर्गों मे बाटा जाता है। वर्गों (groups) के क्रम दृढ हो सकते है जिनके द्वारा अधिमानों का निश्चित क्रम मालूम होता है। परन्तु समूह के अन्दर क्रम कमजोर होते हैं। दृढ

क्रम के अन्तर्गत उपभोक्ता अधिमानों को प्रकट करता है तथा इसके द्वारा उसके चुनाव का ज्ञान होता है।

परम्परागत उदासीन वक्र कमजोर क्रम का उदाहरण है क्योंकि उसी उदासीन वक्र पर सभी संयोगों को समान अधिमान दिया जाता है। सैम्युएलसन का सिद्धांत दृढ क्रम की मान्यता पर आधारित है। उदासीन वक्र विधि की यह मान्यता कि उपभोक्ता एक उदासीन वक्र पर सभी सम्भव विकल्पों का क्रम प्रदान करने में समर्थ है, अवास्तविक है।

इसीलिए सैम्युएलसन ने कमजोर क्रम की सम्भावना का परित्याग किया। वे उदासीन वक्र विधि को क्रियात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण विचार नहीं मानते। उनके अनुसार उपभोक्ता चुनाव प्रक्रिया में अपने अधिमानों को स्पष्ट करता है। प्रदर्शित अधिमान, निरीक्षित चुनाव व्यवहार तथा उसके कल्याण परिणामों के बीच में कड़ी का काम करते हैं। इस प्रकार उदासीन वक्र विधि को क्रियात्मक आधारों (operational grounds) पर अस्वीकार किया गया। लेकिन उपभोक्ता व्यवहार समान रहना चाहिए। जैसे यदि उपभोक्ता किसी समय चाय का अपेक्षा काफी को अधिक अधिमान देता है तो दूसरे समय वह काफी की अपेक्षा चाय का चुनाव नहीं कर सकता। हिक्स ने इसे 'two term consistency' कहा है और यही सैम्युएलसन के सिद्धांत की एक महत्वपूर्ण मान्यता है।

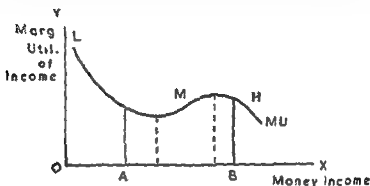
सैम्युएलसन का सिद्धांत मार्शल के सिद्धान्त की तरह ही सामान्य सिद्धांत है और उन मान्यताओं का परित्याग करता है जिनकी प्रत्यक्ष जांच सम्भव नहीं है। हिक्स के सिद्धांत के विपरीत यह गिफेन विरोधाभास को स्पष्ट नहीं करता। आय की लोच शून्य या नकारात्मक होने पर सैम्युएलसन का सिद्धांत माग विश्लेषण करने में असमर्थ है। इस सैम्युएलसन के प्रकट अधिमान सिद्धान्त की अपेक्षा हिक्स का सिद्धान्त क्रियात्मक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है।

(iv) न्यूमैन मार्गेन्सटन का सांख्यिकीय उपयोगिता सिद्धान्त
(Neumann Morgenstern Statistical Utility Theory)

आधुनिक उपयोगिता विश्लेषण की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि 'उपयोगिता माप' विधि की प्राप्ति है। यह माप सैद्धांतिक होती है, न कि व्यावहारिक। आधुनिक सिद्धांत में माप उन सम्भावित उपयोगिताओं, जिनमें जोखिम का तत्व भी होता है, तक ही सीमित है जो कि किसी निश्चित चुनाव संयोग को तय करती है। यह सांख्यिकीय सिद्धांत है क्योंकि यह विभिन्न निरीक्षणों पर आधारित है न कि चुनाव के एक कार्य पर, जैसा कि हिक्स व सैम्युएलसन ने माना है।

सांख्यिकीय आधार पर हमारे दृढ व कमजोर दोनों ही क्रम हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, मान लीजिए कोई व्यक्ति 'ख' की अपेक्षा 'क' संयोग का ही हमेशा

चित्र सख्या 47 द्वारा फ्रिडमैन सैवेज के विचारो का स्पष्टीकरण होता है। चित्र से स्पष्ट है कि आय की सीमान्त उपयोगिता वक्र (MU) के तीन भाग हैं—यह रेखा पहले घटती है, फिर बढती है और फिर घटती है। इन तीनो स्थितियो को टूटी



चित्र स० 47

हुई रेखाओ (Dashed line) द्वारा प्रकट किया गया है। मान लीजिए एक व्यक्ति की आय OA है जो आय की घटती हुई सीमान्त उपयोगिता वाले भाग मे है। वह व्यक्ति बीमा पॉलिसी खरीदेगा क्योकि प्रिमियम के रूप मे सम्भावित हानि की तुलना मे उसे बहुत कम व्यय करना पडेगा। यद्यपि बीमा की अनुपस्थिति मे भी उसके लिए हानि की सम्भावना कम है। वह ऐसा इसलिए करता है क्योकि बीमा की अनुपस्थिति मे भी हो सकता है उसे हानि बहुत अधिक उठानी पडे। वही व्यक्ति जुआ भी खेल सकता है या लाटरी टिकट भी खरीद सकता है क्योकि जुआ खेलने या लाटरी टिकट खरीदने मे भुगतान कम करना पडता है जीतने की भी सम्भावना कम होती है। जुआ की सम्भावित उपयोगिता नकारात्मक होगी यदि M बिन्दु के पश्चात् सम्भावित लाभ की सीमान्त उपयोगिता अधिक नही होगी जैसा कि M बिन्दु के आगे ऊँची उठती हुई MU रेखा द्वारा प्रकट है। यदि किसी व्यक्ति की आय OB है, जो अधिक आय को प्रकट करती है, तो वह खतरा कम मोल लेगा या जुआ खेलने की इच्छा नही रखेगा या खतरापूर्ण विनियोग नही करेगा, जब तक कि जीतने या लाभ की सम्भावना बहुत अधिक नही है। फ्रिडमैन-सैवेज ने यह कहा है कि चित्र मे दिया हुआ वक्र विभिन्न आय समूहो के व्यक्तियो की मनोवृत्ति को प्रकट करता है। मध्यम वर्गीय लोग जिनकी मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता बढती हुई होती है वे खतरा लेने के लिए अधिक तैयार रहते हैं क्योकि वे अपने आर्थिक स्तर मे वृद्धि करना चाहते हैं।

उपसहार : उपयोगिता सम्बन्धी पिछले कई अध्यायो से यह निष्कर्ष निकलता है कि उपयोगिता धारणा के सम्बन्ध मे अर्थशास्त्रियो के विचारो मे परिवर्तन होते

रहे हैं। नव-प्रतिष्ठावादी उपयोगिता सिद्धांत (Noo-classical theory of utility) या मार्शल तथा उसके अनुयायियों के विचारों का सारांश निम्नलिखित सार से स्पष्ट किया जा सकता है—(i) उपभोक्ता कुल उपयोगिता को अधिकतम करने का प्रयत्न करता है (ii) उपभोग के साथ ही साथ अगली इकाइयों की सीमान्त उपयोगिता उत्तरोत्तर घटती जाती है (iii) उपभोक्ता की यह आदत होती है कि वह खतरा-हीन विकल्पों (Riskless alternatives) के बीच चुनाव करता है। नव-प्रतिष्ठावादी उपयोगिता सिद्धान उपभोक्ता के व्यवहार का स्पष्टीकरण करता है। उपभोक्ता की आय दी हुई होती है। वह विभिन्न वस्तुओं की कीमतें जानता है। उसकी रुचि दी हुई होती है। इन सभी बातो की जानकारी रखते हुए वह चुनाव करता है तथा सम-सीमान्त उपयोगिता नियम के अनुसार वह अधिकतम उपयोगिता प्राप्त करता है। (iv) उपभोक्ता की मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता घटती है अतः यह दूरदर्शी उपभोक्ता न तो जुआ खेल सकता है और न लाटरी टिकट खरीद सकता है।

आधुनिक उपयोगिता सिद्धांत (i) कुछ परिस्थितियों में उपयोगिता की माप की विधि बतलाता है (ii) मुद्रा की सीमात उपयोगिता की वृद्धि की सम्भावना भी बतलाता है (iii) कुछ विवेकपूर्ण चुनावो के लिए तार्किक आधार प्रस्तुत करता है (iv) खतरे की उपस्थिति में चुनाव की समस्या (choices subject to risk) पर प्रकाश डालता है (v) खतरे की उपस्थिति में विवेकपूर्ण निर्णय के लिए सम्भावित उपयोगिता (Expected utility) पर जोर देता है, सम्भावित मौद्रिक मूल्य पर नहीं।

उपर्युक्त विकास के होते हुए भी उपयोगिता सम्बन्धी विचार दोषपूर्ण हैं ?

उपयोगिता धारणा की आलोचना

उपयोगिता की माप के सम्बन्ध में मार्शल तथा उनके अनुयायियों द्वारा जो धाराएँ प्रस्तुत की गई है, उनकी आलोचना निम्नलिखित तथ्यों के आधार पर की गई है :

(1) उपयोगिता एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। एक भौतिक पदार्थ को मापा जा सकता है। परन्तु एक काल्पनिक तथा अभौतिक वस्तु की माप किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है।

(2) इसमें निश्चितता का अभाव है। कभी 'उपयोगिता' शब्द किसी वस्तु की 'इच्छा शक्ति' (desiredness) को तो कभी सन्तुष्टि' (satisfaction) को व्यक्त करता है। अधिकतर पूर्ण उपयोगिता और पूर्ण सतुष्टि का एक ही अर्थ लगाते हैं, परन्तु वास्तव में उपयोगिता और सतुष्टि एक दूसरे से भिन्न हैं। किसी वस्तु के लिए दिया गया मूल्य उसकी इच्छा की तीव्रता को व्यक्त कर सकता है, परन्तु वह उस वस्तु से प्राप्त सतुष्टि का मापदंड नहीं माना जा सकता।

(3) उपयोगिता समान (constant) नहीं रहती । वह समय-समय पर बदलती रहती है। इस प्रकार की परिवर्तनशील वस्तु को मापना सम्भव नहीं हो सकता। परन्तु इस सम्बन्ध में दिया गया तर्क ठीक नहीं है, क्योंकि जिस समय किसी वस्तु की उपयोगिता को मापा जा रहा है, उस समय वह समान है। अतः उसकी माप उसी प्रकार सम्भव है जिस प्रकार ताप, ऊँचाई और तौल की माप सम्भव है।

(4) उपयोगिता की माप का कोई प्रमाप (standard) नहीं है, भौतिक वस्तुओं को किसी प्रमाणित मापदण्ड (गज अथवा तुला) से नापा तथा तौला जा सकता है। परन्तु उपयोगिता का कोई ऐसा मापदण्ड नहीं है, अर्थशास्त्र में सन्तुष्टि का अनुमान त्याग की गई मुद्रा के आधार पर लगाया जा सकता है। अतः सन्तुष्टि को आधार मानकर उपयोगिता को भी मापा जा सकता है। इसमें यह मानना होगा कि मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता समान रहती है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि एक स्थायी आय वाले व्यक्ति को मुद्रा की प्रत्येक अगली इकाई की सीमान्त उपयोगिता अधिक होती है, क्योंकि जैसे-जैसे वह आय की रकम को व्यय करता जाता है, उपलब्ध धन की मात्रा कम होने से शेष मुद्रा का मूल्य उसके लिए अधिक होता है।

सम्भवतः Pareto सर्वप्रथम अर्थशास्त्री थे जिन्होंने उपयोगिता को अमापनीय (immeasurable) माना था। उनका विचार था कि उपयोगिता मापनीय तो नहीं है, किन्तु तुलना योग्य है। बाद प्रो० हिक्स तथा एलेन ने Pareto की मान्यता को स्वीकार करके वस्तुओं के प्रधार पर अर्घ-सिद्धान्त (Theory of Value) का निर्माण किया। उनके विचार में उपयोगिता अथवा सीमान्त उपयोगिता अमापनीय है। अतः अर्घ-सिद्धान्त उपयोगिता के आधार पर निर्मित नहीं किया जा सकता। परन्तु उसको प्रतिस्थापन की दर (rate of substitution) के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है। उनके अनुसार सीमान्त उपयोगिता का चाहे कोई अर्थ न हो, किन्तु प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (marginal rate of substitution) का अवश्य कुछ अर्थ एवं महत्व है।

प्रश्न व संकेत

1. आधुनिक उपयोगिता सिद्धान्त के मूलतत्व क्या हैं ?
   (संकेत : देखिए पृष्ठ 280–282)

2. न्यूमैन मार्गेन्स्टर्न उपयोगिता मापन विधि पर प्रकाश डालिए।
   (संकेत देखिए पृष्ठ 283–286)

3. मुद्रा की उपयोगिता के सम्बन्ध में फ्रिडमैन—सैवेज के विचारों को स्पष्ट कीजिए। (संकेत : देखिए पृष्ठ 287–288)

4. क्या आय का पुनर्वितरण कल्याण में वृद्धि करता है ?
(संकेत देखिए पृष्ठ 277–280)

समस्याएं (Problems)

1. चित्र संख्या 47 में वक्र के तीन भाग हैं, प्रत्येक भाग तीन सामाजिक व आर्थिक (*Socio-economic*) वर्गों को प्रदर्शित करता है। पांच भागों सहित एक वक्र बनाइए और उसकी सामाजिक व आर्थिक विवेचना कीजिए।

2. मान लीजिए एक सफल व्यापारी राजनीति में प्रवेश करने की सोच रहा है। वह जानता है कि राजनैतिक जीवन में उसे अधिक मुद्रा खर्च करनी पड़ेगी। उसके लिए मुद्रा की सीमान्त-उपयोगिता को स्पष्ट कीजिए।

14

उत्पादन तथा उसके साधन

(Production and its Factors)

"Practically, man does nothing but pull, press, carry or otherwise mechanically force things into new forms or new places. All these activities result in the production of wealth"

—Penson

उत्पादन आर्थिक प्रगति का प्रतीक है । किसी भी देश का आर्थिक विकास उसकी उत्पादन की मात्रा और उत्पादन के बढ़न की दर पर निर्भर है । मनुष्य की आर्थिक समस्याओं का केन्द्र-बिन्दु उत्पादन ही है । उत्पादन की मात्रा तथा उसका क्षेत्र मानव समाज के आर्थिक भाग्य के निर्णायक हैं । उत्पादन की मात्रा तथा प्रकृति, उत्पादन के मूल साधनों की पूर्ति द्वारा शासित होती है । विभिन्न प्राकृतिक साधनों का पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होना कुशल श्रम का होना, अधिक मात्रा में पूंजी की प्राप्ति, लोगों में प्रबन्ध व संगठन-योग्यता तथा जोखिम उठाने की प्रवृत्ति और उन्नत व वैज्ञानिक उत्पादन प्रणाली, उत्पादन की मात्रा एवं प्रकृति के निर्धारक तत्व है ।

1. उत्पादन का अर्थ (Meaning of Production)

किसी वस्तु का निर्माण ही उत्पादन नहीं है । एडम स्मिथ तथा प्राचीन अर्थशास्त्रियों का यह मत कि उत्पादन का अर्थ भौतिक साधनों का निर्माण करना है, संकुचित है । पदार्थ (Matter) प्रकृति द्वारा प्रदान किए जाते है । मनुष्य की आवश्यकताओं की तुलना में उनकी पूर्ति भी सीमित होती है । मनुष्य प्राकृतिक पदार्थों (matters) की उपयोगिता में विभिन्न प्रकार से वृद्धि ही कर सकता है, वह स्वयं किसी नए पदार्थ का सृजन या निर्माण नहीं कर सकता । मार्शल के अनुसार, 'मनुष्य भौतिक वस्तुओं का निर्माण नहीं कर सकता । मानसिक तथा नैतिक क्षेत्र में वह नये नये विचारों को जन्म भले ही दे सकता है, परन्तु जब भौतिक वस्तुओं के निर्माण की बात आती है, तो वह केवल उपयोगिता का ही सृजन

या निर्माण कर सकता है।[1] अत उपयोगिता सृजन या वृद्धि करने को ही अर्थ-शास्त्र मे उत्पादन कहा गया है (Production is the creation of utility)। फेयर चाइल्ड के अनुसार, 'धन मे उपयोगिता का सृजन ही उत्पादन है।'[2] एली के शब्दो म, 'उत्पादन का अर्थ आर्थिक उपयोगिता का सृजन करना है'[3]। फ्रेजर के अनुसार, 'यदि उपभोग का अर्थ किसी वस्तु से उपयोगिता प्राप्त करना है तो उत्पादन का अर्थ उसमे उपयोगिता का सृजन करना है।'[4]

उदाहरण के लिए एक बढ़ई एक लकडी के लट्ठे मे मेज बनाकर एक नए पदार्थ को जन्म नही देता, बल्कि केवल अपने श्रम तथा औजारो की सहायता से उस मेज का रूप देकर उसम अतिरिक्त आर्थिक उपयोगिता का सृजन करता है। अत उसका यह कार्य 'उत्पादन' कहा जायगा। इस उदाहरण को लेकर ही मार्शल ने उत्पादन का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है, "इस भौतिक ससार मे मनुष्य अधिक से अधिक यह कर सकता है कि या तो वह पदार्थ को इस प्रकार पुन व्यवस्था कर दे कि वह पहले की अपेक्षा अधिक उपयोगी हो जाय या इस सम्बन्ध मे कुछ आवश्यक कार्य करे, जिससे प्रकृति उसे अधिक उपयोगी बना दे, जैसे भूमि मे बीज डालने पर प्राकृतिक शक्तिया उसे नया जीवन प्रदान करती हैं।"[5]

पेंसन (Penson) के अनुसार धन या सम्पत्ति के उत्पादन का अर्थ किसी पदार्थ का निर्माण करना नही है, वरन् किसी उपलब्ध पदार्थ मे मानवीय आवश्यकताओ को सन्तुष्ट करने की योग्यता, क्षमता अथवा शक्ति का निर्माण करना है। प्रो० जे० के० मेहता ने उपयोगिता मे वृद्धि को उत्पादन कहा है।

परन्तु व्यापक दृष्टि से अर्थशास्त्र मे उत्पादन का अर्थ केवल सीमित मात्रा म प्राप्त वस्तुओ, सेवाओ और साधनो मे अतिरिक्त उपयोगिता का सृजन करना ही

---

[1] "Man cannot create material things In the mental and moral world indeed he may produce new ideas, but when he is said to produce material things he really produces utilities" —*Marshall*

[2] "Production consists of creation of utility in wealth" — *Fairchild*

[3] "Production means creation of economic utility" —*Ely*

[4] "If consuming means extracting utility from, producing means putting utility into" —*Fraser*

[5] "All that man can do in this physical world is either to re-adjust matter so as to make it more useful, as when he makes a log of wood into a table or to put in the way of being made more useful by nature as when he puts seed where the forces of nature make it burst into life." —*Marshall*

नही है, वरन् प्रोफेसर टामस (Thomas) के मतानुसार, उसका अर्थ इन साधनों और सेवाओं मे 'मूल्य-वृद्धि' या उनकी 'विनिमय शक्ति' मे वृद्धि से है। किसी वस्तु में मूल्य वृद्धि या उसकी विनिमय क्षमता मे वृद्धि करने पर उसके बदले मे पहले की अपेक्षा अधिक वस्तुए प्राप्त होने लगती है। 'मूल्य-वृद्धि' या 'विनिमय-साध्यता मे वृद्धि' आर्थिक वस्तुओ मे हो होती है, क्योकि ये वस्तुएं ही मानव की आवश्यकताओ को सन्तुष्ट करने की क्षमता रखती हैं। अत उपयोगिता रखने वाली आर्थिक वस्तुओं' का निर्माण ही उत्पादन कहलाता है। उत्पादन के अन्तर्गत उपयोगिता मे वृद्धि तथा विनिमय-क्षमता या मूल्य-वृद्धि करने की दानो ही क्रियायें एक साथ ही की जाती हैं।

2. उत्पादन के भेद (Forms of Production)

किसी भी वस्तु या पदार्थ मे उपयोगिता सृजन करने अथवा उसकी उपयोगिता मे वृद्धि करने की कई विधिया हैं। ये विधिया निम्नलिखित हैं:

(1) रूप परिवर्तन करके (Form Utility) : जब किसी पदार्थ के वर्तमान रूप, रग और आकार को बदल कर उसकी उपयोगिता मे वृद्धि कर दी जाती है, तब इसे रूप परिवर्तन द्वारा उत्पादन करना या उपयोगिता मे वृद्धि करना कहा जाता है। इस प्रकार के उत्पादन से पदार्थ पहले की अपेक्षा अधिक लाभदायक एव उपयोगी हो जाता है और उसके मूल्य तथा उसकी विनिमय-साध्यता में वृद्धि हो जाती है।

(2) स्थान परिवर्तन करके (Place Utility) : जब किसी वस्तु को किसी एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजकर उसकी उपयोगिता मे वृद्धि की जाती है, तब इसे स्थान परिवर्तन द्वारा उत्पादन कहते हैं। स्थान-परिवर्तन से उपयोगिता की वृद्धि इसलिए होती है कि जिस स्थान से वह वस्तु भेजी जा रही है वहा अधिक मात्रा मे होने के कारण उसकी उपयोगिता कम है, परन्तु जहा वह वस्तु भेजी जा रही है वहा उस वस्तु की उपयोगिता अधिक है। स्थान परिवर्तन से किसी वस्तु मे स्थान मूलक उपयोगिता (Place Utility) का सृजन होता है। उदाहरण के लिए, खानो मे पडा कोयला जब फैक्टरी मे, या रैलो के इजन चलाने के लिए अन्य स्थानो पर ले जाया जाता है, तब उसमे स्थान-मूलक उपयोगिता का सृजन होता है। इस प्रकार की उपयोगिता का सृजन करने मे यातायात के साधनो का अत्यधिक महत्व है।

(3) समय-परिवर्तन करके (Time Utility) : कुछ वस्तुए ऐसी होती हैं जो पुरानी होने पर ही अधिक उपयोगी या मूल्यवान मानी जाती हैं, जैसे पुराना चावल, पुरानी शराब। इनके अतिरिक्त वस्तुओ का सचय अथवा सग्रह करके भी

उनकी उपयोगिता अथवा उनके मूल्य मे वृद्धि की जा सकती है। उदाहरण के लिए गेहूँ की फसल कटने पर, माग की तुलना मे उसकी पूर्ति (Supply) अधिक होने पर उसका मूल्य कम होता है। परन्तु उसका मूल्य समय के व्यतीत होने के साथ-साथ बढता जाता है। उसको सग्रह करके उसकी उपयोगिता मे वृद्धि की जाती है। इस प्रकार किसी वस्तु का सचय करके उसमे समय या काल-मूलक उपयोगिता (Time Utility) का सृजन किया जाता है।

(4) अधिकार परिवर्तन द्वारा (Possession Utility) : किसी वस्तु को हस्तान्तरित करके उस वस्तु मे 'अधिकार-मूलक उपयोगिता' (Possession Utility) का सृजन किया जाता है। इस प्रकार की उपयोगिता के सृजन से हस्तान्तरित वस्तु की उपयोगिता मे वृद्धि हो जाती है, क्योकि एक ही वस्तु की उपयोगिता विभिन्न व्यक्तियो के लिए अलग-अलग होती है। उदाहरणार्थ, एक दुकानदार के लिये उसके द्वारा बेची जाने वाली वस्तु की कोई उपयोगिता नही है। परन्तु क्रेता अर्थात् उपभोक्ता के अधिकार मे आने पर उसी वस्तु की उपयोगिता अधिक हो जाती है।

(5) सेवा-द्वारा (Service Utility) : सेवा द्वारा उत्पन्न या प्रदान की गयी उपयोगिता 'सेवा मूलक उपयोगिता' कहलाती है। डाक्टर, शिक्षक, वकील, संगीतज्ञ अपनी सेवाओ को बेचकर अपने व्यक्तिगत गुणो की उपयोगिताओ मे वृद्धि करते हैं। 'व्यक्तिगत गुण' या 'व्यक्तिगत सेवायें' दिखायी नही देती। अत: कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि प्रदान की गयी इन सेवाओ को उत्पादन की श्रेणी मे नही रखना चाहिए। परन्तु इन सेवाओ मे उपयोगिता अर्थात् आवश्यकताओ को सन्तुष्ट करने की क्षमता होने के कारण इनका विनिमय करना उत्पादन माना जाता है।

(6) ज्ञान द्वारा उपयोगिता (Knowledge Utility) : किसी वस्तु की उपयोगिता का ज्ञान अन्य व्यक्तियो को कराना, ज्ञान-प्रसार द्वारा उत्पादन कहलाता है। ज्ञान-प्रसार द्वारा किसी वस्तु मे उत्पन्न की गयी अतिरिक्त उपयोगिता, ज्ञान-मूलक उपयोगिता (Knowledge Utility) कहलाती है। जैसे, सनलाइट साबुन की विशेषता का ज्ञान न होने पर किसी व्यक्ति के लिए उसकी उपयोगिता कम होगी। परन्तु यदि विज्ञापन द्वारा उसकी विशेषताओ का ज्ञान उसे करा दिया जाये, तो उसकी उपयोगिता उसके लिए अधिक हो जायेगी।

उपर्युक्त विधियो द्वारा वस्तुओ एवं सेवाओ से उपयोगिताओ का सृजन या उसकी उपयोगिताओ मे वृद्धि करने वालो को उत्पादक (Producer) कहा जाता है।

उत्पादन प्रक्रियाओं को निम्नलिखित वर्गों में रखा गया है :

(i) निस्सरण उद्योग (Extractive Industries) : इनके अन्तर्गत कृषि द्वारा कच्चे माल का उत्पादन करना, भूमि के अन्दर से खनन करके अनेक प्रकार की धातुयें निकालना तथा मछली पकड़ना आदि कार्य सम्मिलित हैं।

(ii) निर्माणकारी उद्योग (Manufacturing Industries) : इनके अन्तर्गत कच्चे माल का रूप परिवर्तन करके विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के निर्माण-सम्बन्धी कार्य सम्मिलित हैं।

(iii) व्यापारिक सेवायें (Commercial Services) : इनके अन्तर्गत निर्मित वस्तुओं के विनय एवं वितरण सम्बन्धी कार्यों में लगे व्यापारियों, बैंकों, सन्देश वहन तथा परिवहन के साधनों, बीमा-कम्पनियों आदि की सेवाओं को सम्मिलित किया जाता है।

(iv) प्रत्यक्ष सेवायें (Direct Services) : इनके अन्तर्गत वे सेवायें आती हैं जो प्रत्यक्ष रूप से उपभोक्ताओं को प्राप्त होती हैं, जैसे डाक्टर, वकील, प्राध्यापक, घरेलू नौकर, सम्पादक आदि की सेवायें।

3 उत्पादन की मात्रा निर्धारित करने वाले तत्व
(Factors Determining Volume of Production)

उत्पादन की मात्रा अथवा कुशलता, अर्थात् उत्पादन की मात्रा में वृद्धि तथा अच्छी किस्म की वस्तुओं का उत्पादन निम्नलिखित तत्वों पर निर्भर है :

1. उत्पादन के साधनों का उपलब्ध होना : किसी देश में एक निश्चित समय में उत्पादन की मात्रा तथा उत्पादन कुशलता को निर्धारित करने वाले प्राथमिक एवं आधारभूत तत्वों में वहाँ पर उपलब्ध (अ) प्राकृतिक साधन, जैसे—उपजाऊ भूमि, खनिज पदार्थ, विभिन्न प्रकार की धातुयें, जल, वायु, तापक्रम आदि, (ब) श्रम—कुशल तथा परिश्रमी श्रमिक, (स) पूँजी तथा (द) उत्पादन के कुशल संगठन एवं उसकी कुशल व्यवस्था की योग्यता को सम्मिलित करते हैं। यदि ये सभी साधन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं, तो देश में उत्पादन की मात्रा भी अधिक होती है। परन्तु उत्पादन की मात्रा निर्धारित करते समय इन साधनों की मात्रा पर ही ध्यान नहीं दिया जाता, वरन् उनके गुणों तथा कार्य-कुशलता को भी ध्यान में रखना आवश्यक होता है। यदि ये साधन अधिक कार्य-कुशल हैं तो उत्पादन की मात्रा अधिक होगी तथा उत्पादित वस्तुओं की किस्म भी अच्छी होगी। इसके साथ ही प्राप्त साधनों को अनुकूलतम (Optimum) तथा आदर्श (ideal) अनुपात में एकत्र तथा समायोजित करने पर ही उत्पादन की मात्रा में वृद्धि सम्भव हो सकती

है। अतः कार्य-कुशल साधनो की उचित व्यवस्था भी उत्पादन को बढाने मे सहायक होती है।

2. वैज्ञानिक तथा तकनीकी ज्ञान का उपलब्ध होना उत्पादन की मात्रा वैज्ञानिक तथा तकनीकी ज्ञान की उन्नति तथा उसके प्रयोग पर निर्भर है। यदि किसी देश मे उत्पादन के क्षेत्रो मे नयी एव आधुनिक उत्पादन-विधियो, यन्त्रो आदि का उपयोग किया जाता है, यदि औद्योगिक तथा कृषि क्षत्रो मे वैज्ञानिक तरीको को अपनाया जाता है, तो निश्चय ही उस देश की उत्पादन मात्रा अधिक होगी (जैसे इग्लैंड और अमेरिका मे)। अत किसी देश की उत्पादन मात्रा को निश्चित करते समय इस तत्व को भी ध्यान म रखना आवश्यक है।

3. सदेश वहन तथा यातायात के साधनो का विकास उत्पादन मात्रा को निर्धारित करने मे यातायात तथा सदेश-वहन के साधनो का भी महत्व है। यदि डाकतार और टेलीफोन की विस्तृत सुविधायें उपलब्ध हो तो उत्पादको और उपभोक्ताओ मे पारस्परिक सम्पर्क स्थापित करने मे सरलता होती है तथा व्यापारिक क्षेत्र का विस्तार होता है। यातायात के साधनो—रेल, सडक, वायु तथा जल यातायात—का विकास होने पर उत्पादन को अनेक स्थानो और देशो मे भेजने की सुविधायें उपलब्ध होती हैं, जिससे उत्पादन की मात्रा को बढाने की योजनायें कार्यान्वित की जा सकती हैं। इसके अतिरिक्त यातायात के साधन उत्पादन के साधनो—कच्चा माल, श्रम तथा पूँजी—को गतिशील बनाते है। अनुत्पादक क्षेत्रो से उत्पादक क्षेत्रो मे जाने पर उनकी कार्य एव उत्पादन क्षमता मे वृद्धि हो जाती है जिससे देश की उत्पादन-शक्ति बढ जाती है।

4 बैंकिंग तथा साख व्यवस्था का विकास बैंकिंग तथा साख सस्थायें सम्पूर्ण उत्पादन-प्रणाली के लिए धन एव पूँजी की व्यवस्था मे सहायक होती हैं। आधुनिक युग म साख अथवा ऋण-पूँजी उतनी ही आवश्यक है जितनी कि नकद पूजी। बैंकिंग तथा साख-सस्थाओ का समुचित एव आवश्यक विकास सम्पूर्ण औद्योगिक तथा व्यापारिक यन्त्र को चलाता है तथा उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि करने मे सहायक होता है। इन सस्थाओ का अधिक विकास होने तथा अधिक से अधिक मात्रा मे पूँजी प्राप्त होने स ही इगलैंड, अमेरिका तथा अन्य विकसित पश्चिमी देशो मे औद्योगिक उत्पादन एव आर्थिक विकास अधिक हुआ है।

5. राजनैतिक तत्व देश की सरकारी नीति उत्पादन की मात्रा निर्धारित करती है। यदि देश की सरकार उत्पादन को बढाने के लिए आवश्यक शिक्षा, आर्थिक तथा अन्य प्रकार की सहायता, आवश्यक जानकारी आदि प्रदान करती है तो उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि होती है। इसके विपरीत, सरकार का अनावश्यक हस्त-

देश आर्थिक एव औद्योगिक विकास को रोक देता है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य राजनैतिक परिस्थितियां, जैसे आन्तरिक शान्ति तथा सुरक्षा भी उत्पादन की मात्रा को निर्धारित करने मे अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

6 अन्य प्राकृतिक तत्व : उत्पादन मात्रा पर कुछ अन्य प्राकृतिक घटनाओं का भी प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ वर्षा का न होना, बाढ, भूकम्प, महामारी टिड्डियो का आक्रमण ऐसे दैवी प्रकोपो से उत्पादन-मात्रा कम हो जाती है। प्राकृतिक शक्तियो के नियत्रण तथा मानव-हित और आर्थिक विकास मे उनके उचित प्रयोग से ही उत्पादन-मात्रा म वृद्धि होती है।

प्रोफेसर बेनहम ने उत्पादन-मात्रा को प्रभावित करने वाले उपर्युक्त तत्वो को निम्नलिखित तीनो वर्गो मे रखा है।

(i) प्राकृतिक शक्तियां या घटक (Natural factors) : बाढ, भूचाल, अनावृष्टि तथा अन्य दैवी एव प्राकृतिक प्रकोप।

(ii) वैज्ञानिक उन्नति - तकनीकी ज्ञान का विकास तथा वैज्ञानिक आविष्कार एव उनका प्रयोग।

(iii) उत्पादन के साधनो की उपलब्धता तथा उनको उपयोग में लाने की विधियां : भूमि, श्रम तथा पूंजी की अधिकाधिक मात्रा, यातायात के साधन, बैंकिंग तथा साख व्यवस्था तथा इन साधनो का नियोजित उपयोग।

4. उत्पादन के साधन
(Factors of Production)

उत्पादन के साधनो का अभिप्राय उन समस्त वस्तुओ (पदार्थों) और सेवाओ से है जो धन के उत्पादन मे सहायक होती हैं। यदि कोई सेवा या वस्तु, धन के उत्पादन म सहायक नही होती है, तो उसे उत्पादन के साधनो के वर्ग मे सम्मिलित नही किया जाता।[9] फेजर ने उत्पादन के साधन को मौलिक उत्पादनकारी साधनों के एक समूह या वर्ग के रूप मे माना है। उनके अनुसार उत्पादन के साधन शब्द का अभिप्राय उत्पादनकारी तत्वो के वर्ग मे है जिसके प्रत्येक तत्व को उस वर्ग की इकाई

9 "Any thing that assists production is known as a factor of production. A thing that exists is not necessarily a factor of production, it becomes a factor of production only when it actually assists production" —J K. Mehta

(Unit) कहना ही उपयुक्त होगा। आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने इन विभिन्न उत्पादन-कारी इकाइयों को 'Inputs' तथा इससे उत्पादित वस्तुओं को 'Outputs' की संज्ञा दी है।

उत्पादन के साधनों की संख्या के सम्बन्ध में मतभेद रहा है। परन्तु प्रचलित मत उत्पादन के पांच साधनों–भूमि (Land), श्रम (Labour), पूंजी (Capital) संगठन (Organisation) तथा साहस (Enterprise) के पक्ष में ही है। अतः यहां पर इन पांचों साधनों की व्याख्या की गई है :

(1) भूमि (Land) : भूमि उत्पादन का अनिवार्य एवं सबसे महत्वपूर्ण साधन है क्योंकि इसके बिना किसी भी वस्तु का उत्पादन सम्भव नहीं हो सकता।[7] इसीलिए इसको उत्पादन का अनिवार्य साधन कहा जाता है। अर्थशास्त्र में भूमि का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया जाता है। ऐसे समस्त पदार्थ जो बिना किसी मानवीय श्रम के पृथ्वी की सतह के ऊपर तथा उसके नीचे पाये जाते हैं, भूमि के अन्तर्गत शामिल हैं। इस प्रकार पृथ्वी की मिट्टी, नदी, पहाड़, खनिज पदार्थ, धातुयें, हवा, पानी, प्रकाश, प्राकृतिक वन सम्पदायें, जीव-जन्तु आदि भूमि के अन्तर्गत सम्मिलित है। मनुष्य इन प्राकृतिक पदार्थों या साधनों को प्राप्त करने के लिए कोई प्रयास नहीं करता। प्रकृति स्वयं इन्हें उपहार-स्वरूप प्रदान करती है। वस्तुतः उत्पादन के साधनों में भूमि ही प्राकृतिक साधन है। मार्शल के अनुसार, 'भूमि का अभिप्राय उन सब पदार्थों एवं शक्तियों से है जो प्रकृति से निःशुल्क एवं स्वतन्त्र उपहार के रूप में प्राप्त होती हैं।'[8] आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार, वे समस्त पदार्थ जो बिना किसी मानवीय श्रम के उत्पादन के लिए उपलब्ध हों, भूमि के अन्तर्गत आते हैं।

(2) श्रम (Labour) : उत्पादन का दूसरा महत्वपूर्ण साधन श्रम है। यह साधन ही वास्तव में सक्रिय साधन (Active factor) है, क्योंकि भूमि तो ऐसा साधन है जो निष्क्रिय है। भूमि को उत्पादन कार्य में लगाने तथा मानवीय आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने के लिए उसमें उपयोगिता का निर्माण करने का कार्य श्रम ही करता है। इसीलिए श्रम को उत्पादन का अनिवार्य (Inevitable) साधन माना गया है, परन्तु यह प्राकृतिक साधन न होकर मानवीय साधन है।

अर्थशास्त्र में श्रम का आशय मानवीय श्रम से है जिसके अन्तर्गत मनुष्य के शारीरिक तथा मानसिक दोनों ही प्रकार के श्रम सम्मिलित हैं। इस प्रकार श्रम के

[7] "Land is a free gift of Nature" —*Ricardo*

[8] Land means "the materials and the forces which nature gives freely for man's aid, in land and water, in air and light and heat" —*Alfred Marshall*

अन्तर्गत मनुष्य की वे सभी आर्थिक क्रियायें सम्मिलित की जाती हैं जिनका उद्देश्य धनोत्पत्ति करना या मौद्रिक लाभ प्राप्त करना होता है। यदि उत्पादन के लिए किए गए प्रयत्नों से किसी वस्तु या सम्पत्ति का उत्पादन न हो सके तो इसका अर्थ यह न होगा कि किये गये प्रयत्नों को श्रम के अन्तर्गत सम्मिलित न किया जाय। इस प्रयास को भी श्रम माना जायेगा। मार्शल ने श्रम की परिभाषा इन शब्दों में दी है : "किसी भी मानसिक अथवा शारीरिक कार्य को श्रम कहते हैं जो कार्य से प्राप्त प्रत्यक्ष आनन्द के अतिरिक्त पूर्णतः या आंशिक रूप में अच्छाई की दृष्टि से किया जाता है।"[9]

(3) पूंजी (Capital) : आधुनिक युग में पूंजी को भी उत्पादन का अनिवार्य साधन माना जाता है। अर्थशास्त्र में पूंजी का अभिप्राय केवल नकद धन से ही नहीं है। पूंजी मनुष्य द्वारा पहले किए गए 'श्रम' से उत्पादित धन का वह भाग है जो उपभोग के पश्चात् शेष बच जाता है और जिसका प्रयोग उत्पादन के लिए किया जाता है। कुछ अर्थशास्त्रियों ने पूंजी को 'मानव निर्मित उत्पादन का साधन' (Man-made instrument of production) या 'उत्पादन का उत्पादित साधन' (Produced means of production) कहा है। इसके आधार पर कच्चे तथा पक्के माल, यन्त्र और औजार, इमारतें, किसान के हल-बैल, बीज, नकद धन आदि पूंजी के अन्तर्गत शामिल है। इन सबका प्रयोग अतिरिक्त उत्पादन के लिए किया जाता है।

(4) संगठन (Organisation) : उपर्युक्त तीनों साधनों—भूमि, श्रम तथा पूंजी—के उपलब्ध होने पर भी यह आवश्यक नहीं है कि उत्पादन ठीक ढंग से होगा। उत्पादन के साधनों को उपयुक्त मात्रा में लगाकर उनमें समन्वय स्थापित करना तथा समय-समय पर उन्हें समायोजित करना भी आवश्यक है जिससे उत्पादित वस्तुओं की लागत कम हो सके तथा उत्पादन अधिकतम हो सके। इन सबके लिए संगठन एवं प्रबन्ध की आवश्यकता होती है। अतः वर्तमान उत्पादन-प्रणाली में उत्पादन के साधन के रूप में संगठन या व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान है। कुछ आधुनिक अर्थशास्त्रियों का मत है कि संगठन-योग्यता विशिष्ट श्रम (Specialised Labour) या मानसिक श्रम है अतः इसे एक अलग साधन के रूप में न मानकर श्रम के अन्तर्गत ही मानना चाहिये। परन्तु वर्तमान औद्योगिक व्यवस्था को वैज्ञानिक तरीके से चलाने में इसका अलग महत्वपूर्ण स्थान है।

(5) साहस (Enterprise) : उत्पादन कार्य में हानि की सम्भावनायें भी रहती हैं। कृषक द्वारा फसल बो देने के पश्चात् यह निश्चित नहीं है कि वह उसे

9 "Any exertion of mind or body undergone partly or wholly with a view to good, other than the pleasure derived directly from the work." —*Marshall*

काट लेगा। वर्षा न होने अथवा अधिक होने के कारण फसल नष्ट होने की भी सम्भावना बनी रहती है। इसी प्रकार वस्तुओं का उत्पादन भावी माग के अनुमान के आधार पर किया जाता है। यदि ये अनुमान सत्य उतरते हैं तो लाभ होता है, परन्तु यदि मांग सम्बन्धी अनुमान, रुचि व फैशन मे परिवर्तन हो जाने अथवा अन्य किसी कारण से, गलत हो जाय, तो हानि भी सहन करनी पड सकती है। अतः उत्पादन-योजना मे भावी हानि का डर बना रहता है। भावी हानि या जोखिम को सहन करने के लिए साहस का भी उत्पादन के साधन के रूप मे महत्वपूर्ण स्थान है। इस जोखिम को उठाने वाले व्यक्ति का, जिसे साहसी (Entrepreneur or Enterpriser) कहते है, होना आवश्यक है। साहस को उत्पादन के साधनो मे एक अलग साधन के रूप मे स्थान प्रदान करने का श्रेय जे०बी०से० तथा अमेरिकी अर्थशास्त्रियो को है। पुराने अर्थशास्त्री इसका व्यवस्था का ही एक अग मानते थे।

साधनों के वर्गीकरण की समीक्षा :

उत्पादन के साधनो के वर्गीकरण के सम्बन्ध मे अर्थशास्त्रियो मे मतभेद है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो द्वारा निर्धारित उत्पादन के साधनो के वर्गीकरण मे कुछ परिवर्तन किए गये हैं। अत इन परिवर्तनो का क्रमबद्ध विवेचन करना आवश्यक है :

(1) प्रारम्भिक वर्गीकरण—उत्पादन के दो मौलिक साधनों की मान्यता : प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो ने कुल उत्पादन के विभाजन के आधार पर उत्पादन के तीन साधनो को स्वीकार किया था। उनका विचार था कि उत्पादन से प्राप्त फल तीन भागो मे बाटा जाता है, प्रथम भाग भूमि को, दूसरा भाग श्रम को, और अन्तिम भाग पूंजी को प्राप्त होता है। उन्होने भूमि को निष्क्रिय (Passive) साधन तथा श्रम को सक्रिय (Active) साधन माना था। परन्तु प्रोफेसर चैपमैन तथा जे०एस० मिल ने उत्पादन के दो ही साधनो पर विशेष बल दिया था। उनके अनुसार भूमि और श्रम ही उत्पादन के मौलिक साधन हैं (the absolutely indispensable agents of production are land and labour), क्योकि भूमि अर्थात् प्राकृतिक साधनो के न होने पर उत्पादन नही हो सकता और भूमि के होने पर भी श्रम के न रहने पर उपयोगिता का सृजन असम्भव है। अत इन दोनो साधनो के रहने पर ही उत्पादन-कार्य सम्भव हो पाता है। इनके अतिरिक्त पूंजी जो उत्पादन का महत्वपूर्ण, परन्तु गौण, साधन है, भूमि और श्रम की सयुक्त उपज (Joint Product) का वह शेष भाग माना गया है (Capital is the joint product of land and labour) जो उपभोग के पश्चात् उत्पादन के लिए बच रहता है। वह उत्पादन का मौलिक साधन नही है। भूमि और श्रम के रहने पर पूंजी प्राप्त हो सकती है, परन्तु पूंजी की कल्पना इन दोनो की अनुपस्थिति मे नही की जा सकती।

इसी आधार पर इन अर्थशास्त्रियों ने संगठन को भी उत्पादन के एक अलग साधन के रूप में स्वीकार नहीं किया। उनके विचार में संगठन विशिष्ट श्रम है जिसे श्रम के अन्तर्गत ही सम्मिलित किया जा सकता है। परन्तु पैन्सन (Penson) के विचार से "उत्पादन का प्रत्येक साधन आवश्यक है। हां, इतना अवश्य है कि अलग-अलग समय तथा औद्योगिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं में अलग-अलग साधनों का अलग अलग महत्व रहता है।"

(2) **मार्शल द्वारा उत्पादन के साधनों का वर्गीकरण—उत्पादन के पांच साधनों के सम्बन्ध में मान्यता :** मार्शल ने उत्पादन के चार साधन बतलाए—भूमि, श्रम, पूंजी और संगठन। बाद में संगठन को भी दो भागों में उपविभाजित कर दिया गया—प्रबन्ध तथा साहस। इस प्रकार उत्पादन के पांच साधन माने गये—भूमि, श्रम, पूंजी, संगठन और साहस। आधुनिक विचारधारा इस वर्गीकरण के ही पक्ष में है। इस वर्गीकरण अर्थात् उत्पादन के पांच साधनों के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार किये जाने के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए जाते हैं :

(i) आधुनिक उत्पादन-प्रणाली में पूंजी, भूमि तथा श्रम से भी अधिक महत्वपूर्ण साधन है। वर्तमान औद्योगिक युग में भूमि एवं श्रम जैसे उत्पादन के मूल साधनों का उपयोग पूंजी पर निर्भर है। श्रम के स्थान पर मशीनों का प्रयोग करके श्रम के महत्व को कम किया जा सकता है और भूमि की कमी की पूर्ति उपलब्ध प्रकृति-दत्त वस्तुओं के समुचित प्रयोग द्वारा सम्भव हो सकती है।

(ii) उत्पादन के कार्य को नियन्त्रित करने तथा भूमि, श्रम और पूंजी की इकाइयों को व्यवस्थित करके कम से कम लागत पर अधिक से अधिक उत्पादन प्राप्त करने के उत्तरदायित्व की पूर्ति एक कुशल प्रबन्धक ही कर सकता है। इसे विशिष्ट श्रम के रूप में मानकर श्रम के अन्तर्गत सम्मिलित करना उचित नहीं है।

(iii) प्रत्येक उत्पादन-कार्य में जोखिम तथा हानि की सम्भावनायें बनी रहती हैं। अन्य सभी साधनों को प्रदान करने वाले साधकों—भूमिपति, श्रमिक, पूंजीपति तथा प्रबन्धक—में से प्रत्येक साधक उत्पादन-कार्य में भावी अनिश्चितता एवं असुरक्षा से दूर रहना चाहता है। वह तो कुल उत्पादन में अपने अंश की ओर से निश्चिन्त हो जाना चाहता है। हानि से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। साहसी इस अनिश्चितता, हानि की सम्भावनाओं तथा जोखिम का भार उठाता है। इस प्रकार वह उत्पादन को अपना महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान करता है। अतः साहस भी उत्पादन के एक स्वतन्त्र साधन के रूप में महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

3. **आधुनिक अर्थशास्त्रियों का मत** कुछ आधुनिक अर्थशास्त्री उपर्युक्त वर्गीकरण से सहमत नहीं हैं। इनमें विकस्टीड, बेनहम तथा डेवनपोर्ट के नाम उल्लेख-

नीय हैं। प्रोफेसर बेनहम ने भूमि का उदाहरण देकर स्पष्ट किया है कि भूमि भी अनेक प्रकार से प्रयोग मे लायी जाती है, जैसे ,कृषि योग्य भूमि, शहरी-भूमि जिसका प्रयोग मकान-निर्माण के लिए किया जाता है, औद्योगिक क्षेत्र की भूमि जिसका प्रयोग औद्योगिक भवनो के निर्माण के लिए ही होता है। विभिन्न प्रकार की भूमि को एक ही वर्ग में रखना उचित नही है। इसी प्रकार पूँजी मे सम्मिलित रेल का इजन केवल रेल चलाने के लिए ही प्रयुक्त किया जाता है, जबकि सूती वस्त्र-उद्योग मे प्रयुक्त मशीनो का प्रयोग केवल सूती वस्त्रो के बनाने के लिए ही किया जा सकता है। इन दोनों को एक ही वर्ग — पूँजी मे सम्मिलित करना असैद्धान्तिक है। अत इन विभिन्न विशेषताओ तथा उपयोगिता वाले साधनों को समान मानकर उन्हे कुछ विशेष वर्गों मे रखना सैद्धान्तिक रूप से गलत है। इन सभी साधनों—भूमि, श्रम, पूँजी, साहस (जिसमे सगठन भी सम्मिलित है) की विभिन्न किस्मो को उत्पादन का अलग-अलग एक स्वतन्त्र साधन मानना अधिक वैज्ञानिक तथा यथार्थ होगा। प्रोफेसर बेनहम के मतानुसार कोई भी इकाई जो किसी भी स्तर पर उत्पादन विधि मे प्रयोग में लायी जाती है, उत्पादन का एक साधन है।[10]

उपर्युक्त विचार एव मत के अनुसार उत्पादन के पाच साधन ही नही वरन् अनेक साधन हो सकते हैं। परन्तु जैसा कि बेनहम ने आगे स्पष्ट किया है, आर्थिक समस्याओ के विश्लेषण के लिए इन उत्पादनकारी इकाइयो अथवा साधनों की सख्या में कुछ कमी की जा सकती है। यदि एक ही गुण एव प्रकार वाले साधनो को एक ही श्रेणी या वर्ग मे रख दिया जाये तो साधनो की सख्या कम हो सकती है।

परम्परागत वर्गीकरण के विरुद्ध एक आक्षेप यह भी है कि कुछ साधनो को मौलिक मानकर उन्हें अन्य साधनो से पृथक कर देना उचित नही है। बेनहम का यह मत है कि मौलिकता के आधार पर भूमि को पूँजी से अलग एक साधन मानना उपयुक्त नही है। यह ठीक है कि भूमि प्रकृति द्वारा प्रदान की जाती है और पूँजी मनुष्य द्वारा निर्मित की जाती है। परन्तु भूमि की उत्पादकता तथा उपयोगिता मे वृद्धि मानव-प्रयासो के द्वारा ही सम्भव हो पाती है। यदि भूमि का साफ करके उसको कृषि योग्य अथवा शहरी क्षेत्र या औद्योगिक क्षेत्र मे परिवर्तित कर लिया जाये तो यह भूमि पूँजी कहलायेगी। परन्तु प्रकृति द्वारा दी गयी भूमि और मनुष्य द्वारा नया रूप देने पर उपलब्ध भूमि मे भेद करना कठिन होगा। अतः दोनो मे जो थोडा सा मौलिक अन्तर हो उसको ध्यान मे रखकर भूमि को भी पूजी के अन्तर्गत शामिल किया जा सकता है। इसी प्रकार श्रम को कार्यकुशलता मे वृद्धि करके उसे भी अधिक उप-

[10] "Any thing which contributes towards output is a factor of production......any ingredient which goes into the productive process at any stage is a factor of production" —Benham

योगी बनाया जा सकता है। इस आधार पर केवल मौलिक या प्रकृति-दत्त उपहार होने के कारण भूमि और श्रम को अलग श्रेणियों में रखना ठीक प्रतीत नहीं होता।

(4) नवीन वर्गीकरण - उपर्युक्त मतभेदों के कारण उत्पादन के पाच साधनों की संख्या को कम करने की दिशा में और भी अन्य प्रयत्न किए गए हैं। आस्ट्रियन अर्थशास्त्री वीजर (Wieser) ने उत्पादन के समस्त साधनों को दो विस्तृत श्रेणियों-विशिष्ट (Specific) तथा अविशिष्ट (Non-specific) में रखा है। जिन साधनों का उपयोग केवल किसी एक विशिष्ट कार्य के लिए ही किया जा सकता है। तथा जो साधन गतिशील नहीं होते उन्हें विशिष्ट साधन (Specific factors) कहते हैं, जैसे रेल का इंजन केवल एक विशिष्ट कार्य—गाड़ी चलाने—के लिए ही उपयोगी माना जाता है। उसे जूट या चीनी मिल में मशीनों को चलाने के लिए प्रयोग में नहीं लाया जा सकता। अतः यह एक विशिष्ट साधन माना जायेगा। इसके विपरीत जिन साधनों का उपयोग विभिन्न कार्यों के लिए किया जा सकता है तथा जो गतिशील होते हैं, उन्हें अविशिष्ट साधन (Non-Specific factors) कहते हैं, जैसे एक शक्ति यन्त्र (बिजली की मोटर), जिसका प्रयोग कहीं पर भी किया जा सकता है। परन्तु इस सम्बन्ध में भी यह कहा जाता है कि किसी साधन की विशिष्टता तथा अविशिष्टता उसके प्रयोग पर निर्भर करती है। यह साधन का मौलिक गुण नहीं है। इस गुण को उत्पादन कार्य के लिए साधन के साथ जोड़ दिया जाता है। श्रम को चाहे मशीन चलाने के लिए प्रयोग में लाया जाय और चाहे संगठन कार्य के लिए, वह श्रम ही कहलायेगा। इसके साथ ही साथ साधन विशिष्ट अथवा अविशिष्ट थोड़े ही समय तक रह सकता है। जब तक कोई भूमि बेकार पड़ी है, तब तक वह अविशिष्ट है, क्योंकि उसका प्रयोग किसी भी कार्य मकान बनाने, दुकान बनाने, पार्क बनाने आदि के लिए किया जा सकता है। परन्तु जब उसका प्रयोग मकान बनाने के लिए कर लिया जाता है, तब वह विशिष्ट साधन माना जाता है।

निष्कर्ष : उपरोक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि उत्पादन के साधनों का पाच वर्ग-सम्बन्धी परम्परागत वर्गीकरण ठीक नहीं है, फिर भी इस अस्वीकार करना उचित नहीं है। अर्थशास्त्र की वर्तमान विषय-सामग्री उत्पादन के साधनों के इस प्रकार के वर्गीकरण पर ही आधारित है। सभी उत्पादनकारी साधनों के उत्पादन को एक साथ सम्मिलित करके अथवा उनका सूक्ष्म वर्गीकरण करके अलग अलग अध्ययन करना कठिन एवं जटिल होगा तथा अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों को पुनः नया रूप देने की आवश्यकता होगी।

प्रश्न व संकेत

1. उत्पादन का अर्थ बताइए। वे कौन से तत्त्व हैं जो किसी समय में एक देश के उत्पादन की मात्रा को निर्धारित करते हैं ?

(Agra, B. A. 1956)।

(संकेत : सर्वप्रथम उत्पादन का अर्थ स्पष्ट कीजिए। इसके पश्चात् उत्पादन की मात्रा को निर्धारित करने वाले तत्वों का वर्णन कीजिए।)

2. उत्पादन का आर्थिक क्या अर्थ है ? क्या उत्पादन तथा उपभोग के अन्तर्गत मनुष्य की सभी आर्थिक क्रियाएँ आ जाती हैं ?

(Alld; B Com. 1962)

(संकेत : प्रश्न के दूसरे भाग में उत्पादन व उपभोग के अन्तर्गत आने वाली आर्थिक क्रियाएँ बताइए।)

3. उत्पादन क्या है ? उत्पादन के साधन कौन कौन से हैं ? इन साधनों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन कौन सा है ?

(Bhagalpur, 1966A)

(संकेत : प्रश्न के दूसरे भाग में उत्पादन के विभिन्न साधनों के तुलनात्मक महत्व का विवेचन कीजिए और बताइए कि कौन सा साधन अधिक महत्वपूर्ण है।)

15

भूमि व भूमि की कार्यक्षमता
(Land and its Efficiency)

"By land is meant, not merely land in the strict sense of the word, but whole of materials and the forces which nature gives freely for man's aid in land and water, in air and light and heat."

—Marshall

1. भूमि का अर्थ (Meaning of Land)

भूमि उत्पादन का प्रमुख साधन है। साधारण भाषा में भूमि का अर्थ भूमि की सतह तथा मिट्टी से है, परन्तु अर्थशास्त्र में भूमि का अर्थ अधिक व्यापक है। अर्थशास्त्र में भूमि का अर्थ एवं अभिप्राय उन समस्त पदार्थों एवं शक्ति से है जो पृथ्वी की सतह पर, उसके नीचे तथा ऊपर, प्रकृति द्वारा निःशुल्क उपहार-स्वरूप प्रदान की जाती है। इस विस्तृत अर्थ में भूमि के अन्तर्गत भूमि की सतह के अतिरिक्त अन्य सब प्राकृतिक साधनों, जैसे हवा, धूप, वर्षा, नदी, झरने, पहाड़, वन, समुद्र, जीव-जन्तु, वनस्पतियां, खनिज पदार्थ, आदि, भी सम्मिलित हैं। प्रोफेसर मार्शल ने भूमि के इसी अभिप्राय को अपनी परिभाषा में व्यक्त किया है, जो इस प्रकार है :

"भूमि का अर्थ, शब्द के वास्तविक अर्थ में केवल भूमि से ही नहीं है, वरन् उन सभी पदार्थों और शक्तियों से है जो प्रकृति मनुष्य की सहायता के लिए पृथ्वी भूमि और पानी, वायु, प्रकाश और उष्णता के रूप में निःशुल्क प्रदान करती है।"

पैंतन ने भी 'भूमि' के सम्बन्ध में इसी प्रकार का मत प्रकट किया है। परन्तु प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने इस शब्द का उपयोग विभिन्न अर्थों में किया था। इन अर्थशास्त्रियों में से कुछ का यह मत है कि प्रकृति की उदारता के कारण इसमें मिले उपहार (Gifts of Nature) ही भूमि है। रिकार्डो (Ricardo) ने भी इसे प्रकृति का निःशुल्क या स्वतन्त्र उपहार (Free Gift of Nature) ही माना है, परन्तु वह अपने पूर्ववर्ती विचारकों की इस बात से सहमत नहीं है कि प्रकृति उदार है।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने भूमि की मौलिक तथा नष्ट न होने वाली शक्तियों को ही भूमि माना था। बाद में उन्होंने कृषि योग्य भूमि के सम्बन्ध में उसकी मिट्टी की उर्वरा-शक्ति, गैर-कृषि भूमि के सम्बन्ध में उसके स्थान (space) तथा उसके स्थिति मूल्य (site-value), वायु, जल और सूर्य के प्रकाश को भूमि के अन्तर्गत सम्मिलित किया। परन्तु मार्शल ने अपनी उपर्युक्त परिभाषा मे 'भूमि' का प्रयोग अधिक व्यापक अर्थ मे किया। मार्शल तथा पेंसन की परिभाषाओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि भूमि के अन्तर्गत केवल उन्ही पदार्थों तथा शक्तियों को सम्मिलित किया जा सकता है जिनको मनुष्य अपने श्रम द्वारा निर्मित नही करता है, क्योंकि मनुष्य द्वारा निर्मित वस्तुएं पूंजी के अन्तर्गत सम्मिलित की जाती हैं।

भूमि के लक्षण :

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर ही भूमि के निम्नलिखित लक्षणों की व्याख्या की गयी है :

1. भूमि प्रकृति की नि शुल्क देन है (*Free Gift of Nature*) . भूमि प्रकृति द्वारा प्रदान किया गया एक स्वतन्त्र उपहार है। इसका सृजन तथा निर्माण मनुष्य नही करता। मनुष्य इसे बिना किसी व्यय के प्रकृति से स्वतन्त्र रूप मे प्राप्त करता है। मानव समाज को इसके लिए कोई मूल्य नही देना पड़ता। बाद मे वह उसमे सुधार करके उसे अधिक उपयोगी बना लेता है। इस सम्बन्ध मे मार्शल ने कहा है कि वे मौलिक पदार्थ, जो अपनी उपयोगिता के लिए मानवीय श्रम के ऋणी हैं, पूंजी के अन्तर्गत रखे जाते हैं, और वे पदार्थ, जो किसी प्रकार से उसके ऋणी नहीं हैं, भूमि के अन्तर्गत आते हैं।

(Those Material things which owe their usefulness to human labour being classed under capital and those which owe nothing to it being classed as land.)

2. भूमि की मात्रा सीमित है (Limited in Quantity) : भूमि की मात्रा अथवा उसका परिमाण सीमित है। उसकी मात्रा मे किसी प्रकार वृद्धि या कमी नही की जा सकती। जिस सीमा या परिमाण से प्रकृति ने अपने उपहार दे रखे हैं वे निश्चित हैं, जैसे पृथ्वी का क्षेत्रफल प्रकृति द्वारा निर्धारित एवं निश्चित कर दिया गया है। मनुष्य न तो उसको घटा सकता है और न ही उसको बढ़ा सकता है। यही कारण है कि भूमि की पूर्ति पूर्णतया बेलोचदार (Perfectly inelastic) मानी जाती है। कुछ आलोचकों ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि भूमि का क्षेत्रफल समुद्र, झीलों, तालाबों को सुखाकर बढ़ाया जा सकता है, परन्तु यह तर्क ठीक नहीं है। भूमि अर्थात् धरातल तो पहले से भी वहां वर्तमान है। मनुष्य उस स्थान के पानी को सुखाकर केवल उसकी उपयोगिता मे वृद्धि ही करता है।

3. **भूमि अविनाशी है (Indestructible) :** भूमि कभी भी नष्ट नहीं होती। पृथ्वी की सतह पर कभी-कभी कुछ आवश्यक परिवर्तन होते रहते हैं, जैसे पहाड़ों के स्थान पर समतल भूमि का हो जाना, नदियों का सूख जाना, आदि। परन्तु इन परिवर्तनों का यह अर्थ नहीं है कि भूमि नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार भूमि की उर्वरा-शक्ति में कमी होने पर यह कहना कि भूमि नष्ट हो गयी है, गलत है। प्रकृति स्वयं प्राकृतिक तत्वों को प्रदान करके उसकी उर्वरा-शक्ति में वृद्धि करती है।

4. **भूमि अचल एवं स्थिर है (Immobile) :** भूमि स्वभाव से ही स्थिर एवं अचल है। इसको एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं ले जाया जा सकता। अतः इसमें गतिशीलता (Mobility) का अभाव है। किसान के खेतों, खानों, वन, नदियों आदि का किसी अन्य स्थान पर स्थानान्तरण नहीं किया जा सकता।

5. **भूमि निष्क्रिय है (Passive) :** भूमि का यह प्राकृतिक गुण है कि वह स्वाभाविक रूप से जड़ एवं निर्जीव है। वह उत्पादन कार्य में स्वयं सक्रिय भाग नहीं ले सकती। श्रम का सहयोग प्राप्त करने पर ही उत्पादन में उसका सहयोग मिलता है।

6. **भूमि के गुणों में विभिन्नता (Variability) :** स्थिति तथा उर्वरा-शक्ति के विचार से सभी भूमि एक सी नहीं हैं। कृषि-योग्य भूमि में ही कुछ अत्यधिक उपजाऊ, कुछ औसत दर्जे की तथा कुछ कम उपजाऊ होती हैं। स्थिति के विचार से भी भूमि में विभिन्नता पाई जाती है, जैसे शहर के निकट की भूमि तथा शहर से दूर भूमि। इसी प्रकार अन्य क्षेत्रों में कुछ खानों में अधिक खनिज पदार्थ होता है और कुछ में कम, वर्षा कहीं अधिक होती है तो कहीं पर कम। अतः विभिन्नता भी भूमि का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है।

7. **भूमि का कोई पूर्ति मूल्य नहीं होता (Land has no supply price) :** मार्शल के अनुसार, "भूमि का क्षेत्र निश्चित है, मनुष्य का इस पर कोई नियन्त्रण नहीं है, वह पूर्णतया माँग से अप्रभावित रहती है। (अर्थात् इस पर माँग का कोई प्रभाव नहीं पड़ता), इसका कोई उत्पादन व्यय नहीं होता, इनका कोई पूर्ति मूल्य नहीं होता जिस पर इसका उत्पादन किया जाय।"[1] इस आधार पर ही कहा गया है कि भूमि का पूर्ति-मूल्य (supply price) इसके प्रचलित मूल्य को प्रभावित नहीं करता।

भूमि के लक्षणों की समीक्षा :

भूमि का नया अर्थ : आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने भूमि के उपर्युक्त लक्षणों में

---

1 "The area of the earth is fixed, man has no control over these, they are wholly unaffected by demand, they have no cost of production, there is no supply price at which they can be produced."
—*Marshall*

से कुछ की कड़ी आलोचनाएं की हैं। उनके विचार से भूमि को प्रकृति का निमूल्य उपहार मानना, उसकी मात्रा सीमित मानना, तथा उसे अचल तथा अविनाशी समझना उचित नहीं है।

भूमि प्रकृति की देन है इस सम्बन्ध में कुछ अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि केवल इस आधार पर वस्तुओं को दो वर्गों—मनुष्य द्वारा बनायी गयी तथा प्रकृति द्वारा प्रदान की गयी वस्तुओं—में बांट देना ठीक नहीं है। प्रत्येक पदार्थ मानव-श्रम तथा पूंजी द्वारा सवारने के बाद ही उपयोगी होता है। प्रत्येक वस्तु अपने मौलिक रूप में प्रकृति की देन ही है। अतः इस प्रकार का वर्ग भेद ठीक मालूम नहीं होता और भूमि को इस आधार पर पूंजी तथा उत्पादन के अन्य साधनों से अलग रखना ठीक नहीं है। भूमि के उपजाऊपन के अविनाशी होने के सम्बन्ध में भी यह कहा जाता है कि किसी भी भूमि पर निरन्तर खेती करने पर उससे उत्पादन—मात्रा क्रमशः घटती जाती है। इससे यह सिद्ध होता है कि भूमि की कार्य क्षमता उसी प्रकार कम होती है जिस प्रकार मानव-श्रम या पूंजी की। अतः यह कहना कि भूमि अविनाशी है ठीक नहीं है।

भूमि की स्थिरता का लक्षण केवल इस तथ्य पर ही आधारित है कि भूमि का स्थान परिवर्तन सम्भव नहीं है। परन्तु गतिशीलता (Mobility) का अभिप्राय केवल स्थान परिवर्तन से नहीं है, बल्कि उसके विभिन्न प्रयोग से भी है। यदि किसी भूमि का प्रयोग कृषि से हटाकर स्कूल निर्माण में किया जाय, तो यह कहा जा सकता है कि भूमि स्थिर नहीं बल्कि गतिशील है। अतः उसे स्थिर मानना ठीक नहीं है।

भूमि की मात्रा में वृद्धि भी सम्भव है। आर्थिक दृष्टिकोण से उपलब्ध प्राकृतिक साधनों से उत्पादन-मात्रा में वृद्धि करने को भूमि की मात्रा में वृद्धि करना भी कह सकते हैं। भूमि पर गहन खेती करके तथा किसी एक भवन के ऊपर अनेक मंजिलें खड़ी करके स्थान की न्यूनता दूर की जा सकती है तथा उपयोगिताओं या उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि भूमि की मात्रा में वृद्धि या कमी सम्भव नहीं है।

अन्त में, भूमि निःशुल्क प्राप्त नहीं होती है। वह उतनी ही मूल्यवान तथा विनिमय-साध्य है जितने कि उत्पादन के अन्य साधन। यह कहना ठीक है कि मानव जाति को भूमि प्रकृति की ओर से निःशुल्क अर्थात् मूल्य चुकाये बगैर प्राप्त होती है। परन्तु उस पर एक बार अधिकार प्राप्त कर लेने पर उसका अधिकारी बिना मूल्य लिए उसके प्रयोग का अधिकार किसी अन्य व्यक्ति को नहीं देता। इसके अतिरिक्त यदि यह मान भी लिया जाय कि कोई भूमि बिना मूल्य दिए प्राप्त हो गयी है, तो भी उसमें विभिन्न प्रयोगों का गुण होने के कारण उसमें 'अवसर-व्यय (Opportunity Cost) तत्व मौजूद है। इस तत्व के आधार पर यह कहा जाता है कि

भूमि का प्रयोग किसी एक कार्य के लिए ही करने पर उसके दूसरे प्रयोग का त्याग करना पड़ता है।

आधुनिक विचार : उपर्युक्त आलोचनाओं के आधार पर ही आधुनिक अर्थशास्त्रियों (जे० के० मेहता भारतीय अर्थशास्त्री तथा वीजर, आस्ट्रियन अर्थशास्त्री) ने भूमि को उत्पादन का एक अलग साधन नहीं माना है। उनका यह विचार है कि भूमि की विशेषताएं प्रत्येक साधन में दृष्टिगोचर होती हैं, यदि हम इनको प्रयोग की विशिष्टता के आधार पर वर्गीकृत कर दें। यदि कोई साधन किसी एक विशिष्ट कार्य के लिए ही प्रयोग में आये तो उसे विशिष्ट तथा अन्य उपयोग में आने वाले साधन भूमि कहे जा सकते हैं।* इस आधार पर प्रत्येक साधन में भूमि का लक्षण या तत्व (Land Aspect) वर्तमान रहता है। यहां पर 'भूमि का पक्ष' होने का अर्थ यह है कि इस साधन के विभिन्न उपयोग न होने के कारण उसके 'वैकल्पिक उपयोग (alternative uses) को ध्यान में नहीं रखना पड़ता और न ही उसमें कोई त्याग की भावना ही निहित होती है। यह तथ्य प्रत्येक साधन—पूंजी, श्रम, संगठन आदि पर भी लागू हो सकता है। अत 'भूमि नामक साधन' का वर्ग अलग नहीं बनाया जा सकता।

2 भूमि की कार्यक्षमता (Efficiency of Land) :

भूमि की उत्पादन शक्ति या उसकी उत्पादकता को ही भूमि की कार्यक्षमता कहते हैं। उसकी कार्य क्षमता किसी उत्पादन कार्य के लिए उसकी उपयुक्तता तथा उसके द्वारा उत्पादित मात्रा के आधार पर निर्धारित की जाती है। यदि भूमि के एक टुकड़े से किसी अन्य टुकड़े की अपेक्षा अधिक उत्पादन किया जाता है तो यह कहा जायेगा कि भूमि के पहले टुकड़े में अधिक उत्पादकता है और दूसरे टुकड़े में कम। कार्यक्षमता के आधार पर भी यह कहा जा सकता है कि पहले टुकड़े में दूसरे टुकड़े की अपेक्षा अधिक कार्य क्षमता है।

भूमि के सम्बन्ध में कार्यक्षमता या उत्पादनशीलता शब्द को सापेक्षिक (Relative) अर्थ में प्रयोग किया जाता है। वास्तव में किसी भी साधन के सम्बन्ध में इस शब्द का प्रयोग सापेक्षिक अर्थ में ही होता है, क्योंकि कार्यक्षमता बिना तुलनात्मक व्याख्या के ज्ञात नहीं की जा सकती। भूमि के विषय में भी जब तक हम इसके दो टुकड़ों से प्राप्त उत्पादन की मात्रा की तुलना नहीं करते, तब तक यह नहीं कह सकते कि भूमि का अमुक टुकड़ा दूसरे टुकड़े से अधिक उत्पादक या कार्यक्षम है।

* "A factor of production, therefore, appears in its land aspect when it is considered as rendering its service without any sacrifice or cost." —J K. Mehta

भूमि की कार्यक्षमता को प्रभावित करने वाले तत्व . भूमि की उत्पादनशीलता या कार्यक्षमता को प्रभावित करने वाले निम्नलिखित तत्व हैं :

1. भूमि के मौलिक गुण (Natural Conditions) : भूमि की उत्पादनक्षमता उसके मौलिक एव प्राकृतिक गुणो पर निर्भर है। भूमि का यह मौलिक गुण उसकी उर्वराशक्ति है। यदि किसी भूमि मे अधिक उवरा शक्ति है तो उसकी उत्पादकता अधिक होगी। यह उर्वरा शक्ति अन्य अनेक प्राकृतिक तत्वो से प्रभावित होती है, जैसे भूमि-विशेष की प्रकृति, उसकी रचना, मिट्टी की किस्म, उसमे रासायनिक एव सजीव तत्वो की उपस्थिति आदि।

2. स्थिति (Location) : भूमि की कार्यक्षमता उसकी स्थिति से प्रभावित होती है। आजकल वस्तुओ का उत्पादन माग की पूर्ति करने के लिए ही नही किया जाता, बल्कि देश के विभिन्न क्षेत्रो, यहा तक कि विदेशी माग, की पूर्ति के लिए भी किया जाता है। अतः भूमि की कार्यक्षमता इस बात पर भी निर्भर है कि उसकी उत्पादन-लागत मे बिक्री, खच या वितरण व्यय किस मात्रा मे सम्मिलित है। यदि भूमि रेल और यातायात के अन्य साधनो, शहरो व मण्डियो से दूर है तो उत्पादित वस्तु को अन्य स्थानो पर ले जाने मे व्यय अधिक होगा जिससे भूमि की कार्यक्षमता कम मानी जायेगी।

3. भूमि सुधार (Improvements) भूमि की उत्पादकता पर उसके सम्बन्ध मे मनुष्य द्वारा किए गए सुधारो का भी प्रभाव पडता है। मनुष्य इन सुधारों के द्वारा भूमि के दोषों तथा प्राकृतिक असुविधाओ, जैसे भूमि का क्षरण (soil-erosion), खेतो मे अनावश्यक जल का एकत्र होना (water-logging) आदि, को दूर करके भूमि की कार्यक्षमता मे वृद्धि करता है। इसी प्रकार अच्छी खाद, अच्छे बीज का प्रयोग करके, फसलो के हेर-फेर से सिचाई का प्रबन्ध करके भूमि के मौलिक गुणो मे वृद्धि करके तथा वनारोपण आदि द्वारा भूमि की उत्पादकता को बढ़ाया जा सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि मनुष्य अपने प्रयत्नो द्वारा भूमि मे सुधार करके उसकी कार्यक्षमता मे वृद्धि करता है।

4. संगठन की कार्य कुशलता (Organisational Efficiency) . भूमि का उचित उपयोग ही भूमि को अधिक सक्रिय एव उत्पादक बना सकता है। यह कार्य भूमि का सगठनकर्त्ता करता है। वह भूमि को उपयुक्त कार्य मे लगाकर उसे अधिक उत्पादनशील बनाता है। यदि उसका उपयोग उचित ढग से नही किया जाये अर्थात् जिस कार्य के लिए वह अधिक उपयुक्त है यदि उसका उपयोग उस कार्य के लिए नही होता है, तो यह निश्चित है, कि उसकी उत्पादकता अपेक्षाकृत कम होगी। यदि भूमि का सगठनकर्त्ता भूमि का मालिक भी है, तो वह अधिक श्रम तथा

पूंजी लगा कर भूमि की उत्पादकता तथा कार्य क्षमता को बढ़ाने में अधिक रुचि लेगा।

5. अन्य परिस्थितियां : किसी देश की सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियां भी भूमि की कार्यक्षमता को प्रभावित करती हैं। समाज मे भूमि पर कार्य करने वालो का स्थान एवं आदर, उनकी आर्थिक दशा, सामाजिक नियम तथा सरकार की नीति—ये कुछ ऐसे प्रभावकारी तत्व हैं जो भूमि की कार्यक्षमता मे कमी या वृद्धि करते हैं।

प्रश्न व संकेत

1. भूमि की एक उपयुक्त परिभाषा दीजिए तथा तत्वो की विवेचना कीजिए जिन पर भूमि की उत्पादकता निर्भर करती है।

(Vik. B. A. 1964)

(संकेत : प्रश्न के प्रथम भाग मे भूमि की परिभाषा दीजिए तथा दूसरे भाग मे उन तत्वो का, जिन पर भूमि की उर्वरता निर्भर करती है, विवेचन कीजिए।

2. भूमि की परिभाषा दीजिए। क्या यह उत्पादन का एक साधन है? यह पूंजी से किस प्रकार भिन्न है?

(Alld. B. A. I, 1963)

3. अर्थशास्त्र मे उत्पादन का क्या अर्थ होता है? उत्पादन के साधन के रूप मे भूमि की विशेषताएं तथा महत्व बताइए।

(Ravi Shankar, 1965)

(संकेत : उत्पादन का अर्थ बताइए तथा प्रश्न के द्वितीय भाग मे भूमि की विशेषताएं तथा महत्व बताइए।)

16

श्रम व श्रम की कार्य-क्षमता
(Labour and its Efficiency)

"The term labour must be held to include the very highest professional skill of all kinds, as well as the labour of all skilled workers and artisans and we must include also not only that results in the permanent form, but also that renders services which perish in the act"

—Nicholson

उत्पादन के साधनो मे श्रम का महत्वपूर्ण स्थान है। प्राकृतिक साधनों के उपलब्ध होने पर भी यदि किसी देश मे मानव श्रम का अभाव है, तो वहा आर्थिक विकास की योजनायें शीघ्र पूरी नही की जा सकती। आर्थिक विकास की नयी विचारधाराओ के अनुसार आर्थिक विकास या तो श्रम के अधिक होने अथवा पूजी निर्माण से ही सम्भव हो सकता है। वाणिज्यवादी अर्थशास्त्रियो ने भी राष्ट्रीय समृद्धि के लिए 'श्रम के परिमाण में वृद्धि' पर विशेष बल दिया था। प्रत्येक आर्थिक विचारधारा म उत्पादन के महत्वपूर्ण साधन के रूप मे श्रम विचारणीय विषय रहा है।

1 श्रम का अर्थ (Meaning of Labour)

मार्शल के अनुसार अर्थशास्त्र मे श्रम का अभिप्राय "किसी भी मानसिक अथवा शारीरिक परिश्रम से है, जो पूर्णतया अथवा आंशिक रूप से, कार्य से प्राप्त होने वाले प्रत्यक्ष आनन्द के अतिरिक्त, किसी अच्छाई के लिए किया जाता है।"[1] टामस ने मार्शल की परिभाषा को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है : "वे समस्त शारीरिक तथा मानसिक कार्य जो किसी पुरस्कार की आशा मे किए जाते हैं, श्रम के

[1] "Any exertion of mind or body undergone partly or wholly with a view to some good, other than the pleasure derived directly from the work, is called labour" —*Marshall*

अन्तर्गत आते हैं।।"[1] जेवन्स ने अपनी पुस्तक 'Theory of Political Economy' में श्रम के अन्तर्गत केवल मनुष्य के उसी शारीरिक एवं मानसिक श्रम को सम्मिलित किया है, जिससे मनुष्य को दुःख एवं कष्ट का अनुभव होता है। जेवन्स की इस परिभाषा का समर्थन मार्शल ने भी किया है। उनके अनुसार, "श्रम का आशय मनुष्य के आर्थिक कार्य से है, चाहे वह हाथ से किया जाए या मस्तिष्क से।" (By labour is meant the economic work of man, whether done with the hand or the head) प्रो० निकलसन ने सभी प्रकार के मानवीय परिश्रम को श्रम के अन्तर्गत सम्मिलित किया है—'श्रम शब्द में सभी प्रकार की उच्चतम व्यावसायिक कुशलताओं के साथ ही साथ अकुशल श्रमिकों तथा कारीगरों के परिश्रम को भी सम्मिलित करना चाहिए। हम इसके अन्तर्गत केवल उन व्यक्तियों के परिश्रम को ही सम्मिलित करना चाहिए जो सामान्य रूप से व्यवसाय में लगे हों, वरन् उन व्यक्तियों के परिश्रम को भी सम्मिलित करना चाहिए जो शिक्षा, ललित कलाओं, साहित्य विज्ञान, न्याय-प्रशासन तथा अनेक प्रकार की राजकीय सेवाओं में लगे हों। हम न केवल उस परिश्रम को सम्मिलित करना चाहिए जिसके परिणामस्वरूप कोई स्थायी उत्पादन होता हो, बल्कि उस श्रम को भी सम्मिलित कर लेना चाहिए जिसके फलस्वरूप ऐसी सेवाएं प्रदान की जाती हैं जो पूरी होते ही नष्ट हो जाती हैं।"[2]

श्रम की उपर्युक्त परिभाषाओं से यह ज्ञात होता है कि श्रम के लिए निम्न लिखित बातों का होना आवश्यक है

(i) श्रम के अन्तर्गत केवल मनुष्य के परिश्रम को ही सम्मिलित किया जाना चाहिए। पशुओं तथा मशीनों द्वारा प्रदान की गई सेवाएं श्रम के अन्तर्गत नहीं आतीं, (ii) सभी प्रकार के मानव परिश्रम को चाहे उसका सम्बन्ध मनुष्य के शरीर से हो अथवा मस्तिष्क से—श्रम कहा जाता है, तथा (iii) अर्थशास्त्र में

---

[1] "Labour connotes all human effort of body or mind, which is undertaken in the expectation of reward" —*Thomas*

[2] "The term labour must be held to include the very highest professional skill of all kinds, as well as the labour of unskilled workers and artisans we must include not only the labour of those engaged in business in the ordinary sense of the term but that of those employed in education, in fine arts, in literature, in science, in the administration of justice and in governments in all its branches, and we must include also, not only that results in the permanent form, but also that renders services which perish in the act" —*Nicholson*

श्रम कहे जाने के लिए यह आवश्यक है कि उसका उद्देश्य आर्थिक स्वार्थ अथवा लाभ की आशा हो। अप्रत्यक्ष आनन्द के लिए किया गया परिश्रम अर्थशास्त्र मे श्रम नहीं माना जाता।

अर्थशास्त्र मे श्रम का अभिप्राय उन व्यक्ति-समूहो की श्रम शक्ति से है जो उत्पादन कार्यों के लिए उपलब्ध होती है। अत जैसा कि बेनहम ने कहा है, "श्रम का आशय श्रमिको की सेवाओ से है न कि श्रमिको से, क्योकि उनकी सेवा को ही उत्पादन पडत (Input) का एक अग माना जाता है। कोई भी नियोक्ता श्रमिकों की सेवाओ तथा कार्यशील घटो की माग करता है, न कि व्यक्तियो के रूप मे श्रमिको की।" वस्तुत व्यक्तियो की सेवायें ही उत्पादन कार्य मे सहायक होती हैं। इस प्रकार उत्पादन की सम्भावनाओ पर विचार करते समय श्रम के अन्तगत उन सभी व्यक्तियो की कार्य शक्ति तथा सेवाओ को सम्मिलित किया जाता है जो उत्पादन कार्यों मे लगे हुए हैं अथवा काम करने के लिए इच्छुक हो। किसी भी देश की प्रमुख समस्या वहा पर उपलब्ध श्रम शक्ति के अधिकतम उपयोग की होती है तथा इसी आधार पर वहा उत्पादन की मात्रा तथा आर्थिक विकास की योजनाएं निर्धारित एव निर्मित की जाती हैं।

2. श्रम की विशेषताए (Peculiarities of Labour)

श्रम मे कुछ ऐसी मौलिक एव स्वाभाविक विशेषताए हैं जिनके कारण यह उत्पादन के अन्य साधनों से भिन्न माना जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि श्रम करने वाला श्रमिक एक चेतन प्राणी है जबकि अन्य साधन जड-पदार्थ हैं। श्रम उपयोगिताओ का सृजन अपने (श्रमिको) लिए ही करता है। अत वह उत्पादन का साधन और साध्य दोनो ही माना जाता है। इस आधार पर श्रम की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित है :

(1) **श्रम और श्रमिक एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते (Inseparable)** श्रम और श्रमिक एक दूसरे से अलग नही किये जा सकते। श्रमिक के खुद रहने पर ही उसका श्रम प्राप्त होता है। श्रमिक की अनुपस्थिति मे उसकी सेवायें प्राप्त नही की जा सकती। किसी स्थान पर कार्य करने के लिए तैयार होने पर मजदूर या श्रमिक को स्वय वहा जाकर काम करना पडता है। अत पूंजी और भूमि की तरह श्रम अपने मालिक (श्रमिक) से अलग अपना कोई अस्तित्व नही रखता। यही कारण है कि श्रमिक को अपना श्रम बेचने के लिए कार्य स्थान पर स्वय जाना पडता है तथा उसकी गतिशीलता मे रुकावट आती हैं।

(2) **श्रम स्वय शीघ्र नाशवान है (Perishable)** . श्रमिक का श्रम बिक्री योग्य वस्तु है। यदि हर रोज का श्रम बेचा न जाय तो वह धन की तरह इकट्ठा

नहीं किया जा सकता। अन्य शब्दों में यदि कोई श्रमिक एक दिन काम न करे तो उस दिन का श्रम नहीं होता। समय के बीतते ही उस दिन काम में न लाया गया श्रम भी बेकार हो जाता है। यही कारण है कि श्रमिक अपना श्रम बेकार बर्बाद नहीं होने देता। वह उसे किसी भी कीमत पर बेचने के लिए तैयार हो जाता है। इस वजह से ही यह कहा जाता है कि श्रमिक का श्रम बहुत ही नाशवान है।

(3) मालिकों के मुकाबले में श्रम की सौदा करने की ताकत कमजोर होती है (Weak bargaining power) : काम में नहीं लेने पर श्रम के बर्बाद हो जाने के कारण ही मालिक श्रमिकों में अपने श्रम को फौरन बेचने की मजबूरी का नाजायज फायदा उठाते हैं और उनके श्रम को कम से कम कीमत या मजदूरी पर खरीद लेते हैं। श्रमिकों में सगठन की कमी होने की वजह से काफी समय तक इन्तजार भी नहीं कर सकते। यही कारण है कि उन्हें मालिकों द्वारा दी जाने वाली मजदूरी को स्वीकार करना पड़ता है। मालिक श्रम के इस दोष का फायदा उठाकर उनको कम मजदूरी देना चाहते हैं तथा उनका शोषण करते हैं।

(4) श्रम की पूर्ति में बढ़ोतरी या कमी जल्दी हो नहीं की जा सकती : मजदूरों की पूर्ति की मात्रा जनसंख्या पर तथा उनके गुण उनकी कार्य-कुशलता पर निर्भर है। जनसंख्या तथा कार्य-कौशल में बढ़ोतरी जल्दी न हो सकने से थोड़े ही समय में श्रम की पूर्ति जल्दी ही नहीं बढ़ायी जा सकती।

(5) श्रम उत्पादन का सक्रिय साधन है (Active factor of production) : श्रम उत्पादन का सक्रिय साधन है, क्योंकि श्रम ही दूसरे सभी साधनों को उत्पादन के कामों में लगाता है। श्रम के बिना दूसरे साधन खुद उत्पादन नहीं कर सकते। खुद काम न करने वाले (निष्क्रिय) साधनों में भूमि, पूंजी इत्यादि शामिल हैं।

(6) श्रम में बुद्धि तथा निर्णय शक्ति का होना : प्रो॰ केयरनक्रास (Prof Cairncross) का कहना है कि उत्पादन साधनों में श्रम ही एक ऐसा साधन है जिसमें बुद्धि (intelligence) तथा निर्णय शक्ति (power of judgement) है। यही कारण है कि वह दूसरे सभी साधनों को सगठित करता है और मजदूर के रूप में उन पर काम करके उनकी उपयोगिता बढ़ाता है। यह यन्त्र की तरह नहीं है। अत. कोई दूसरा साधन उसकी जगह नहीं ले सकता।

(7) श्रमिक का श्रम ही बेचा जा सकता है, श्रमिक नहीं जैसा कि मार्शल ने कहा है, श्रमिक अपने श्रम को बेचता है, अपने आपको नहीं। इसका मतलब यह कि श्रमिक अपने शरीर तथा अपनी कार्य कुशलता का हमेशा मालिक बना रहता है। वह अपने शरीर की मेहनत तथा कार्य कुशलता को जिसे वह बिक्री योग्य वस्तु समझता है, ही बेचता है। कार्य-कुशलता रूपी पूंजी वह अपना श्रम बेचकर धीरे-धीरे

वसूल करता है। इसके साथ ही साथ उसकी यह सम्पत्ति उससे अलग भी नही की जा सकती। वह उसके शरीर के साथ गतिशील रहता है।

(8) श्रम, भूमि और संगठन की तुलना मे, गतिशील है (Mobile) : भूमि को स्थिर, परन्तु श्रम को गतिशील माना जाता है। इसका कारण यह है कि भूमि का स्थान नही बदला जा सकता है, परन्तु श्रम को स्वयं अपने काम की जगह पर जाना पड़ता है। वह व्यवसाय अथवा स्थान आसानी से बदल सकता है। परन्तु पूँजी की तुलना मे श्रम को कम गतिशील माना जाता है।

(9) श्रम की पूर्ति पर अन्य वस्तुओं की पूर्ति की तरह, (मजदूरी) का प्रभाव नहीं पड़ता : अर्थशास्त्र मे पूर्ति का नियम यह बतलाता है कि किसी वस्तु का मूल्य बढ़ने पर उसकी पूर्ति बढ़ती है और उसका मूल्य घटने पर उसकी पूर्ति कम हो जाती है। परन्तु श्रम के सम्बन्ध मे यह नियम लागू नही होता है। श्रमिकों की मजदूरी अधिक होने पर भी श्रमिकों की पूर्ति कम हो जाती है, क्योंकि बहुत से श्रमिक काफी मजदूरी कमा लेने पर कुछ दिन काम मे गैर हाजिर रहकर आराम करना चाहते हैं।

मजदूरी कम होने पर भी श्रम की पूर्ति बढ सकती है। श्रमिक अधिक से अधिक काम करके अपनी आमदनी बढ़ाने के लिए तैयार रहता है। उसके परिवार के अन्य सदस्य भी, पारिवारिक आय बढ़ाने के लिए, काम करने के लिए तैयार रहते हैं। इससे श्रम की पूर्ति बढ जाती है। भारतीय श्रम की यह खास विशेषता है।

(10) श्रमिक एक साथ उत्पादक एवं उपभोक्ता दोनो होता है (Labour is both means and end of production) . भूमि तथा पूँजी उत्पादन के ऐसे साधन हैं जो केवल उत्पादन मे ही सहायक होते है। इन साधनों की पूर्ति करने वाले उत्पादित वस्तु को बेचने पर मिली कीमत का एक छोटे से छोटा भाग उपभोग के लिए प्रयोग म लाते हैं। परन्तु श्रमिक न केवल उत्पादन करता है, बल्कि साथ ही साथ उसका उपभोग भी करता है।

निष्कर्ष श्रम की उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर ही उसके परिमाण सम्बन्धी पहलू (Quantitative Aspect) तथा गुण सम्बन्धी पहलू (Qualitative Aspect) पर विचार किया जा सकता है।

(1) परिमाण सम्बन्धी पक्ष या पहलू (Quantitative Aspect) : श्रम श्रमिक से अलग नही है। अत श्रम की मात्रा श्रमिकों की सख्या के बढ़ने पर ही सम्भव है। श्रमिकों की सख्या जनसख्या के बढ़ने पर ही निर्भर करती है, परन्तु जनसख्या में वृद्धि तथा श्रम की पूर्ति (Supply of Labour) धीरे धीरे ही कई वर्षों मे सम्भव हो पाती है। श्रम की पूर्ति जनसख्या के सिद्धांत पर आधारित है।

श्रमिकों की पूर्ति कार्य-कुशलता बढाकर भी की जा सकती है। इस प्रकार

श्रम की तत्कालीन माग की आंशिक पूर्ति सम्भव हो पाती है। परन्तु इसमे भी थोडा समय लगता है। श्रम की माग शीघ्र न बढ सकने के कारण ही कभी-कभी जब इसकी माग अधिक होती है, तब इसकी मजदूरी बढ जाती है। परन्तु माग कम होने पर श्रम की तत्कालीन पूर्ति घटायी नही जा सकती अतः मजदूरी कम हो जाती है।

जहा तक श्रम की माग का सवाल है यह एक व्युत्पन्न माग (derived demand) है। इसका कारण यह है कि श्रम उत्पादक होने पर ही उपयोगिता रखता है। उसकी उत्पादकता की सहायता से आवश्यकताओ की पूर्ति करने वाली उपभोग वस्तुओं का उत्पादन सम्भव हो पाता है। यदि उसमे उत्पादकता या कार्य करने की शक्ति नही हो, तो इसकी माग नही होगी।

(ii) गुण सम्बन्धी पक्ष या पहलू (Qualitative Aspect) : यह पक्ष श्रमिकों की कार्य क्षमता से सम्बन्धित है। श्रमिको की कार्यक्षमता उचित शिक्षा, अधिक मजदूरी, काम के कम घण्टो तथा आराम की सुविधायें देकर तथा श्रम मे मानवीय तत्वो का विकास करके बढायी जा सकती है। इस सम्बन्ध मे भी श्रम को श्रमिक से अलग नही होने वाले लक्षण को ध्यान मे रखा जाता है।

3 श्रम का वर्गीकरण (Classification of Labour)

अर्थशास्त्र मे श्रम को निम्नलिखित वर्गों मे बाटा गया है :

(1) उत्पादक श्रम (Productive Labour) और अनुत्पादक श्रम (Unproductive Labour) : किस प्रकार के श्रम को उत्पादक तथा किस प्रकार के श्रम को अनुत्पादक माना जाय ? इस बात पर अर्थशास्त्रियो मे मतभेद रहा है। अर्थशास्त्रियो ने इन दोनो तरह के श्रम मे जो भेद या अन्तर की रेखा निश्चित की है, वह इस प्रकार है :

वाणिज्यवादी अर्थशास्त्रियों (Mercantilists) का मत : चू कि इन अर्थशास्त्रियो का खास उद्देश्य देश मे सोने (gold) की मात्रा को बढाना था, इसलिए इनके अनुसार केवल वह श्रम जिसके द्वारा निर्यात के लिए वस्तुए तैयार की जाती हैं, *उत्पादक श्रम कहलाता था और अन्य सभी प्रकार का श्रम अनुत्पादक था।*

निर्बाधावादी (Physiocrats) का मत था कि वह श्रम जो प्राथमिक उद्योगों (Primary industries) तथा व्यवसायो के उत्पादन कार्यों मे लगा हो वही उत्पादक श्रम है और बाकी कामो मे लगा हुआ श्रम अनुत्पादक है। इन अर्थशास्त्रियो का कहना था कि कृषि, खानो से धातु निकालना, मछली पकडना आदि कुछ ऐसे उद्योग एव व्यवसाय हैं जिनमें प्रकृति मनुष्य की मदद करती है और उसकी मेहरबानी की वजह से ही उत्पादन बढता है। अतः इन उद्योगो मे लगा श्रम उत्पादक है। परन्तु

अन्य प्रकार के कार्यों, जैसे सेवाएं, व्यापार, अन्य औद्योगिक तथा निर्माण कार्य, में प्रकृति मदद नहीं करती। उत्पादक उत्पादन के लिए अपनी मेहनत पर निर्भर है अतः इन कामों में लगा श्रम अनुत्पादक है।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों (Classical Economists) का मत : प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों में एडम स्मिथ तथा जे० एस० मिल ने केवल उसी श्रम को उत्पादक माना जो भौतिक और मूर्त पदार्थों (Material and tangible goods) का उत्पादन करता था। उनके विचार से अभौतिक तथा अमूर्त पदार्थों का उत्पादन करने वाला श्रम अनुत्पादक श्रम था। श्रम को इस आधार पर उत्पादक तथा अनुत्पादक वर्गों में रखने पर ऐसे लोगों के श्रम को, जो अन्न, वस्त्र, मेज, बर्तन मशीनों आदि भौतिक वस्तुओं का उत्पादन करते हैं, उत्पादक श्रम कहा जाता है, परन्तु ऐसे व्यक्तियों के श्रम को वकील, डाक्टर, अध्यापक, गायक, घरेलू नौकर, पुजारी, कलाकार आदि के रूप में केवल अपनी सेवायें बेचते है, अनुत्पादक श्रम कहा जाता है।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री श्रम को एक वस्तु (Commodity) की ही तरह मानते थे। उनके विचार से किसी भी व्यक्ति की सेवा तथा श्रम को किसी वस्तु की तरह बेचा या खरीदा जा सकता है। इस प्रकार उनके अनुसार विनिमय की विशेषता के कारण श्रम का मूल्य माग तथा पूर्ति के नियम द्वारा निर्धारित की जा सकता है। परन्तु यह विचारधारा गलत है। इस युग में दासों का क्रय विक्रय अवैध माना जाता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य के साथ वस्तु की तरह व्यवहार नहीं किया जाता। श्रम के साथ स्वयं श्रमिक बिक जाता है। उसका व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है। इसके साथ ही वस्तु की पूर्ति माग के अनुसार घटायी-बढायी जा सकती है परन्तु श्रमिकों की संख्या अथवा श्रम की मात्रा आवश्यकतानुसार न तो शीघ्र ही बढ़ायी जा सकती है और न ही वह घटायी जा सकती है। श्रम मशीनों तथा वस्तुओं की तरह किसी अन्य वस्तु से प्रतिस्थापित (Substitute) भी नहीं किया जा सकता वह वस्तुओं की तरह न तो गतिशील (mobile) है और न ही निष्क्रिय। उसकी भावनायें, उसकी परिस्थितियां तथा उसके विचार उसे गतिशील बनाते हैं। श्रम का प्रयोग ही उसे सक्रिय बनाता है। प्रयोग नहीं होने पर उसे संचय भी नहीं किया जा सकता। इन कारणों से श्रम को भी वस्तु मानना ठीक नहीं होगा।

वर्तमान विचारधारा (Modern concept) : आधुनिक अर्थशास्त्रियों का मत उपर्युक्त दोनों मतों से अलग है। उनका कहना है कि उत्पादन का उद्देश्य उपयोगिता का सृजन एवं निर्माण या उसमें वृद्धि करना है। अतः वह श्रम जो मूर्त अथवा अमूर्त रूप में उपयोगिता या आवश्यकता की पूर्ति करने की शक्ति का सृजन या उसमें वृद्धि करने के लिए किया जाता है उत्पादक श्रम कहलाता है। वह श्रम जिससे न तो उपयोगिता या आवश्यकता की पूर्ति करने की शक्ति का सृजन ही होता

है और न उपयोगिता में वृद्धि ही होती है, अनुत्पादक श्रम कहा जाता है। इस प्रकार वर्तमान मत के अनुसार, वही श्रम उत्पादक श्रम कहा जा सकता है जिसके करने पर मनुष्य वास्तव में अपने उद्देश्य में सफल हो जाये। यदि वह श्रम करने पर भी अपने उद्देश्य में सफल नहीं होता है, तो उसका श्रम अनुत्पादक होता है। यदि वह अपने परिश्रम में कुछ समय तक ही सफल हो जाता है, तो जिस सीमा तक वह सफल होगा, उस सीमा तक ही किया गया श्रम उत्पादक होगा और बाकी अनुत्पादक। कुछ ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जिनका श्रम न तो उत्पादक (Productive) होता है और न अनुत्पादक (Unproductive) बल्कि 'उत्पादन-विरोधी' (Disproductive) होता है। टासिग (Taussig) ने इस उत्पादक-विरोधी श्रम को भी अनुत्पादक माना है। इन तीनों प्रकार के श्रम को निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट किया जा सकता है

यदि कोई व्यक्ति दीर्घकाल तक परिश्रम करने के बाद एक पुस्तक लिख कर समाप्त करता है और उसकी पुस्तक प्रकाशित हो जाए, तो उसका श्रम उत्पादक कहलायेगा। परन्तु यदि पुस्तक प्रकाशित नहीं होती और उसके द्वारा की गई सारी मेहनत बेकार चली जाती है, तो उसका श्रम अनुत्पादक कहा जायेगा। टासिग के अनुसार चोर, ठग, समाज-शोषकों तथा अन्य व्यक्तियों के श्रम पर पलने वाले व्यक्तियों को अनुत्पादक श्रमिक कहते हैं। परन्तु वास्तव में ये व्यक्ति समाज विरोधी हैं। अतः इनके श्रम को उत्पादन-विरोधी श्रम कहना ही अधिक उपयुक्त होगा।

परन्तु वर्तमान विचारधारा के अर्थशास्त्रियों में कुछ ऐसे भी अर्थशास्त्री हैं, (प्रो० बेन्हम आदि) जिनका मत है कि श्रम के ध्येय या उद्देश्य की सफलता के आधार पर उत्पादन तथा अनुत्पादक वर्गों में बाटना ठीक नहीं है। इन अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि यदि कोई काम करने पर श्रमिक को आय प्राप्त होती हो अर्थात् उसके द्वारा मूल्य सृजन (Production of Value) हो, तो ऐसे श्रम को उत्पादक श्रम कहना चाहिए और यदि किसी कार्य के करने पर आय प्राप्त नहीं होती हो या मूल्य-सृजन नहीं हो, तो उसे अनुत्पादक श्रम मानना चाहिए। इस सम्बन्ध में प्रोफेसर बेनहम ने कहा है : "किसी भी व्यक्ति के दृष्टिकोण से यदि उसका श्रम उसकी आय का साधन हो, तो वह उत्पादक श्रम है। यह प्रश्न कि यह सामाजिक दृष्टिकोण से भी उत्पादक है या नहीं, सामाजिक दार्शनिकों के लिए सोचने की बात है, न कि अर्थशास्त्रियों के लिए।"

4 "From the standpoint of the individual his work is productive, if it procures him an income The question, whether a particular kind of work is productive from the standpoint of the community, is really a question for social philosophers, not economists"

—*Benham*

(ब) कुशल तथा अकुशल श्रम (Skilled and Unskilled labour) :

जिस मानसिक अथवा शारीरिक श्रम को पूरा करने के लिए विशेष शिक्षा तथा योग्यता की आवश्यकता पडती है उसे कुशल श्रम कहते हैं। इसके विपरीत जो श्रम बिना किसी विशेष शिक्षा के किया जाता है, उसे अकुशल श्रम कहते हैं। डाक्टर तथा इन्जीनियर का श्रम कुशल श्रम है, लेकिन एक कुली और घरेलू नौकर का श्रम अकुशल श्रम है। कोई श्रम कुशल है अथवा अकुशल, यह देश अथवा काल पर निर्भर है। भारत जैसे विकासशील देश का कुशल श्रम अमेरिका जैसे विकसित देश के लिए अकुशल श्रम हो सकता है।

श्रमिकों की मजदूरी का निर्धारण इसी वर्गीकरण के आधार पर किया जाता है। सामान्यतया एक कुशल श्रमिक एक अकुशल श्रमिक की अपेक्षा अधिक मजदूरी प्राप्त करता है। इसका कारण यह है कि कुशल श्रमिक की उत्पादकता (Productivity) अकुशल श्रमिक से अधिक होती है। परन्तु कुशल तथा अकुशल श्रम का अन्तर औद्योगिक विकास, शिक्षा-प्रसार तथा श्रमिकों के प्रशिक्षण की विशेष सुविधाओं द्वारा दूर किया जा सकता है।

(स) मानसिक तथा शारीरिक श्रम (Mental and Physical Labour) :

जब किसी कार्य को पूरा करने में शारीरिक शक्ति की अपेक्षा मानसिक शक्ति का अधिक प्रयोग किया जाता है, तब ऐसे श्रम को मानसिक श्रम कहते हैं। इसके विपरीत किसी कार्य करने में जब मस्तिष्क की अपेक्षा शरीर से अधिक काम लिया जाता है, तब यह श्रम शारीरिक कहलाता है। अध्यापक का श्रम मानसिक श्रम है, परन्तु एक कुली का श्रम शारीरिक श्रम है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि प्रत्येक मानसिक कार्य करने के लिए शारीरिक श्रम आवश्यक है और कोई भी शारीरिक कार्य बिना मस्तिष्क का प्रयोग किए सम्भव नहीं हो सकता। अतः पूर्ण शारीरिक श्रम सम्भव नहीं है।

1. श्रम की कार्य-कुशलता (Efficiency of Labour)

किसी देश में श्रम की पूर्ति दो प्रकार से बढ़ाई जा सकती है—प्रथम, जन-संख्या में वृद्धि द्वारा, तथा द्वितीय, उपलब्ध श्रम शक्ति की कार्य कुशलता में वृद्धि द्वारा। श्रमिकों की उत्पादन क्षमता में वृद्धि कर उनकी संख्या की कमी की पूर्ति की जा सकती है। अन वर्तमान 'आर्थिक विकास-नीति' में श्रम की कार्य-कुशलता में वृद्धि को अधिक महत्व प्रदान किया जाता है।

(i) श्रम की कार्य-कुशलता का अर्थ :

एक निश्चित समय में, अन्य बातों के समान रहने पर, श्रम द्वारा अधिक

मात्रा में अथवा उत्तम किस्म का या दोनों प्रकार से वस्तुओं का उत्पादन करने की शक्ति, योग्यता तथा क्षमता को श्रम की कार्य-कुशलता कहते है । श्रम की कार्य-कुशलता एक सापेक्षिक और तुलनात्मक धारणा है। हम समान दशाओं में दो श्रमिकों द्वारा किए गए कार्यों की तुलना करके ही यह ज्ञात कर सकते है कि कौन सा श्रमिक अधिक कार्य-कुशल है। यदि एक श्रमिक, समान परिस्थितियों में, दूसरे श्रमिक से अधिक वस्तुएं या उससे अच्छी किस्म की वस्तुए उत्पादित करता है तो निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि पहला श्रमिक दूसरे श्रमिक की तुलना मे अधिक योग्य एवं अधिक कार्य-कुशल है । अतः समान परिस्थितियों मे, एक निश्चित समय मे किसी श्रमिक द्वारा मात्रा मे अधिक या किस्म मे अच्छी अथवा मात्रा तथा किस्म दोनो मे ही अधिक व अच्छी वस्तुओं को उत्पन्न करने की शक्ति को श्रम की कार्य-क्षमता कहा जाता है ।

श्रम की कार्य कुशलता की तुलना एक ही प्रकार के कार्य तथा समान परिस्थितियो मे की जाती है । यदि सूती मिलो के श्रमिकों की कार्य-क्षमता की तुलना लोहे तथा इस्पात के कारखानो के श्रमिको की कार्य-क्षमता से की जाये, तो दोनो के कार्यों की प्रकृति तथा स्वभाव मे अन्तर होने के कारण कार्य-क्षमता की तुलना करना ठीक नही होगा । इस प्रकार श्रम की कार्य कुशलता उसकी उत्पादकता या उत्पादनशीलता (*Productivity*) के आधार पर जानी जाती है । प्रत्येक श्रमिक की उत्पादकता की तुलना एक निश्चित् समय तथा क्षेत्र मे औसत या सीमान्त उत्पादकता से की जाती है। यदि किसी श्रमिक द्वारा औसत या सीमान्त उत्पादन से अधिक मात्रा मे या उत्तम वस्तु या अधिक मात्रा मे उत्तम वस्तु का उत्पादन किया जाता है तो उसे अधिक कार्य-कुशल श्रमिक कहा जाता है। यदि उसके द्वारा औसत या सीमान्त उत्पादन के बराबर ही उत्पादन किया जाता है तो उसे औसत या कार्यकुशल श्रमिक कहते हैं, परन्तु जब कोई श्रमिक औसत उत्पादन से कम मात्रा मे या औसत किस्म से खराब वस्तुओ का उत्पादन करता है, तब उसे अयोग्य एव अकुशल श्रमिक कहा जाता है।

औसत या सीमान्त उत्पादकता का निर्धारण दो प्रकार से किया जाता है—उत्पादित वस्तुओ की मात्रा के आधार पर तथा लागत के आधार पर। उदाहरणार्थ, किसी एक समय-विशेष मे उत्पादन के अन्य साधनो मे परिवर्तन किए बिना, यदि 3 श्रमिको के द्वारा 30 इकाइयां उत्पादित की जाती है और अलग अलग प्रथम श्रमिक 8 इकाइयां, द्वितीय श्रमिक 10 इकाइयां तथा तृतीय श्रमिक 12 इकाइयां उत्पादित करता है, तो उनका औसत उत्पादन 10 इकाई हुआ। इस स्थिति मे पहला श्रमिक अकुशल, दूसरा श्रमिक कार्यकुशल तथा तीसरा श्रमिक अन्य दोनो श्रमिको की अपेक्षा अधिक कार्यकुशल कहा जाएगा। इसी प्रकार यदि अन्य उत्पादन साधनो मे

परिवर्तन किये बिना चौथे श्रमिक को लगा लिया जाये और उसकी उत्पादकता 9 इकाइयो के बराबर ही हो तो कुल उत्पादन मे 9 इकाइयो की वृद्धि होने पर सीमान्त उत्पत्ति 9 के बराबर होगी। इस स्थिति मे दूसरा तथा तीसरा श्रमिक अधिक कार्य कुशल कहा जाएगा, चौथे श्रमिक की कार्य कुशलता सीमान्त कही जायेगी और पहला श्रमिक अकुशल माना जायेगा।

लागत के आधार पर यह निर्धारित किया जाता है कि किसी वस्तु के उत्पादन पर होने वाले लाभ की तुलना श्रम की लागत से की जाती है। यदि उत्पादित वस्तुओ की बिक्री से प्राप्त मूल्य मे से अन्य साधनो के पारितोषिक (*rewards*) घटाने के बाद शेष आय श्रमिक को मजदूरी के बराबर ही रह जाती है अथवा कम हो जाती है तो श्रम को कार्यकुशल नही कहा जा सकता। ऐसी स्थिति मे यह कहा जा सकता है कि उत्पादन कम होने से लाभ कम हुआ है। उत्पादन कम होने का अर्थ यह है कि श्रम की कार्य क्षमता या कार्य कुशलता कम है। अन्य बातो के समान रहने पर लाभ मे वृद्धि कार्य-क्षमता मे वृद्धि को व्यक्त करती है तथा लाभ मे कमी कार्य-क्षमता मे कमी बताती है। अत श्रम की कार्य कुशलता उस पर किए जाने वाले व्यय से तथा उससे प्राप्त होने वाले लाभ की तुलना के आधार पर अन्य बातो के समान रहने पर ही निर्धारित की जाती है।

(ii) श्रम की कार्य कुशलता को प्रभावित करने वाले तत्व :

श्रमिको की उत्पादकता तथा कार्य कुशलता पर कई बातो का प्रभाव पडता है। विभिन्न देशो के श्रम की कार्य-क्षमता को प्रभावित करने वाले कारण भी अलग अलग होते हैं। पैसन ने इस विभिन्नता के कारणो के सम्बन्ध मे कहा है—"श्रम की कार्य कुशलता आंशिक रूप से मालिक या नियोक्ता पर तथा आंशिक रूप मे श्रमिको पर, आंशिक रूप मे सगठन पर और आंशिक रूप मे व्यक्तिगत प्रयत्न पर, अशतः श्रमिक को प्रदान किए गए औजारो, यन्त्रो आदि पर और कुछ अश तक श्रमिक द्वारा उन उपकरणो को प्रयोग करने की दक्षता तथा परिश्रम पर निर्भर है।"[1] श्रम की कार्य-क्षमता को प्रभावित करने वाले तत्वो को चार वर्गों मे रखा जा सकता है : (1) श्रमिको के व्यक्तिगत गुण, (2) देश की परिस्थितिया, (3) कार्य करने की परिस्थितिया, (4) सगठन एव प्रबन्ध की योग्यता, तथा (5) विविध।

[1] "Efficiency of labour depends partly on the employer and partly on the employed, partly on organisation and partly on individual effort, partly on tools, machinery etc, with which the worker is supplied and partly on his own skill and industry in making use of them." —*Penson*

(1) श्रमिकों के व्यक्तिगत गुण :

(i) पैतृक तथा जातीय गुण (Hereditary and Racial Qualities) : श्रमिक पर वंशगत परम्पराओं का भी प्रभाव पड़ता है। मां बाप के स्वस्थ, मेहनती, योग्य तथा बुद्धिमान होने पर उनके बच्चों मे निसन्देह कार्य-क्षमता तथा कार्य करने की योग्यता अधिक होगी। जन्म से ही अच्छे वातावरण मे रहने वाला श्रमिक अधिक कार्य-कुशल होगा। परन्तु आजकल श्रम की कार्य कुशलता का निर्धारित करने वाले तत्वों मे जातीय तथा वंशगत गुणों को अधिक महत्व नहीं प्रदान किया जाता। उचित प्रशिक्षण द्वारा किसी भी जाति के व्यक्ति को योग्य एवं कुशल श्रमिक बनाया जा सकता है।

(ii) स्वास्थ्य (Health) . श्रमिक का स्वास्थ्य ही उसकी पूंजी है, क्योंकि उसकी कार्य-क्षमता उसी पर आधारित है यदि श्रमिक स्वस्थ है तो वह अधिक से अधिक कार्य करने पर भी नहीं थकता जिससे उनकी उत्पादनशीलता अधिक होती है।

(iii) सामान्य तथा विशेष शिक्षा (Education and Training) : श्रमिकों की कार्य-कुशलता पर उनकी शिक्षा-दीक्षा का अधिक प्रभाव पड़ता है। शिक्षित व्यक्ति अपना कार्य ठीक प्रकार से समझने तथा करने की क्षमता रखता है, जबकि अशिक्षित व्यक्ति किसी कार्य को समझने तथा करने में काफी समय लेता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक कार्य करने मे विशेष कुशलता की आवश्यकता होती है। इसके लिए श्रमिकों का विशेष रूप से प्रशिक्षित होना आवश्यक है। अपनी योग्यता अनुसार तकनीकी (Technical Education) शिक्षा प्राप्त करने पर श्रमिक अधिक कार्य-कुशल होता है।

(iv) नैतिक गुण : देश के अन्दर नैतिकता का स्तर ऊंचा होने पर श्रमिक सच्चाई और ईमानदारी से कार्य करता है। यदि देश मे सर्वत्र भ्रष्टाचार, बेईमानी और अनैतिक कार्यों का ही बोलबाला हो तो श्रमिक वर्ग आत्म-विश्वास खो देता है। उसमे कर्त्तव्य-परायणता की कमी होती है। यदि देश मे गरीबी अधिक है तो श्रमिक अनैतिकता का शिकार हो जाता है। इससे उनकी कार्य-क्षमता कम हो जाती है। शिक्षित होने के साथ-साथ श्रमिक के सच्चरित्र होने पर भी उसकी कार्य-क्षमता अधिक होती है।

(2) देश की परिस्थितियां :

(i) जलवायु (Climate) : देश या क्षेत्र की जलवायु श्रमिकों की कार्य-क्षमता को प्रभावित करती है। गर्म देश मे रहने वाला श्रमिक सुस्त और आलसी होता है, जबकि शीत जलवायु आनन्दप्रद और शक्ति-वर्धक होने के कारण श्रमिकों को अधिक परिश्रमी बनाती है।

(ii) सामाजिक वातावरण (Social Conditions) : जहाँ पर जातीय परम्पराओं के अनुसार कार्य के चुनाव के सम्बन्ध में प्रतिबन्ध होते हैं तथा श्रमिक की गतिशीलता उनसे प्रभावित होती है और यदि संयुक्त कुटुम्ब का बोझ उसे उठाना पड़ता है, तो ऐसे सामाजिक वातावरण में रहने वाले श्रमिक की कार्य-क्षमता कम होती है। पश्चिमी राष्ट्रों में 'व्यक्तिवादी' (Individualism) मान्यताओं का यह लाभ हुआ है कि श्रमिक व्यक्तिगत उन्नति के लिए अधिक प्रयास करता है।

(iii) राजनैतिक परिस्थितियाँ (Political Conditions) : श्रम की कार्य-क्षमता पर देश की राजनैतिक परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ता है। यदि देश स्वतन्त्र है तो वहाँ के श्रमिक अपने कर्त्तव्यों का पालन ठीक ढंग से करते हैं। स्वतंत्र होने पर वे देश के प्रति अपने कर्त्तव्यों और दायित्वों को समझते हैं, अतः उनकी कार्य क्षमता अधिक होती है। देश में राजनैतिक शान्ति तथा अव्यवस्था का प्रभाव भी श्रमिकों की कार्य-क्षमता पर पड़ता है। शान्ति और सुरक्षा का वातावरण रहने पर कार्य करने में श्रमिकों की रुचि अधिक होती है जिससे उनकी उत्पादिता में वृद्धि होती है।

(3) कार्य करने की परिस्थितियाँ

(i) कार्य में रुचि तथा कार्य करने की इच्छा : श्रमिक की कार्य-क्षमता उस समय अधिक होती है जब वह अपने कार्य में अधिक रुचि लेता है। उसकी रुचि के अनुसार कार्य होने पर वह उसे मन लगाकर करता है जिससे वह अधिक काम कर पाता है। इस प्रकार की इच्छा उसी समय उत्पन्न हो सकती है जबकि यह कार्य उसकी आन्तरिक योग्यता एवं रुचि के अनुकूल हो। अतः श्रमिकों की कार्य क्षमता में वृद्धि करने के लिए उनकी मानसिक स्थिति का अध्ययन आवश्यक होता है। जहाँ पर औद्योगिक मनोविज्ञान (Industrial Psychology) के आधार पर श्रमिकों की मनोदशा का अध्ययन करके उनके लिए अनुकूल वातावरण उत्पन्न किया जाता है, वहाँ श्रमिकों को अपनी इच्छा एवं रुचि के अनुसार काम मिलने पर उनकी कार्य-क्षमता अधिक होती है।

(ii) उचित पारिश्रमिक तथा अन्य सुविधायें (Fair wages and other Facilities) : यदि श्रमिक उचित मजदूरी प्राप्त करता है तो वह अपने रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठा सकता है। यदि उसे पौष्टिक भोजन, हवादार मकान तथा बीमारी के समय चिकित्सा आदि के लिए पर्याप्त मजदूरी मिलती है, तो उसका स्वास्थ्य ठीक रहेगा और उसकी कार्यक्षमता बढ़ेगी। जहाँ पर बोनस, पेन्शन तथा लाभ विभाजन सम्बन्धी योजनाएं अपनायी जाती हैं, वहाँ श्रमिक अधिक कार्य-कुशल होते हैं। इसी प्रकार सामाजिक सुरक्षा के अन्तर्गत आने वाली बीमा योजनाएं तथा

आर्थिक सहायता-योजनाओं की व्यवस्था होने पर श्रमिक को कार्य करने के लिए अधिक प्रेरणा मिलती है तथा उसकी कार्य-क्षमता बढ जाती है। भविष्य मे उन्नति की आशा भी उसकी कार्यक्षमता मे वृद्धि करती है। श्रमिक के स्वास्थ्य पर कार्य के घण्टो तथा कार्य-स्थान के वातावरण का अधिक प्रभाव पड़ता है। यदि श्रमिक का कार्य स्थान स्वच्छ, हवादार व प्रकाश-युक्त नही है तो इसका श्रमिक के स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है तथा उसकी कार्य-क्षमता कम होती है।

(iii) अच्छे औजार, उपकरण तथा उत्पादन की वैज्ञानिक प्रणाली : यदि श्रमिकों को अच्छे किस्म का कच्चा माल, अच्छे औजार तथा उपकरण प्राप्त हो और उत्पादन के अन्य साधनो के साथ श्रम का उचित सामजस्य हो तो श्रमिक की कार्य क्षमता निश्चित रूप से अधिक होगी। उत्तम तथा वैज्ञानिक उत्पादन-प्रणाली भी श्रमिक की कार्य-क्षमता मे वृद्धि करती है।

(iv) कार्य के घण्टे : श्रमिक कई घण्टे लगातार श्रम करने पर थक जाता है। इससे उसकी कार्यक्षमता घट जाती है। यदि श्रमिकों को कुछ घण्टे काम करने के बाद थोड़ा आराम कर लेने दिया जाय तो उससे उनकी कार्यक्षमता बढेगी। इसके अतिरिक्त यदि प्रति सप्ताह काम करने के घन्टो मे कमी कर दी जाय, तथा सप्ताह के अन्त मे मनोरजन व आराम के लिए पर्याप्त समय दिया जाय, जैसा कि कई पश्चिमी देशो मे किया गया है, तो भी श्रमिको की कार्यक्षमता बढेगी।

(v) श्रम कल्याण तथा सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था : मजदूरो की कार्य-क्षमता पर मालिको तथा सरकार द्वारा उनके कल्याण (Welfare) तथा सामाजिक सुरक्षा के लिए प्रदान की गई सुविधाओ का भी प्रभाव पड़ता है। किसी देश मे इनकी पूर्ण व्यवस्था होने पर श्रमिको की कार्य क्षमता एव कार्य कुशलता अधिक होती है। राज्य बीमा, वृद्धावस्था पेन्शन, बीमारी तथा दुर्घटना मे आर्थिक सहायता, प्राविडेन्ट फन्ड तथा ग्रैचुइटी आदि के होने पर श्रमिक को भविष्य की चिन्ता नहीं रहती। वह अपने वर्तमान पारिश्रमिक से अपने जीवन-स्तर को ऊँचा उठाकर अपनी कार्यक्षमता मे वृद्धि करता है।

(4) सगठन एव प्रबन्ध की योग्यता :

(i) अच्छा सगठन : यदि श्रमिको को उनकी योग्यता तथा इच्छा के अनुसार काम पर लगाया जाता है। उत्पादन के अन्य साधनो के साथ श्रम का उचित अनुपात मे समायोजन किया जाता है, श्रम विभाजन की वैज्ञानिक ढग पर व्यवस्था की जाती है, उनकी नियुक्ति उपयुक्त ढग से की जाती है तो श्रमिको की कार्यक्षमता मे वृद्धि होती है।

(ii) श्रमिकों तथा मालिको के बीच अच्छा सम्बन्ध : मालिक और श्रम के सम्बन्ध ठीक रहने पर लोकतन्त्रीय प्रणाली के आधार पर सह-प्रबन्ध, कार्य-समितियो

आदि की व्यवस्था को स्वीकार करने पर तथा श्रमिको की रुचि तथा उनकी प्रति क्रियाओ पर विशेष ध्यान देने पर श्रमिक मालिक के हितो को ध्यान मे रखते है तथा अधिक काम करते हैं। उनकी सघीय शक्ति को उचित मान्यता प्रदान करने पर श्रमिको की कायक्षमता नि सन्देह बढती है।

(4) विविध

(1) श्रमिक सघों (Trade Unions) का प्रभाव श्रमिक सघो का भी श्रम की कार्यकुशलता पर प्रभाव पडता है। ये सघ श्रमिको को सगठित करके उनके मालिको से उनकी मागो की पूर्ति कराने मे सहायक होते है जिससे श्रमिक उस ओर से निश्चित रह कर अपना कार्य करने मे अधिक समय देता है। इन सघो द्वारा श्रमिको की शिक्षा दीक्षा, उनके स्वास्थ्य, मनोरजन आदि की व्यवस्था भी की जाती है। हडतालो, तालाबन्दी आदि आन्दोलन के समय सघ आर्थिक सहायता भी प्रदान करते हैं। इस प्रकार श्रमिक सघ श्रमिको के मानसिक, नैतिक, शारीरिक और आर्थिक स्तर को ऊचा रखने मे सहायक होते हैं। इन गुणो का विकास होने पर श्रमिको की काय कुशलता मे वृद्धि होती है।

(ii) श्रमिकों मे अधिक गतिशीलता यदि श्रमिक एक ही स्थान तथा व्यवसाय मे स्थायी रूप से काम नही करते, बल्कि हमेशा व्यवसाय या पेशा बदलते रहते है, तो उनकी कायक्षमता कम हो जाती है।

उपरोक्त तत्वो एव परिस्थितियो के अनुकूल होने पर श्रमिक की कायक्षमता मे वृद्धि होती है। उचित मजदूरी, काम करने की अनुकूल दशाओ कारखाने के अन्दर प्राप्त सुविधाओ, देश का सामान्य वातावरण, श्रमिक के सस्कारो, उचित जीवन-स्तर, आवश्यक प्रशिक्षण अच्छी उत्पादन प्रणाली, अच्छा प्रब ध सरकार तथा अन्य सस्थाओ द्वारा किए गए श्रम कल्याण सम्बन्धी कार्यो और श्रमिक को प्राप्त सुविधाओ तथा सम्मान आदि का श्रमिक की कायक्षमता पर प्रभाव पडता है। श्रमिको की उच्च काय क्षमता राष्ट्रीय उत्पादन मे वृद्धि कर राष्ट्र को समृद्धिशाली बनाती है।

भारतीय श्रम की कार्य-क्षमता (Efficiency of Indian Labour)

अमेरिका, ब्रिटेन, जर्मनी, जापान आदि के श्रमिको से भारतीय श्रमिक की तुलना कर यह कहा जाता है कि भारतीय श्रम की कार्यक्षमता अत्यन्त ही कम है। भारत, अमेरिका, तथा लकाशायर (ब्रिटेन) मे सूती वस्त्र उद्योग मे प्रति एक हजार तकुओ पर काम करने वाले श्रमिको की औसत सख्या क्रमश 22 4 5 तथा 6 7 है, लोहा-इस्पात उद्योग मे अमेरिका के श्रमिक की उत्पादिता भारतीय श्रमिक से दस गुनी है। इसी प्रकार कोयला उद्योग मे भारतीय श्रमिक का उत्पादन अमेरिका के श्रमिक

के उत्पादन का केवल $\frac{1}{6}$ तथा ब्रिटेन के श्रमिक के उत्पादन का केवल $\frac{1}{2}$ भाग है। ये तथ्य सत्य हैं, परन्तु भारतीय श्रमिक को अन्य औद्योगिक देशो के श्रमिको की तुलना मे बहुत ही कम वास्तविक मजदूरी प्राप्त होती है, उसका जीवन स्तर निम्न है, काम करने की दशाएं आदर्श नही है, उसे वे सुविधाएं, वातावरण, मशीन तथा उपकरण प्राप्त नही है जो अन्य विकसित देशो के श्रमिको को प्राप्त है। अतः भारतीय श्रमिक की कार्य क्षमता की तुलना, अन्य विकसित देशो के श्रमिको की कार्यक्षमता से करना भारतीय श्रमिक के प्रति अन्याय करना है। सन् 1946 मे नियुक्त Labour Investigation Committee तथा द्वितीय विश्व-युद्ध काल मे नियुक्त अमेरिकी मिशन (Grady Mission) ने यह विचार व्यक्त किया था कि भारतीय श्रमिक की कम कार्यक्षमता के सम्बन्ध मे व्यक्त मत निराधार हैं। यदि भारतीय श्रमिक को काम करने की दशाएं, मजदूरी, उपकरण, प्रबन्ध-व्यवस्था तथा सुविधाए विकसित देशो के समान हो तो उसकी कार्य-क्षमता किसी भी देश के श्रमिक से कम नही है। अनुकूल सुविधाए प्रदान कर उसकी कार्यक्षमता मे आशातीत वृद्धि की जा सकती है।

परन्तु वस्तुतः भारतीय श्रमिक की कार्यक्षमता तथा कार्य-कुशलता कम है। इसके कारणों तथा उनको दूर करने के उपायो पर नीचे प्रकाश डाला गया है :

(1) **जातीय कारण :** भारत मे पेशो तथा कामो का वर्गीकरण जाति के आधार पर किया गया है। अतः प्रत्येक व्यक्ति अपनी जाति के अनुसार ही काम करता है। यह दोष शिक्षा के प्रसार से दूर होता जा रहा है।

(2) **कर्त्तव्यपालन की इच्छा का अभाव :** भारतीय श्रमिक गरीब है, उसकी मजदूरी बहुत ही कम है तथा अधिकांश श्रमिक अशिक्षित हैं। इन कारणो मे भारतीय श्रमिक अपने कर्त्तव्यो के प्रति उदासीन रहता है।

उचित मजदूरी तथा शिक्षा के द्वारा यह दोष दूर किया जा सकता है। उनके जीवन-स्तर को ऊंचा उठाकर उनमे कर्त्तव्य-पालन की भावना उत्पन्न की जा सकती है।

(3) **जलवायु तथा स्वास्थ्य :** एक तरफ गरीबी के कारण भारतीय श्रमिक का स्वास्थ्य ठीक नही है, दूसरी तरफ भारत की गर्म जलवायु अधिक श्रम के प्रतिकूल है। यदि श्रमिको को सन्तुलित भोजन के लिए पर्याप्त वेतन मिले, वह हवादार मकानो मे रहे तथा उसकी कार्य-कुशलता-रक्षक आवश्यकताए पूरी होती रहे, तो उसकी कार्य-क्षमता निश्चित रूप से बढेगी। गर्म जलवायु मे भी यदि काम करने के स्थान का वातावरण गर्मी के दिनो मे ठण्डा रखा जाय, तो कार्यक्षमता मे वृद्धि होगी।

(4) **शिक्षा तथा प्रशिक्षण :** भारतीय श्रमिक अधिकतर अशिक्षित हैं। वे कार्य-सम्बन्धी विशेष शिक्षा के अभाव मे अधिक कार्यकुशल नही होते।

यदि भारतीय श्रमिको को सामान्य तथा तकनीकी शिक्षा प्रदान की जाय तो वे भी अपनी कार्य-कुशलता को बढा सकते हैं। इस दिशा मे सरकार ने पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत आवश्यक व्यवस्था की है, जिसमे श्रमिको की कार्य-कुशलता पहले की अपेक्षा बढी है।

(5) **मजदूरी तथा कार्य करने की दशायें :** अन्य विकसित देशो की तुलना मे भारतीय श्रमिक की मजदूरी बहुत ही कम है। कार्य करने के स्थान उपयुक्त नही है। न तो वहा उचित प्रकाश की व्यवस्था है, और न ही वे हवादार तथा साफ-सुथरे हे। कार्य के घण्टे भी यहा अधिक हैं। एक भारतीय श्रमिक को एक सप्ताह मे 48 घण्टे काम करना पडता है जबकि पश्चिमी देशो मे श्रमिक को 36 से 40 घण्टे तक ही काम करना पडता है। आराम तथा मनोरंजन के अवसर नही मिलने के कारण, भारतीय श्रमिक की कार्यक्षमता कम हो जाती है।

यदि सरकार मजदूरी भुगतान, न्यूनतम मजदूरी, फैक्टरी अधिनियमो की व्यवस्थाओ का पालन करने पर कडी नजर रखे तो इन दिशाओ म आवश्यक सुधार हो सकते हैं, जिससे श्रमिको की कार्यक्षमता बढ सकती है।

(6) **अच्छी मशीनो का अभाव :** भारत मे अच्छी तथा आधुनिक मशीनों की कमी है। श्रमिको को ऐसी मशीनो पर काम करने के अवसर न मिलने से निश्चय ही उनकी कार्यक्षमता कम होगी।

यदि देश म आधुनिक मशीनो का प्रयोग किया जाय तथा श्रमिकों को उनको चलान के लिए ट्रेनिंग दी जाय तो भारतीय श्रमिको की कार्यक्षमता तथा कुशलता म आवश्यक वृद्धि होगी। भारत में स्वतन्त्रता के पश्चात् नये-नये उद्योगों के विकास तथा अच्छी मशीनो तथा औजारो के प्रयोग से भारतीय श्रमिको की कार्य-कुशलता में वृद्धि हुयी है।

(7) **श्रम-कल्याण तथा सामाजिक सुरक्षा :** यद्यपि भारत मे भी श्रमिको के कल्याण तथा सामाजिक सुरक्षा (*Social Security*) के लिए अनेक व्यवस्थाये की गयी हैं तथा सरकार द्वारा दुर्घटना क्षतिपूर्ति, श्रमिक राज्य बीमा नियम आदि पास भी किये गये हैं, फिर भी पश्चिमी देशो की तुलना मे ये व्यवस्थायें कम हैं। यदि सामाजिक सुरक्षा की योजना मे विस्तार कर दिया जाये तो भविष्य की ओर से निश्चिन्त होकर भारतीय श्रमिक भी अपना जीवन-स्तर ऊचा उठाकर, अपनी कार्य-क्षमता को बढाने मे समर्थ होगा।

(8) **योग्य सगठनकर्त्ताओ का अभाव :** भारत मे ऐसे कुशल तथा योग्य सगठनकर्त्ताओ की कमी है, जो श्रमिको को उनकी रुचि तथा योग्यता के अनुसार

काम बाटकर उनकी उत्पादन मात्रा को बढायें। वैज्ञानिक प्रबन्ध तथा श्रमिकों के प्रबन्ध के सम्बन्ध म उचित शिक्षा प्राप्त करने पर सगठन के इस दोष को दूर किया जा सकता है। इससे श्रम-मालिक सघर्ष भी समाप्त होगा तथा श्रमिको की भावनायें भी बदल जायेंगी। फलस्वरूप श्रमिको को अधिक कार्य करने की प्रेरणा मिलेगी।

(9) श्रम सघ (Trade Unions) : श्रम सघो (Trade Unions) का भारत में कम विकास हुआ है। इसके अतिरिक्त इनको मिल मालिको की तरफ से कोई प्रोत्साहन भी नही मिलता। अधिकाश श्रम-सघ ठीक ढग से सगठित भी नहीं हैं। उन पर राजनीतिक प्रभाव अधिक है। अत वे श्रमिको की कार्यक्षमता बढाने में किसी प्रकार से सहायक नही होते।

श्रम-सघो को अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए प्रयत्न किये जाने चाहिए तथा राजनीति से दूर रहकर मिल-मालिकों को उनके साथ मिलकर पारस्परिक मतभेद दूर करने के उपाय करने चाहिए, जिससे श्रमिको की कार्यक्षमता मे वृद्धि हो सके।

प्रश्न व सकेत

1. आधुनिक उद्योग मे श्रमिक की कार्यक्षमता निर्धारित करने वाले मुख्य-तत्वो की विवेचना कीजिए। भारतीय उदाहरणो द्वारा अपने उत्तर की पुष्टि कीजिए। (Raj, II yr. T D C. Com. 1964)

(सकेत : प्रश्न मे उन तत्वो का विस्तृत विवेचन कीजिए जिनसे श्रम की कार्यक्षमता प्रभावित होती है और प्रत्येक के साथ भारतीय उदाहरण दीजिए।)

2. श्रम की कार्यक्षमता निर्धारित करने वाले तत्व कौन-कौन से हैं? खेतिहर मजदूरो की कार्यक्षमता को सुधारने के लिए कौन से उपाय अपनाने चाहिए? (Agra, B.A I. 1960)

(सकेत प्रथम भाग मे श्रम की कार्यक्षमता को प्रभावित करने वाले तत्वों का वर्णन कीजिए तथा दूसरे भाग मे भारतीय कृषको की कार्यक्षमता मे वृद्धि के उपाय बताइए जैसे मजदूरी म वृद्धि, कार्य करने के घण्टे निर्धारित करना, श्रम सुविधाओ का विकास करना आदि।)

3 श्रम की गतिशीलता समझाइए। भारत म श्रम अधिक गतिशील क्यो नही है? (Ravi Shankar B A., Pali, Comp I, 1965)

(सकेत : प्रथम भाग मे श्रम की गतिशीलता का अर्थ बताइए और द्वितीय भाग मे उन कारणो का स्पष्टीकरण कीजिए जिनके कारण यहा श्रमिक की गतिशीलता कम है।)

4. श्रम की विशेषताएं बताइए तथा मजदूरी पर उनके प्रभावो की विवेचना कीजिए। (Agra, B A II, 1964)

(सकेत. प्रथम भाग मे श्रम की विशेषताओ का वर्णन कीजिए तथा द्वितीय भाग म मजदूरी पर पडने वाले प्रभावो को स्पष्ट कीजिए।)

17

जनसंख्या के सिद्धान्त
(Theories of Population)

"The relationship of population growth to economic development is interesting and complex A growing population almost invariably leads to an increasing total output, but it also makes for a greater number of persons among whom the output must be divided ..There are more productive hands, but there are also more mouths to feed"

—Richard T. Gill

श्रम की पूर्ति का मात्रा सम्बन्धी पक्ष (Quantitative Aspect) जनसख्या से सम्बन्धित है। यही कारण है कि समय-समय पर जनसख्या की समस्या पर विभिन्न विद्वानो एव अर्थशास्त्रियो ने अपने विचार प्रकट किये हैं। व्यापारवादी अर्थशास्त्रियो की यह धारणा थी कि राष्ट्रीय समृद्धि के लिए अधिक से अधिक उत्पादन आवश्यक है। अधिक उत्पादन श्रमिको की सख्या मे वृद्धि द्वारा ही सम्भव हो सकता है। अत उन्होने जनसख्या की वृद्धि को अधिक महत्व दिया था। बाद मे वे बढती हुई जनसख्या को ईश्वरीय वरदान मानने थे (Increasing population was regarded as a blessing of the Almighty)। प्रकृतिवादी अर्थशास्त्रियो ने जनसख्या की वृद्धि को एक 'प्राकृतिक व्यवस्था' (natural order) कह कर यह विचार प्रस्तुत किया था। उनका कहना था कि जनसख्या जीवन निर्वाह के साधनो के द्वारा अर्थात् प्रकृति द्वारा स्वय सीमित कर दी जाती है, अत उसकी वृद्धि एक गम्भीर समस्या नही है। एडम स्मिथ ने जनसख्या के एक अलग सिद्धात का प्रतिपादन नही किया था। उनकी यह धारणा थी कि जनसख्या माग तथा पूर्ति के सिद्धात के अनुसार स्वय सामजस्य को स्थिति मे आ जाती है।

परन्तु माल्थस प्रथम अर्थशास्त्री थे जिन्होने जनसख्या के विभिन्न पहलुओ पर गम्भीरता से विचार किया। उन्होने स्वय अपने देश तथा अन्य देशो की जन

सख्या का विश्लेषणात्मक अध्ययन करके एक निश्चित सैद्धान्तिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जिसके फलस्वरूप जनसख्या के सम्बन्ध मे एक नयी विचारधारा प्रारम्भ हुई।

1 माल्यस का जनसख्या-सिद्धान्त
(Malthusian Theory of Population)

जनसख्या का प्रथम सिद्धात प्रतिपादित करने का श्रेय थॉमस राबर्ट माल्थस (Thomas Robert Malthus) को है जिसका विवरण सन् 1798 मे प्रकाशित निबन्ध "An Essay on the Principles of Population as it affects the future Improvement of Society" मे मिलता है। इस लेख मे माल्थस ने अपने देशवासियो को तीव्र गति से बढ़ती हुई जनसख्या के गम्भीर परिणाम के प्रति सकेत किया था। माल्थस स्वय एक निराशावादी पादरी थे। उनको सामान्य लोगो के कष्टो एव दु खो को निकट से देखने तथा उनका अध्ययन करने का अवसर मिला था। उस समय इगलैंड तथा सारे योरोप की जनसख्या बहुत ही तेजी से बढ रही थी। फ्रास के साथ युद्ध के कारण खाद्यान्नो की कमी थी तथा उनके मूल्य निरन्तर बढ रहे थे। सभी जगह गरीबी और भुखमरी थी। इगलैंड मे औद्योगिक क्रान्ति का पूरा-पूरा विकास नही हो पाया था, जिससे देश म व्यापक बेकारी फैली हुई थी। इन सब कारणो से लोगो का जीवन स्तर निरन्तर नीचे की ओर गिर रहा था। इन सब कष्टो के होते हुए भी जनसख्या बराबर बढ रही थी।

माल्थस एक निराशावादी व्यक्ति थे। उन्हे जनसख्या की तीव्र वृद्धि से मानव समाज पर घोर विपत्ति आने की आशका होने लगी। उसी समय (सन् 1793 ई० मे) विलियम गाडविन (William Godwin) की एक पुस्तक प्रकाशित हुई जिसमे मानव समाज के उज्जवल भविष्य की कल्पना की गयी थी। माल्थस ने इस झूठी कल्पना का खण्डन करने के लिए अपना लेख प्रकाशित किया। उसमे उन्होने यह स्पष्ट किया कि जनसख्या मे तीव्र गति से वृद्धि होने के कारण मानव समाज का भविष्य निराशामय तथा अन्धकारपूर्ण है, अत. आने वाली घोर विपत्ति से बचने के लिए जनसख्या को तीव्र वृद्धि को रोकना आवश्यक है।

माल्थस के जनसख्या सिद्धान्त की मुख्य बातें - माल्थस का जनसख्या सिद्धात दो मान्यताओ पर आधारित है—(अ) मनुष्य के जीवित रहने के लिए भोजन आवश्यक है, अत. किसी देश की जनसख्या वहा खाद्य पदार्थों की पूर्ति द्वारा सीमित है, और (ब) मनुष्य की प्रजनन शक्ति (Fecundity) अपार है। इन दोनो मान्यताओ के आधार पर माल्थस ने जनसख्या सिद्धात को इन शब्दो मे व्यक्त किया, "उत्पादन की विधियों की एक दी हुयी स्थिति के अन्तर्गत जनसख्या मे जीवन निर्वाह के साधनो से अधिक तेजी से बढ़ने की प्रवृति होनी है।" (In a given state of the arts of production, population tends to outrun subsistence)

जनसंख्या के इस सिद्धांत की व्याख्या करने के लिए माल्थस द्वारा निम्नलिखित तीन आधार प्रस्तुत किये गये :

(1) **श्रम की माँग या खाद्य सामग्री में वृद्धि की दर** जनसंख्या में वृद्धि होने पर उपभोक्ताओं की संख्या में वृद्धि होती है। उनको जीवित रखने के लिए खाद्य पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि होनी आवश्यक है। मनुष्य के आर्थिक प्रयत्नों के बदले में प्रकृति जो खाद्य सामग्री देती है, उसके आधार पर ही जनसंख्या (श्रम) की प्रभावकारी माँग निर्धारित होती है (*The produce which nature returns to the work of man is her effective demand for population.*)। परन्तु भूमि की उर्वरा शक्ति सीमित है तथा उस पर क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होने के कारण भूमि से कम उत्पत्ति प्राप्त होती है। अतः कई देशों में खाद्य पदार्थों के उत्पादन का अध्ययन करने के बाद माल्थस ने यह कहा कि खाद्य पदार्थों या जीवन निर्वाह के साधनों में इस गति से वृद्धि नहीं होती जिस गति से जनसंख्या बढ़ती है। उनका कहना था कि खाद्य पदार्थों में वृद्धि **अंक गणित या माध्य श्रेणी** (Arithmetical Progression) अर्थात् 1, 2, 3, 4 के हिसाब होती है।

(2) **श्रम की पूर्ति या जनसंख्या में वृद्धि की दर** . यदि जनसंख्या को बढ़ने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जाये और उसकी तेज़ी से बढ़ने की दर में किसी प्रकार की रुकावट न हो तो जनसंख्या ज्यामिति या गुणोत्तर श्रेणी (Geometrical Progression) में अर्थात् 1, 2, 4, 8, 16 के अनुसार वृद्धि की प्रवृत्ति पायी जाती है। उनका कहना था कि मनुष्य में सन्तानोत्पत्ति की शक्ति अपार है। इस कारण *यदि जनसंख्या के बढ़ने की प्रवृत्ति में कोई रुकावट न हो, तो किसी देश की जनसंख्या वहाँ पर उपलब्ध जीवन निर्वाह के साधनों की मात्रा की तुलना में कहीं अधिक तेज़ी से बहुत जल्दी बढ़ेगी।* (*There is a tendency of population to increase faster than means of subsistence*).

माल्थस ने खाद्य पदार्थों के उत्पादन तथा जनसंख्या की वृद्धि को प्रभावित करने वाले कारणों को एक दूसरे से अलग रख कर गणित की सहायता से यह सिद्ध किया कि जनसंख्या में बिना किसी रुकावट के ज्यामितिक गति से वृद्धि होने पर वह हर 25 वर्ष में दुगुनी हो जाती है, परन्तु खाद्य पदार्थों का उत्पादन अंकगणित श्रेणी में बढ़ने के कारण उसमें जनसंख्या के अनुपात में बहुत कम वृद्धि होती है।[1] माल्थस ने इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि 200 वर्षों में जनसंख्या तथा खाद्य पदार्थों की पूर्ति के मध्य 256 : 9 का अनुपात होगा जबकि 300 वर्षों में यह

[1] By nature, human food increases in a slow arithmetical ratio, man himself increases in quick geometrical ratio unless want and vice stop him. —*Malthus*

अन्तर बढ़ कर 4096 : 13 के अनुपात मे हो जायेगा। 2000 वर्षों मे तो दोनों के मध्य इतना अधिक अन्तर एव असन्तुलन हो जायेगा जिसकी कल्पना नही की जा सकती।

(3) जनसख्या की वृद्धि पर प्राकृतिक या नैसर्गिक अवरोध (Positive or Natural Checks) : माल्थस का विचार था कि जनसख्या तथा खाद्य पदार्थों की पूर्ति के बीच इस प्रकार के असन्तुलन (imbalance) की स्थिति आ जाने पर, प्रकृति स्वय अवरोध (check) लगाना प्रारम्भ कर देती है। अकाल, महामारी, भूकम्प, बाढ आदि प्राकृतिक आपत्तियो तथा दैवी प्रकोपो द्वारा प्रकृति जनसख्या का सन्तुलन (balance) बनाए रखती है। माल्थस ने इन्हे प्राकृतिक या नैसर्गिक अवरोध (positive checks) की सज्ञा दी है। इन अवरोधो के कारण जनसख्या अपने आप कम हो जाती है क्योकि जन्म दर से मृत्यु दर अधिक होती है। कुछ समय बाद पुन जनसख्या बढने लगती है। खाद्यान्नो की पूर्ति से जनसख्या के पुनः बढ जाने पर नैसर्गिक प्रतिबन्ध पुन लागू होते हैं। इस प्रकार जनसख्या को समायोजित करने वाले प्राकृतिक चक्र (self adjusting Malthusian cycles of population) के द्वारा खाद्य पदार्थों की पूर्ति के अनुसार जनसख्या सन्तुलित हो जाती है।

परन्तु माल्थस का यह विचार था कि जनसख्या घटाने की यह विधि भयकर तथा अत्यधिक कष्टदायक है, क्योकि प्राकृतिक विपत्तियो से लोगो को अत्यधिक कठिनाइयाँ होती हैं। इसके अतिरिक्त इन अवरोधो से जनसख्या मे कमी केवल थोडे समय के लिए ही होती है। कुछ समय के बाद वह पुन तीव्र गति से बढने लगती है। अत माल्थस ने प्राकृतिक एव दैवी प्रकोप से बचने के लिए निवारक उपायो पर जोर दिया।

(4) कृत्रिम या निवारक अवरोध (Preventive Checks) . माल्थस ने जनसख्या की वृद्धि को रोकने के लिए मनुष्य द्वारा अपनाए गए कृत्रिम उपायों को निवारक अवरोध (Preventive Checks) की सज्ञा दी। उनका मत था कि ब्रह्मचर्य, देर से विवाह करना, आत्म सयम आदि द्वारा मनुष्य जन्म-दर (Birth Rate) को कम कर सकता है, जिससे जनसख्या तथा खाद्य पदार्थों की पूर्ति का सतुलन बना रहे। परन्तु माल्थस ने निरोधक उपायों के अन्तर्गत आधुनिक सन्तति निरोधक कृत्रिम विधियो (Birth Control Measures) का उल्लेख नही किया था। उन्होंने पादरी होने के नाते आत्म-सयम और ब्रह्मचर्य पर ही जोर दिया था। सन्तति निरोधक कृत्रिम विधियो के सम्बन्ध मे माल्थस के अनुयायियों (Neo Malthusians) ने बाद मे विचार प्रस्तुत किया।

माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त की आलोचना :

माल्थस के जनसख्या-सिद्धान्त की आलोचना उनके लेख के प्रकाशित होने के बाद से ही प्रारम्भ हो गयी। उनके समकालीन विलियम गॉडविन (William Godwin) ने तो माल्थस के सिद्धान्त के निराशावादी दृष्टिकोण की तुलना एक भयानक राक्षस से की है जो मानव समाज की आशाओं का हमेशा गला घोटने को तैयार है। (That black and terrible demon that is always ready to stifle the hope of humanity) । उस समय से निरन्तर ही माल्थस की आलोचनाएं की जाती रही हैं। उनके सिद्धात की मुख्य आलोचनाएं निम्नलिखित हैं :

(1) माल्थस ने भविष्य के वैज्ञानिक आविष्कारों का अनुमान नहीं लगाया माल्थस ने तत्कालीन परिस्थितियों का अध्ययन करके अपने. सिद्धात का प्रतिपादन अनुभव प्रणाली (Inductive Method) के आधार पर किया था। वे भविष्य के वैज्ञानिक आविष्कारो, तकनीकी प्रगति तथा औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप होने वाले आर्थिक एव औद्योगिक विकास और उत्पादन मे अत्यधिक वृद्धि का अनुमान नही लगा सके थे। यही कारण था कि उन्होने क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम को भूमि पर लागू करके उत्पादन की क्रमश. घटने वाली मात्रा के आधार पर भविष्य का एक निराशाजनक चित्र प्रस्तुत किया था। कृषि के आधुनिक वैज्ञानिक तरीको द्वारा अब भूमि की उर्वरा शक्ति मे वृद्धि सम्भव है, जिससे खाद्य-पदार्थों का उत्पादन अत्यधिक बढाया जा सकता है। उन्होने आधुनिक वैज्ञानिक प्रगति के कारण यातायात के साधनो का विकास तथा फलस्वरूप खाद्यानो की पूर्ति की सुविधा का भी अनुमान नहीं लगाया था।

(2) माल्थस के निष्कर्ष तत्कालीन घटनाओ पर आधारित थे : माल्थस ने औद्योगिक क्रान्ति के तात्कालिक परिणामों को ही देखकर यह अनुमान लगाया था कि इसके भावी परिणाम आशाजनक एव सुखमय नही हो सकते। परन्तु उन्होने यह अनुमान नही लगाया कि औद्योगिक विकास होने पर बेरोजगारी, गरीबी आदि समस्यायें दूर हो जायेगी तथा खाद्य-पदार्थों के अतिरिक्त अन्य वस्तुओ का उत्पादन करके उनके बदले में खाद्यान्नो का आयात करके उनकी पूर्ति की जा सकेगी।

(3) माल्थस ने जनसंख्या का सम्बन्ध खाद्यानो के उत्पादन से स्थापित किया था इसके अतिरिक्त माल्थस ने जनसख्या की वृद्धि की तुलना खाद्यानो के उत्पादन वृद्धि से ही की थी। मनुष्य अपने भोजन की आवश्यकता की पूर्ति अन्य खाद्य पदार्थों द्वारा भी कर सकता है। उनकी पूर्ति या उत्पादन में भी उसी प्रकार वृद्धि होती है जिस प्रकार कि जनसख्या मे; अत: जनसख्या की वृद्धि की तुलना केवल खाद्यानो की पूर्ति से करना गलत था। माल्थस को यह चाहिए था कि वे जनसंख्या की वृद्धि

की तुलना देश के कुल उत्पादन (खाद्यान्नों के उत्पादन, औद्योगिक उत्पादन, आयात, अन्य खाद्य-सामग्रियों का उत्पादन) से करते, जिससे वह सही निष्कर्ष निकाल पाते।

(4) माल्थस का 'कृषि क्षेत्र मे उत्पत्ति ह्रास नियम के सदैव लागू होने का आधार' गलत था . माल्थस ने क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम भूमि पर तो लागू किया, परन्तु मनुष्य की प्रजनन शक्ति के सम्बन्ध मे उन्होंने इस नियम का प्रयोग नही किया। उनकी यह मान्यता थी कि मनुष्य की यह शक्ति यथा स्थिर तथा अपरिमित है और यदि मनुष्य किसी भी प्रकार एक बडे परिवार को जीवित रखने मे समर्थ हो जाये तो वह जीवन-स्तर को ऊचा उठाने की अपेक्षा अधिक सन्तानोत्पादन करेगा। सम्भवत उन्होंने यह धारणा उस समय के 'गरीबी कानूनो (Poor Laws) के द्वारा प्रदान की गयी आर्थिक सहायता के फलस्वरूप हो रही जनसख्या मे वृद्धि क आधार पर बनायी थी। परन्तु कालान्तर मे उनकी ये दोनों ही धारणायें गलत सिद्ध हुई। प्राणिशास्त्र ने वैज्ञानिक तथ्यो के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि सभ्यता और सस्कृति का विकास होने पर मनुष्य की प्रजनन-शक्ति कम होती जाती है।

(5) जीवन-स्तर ऊचा उठने पर सन्तानोत्पत्ति की इच्छा कम होने लगती है: सामाजिक तथा आर्थिक तथ्यो ने भी अब यह प्रमाणित कर दिया है कि मनुष्य का जीवन-स्तर ऊचा उठने पर वह अधिक भौतिक सुखो की कल्पना करता है, न कि अधिक सन्तानोत्पत्ति की। ऐसी स्थिति मे निवारक अवरोध—देर मे विवाह करना, आत्म सयम आदि—स्वय कार्यशील होते हैं। उनको अपनाने की आवश्यकता नही पडती।

(6) माल्थस का गणितीय आधार ठीक नहीं है: माल्थस ने ज्यामितिक तथा अकगणित श्रेणियो के आधार पर जनसख्या तथा खाद्यान्नो के उत्पादन मे वृद्धि को स्पष्ट करने का प्रयास किया था। परन्तु विभिन्न देशो के जनसख्या सम्बन्धी आकडो ने यह सिद्ध कर दिया कि किसी भी देश मे जनसख्या की वृद्धि ज्यामितिक श्रेणी के आधार पर नही हुई। इस गणितीय आधार की अशुद्धता को स्वय माल्थस ने अनुभव किया। यही कारण है कि उन्होंने अपनी पुस्तक के अन्य सस्करणो मे जनसख्या की तुलनात्मक वृद्धि को स्पष्ट करन के लिए इन श्रेणियो (Progressions) का प्रयोग नही किया, बल्कि यह बतलाया कि खाद्यान्नो क उत्पादन मे वृद्धि की गति से कही अधिक तजी से जनसख्या मे वृद्धि होती है।

(7) माल्थस की निराशावादी धारणाएँ असत्य सिद्ध हुयी हैं: परन्तु माल्थस की यह धारणा भी असत्य सिद्ध हुई। माल्थस ने मानव समाज का अधकारमय चित्र प्रस्तुत किया था और नैसर्गिक अवरोध के रूप मे विश्व पर जिस घोर विपत्ति

की भविष्यवाणी की थी, वह आज तक किसी भी देश में सत्य नहीं हुई है। इसके विपरीत पाश्चात्य देशों में जनसंख्या की वृद्धि के साथ साथ मनुष्य का जीवन स्तर ऊँचा उठा है। कुछ देशों में तो जनसंख्या को कम करने के लिए 'परिवार-नियोजन (Family Planning) राष्ट्रीय योजना का एक अनिवार्य कार्यक्रम हो गया है। इस प्रकार आदर्श जनसंख्या के सिद्धांत (Theory of Optimum or Ideal Population) तथा जनांकिकीय परिवर्तन सिद्धांत (Theory of Demographic Transition) ने माल्थस की भविष्यवाणी को निराधार सिद्ध कर दिया है।

(8) मनुष्य केवल उपभोक्ता ही नहीं है, उत्पादक श्रम भी है. कैनन ने माल्थस के इस विचार (जनसंख्या की वृद्धि विपत्ति-सूचक है) की आलोचना करते हुए कहा है कि मनुष्य केवल उपभोक्ता के रूप में ही जन्म नहीं लेता वरन् वह उत्पादक (श्रमिक) के रूप में भी आता है (वह मुंह ही लेकर नहीं आता, वरन् दो हाथ भी साथ में लाता है)। इससे देश की श्रम-शक्ति बढ़ती है तथा देश की उत्पादन-मात्रा में भी वृद्धि होती है।

(9) माल्थस ने केवल जनसंख्या के आकार पर ही विचार किया था इस सम्बन्ध में सेलिगमैन (Seligman) का यह विचार है कि किसी देश की जनसंख्या समस्या वहां की जनसंख्या के आकार से सम्बन्धित नहीं है, वरन् उस देश के उत्पादन तथा न्याय सगत वितरण से सम्बन्धित है। यदि किसी देश में उत्पादन के साधनों की कुशलता अधिक है और उसका वितरण उचित रूप में किया जाता है तो निश्चित ही उत्पादन अधिक होगा जिससे जनसंख्या अधिक होने पर भी असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न नहीं होगी।

"The problem of population is not merely of size but of efficient production and equitable distribution"

(10) माल्थस की यह धारणा कि नैसर्गिक अवरोधों (Positive Checks) का होना जनाधिक्य का सूचक है, गलत है: माल्थस की यह धारणा थी कि यदि भूकम्प, महामारी, अकाल आदि दैवी आपत्तियां आती हैं, तो यह मानना चाहिए कि वहां जनाधिक्य होने पर ही यह प्राकृतिक समायोजन चक्र (Self adjusting cycle) चलता है। परन्तु यह धारणा गलत है। जहां जनाधिक्य नहीं है, वहां भी ये दैवी आपत्तियां आती हैं। इसके अतिरिक्त जिन देशों में जनाधिक्य है, वहां इन आपत्तियों को नियंत्रित करने के उचित उपाय भी किये जा चुके हैं।

माल्थस के सिद्धान्त की सत्यता

माल्थस के सिद्धान्त की कई अर्थशास्त्रियों द्वारा कड़ी आलोचना की गई। यद्यपि उन्होंने माल्थस के विचारों को अव्यावहारिक तथा असत्य सिद्ध करने का

प्रयत्न किया, फिर भी मार्शल, टाजिग (Taussing), एली (Ely) पैटन (Patten) आदि अर्थशास्त्रियो ने उनके सिद्धान्त की सत्यता का समर्थन किया है। वास्तविकता तो यह है कि माल्थस की यह धारणा कि यदि जनसख्या का बढने के लिए स्वतन्त्र छोड दिया जाये तो वह तीव्र गति से बढेगी, सत्य है। विश्व म जिन देशो मे जनसख्या की बढने की गति रुकी है, उसमे मनुष्य द्वारा अपनाय गये निरोधक उपायो का महत्वपूर्ण स्थान है। ऐसे देश विकसित तथा उन्नतिशील है। इन देशो म वैज्ञानिक खोजो के कारण उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रो मे अधिक विकास हुआ है। वहा जनसख्या जीवन-निर्वाह के साधनो मे उत्पादन वृद्धि से अधिक तीव्र गति से नही बढी है। इसके अतिरिक्त इन देशो म शिक्षा, सामाजिक उन्नति तथा जीवन स्तर मे अधिक उन्नति होने से भी जनसख्या कम हुयी है। परन्तु अविकसित तथा पिछडे देशो मे जहा पर ये उपाय नही अपनाये गये हैं और जहा धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टिकोण से अधिक सन्तानोत्पत्ति पर प्रतिबन्ध नही है, वहाँ माल्थस का सिद्धान्त अब भी लागू होता है जैसे भारत, चीन आदि देश। माल्थस की यह धारणा भी सत्य प्रतीत होती है कि जनसख्या तथा खाद्य-पदार्थों की पूर्ति म असन्तुलन होने तथा निवारक उपायो को न अपनाने पर नैसर्गिक अवरोध कार्यशील होते हैं। प्रो० वाकर (Walker) तथा सैम्युएलसन (Samuelson) का यह विचार है कि माल्थस का सिद्धान्त आज भी प्रत्येक मनुष्य पर लागू होता है[2] तथा एक जीवित प्रभाव है।[3]

2 सर्वोत्तम जनसख्या का सिद्धान्त
(Theory of Optimum Population)

माल्थस के जनसख्या-सिद्धान्त की कडी आलोचनाओ ने जनसख्या की समस्या पर एक नये सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से विचार करने के लिए प्रेरणा प्रदान की। आधुनिक अर्थशास्त्रियो न माल्थस के इस विचार का खण्डन किया है कि अधिकतम जनसख्या एक हानिकारक स्थिति है। ये अर्थशास्त्री जनसख्या की वृद्धि को राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित करके यह देखते हैं कि अधिकतम आय के दृष्टिकोण से जनसख्या का आकार सर्वोत्तम एव आदर्श है या नही। इन अर्थशास्त्रियो ने माल्थस द्वारा प्रयुक्त अधिकतम शब्द के स्थान मे आदर्श शब्द प्रतिस्थापित किया है।

अनुकूलतम सिद्धान्त का आधार सर्वप्रथम सिजविक (Sidgwick) ने अपनी पुस्तक 'Principles of Political Economy मे प्रस्तुत किया। इस सिद्धान्त मे अधिकतम उत्पादन-क्षमता पर विचार किया गया था। इस आधार पर डा० एडविन कैनन (Dr. Edwin Cannan) ने अनुकूलतम जनसख्या सिद्धान्त (Theory of

---

[2] 'Malthusianism has stood unshattered, impregnable amid all the controversy that has raged round it." —*Walker*

[3] It is still a living influence to day" —*Samuelson*

Optimum Population) का प्रतिपादन किया। तत्पश्चात् राबिन्स, डाल्टन (Dalton) तथा कार सौन्डर्स (Carr Saunders) ने इस सिद्धान्त को अधिक व्यापक बनाया।

(1) अनुकूलतम जनसंख्या का अर्थ

अनुकूलतम का अभिप्राय 'आदर्श' (Ideal) से है। जनसंख्या के सदर्भ मे अनुकूलतम का अभिप्राय जनसंख्या के आदर्श आकार (Ideal Size) से है। वह जनसंख्या जो किसी देश मे एक निश्चित समय पर दिए हुए साधनो का अधिकतम उपयोग तथा अधिकतम उत्पादन के लिए आवश्यक हो आदर्श जनसंख्या मानी जाती है। इसका अर्थ यह है कि एक विशेष समय तथा परिस्थिति मे अनुकूलतम जनसंख्या का सिद्धान्त जनसंख्या मे परिवर्तन तथा प्रति व्यक्ति आय के मध्य सम्बन्ध स्थापित करता है। यह बताता है कि जनसंख्या उसी समय आदर्श या अनुकूलतम समझी जाती है जबकि किसी समय-विशेष मे प्रति-व्यक्ति आय अधिकतम होती है। कार सौन्डर्स के शब्दों मे, "आदर्श जनसंख्या वह जनसंख्या है जो अधिकतम आर्थिक कल्याण उत्पन्न करती है। यह आवश्यक नहीं कि अधिकतम आर्थिक कल्याण और प्रति व्यक्ति अधिकतम वास्तविक आय एक ही हो, परन्तु व्यावहारिक रूप मे दोनो का अभिप्राय एक माना जा सकता है।[4] अनुकूलतम जनसंख्या का स्पष्टीकरण निम्न सारिणी द्वारा किया जा सकता है

निश्चित भूमि से उत्पादन (रुपयो मे)

जनसंख्या	कुल उत्पादन	प्रति व्यक्ति आय
20	400	20
25 आदर्श जनसंख्या	625	25 अधिकतम प्रति व्यक्ति आय
30	660	22

उपर्युक्त तालिका मे यह ज्ञात होता है कि निश्चित भूमि का अधिकतम उपयोग उसी समय होता है जबकि जनसंख्या 25 है, क्योंकि इस जनसंख्या के रहने पर प्रति व्यक्ति आय अधिकतम है। इससे कम जनसंख्या रहने पर प्रति व्यक्ति आय 25 रु० से कम है और इससे अधिक जनसंख्या होने पर भी प्रति व्यक्ति आय घट कर 22 रु० हो जाती है।

4 "... The optimum population is that population which produces maximum economic welfare... Maximum economic welfare is not necessarily the same as maximum real income per head, but for practical purposes they may be taken as equivalent."

—*Carr Saunders, World Population*

अतः अनुकूलतम जनसंख्या वह है जिसके रहने पर प्रति व्यक्ति आय अधिकतम होती है।

डाल्टन (Dalton) के अनुसार, "आदर्श जनसंख्या वह जनसंख्या है जो प्रति व्यक्ति अधिकतम आय देती है।" (Optimum population is that which gives the maximum income per head) बोल्डिंग (Boulding) ने आदर्श जनसंख्या की व्याख्या जीवन स्तर (Standard of Life) के सम्बन्ध में की है। उनके अनुसार "वह जनसंख्या जिस पर जीवन स्तर अधिकतम होता है, आदर्श जनसंख्या कहलाती है। (The population at which the standard of life is a maximum is called the optimum population) राबिन्स (Robbins) ने डाल्टन के विपरीत अधिकतम उत्पादन के माप-दण्ड के आधार पर अनुकूलतम जनसंख्या की व्याख्या की है। उन्होंने प्रति व्यक्ति आय के अधिकतम होने तथा धन के न्यायोचित वितरण पर ही जोर नहीं दिया है। उनके अनुसार, "वह जनसंख्या जो अधिकतम उत्पादन को सम्भव बनाती है अनुकूलतम या सबसे अच्छी जनसंख्या है।" (The population which just makes the maximum return possible is the optimum or the best possible population.) इस प्रकार राबिन्स की परिभाषा के अनुसार अनुकूलतम जनसंख्या का स्तर अधिक ऊंचा है, क्योंकि इस स्तर पर जनसंख्या द्वारा उत्पादन तथा उसका उपभोग—दोनों ही बराबर होते हैं।

अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त की आधारभूत मान्यतायें

(1) उत्पादन साधनों में आदर्श समन्वय होना अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त उत्पादन के नियमों (Laws of Returns) पर आधारित है। उत्पादन के नियमों के अनुसार किसी भी उत्पादक इकाई में प्रयुक्त उत्पादन के साधनों (भूमि, श्रम, पूँजी, संगठन और साहस) में आदर्श समन्वय होने पर ही अधिकतम उत्पादन प्राप्त होता है।

(2) एक बिन्दु के पश्चात् उत्पत्ति ह्रास नियम का लागू होना : श्रम के अतिरिक्त यदि अन्य साधनों को अपरिवर्तनशील मान लिया जाय तो आदर्श समन्वय के बिन्दु के आने तक श्रमिकों की वृद्धि से श्रम की सीमान्त उत्पादिता तथा प्रति श्रमिक औसत उत्पत्ति में वृद्धि होगी। आदर्श बिन्दु पर उत्पादन इकाई द्वारा उत्पादन अधिकतम होगा। परन्तु अधिकतम उत्पादन के आदर्श बिन्दु के पश्चात् भी यदि श्रमिकों की संख्या में वृद्धि होती है तो श्रम की सीमान्त उत्पादकता तथा प्रति श्रमिक औसत उत्पादन—दोनों ही घटने लगते हैं। यह नियम उत्पादन की सभी इकाइयों पर लागू होता है। अतः इसको बैन्हम ने इस प्रकार व्यक्त किया है :

"किसी एक समय विशेष पर एक निश्चित बिन्दु तक श्रम की वृद्धि होने पर आनुपातिक रूप मे अधिक प्रतिफल प्राप्त होते हैं, परन्तु यदि उस सीमा से अधिक श्रम की वृद्धि होती है तो आनुपातिक रूप मे कम प्रतिफल प्राप्त होने लगते हैं।"[2]

(3) श्रमिक के औसत उत्पादन तथा प्रति व्यक्ति आय मे सीधा सम्बन्ध : इस नियम के आधार पर ही जनसख्या की सर्वोत्तम या आदर्श सीमा निर्धारित की गयी है। श्रमिकों की वृद्धि जनसख्या की वृद्धि से सम्बन्धित है। किन्तु जनसख्या की एक निश्चित सीमा तक वृद्धि ही प्रति व्यक्ति आय को बढाने मे सहायक होती है। जिस बिन्दु पर जनसख्या के पहुचने के बाद प्रति व्यक्ति आय घटने लगती है, वह जनसख्या की वृद्धि का आदर्श बिन्दु कहलाता है और इस बिन्दु पर जितनी जनसख्या होती है, उसे आदर्श, सर्वोत्तम या अनुकूलतम जनसख्या कहते हैं। इस आदर्श जनसख्या के रहने पर ही उपलब्ध एव वर्तमान साधनो का अधिकतम उपयोग सम्भव हो पाता है, अधिकतम आर्थिक कल्याण की स्थिति उत्पन्न होती है और प्रति व्यक्ति आय अधिकतम होती है।

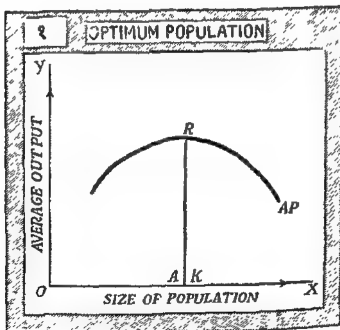
जनाभाव (Under-population) और जनाधिक्य (Over population) :

सर्वोत्तम या आदर्श जनसख्या से कम जनसख्या को जनाभाव कहा जाता है। किसी देश मे जनाभाव की स्थिति रहने पर वहा वर्तमान साधनो का अधिकतम उपयोग नही हो पाता जिसमे वस्तुओ और सेवाओ का अधिकतम उत्पादन न होने के कारण प्रति व्यक्ति वास्तविक आय कम होती है। जब जनसख्या अनुकूलतम जनसख्या से अधिक होती है, तो वर्तमान साधन प्रति व्यक्ति आय को अधिकतम बनाये रखने के लिए अपर्याप्त होते हैं। वस्तुओ और सेवाओं के रूप मे औसत उत्पादन कम होने से प्रति व्यक्ति आय भी कम हो जाती है। आर्थिक दृष्टिकोण से ये दोनो ही स्थितिया किसी देश के लिए उचित नही मानी जाती।

अनुकूलतम जनसख्या सिद्धान्त की व्याख्या अनुकूलतम जनसख्या सिद्धान्त का स्पष्टीकरण अगले पृष्ठ पर दिए गए रेखाचित्र द्वारा किया गया है। इस चित्र मे AP 'प्रति व्यक्ति वास्तविक आय' या 'औसत उत्पादन' वक्र है। OY अक्ष पर औसत उत्पत्ति या प्रति व्यक्ति आय तथा OX पर जनसख्या का आकार दिखलाया गया है। OK तक जनसख्या की वृद्धि होने पर औसत उत्पादन मे वृद्धि होती जाती है और जब जनसख्या K बिन्दु पर पहुच जाती है तब OK जनसख्या होने पर औसत उत्पादन तथा प्रति व्यक्ति आय KR होती है जो अधिकतम सीमा को व्यक्त करती है।

[2] "At any given time, increase of labour upto a certain point is attended by increasing proportionate returns and beyond that point further increase of labour is attended by diminishing proportionate returns." —*Cannon, Dr. Edwin* : Wealth

अन OK अनुकूलतम या आदर्श जनसंख्या है, क्योकि R की दायीं ओर बायीं ओर AP वक्र नीचे की तरफ झुका हुआ है जो यह व्यक्त करता है कि औसत उत्पत्ति या प्रति व्यक्ति आय KR से कम है । जब तक जनसंख्या OK नही होती तब तक जनसंख्या की वृद्धि वाञ्छनीय है, क्योकि जनसंख्या मे प्रत्येक वृद्धि से AP वक्र ऊपर की ओर जाने की प्रवृत्ति रखता है जिससे यह ज्ञात होता है कि जनाभाव की दशा मे जनसंख्या मे वृद्धि होने पर औसत उत्पादन तथा प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि होगी । परन्तु OK जनसंख्या होने पर जब प्रति व्यक्ति आय अधिकतम (KR) हो जाती है तब OK के पश्चात् जनसंख्या मे वृद्धि होने पर AP वक्र R की दायी ओर झुकने लगता है जिससे यह ज्ञात होता है कि जनाधिक्य होने पर औसत उत्पादन तथा प्रति व्यक्ति आय कम होने लगती है । अत जनाभाव तथा जनाधिक्य दोनो ही ठीक नही है ।



चित्र स॰ 48

जनाभाव अथवा जनाधिक्य का निर्धारण आ श जनसंख्या के बिन्दु से कोई भी विचलन (Deviation) जनसंख्या मे समायोजन अभाव (Mal adjustment) व्यक्त करता है । यह समायोजन अभाव जनाभाव या जनाधिक्य के रूप में हो सकता है । यदि वास्तविक जनसंख्या आदर्श जनसंख्या मे कम होती है तब यह

ऋणात्मक समायोजन अभाव अथवा जनाभाव कहलाता है, क्योंकि इस जनाभाव को दूर करने के लिए जनसंख्या में वृद्धि वाञ्छनीय होनी है। परन्तु जब वास्तविक जनसंख्या आदर्श जनसंख्या से अधिक होती है तब दोनों का अन्तर धनात्मक समायोजन अभाव (Positive Mal-adjustment) या जनाधिक्य कहलाता है जो अधिकतम आर्थिक कल्याण की दृष्टि से वाञ्छनीय नहीं है। अत जब वास्तविक जनसंख्या आदर्श जनसंख्या के बराबर होती है तभी वह अधिकतम आर्थिक कल्याण प्रदान करती है।

समायोजन अभाव की मात्रा की माप (Measurement of the degree of mal-adjustment) . जनाभाव तथा जनाधिक्य मात्रा को नापने के लिए डाल्टन (Dalton) ने एक सूत्र (Formula) का निर्माण किया है जो इस प्रकार है :—

$$M = \frac{A - O}{O} \quad \text{अथवा} \quad \text{य} = \frac{\text{व} - \text{अ}}{\text{अ}}$$

यहा M या 'य' का अर्थ समायोजन अभाव (Mal adjustment) है, A या 'व का अर्थ 'वास्तविक जनसंख्या' तथा O या 'अ' का अभिप्राय 'आदर्श जनसंख्या' से है। यदि किसी देश मे वास्तविक तथा आदर्श जनसंख्या क्रमश 1,20,000 तथा 1,00,000 मान ली जाय तो उपर्युक्त सूत्र के अनुसार समायोजन अभाव धनात्मक (Positive) होगा · $\frac{1,20\,000 - 1\,00,000}{1,00,000} = +\ \cdot 2$, जो ·2 सीमा तक 'जनाधिक्य' (Over population) व्यक्त करता है। इसके विपरीत यदि आदर्श जनसंख्या 1,20,000 हो और वास्तविक जनसंख्या 1,00,000 तो $\frac{1,00,000 - 1,20\,000}{1,00,000} = -\cdot 2$ ऋणात्मक समायोजन अभाव (Negative mal-adjustment) होगा जिससे यह ज्ञात होगा कि देश मे 'जनाभाव' (Under-population) है। समायोजन अभाव की (जनाधिक्य तथा जनाभाव) ये दोनो ही स्थितियां व्यक्ति तथा समाज के अधिकतम आर्थिक कल्याण की दृष्टि से ठीक नहीं हैं।

डाल्टन तथा राबिन्स के विचारों की तुलना सर्वोत्तम एवं आदर्श जनसंख्या सिद्धान्त को अधिक व्यापक बनाने का श्रेय डाल्टन तथा राबिन्स को है। डाल्टन ने अपने सूत्र का प्रयोग करके आदर्श और वास्तविक जनसंख्या के समायोजन अभाव (Mal-adjustment) को नापने का आधार प्रस्तुत किया है, परन्तु आदर्श जनसंख्या के विषय मे उनका दृष्टिकोण केवल प्रति व्यक्ति आय के अधिकतम होने तक ही सीमित है। रॉबिन्स ने आदर्श जनसंख्या के सम्बन्ध मे सम्पूर्ण समाज को

प्राप्त होने वाले अधिकतम प्रतिफल (Maximum Return) को आधार माना है। इस प्रकार डाल्टन के विचार से किसी भी देश मे किसी समय विशेष पर जनसख्या के जिस आकार पर प्रति व्यक्ति आय अधिकतम होती है उसी को आदर्श जनसख्या कहा जा सकता है। राबिन्स के अनुसार जिस जनसख्या के रहने पर अधिकतम राष्ट्रीय आय या प्रतिफल प्राप्त हो, वह जनसख्या ही सर्वोत्तम या आदर्श जनसख्या है।

रॉबिन्स प्रति व्यक्ति अधिकतम आय को महत्व नही देते। उनके विचार मे *सामाजिक दृष्टिकोण से राष्ट्रीय आय का अधिकतम होना अधिक आवश्यक है,* जिससे देश मे अधिकतम आर्थिक कल्याण की स्थिति उत्पन्न हो सके। उनका मत है कि यदि जनसख्या के किसी विशेष आकार से केवल प्रति व्यक्ति आय ही अधिकतम होती है, परन्तु सामाजिक एव आर्थिक कल्याण के लिए वस्तुओ तथा सेवाओ के रूप मे अधिकतम प्रतिफल प्राप्त नही होते, तो उसे आदर्श जनसख्या नही कहा जा सकता। ऐसी स्थिति मे जनसख्या की वृद्धि उचित है, चाहे प्रति व्यक्ति आय अधिकतम सीमा से घटने ही क्यो न लगे। अत राबिन्स के मतानुसार राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के अधिकतम विकास की दृष्टि से जो जनसख्या आवश्यक तथा वाछनीय हो, वही आदर्श जनसख्या है। समाज के हित के लिए व्यक्तिगत हित, कल्याण या आय का कुछ न कुछ त्याग आवश्यक है। इस त्याग से देश तथा समाज को लाभ होने पर व्यक्तिगत क्षति की पूर्ति किसी न किसी रूप मे अवश्य हो जाती है। इसके अतिरिक्त राबिन्स का यह भी विचार है कि यदि देश की अर्थ व्यवस्था को सचालित करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति लाभप्रद कार्य मे लगा हुआ है और समाज के अधिकतम आर्थिक कल्याण के लिए वस्तुओ तथा सेवाओ के उत्पादन मे यथाशक्ति योगदान देता है, तो समाज उसके अधिकाधिक आर्थिक कल्याण के लिए स्वय प्रयत्नशील रहता है।

सर्वोत्तम सिद्धान्त की माल्थस के सिद्धान्त से तुलना :

1 जनसख्या की समस्या का खाद्य सामग्री के आधार पर नहीं वरन् देश की कुल उत्पत्ति के आधार पर अध्ययन माल्थस का सिद्धान्त जनसख्या को केवल खाद्य सामग्री से सम्बन्धित करके ही किसी देश के लिए जनसख्या को अधिकतम मानता है। परन्तु अनुकूलतम सिद्धान्त जनसख्या का सम्बन्ध देश के कुल उत्पादन से स्थापित करता है। अत वह जनसख्या की अधिकतम सीमा के स्थान पर सर्वोत्तम जनसख्या का उल्लेख करता है।

2. जनसख्या की वृद्धि अवांछनीय नहीं है, वरन् कुछ सीमा तक वाछनीय भी है : माल्थस ने किसी भी देश के लिए खाद्य पदार्थों की पूर्ति तथा जनसख्या की वृद्धि के मध्य असन्तुलन मे घोर विपत्ति की कल्पना की है। परन्तु 'अनुकूलतम' सिद्धान्त

किसी देश के वर्तमान साधनों के अधिकतम प्रयोग के लिए जनसंख्या की प्रत्येक वृद्धि को उस सीमा तक वांछनीय मानता है जिस बिन्दु तक अधिकतम सामाजिक व आर्थिक कल्याण तथा प्रति व्यक्ति अधिकतम आय की स्थिति उत्पन्न होती है।

3. जनसंख्या के परिमाण सम्बन्धी पहलू (Quantitative Aspect) के साथ साथ गुण सम्बन्धी पहलू (*Qualitative Aspect*) को भी महत्व देना : "प्रत्येक व्यक्ति केवल खाने के लिए मुख ही लेकर नहीं आता, वरन् कार्य करने के लिए दो हाथों के साथ भी आता है।" इस मान्यता के आधार पर अनुकूलतम सिद्धान्त यह निर्धारित करता है कि प्रत्येक व्यक्ति न केवल अपने जीवन को बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील रहता है, बल्कि वह अधिकाधिक काम इसलिए करता है जिससे प्रति व्यक्ति आय तथा सामाजिक, आर्थिक कल्याण अधिकतम हो सके। जनसंख्या की वृद्धि के सम्बन्ध में यह एक आशावादी दृष्टिकोण है।

माल्थस का सिद्धान्त मनुष्य के जीवित रहने के लिए प्रति व्यक्ति न्यूनतम आय पर ही जोर देता है। माल्थस के विचारों से जनसंख्या की वृद्धि से उपभोक्ताओं की वृद्धि होती है, परन्तु खाद्य-पदार्थों का उत्पादन अपेक्षाकृत कम होता है। इस प्रकार अर्थ-व्यवस्था केवल निर्वाह-अर्थ व्यवस्था (Subsistence Economy) मात्र ही रह जाती है। इस प्रकार जनसंख्या में तीव्र वृद्धि होने पर भविष्य कष्टमय हो जाता है। परन्तु **बोल्डिंग (Boulding) आर० टी० बाई (R. T. Bye)** आदि अर्थशास्त्रियों ने अनुकूलतम जनसंख्या के विचार में परिमाणात्मक तथा गुणात्मक दोनों पहलुओं पर जोर दिया है। इन अर्थशास्त्रियों ने 'प्रति-व्यक्ति आय' के स्थान पर जीवन प्रमाप पर जोर दिया है। इसका अर्थ है कि एक तरफ जनसंख्या की वृद्धि से प्रति व्यक्ति आय तो बढ़ती ही है, परन्तु वृद्धि होने पर भी उसका आकार इतना ही हो जिससे मानव समाज का आर्थिक तथा सामाजिक जीवन उच्चतम (*most wholesome*) हो सके।

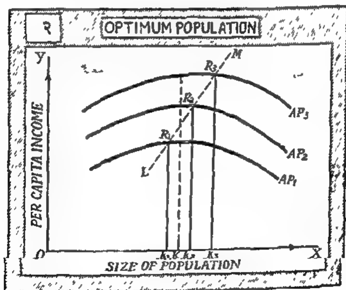
4. नैसर्गिक अवरोधों के न रहने पर भी जनाधिक्य हो सकता है। माल्थस के सिद्धान्त के अनुसार किसी देश में जनाधिक्य की कसौटी महामारी, अकाल, आदि दैवी विपत्तियाँ हैं। यदि ये नैसर्गिक अवरोध किसी देश में लागू हो, तो वहाँ जनाधिक्य अवश्य होगा। परन्तु अनुकूलतम सिद्धान्त के अनुसार इन नैसर्गिक अवरोधों के न रहने पर भी, यदि प्रति व्यक्ति आय अधिकतम न हो, तो यह कहा जा सकता है कि वहाँ जनाधिक्य है। इसमें जनाधिक्य की कसौटी प्रति व्यक्ति आय का अधिकतम सीमा से घटना है।

अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त की आलोचना :

1. यह एक सिद्धान्त नहीं है : अनुकूलतम जनसंख्या का सिद्धान्त वस्तुतः कोई सिद्धान्त नहीं है। वस्तुतः यह जनसंख्या की वृद्धि के सम्बन्ध में **'क्यों और कैसे'**

प्रश्नो का उत्तर नही देना । यह तो केवल 'आदर्श' अथवा 'सर्वोत्तम' जनसख्या के सम्बन्ध मे एक निश्चित दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है । यह सिद्धान्त किसी समय एक देश मे जनाभाव है या जनाधिक्य, की स्थिति बताता है । इससे यह मालूम होता है कि जनसख्या आर्थिक दृष्टि से सर्वोत्तम है या नही ।

2. आदर्श बिन्दु या आदर्श जनसख्या ज्ञात करना कठिन है इस सिद्धान्त के अन्तर्गत आदर्श बिन्दु ज्ञात करना कठिन है। इसका कारण यह है कि अनुकूलतम सिद्धान्त, स्थैतिक (Static) सिद्धान्त है । यह श्रमिको की सख्या म वृद्धि के अतिरिक्त उत्पादन के अन्य साधनो को दिया हुआ या स्थिर मान कर जनसख्या के आदर्श बिन्दु को ज्ञात करता है । परन्तु व्यावहारिक जीवन से समय के परिवर्तन के साथ अर्थ-व्यवस्था पहले जैसी नही रहती । नए नए प्राकृतिक साधनो की खोज, पूंजी, तक्नीकी ज्ञान, श्रमिको की कार्यकुशलता और उत्पादन के क्षेत्रो मे विविध नयी विधियो को अपनाने पर देश का उत्पादन बढता है । अधिकतम उत्पादन के लिए आज की आदर्श जनसख्या भविष्य मे आदर्श या सर्वोत्तम नही भी हो सकती है, अर्थ-व्यवस्था का विकास एक गतिशील धारणा है (Dynamic Concept) है, अतः



चित्र स० 49

अर्थ व्यवस्था मे परिवर्तन के साथ अनुकूलतम जनसख्या भी परिवर्तित होती रहती है, जैसा कि ऊपर दिए गए चित्र मे स्पष्ट है ।

उपर्युक्त चित्र म AP_1, AP_2, और AP_3, औसत उत्पादन या प्रति व्यक्ति

आय रेखाए (Curves) हैं। AP_2 और AP_3, रेखाओ पर R_2 और R_3 बिन्दु प्रति व्यक्ति अधिकतम आय व्यक्त करते हैं तथा ऐसा उसी समय सम्भव हुआ है जबकि नये नये उत्पादन साधनो तथा नवीन विधियो का प्रयोग करने के लिए आदर्श जनसख्या भी OK_2 तथा OK_3 तक बढी है। इन स्थितियो मे ही प्रति व्यक्ति आय अधिकतम सम्भव हो सकी है। इस प्रकार आदर्श जनसख्या मे गतिशीलता को व्यक्त करने वाली रेखा LM यह प्रकट करती है कि गतिशील अर्थ व्यवस्था (*Dynamic Economy*) मे आदर्श जनसख्या स्थैतिक (Static) नही रह सकती।

यदि वास्तविक जनसख्या (OK), आदर्श जनसख्या (OK_1) से अधिक है, जैसा कि पीछे के चित्र से स्पष्ट है, अर्थ व्यवस्था मे परिवर्तन के पहले तथा बाद दोनो ही परिस्थितियो मे आदर्श उस समय तक नही होगी, जब तक कि वह OK_2 न हो जाये। परिवर्तन के पहले वास्तविक जनसख्या OK आदर्श जनसख्या (OK_1) से अधिक थी। यह जनाधिक्य की स्थिति व्यक्त करती है। परिवर्तन के पश्चात् वास्तविक जनसख्या OK अगली आदर्श जनसख्या OK_2 से कम है। अत यह जनाभाव की स्थिति व्यक्त करती है। अर्थ व्यवस्था म अन्य सभी भावी परिवर्तनो की स्थितियो मे यही क्रम चलता रहगा।

3 यह सिद्धान्त राष्ट्रीय आय के वितरण-पक्ष पर ध्यान नहीं देता अनुकूलतम जनसख्या सिद्धान्त केवल प्रति व्यक्ति आय तथा उत्पादन के अधिकतम होने से सम्बन्धित है। वह वस्तुओ तथा सेवाओं के रूप मे प्राप्त प्रतिफल या आय के उचित वितरण पर ध्यान नही देता। यदि प्रति व्यक्ति आय या औसत उत्पादन के अधिकतम होने पर भी राष्ट्रीय आय कुछ ही व्यक्तियो के हाथो मे केन्द्रित हो जाये, तो आर्थिक कल्याण की दृष्टि से जनसख्या का आदर्श नही कहा जा सकता।

4. इस सिद्धान्त मे जनसख्या का अध्ययन केवल आर्थिक दृष्टि से किया जाता है : यह सिद्धान्त आदर्श जनसख्या निर्धारित करते समय केवल उसके आर्थिक पक्ष को ही ध्यान मे रखता है। इस प्रकार यह सिद्धान्त सकुचित दृष्टिकोण प्रकट करता है, क्योकि आदर्श जनसख्या केवल आर्थिक दृष्टि से ही नही, वरन् सामाजिक, राजनैतिक तथा सुरक्षात्मक परिस्थितियो को भी ध्यान मे रख कर निश्चित की जानी चाहिए।

5. अधिकतम आय और अधिकतम प्रसन्नता का एक ही अर्थ नहीं है यह सिद्धान्त राष्ट्रीय आय के अधिकतम होने को अधिकतम सुख एव प्रसन्नता का सूचक मानता है। परन्तु प्रति व्यक्ति आय अधिकतम होने पर भी देश म वास्तविक प्रसन्नता (Happiness) का अभाव हो सकता है। वास्तविक सुख एव प्रसन्नता देश मे स्वस्थ, शिक्षित, बुद्धिमान तथा अन्तर्भावनाशील (Conscientious) नागरिको पर निर्भर है।

6. यह सिद्धान्त जनसंख्या की समस्या के सम्बन्ध में कोई नीति निर्धारित नहीं करता : यह सिद्धान्त आदर्श जनसंख्या से कम व अधिक जनसंख्या को व्यक्त करके जनाभाव (Under population) और जनाधिक्य (Over population) की अवांछनीयता का उल्लेख तो करता है, परन्तु इनको दूर करने के लिए कोई निश्चित निर्देश नहीं देता।

3 जैवकीय जनसंख्या सिद्धान्त
(Biological Theory of Population)

जनसंख्या की वृद्धि के सम्बन्ध में कुछ खोज जीव शास्त्र के विद्वानों (Biologists) ने भी की है। उनके अनुसार जनसंख्या पहले धीरे-धीरे बढ़ती है, इसके पश्चात् बड़े वेग से बढ़ने लगती है। इसके पश्चात् वह स्थिर हो जाती है या घटने लगती है। कुछ समय के पश्चात् घटने की गति भी एक निश्चित् बिन्दु तक तीव्र रहती है। उसके पश्चात् वह पुन बढ़ना प्रारम्भ कर देती है। परन्तु इस प्रकार जनसंख्या के पुन घटने की प्रवृत्ति जिस बिन्दु से प्रारम्भ होती है वहां जनसंख्या पहले जितनी थी उससे अधिक ही रहती है।

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन अमरिका के जीव शास्त्र के विद्वान प्रोफेसर रेमन्ड पर्ल (*Prof Raymond Pearl*) ने फल की मक्खियों की वृद्धि के अध्ययन के आधार पर किया था। उनका मत था कि प्रारम्भ मे जीवन-निर्वाह के साधनों का अभाव होने के कारण जनसंख्या में वृद्धि नहीं होती या धीमी गति से होती है। उसके पश्चात् आर्थिक कठिनाइयों को दूर होने तथा जीवन-निर्वाह के साधनों और सभ्यता का विकास होने पर जनसंख्या तेजी से बढ़ने लगती है। परन्तु यह वृद्धि एक निश्चित् सीमा तक ही सम्भव है। सभ्यता की चरम सीमा पर पहुंचने पर उसके बढ़न का क्रम समाप्त हो जाता है और वह स्थिर हो जाती है या घटने की प्रवृत्ति व्यक्त करती है।

कुछ विद्वानों ने माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त की सत्यता का प्रमाणित करने के लिए यह बतलाया है कि योरोप के कई देशों में जनसंख्या में वृद्धि इसी क्रम से हुयी है, फिर भी यह सिद्धान्त सदैव और सर्वत्र लागू नहीं होता। इसके दो कारण है—प्रथम तो यह है कि इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करने में मनुष्यों तथा मानव समाज का अध्ययन नहीं किया गया है, अतः जनसंख्या में वृद्धि की प्रवृत्ति का आधार किसी अन्य जीवधारी की संख्या में वृद्धि की प्रवृत्ति को नहीं बनाया जा सकता। द्वितीय यह कि वातावरण के परिवर्तन का प्रभाव मनुष्य के विचारों, आचरण आदि पर भी पड़ता है जिससे परोक्ष रूप से जनसंख्या की वृद्धि भी प्रभावित होती है।

4 जनसंख्या की वृद्धि को ज्ञात करने की अन्य विधियां

जनसंख्या की वृद्धि को ज्ञात करने की अन्य विधियां भी प्रयोग में लायी जाती हैं जिनमे पर्ल का वाइटल इन्डेक्स (Pearl's Vital Index) तथा कुजिन्स्की की वास्तविक पुनरुत्पादन दर (Net Re-production Rate) की विधियां विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं

(अ) पर्ल का वाइटल इन्डैक्स (Pearl's Vital Index) :

इस विधि के द्वारा जनसंख्या में वृद्धि या कमी को बच्चों के जन्म तथा उनकी मृत्यु की दरों के आधार पर ज्ञात किया जाता है। प्रो० पर्ल के अनुसार जनसंख्या हमेशा बहुत तेजी से नहीं बढ़ती है। यदि किसी देश में अधिक बच्चे उत्पन्न हो रहे है परन्तु उनकी मृत्यु दर कम है तो निश्चित् ही वहां जनसंख्या बढ़ेगी। परन्तु यदि बच्चों की जन्म दर कम हो और उनकी मृत्यु दर अधिक हो तो जनसंख्या घटेगी। यदि बच्चों की जन्म दर तथा मृत्यु दर समान हो अर्थात् जितने बच्चे जन्म लेते हो उतने ही मर जाते हो, तो जनसंख्या स्थिर रहेगी। इस प्रकार इस सिद्धान्त के आधार पर जनसंख्या को यदि ग्राफ पर दिखाया जाये तो अंग्रेजी अक्षर 'S' के आकार की एक रेखा बनेगी जिसे लॉजिस्टिक रेखा (Logistic curve) कहते है। इस सिद्धान्त के अनुसार आर्थिक दृष्टि से श्रम की पूर्ति के सम्बन्ध में यह ज्ञात किया जा सकता है कि यदि जन्म लेने वाले बच्चे एक निश्चित आयु तक नहीं मरते, तो श्रम बाजार में एक निश्चित समय के पश्चात् नए श्रमिकों की वृद्धि किस सीमा तक हो सकती है? जब किसी देश में चिकित्सा-सुविधाओं के विकास तथा औषधि-विज्ञान की प्रगति के कारण शिशु मरणशीलता (Infantile Mortality) कम होती है, तब तक निश्चित अवधि के पश्चात् देश में जनसंख्या अधिक होगी।

आलोचना एवं दोष : जनसंख्या में कमी व वृद्धि को ज्ञात करने की यह विधि दोष पूर्ण है। इस विधि के अन्तर्गत जनसंख्या में कमी या वृद्धि के सम्बन्ध में निकाले गए निष्कर्ष निश्चित रूप से ठीक नहीं होते, क्योंकि यह सिद्धान्त इस पक्ष पर ध्यान नहीं देता कि कितने बच्चे शिशु-मरणशीलता की आयु पार कर जाते हैं तथा वे उस आयु पर पहुँच जाते हैं जिस पर वे बच्चे उत्पन्न कर सकें। हो सकता है कि वे शिशु मरणशीलता की आयु तो पार कर लें, परन्तु बच्चे उत्पन्न करने की आयु प्राप्त करने के पूर्व ही उनकी मृत्यु हो जाये। वाइटल इन्डैक्स-विधि इस तथ्य पर ध्यान नहीं देती।

(ब) शुद्ध या वास्तविक पुनरुत्पादन दर (Net Re production Rate) :

किसी देश में जनसंख्या बढ़ रही है, घट रही है या स्थिर है? यह ज्ञात करने के लिए 'वास्तविक पुनरुत्पादन दर' विधि का प्रयोग अधिक प्रचलित हो गया है।

इस तरीके के अधिक व्यापक प्रयोग का श्रेय Kuczynski को है। उनके विचार से जिस दर से स्त्री-जाति अपने आपको प्रतिस्थापित या अपने स्थान की पूर्ति करती है, वह वास्तविक पुनरुत्पादन दर कहलाती है।[3] यदि 1,000 औरतें 1,000 लड़कियों को जन्म देती हैं जो सन्तानोत्पादन आयु (15 वर्ष से 45–50 वर्ष) तक जीवित रहती हैं तो वास्तविक पुनरुत्पादन दर 1 होगी जो यह व्यक्त करेगी कि जनसंख्या स्थिर है। यदि 1,000 औरतें 1,000 लड़कियाँ पैदा करती हैं जिनमे से 800 ही सन्तानोत्पादन की आयु मे जीवित रहती हैं तो यह दर 1 से घटकर $\frac{800}{1000}=0.8$ हो जायेगी जो जनाभाव की स्थिति को व्यक्त करती है। परन्तु यदि सन्तान पैदा करने वाली 1,000 औरतों की पूर्ति 1,200 औरतों द्वारा हो जाती है तो पुनरुत्पादन दर $\frac{1200}{1000}$ 1.2 हो जायगी, जिससे यह ज्ञात होगा कि जनसंख्या मे वृद्धि हो रही है।

इस विधि के द्वारा जनसंख्या की वृद्धि या उसमे कमी की पुनरुत्पादन दर को ज्ञात करने के लिए कुछ आवश्यक तथ्यों को ध्यान मे रखना आवश्यक है, जैसे कितनी स्त्रियाँ किस संख्या से अपनी पूर्ति करती हैं, अर्थात् कितनी औरतें कितनी लड़कियों को जन्म देती हैं, इनमे से कितनी लड़कियाँ सन्तानोत्पादन आयु मे जीवित रहती हैं, इनमे से कितनी लड़कियाँ विवाह करती हैं, विवाह करने वाली लड़कियों मे से भी कितनी लड़कियाँ विधवा हो जाती हैं, तथा देश मे जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के लिए गर्भ-निरोधक उपायों का प्रयोग किया जाता है या नही ? इन तथ्यों और आँकड़ों को ध्यान मे रखकर ही वास्तविक पुनरोत्पादन दर ज्ञात की जा सकती है।

5 जनसंख्या तथा श्रम पूर्ति
(Population and Labour Supply)

जनसंख्या के सम्बन्ध मे नवीनतम विचारधारा के अन्तर्गत इस तथ्य एवं समस्या पर विचार किया जाता है कि किसी देश की जनसंख्या से सक्रिय श्रम की पूर्ति किस सीमा तथा अनुपात मे की जाती है और देश की अर्थ-व्यवस्था को किस सीमा तक विकसित किया जाय ताकि श्रम की उत्पादकता का अधिकतम किया जा सके ? इसी आधार पर नियोजित अर्थ-व्यवस्था का ढाँचा खड़ा किया जाता है, रोज-गार के अधिक से अधिक स्रोतों का विकास किया जाता है तथा श्रम की सहायता से राष्ट्रीय तथा व्यक्तिगत आय को अधिकतम करने के प्रयत्न किए जाते हैं।

अर्थशास्त्रियों ने जनसंख्या की समस्या के अध्ययन मे विशेष रुचि इसलिए दिखलायी है कि वह श्रम शक्ति का स्रोत है। जनसंख्या मे वृद्धि होने पर ही एक निश्चित अवधि के पश्चात् श्रमिकों की संख्या में वृद्धि सम्भव है। इसी तथ्य के

3 "The net re production rate shows the rate at which the female population is replacing itself" —Kuczynski

आधार पर जनसंख्या तथा अर्थ-व्यवस्था में सन्तुलन एवं समन्वय स्थापित करने के लिए जनसंख्या-नीति तथा आर्थिक नीति निर्धारित की जाती हैं। जनसंख्या का आर्थिक विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध है। किसी समय-विशेष में एक देश की जनसंख्या पर वहां की अर्थ-व्यवस्था का प्रभाव पड़ता है। इसके साथ ही साथ जनसंख्या सम्बन्धी समस्यायें उस देश के आर्थिक विकास की नीति को निर्धारित करने में सहायक होती है। इन दोनों ही दृष्टिकोणों का समन्वय जनांकिकीय परिवर्तन के सिद्धान्त (Theory of Demographic Transition) में किया गया है और इस सिद्धान्त के अनुसार ही अब जनसंख्या की समस्या का अध्ययन किया जाता है।

अविकसित अर्थ-व्यवस्था में जनसंख्या की समस्या.

अविकसित अर्थ-व्यवस्था वह है जिसमें मनुष्य केवल जीवित रहने के लिए प्राथमिक उद्योग—कृषि को ही महत्व देता है। अर्थ-व्यवस्था के रूढ़िवादिता एवं पुरानी परम्पराओं व मान्यताओं को अधिक महत्व दिया जाता है और मनुष्य भाग्यवादी होता है। वह कृषि के अतिरिक्त अन्य किसी उद्योग का विकास स्वयं करने के लिए प्रयत्नशील नहीं रहता। राष्ट्रीय आय कम होती है और प्रति व्यक्ति आय न्यूनतम रहती है। बौद्धिक, वैज्ञानिक तथा आर्थिक विकास न होने के कारण शारीरिक श्रम द्वारा ही आय की वृद्धि सम्भव हो पाती है। पारिवारिक आय तथा सुरक्षा के लिए परिवार में अधिक सदस्यों का होना आवश्यक हो जाता है जिससे देश में जन्म दर अधिक होती है। परन्तु जीवन-स्तर नीचा होने के कारण तथा बड़े परिवार के लिए पर्याप्त मात्रा में जीवन-निर्वाह के साधन न होने के कारण नैसर्गिक अवरोध कार्यशील रहते हैं जिससे मृत्यु-दर भी अधिक रहती है। इस प्रकार अविकसित अर्थ व्यवस्था में—

(1) जन्म दर तथा मृत्यु-दर दोनों ही अधिक होती हैं (2) पारिवारिक आय में वृद्धि करने के लिए लोग कम उम्र से ही उत्पादन कार्यों में सक्रिय रूप से भाग लेने लगते हैं, (3) जनसंख्या में शिशुओं का अनुपात अधिक होता है, क्योंकि जनसंख्या शीघ्र बढ़ती तो है, परन्तु मृत्यु दर अधिक होने के कारण कार्यशील आयु (15—60) वाले अधिक लोग जीवित नहीं रहते जिससे जनसंख्या में कार्यशील श्रम शक्ति का अभाव रहता है, (4) स्त्रियां आर्थिक क्रियाओं में भाग नहीं लेतीं जिससे देश के उत्पादक श्रम का भाग व्यर्थ चला जाता है (5) जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि होने से प्रति व्यक्ति आय और भी घटती जाती है जिसके फलस्वरूप बचत का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। बचत न होने के कारण देश के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक पूँजी का निर्माण करना कठिन हो जाता है, तथा (6) मनुष्य का औसत जीवन-काल कम होने के कारण देश में श्रम-शक्ति कम रहती है।

प्रश्न व संकेत

1. माल्थस के सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए तथा उसकी सीमाएँ बताइए।

(Raj, B A 1964)

[संकेत प्रश्न को तीन भागों में विभक्त कर प्रथम भाग में माल्थस का जनसंख्या विचार प्रस्तुत कीजिए। द्वितीय भाग में इसकी आलोचना दीजिए और तीसरे भाग में माल्थस के सिद्धान्त की व्यावहारिकता पर प्रकाश डालिए।]

2. अनुकूलतम जनसंख्या के सिद्धान्त को बताइए तथा उसकी विवेचना कीजिए।

(Nagpur. B Com I, 1967, 1964)

[संकेत सर्वप्रथम अनुकूलतम जनसंख्या के सिद्धान्त का अर्थ बताइए। द्वितीय भाग में इसकी प्रमुख आलोचनाएं बताते हुए निष्कर्ष दीजिए।]

3. "माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त निराशावादी है तथा अनुकूलतम जनसंख्या का सिद्धान्त आशावादी है। परन्तु उनमें से कोई भी एक पूर्ण जनसंख्या का सिद्धान्त नहीं है।"

(Bihar, 1960, Indore, B, Com I, 1965)

[संकेत : सर्वप्रथम माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए। द्वितीय भाग में अनुकूलतम जनसंख्या के सिद्धान्त की संक्षिप्त विवेचना कीजिए। तृतीय भाग में दोनों सिद्धान्तों की तुलना कीजिए। अन्त में निष्कर्ष दीजिए और बताइए कि दोनों ही सिद्धान्त अपूर्ण हैं।]

4. एक देश की जनसंख्या के विकास तथा उसके आर्थिक विकास के बीच सम्बन्ध की व्याख्या कीजिए।

(Delhi, B A Pass, 1961)

[संकेत प्रश्न में जनसंख्या वृद्धि का आर्थिक विकास के साथ सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए।]

18

पूँजी तथा पूँजी-निर्माण
(Capital & Capital Formation)

"The proximate causes of economic growth are the effort to economize the accumulation of knowledge and its application, and the accumulation of capital"

Arthur Lewis

पूंजी वर्तमान उत्पादन-व्यवस्था का आधार है। बडे पैमाने पर उत्पादन, नयी तथा आधुनिक तकनीकी विधियों का प्रयोग, विशिष्टीकरण तथा उन्नत एव वैज्ञानिक उत्पादन प्रणाली पूंजी के बिना सम्भव नही है। इसीलिए वर्तमान उत्पादन को पूंजी-मूलक उत्पादन कहते हैं। चाहे किसी भी प्रकार की अर्थ-व्यवस्था हो (पूँजीवादी[1] या समाजवादी) पूंजी के अभाव मे आधुनिक उत्पादन सम्भव नही है। इसका यह अर्थ नही है कि आर्थिक विकास के लिए पूंजी ही सब कुछ है। पूँजी आर्थिक विकास के लिए आवश्यक तत्व है, परन्तु पर्याप्त तत्व नही है।

1. पूँजी का अर्थ (Meaning of Capital)

सामान्यतया लोग पूंजी शब्द का प्रयोग धन या सम्पत्ति के अर्थ मे करते हैं, परन्तु अर्थशास्त्र मे इस शब्द का प्रयोग कई अर्थों मे किया जाता है। पहले के अर्थशास्त्री पूंजी के स्थान पर स्टाक (Stock)[2] शब्द का प्रयोग करते थे। एडम स्मिथ के अनुसार, पूँजी 'स्टॉक' का वह भाग है जिससे कोई व्यक्ति आय प्राप्त करने की आशा करता है। चैपमैन (Chapman) के अनुसार, "पूंजी धन का वह भाग है जिससे आय प्राप्त होती है अथवा जो आय प्राप्त करने में सहायक होता है अथवा

[1] "Capital is a necessary but not a sufficient condition of progress"
—*Nurkse*

[2] स्टॉक का अभिप्राय पुराने अर्थशास्त्रियों के अनुसार, उत्पादक के लिए उपभोग सम्बन्धी वस्तुओ, यत्र, औजार तथा मुद्रा से है।

ऐसा करने के लिए उपयोग में लाया जाता है।" प्रोफेसर बेनहम ने पूँजी शब्द का प्रयोग विस्तृत अर्थ में किया है। उनके शब्दों में,"'वर्तमान समस्त पूंजी (प्रकृति के मौलिक उपहार के अतिरिक्त) पिछले वर्षों की उत्पत्ति का भाग है। वह भूतकाल की उत्तराधिकार में मिली सम्पत्ति (Heritage) है। यह वह उत्पादन है जिसका अभी तक प्रयोग नहीं किया गया है जिसको बेकार समझकर परित्याग नहीं कर दिया गया है और जिसका अभी तक उपयोग भी नहीं किया गया है। सामाजिक उत्पादन में से सामाजिक उपभोग को घटाने के पश्चात् शेष अंक को ही एक समाज की निर्मित पूँजी अथवा बचत या उसका विनियोग कहते हैं।"[3] फिशर के अनुसार, "पूँजी वह सम्पत्ति है जो मनुष्य द्वारा किये गये पहले के श्रम का परिणाम है, परन्तु जिसका उपयोग साधन के रूप में अधिक धन उत्पादन के लिए किया जाता है।" (Capital is the product of past labour, but which is used as means of further production) बहम बावर्क (Bohm Bawark) ने मनुष्य के श्रम द्वारा उत्पादित होने के कारण पूँजी का 'उत्पादन का उत्पादित साधन' (Produced means of production) माना है।

पूँजी की उपर्युक्त परिभाषाओं से ज्ञात होता है कि पूँजी के निम्नलिखित मुख्य तत्त्व हैं

(i) पूँजी प्रकृति का निःशुल्क उपहार नहीं है। यह मनुष्य द्वारा निर्मित या उत्पादित होती है।

(ii) पूँजी मनुष्य के पूर्व श्रम का फल है जिसका प्रयोग अधिक धन का उत्पादन करने के लिए किया जाता है।

(iii) सभी पूँजी सम्पत्ति है, परन्तु वे सभी वस्तुएं, जो सम्पत्ति कहलाती हैं, पूँजी नहीं हैं। सम्पत्ति का वही भाग पूँजी है, जो अतिरिक्त सम्पत्ति या धन का उत्पादन करने के लिए प्रयोग में लाया जाता है।

2 पूँजी के भेद (Kinds of Capital)

पूँजी एक विस्तृत शब्द है, क्योंकि पूँजी का प्रयोग भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए किया जाता है। उत्पादन कार्य में ही इसका प्रयोग कई प्रकार से किये जाने के कारण इसके अग्रलिखित भेद किये गये हैं

[3] "All our present capital (apart from any original gifts of nature formed part of the output of some former years It is a heritage from the past It is output which has not yet been used up, discarded, consumed The capital formation or investment or saving of a community during any year is its output during that year minus its consumption during that year."
—Benham

(i) **स्थायी पूँजी (Fixed Capital)** के अन्तर्गत समस्त स्थायी, अचल तथा टिकाऊ सम्पत्तियां, जैसे फैक्टरी, गोदाम, कार्यालय, दुकान, यन्त्र एवं कल, औजार, कृषि-यन्त्र एवं उपकरण, परिवहन तथा सन्देशवाहन के साधन आदि जो विभिन्न उद्योगों एवं व्यापारों में स्थायी रूप से प्रयोग में लाये जाते हैं, सम्मिलित हैं। मिल (Mill) के अनुसार, "अचल या स्थायी पूँजी वह है जो टिकाऊ होती है तथा जिससे कुछ समय तक बराबर आय मिलती रहती है।" (Fixed capital is that which exists in durable shape and the return to which it spread over a period of corresponding duration)

(ii) **चल पूँजी (Floating Capital)** के अन्तर्गत उन समस्त वस्तुओं को शामिल किया जाता है जो वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन करने के लिए एक ही बार प्रयोग में आने के बाद अपना रूप परिवर्तित कर देती हैं, जैसे कच्चा माल, ईंधन, उत्पादन-विधियों में प्रयुक्त अर्द्ध-निर्मित वस्तुएं, उत्पादकों तथा व्यापारियों के पास कच्चे माल, अर्द्ध-निर्मित वस्तुओं का स्टॉक आदि। इस प्रकार मिल (Mill) के अनुसार चल पूँजी वह है जो उत्पादन में एक ही बार के प्रयोग से उत्पादन में अपना सारा कार्य समाप्त कर लेती है। (Circulating capital is that which fulfils the whole of its office in production in which it is engaged by a single use)

(iii) **कार्यशील पूँजी (Working Capital)** का अभिप्राय उस मुद्रा से है जिसका उपयोग उत्पादक द्वारा व्यवसाय चलाने के लिए किया जाता है।

(iv) **उत्पादन तथा उपभोग पूँजी (Production and Consumption Capital)** *अतिरिक्त धन के उत्पादन में सहयोग देने वाली पूँजी उत्पादक पूँजी* कहलाती है। धन के सभी वस्तुएं जो उत्पादन कार्य में श्रम की सहायता करती हैं, जैसे मशीन, कच्चा माल आदि, पूँजी के अन्तर्गत आती हैं (Production capital consists of all goods that aid labour in production)। इसके विपरीत *श्रमिकों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली वस्तुएं जो अप्रत्यक्ष रूप से* (indirectly) *उत्पादन कार्य में सहायक होती हैं, उपभोग पूँजी कहलाती हैं।*

इसके अतिरिक्त उपभोक्ताओं के पास की टिकाऊ वस्तुएं तथा उपभोक्ताओं द्वारा संग्रह की गयी उपभोग-वस्तुओं को भी पूँजी कहा जा सकता है। बेनहम का यह विचार है कि उपभोक्ताओं के पास की समस्त सम्पत्तियां, चाहे वे टिकाऊ एवं अचल हों या न हों, यदि मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए प्रयोग में लायी जाती हैं और यदि उनका मूल्य मुद्रा के माप दण्ड से निर्धारित किया जा सकता है तो इनको धन या पूँजी की संज्ञा दी जा सकती है। इस आधार पर उपभोक्ताओं के मकान, मोटरकार, टेलिवीजन, फर्नीचर, यहां तक कि पहनने के

कपड़ो तथा सग्रहीत खाद्य पदार्थों को भी पूँजी के अन्तर्गत शामिल किया जा सकता है, परन्तु व्यापारिक दृष्टिकोण से इनको पूँजी कहना उपयुक्त नही है।

(v) भौतिक तथा व्यक्तिगत पूँजी (Material and Personal Capital) वह पूँजी जो मूर्त (Concrete) तथा स्थूल (tangible) रूप मे मौजूद रहती है तथा जो विनिमयसाध्य होती है, अर्थात् एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को हस्तान्तरित की जा सकती है, जैसे मशीन, औजार, माल आदि, भौतिक पूँजी कहलाती है। व्यक्तिगत पूँजी का अर्थ मनुष्य के व्यक्तिगत गुणो से है, जो अमूर्त तथा अहस्तातरणीय (non-transferable) होते हैं। इस पूँजी के अन्तर्गत श्रमिको की कार्य कुशलता तथा व्यक्तियो की योग्यतायें सम्मिलित की जाती हैं।

(vi) विशिष्ट तथा अविशिष्ट पूँजी (Specialised and Non Specialised Capital) वह पूँजी जो किसी कार्य विशेष के लिए ही प्रयोग मे लायी जाती है, जैसे रेल का इन्जिन, विशिष्ट पूँजी (Specialised or sunk capital) कहलाती है। चूंकि इस पूँजी को किसी अन्य कार्य के लिए प्रयोग मे नही लाया जा सकता, इसलिए इसको एक-अर्थी पूँजी भी कहा जाता है। परन्तु उस पूँजी को जो कई कामो मे प्रयोग की जा सकती है, जैसे नकद रुपया बहु-अर्थी या अविशिष्ट पूँजी (Floating or non-specialised) पूँजी कहते है। अविशिष्ट पूँजी अधिक गतिशील होती है, क्योकि इसको कही पर किसी भी काम मे लगाया जा सकता है।

(vii) वेतन पूँजी तथा सहायक पूँजी (Remunerative Capital and Subsidiary Capital) श्रमिको को दी गयी नकद मजदूरी, वेतन पूँजी (Remunerative Capital) कहलाती है। वह पूँजी जो उत्पादन कार्य मे सहायक होती है, सहायक पूँजी (Subsidiary Capital) कहलाती है, जैसे मशीन, औजार आदि।

(viii) व्यक्तिगत पूँजी (Individual Capital), सामाजिक पूँजी (Social Capital), राष्ट्रीय पूँजी (National Capital) तथा अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी (International Capital) अधिकार के आधार पर वह पूँजी जिस पर किसी एक व्यक्ति का अधिकार होता है, व्यक्तिगत पूँजी कहलाती है, जैसे मकान फर्नीचर, आदि। उस पूँजी को जिस पर सारे समाज का अधिकार होता है जैसे सडक, पार्क आदि, सामाजिक पूँजी, कहते हैं। राष्ट्र के अधिकार मे रहने वाली सम्पत्तिया तथा व्यक्तिगत एव सामाजिक पूँजी, राष्ट्रीय पूँजी कही जाती है। परन्तु जब किसी पूँजी पर किसी एक राष्ट्र का अधिकार नही होता, बल्कि सभी राष्ट्रो का अधिकार होता है, जैसे एक निश्चित सीमा के बाद वायु मार्ग, समुद्री मार्ग आदि तो उसे अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी कहते हैं।

अतः अर्थशास्त्र में उन समस्त सम्पत्तियों या उस धन को ही पूँजी कहना ठीक होगा जो वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन में सहायक हों। इस प्रकार मशीन, भवन परिवहन के साधन, कच्चा माल, अर्द्ध निर्मित वस्तुएं, ईंधन का स्टाक तथा सार्वजनिक या सामाजिक उपयोग की सम्पत्तियां, जैसे अस्पताल, शिक्षण-संस्थायें, बांध, नहरें, गैस, बिजली घर बन्दरगाह आदि, को पूँजी के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है। ये सम्पत्तियां पूँजी इसलिए कही जाती हैं क्योंकि यह सब भूमि और श्रम के सम्मिलित प्रयत्न से प्राप्त की गयी हैं तथा इनका प्रयोग उत्पादन के साधनों के रूप में किया जाता है। यह प्रतिफल श्रमिकों के श्रम के सक्रिय सहयोग से ही प्राप्त होता है। अतः कार्ल मार्क्स ने पूँजी का श्रम का ही फल माना है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि किसी भी पूँजीगत सम्पत्ति (Capital Assets) का उत्पादन या निर्माण पहले से निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए *आवश्यक एवं निश्चित निर्णय के अनुसार ही किया जाता है। श्रम और भूमि के* सम्बन्ध में इस प्रकार का कोई पूर्व निर्धारित निर्णय नहीं होता। यही कारण है कि पूँजी को भूमि तथा श्रम से भिन्न माना गया है।

वर्तमान अर्थशास्त्रियों ने 'पूँजी' का प्रयोग निम्नलिखित व्यापक अर्थों में किया है:

(अ) पूँजी तथा सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार-पत्र या विलेख (Title of Ownership or Deed) सामान्यतया पूँजी के अन्तर्गत उन अधिकार पत्रों या विलेखों (Titles of Ownership or Deeds) को शामिल किया जाता है जो किसी आय का उत्पादन करने वाली पूँजीगत सम्पत्ति से सम्बन्धित हैं। इनके अतिरिक्त पूँजी का अभिप्राय ऋण-पत्रों (Bonds), अंशों एवं स्टाक (Shares and Stock), प्रतिभूतियों (Securities) आदि से भी है। पूँजीवादी देश में पूँजीगत सम्पत्तियों पर व्यक्तिगत अथवा कम्पनी के अंशधारियों का अधिकार होता है। फर्म की सम्पत्तियों पर साझीदारों की पूँजी की मात्रा ही उनके स्वामित्व का परिचायक होती है। *साम्यवादी तथा समाजवादी देश में देश की समस्त सम्पत्तियों या पूँजी पर राष्ट्र का अधिकार होता है।*

परन्तु इस सम्बन्ध में दो बातों पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है: प्रथम तो यह कि उत्पादन के सम्बन्ध में केवल वास्तविक पूँजीगत सम्पत्तियों (Real Capital Assets) को ही पूँजी माना जाता है, क्योंकि उत्पादन के साधन के रूप में वास्तविक पूँजीगत सम्पत्तियों का ही प्रयोग किया जाता है, न कि उनके अधिकार पत्रों का, द्वितीय, यह कि पूँजीगत सम्पत्तियों के अधिकार-पत्रों के हस्तान्तरण या अंशों एवं ऋण-पत्रों के क्रय विक्रय का अन्तिम लक्ष्य उत्पादन के लिए पूँजीगत सम्पत्तियों को प्राप्त करना ही होता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी वस्तु के उत्पादन के लिए

बैंक से ऋण प्राप्त किया जाये तो प्राप्त धन को यन्त्र, भवन, कच्चा माल आदि में परिवर्तित कर लिया जायेगा। केवल ऋण-पूंजी से वस्तुओं का उत्पादन सम्भव नहीं हो सकेगा। पूंजी की गणना करते समय ऋण के लिए दी गयी स्वीकृति का अस्तित्व केवल हिसाब-किताब के लिए ही होता है। उत्पादन के लिए उस ऋण से प्राप्त की गयी पूंजीगत सम्पत्तियों को ही पूंजी माना जायेगा। इसी प्रकार अंशों तथा ऋण-पत्रों का निर्गमन करने पर प्राप्त धन से कम्पनी स्थायी तथा कार्यशील सम्पत्तियां क्रय करती है और अपनी पूंजी को वास्तविक पूंजीगत सम्पत्तियों में परिवर्तित कर लेती है। इन वास्तविक सम्पत्तियों की सहायता से ही औद्योगिक उत्पादन अथवा बड़े पैमाने पर व्यापारिक कार्य किया जाता है।

(ब) मुद्रा और पूंजी : मुद्रा (Money) सम्पत्ति और धन (Wealth) का ही एक रूप है। व्यक्ति, व्यक्ति-समूह, कम्पनी अथवा राष्ट्र की पूंजीगत सम्पत्तियों के मूल्य मुद्रा में ही व्यक्त किए जाते हैं, परन्तु उत्पादन के साधन के रूप में पूंजी और मुद्रा को एक नहीं माना जाता है। पूंजी का अर्थ वास्तविक पूंजीगत सम्पत्तियों से ही लगाया जाता है, क्योंकि उत्पादन के लिए नकद धन या तरल सम्पत्ति (Liquid Asset) के रूप में मुद्रा का कोई महत्व नहीं है। पूंजी के रूप में उसका वास्तविक प्रयोग तो उसे पूंजीगत सम्पत्तियों में परिवर्तित करके ही सम्भव हो पाता है।

(स) भूमि और पूंजी : कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि भूमि को पूंजी के अन्तर्गत ही सम्मिलित करना चाहिए। यह ठीक है कि भूमि प्रकृति का एक निःशुल्क उपहार है, परन्तु उस पर समाज, राष्ट्र या व्यक्ति का अधिकार होता है। उसके प्रयोग का अधिकार, उसका मूल्य चुकाये बिना प्राप्त नहीं होता। अतः उसका मूल्य होने के कारण उसे पूंजी ही मानना चाहिए। इसके अतिरिक्त भूमि जिस रूप में प्राप्त होती है उसी रूप में उसका प्रयोग नहीं किया जाता। उसे उत्पादन के योग्य बनाने के लिए उस पर कुछ न कुछ धन व्यय करना पड़ता है। अतः वह मूल्यवान सम्पत्ति के रूप में पूंजी की श्रेणी में रखी जाती है। परन्तु जिन विद्वानों का यह मत है कि भूमि पूंजी नहीं है, उनका यह कहना है कि भूमि प्रकृति की देन है जो नष्ट नहीं होती जबकि पूंजी मनुष्य के श्रम द्वारा पैदा होती है तथा नष्ट हो जाती है। भूमि के स्थायित्व के कारण भी उसे पूंजी से भिन्न माना गया है, क्योंकि पूंजी में स्थान तथा उपयोग सम्बन्धी गतिशीलता दोनों ही है, जबकि भूमि में इस गुण का अभाव है।

(द) श्रम और पूंजी : पूंजी श्रमिकों के पूर्व परिश्रम का फल है। अतः उत्पादन के साधन के रूप में पूंजी की अपेक्षा श्रम का महत्व अधिक है। एक व्यक्ति का शारीरिक अथवा मानसिक श्रम आय प्राप्त करने में सहायक होता है। इस आधार पर यह कहा जाता है कि मनुष्य के श्रम एवं गुण को व्यक्तिगत पूंजी की संज्ञा

दी जा सकती है। परन्तु पूँजी की तरह श्रम में वृद्धि सम्भव नहीं होती। गतिशीलता का अभाव तथा क्षयशीलता के दोषों के कारण श्रम को पूँजी की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। श्रम के सम्बन्ध में पूर्व आयोजित निर्णय भी नहीं लिया जा सकता। श्रमिकों के कार्य कौशल पर व्यय किए गए धन को वापस प्राप्त नहीं किया जा सकता, जबकि पूँजी का विनियोजन करने के लिए पूर्व निर्णय लेना सम्भव होता है तथा विनियोजित पूँजी उत्पादित वस्तुओं के रूप में पुन वापस प्राप्त हो जाती है। इन कारणों के आधार पर ही पूँजी श्रम से भिन्न होती है।

3. पूँजी की विशेषताएं (Characteristics of Capital)

(1) निष्क्रियता पूँजी उत्पादन का एक निष्क्रिय साधन है। भूमि की तरह पूँजी के होने पर भी यदि 'श्रम' न हो तो पूँजी का कोई महत्व नहीं होगा यही कारण है कि कार्ल मार्क्स आदि विद्वानों ने श्रम को अधिक महत्व प्रदान किया है।

(2) मनुष्य कृत साधन पूँजी उत्पादन का एक मनुष्य कृत साधन है। यह मनुष्य के पूर्व श्रम का फल है, तथा उसके भूतकालीन उत्पादन का अंश है जो भविष्य में उत्पादन के लिए बचत के रूप में रखा जाता है।

(3) पूँजी में उत्पादकता होती है वह सम्पत्ति ही पूँजी है जो अतिरिक्त धन-सम्पत्ति का उत्पादन करती है। अतः पूँजी उत्पादक होती है। यही कारण है कि उत्पादक पूँजी की माग करते हैं।

(4) अनिवार्य साधन नहीं है पूँजी को उत्पादन का अनिवार्य साधन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पूँजी के रहने पर भी यदि आधारभूत साधन भूमि और श्रम उपलब्ध नहीं हो तो उत्पादन-कार्य सम्भव नहीं हो सकता। परन्तु आज के युग में बड़े पैमाने पर उत्पादन तथा तकनीकी उत्पादन के लिए पूँजी को अनिवार्य साधन माना जाता है।

(5) पूँजी परिवर्तनशील है पूँजी की मात्रा में वृद्धि अथवा कमी सरलता से की जा सकती है। उसके सम्बन्ध में पूर्व-निर्णयों के आधार पर पूँजी-निर्माण की योजनायें कार्यान्वित की जाती हैं। राष्ट्रीय आय में वृद्धि तथा व्यक्तिगत एवं सामाजिक बचत को बढ़ाकर पूँजी भी बढ़ायी जा सकती है। इसके विपरीत व्यक्तिगत उपभोग तथा सामाजिक उपभोग में वृद्धि करके पूँजी में आवश्यकतानुसार कमी भी की जा सकती है।

(6) पूँजी अस्थायी साधन पूँजी, भूमि की तरह स्थायी (Permanent) साधन नहीं है। एक निश्चित समय तक प्रयोग करने के बाद पूँजी, जैसे मशीन, नष्ट हो जाती है। अतः उसका फिर से उत्पादन करना पड़ता है अथवा उसकी पूर्ति नये सिरे से करनी पड़ती है।

(7) पूँजी गतिशील साधन है : उत्पादन के साधनों में सबसे अधिक गतिशील साधन पूँजी है। उसको विभिन्न कार्यों के लिए उपयोग में लाया जा सकता है तथा विश्व के किसी स्थान पर सरलतापूर्वक भेजा जा सकता है। पूंजी के उपलब्ध होने पर देश का आर्थिक विकास सम्भव हो पाता है।

4 पूँजी का महत्व (Importance of Capital)

वर्तमान उत्पादन व्यवस्था में पूँजी का स्थान अत्यधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। यद्यपि पूँजी उत्पादन का एक निष्क्रिय साधन है फिर भी भूमि और श्रम को कार्य में लगाने में पूँजी ही सहायक होती है। पूँजी, मशीन आदि की सहायता से ही श्रम की उत्पादकता बढ़ती है, मनुष्य भौतिक साधनों का पूर्ण-लाभ उठा पाता है। बड़े पैमाने पर उत्पादन पूँजी की सहायता से ही सम्भव हो सका है तथा श्रम-विभाजन और तकनीकी विधियों के प्रयोग पूँजी की ही देन है। पूँजी ही उत्पादन की प्रक्रियाओं को जारी रखती है, क्योंकि वस्तुएं निर्मित होने के फौरन बाद ही नहीं बिक जाती। ऐसी स्थिति में उत्पादित वस्तुओं में लगी पूंजी कुछ समय तक फसी रहती है। अन्य द्रव्य के रूप में पूँजी उत्पादन कार्य को निरन्तर बनाये रखने म सहायक होती है। उपभोक्ता को भी अपनी जीवन निर्वाह के साधन प्राप्त होते रहते हैं। उत्पादन के साथ ही साथ वस्तुओं की बिक्री तथा कच्चे माल खरीदने के लिए पूंजी की आवश्यकता पड़ती है। बिक्री के लिए यातायात तथा सदेशवाहन के साधन आवश्यक हैं, जो पूँजी के ही रूप हैं। कच्चा माल भी पूँजी ही है और उसे प्राप्त करने के लिए भी पूँजी के रूप में नकद धन की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आधुनिक उत्पादन-व्यवस्था में पूंजी का अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं अनिवार्य स्थान है।

पूँजी की आवश्यकता प्रत्येक प्रकार की अर्थ-व्यवस्था में पड़ती है। चाहे वह साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था हो या पूँजीवादी। दोनों ही अर्थ व्यवस्थाओं में अधिकतम राष्ट्रीय उत्पादन का लक्ष्य पूँजी के बिना प्राप्त नहीं किया जा सकता। देश में पूर्ण रोजगार की स्थिति लाने के लिए नए-नए उद्योग-धन्धों को स्थापित करना आवश्यक है। ये उद्योग धन्धे पूँजी के अभाव में स्थापित नहीं किये जा सकते। पूंजी के नहीं रहने पर न तो व्यक्तिगत आय ही बढ़ सकती है और न ही लोगों का जीवन स्तर ही ऊंचा उठ सकता है। कोई भी देश, चाहे वह विकसित (Developed) हो, अर्द्ध विकसित (Under developed) हो या अविकसित (Underdeveloped) हो, पूँजी के बगैर आर्थिक एवं औद्योगिक विकास की योजनाएं पूरी नहीं कर सकता।

5. पूँजी-निर्माण तथा पूँजी-संचय
(Capital Formation and Accumulation)

आर्थिक विकास के लिए पूँजी-निर्माण एवं संचय अत्यन्त आवश्यक है।

पूंजी-निर्माण का अर्थ देश मे अतिरिक्त उत्पादन के उत्पादित साधनों (Produced means of further production) अर्थात् 'उत्पादक वस्तुओ की मात्रा मे वृद्धि से होता है। प्रो० नर्कसे (Prof Nurkse) के अनुसार, "पूँजी निर्माण का अर्थ यह है कि समाज अपनी वर्तमान उत्पादन क्रियाओ द्वारा तत्कालीन उपभोग की इच्छाओ और आवश्यकताओ की पूर्ति ही नहीं करता, बल्कि वह उनका एक अंक पूँजीगत सम्पत्तियो के बनाने के लिए भी प्रयुक्त करता है। औजार तथा उपकरण, यन्त्र तथा परिवहन की सुविधायें, कल और यन्त्र वास्तविक पूंजी के रूप हैं जो उत्पादन प्रयत्नो के प्रभाव मे अधिक वृद्धि कर सकते हैं।'[4] यह तभी समय सम्भव हो सकता है तब कि समस्त वर्तमान राष्ट्रीय उत्पादन या आय का उपभोग न किया जाय और उसके एक भाग या अंश को बचत के रूप संचित किया जाये। परन्तु पूंजी निर्माण के लिए केवल बचत का संचय ही काफी नही है। उसका उचित विनियोजन (Investment) भी आवश्यक है जिससे प्रति वर्ष अतिरिक्त पूंजीगत सम्पत्तियो जैसे औद्योगिक मशीनो भूमि, कृषि यन्त्रो तथा औजारो, सिंचाई तथा परिवहन के साधनों आदि का निर्माण एवं उत्पादन सम्भव हो सके। विकसित तथा विकासोन्मुख (D-veloped and Developing) दोनो प्रकार के देशो मे, जहा पर पूंजी निर्माण तथा पूंजी-विस्तार या पूंजी की पूर्ति मे वृद्धि करना आवश्यक होता है राष्ट्रीय उत्पादन के कुछ अंश को बचाना आवश्यक है, जिससे पूंजी-निर्माण तथा संचय की प्रक्रिया बराबर चलती रहे।

पूंजी-निर्माण (Capital Formation) तथा पूंजी के संचय (Accumulation of Capital) के सम्बन्ध मे क्रमश 'पूँजी गहन' (deepening of Capital) तथा 'पूँजी विस्तार' (Capital sparse or widening of cap tal) की विधियो का उल्लेख किया जाता है। 'पूँजी गहन विधि' का अभिप्राय पूंजी निर्माण से है। इस विधि के अन्तर्गत व्यक्ति तथा समाज की बचत को एकत्र करके वर्तमान पूंजीगत सम्पत्तियो की सहायता से अतिरिक्त पूंजी, मशीन, औजार आदि का उत्पादन किया जाता है। यह प्रक्रिया बराबर चलती रहती है जिससे न केवल पुरानी तथा अप्रचलित मशीनो तथा पूंजीगत सम्पत्तियो के स्थान पर नयी पूंजीगत सम्पत्तियो का प्रयोग सम्भव हो पाता है, बल्कि नए नए उद्योगो को स्थापित करने के लिए भी मशीनो

[4] "The meaning of 'capital formation' is that society does not apply the whole of its current productive activity to the needs and desires of immediate consumption, but directs a part of it to the making of capital goods tools and instruments, machines and transport facilities, plants and equipment--all the various forms of real capital that can greatly increase the efficiency of productive efforts."

—*Prof. R Nurkse*

आदि का उत्पादन सम्भव होता है। विकसित देशों में जहां पूंजी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होती है, अभिनवीकरण (Rationalisation) की योजनायें पूंजी-निर्माण द्वारा ही कार्यान्वित की जाती हैं। परन्तु एक विकासशील (developing) देश में जहां औद्योगिक विकास के लिए बुनियादी (basic) उद्योगों तथा औद्योगिक ढांचे के आधार ((infra-structure), परिवहन व शक्ति के साधन आदि, का निर्माण करना आवश्यक होता है, वहां पूंजी निर्माण का आशय इन समस्त उद्योगों के लिए नयी मशीनों तथा नये साधनों का निर्माण एवं उत्पादन से है। इन कार्यों के लिए पूंजी-विस्तार की विधि अपनायी जाती है। **पूंजी विस्तार का अर्थ है पूंजी की कमी की पूर्ति करना।** पूंजी की पूर्ति देश में वास्तविक बचत का निर्माण करके तथा लोगों की बचत को एकत्र करके बढ़ायी जा सकती है। किन्तु देश में पर्याप्त मात्रा में बचत नहीं होने पर पूंजी की पूर्ति विकसित तथा धनी राष्ट्रों से ऋण एवं सहायता लेकर बढ़ायी जा सकती है। इस प्रकार देश की आन्तरिक बचत (domestic savings) तथा विदेशी आर्थिक सहायता से पूंजी की मात्रा बढ़ती है। उसका प्रयोग पूंजीगत सम्पत्ति के निर्माण के लिए किया जाता है। बाद में चलकर ये पूंजीगत सम्पत्तियां ही पूंजी निर्माण, अर्थात् अतिरिक्त पूंजी के उत्पादन में सहायक होती हैं। इस प्रकार नयी औद्योगिक तथा व्यापारिक संस्थाओं को स्थापित करने, कृषि का आधुनिक तरीके से विकास करने, यातायात के साधनों को बढ़ाने, नयी नयी वस्तुओं का उत्पादन करने तथा रोजगार बढ़ाने के लिए प्रारम्भिक अवस्था में पूंजी विस्तार की तथा बाद में पूंजी निर्माण की विधियां अपनायी जाती हैं। वास्तव में एक विकासशील देश के लिए पूंजी-विस्तार एक मजबूत प्रेरक शक्ति है जो पूंजी निर्माण की विधियों का शक्ति प्रदान कर आगे बढ़ाती है।

पूंजी-विस्तार तथा पूंजी-निर्माण के सम्बन्ध में बचत का अर्थ वास्तविक बचत से है। वास्तविक बचत व्यक्तियों तथा फर्मों द्वारा आय में से बचाये गये उस अंश को कहते हैं जो अतिरिक्त पूंजीगत सम्पत्तियों के उत्पादन के लिए अलग कर दी जाती है। इस बचत का समुचित विनियोजन आवश्यक है। इसके साथ ही साथ लोगों में बचत करने की इच्छा एवं प्रवृत्ति भी होनी चाहिए। वास्तविक बचत में पूंजी-निर्माण उसी समय सम्भव हो सकता है जबकि देश में निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्रों को पूंजी निर्माण के लिए वित्तीय तथा साख की सुविधाएं प्राप्त हों। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि उपलब्ध बचत का विनियोजन पूंजीगत सम्पत्तियों के निर्माण के लिए ही किया जाये।

पूंजी निर्माण का अनुमान किसी भी देश में किसी एक निश्चित अवधि में कुल पूंजी-निर्माण का अनुमान केवल इस आधार पर ही नहीं लगाया जा सकता कि उस अवधि में कितनी अतिरिक्त पूंजीगत सम्पत्तियों का उत्पादन तथा निर्माण

हुआ है। उसमे आयात की गयी पूंजीगत परिसम्पत्तियो को भी सम्मिलित किया जाता है। इस प्रकार पूंजीगत सम्पत्तियो म वृद्धि का अनुमान निम्नलिखित विधि से ज्ञात किया जा सकता है :

कुल पूंजी निर्माण = {उत्पादित पूंजीगत सम्पत्तिया + आयात की गयी पूंजीगत सम्पत्तिया}

Gross Capital formation = {(Produced Means of Production + Imports of Capital Assets}

परन्तु वास्तविक पूंजी-निर्माण ज्ञात करने या पूंजीगत वस्तुओ मे वास्तविक वृद्धि जानने के लिए यह आवश्यक है कि उपर्युक्त 'कुल पूंजी निर्माण' मे से पूंजीगत सम्पत्तियो पर ह्रास के रूप म हुयी हानि को घटा दिया जाय। इस प्रकार वास्तविक पूंजी-निर्माण की गणना निम्नलिखित विधि म की जाती है.

वास्तविक पूंजी निर्माण = {(उत्पादित पूंजीगत सम्पत्तिया + आयात की गयी पूंजीगत सम्पत्तिया) — वर्तमान पूंजीगत सम्पत्तियो मे ह्रास}

Net Capital formation = {(Produced Means of Production + Imports of Capital Assets) Depreciation on existing Capital Assets}

एक अविकसित देश मे कुल उत्पादन मे से कुछ अंश बचाकर पूंजी निर्माण की प्रक्रिया सम्पादित करने पर यह आवश्यक नही है कि पूंजीगत सम्पत्तियो मे वृद्धि हो। ऐसे देश मे वर्तमान पूंजीगत सम्पत्तियो का अधिकतम तथा अकुशल प्रयोग होने पर मशीनो तथा पूंजीगत सम्पत्तियो मे ह्रास और टूट-फूट अधिक होगी जिसके फलस्वरूप वास्तविक पूंजी निर्माण कम होगा।

पूंजी निर्माण के सम्बन्ध म हम बचत और विनियोग का अध्ययन करते हैं। और इनके आधार पर ही पूंजी निर्माण की समस्त प्रक्रिया का अध्ययन एव विवेचन करते है। पूंजी निर्माण के लिए बचत तथा विनियोग आवश्यक हैं। यहा पर बचत और विनियोग का अभिप्राय राष्ट्रीय बचत तथा राष्ट्रीय विनियोगो से है। कुल राष्ट्रीय विनियोग की गणना केवल उत्पादित पूंजीगत सम्पत्तियो के मूल्यो के योग के आधार पर ही नही की जाती। उसमे उन धन राशियो को भी सम्मिलित किया जाता है जो उत्पादन के सहायक साधनो एव पूंजीगत सम्पत्तियो (Capital Assets) को प्राप्त करने के लिए, लिए गए प्राप्त वित्तीय ऋणो एव दायित्वो के शोधन तथा सरकारी एव सामाजिक विनियोग पर व्यय की जाती हैं।

कुल विनियोग = { पूँजीगत सम्पत्तियो मे वास्तविक वृद्धि (निजी क्षेत्र मे) + सामाजिक एव सार्वजनिक पूँजीगत सम्पत्तियो मे वृद्धि + वित्तीय ऋणो एव दायित्वो मे वृद्धि }

परन्तु शुद्ध एव वास्तविक विनियोग (Net Investment) को ज्ञात करते समय दो बातो पर ध्यान देना चाहिए (1) वर्तमान सम्पत्ति के क्रय विक्रय पर तथा (2) ऋणो द्वारा उत्पादित पूँजीगत सम्पत्तियों का मूल्य निर्धारित करने म वित्तीय दायित्वो की मौद्रिक राशि पर।

जब कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति बेचता है तब यह देखना चाहिए कि वह उस प्राप्त राशि का उपयोग किस प्रकार करता है ? यदि वह उस धन का प्रयोग उपभोग के लिए करता है तो पूँजीगत सम्पत्ति मे वृद्धि नही होती। यह उसके लिए निर्विनियोग (*Dis-investment*) है। *जब वित्तीय ऋण एव दायित्वो के द्वारा पूँजीगत* सम्पत्तियो का निर्माण किया जाता है तब पूँजीगत सम्पत्तियो की वास्तविक वृद्धि ज्ञात करने के लिए उनके मूल्य मे इन दायित्वो को घटा देना चाहिए। अत —

शुद्ध विनियोग = कुल विनियोग — (निर्विनियोग + वित्तीय ऋण एव दायित्व)

6 पूँजी निर्माण तथा पूँजी सचय को प्रभावित करने वाले तत्व (Factors Affecting Capital formation and Capital accumulation)

किसी भी देश मे पूँजी निर्माण पूँजी के सचय द्वारा ही सम्भव होता है। पूँजी-निर्माण के लिए वास्तविक बचत (real savings) का होना आवश्यक है। वास्तविक बचत लोगो की आय और उपभोग पर निर्भर है। परन्तु किसी देश मे बचत एव विनियोग को प्रभावित एव निर्धारित करने वाले कई तत्व होते हैं जिनके आधार पर पूँजी सचय के द्वारा पूँजी निर्माण सम्भव होता है। इन तत्वो को निम्नलिखित तीन वर्गो मे रखा जा सकता है (अ) बचत करने की शक्ति या क्षमता (Power or Capacity to save), (ब) बचत करने की इच्छा (Willingness to save), तथा (स) बचत करने की दशायें (Conditions to save or Opportunity to save)

(1) बचत करने की क्षमता (Capacity to save) बचत करने की क्षमता या शक्ति व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय आय पर निर्भर है। व्यक्तिगत उपभोग के समान रहने पर यदि व्यक्तिगत आय म वृद्धि हो, तो आय की अपेक्षा व्यय कम होने से व्यक्तिगत बचत की क्षमता अधिक होगी। इसी प्रकार राष्ट्रीय व्यय की अपेक्षा राष्ट्रीय आय अधिक होने पर देश म वास्तविक बचत की क्षमता अधिक होगी। अत वास्तविक बचत म वृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्रीय आय मे वृद्धि के साथ ही साथ व्यक्तिगत आय म भी वृद्धि हो। परन्तु इस सम्बन्ध मे यह ध्यान मे रखना

आवश्यक है कि केवल आय मे वृद्धि होने पर ही बचत की क्षमता मे वृद्धि नही हो जाती। इसके लिए यह आवश्यक है कि व्यक्तिगत व्यय पर अन्य विकसित देशो के लोगो के श्रेष्ठतर उपभोग का 'प्रदर्शन-प्रभाव' (Demonstration effect) न पडे, अन्यथा लोगो द्वारा नवीन वस्तुओ के उपभोग का अनुकरण करने पर आय मे बचत का अंश भी अच्छी वस्तुओ के उपभोग पर व्यय किया जायेगा।

व्यक्तिगत तथा सामाजिक बचत की क्षमता आय पर निर्भर रहने के कारण यह आवश्यक है कि **प्रति-व्यक्ति आय तथा राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो।** यह वृद्धि पूंजीगत सम्पत्तियो तथा श्रमिकों के कार्य-कौशल को बढाकर अधिक उत्पादन द्वारा ही सम्भव हो सकती है। परन्तु इसके साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि लोगो के जीवन-स्तर तथा परिवार के आकार मे असामान्य वृद्धि न हो। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत आय कार्य की प्रकृति, आर्थिक विकास की सामान्य दशाओ, श्रम नियोक्ताओ की मजदूरी-वितरण-नीति, उपभोग—वस्तुओ के बाजार मूल्य तथा अन्य सामाजिक एव आर्थिक दशाओ पर निर्भर है।

(2) **बचत करने की इच्छा** (**Willingness to save**) पूंजी सचय एव पूंजी निर्माण के लिए देश मे बचत करने की शक्ति का होना ही काफी नही है बल्कि लोगो मे अपनी आय के एक अंश को बचाने की इच्छा का होना अधिक महत्वपूर्ण तथा आवश्यक है। बचत करने की इच्छा लोगो की मानसिक प्रवृत्तियो तथा सामाजिक एव राजनीतिक परिस्थितियो पर निर्भर है :

(i) **मानसिक प्रवृत्तियो** के अन्तर्गत मनुष्यो की दूरदर्शिता तथा उनके स्वभाव को सम्मिलित किया जाता है। एक दूरदर्शी व्यक्ति अपनी वर्तमान आय का अधिक से अधिक भाग बचाकर रखना चाहता है जिससे वह भावी अनिश्चित एव आकस्मिक व्ययो की पूर्ति करने मे समर्थ हो सके। यदि किसी देश मे अधिक से अधिक व्यक्ति अपनी आय मे से कुछ भाग बचाते रहते हैं, तो वहा पर बचत की मात्रा अधिक होगी। कुछ व्यक्तियो मे अपनी आय के एक अंश को बचाने की आदत होती है। वे अन्य व्ययो की तरह अपनी आय मे से एक निश्चित भाग बचाने को भी अधिक महत्व देते हैं। जिस देश के व्यक्तियो मे बचत करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होगी, वहा बचत अधिक होगी और जहा लोग अधिक फिजूल-खर्ची होगे, वहा बचत कम होगी।

(ii) **सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितिया :** यदि किसी देश मे सामाजिक प्रतिष्ठा, लोगो के पास एकत्र धन एव ऐश्वर्य के आधार पर निर्धारित की जाती है तो यह स्वाभाविक है कि वहा के लोगो मे धन-सग्रह करने की इच्छा बलवती होगी। इसके अतिरिक्त लोग राष्ट्रीय हितो की सुरक्षा तथा देश के आर्थिक विकास की भावनाओं से प्रेरित होकर भी अपनी आय का कुछ भाग बचाने के लिए प्रयत्नशील होते हैं।

(3) बचत करने की दशायें (Conditions to save):

(1) देश में शांति एवं सुरक्षा : बचत करने की क्षमता और इच्छा कुछ आधारभूत शर्तों पर निर्भर है। यदि देश में शांति और सुरक्षा होती है, व्यक्तिगत सम्पत्ति के संग्रह पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता तथा जन-जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए सरकार आवश्यक प्रबन्ध एवं व्यवस्था करने के लिए सजग तथा जागरूक रहती है तो लोगों में भी अपनी आय को बचाने की इच्छा होती है।

(2) विनियोजन की सुविधायें : देश में सुरक्षित विनियोग की सुविधाओं के होने पर लोग बचत करने के लिए प्रोत्साहित होते हैं। इन सुविधाओं के न होने पर लोग अपनी बचत को अनुत्पादक सम्पत्तियों, जैसे, आभूषणों, उपभोग-वस्तुओं आदि में विनियोजित कर देते हैं। अतः बचत को प्रोत्साहित करने के लिए देश में बैंकिंग व्यवस्था का समुचित विकास होना आवश्यक है। बीमा कम्पनियां, जीवन-बीमा तथा सम्पत्तियों का बीमा करके लोगों की बचत को संग्रह करती है। प्राविडेन्ट फण्ड, अनिवार्य बीमा, अनिवार्य बचत, वार्षिकी जमा आदि की सुविधायें उपलब्ध होने पर भी व्यक्तिगत बचत में वृद्धि होती है।

बचत की उपर्युक्त सुविधाओं के होने के साथ साथ ही देश में बचत को विनियोजित करने के लिए सुरक्षित व्यापारिक एवं औद्योगिक संस्थाओं का भी होना आवश्यक है। यदि व्यापारिक तथा औद्योगिक संस्थान अपने लाभ का एक अंश स्वतः व्यापार अथवा उद्योग में विनियोजित करते है, तो ऐसे विनियोग को प्रत्यक्ष विनियोग कहा जाता है। परन्तु जब उद्योगपति तथा व्यापारी अन्य लोगों की बचत को प्राप्त करके अपने उद्योग तथा व्यापार का विकास व विस्तार करते हैं, तब लोगों की बचत के ऐसे विनियोग को अप्रत्यक्ष विनियोग कहते हैं। अप्रत्यक्ष विनियोग के लिए देश में मुद्रा तथा अंश बाजारों, विनियोग-न्यासों, बीमा कम्पनियों आदि का होना आवश्यक है। ये संस्थायें लोगों की बचत को संग्रह करके उसे गतिशील बनाती है जिससे पूंजी-निर्माण में सहायता मिलती है।

7. पूंजी-निर्माण में राज्य का योगदान
(Government & Capital-Formation)

पूंजी निर्माण पर सरकार की व्यापारिक एवं औद्योगिक नीति का भी अधिक प्रभाव पड़ता है। इस नीति में सरकार निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखती है :

(1) विदेशी पूंजी : जिस देश में स्वतन्त्र व्यापार की नीति अपनायी जाती है वहां बचत की क्षमता कम होने पर पूंजी की कमी की पूर्ति विदेशी पूंजी के आयात द्वारा सम्भव हो जाती है। विदेशों से पूंजीगत सम्पत्तियों का आयात करके देश में पूंजी निर्माण किया जाता है। एक अविकसित राष्ट्र अपनी आर्थिक व्यवस्था के नव-

निर्माण की प्रारम्भिक स्थिति मे पूंजी निर्माण के लिए विदेशी पूंजी की सहायता की नीति अपनाता है।

(2) **व्यावसायिक नीति :** एक विकासोन्मुख देश अपनी व्यावसायिक नीति द्वारा विलासिता की वस्तुओ के उपभोग को कम करने के सम्बन्ध में आवश्यक प्रतिबन्ध लगाता है। इसके फलस्वरूप उपभोग की विदेशी वस्तुओ के स्थान पर पूंजीगत सम्पत्तियो के क्रय पर अधिक बल दिया जाता है जिससे देश म विलासिता की वस्तुओ का आयात बन्द हो जाता है और पूंजीगत सम्पत्तियो का आयात बढ जाता है।

(3) **बचत योजनायें तथा कर नीति :** पूंजी-सचय के लिए सरकार अल्प-बचत योजनाओ द्वारा ऐच्छिक बचत (voluntary savings) को प्रोत्साहन देती है। बचत की मात्रा मे आवश्यकतानुसार वृद्धि न होने पर सरकार कभी कभी अनिवार्य बचत योजनाओ (compulsory saving schemes) को भी लागू करती है। इनके अतिरिक्त लोगो की आय में से कुछ अश प्राप्त करने के लिए सरकार अपनी वित्तीय एवं कर-नीतियो मे भी आवश्यक परिवर्तन करती है। प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष कर लगा कर लोगो के उपभोग का कम कर दिया जाता है जिससे राज्य की आय में वृद्धि हो सके।

(4) **घाटे की अर्थ व्यवस्था द्वारा (Deficit Financing) .** सरकार घाटे की अर्थ व्यवस्था द्वारा भी पूंजी-विस्तार या धन की व्यवस्था करती है। इससे मुद्रा प्रसार होता है। परन्तु ये दोनो ही स्थितिया सामान्य जनता के लिए ठीक नही है।

(5) **वित्तीय तथा बैंकिंग सस्थाओ का विस्तार** सरकार बैंकिंग सस्थाओ को व्यवस्थित करके उनका विस्तार करती है जिससे बचत तथा विनियोग की सुविधायें सभी स्थानो पर मिल सके। इनके अतिरिक्त सरकार औद्योगिक एव कृषि वित्त की पूर्ति करने के लिए कई वित्तीय सस्थायें स्थापित करती है।

(6) **औद्योगिक नीति** सरकार देश म पूंजी निर्माण के लिए सार्वजनिक क्षेत्र का विकास करती है जिससे देश का औद्योगिक विकास हो सके।

(7) **पूंजी निर्माण मे श्रम का उचित उपयोग** एक अविकसित देश मे जहा पूंजी की तुलना मे श्रम अधिक मात्रा मे उपलब्ध हो, वहा श्रम के अधिकतम सहयोग से पूंजी का विस्तृत प्रयोग करके पूंजी का निर्माण सम्भव हो सकता है। बेरोजगार व्यक्तियो का काम देकर अनेक प्रकार की सामाजिक पूंजीगत सम्पत्तियो का निर्माण किया जा सकता है। उनकी आय बढने पर देश मे क्रय शक्ति बढती है, अनेक उद्योग-धन्धे पनपते है, लोगो की आय मे वृद्धि होती है और इस प्रकार पूंजी निर्माण म सहायता मिलती है। अविकसित तथा अल्प विकसित राष्ट्रो के लिए प्रोफेसर नर्क्से (Prof Nurkse) ने आर्थिक विकास की योजनाओ मे श्रम द्वारा पूंजी निर्माण विधि को अधिक महत्व दिया है।

8. भारत में पूंजी-निर्माण (Capital Formation in India) :

भारत तथा अन्य अल्प विकसित देशो मे पूँजी की कमी के साथ-साथ पूंजी-निर्माण की गति भी बडी धीमी है। कुछ देश ऐसे होते हैं जिनमे श्रम की मात्रा अधिक होती है और कुछ मे पूंजी का आधिक्य। पूंजी का आधिक्य होने पर उसका उचित उपयोग आवश्यक है। यदि उसका उपयोग आर्थिक विकास के लिए किया जाये उन सस्थाओं को स्थापित किया जाये जो इस दिशा मे सक्रिय सहयोग प्रदान कर सके, तो निश्चय ही पूंजी के निर्माण तथा सचय मे सहायता मिलेगी। परन्तु अधिकाश अल्पविकसित देशो मे पूँजी की कमी होती है। इस कमी के मुख्य कारण निम्नलिखित है

(i) लोगो का निर्धन होना : भारत मे पूंजी सचय करने की इच्छा के सभी तत्वो के रहते हुए भी, पूंजी के सचय की दर बहुत ही कम है। यहा के लोग दूरदर्शी है, उनमे पारिवारिक स्नेह के कारण धन बचाने की इच्छा भी है, ब्याज की दर भी ऊँची है तथा लोग यह भी जानते हैं कि धन-सचय से उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा भी बढेगी परन्तु इतना होते हुए भी आय कम होने के कारण वे धन बचा नहीं पाते। अतः भारत मे बचत को दर कम होने से पूँजी सचय तथा निर्माण की गति भी धीमी है।

(ii) बचत करने की शक्ति : बचत करने की शक्ति कई बातो से प्रभावित होती है। यदि लोगो की आय कम है, तो उनकी बचत करने की शक्ति नही के बराबर होगी। इसके अतिरिक्त मुद्रा-प्रसार के कारण आवश्यक वस्तुओ के मूल्य अधिक होने से लोगो की बचत करने की शक्ति कम हो जाती है। इसका प्रमुख कारण है कि आय का बहुत बडा हिस्सा अनिवार्य आवश्यकताओ की पूर्ति करने पर ही खर्च हो जाता है। आय के कम होने का प्रमुख कारण जनसख्या मे लगातार वृद्धि है। राष्ट्रीय उत्पादन मे इसकी तुलना मे वृद्धि कम होने से राष्ट्रीय आय कम होती है, जिससे प्रति व्यक्ति आय भी कम हो जाती है। इसका प्रभाव राष्ट्रीय बचत पर भी पडता है। ये सब दशायें भारत मे पायी जाती हैं। इन कारणो के परिणाम-स्वरूप ही भारत मे बचत की शक्ति बहुत ही कम है।

(iii) बचत करने की सुविधायें : स्वतन्त्रता के पहले भारत मे बैंकिंग तथा वित्तीय सस्थाओ की कमी के कारण बचत करने की सुविधाओ का अभाव था। स्वतन्त्रता के पश्चात्, विशेष कर आर्थिक नियोजन काल के प्रारम्भ होने के बाद से, इन सस्थाओ को व्यवस्थित करके इनका विस्तार किया गया। आन्तरिक बचत को एकत्र करने के लिए कुछ अनिवार्य बचत योजनाए चालू की गयी, बैंको की बहुत सी शाखायें खोली गयी हैं, जीवन बीमा का विस्तार किया गया है सरकारी वित्तीय सस्थायें स्थापित की गयी हैं। अधिक ब्याज वाले सरकारी ऋण पत्र, बाइम आदि

जारी करके लोगों को बचत करने के लिए प्रोत्साहन दिया गया है। परन्तु इतना होते हुए भी भारत जैसे विशाल देश के लिए ये सुविधायें एवं प्रोत्साहन कम है, ग्रामीण क्षेत्र अब भी अविकसित हैं जिससे वहां की जनता को बचत की सभी सुविधायें प्राप्त नहीं हैं।

(iv) धन का असमान वितरण : भारत तथा अन्य अल्प विकसित देशों में बचत की दर कम होने का एक कारण यह भी है कि समाज में धन का असमान वितरण है। समाज का एक वर्ग तो अधिक धनी है तथा अधिकांश लोग गरीब हैं। धनी वर्ग ही बचत करने में समर्थ है, परन्तु यह वर्ग भी उपभोग वस्तुओं तथा अनुत्पादक सम्पत्तियों जैसे मकान, भूमि, आभूषण तथा विलासिता की वस्तुओं पर अपनी बचत खर्च कर देता है। इसका असर राष्ट्रीय बचत की दर पर पड़ता है।

(v) निर्धनता के अन्य प्रभाव : भारत जैसे अल्प विकसित देशों में निर्धनता का दुष्चक्र (Vicious circle of poverty) न केवल बचत की इच्छा तथा बचत की शक्ति को प्रभावित करता है, बल्कि श्रमिकों की कार्यक्षमता तथा कार्य कुशलता को भी कम करता है। निर्धन लोग न तो उचित शिक्षा ही प्राप्त कर पाते हैं और न ही अपना जीवन स्तर ऊंचा उठाकर कार्य कुशल हो पाते हैं। गरीबी के अन्य प्रसार प्रभावों (spread effects) में वस्तुओं की मांग कम होना, मांग कम होने से उत्पादन मात्रा कम होना, उत्पादन-मात्रा कम होने से औद्योगिक विकास का रुक जाना, रोजगार के स्रोतों का न होना, पूंजी-निर्माण में कमी होना, आदि प्रभाव गिनाये जा सकते हैं। इससे यह स्पष्ट है गरीबी का कुचक्र ही पूंजी सचय तथा निर्माण के लिए बाधक है।

अतः राष्ट्रीय सरकार को आर्थिक तथा औद्योगिक विकास की योजनाओं को लागू करना चाहिए, जैसा कि भारत सरकार ने किया है। प्रारम्भ में उसे विदेशों से ऋण एवं वित्तीय सहायता लेकर औद्योगिक विकास का ढांचा खड़ा करना चाहिए। इसके साथ ही साथ कर नीति के द्वारा लोगों की आय का थोड़ा भाग पूंजी-निर्माण के लिए प्राप्त करना चाहिए। बीमा, बैंकिंग तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं का विकास करना चाहिए। इनके अतिरिक्त जनता के दृष्टिकोण, आचरण, भावनाओं तथा व्यापारिक एवं औद्योगिक नीतियों में परिवर्तन करना चाहिए जिससे लोग भविष्य में सुखी जीवन व्यतीत करने की इच्छा से प्रेरित होकर वर्तमान आय में से कुछ न कुछ अवश्य बचायें। इनके अतिरिक्त सरकार को देश में औद्योगिक तथा आर्थिक विकास के लिए एक आधार (Infra structure) तैयार करना होगा। यह ढांचा, यद्यपि आय देने वाला नहीं है फिर भी इस ढांचे के बन जाने से राष्ट्रीय आय बढ़ाने वाले कई उद्योग धन्धे पनपने लगते हैं। यातायात, शक्ति आदि की सुविधायें उद्योग धन्धों तथा व्यापार के विकास एवं विस्तार में सहायक होती हैं।

19

साहस तथा साहसी के कार्य
(Enterprise and the Entrepreneurial Function

"Engaging in risky ventures is an essential characteristic of entrepreneurship, even though in contemporary large corporaion this function is not typically combined with managerial actitities

—William Fellner

प्रत्येक उत्पादन कर्य तथा व्यवसाय मे जोखिम (Risk) का तत्व निहित है। उत्पादक छोटा हो या बडा, उसे अनिश्चितता (Uncertainty) का सामना करना पडता है। उत्पादन का उद्देश्य उपभोक्ताओ की माग का पूरा करना है। किसी भी उत्पादन इकाई को स्थापित करने से पहले सम्भावित माग का अनुमान लगाना पडता है। आधुनिक औद्योगिक सगठन का कार्य इतना जटिल है कि उत्पादन के उद्देश्य को निश्चित करने, उद्योग को स्थापित करने तथा उत्पादन का काम शुरु करने म कुछ 'समय' लगना निश्चित है। 'समय तत्व' के कारण उत्पादन सम्बन्धी जोखिम मे बढ जाने की सम्भावना रहती है। हो सकता है कि उस 'समय' मे मांग मे परिवर्तन हो जाए या नए प्रतियोगी उसी वस्तु का उत्पादन प्रारम्भ कर दें, जिससे लाभ कम होने या हानि होने की सम्भावना बढ जाती है। यदि उत्पादक का माग सम्बन्धी अनुमान गलत सिद्ध हुआ। (मान लीजिए माग कम हो गई) तो उसे हानि उठानी पड सकती है। अत व्यवसाय मे अनिश्चितता एव जोखिम का तत्व प्रत्यक दशा मे मौजूद है। अत व्यवसाय मे अनिश्चितता एव जोखिम का तत्व प्रत्येक दशा मे मौजूद है। जो भी व्यक्ति या सस्था इस जोखिम को उठाता है या अनिश्चितता का सामना करता है, उसे साहसी या उद्यमी (Entrepreneur) कहते हैं।

1 उद्यमी कौन है ? (Who is an Entrepreneur ?)

सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि जो भी व्यक्ति उत्पादन सम्बन्धी जोखिम और अनिश्चितता को उठाता है या सहन करता है, उसे उद्यमी, उपक्रमी या

साहसी की संज्ञा दी जा सकती है। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियों (विशेषतया शुम्पीटर) ने उद्यमी को केवल 'जोखिम उठाने वाला' या 'अनिश्चितता वहन करने वाला' मात्र ही नहीं माना है, बल्कि उसे नवीन विधियों का प्रयोगकर्त्ता (Innovator) भी माना है। प्रश्न उठता है—कौन सी उत्पादन-प्रणाली नवीन है ? यदि किसी नयी खोज की गयी मशीन या उत्पादन-विधि द्वारा पहली बार उत्पादन किया जाय तो निश्चित रूप से यह कार्य Innovation माना जाएगा। अतः उत्पादन-कार्य को नये तरीके से करने वाला व्यक्ति वास्तविक अर्थों में साहसी माना जाएगा। परन्तु यदि किसी अल्प विकसित देश में एक व्यक्ति अमेरिका में प्रयोग की जाने वाली आधुनिकतम मशीन को मंगाता है और पहली बार उत्पादन के लिए अपने देश में उसका प्रयोग करता है तो क्या हम ऐसे व्यक्ति को 'उपक्रमी' कहेंगे ? किसी व्यक्ति को उपक्रमी कहे जाने के लिए निश्चित माप-दण्ड नहीं है। यह देश तथा काल पर निर्भर है। एक व्यक्ति को किसी उद्यम-विशेष के कारण एक पिछड़े हुए देश में शुम्पीटर के अनुसार, 'साहसी' कहा जा सकता है (Innovator के रूप में) तथा उसी व्यक्ति को एक विकसित देश में 'साहसी' नहीं भी कहा जा सकता है। अतः 'साहस' सम्बन्धी मान-दण्ड विभिन्न प्रकार की अर्थ-व्यवस्थाओं में अलग-अलग हैं।

"एक विकसित देश में उपक्रमी उस व्यक्ति को कहते हैं जो अर्थ-व्यवस्था में किसी नयी विधि का सबसे पहले प्रयोग करता है, जैसे निर्माण के किसी क्षेत्र में ऐसी उत्पादन-विधि अपनाना जिसे पहले नहीं अपनाया गया है, किसी ऐसी वस्तु का उत्पादन करना जिससे उपभोक्ता पूर्व परिचित नहीं है, कच्चे माल के नए स्रोत का उपयोग करना, तथा नए बाजार की खोज, आदि।"[1] अतः विकसित अर्थ व्यवस्था में वही व्यक्ति उपक्रमी कहा जा सकता है जो सर्वथा नयी विधि, वस्तु, बाजार या कच्चे माल के स्रोत का उपयोग करता है। परन्तु 'उपक्रमी' सम्बन्धी इस परिभाषा को अल्प विकसित अर्थ-व्यवस्था के संदर्भ में लागू नहीं किया जा सकता। ऐसी अर्थ-व्यवस्था में सामान्यतः उस व्यक्ति को उपक्रमी कहा जाता है जो किसी भी प्रकार के उद्योग या व्यवसाय (नया या पुराना) की स्थापना करता है तथा जोखिम व अनिश्चितता का भार उठाता है। ऐसे देशों में उद्योग धन्धे भी परम्परावादी (traditional) होते हैं, साहसी सामान्यतया नए क्षेत्रों में उद्योगों की स्थापना नहीं करते। अतः एक अल्प विकसित देश में वह व्यक्ति भी श्रेष्ठ साहसी कहा जाएगा जो

---

1 "The entrepreneur in an advanced economy is an individual who introduces something new into the economy—a method of production not yet tested by experience in the branch of manufacture concerned, a product with which consumers are not yet familiar, a new source of raw-material or of new markets and the like." —*Joseph A. Schumpeter.*

किसी पिछड़े हुए क्षेत्र मे उद्योग की स्थापना करता है, या पूँजी का विनियोजन परम्परागत उद्योगो में न करके ऐसे उद्योग मे करता है जो देश के लिए अधिक उपयोगी है (जैसे उपभोक्ता-उद्योगो के स्थान पर उत्पादक-उद्योगो या आधारभूत उद्योगो की स्थापना करना)। इस प्रकार उत्पादन के साधनो को एकत्र कर, उत्पादन के काम या व्यवसाय को प्रारम्भ करने वाला व्यक्ति ही, जो अन्तिम रूप से जोखिम उठाता है, उपक्रमी है। उद्योग या विधि नई है या पुरानी, इस तथ्य पर ध्यान नही दिया जाता। उपक्रमी का सम्बन्ध जोखिम से ही है। पूँजी के अभाव, सकुचित बाजार, नए विनियोजन पर कम लाभ-प्राप्ति, परिवहन के साधनो तथा अन्य सुविधाओ (Infra-structures) की कमी के कारण अल्प विकसित देशो मे, उद्योग स्थापित करने मे जोखिम का तत्व अधिक रहता है।

2. साहसी उत्पादन साधन के रूप में
(Entrepreneur as a Factor of Production)

पुराने अर्थशास्त्री 'साहस' को उत्पादन का अलग तथा स्वतन्त्र साधन नही मानते थे। एडम स्मिथ की मान्यता थी कि पूँजी का स्वामी प्रबन्धक तथा साहसी (Owner-Manager Entrepreneur) वस्तुत एक ही व्यक्ति था। स्मिथ ने साहसी को उत्पादन का स्वतन्त्र साधन नही माना। जे० बी० से प्रथम अर्थशास्त्री थे जिन्होने उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे इस विषय पर अपना विचार प्रकट किया तथा यह कहा कि 'साहसी' उत्पादन का स्वतन्त्र साधन है। 'से' ने कहा कि साहसी की सेवाओ द्वारा ही उत्पादन तथा वितरण सम्भव होते हैं। भूमि, श्रम, पूँजी तथा वस्तु की माग होते हुए भी, यदि कोई साहसी उद्योग प्रारम्भ नही करता है, तो न तो उत्पादन साधनो की माग होगी और न उपभोक्ताओ की माग की पूर्ति ही की जा सकेगी। इस प्रकार 'साहसी' वह मध्यस्थ है जो आय का सृजन तथा वितरण दोनो ही कार्य करता है। 'से' के इन विचारो को समुचित मान्यता मिली। उन्नीसवी शताब्दी के अन्त मे तथा बीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे औद्योगिक एव वाणिज्यिक विकास बडी तेजी से हुआ। बडे पैमाने के उत्पादन तथा जटिल श्रम-विभाजन के कारण प्रबन्ध-सम्बन्धी कार्य; स्वामित्व एव उपक्रम सम्बन्धी-कार्यों से अलग होता गया। अत. अब 'साहस को उत्पादन का एक स्वतन्त्र तथा अत्यन्त ही महत्वपूर्ण साधन माना जाने लगा है। भूमि का लगान, श्रम की मजदूरी, पूँजी पर ब्याज तथा प्रबन्ध के लिए वेतन देकर, मूल्य ह्रास आदि की व्यवस्था करने के पश्चात् उत्पादन से प्राप्त जो भी आय बचती है, वह (लाभ) साहसी को प्राप्त होती है। इस प्रकार लाभ वह आय है जो साहसी को प्राप्त होती है।

शूम्पीटर ने 'साहस' को उत्पादन का अत्यन्त ही प्रमुख साधन माना है। उनके अनुसार किसी भी अर्थ-व्यवस्था के विकास के लिए 'साहस' का होना आवश्यक

है। साहसी वह व्यक्ति है जो सदा नवीनतम वैज्ञानिक एवं प्राविधिक विधियों का प्रयोग समाज के लिए करता है तथा व्यावसायिक प्रशासन एवं प्रबन्धन से सम्बन्धित वैज्ञानिक विधियों का उपयोग करता है। इस प्रकार साहसी, आर्थिक विकास का जनक है। शुम्पीटर के विचारों से अब सभी अर्थशास्त्री सहमत हैं। इस प्रकार 'साहस' को अब उत्पादन के स्वतन्त्र साधन के रूप में मान्यता प्राप्त है।

3. साहसी तथा संगठनकर्त्ता में अन्तर (Entrepreneur and Organiser) :

'साहसी' तथा 'संगठन' का कार्य एक ही व्यक्ति कर सकता है इसीलिए प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने इनमें भेद नहीं किया था; परन्तु आधुनिक विचारधारा के अनुसार 'साहस' तथा 'संगठन' उत्पादन के दो स्वतन्त्र साधन माने जाते हैं। इन दोनों में निम्नलिखित अन्तर स्मरणीय हैं

(1) जोखिम तथा अनिश्चितता का भार उठाना : साहसी का कार्य जोखिम तथा उत्पादन सम्बन्धी अनिश्चितता वहन करना है, जबकि संगठनकर्त्ता का कार्य विभिन्न उत्पादन-साधनों में उचित समन्वय स्थापित करना तथा आदर्श अनुपात में उनका प्रयोग करना है। उसका सम्बन्ध जोखिम तथा व्यावसायिक अनिश्चितताओं से नहीं है।

(2) पारिश्रमिक या पुरस्कार दोनों के पारिश्रमिक या पुरस्कार में भी अन्तर है। संगठनकर्त्ता 'वेतन' और साहसी 'लाभ' का अधिकारी है। संगठनकर्त्ता को वेतन मिलना अनिवार्य है जब कि साहसी का 'लाभ' अनिश्चित है। हानि होने की अवस्था में लाभ का प्रश्न ही नहीं उठता।

(3) साहसी तथा संगठनकर्त्ता का दायित्व : 'साहसी' तथा 'संगठनकर्त्ता' छोटे व्यवसाय में एक ही व्यक्ति हो सकता है, परन्तु उसे एक ही समय दो प्रकार की विशिष्ट सेवाएं — 'जोखिम' तथा 'प्रबन्ध-सम्बन्धी'—प्रदान करनी पड़ेंगी। 'एकाकी उत्पादक' वस्तुतः 'साहसी' तथा प्रबन्धक' दोनों होता है (सामान्यतः)। साझेदारी फर्म में भी ये दोनों कार्य उचित विभाजन द्वारा किए जा सकते हैं। परन्तु 'संयुक्त पूँजी कम्पनी' में साहसी तथा संगठनकर्त्ता अलग अलग होते हैं। यहां अंशधारी, कम्पनी के वास्तविक स्वामी होते हैं तथा जोखिम का दायित्व उन्हीं का होता है, परन्तु प्रबन्धक का कार्य नियुक्त कर्मचारी करते हैं। कम्पनी का स्वामित्व प्रबन्ध से अलग होता है।

4. साहसी तथा पूँजीपति में अन्तर (Entrepreneur and Capitalist) :

यह आवश्यक नहीं कि साहसी व्यवसाय को चलाने के लिए पूँजी भी दे। ऐसी स्थिति में साहसी और पूँजीपति दो अलग-अलग व्यक्ति होते हैं। साहसी पूँजी-

पति से पूँजी लेता है तथा उसको पूँजी पर ब्याज देता है। पूँजीपति का जोखिम से कोई मतलब नहीं है, अतः ब्याज के रूप में उसकी आय निश्चित होती है, जबकि साहसी की आय अनिश्चित है। एक छोटे व्यवसाय में साहसी ही पूँजीपति और पूँजीपति ही साहसी होता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि सभी साहसी पूँजीपति हो, या सभी पूँजीपति साहसी भी हो। एक बड़े व्यवसाय में, विशेषकर एक कम्पनी में, पूँजीपति साहसी से सर्वथा भिन्न होते हैं।

5 साहसी या उद्यमी के कार्य (Functions of Entrepreneur)

साहसी उद्योग का आधार-स्तम्भ है। उत्पादक इकाई की सफलता प्रमुखतः साहसी की दूरदर्शिता, निर्णय लेने की योग्यता तथा क्षमता और उसके सामान्य बौद्धिक स्तर पर निर्भर है। वह उद्योग के प्रमुख निर्णायक, उत्पादन-साधनों के समन्वयकर्ता तथा जोखिम वाहक के रूप में कार्य करता है। उसके कार्यों का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है

(i) जोखिम सम्बन्धी कार्य (Risk taking Functions) : जोखिम वहन करना साहसी का सबसे प्रमुख कार्य है। उद्योग की सफलता या असफलता का अन्तिम दायित्व साहसी पर ही पड़ता है। यह कार्य अत्यन्त ही कठिन है तथा इसका भार उठाने के कारण ही उसे पुरस्कार के रूप में लाभ प्राप्त होता है।

(ii) निर्णय तथा समन्वय सम्बन्धी कार्य (Decision making and Co ordination) . निर्णय तथा समन्वय सम्बन्धी कार्य, उद्योग की स्थापना के पूर्व तथा जब उद्योग स्थापित हो रहा हो, उस समय करने पड़ते हैं। ये कार्य निम्न-लिखित हैं

(क) उद्योग का चुनाव उद्यमी को इस बात का निर्णय लेना पड़ता है कि वह किस प्रकार के उद्योग का स्थापना करे ? इस सम्बन्ध में निर्णय लेते समय उद्यमी उपभोक्ताओं की भावी माग, आवश्यक पूँजी, उत्पादन साधनों का उपलब्धि तथा भावी लाभ की सम्भावनाओं से प्रभावित होता है।

(ख) वस्तु का चुनाव : उद्योग का चुनाव करने के पश्चात् उद्यमी को इस सम्बन्ध में निर्णय लेना पड़ता है कि वह चुने हुए उद्योग से सम्बन्धित किसी वस्तु का कितनी मात्रा में उत्पादन करे अथवा उद्योग से सम्बन्धित किस उत्पादन-क्रिया को अपनाए ? जैसे यदि वह लोहा उद्योग में प्रवेश करना चाहता है तो उसे यह निर्णय लेना पड़ेगा कि वह खान से लौह पदार्थ (Iron ore) निकालने का काम करेगा या केवल लोहा-निर्माण कार्य करेगा या इस्पात बनाएगा या ये सभी कार्य करेगा ?

(ग) उत्पादन केन्द्र का चुनाव : उद्योग की स्थापना किस स्थान पर की जाए ? यह भी निर्णय साहसी को लेना पड़ता है। सामान्यतः कच्चे माल की निकटता, बाजार की उपलब्धि, परिवहन एवं अन्य सेवाएं तथा सुविधाएं, शक्ति के साधन और कुशल श्रम की प्राप्ति आदि बातों को ध्यान में रखकर उत्पादन-स्थान के सम्बन्ध में साहसी निर्णय लेता है।

(घ) उत्पादन इकाई का आकार तथा उत्पादन पैमाना : साहसी बड़े औद्योगिक संस्था की स्थापना करेगा या छोटे ? उत्पादन बड़े पैमाने पर किया जाएगा या छोटे पैमाने पर ? इस सम्बन्ध में भी पूर्व निर्णय की आवश्यकता पड़ती है। इस विषय में निर्णय लेते समय सम्भावित माग, उपलब्ध पूंजी, लाभ तथा संस्थान के अनुकूलतम आकार आदि को ध्यान में रखना पड़ता है।

(च) उत्पादन साधनों का संग्रह तथा समन्वय : साहसी उत्पादन के आवश्यक साधनों को आवश्यक मात्रा में एकत्रित करता है तथा उनका प्रयोग ऐसे अनुपात में करता है जिससे उत्पादन साधनों की क्षमता का अनुकूलतम उपयोग हो सके तथा उत्पादन-व्यय न्यूनतम हो सके।

(iii) प्रबन्ध-कार्य (Managerial Functions) : साहसी उद्योग की आधारशिला एवं प्राण स्रोत है। वह प्रबन्ध व्यवस्था के सम्बन्ध में भी निर्णय लेता है तथा महत्वपूर्ण कर्मचारियों की नियुक्ति करता है। वह स्वयं भी एक प्रबन्धक के रूप में कार्य कर सकता है। एकाकी स्वामित्व होने पर सामान्यतः प्रबन्ध व्यवस्था साहसी ही करता है। संयुक्त पूंजी कम्पनी में स्वामित्व एवं प्रबन्ध एक दूसरे से अलग होते हैं। स्वामित्व अंशधारियों का होता है तथा प्रबन्ध एवं नीति सम्बन्धी निर्णय तथा उनका कार्यान्वयन संचालक-मण्डल करता है।

(iv) वितरण कार्य (Distributive Functions) : उत्पादन साधनों के सहयोग से उत्पादन किया जाता है। अतः उत्पादित वस्तु उत्पादन साधनों के संयुक्त प्रयास का परिणाम है। इस संयुक्त-उत्पादक (Product) का विभिन्न-साधनों में किस अनुपात में वितरण किया जाय ? यह कार्य भी साहसी को ही करना पड़ता है। सामान्यतः उत्पादन-साधकों को दिया जाने वाला पुरस्कार या पारिश्रमिक उनकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर होता है।

5. साहसी के गुण (Qualities) .

साहसी के उपर्युक्त कार्यों से स्पष्ट है कि उत्पादन में उसका सबसे ऊंचा स्थान है। वह केवल जोखिम तथा अनिश्चितता का उठाने वाला ही नहीं है, बल्कि एक प्रबन्धक, दूरदर्शी, आर्थिक-निर्माता तथा नई उत्पादन-विधियों का प्रयोग करने वाला (Innovator) भी है। साहसी का कार्य अत्यन्त ही महत्वपूर्ण एवं उत्तर-

दायित्वपूर्ण है। इन समस्त कार्यों का सफलतापूर्वक सम्पादन वही साहसी कर सकता है, जिसमे निम्नलिखित आवश्यक गुण हो :

(i) उच्च बौद्धिक स्तर : साहसी का बौद्धिक स्तर ऊंचा होना चाहिए जिससे वह व्यवसाय-सम्बन्धी सभी बातो को अच्छी तरह समझ सके।

(ii) सामान्य योग्यता : साहसी को शिक्षित होना चाहिए जिससे उसे व्यवसाय सम्बन्धी साधारण जानकारी के लिए भी किसी दूसरे व्यक्ति का सहारा न लेना पड़े।

(iii) उद्योग एव व्यवसाय सम्बन्धी बातों का विस्तृत व गहरा ज्ञान तथा अनुभव : साहसी को व्यवसाय का चुनाव करने के बाद से उसको स्थापित करने के समय तक तथा उसके बाद भी जोखिम तथा अनिश्चितताओ का सामना करना पड़ता है। अत. यदि उसको व्यवसाय-सम्बन्धी बातो का गहरा ज्ञान होगा, या उसने अनुभव द्वारा उन बातो का विस्तृत ज्ञान प्राप्त कर लिया है, तभी उसे सफलता मिलेगी।

(iv) दूरदर्शिता साहसी का दूरदर्शी होना बहुत जरूरी है। दूरदर्शी होने पर वह ही व्यवसाय के भविष्य के बारे मे पहले से ही आवश्यक अनुमान लगा सकता है।

(v) नेतृत्व की क्षमता साहसी ही व्यवसाय का सर्वोच्च निर्णायक तथा मार्ग दर्शक है। यदि उसमे नेतृत्व करने के गुण है, तो वह सम्पूर्ण सगठन को उत्पादन-कार्य के उद्देश्य को पूरा करने के लिए उचित मार्ग पर लगाने मे सफल होगा।

(vi) शीघ्र एवं उचित निर्णय लेने की क्षमता . अन्तिम निर्णायक के रूप मे साहसी मे शीघ्र एव उचित निर्णय लेने का गुण होना चाहिए। यदि वह निर्णय लेने मे देरी करता हैं, तो सम्पूर्ण हानि उसे ही उठानी पड़ेगी।

(vii) प्रभावशाली व्यक्तित्व . साहसी का व्यक्तित्व प्रभावशाली होना चाहिए। उसमे, ईमानदारी, गम्भीरता, आत्मविश्वास तथा धैर्य आदि गुणो का होना आवश्यक है। इन गुणो से वह अपने कर्मचारियो मे विश्वास उत्पन्न कर सकता है और बाहरी व्यक्तियो को प्रभावित कर सकता है।

(viii) आधुनिकतम परिवर्तनो का ज्ञान : उसे व्यवसाय तथा उद्योग सम्बन्धी आधुनिकतम परिवर्तनो की जानकारी होनी चाहिए जिससे वह उन्हे सबसे पहले अपने व्यवसाय तथा उद्योग मे प्रयोग करके लाभ कमा सके।

प्रश्न व संकेत

1. साहसी के कार्य बताइए। एक कुशल साहसी में कौन कौन से आवश्यक कुशल गुण होने चाहिए ?

[संकेत : प्रश्न में सर्वप्रथम साहसी के प्रमुख कार्य बताइए और इसके बाद एक साहसी के प्रमुख गुणों का उल्लेख कीजिए।]

2. संगठन की परिभाषा दीजिए और एक कुशल संगठन के प्रमुख तत्वों का उल्लेख कीजिए।

[संकेत : प्रश्न में सर्व प्रथम संगठन का आशय स्पष्ट कीजिए और द्वितीय भाग में कुशल संगठन के प्रमुख तत्वों का उल्लेख कीजिए।]

3. 'यह साहसी ही है जो उद्योग की अधिकांश जोखिम उठाता है।' इस कथन को स्पष्ट कीजिए तथा उद्योग के संगठन में साहसी के प्रमुख कार्य बताइए।

[संकेत प्रथम भाग में यह स्पष्ट कीजिए कि साहसी ही उद्योग की अधिकांश जोखिम उठाता है इसके पश्चात् संगठन में इसके प्रमुख कार्यों का उल्लेख कीजिए।]

20

व्यापारिक संगठन के स्वरूप

(Types of Business Organisation)

'Organisation is a harmonious adjustment of specialised parts for the accomplishment of some common purpose or purposes'

—Haney

अ सगठन तथा सगठनकर्त्ता
(Organisation and Organiser)

1 अर्थ तथा महत्व (Meaning and Importance)

(1) अर्थ उत्पादन कार्य केवल उत्पादन के तीन प्रमुख साधनो—भूमि श्रम तथा पूँजी से अपने आप पूरा नही हो जाता। इन साधनो को एकत्र करके उनका सर्वोत्तम एव अनुकूलतम अनुपात (optimum proportion) में समायोजन (adjustment) या सयुक्त (combine) करना आवश्यक होता है। इसी कार्य को सगठन अथवा व्यवस्था (Organisation) कहा जाता है। हैने (Haney) के अनुसार, 'किसी निश्चित उद्देश्य अथवा उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए उत्पादन के प्राप्त साधनो को सर्वोत्तम विधि से सयोजित करने के कार्य को सगठन कहते हैं।" इससे यह स्पष्ट है कि उत्पादन के काम का एक निश्चित उद्देश्य होता है। यह उद्देश्य है—न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन (maximum production at minimum cost)। यह उद्देश्य विभिन्न साधनों मे सर्वोत्तम सयोग तथा सहयोग स्थापित करने पर ही पूरा किया जा सकता है।

अत· यह कहा जाता है कि उत्पादन-कार्य मे सगठन का विशेष महत्व है। सगठन एव व्यवस्था भी उत्पादन का एक प्रमुख साधन है। वास्तव मे यह सम्पूर्ण उत्पादन कार्य की सचालन शक्ति है, क्योकि यह मनुष्य की वह कुशल मानसिक तथा शारीरिक श्रम शक्ति है जो उत्पादन की समस्त प्रक्रियाओ का सचालन तथा निर्देशन करती है। Bye के अनुसार, "एक व्यापारिक सस्था (उपक्रम) का यह

सारा कार्य वास्तव में श्रम का ही रूप है, क्योंकि यह आय अथवा धन पाने के लिए किया गया मानसिक प्रयास है। परन्तु यह अन्य प्रकार के श्रम से भिन्न एक ऐसा श्रम है जिसके लिए विशेष गुणों तथा योग्यता की आवश्यकता पड़ती है। यही कारण है कि यह स्वयं में उत्पादन का एक साधन माना जाता है।"[1] इस प्रकार की विशेष योग्यता रखने वाला व्यक्ति व्यवस्थापक, प्रबन्धक या संगठनकर्ता (Organiser) कहलाता है, क्योंकि वह उत्पादन के विभिन्न साधनों के प्रभावपूर्ण सहयोग द्वारा समस्त उत्पादन कार्य को सुव्यवस्थित ढंग से संगठित करता है।

(ii) संगठन का महत्व (Importance) : आधुनिक उत्पादन व्यवस्था श्रम विभाजन, विभागीयकरण, यन्त्रीकरण तथा विशिष्टीकरण पर आधारित है। कार्यों का अलग अलग व्यक्तियों में विभाजन होने पर उनमें प्रभावपूर्ण सामंजस्य एवं सहयोग का होना आवश्यक है। कुशल संगठन द्वारा ही विभिन्न उत्पादन प्रक्रियाओं को श्रमिकों की योग्यता अनुभव तथा कार्य-शक्ति के अनुसार संगठित करके श्रम-विभाजन तथा विशिष्टीकरण का अधिकतम लाभ उठाया जा सकता है। वस्तुतः संगठन का उद्देश्य उत्पादन कार्य तथा उत्पादन सुविधाओं को उचित रूप से संगठित करना है। हेनरीफेयोल ने इस सम्बन्ध में कहा है, "एक व्यापार को संगठित करने का अभिप्राय उसको कार्यशील बनाने के लिए उसको प्रत्येक उपयोगी साधन प्रदान करने से है . कच्चा माल, उपकरण, पूँजी, श्रम।"[2]

संगठन उत्पादन के साधनों को अधिक प्रभावकारी बनाता है न्यूनतम लागत पर अधिकतम लाभ प्राप्त करने में सहायक होता है तथा उत्पादन प्रक्रियाओं को निश्चितता तथा कार्य क्षमता प्रदान करता है। कुशल संगठन उत्पादन-संस्था की समस्याओं को सुलझा कर उसका विकास तथा विस्तार करता है। आधुनिक उत्पादन बड़े पैमाने पर होने के कारण उसकी समस्याओं तथा कठिनाइयों को दूर करने का श्रेय कुशल संगठन को ही है। संगठन प्रत्येक उत्पादन व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान रखता है, चाहे वह पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था हो अथवा समाजवादी या साम्य-

---

1 "All this work of business enterprise is really a form of labour, for it is mental effort devoted to the acquisition of wealth or income But it is a labour of a type so distinct from other kinds and calls for such unique qualities that it is usually regarded as a factor of production in itself"

—Bye

2 "To organize a business is to provide it with everything useful to its functioning, raw materials, tools, capital, personnel"

—Heneri Fayol, General and Industrial Management.

वादी । समाजवादी अर्थव्यवस्था से इसका अत्यधिक महत्व है, क्योंकि सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था नियोजित ढग से सचालित की जाती है पूंजीवादी व्यवस्था मे प्रति-स्पर्धात्मक लागत पर वडे पैमाने पर उत्पादन उमी समय लाभकारी हो सकता है, जबकि सगठनकर्त्ता उत्पादन के साधनो मे प्रभावकारी सहयोग स्थापित कर । मिश्रित अर्थव्यवस्था (Mixed Economy) मे सावजनिक तथा निजी क्षेत्रो (Public and private sectors) की उत्पादन-नीति मे समन्वय कुशल सगठनकर्त्ता ही बनाये रख सकता है । *समाजवादी तथा मिश्रित अर्थ-व्यवस्था मे राष्ट्रीय सरकार स्वय* सगठनकर्त्ता एव व्यवस्थापक का कार्य करती है । अतः आधुनिक उत्पादन-व्यवस्था मे आन्तरिक तथा वाह्य मितव्ययिताओ (Internal and External Economies) का लाभ उठाने के लिए सगठन तथा कुशल व्यवस्था का होना बहुत आवश्यक है ।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के सगठन के महत्व को स्वीकार किया था परन्तु वे इसको श्रम का ही एक अग मानते थे । उनके अनुसार उत्पादन-कार्य को सचालित करने के लिए किया जाने वाला कुशल मानसिक श्रम उत्पादक श्रम था । उन्होंने इसको उत्पादन का एक अलग साधन नही माना था । इसका कारण यह था कि प्राचीन उत्पादन-व्यवस्था का केन्द्र-बिन्दु एक ही व्यक्ति होता था । चूकि उसे भी अपने *उत्पादन-कार्य को सगठित करने के लिए एक योजना क अनुसार कार्य* करना पडता था, अत उसकी सचालन शक्ति को उसके अन्य कार्यो का ही एक पहलू माना जाता था । परन्तु औद्योगिक क्रांति के पश्चात् *उत्पादन-व्यवस्था मे क्रांतिकारी* परिवर्तन हुए । फलस्वरूप उत्तम उत्पादन व्यवस्था के लिए विभिन्न साधनो के प्रभावकारी सहयोग एव समन्वय की आवश्यकता पडी । उद्यमी या साहसी को भूमि के लिए भूमिपति पर, श्रम के लिए श्रमिको पर तथा पूजी के लिए पूजीपति पर आश्रित होना पडा । एक निश्चित उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए इन साधनो को एकत्र करने तथा उनमे प्रभावकारी सहयोग स्थापित करने के लिए उचित व्यवस्था, सगठन तथा प्रबन्ध की आवश्यकता महसूस हुयी । साहसी केवल उत्पादन का उद्देश्य ही निर्धारित करता था परन्तु उस उद्देश्य को पूरा करने के लिए कुशल सगठन एव व्यवस्था का जन्म हुआ । इसके पहले एक ही व्यक्ति सगठन-सम्बन्धी कार्य करता था तथा जोखिम भी उठाता था । परन्तु धीरे धीरे उद्यमी (entrepreneurs) ने यह महसूस किया कि उत्पादन-साधनो म मैत्रीपूर्ण सहयोग एव समायोजन स्थापित करने का कार्य वे नही कर सकते । *अतः व्यवसाय सगठन का कार्य सगठनकर्त्ता* को सौंप दिया गया । इस प्रकार सगठन एक महत्वपूर्ण साधन वन गया ।

2. सगठनकर्त्ता का कार्य (Functions of an Organiser) :

सगठनकर्त्ता एक व्यवस्थापक तथा प्रबन्धक होता है । व्यापारिक अथवा उत्पादन इकाई का स्वामी, साहसी और सचालक दोनो ही हो सकता है या वह एक

कुशल वेतन-भोगी (Salaried) व्यक्ति को सगठनकर्त्ता या प्रबन्धक के रूप मे नियुक्त कर सकता है। दोनों ही स्थितियो में उत्पादन-व्यवस्था के सगठन के लिए सगठन को निम्नलिखित कार्य करने पड़ते हैं :

(i) **निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए योजना बनाना :** सगठनकर्त्ता सबसे पहले साहसी द्वारा निश्चित किये गये उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उत्पादन व्यवस्था की भावी रूपरेखा तैयार करता है। इसके अन्तर्गत वह वस्तु की सम्भावित माग के अध्ययन के आधार पर वस्तु की किस्म तथा मात्रा निर्धारित करता है तथा उत्पादन सम्बन्धी कार्यों मे योजना बनाता है।

(ii) **उत्पादन के साधनो को एकत्र करना** वस्तु की किस्म तथा उत्पादन-मात्रा निश्चित कर लेने के बाद वह भूमि, श्रम तथा पूँजी की मात्राएं आवश्यकतानुसार कम से कम लागत पर खरीदने के लिए आवश्यक प्रबन्ध करता है। ये साधन जिन व्यक्तियो तथा सस्थाओ से खरीदे जा सकते हैं, उनसे वह सौदा करता है। इसके बाद सौदे के अनुसार निश्चित किये गये मूल्य का भुगतान करने के लिए आवश्यक प्रबन्ध वही करता है।

(iii) **विभिन्न साधनों मे प्रभावकारी सहयोग स्थापित करना** उत्पादन के आवश्यक साधनो की व्यवस्था कर लेने के बाद सगठनकर्त्ता उनमे अनुकूलतम सहयोग स्थापित करने की नीति निर्धारित करता है। प्रतिस्थापन के नियम (Law of substitution) के आधार पर विभिन्न साधनो के समन्वय का सर्वोत्तम अनुपात निर्धारित करता है इसके लिए वह बाजार म वस्तु की माग तथा तुलनात्मक मूल्य का अध्ययन करता है। इसके बाद वह अपनी उत्पादन-लागत ज्ञात करके अनुपातो मे हेरफर करता है तथा कम से कम लागत पर वस्तु के उत्पादन की व्यवस्था करता है।

(iv) **आवश्यक यन्त्र, उपकरण तथा कच्चे माल को क्रय करना** वह उत्पादन कार्य को चलाने के लिए आवश्यक सामग्रियो, यन्त्र-कल तथा उपकरणों को खरीदने का प्रबन्ध करता है। इस सम्बन्ध मे वह इस बात पर विशेष ध्यान देता है कि खरीदी जाने वाली सामग्रिया अच्छी हों तथा यन्त्र एव कल उत्पादन-काय के लिये उपयोगी हो और उनकी कार्य क्षमता अधिकतम हो।

(v) **श्रम सगठन :** सगठनकर्त्ता का एक महत्वपूर्ण कार्य श्रम को सगठित करना भी है। उसे श्रमिको की रुचि, योग्यता तथा कार्यक्षमता के अनुसार कार्य विभाजन करना पड़ता है। उसे यह भी देखना पड़ता है कि 'श्रम-पडत उत्पाद-अनुपात, (Labour input-output-ratio) तथा 'पूँजी पडत-उत्पाद-अनुपात'

(Capital input-output-ratio) में क्या अन्तर है ? दोनों अनुपातों में जिस अनुपात से उसे लाभ होता है, उसी के अनुसार वह अपनी उत्पादन व्यवस्था को संगठित करता है। श्रमिक वर्ग को संगठित करना तथा उनकी उत्पादकता को बढ़ाने के लिए वह प्रेरणादायक योजना की रूपरेखा भी तैयार करता है।

(6) **उत्पादन व्यवस्था का प्रशासन :** उत्पादन-व्यवस्था को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए वैज्ञानिक प्रबन्ध (*scientific management*) के सिद्धान्तों के आधार पर वह विभागीयकरण (Departmentalisation) पारस्परिक सम्पर्क (communication) तथा अधिकारियों की सुपुर्दगी (delegation of authority) के नियमों को कार्यान्वित करने की योजना बनाता है। इन नियमों को कार्य रूप में लागू करके वह सभी कर्मचारियों में संस्था के प्रति रुचि एवं उत्साह को जन्म देकर निश्चित उद्देश्यों को प्राप्त करने में सफल होता है। विभिन्न संस्थाओं—बैंक बीमा कम्पनियों राज्य तथा स्थानीय सरकारों आदि—से सम्पर्क बनाये रखना भी संगठन-कर्ता का उत्तरदायित्व है।

(7) **वितरण व्यवस्था :** उत्पादन के पश्चात् संगठनकर्त्ता का कार्य उत्पादित वस्तु की बिक्री की व्यवस्था करना भी है। बाजार तथा लागत के आधार पर वह अपनी संस्था के माल का मूल्य निर्धारित करता है इसकी विभिन्न क्षेत्रों में भेजने की व्यवस्था करता है। उनकी पैकिंग, माल भेजने की विधि, मूल्य भुगतान आदि के सम्बन्ध में आवश्यक नीति निर्धारित करता है। बिक्री से सम्बन्धित सभी समस्याओं जैसे विज्ञापन, वितरण-नीति, प्रतिस्पर्धात्मक मूल्य निर्धारण, रुचि, फैशन आदि के परिवर्तनों से माग में परिवर्तन आदि का अध्ययन करना तथा अवसर से लाभ उठाने वाली नीति निर्धारित करना भी संगठनकर्त्ता का ही कार्य है।

(8) **अन्य कार्य :** संगठनकर्त्ता को उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त उत्पादन सम्बन्धी नई नई विधियों, नवीनतम यन्त्रों, नये बाजार क्षेत्रों, औद्योगिक उत्पादन तथा बिक्री नीतियों का भी ज्ञान रखना पड़ता है जिससे वह अपनी संस्था के विकास तथा लाभ की वृद्धि करने में सफल हो सके।

संगठन के स्वरूप (Forms of Organisation) : व्यावसायिक संगठन के स्वरूपों के वर्गीकरण के दो आधार हैं—(1) उनका आकार तथा (2) उनका स्वामित्व। आकार के आधार पर वे बड़े पैमाने के, छोटे पैमाने के अथवा माध्यम पैमाने के हो सकते हैं। परन्तु इस प्रकार के वर्गीकरण का कोई सामान्य पैमाना या माप न होने से यह कहना कठिन है कि किसी संस्था को किस वर्ग में रखा जाय। अतः विभिन्न व्यावसायिक संस्थाओं में उनके स्वामित्व के आधार पर

भेद करना सरल है। यहा पर उत्पादन-कार्य मे सलग्न विभिन्न सगठित सस्थाओं का वर्गीकरण इसी आधार पर किया गया है।

प्राचीन काल मे प्रायः उत्पादन के समस्त साधनो की व्यवस्था करने वाला एक ही व्यक्ति होता था जिसे हम साहसी या उद्यमी कहते हैं। परन्तु वर्तमान युग मे उत्पादन करने वाली इकाई का सगठन तथा सचालन एक व्यक्ति के अतिरिक्त व्यक्ति समूहो द्वारा सम्मिलित रूप से भी किया जाता है। इन व्यावसायिक सगठनो को निजी व्यवसाय (private enterprise) के वर्ग मे रखा जाता है : ये व्यावसायिक सगठन निजी लाभ के उद्देश्यो से सगठित तथा सचालित किये जाते हैं। इन व्यावसायिक सगठनो के अतिरिक्त आजकल सरकार द्वारा भी सार्वजनिक हित के लिए सार्वजनिक उपक्रम तथा सस्थाए स्थापित की जाती हैं। इस प्रकार के सगठन के तरीको और उद्देश्यो मे भी विभिन्नता होती है। कुछ सस्थाओ का उद्देश्य केवल लाभ प्राप्त करना होता है और कुछ का पारस्परिक लाभ या सार्वजनिक सेवा। उद्देश्यो और लाभो मे विभिन्नता होने के कारण स्वामित्व के आधार पर सगठन के कई स्वरूप होते है, जैसे (1) एकाकी उत्पादन व्यवस्था, (2) साझेदारी, (3) कम्पनी, (4) सहकारिता, तथा (5) सार्वजनिक सस्थान।

1. एकाकी उत्पादन-व्यवस्था
(The Single Entrepreneur System)

एकाकी उत्पादन व्यवस्था का अभिप्राय व्यक्तिगत स्वामित्व के सस्थान से है। इस सस्था का स्वामी एक ही व्यक्ति होता है जो उत्पादन के समस्त साधनो की व्यवस्था करता है, उत्पादन-कार्य को सगठित तथा सचालित करता है। परन्तु यह आवश्यक नही है कि सस्था का स्वामी एक ही व्यक्ति हो। एक ऐसी पारिवारिक सस्था भी जिसका सचालन, सगठन तथा प्रबन्ध सयुक्त रूप से किया जाता है तथा सस्था के लाभ व हानि का विभाजन नही होता, व्यक्तिगत या एकल स्वामित्व की सस्था कहलाती है।

एकाकी साहसी अपनी सस्था की समस्त व्यावसायिक क्रियाओं की धुरी होता है। वह उत्पादन कार्य के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए योजनाबद्ध कार्य-क्रम बनाता है, उसके अनुसार श्रम, भूमि तथा पूँजी की व्यवस्था करता है, उत्पादन-सम्बन्धी निर्णय लेता है तथा उत्पादित वस्तुओ की बिक्री की व्यवस्था करता है। इस प्रकार उत्पादन कार्य प्रारम्भ करने के विचार करने के समय से लेकर जब तक कि माल का उत्पादन नही हो जाता तथा माल की बिक्री नही हो जाती तब तक सम्पूर्ण कार्य सचालन का भार एकाकी व्यवसायी या उत्पादक पर ही रहता है। अतः इस एक व्यक्ति मे ही साहसी, निर्देशक, सगठनकर्ता तथा प्रबन्धक के उत्तरदायित्वो का सम्बन्ध होता है।

लाभ एकाकी व्यावसायिक संगठन के प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं :

(1) मितव्ययिता (Economy) : उत्पादनकारी संस्था का स्वामी स्वयं समस्त उत्पादन कार्यों का निर्देशक, संचालक एवं संगठक होता है अतः समस्त कार्य-व्यवस्था समुचित रूप से चलती है। अपव्यय और क्षति होने की सम्भावनाएं न्यूनतम हो जाती हैं।

(2) शीघ्र निर्णय (Quick Decision) : एक व्यक्ति स्वयं अपनी संस्था की कार्य-क्षमता तथा कुशलता अथवा संचालन के सम्बन्ध में शीघ्र निर्णय ले सकता है। उसको किसी अन्य व्यक्ति की सहमति प्राप्त करने के लिए प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती।

(3) अच्छी वस्तुओं का उत्पादन (Quality Production) : एकल उत्पादक प्रत्येक वस्तु का उत्पादन अपनी देखरेख में करवाता है, जिसमें उत्पादित वस्तु की किस्म अच्छी बनी रहती है। वह उपभोक्ताओं की रुचि के अनुसार वस्तुओं की किस्मों में शीघ्र परिवर्तन करने में समर्थ होता है तथा कलात्मक वस्तुओं का उत्पादन भी कर सकता है।

(4) श्रमिकों के साथ अच्छा सम्बन्ध (Good Labour Relations) : एकल उत्पादक का अपने श्रमिकों के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। अतः वह उनके साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रख सकता है।

दोष : इस प्रकार की उत्पादन-व्यवस्था के निम्नलिखित प्रमुख दोष हैं :

(1) अपर्याप्त पूंजी (Inadequate Capital) : वर्तमान उत्पादन अथवा व्यावसायिक व्यवस्था के लिए अधिक मात्रा में पूंजी आवश्यक है। एकल उत्पादक न तो स्वयं अधिक पूंजी लगा सकता है और न ही वह अकेले अपनी व्यक्तिगत जमानत पर अधिक पूंजी प्राप्त कर सकता है।

(2) अधिक जोखिम (Great Risk) : एकल व्यावसायिक संगठन का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसके स्वामी का उत्तरदायित्व असीमित होता है। व्यापार में हानि होने पर न केवल व्यावसायिक पूंजी ही डूबती है, बल्कि उसकी व्यक्तिगत सम्पत्तियां भी हानि को पूरा करने में समाप्त हो जाती हैं। इस प्रकार की जोखिम होने के कारण ही उद्यमी कभी-कभी पूर्णतया दिवालिया हो जाता है।

उपर्युक्त दोषों के कारण ही बड़े पैमाने के औद्योगिक तथा वाणिज्यिक कार्यों का संगठन एकाकी साहसी नहीं कर पाता है। परन्तु इन दोषों के होते हुए भी इस प्रकार का व्यावसायिक संगठन कृषि-उत्पादन, घरेलू उद्योगों, तथा कम लागत वाले उत्पादनकारी एवं व्यावसायिक क्षेत्रों में अब भी जीवित है। कृषि, फुटकर व्यापार, होजरी तथा चावल-दाल की मिलें, जिनमें कम पूंजी की आवश्यकता पड़ती है, एकाकी व्यवसाय के उदाहरण हैं।

2. साझेदारी
(The Partnership)

"The partnership of fellow travellers is an example of the difficulty in men living together and having things in common for they generally fall out by the way and quarrel about any trifle which turns up
—Haney

साझेदारी संगठन का जन्म वास्तव में पूँजी, कुशल-निरीक्षण एवं नियन्त्रण तथा अधिक विशिष्टीकरण और श्रम विभाजन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ। इस प्रकार के संगठन का आविर्भाव रोम में *Societas* नामक व्यक्तियों के संघ के रूप में हुआ था। कालान्तर में पारिवारिक सम्बन्ध के आधार पर भी साझेदारी संगठन स्थापित किए गए। साझेदारी संगठन का वह रूप है जो पारस्परिक समझौते के आधार पर कुछ व्यक्तियों द्वारा लाभ के उद्देश्य से संगठित किया जाता है। इस संगठन का स्वामित्व व्यक्तियों के एक छोटे समूह के हाथों में रहता है। भारतवर्ष में एक व्यावसायिक अथवा औद्योगिक संस्थान में अधिक से अधिक बीस साझीदार हो सकते हैं। 20 से अधिक व्यक्तियों का संगठन होने पर उसका पंजीयन कम्पनी के रूप में किया जाता है।

व्यवस्था : साझेदारी के अन्तर्गत उत्पादन-व्यवस्था संयुक्त रूप से संचालित एवं संगठित की जाती है। प्रत्येक साझीदार को प्रबन्ध एवं संचालन में भाग लेने का अधिकार होता है। वे पारस्परिक समझौते के अनुसार साधनों की पूर्ति करते हैं।

दायित्व : साझेदारी संगठन के स्वामियों का दायित्व (हानि तथा ऋण को पूरा करने का दायित्व) असीमित होता है। प्रत्येक साझीदार का अधिकार समान होने के कारण, कोई भी साझीदार संगठन के हितों को नुकसान नहीं पहुँचा सकता।

लाभ : साझेदारी संगठन के अन्तर्गत उत्पादन व्यवस्था को कई लाभ प्राप्त होते हैं। साझेदारी फर्म एकाकी उत्पादक की अपेक्षा अधिक मात्रा में वित्तीय साधन (Financial Resources) प्राप्त कर सकती है। कई साझेदारों के रहने पर साझेदारी फर्म का संचालन एवं प्रबन्ध अधिक कुशल होता है। साझीदार विशिष्टीकरण के आधार पर कार्य विभाजन करके फर्म की कार्य व्यवस्था को अधिक कुशलतापूर्वक संचालित करने में सफल होते हैं। आवश्यकता पड़ने पर संस्था के आकार तथा कार्य कौशल में वृद्धि करने के लिए नया साझीदार भी लिया जा सकता है। इन साझेदारों का दायित्व असीमित होने के कारण साझेदारी फर्म की साख अधिक होती है जिसके कारण व्यवसाय तथा उत्पादन के विस्तार के लिए सरलतापूर्वक आवश्यक साधनों की पूर्ति सम्भव हो जाती है।

दोष : परन्तु साझेदारी संगठन में भी कई दोष हैं। 'बहुमत जोगी मठ

उजाड़' (Too many cooks spoil the broth) की कहावत इस प्रकार की उत्पादन संस्था पर पूर्ण रूप से लागू होती है। साझेदारों में पारस्परिक मतभेद होने पर उत्पादन व्यवस्था का कुशल संचालन असम्भव हो जाता है। इसके अतिरिक्त इसका जीवन काल अनिश्चित तथा अल्पकालीन होता है। किसी भी साझेदार की मृत्यु होने पर या उसके अवकाश ग्रहण कर लेने पर अथवा उसके दिवालिया हो जाने पर साझेदारी का वैधानिक जीवन समाप्त हो जाता है। इसका सबसे प्रमुख दोष साझेदारों का असीमित दायित्व है। चूँकि फर्म प्रत्येक साझेदार के फर्म-सम्बन्धी कार्यों के लिए उत्तरदायी मानी जाती है, अतः एक अकुशल साझेदार अन्य सभी साझेदारों को बर्बाद कर देता है। अन्त में, प्राय साझेदारी संगठन भी उत्पादन-मान को बढ़ाने में अपने को असमर्थ पाता है। पूँजी की अपर्याप्तता साझेदारी संस्थान का प्रमुख दोष है। साझेदार पर्याप्त पूँजी की व्यवस्था न कर सकने के कारण व्यावसायिक विकास नहीं कर पाते।

साझेदारी संगठन में उपर्युक्त दोषों के कारण ही इसका स्थान धीरे धीरे कम्पनी संगठन लेता जा रहा है।

3 कम्पनी (The Company or Corporation)

"An artificial being, invisible, intangible and existing only in the contemplation of the law. Being a mere creation of the law, it possesses only those properties which the charter of its creation confers upon it among the most-important of which are immortality and individuality."

—Chief Justice Marshall

परिभाषा सामान्यतः कम्पनी या निगम (Corporation) शब्द का प्रयोग उस संगठन के सम्बन्ध में प्रयुक्त किया जाता है जो कई व्यक्तियों द्वारा सामान्य उद्देश्य के लिए स्थापित किया गया हो। यह सामान्य उद्देश्य अधिकतम उत्पादन अथवा व्यापार द्वारा लाभ उपार्जित करना होता है। इसकी स्थापना राज्य-आज्ञा, विशेष कानून अथवा कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत की जाती है। यही कारण है कि इस प्रकार संगठित संस्था को वैधानिक रूप से निर्मित, कृत्रिम, अदृश्य तथा अमूर्त व्यक्ति कहा जाता है। Joint Stock company अथवा Corporation शब्द का प्रयोग भी कम्पनी के लिए ही किया जाता है। कम्पनी का निर्माण पूँजी को निश्चित मूल्य वाले अंशों में बाट कर तथा उनको बेच कर किया जाता है। इन अंशों को क्रय करने वाले अंशधारी (Shareholders) कम्पनी के सदस्य (Members) तथा स्वामी कहलाते हैं। कम्पनी की संगठन विधि तथा उसके सम्बन्धित पक्षों के अधिकारों तथा कर्तव्यों का नियमन कम्पनी अधिनियम द्वारा किया जाता है। वैधा-

निक दृष्टिकोण से कम्पनी, निजी (Private) अथवा सार्वजनिक (Public) हो सकती है। कम्पनी सगठन की निम्नलिखित विशेषताए है

1. कानून की दृष्टि से कम्पनी एक व्यक्ति के समान है। यह एक विधि निर्मित व्यक्ति (a legal person) है।

2. कम्पनी पर अशधारियो का स्वामित्व होता है, परन्तु वे प्रत्यक्ष रूप से कम्पनी के प्रबन्ध मे भाग नही लेते। कम्पनी का अस्तित्व अशधारियो से पृथक होता है।

3. प्राय कम्पनी का प्रबन्ध सचालको द्वारा किया जाता है। सचालक अशधारियो द्वारा मनोनीत प्रतिनिधि होते है। कभी-कभी कम्पनी का प्रबन्ध कुछ व्यक्तियो प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ (Managing Agents) को सौप दिया जाता है।

4 कम्पनी के अश कई प्रकार के होते है। भारतीय कम्पनी अधिनियम 1956 के अनुसार एक भारतीय कम्पनी साधारण (Equity) तथा पूर्वाधिकार (Preference) अशो का निगमन करती है। पूर्वाधिकार अशो के धारको को कम्पनी के लाभ मे हिस्सा (लाभाश Dividends) प्राप्त करने के लिए विशेषाधिकार प्राप्त है।

5 सीमित दायित्व वाली कम्पनी के प्रत्येक अशधारी का दायित्व उनके द्वारा खरीदे गए अशो के निर्धारित मूल्य तक ही सीमित रहता है। वह कम्पनी के ऋणो के लिए व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी नही होता।

6 कम्पनी के अशधारी अपने अशो को किसी अन्य व्यक्ति को हस्तातरित कर सकते हैं। यह सुविधा एक निजी कम्पनी के अशधारियो को प्राप्त नहीं है। इस प्रकार सार्वजनिक कम्पनी पर स्वामित्व बदलते हुए व्यक्ति समूहों का रहता है। परन्तु इससे कम्पनी के व्यक्तिगत अस्तित्व पर कोई प्रभाव नही पडता। यही कारण है कि कम्पनी को 'सतत उत्तराधिकार वाला विधि-निर्मित कृत्रिम व्यक्ति' (An artificial person created by law with a perpetual succession) कहा जाता है।

कम्पनी सगठन के लाभ साझेदारी सगठन मे असीमित जोखिम तथा अपर्याप्त पूँजी के दोषो के कारण कम्पनी-सगठन अधिक लोकप्रिय होता जा रहा है। बडे पैमाने की उत्पादन-व्यवस्था कम्पनी-सगठन के अन्तर्गत ही सम्भव हो पाती है। इसका कारण यह है कि इस प्रकार के सगठन से उत्पादको को निम्नलिखित लाभ प्राप्त होते हैं :

(1) **बडे पैमाने पर उत्पादन सम्भव होना :** सार्वजनिक कम्पनी म अशधारियो की सख्या पर कोई प्रतिबन्ध नही है। जनता मे अशो की बिक्री होने स

कम्पनी अधिक से अधिक व्यक्तियों को अपने अंश बेचकर अधिक मात्रा में पूंजी एकत्र कर लेती है। अतः एक कम्पनी के लिए बड़े पैमाने पर उत्पादन के लिए आवश्यक पूंजी की व्यवस्था करना सरल है।

(2) पूंजी तथा व्यावसायिक योग्यता का सहयोग कम्पनी का प्रबन्ध तथा स्वामित्व अलग अलग होने के कारण कुशल तथा योग्य व्यवस्थापकों द्वारा पूंजीपतियों की पूंजी का सदुपयोग, कम्पनी संगठन के अन्तर्गत ही सम्भव है। इस प्रकार की संगठन व्यवस्था ने ही व्यावसायिक योग्यता रखने वाले व्यक्तियों तथा पूंजीपतियों को एक स्थान पर एकत्रित करके 'पूंजी' तथा 'संगठन' साधनों को मिलाया है। अकुशल तथा व्यवस्था की क्षमता न रखने वाले अंशधारी भी पूंजी प्रदान करते हैं तथा पूंजीपति न होने पर भी योग्य एवं कुशल संचालक तथा प्रबन्धक व्यावसायिक योग्यता की पूर्ति करते हैं।

(3) अंशधारियों के जोखिम में कमी कम्पनी संगठन ने व्यावसायिक क्षेत्र में व्यक्तिगत जोखिम को न्यूनतम कर दिया है। एकाकी तथा साझेदारी संगठन में असीमित उत्तरदायित्व होने के कारण एकाकी उत्पादक अथवा साझेदार व्यावसायिक ऋणों तथा हानियों की पूर्ति के लिए व्यक्तिगत रूप से भी उत्तरदायी होता है। साझेदारी संस्था में प्रत्येक साझेदार अन्य साझेदारों के कार्यों के लिए उत्तरदायी समझा जाता है। कम्पनी के अंशधारी का दायित्व खरीदे गए अंशों के लिखित मूल्य तक ही सीमित रहता है और कोई भी अंशधारी किसी अन्य अंशधारी के किसी भी कार्य के लिए उत्तरदायी नहीं होता। इस प्रकार प्रत्येक अंशधारी की जोखिम की मात्रा सीमित तथा न्यूनतम होती है। यही कारण है कि विनियोजक अपनी पूंजी को कम्पनियों में विनियोजित कर पाते हैं।

(4) विभिन्न रुचि वाले विनियोजकों की बचत को एकत्र करना : कम्पनी विभिन्न प्रकार के अंशों का निर्गमन करके विभिन्न प्रवृत्ति तथा रुचि वाले विनियोजकों को अपना धन विनियोजित करने की सुविधाएं प्रदान करती है। निश्चित् आय प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति पूर्वाधिकार अंशों में अपना धन विनियोजित करने की सुविधा प्राप्त करते हैं, सट्टे की प्रवृत्ति रखने वाले विनियोजकों की रुचि के अनुकूल कम्पनी साधारण तथा अन्य प्रकार के अंशों का निर्गमन करती है। इस प्रकार कम्पनी Mr Wise, Mr. Medium तथा Mr. Speculator की रुझान के अनुसार अंशों का निर्गमन करके न केवल जनता की बचत को आकर्षित करती है, बल्कि उनके जोखिम भार को भी विकेन्द्रित कर देती है।

(5) अंशों के हस्तान्तरण की सुविधा : एक अंशधारी अपने अंशों के स्वामित्व को किसी अन्य व्यक्ति को हस्तान्तरित करके अपने विनियोजित धन को वापस प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार पूंजी गतिशील रहती है।

(6) **पूंजी का उत्पादन-कार्यों में सदुपयोग** · कम्पनी संगठन ने पूंजी को अधिक कार्यशील तथा गतिशील बनाया है। कम्पनी संगठन के विकास के साथ ही साथ, अनेक वित्तीय संस्थाओं—बैंक, बीमा–कम्पनियों, विनियोग-ट्रस्टों आदि का विकास होने से सामाजिक धन को एकत्रित करने तथा उसे अनुत्पादक क्षेत्रों से उत्पादक क्षेत्रों में विनियोजित करके देश की उत्पादन-क्षमता को बढ़ाने में सुविधा हुई है।

कम्पनी-संगठन के दोष · परन्तु कम्पनी संगठन पूर्णतया दोष मुक्त नहीं है। इसके प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं :

(1) **नियन्त्रण का केन्द्रीयकरण :** यद्यपि कम्पनी-संगठन के सम्बन्ध में यह कहा जाता है यह पूँजीपतियों का प्रजातन्त्र है, जो अपनी अतिरिक्त पूँजी अपने मनोनीत प्रतिनिधि-मण्डल को सौंप देते हैं तथा इस बात पर विशेष ध्यान रखते हैं कि उनकी पूँजी का प्रयोग किस प्रकार किया जा रहा है ?"[4] तथापि, व्यावहारिक तथ्य यह है कि कम्पनी-संगठन-व्यवस्था में लोकतन्त्र के सिद्धान्तों का पालन नहीं किया जाता। सम्पूर्ण व्यवस्था तथा प्रबन्ध संचालक-मण्डल में केन्द्रित होता है। अंशधारियों की कम्पनी में दिलचस्पी भी केवल अपने लाभांश के लिए होती है, वे कम्पनी के प्रबन्ध में रुचि नहीं लेते तथा असंगठित होने के कारण शक्तिहीन तथा प्रभावहीन होते हैं।

(2) **अधिकारों का दुरुपयोग** कुछ व्यक्तियों के हाथों में कम्पनी-संचालन तथा प्रबन्ध केन्द्रित होने से, वे अपने लाभ के लिए ही कम्पनी की नीति निर्धारित करते हैं। इस प्रकार सामान्य अंशधारियों के हितों की उपेक्षा की जाती है।

(3) **स्वामित्व तथा प्रबन्ध पृथक होने से हानि :** कम्पनी का प्रबन्ध वैतनिक कर्मचारियों द्वारा किया जाता है। उनका हित केवल वेतन तक ही सीमित होता है। वे न तो व्यावसायिक जोखिम उठाने के लिए तत्पर होते हैं और न नव प्रवर्तन (Innovations) के लिए ही तैयार होते हैं, फलस्वरूप व्यावसायिक संगठन का विकास नहीं हो पाता।

(4) **प्रबन्ध में शिथिलता** कम्पनी के अधिकारी (executives) अंशधारियों के लाभ की अपेक्षा अपने लाभ में अधिक रुचि रखते हैं। इन दोनों हितों में सामंजस्य होना कठिन है। कभी-कभी कम्पनी की सम्पूर्ण व्यवस्था अत्यन्त अपव्ययी होती है।

4 "The company system is a democracy of capitalists, entrusting their surplus funds to a cabinet of their choosing and retaining an active interest in the use in which their capital is put" —*Cairncross*

(5) **अच्छे श्रम सम्बन्ध का अभाव :** कम्पनी-संगठन इतना वृहद् एव विस्तृत होता है कि श्रमिकों तथा प्रबन्ध के मध्य व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित नहीं हो पाता। फलस्वरूप दोनों के हितों मे विरोध होने के कारण औद्योगिक-संघर्ष की स्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं। इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि एक पूर्ण अधिकारी वाली कम्पनी अनुभूतिहीन तथा आत्मा-विहीन है (a corporation sole, has no soul)।

(6) **अच्छे कर्मचारियों का अभाव** कम्पनी के सचालक तथा प्रबन्धक योग्यता के आधार पर नियुक्त नहीं किए जाते हैं। वे प्राय: कम्पनी पर नियन्त्रण रखने वाले अथवा कम्पनी की अधिकांश पूंजी पर अधिकार रखने वाले व्यक्तियों के सम्बन्धी या प्रतिनिधि होते हैं, जो कम्पनी के हितों की अपेक्षा अपने नियोक्ताओं के हितों का अधिक ध्यान रखते हैं।

इन दोषों के होते हुए भी कम्पनी संगठन योग्य एव उद्यमी व्यक्तियों को उत्पादन तथा व्यावसायिक क्षेत्र मे उन्नति करने के अवसर प्रदान करता है। संगठन की इस व्यवस्था का विकास होने से ही औद्योगिक, वाणिज्यिक तथा आर्थिक विकास सम्भव हो सका है।

4 सरकारी व्यवस्था (State Enterprises)

"The means of production should be socially owned and controlled for the benefit of society as a whole" —Jawahar Lal Nehru

स्वतन्त्र तथा निर्बाध पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे (Laissefaire Capitalism) सरकार आर्थिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करती। परन्तु आर्थिक कल्याण तथा समाजवादी विचारधाराओं के विकास के साथ साथ आर्थिक क्षेत्र मे सरकारी हस्तक्षेप बढ़ता जा रहा है। यही कारण है कि वर्तमान युग में किसी भी देश में निर्बाध पूंजीवाद का अस्तित्व नहीं दिखायी पड़ता। पूंजीवादी देशों मे भी सरकार विभिन्न विधियों से अर्थ-व्यवस्था का नियमन व नियन्त्रण करती है।

सरकारी व्यवस्था के उद्देश्य : औद्योगिक तथा व्यावसायिक क्षेत्रों मे राज्य के हस्तक्षेप तथा प्रवेश करने के कई कारण हैं। कई क्षेत्र ऐसे हैं जिनमें निजी लाभ के तत्व के स्थान पर लोक-सेवा का तत्व निहित होता है। इन क्षेत्रों मे निजी क्षेत्र सक्रिय रूप से भाग नहीं लेता। अतः राज्य के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि इन क्षेत्रों का समुचित विकास करे। कुछ ऐसे भी क्षेत्र हैं जिनमें निजी क्षेत्र की प्रतियोगिता अवाछनीय है। इन क्षेत्रों पर राज्य अपना पूर्ण अधिकार रखता है जिससे वह सम्बन्धित उद्योगों का समुचित विकास कर सके तथा सामान्य उपभोग की वस्तुएं तथा सेवाएं न्यूनतम मूल्य पर प्रदान कर सके। सरकार ऐसे उद्योगों पर अपना पूर्ण अधिकार एव नियन्त्रण रखती है।

देश के आर्थिक विकास, उत्पादन-शक्ति, रोजगार तथा राष्ट्रीय आय में वृद्धि करने के लिए भी सरकार अपनी संस्थाएं खोलती है। एक विकसित राष्ट्र में पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता पडती है। राज्य नवीन क्षेत्रो में निजी क्षेत्र को सहयोग प्रदान करके सयुक्त रूप से नये उद्योगो को स्थापित करता है। देश मे सन्तुलित आर्थिक विकास के लिए भी राज्य का औद्योगिक क्षेत्र मे प्रवेश करना आवश्यक माना जाता है। वितरण तथा अन्य व्यावसायिक क्षेत्रो मे भी सरकार प्रवेश करती है जिससे वह व्यापारिक चक्रो (तेजी-मन्दी की सम्भावनाओं) को नियन्त्रित कर सके। सरकार प्रतिस्पर्धी सस्थाएं स्थापित करके उपभोक्ताओं को उचित मूल्य पर वस्तुएं वितरित करने की व्यवस्था भी करती है।

लाभ : सरकारी सगठन का चाहे जो भी रूप हो, उससे देश का आर्थिक कल्याण होता है। राज्य देश की सुरक्षा, सामाजिक कल्याण तथा आर्थिक समृद्धि के दृष्टिकोण से अनेक उद्योगो तथा उत्पादन-इकाइयो का सगठन करके देश का सर्व-मुखी विकास करने मे सफल होता है। इस प्रकार के औद्योगिक सगठनो के स्थापित होने पर लोगो को रोजगार के अवसर प्राप्त होते हैं। पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था के स्थान पर मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का विकास होने से उत्पादन तथा वितरण क्षेत्रो में सरकार भी सक्रिय भाग लेने लगी है। राज्य ने निगमो (Corporations) या प्रतिनिधि सस्थाओं को स्थापित किया है जिन्हे सरकारी उपक्रम (State enterprises) कहा जाता है। इन सरकारी सगठनों के विभिन्न रूप निम्नलिखित हैं :

(1) सार्वजनिक सेवा-सस्थायें (Public Utility Concerns) : ऐसे उद्योगो को जो अति आवश्यक वस्तुओ का उत्पादन करते हैं तथा ऐसी सेवायों को जो देश के जनजीवन के लिए नितान्त आवश्यक होती है सरकार अपने एकाधिकार मे रखती है, जैसे विद्युत-शक्ति, रेल विभाग, डाक-तार आदि।

(2) वैधानिक निगम (Statutory Corporations) : इस प्रकार के निगम की स्थापना विशेष अधिनियम के द्वारा की जाती है। इस निगम का प्रबन्ध एक वैधानिक मण्डल द्वारा किया जाता है जिसके कार्य तथा अधिकार अधिनियम द्वारा निर्धारित कर दिये जाते हैं। भारत मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, दामोदर घाटी निगम (Damodar Valley Corporation), जीवन बीमा निगम (Life Insurance Corporation) आदि वैधानिक निगम हैं।

(3) संयुक्त-पूंजी कम्पनी (Joint Stock Company) : एक सरकारी उपक्रम का प्रयोजन कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत भी किया जा सकता है। ऐसी सस्था में वे समस्त गुण होते है जो एक वैधानिक निगम मे पाये जाते हैं। अन्तर केवल इतना है कि इसकी स्थापना विशेष अधिनियम द्वारा नहीं की जाती। भारत

मे इस प्रकार की सस्थायें State Trading Corporation, The Ashoka Hotel आदि हैं।

(4) विविध सस्थाएं सरकारी सगठन के अन्य कई रूप हैं, जैसे उपभोक्ताओं और उत्पादकों की सहकारी समितियां, स्थानीय स्वायत्त सस्थायें, म्युनिसिपल तथा जिला परिषद्, नगर-निगम, सरकार तथा निजी उद्योगपतियो के सयुक्त स्वामित्व तथा प्रबन्ध म सचालित सस्थायें आदि।

सार्वजनिक सस्थानो के कई लाभ हैं। उनमे उत्पादन की वृद्धि होने पर राष्ट्रीय आय बढती है जिससे लोगो का जीवन स्तर ऊचा उठता है। सरकारी सस्थाओ का उद्देश्य केवल लाभ-प्राप्ति न होन के कारण इन सस्थाओं द्वारा उत्पादित तथा वितरित वस्तुओ के मूल्य प्राय कम होते हैं। सरकार की आय के कई स्रोत होन क कारण राजकीय उद्योगो एव सस्थानो मे पूँजी का अभाव भी नही होता। नवीन तथा अच्छी मशीनो का प्रयोग सम्भव होने से सरकारी उत्पादक इकाइयो की उत्पादन क्षमता अधिक होती है।

सरकारी संगठन की इकाइयो का प्रबन्ध कुशल तथा अनुभवी सरकारी अधिकारियो द्वारा किया जाता है। यही कारण है कि ये उत्पादन की कुशल इकाइया होती हैं। सरकारी सस्थाओ मे कार्य करने वाले कर्मचारियो मे सेवाओ की सुरक्षा, उचित वेतन, पशन आदि का विशेष आकर्षण होने के कारण वे विशष रुचि से काम करते हैं।

दोष परन्तु सरकारी उत्पादन-व्यवस्था म वे समस्त दोष वर्तमान होते है जो एक सरकारी कार्यालय मे पाये जाते हैं। काम विलम्ब, लालफीताशाही (red-tapism) तथा पक्षपातपूर्ण नीति के कारण कार्य कुशलता अधिक नहीं होती है। प्रबन्धको तथा अधिकारियो में उत्तरदायित्व-हीनता की भावना रहती है, क्योंकि वे केवल वैतनिक कर्मचारी होते हैं। लाभ का तत्व न होने के कारण उन्ह अधिक कार्य करने की प्रेरणा नहीं मिलती। इसके अतिरिक्त सरकारी अधिकारियो मे औद्योगिक तथा व्यावसायिक सगठन क्षमता तथा प्रबन्ध करने की विशेष तकनीकी योग्यता का अभाव होता है। यही कारण है कि वे नव प्रवर्तन तथा उत्पादन की नई तकनीकी विधियो के प्रयोग तथा वैज्ञानिक सगठन का समावेश करने के प्रति प्रयत्नशील नही रहते। फलस्वरूप सम्पूर्ण उत्पादन व्यवस्था शिथिल तथा मन्द गति से सचालित होती है और निश्चित लक्ष्यों को प्राप्त करने मे काफी समय लग जाता है।

परन्तु उपर्युक्त दोष सरकारी उत्पादन इकाइयो के नहीं वरन् प्रबन्धको के हैं। उनमें ईमानदारी तथा कर्तव्य-निष्ठा का अभाव होन के कारण ये इकाइया सफलता प्राप्त नहीं कर पाती। राजकीय स्वामित्व म कोई दोष नही है। इङ्गलैंड, अम

रिका तथा आस्ट्रेलिया मे इन दोषो को दूर करके राजकीय उत्पादन-व्यवस्था को अधिक लोकप्रिय बनाया गया है । लोकतन्त्रीय देशो मे इस प्रकार की संस्थाओं की लोकप्रियता बढती जा रही है ।

प्रश्न व संकेत

1. एकाकी स्वामित्व का अर्थ बताइये । इसकी विशेषताओ, गुण एव दोषो का विस्तृत उल्लेख कीजिये ।

[संकेत—प्रश्न के प्रथम भाग मे एकाकी स्वामित्व का अर्थ स्पष्ट कीजिये तथा द्वितीय भाग मे इसकी विशेषताओ, गुण एव दोषो को विस्तृत रूप मे समझाइये ।]

2. निम्न मे से आप कौन से उपक्रम को सर्वोत्तम समझते हैं ? कारण सहित उत्तर दीजिये ।

(अ) व्यक्तिगत (ब) सरकारी (स) सहकारी ।

[संकेत—प्रारम्भ मे तीनो प्रकार के उपक्रमो के गुण दोषो की विवेचना कीजिये । इसके बाद यह स्पष्ट कीजिये कि प्रत्येक मे गुण एव दोषो की उपस्थिति के कारण यह कहना कठिन है कि तुलनात्मक रूप मे कौन सा उपक्रम सर्वोत्तम है । अलग अलग प्रकार के उपक्रम अलग-अलग परिस्थितियो मे उपयुक्त होते हैं ।]

3. संयुक्त पूँजी कम्पनी की विशेषतायें क्या है ? इसके गुण दोष बताइये ।

4. साझेदारी का अर्थ स्पष्ट कीजिए और इसके गुण दोष स्पष्ट कीजिये ।

21

लागत-वक्र
(Cost Curves)

"Costs curves are geometrical illustrations of the relationship between the rate of output of a firm and the rate of expenditure on various inputs."

Stigler, G. J.

किसी वस्तु की कीमत, उस वस्तु की 'माग' तथा 'पूर्ति' द्वारा निर्धारित की जाती है। माग का अध्ययन हम पहले कर चुके है। किसी वस्तु की 'पूर्ति' उस वस्तु की उत्पादन लागत द्वारा शासित होती है। अतः 'पूर्ति का अध्ययन करने के पूर्व, उत्पादन लागत का विश्लेषण प्रस्तुत करना आवश्यक है। उन सभी तत्वो को, जो पूर्ति मे निहित हैं, हम एक शब्द—'लागत' द्वारा व्यक्त कर सकते हैं। किसी वस्तु की जो मात्रा (पूर्ति) बाजार मे बेची जाती है, उस मात्रा का निर्धारण, उत्पादक द्वारा लागत के ही आधार पर किया जाता है।

1. लागत-सम्बन्धी विचार
(The Concepts of Cost)

अर्थशास्त्र में 'लागत' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों मे किया जाता है। 'लागत' शब्द का अर्थ व्यापारी, लेखाकार तथा अर्थशास्त्री के लिए भिन्न भिन्न होता है। अर्थशास्त्री भी 'लागत' शब्द का प्रयोग विभिन्न सदर्भों मे करते हैं। अतः सदर्भ के अनुसार इस शब्द के कई अर्थ लगाये जा सकते हैं। विभिन्न आर्थिक विषयो के विश्लेषण मे, लागत के विभिन्न विचारो (Concepts) का प्रयोग किया जाता है। लागत सम्बन्धी ये विचार तीन प्रकार के हैं—मौद्रिक लागत, वास्तविक लागत तथा अवसर लागत।

1. मौद्रिक लागत (Money Costs) :

मार्शल ने 'लागत' का अर्थ स्पष्ट करते समय 'मौद्रिक लागत' तथा 'वास्त-

विक लागत' (Real Cost) शब्दो का प्रयोग किया है। किसी वस्तु की लागत, उस वस्तु के उत्पादन मे प्रयुक्त साधनो की लागत के बराबर होती है। साधनो की लागत का अनुमान हम उनके बाजार मूल्य द्वारा लगाते हैं। उत्पादन मे प्रयुक्त साधनो के बाजार मूल्यो के योग को साधनों की मौद्रिक लागत कहते हैं। अतः किसी वस्तु की एक निश्चित मात्रा की 'मौद्रिक लागत' का अर्थ उसे पैदा करने मे प्रयुक्त उत्पादन साधनो के बाजार मूल्यो के योग से है। दूसरे शब्दो मे, मौद्रिक लागत वह लागत है जो मुद्रा के रूप मे किसी वस्तु के उत्पादन मे व्यय की जाती है। जैसे एक उत्पादक एक वस्तु के उत्पादन के लिए कच्चा माल खरीदता है, मजदूरो को मजदूरी देता है, पूँजी पर ब्याज तथा सगठनकर्त्ता को वेतन देता है, साहसी के लिए लाभ की व्यवस्था करता है, सरकार को कर देता है बीमा तथा मूल्य ह्रास (Insurance and Depreciation) के लिए व्यवस्था तथा भुगतान करता है। इन सभी खर्चों को हम किसी वस्तु की मौद्रिक लागत मे सम्मिलित करते हैं।

किसी वस्तु की 'मौद्रिक लागत' ज्ञात करते समय, हमे उन लागतो को भी ध्यान म रखना चाहिए, जिन्हे मुद्रा के रूप मे व्यय नही किया जाता है। सम्भव है, उत्पादक ने सभी उत्पादन साधनो को बाजार मे नही खरीदा हो—उसने अपने कुछ निजी साधनो का प्रयोग किया हो। ऐसे साधनो का मूल्य भी मौद्रिक लागत मे सम्मिलित किया जाता है। इस प्रकार मौद्रिक लागत मे सामान्यत दो प्रकार की लागते—व्यक्त लागत तथा अव्यक्त लागत सम्मिलित की जाती है :

(i) व्यक्त लागत (Explicit Costs) व्यक्त लागत उन मौद्रिक लागतों को कहते है जिनका भुगतान साधन के स्वामियो को उत्पादक द्वारा किया जाता है, जैसे मजदूरी, लगान, ब्याज, कच्चा माल सम्बन्धी व्यय, विज्ञापन-व्यय आदि। इन सबका भुगतान उत्पादक द्वारा किया जाता है।

(ii) अव्यक्त लागत (Implicit Costs) 'अव्यक्त लागत' उन समस्त लागतों को कहते हैं जिनका भुगतान, उत्पादक द्वारा किसी 'बाहरी व्यक्ति' (outsider) को नही किया जाता, बल्कि स्वय उत्पादक अपने निजी साधनो तथा सेवाओं के बदले अपनी ही फर्म से लागत वसूल करता है (या उत्पादन व्यय की गणना करते समय ध्यान मे रखता है), जैसे निजी पूँजी पर ब्याज, निजी सम्पत्ति पर मूल्य ह्रास (जिस सम्पत्ति का उपयोग 'फर्म' ने किया है), फर्म मे विनियोजित निजी पूँजी पर प्रतिफल (Return), निजी वेतन आदि। इस प्रकार

कुल मौद्रिक लागत = कुल व्यक्त लागत + कुल अव्यक्त लागत

2. वास्तविक लागत (Real Costs)

उत्पादन व्यय का अर्थ वास्तविक लागत से भी लिया जाता है। वास्तविक लागत का अर्थ उस व्यय किए गए 'समय' तथा 'शक्ति' से लगाया जाता है जो किसी

एक वस्तु के उत्पादन मे वास्तव मे व्यय होने हैं। इस प्रकार व्यय होने वाले समय और शक्ति को वास्तविक लागत कहते हैं प्रो० मार्शल के अनुसार "किसी वस्तु को बनाने मे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से लगने वाले विभिन्न प्रकार के मजदूरो का परिश्रम, साथ मे उसके उत्पादन मे प्रयुक्त पूंजी की बचत के लिए आवश्यक त्याग या प्रतीक्षा, य सब प्रयत्न और त्याग मिलकर उस वस्तु के उत्पादन की वास्तविक लागत कहलाते है।"[1] इस प्रकार जिस कार्य मे अधिक परिश्रम करना पडता है तथा श्रमिको पर बुरा प्रभाव पडता है, ऐसे कार्यों की वास्तविक लागत अधिक पडती है। ऐसा सम्भव है कि दो कार्यों की मौद्रिक लागत समान हो परन्तु उनकी वास्त विक लागत मे अन्तर हो । वास्तविक लागत सिद्धान्त का सामाजिक दृष्टि से महत्व है। परन्तु यह शब्द पूर्णतया स्पष्ट नही है। इसके लिए कोई मापदण्ड भी नही है, क्योकि इसे विषयगत रूप (Subjective term) मे ही प्रकट कर सकने हैं।

3 अवसर लागत (Opportunity Cost)

मौद्रिक तथा वास्तविक लागत के अतिरिक्त लागत के एक तीसरे सिद्धान्त—अवसर लागत—का भी प्रयोग किया जाता है। अवसर लागत का प्रयोग नवीन अर्थ शास्त्री, विशेषतया अमेरिकी अर्थशास्त्री, करते हैं । श्रीमती जोन रॉबिन्सन ने 'Opportunity cost' के स्थान पर 'Transfer earnings—स्थानान्तर अर्जन शब्द का प्रयोग किया है। कुछ अर्थशास्त्री 'Imputed cost' शब्द का भी प्रयोग करते हैं।

(1) अवसर लागत का अर्थ अवसर लागत उस लागत का कहते हैं जो एक उत्पादन के साधन का किसी वैकल्पिक प्रयोग से प्राप्त हो सकती है।

उत्पादन के साधनो के कई प्रयोग (alternative uses) हो सकते हैं परन्तु एक साधन विशेष का प्रयोग एक ही काम के लिए किया जा सकता है। इस प्रकार जब एक साधन का प्रयोग किया जाता हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि उस साधन को उन अन्य अवसरो (opportunities) का त्याग करना पडता है, जिनमे उस

[1] "The exertions of all the different kinds of labour that are directly or indirectly involved in making it together with the abstinences or rather the waitings required for saving the capital used in making it, all these efforts and sacrifices together will be called the real cost of production of the commodity."

—*Marshall, op cit p 339*

[2] 'The imputed cost (opportunity cost) of a productive input in any given business is the value that input would have the price it would get if employed in its best alternative use"

—*Burns, Neal and Watson, Modern Economics p 213*

साधन का प्रयोग किया जा सकता था। अतः उस साधन को इस प्रयोग (कार्य) में लगाए रखने के लिए कम से कम इतना पुरस्कार या पारिश्रमिक अवश्य मिलना चाहिए जितना वह अन्य वैकल्पिक कार्यों मे प्राप्त कर सकता था। यदि वैकल्पिक कार्य में प्राप्त किया जा सकने वाला पुरस्कार उस साधन को नही दिया जाता है तो वह साधन वर्तमान कार्य को छोडकर वहा चला जाएगा जहा पर उसे अधिक पुरस्कार मिलेगा, जैसे एक प्रबन्धक को, मान लीजिए, एक मिल मे दो हजार रुपया मासिक वेतन दिया जाता है, यदि वह मैनेजर अन्य मिल मे काम करता तो भी उसे दो हजार रुपए मिलते (यदि किसी अन्य मिल मे उसे दो हजार रुपये से अधिक रुपए मिलते, तो वह इस मिल मे दो हजार रुपये पर काम नही करता)। अतः उस प्रबन्धक की अवसर लागत दो हजार रुपये हुई। इस मिल मे उसे बनाए रखने के लिए आवश्यक है कि उसे कम से कम दो हजार रुपये दिए जाए, क्योंकि वह दो हजार रुपये अन्य मिल मे भी प्राप्त कर सकता है। श्रीमती जोन रॉबिन्सन के शब्दो मे "वह कीमत जो किसी साधन की एक इकाई को किसी उद्योग विशेष में बनाये रखने के लिए आवश्यक है, हस्तान्तर अर्जन या हस्तानान्तर कीमत कहलाती है।"

("The price which is necessary to retain a given unit of a factor in a certain industry may be called its transfer earnings or transfer price") —*Mrs Joan Robinson.*

उदाहरण के लिए एक पुस्तक भण्डार का प्रबन्धक पुस्तक भण्डार का प्रबन्धकर्त्ता है। मान लीजिए, वह प्रबन्धक यदि एक कपडे की दुकान का प्रबन्ध करता तो उस समय भी उसे वेतन के रूप मे कुछ प्राप्त होता। इस प्रकार कपडे की दुकान पर वह जो वेतन प्राप्त कर सकता था वह वेतन पुस्तक भण्डार के प्रबन्धक की अवसर लागत हुई है।

किसी भी उद्योग म एक साधन को जो पुरस्कार दिया जाता है, वह उस पुरस्कार के बराबर होता है, जिसे वह साधन अन्य उद्योग से प्राप्त कर सकता है। यदि हम उस साधन को उद्योग मे बनाए रखना चाहते है तो उसे कम से कम इतना पुरस्कार अवश्य मिलना चाहिए, जितना कि वह अन्य वैकल्पिक उद्योग मे प्राप्त कर सकता है। प्रो॰ बेनहम के शब्दो मे, "मुद्रा की वह मात्रा जो कि कोई इकाई सर्वश्रेष्ठ वैकल्पिक प्रयोग मे प्राप्त कर सकती है, उसे हम हस्तान्तर अर्जन कह सकते हैं।"

("The amount of money which any particular unit could earn in its best paid alternative use is sometimes called its transfer earnings") —*Benham*

कुछ उदाहरणो द्वारा 'अवसर लागत' को स्पष्ट किया जा सकता है :

1. मान लीजिए किसी व्यक्ति ने निजी-व्यापार मे पूँजी लगा रखी है। इस

पूंजी की 'अवसर लागत' उस ब्याज के बराबर होगी, जो उस पूंजी [illegible] पर लगाने मे कमाया जा सकता है।

2. किसी मशीन की 'अवसर लागत' एक वस्तु को पैदा करने मे, उस त्यागी गई आय के बराबर है जो उस मशीन द्वारा किसी अन्य वस्तु को पैदा करने से प्राप्त होती।

3. किसी वस्तु का निर्माण करने वाले श्रमिक की 'अवसर लागत' उस मजदूरी के बराबर है जो वह अन्य वस्तु को या उसी वस्तु का किसी दूसरी फर्म मे निर्माण कर प्राप्त कर सकता है।

उपर्युक्त उदाहरणो से स्पष्ट है कि अवसर लागत ज्ञात करने के लिए, त्याग (sacrifice) को जानना या नापना आवश्यक है। यदि किसी साधन का इस्तेमाल करने मे किसी प्रकार का त्याग नही करना पडता है, तो उस साधन की अवसर लागत शून्य होनी है। (If there is no sacrifice, there is no cost).

हैंडरसन (Henderson) ने अवसर लागत को इस प्रकार परिभाषित किया है, "उत्पादन के साधनो का मूल्य सर्वोत्तम स्थानापन्न प्रयोग के सदर्भ से नापा जा सकता है, जिसमे वे (उत्पादन के साधन) लगाये जाते, यदि इस विशेष इकाई का उत्पादन नही होता।[3] ऐसे सर्वोत्तम स्थानापन्न प्रयोग के मूल्य को ही अवसर लागत कहते हैं। दूसरे शब्दो मे, किसी वस्तु विशेष के उत्पादन मे लगे हुये किसी साधन की लागत वह अधिकतम राशि है जिसे वह साधन दूसरी वस्तुओ के उत्पादन से प्राप्त कर सकता है।

(ii) अवसर लागत की विशेषतायें

(i) अवसर लागतें मौद्रिक लागतें हैं (Opportunty Costs are Money Costs) अवसर लागत उस मुद्रा का योग है जिसे उत्पादन के साधन एक फर्म या उद्योग मे निरन्तर प्रयोग होने के कारण प्राप्त करते हैं तथा जिसके कारण वे दूसरे उद्योगो से नही जाते। उदाहरण के लिए यदि एक मोटर-निर्माता कार बनाना चाहता है तो ऐसी दशा मे उसे कार बनाने वाले मजदूरो को कम से कम इतनी मजदूरी देनी चाहिए जिससे वे मोटर उद्योग मे लगे रहे। यदि उन्हे कम मजदूरी दी जाती है तो वे हवाई जहाज बनाने के कारखाने मे जा सकते हैं। यहा पर यह भ्रम इस तथ्य से हो सकता है कि मोटर के कारखाने मे तथा हवाई जहाज के कारखाने मे मजदूरी समान है, परन्तु इस भ्रम का प्रभाव अवसर लागत के सिद्धान्त पर नही

[3] "The value of the factors of production is measured by the best alternative use to which they might have been put had this particular unit of commodity not being produced."

H. D. Henderson : Supply and Demand p. 94.

पड़ेगा। मान लीजिए ये मजदूर मोटर के कारखाने मे नही लगाये जाने, ऐसी अवस्था मे उनकी स्पर्द्धा नौकरी के लिए, उन मजदूरो के साथ होती है जो जहाज बनाने के कारखाने मे लगे हुये है। इस प्रकार जहाज के कारखाने का मालिक मजदूरो मे स्पर्द्धा के कारण उन्हे कम मजदूरी देता है। इसी प्रकार यदि कार की माग बढ जाती है और जहाज की माग पूर्ववत रहती है तो मोटर कारखाने का मालिक मजदूरी और बढा येगा जिससे जहाज के कारखाने से अधिक मजदूर आयेगे। अत कारखाना चलाने के लिए जहाज के कारखाने मे भी मजदूरी बढा दी जावेगी।

(2) अवसर लागत का सिद्धान्त सभी प्रकार के उद्योगों मे, उत्पादन के सभी साधनो पर लागू होता है यह नियम सभी उद्योगो म लागू होता है, जैसे उत्पादन सम्बन्धी सस्थाय व्यापार गृह, बैंक व्यवसाय आदि। यदि कोई व्यक्ति कुछ वस्तुयें खरीदने के लिये बैंक से रुपया उधार लेता है तो उसे बैंक को इतना ब्याज देना होगा जिससे बैंक किसी दूसरे को रुपया न देकर उसे ही दे सके।

(3) अवसर लागत का व्यय सदैव नकद ही नहीं होता (Opportunity Costs are not always Cost Expenditures) एक व्यक्ति अपना व्यापार चलाता है। ऐसी अवस्था मे उसे अपने लिए कम से कम उतना वेतन अवश्य रखना चाहिए जितना वह अन्यत्र काम करने से प्राप्त कर सकता है। यदि वह अपने लिए वेतन नही रखता है तो व्यापार का वास्तविक लाभ नही जान सकता। यहा पर यह प्रश्न नही उठता कि वेतन का भुगतान नकद दिया जाता है या नहीं। यह बात अन्य खर्चों के सम्बन्ध मे भी लागू हो सकती है। जैसे यदि कोई व्यक्ति अपने रुपयो से व्यापार प्रारम्भ करता है और अपने ही मकान मे व्यापार करता है तो उसे क्रमश व्याज और किराया लेना चाहिए जिसे वह दूसरो से प्राप्त कर सकता था। इस प्रकार अवसर लागत यदि वास्तव मे प्राप्त की जाती है तो वह वास्तविक आय का रूप ग्रहण कर लेती है।

2 अल्पकाल मे लागत
(Costs in the Short Run)

उत्पादक माग के अनुसार उत्पादन करता है। अधिक माग होने पर उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि की जाती है। उत्पादन मात्रा मे वृद्धि करने पर उत्पादन लागत मे परिवर्तन होता है। उत्पादन वृद्धि के साथ उत्पादन लागत मे किस प्रकार के परिवर्तन होगे ? इस प्रश्न का उत्तर विचाराधीन समय या अवधि पर निर्भर है। (समय के अतिरिक्त अन्य तत्वो का भी प्रभाव पडता है)। अत हम यहा विभिन्न अवधि म लागत के स्वरूपो का अध्ययन करेंगे। हम अवधि को तीन समूहो में विभाजित कर सकते हैं— (1) बाजार काल (2) अल्पकाल तथा (3) दीर्घकाल।

(1) बाजार काल (Market Period) : बाजार काल उस काल या अवधि को कहते हैं, जिसमें उत्पादक को इतना कम समय मिलता है कि वह माग में परिवर्तन के अनुरूप उत्पादन की मात्रा मे परिवर्तन नही कर सकता है। अतः इस अवधि में मूल्य निर्धारण में माग का प्रमुख स्थान रहता है। पूर्ति निश्चित होती है। माग मे वृद्धि होने से कीमत बढती है, तथा माग म कमी होने से कीमत घटती है।

(2) अल्पकाल (Short Period) अल्पकाल, बाजार की अपेक्षा, अधिक दीर्घ होता है। फिर भी अल्पकाल इतनी कम अवधि को कहते है, जिसके अन्दर किसी फर्म की उत्पादन शक्ति म परिवर्तन नही किया जा सकता है।[4] इस काल मे केवल इतना ही सम्भव है कि फर्म की वर्तमान उत्पादन का अधिकाधिक उपयोग कर लिया जाए। अत इस काल म वर्तमान उत्पादन शक्ति का अधिक उपयोग कर उत्पादन की मात्रा बढाई जा सकती है, परन्तु न तो फर्म के आकार मे ही परिवर्तन किया जा सकता है, और न किसी उद्योग म फर्मों की सख्या म ही वृद्धि की जा सकती है। लिप्से के अनुसार, "अल्पकाल उस अवधि को कहते हैं जिसमे उत्पादन के कुछ साधन—सामान्यत प्लाट तथा उपकरण तथा कभी कभी भूमि—की पूर्ति निश्चित होती है, और उत्पादन मे वृद्धि या कमी केवल स्थायी साधन के कम या अधिक गहन प्रयोग द्वारा ही की जा सकती है।"[5]

(3) दीर्घकाल (Long Period) दीर्घकाल उस अवधि को कहते हैं जिस अवधि के अन्तर फर्म की उत्पादन शक्ति मे परिवर्तन सम्भव होता है। अल्पकाल म इतना कम समय होता है कि फर्म की उत्पादन शक्ति, प्लाट, मशीन और प्रबन्ध आदि, म परिवर्तन नही किया जा सकता। इसके विपरीत दीर्घकाल मे फर्म की उत्पादन शक्ति मे परिवर्तन किया जा सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि दीर्घकाल म सभी लागत परिवर्तनशील होती है, अर्थात् दीर्घकाल मे फर्म की उत्पादन शक्ति तथा उत्पादन दोनों ही परिवर्तनशील होते हैं। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि अल्प काल मे समस्या होती है—कौन सी वस्तु फर्म की वर्तमान उत्पादन शक्ति के उपयोग की दर म परिवर्तन करती है? दीर्घकाल मे इस प्रश्न का रूप यह होता जाता है—कौन सी वस्तुए फर्म की उत्पादन शक्ति मे परिवर्तन (change in capacity) या उत्पादन के पैमाने (scale of production) मे परिवर्तन निश्चित करती हैं?

[4] "The short run is a period short enough to preclude any change in the firm's productive capacity." —*Burns and others*

[5] "The short run is defined as a period of time over which some factors of production—usually, plant and equipment, but sometimes land is fixed in supply and production can be raised or lowered only by using the fixed factor more or less intensively."
An Introduction to Positive Economics p 175 —*Lipsey.*

लिप्से के शब्दों में, "दीर्घकाल इतनी लम्बी अवधि को कहते हैं, जिसमें उत्पादन के सभी साधनों, प्लाट, उपकरण आदि, की मात्रा में परिवर्तन किया जा सकता है।"[6]

(i) कुल लागत
(Total Costs)

कुल उत्पादन व्यय को 'कुल लागत' कहते हैं। इस प्रकार किसी दी हुई उत्पादन-मात्रा के उत्पादन में जो व्यय होता है, उसे 'कुल लागत' कहा जाता है। कुल लागत (Total Cost) को दो भागों में बाटा जा सकता है—(1) कुल निश्चित लागत (Total Fixed cost) तथा (ii) कुल परिवर्तनशील लागत (Total Variable Cost)। मार्शल ने इन लागतों को क्रमश पूरक लागत (Supplementary Cost) तथा प्रमुख लागत (Prime Cost) कहा है।

(1) कुल निश्चित लागत (Total Fixed Costs) : उन लागतों को कहते हैं जिनको प्रत्येक अवस्था में व्यय करना पड़ता है, चाहे फर्म उत्पादन कर रही हो या नहीं। इसे स्थायी लागत भी कहते हैं। इस लागत का उत्पादन की मात्रा से विशेष सम्बन्ध नहीं होता है। उत्पादन की मात्रा कम हो या अधिक, उत्पादक को यह लागत उठानी पड़ती है। अत स्थायी लागतें वे लागतें हैं जो उत्पादन के परिवर्तन से प्रभावित नहीं होती, अर्थात् वे समान रहती हैं, उत्पादन की मात्रा चाहे एक इकाई हो या एक लाख इकाई। यदि उत्पादन कुछ समय के लिए शून्य के बराबर हो जाए तो भी इन लागतों का भार उत्पादक को उठाना ही पड़ता है।[7] ऐसी लागत में व्यापार में लगी पूँजी पर ब्याज, पूँजी सम्बन्धी सुविधाओं का ह्रास, सम्पत्ति कर, प्रबन्ध तथा आफिस सम्बन्धी वेतन, मशीन का बीमा शुल्क, लाइसेन्स शुल्क आदि सम्मिलित हैं। इन व्ययों को ऊपरी खर्चे (overhead expenses) भी कहते हैं। ये व्यय प्रत्येक कारखाने में सदैव होते रहते हैं और उसी समय रुकते हैं जब कारखाना अन्तिम रूप से बन्द कर दिया जाता है।

(2) कुल परिवर्तनशील लागत (Total Variable Costs) : इन्हें प्रमुख लागत (Prime Costs) भी कहते हैं। परिवर्तनशील लागत उन लागतों को कहते है जो पैदा की गई इकाइयों की संख्या के घटने बढ़ने के साथ घटती बढ़ती रहती

[6] "The long run is defined as a period of time sufficiently long to allow all factors of production, including plant and equipment to be varied in quantity," —*Lipsey*

[7] "Fixed costs are those which are unrelated to the volume of output, they are the costs of firm when its output is temporarily zero." —*Burns and others Modern Economics, P. 113*

हैं ।[1] प्रमुख लागत मे कच्चे माल का मूल्य, प्रत्यक्ष श्रम पर व्यय, उत्पादन कर, ईंधन आदि खर्चे सम्मिलित है। ये खर्चे उसी समय किये जाते है जब उत्पादन का कार्य चलता रहता है। इनकी मात्रा का उत्पादन की मात्रा मे प्रत्यक्ष सन्बन्ध है। यदि किसी कारणवश कारखाना बन्द कर दिया जाय तो ये खर्चे नही होते।

(3) कुल लागत (Total Costs) : कुल निश्चित और कुल परिवर्तनशील लागत के योग को 'कुल लागत' कहते है। इस प्रकार :

कुल लागत=कुल निश्चित लागत+कुल परिवर्तनशील लागत

कुल लागत-वक्र (Total Cost Curves) : उपरोक्त विवरण को ध्यान मे रखते हुए इन लागतो को एक सारिणी द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है :

कुल लागत (रुपयो मे)

उत्पादन मात्रा इकाइयां	कुल निश्चित-लागत (Fix costs)	कुल परिवर्तनशील लागत (Variable costs)	कुल लागत (Total costs)
0	2,000	0	2000
100	2,000	150	2150
200	2,000	275	2275
300	2 000	385	2385
400	2,000	495	2495
500	2 000	650	2650

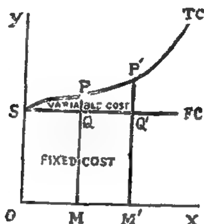
सारिणी से स्पष्ट है कि कुल निश्चित लागत सदैव समान है। शून्य उत्पादन पर भी कुल निश्चित लागत उतनी ही उठानी पडती है, जितनी अधिक उत्पादन पर। शून्य उत्पादन पर परिवर्तनशील लागत भी शून्य है। उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि के साथ ही साथ परिवर्तनशील लागत मे वृद्धि होती गई है।

'कुल लागत', 'कुल निश्चित लागत' तथा 'कुल परिवर्तनशील लागत' को रेखाचित्र द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है। रेखा चित्र स० 50 म कुल लागत रेखा (Total cost curve) जिसमे प्रमुख लागत तथा पूरक लागत सम्मिलित हैं, दर्शायी गई है। इस रेखा के दो भाग—प्रमुख लागत तथा पूरक लागत—जिनके योग मे कुल लागत बनती है, दिखलाय गये हैं। रेखाचित्र से स्पष्ट है कि स्थाई लागत रेखा (Fixed cost curve) एक सीधी रेखा है, क्योंकि उत्पादन की मात्रा चाहे कुछ भी हो, स्थायी लागत समान रहती है। स्थायी लागत को कुल लागत रेखा तथा

[1] "Variable costs are those which vary directly as a total with the number of units produced"

Meyers : Elements of Modern Economics, p. 113.

कुल परिवर्तनशील रेखा (Total variable cost) के बीच के लम्बवत् अन्तर (vertical distance) को नाप कर जाना जा सकता है। कुल प्रमुख लागत रेखा (Total variable cost curve) आरम्भ में शून्य से शुरू होती है तथा ज्यों-ज्यों उत्पादन में वृद्धि होती है यह रेखा ऊपर उठती जाती है। चित्र से स्पष्ट है कि



चित्र सं० 50

आरम्भ में यह कम शीघ्रता से ऊपर उठती है। परन्तु कुछ दूरी के बाद वह शीघ्रतापूर्वक ऊपर उठती है। कुल लागत रेखा (Total cost curve) प्रारम्भ से ही धनात्मक मूल्य (positive value) रखती है, जबकि उत्पादन शून्य रहता है। आरम्भ में उत्पादन के शून्य रहने पर इसका मूल्य fixed cost के बराबर होगा। इसके पश्चात् यह रेखा कुल प्रमुख लागत (Total Prime cost) के साथ लगभग समानान्तर रूप से ऊपर उठती है तथा उन दोनो के बीच की लम्बवत् दूरी स्थायी लागत के बराबर होती है।

निश्चित तथा परिवर्तनशील लागत की प्रकृति (Nature of Fixed and Variable Costs) :

(1) उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रमुख लागत उत्पादन के साथ परिवर्तित होती रहती है, जबकि पूरक लागत का उत्पादन से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसे हर हालत में व्यय करना पड़ता है। ज्यो-ज्यो उत्पादन की मात्रा बढती जाती है यह लागत भी बढती जाती है। आरम्भ मे परिवर्तनशील लागत तेजी से बढती है, परन्तु जब उत्पादन मे काफी वृद्धि कर दी जाती है, तब बडे पैमाने के उत्पादन के लाभ प्राप्त होने लगते हैं। फलस्वरूप परिवर्तनशील लागत उत्पादन के साथ आनुपातिक रूप से नही बढती। दीर्घावधि (In the long run) मे उत्पत्ति ह्रास

नियम लागू होता है। अत परिवर्तनशील लागत उत्पादन की अपेक्षा आनुपातिक रूप से अधिक बढती है।

(2) इन लागतो तथा समय का घनिष्ट सम्बन्ध है। यह कहना असम्भव है कि कोई लागत सदैव स्थाई है या परिवर्तनशील है। यह समय पर निर्भर करता है। इस प्रकार प्रमुख तथा पूरक लागत का अन्तर अल्पकाल (short run) तथा दीर्घकाल (long run) से पूर्णतया सम्बन्धित है। दीर्घावधि में सभी लागत परिवर्तनशील होती हैं परन्तु अल्प अवधि मे बहुत सी लागतो मे परिवर्तन नही होता उत्पादन की मात्रा चाहे कुछ भी क्यो न हो।

(3) मूल्य निर्धारण मे प्रमुख लागत और पूरक लागत का अधिक महत्व है। अल्पकाल मे यह सम्भव है कि किसी दिए हुए समय पर जबकि मूल्य पर माग का प्रभाव अधिक पडता है तो उत्पादन के लिए यह सम्भव हो सकना कि वह प्रमुख लागत व पूरक लागत दोनो को प्राप्त कर ले। अल्पावधि मे यदि उत्पादक को केवल प्रमुख लागत भी मूल्य के रूप मे प्राप्त हो जाती है तो वह उत्पादन जारी रखेगा। ऐसी परिस्थिति मुख्यतया आर्थिक मन्दी या डम्पिग (depression or dumping) के समय मे होती है। उत्पादक ऐसा इसलिए करता है ताकि उत्पादन कार्य बद करना पडे। इस प्रकार जो भी मूल्य प्राप्त होता है उस पर बेच कर वह उत्पादन कार्य जारी रखता है।

(4) केवल प्रमुख लागत को मूल्य के रूप मे प्राप्त कर उत्पादक उत्पादन का कार्य दीर्घावधि मे नही चला सकता। ऐसा वह केवल अल्प समय के लिए ही कर सकता है, क्योकि अल्प समय मे उत्पादन को बन्द करने से फिर उत्पादन कार्य प्रारम्भ करने मे कठिनाइया उठानी पडती है। अल्पावधि मे वह कम से कम इतना मूल्य स्वीकार करेगा जिससे यदि वस्तु की कुल लागत न वसूल हो सके तो कम से कम प्रमुख लागत व पूरक लागत का कुछ भाग अवश्य प्राप्त हो जाय। बहुत ही कम समय मे यदि असाधारण परिस्थिति आ जाय तो उत्पादक भविष्य की आशा मे केवल प्रमुख लागत प्राप्त हो जाने पर भी उत्पादन जारी रखता है।

(5) दीर्घावधि मे यह आवश्यक है कि उत्पादक को मूल्य के रूप मे प्रमुख लागत तथा पूरक लागत दोनो प्राप्त हों। यदि दीर्घावधि मे उसे प्रमुख लागत तथा पूरक लागत दोनो के बराबर मूल्य नही प्राप्त होता तो वह उत्पादन कार्य बन्द कर देगा।

निश्चित लागत तथा परिवर्तनशील लागत मे सम्बन्ध (Relationship between Fixed and Variable Costs) :

निश्चित लागत तथा परिवर्तनशील लागत की विवेचन के बाद अब हम उनसे

सम्बन्धित कुछ महत्वपूर्ण बातों पर विचार करेंगे। ये बातें निश्चित लागत तथा परिवर्तनशील लागत के अन्तर से सम्बन्धित हैं :

(1) सर्वप्रथम दोनों लागतें साथ-साथ चलती हैं। किसी एक उत्पादन के साधन से उत्पादन नहीं किया जा सकता, बल्कि स्थायी तथा परिवर्तनशील साधनों (fixed and variable factors) दोनों के सहयोग से ही उत्पादन होता है।

(2) प्रमुख लागत तथा पूरक लागत में कुल लागत का जो विभाजन किया जाता है, वह उत्पादक इकाई की अवधि (duration) से पूर्णतया सम्बन्धित है। यह बात मजदूरी तथा वेतन के सम्बन्ध में मुख्यतया लागू होती है। जैसा कि प्रो० मार्शल ने कहा है कि प्रमुख लागत दीर्घकाल में अल्पकाल की अपेक्षा पूरक लागत का रूप ले लेती है।[9] दूसरे शब्दों में अल्पावधि में कुछ साधन उत्पादन के कार्य में निश्चित तथा पूरक होते हैं (Fixed and Supplementary) परन्तु दीर्घावधि में वही साधन (variable) हो जाते हैं।

(3) प्रो० मार्शल ने यह स्पष्ट रूप से कहा है कि प्रमुख तथा पूरक लागत में विशेष प्रकार का अन्तर नहीं है, बल्कि उनका अन्तर केवल मात्रा तक ही है (The distinction between prime and supplementary costs is one of degree and not kind) उदाहरण के लिए एक क्लर्क को वेतन दिया जाता है। यदि उत्पादन के बन्द होने के साथ ही साथ उसकी नौकरी भी समाप्त कर दी जाती है तो यह लागत प्रमुख लागत (Prime Cost) होगी और यदि उसकी नौकरी नहीं समाप्त की जाती तो यह लागत पूरक लागत (Supplementary) होगी।

(ii) इकाई-लागत
(Unit Cost)

'कुल उत्पादन लागत' का विभाजन 'कुल निश्चित लागत' तथा 'कुल परिवर्तनशील लागत' में किया जा सकता है। इन लागतों पर उत्पादन की मात्रा का प्रभाव पड़ता है। 'कुल लागतों' की जानकारी उत्पादक के लिए अति आवश्यक है। परन्तु प्रति इकाई लागत (per unit cost) की जानकारी कुल लागतों की जानकारी की अपेक्षा अधिक उपयोगी है। अतः हम अब इकाई लागतों का अध्ययन करेंगे।

प्रति इकाई लागत ज्ञात करना (Finding Unit Cost) :

प्रति इकाई लागत ज्ञात करने के लिए कुल लागत में उत्पादित इकाइयों की संख्या से भाग दे देते हैं। अग्रलिखित सारिणी द्वारा विभिन्न प्रकार की 'इकाई लागतों' को ज्ञात करने की विधि पर प्रकाश पड़ता है :

9."Prime costs relatively to long periods becomes supplementary costs relatively to short periods." —*Marshall*

प्रति इकाई अल्पकालीन लागतें (रुपयों में)

उत्पादन (output)	कुल निश्चित लागत (TFC)	परिवर्तनशील लागत (TVC)	औसत निश्चित लागत (AFC)	औसत परिवर्तन शील लागत (AVC)	औसत कुल लागत (ATC)	सीमान्त लागत (MC)
1	100	20	100	20	120	
2	100	38	50	19	69	18
3	100	53	33	18	51	15
4	100	64	25	16	41	11
5	100	75	20	15	35	11
6	100	86	16	16	32	21
7	100	128	14	18	32	32
8	100	172	12	21	34	44
9	100	233	11	26	37	61
10	100	300	10	30	40	67

उपरोक्त सारिणी से स्पष्ट है कि विभिन्न प्रकार की प्रति इकाइ लागतें किस प्रकार ज्ञात की जाती हैं। इन इकाई लागतों का विवरण निम्नलिखित है

(1) औसत निश्चित लागत (*Average Fixed Cost*) :

उपरोक्त सारिणी में औसत निश्चित लागत दूसरे खाने में दिखायी गई है। यह कुल निश्चित लागत में उत्पादित इकाइयों से भाग देने से प्राप्त होती है चू कि कुल निश्चित लागत में उत्पादित इकाइयों का भाग देते हैं इसलिए उत्पादन के बढ़ने के साथ ही साथ औसत निश्चित लागत घटती जाती है। यही कारण है कि आरम्भ में जब उत्पादन कम होता है तो औसत निश्चित लागत अधिक होती है। उत्पादन के बढ़ने के साथ ही आरम्भ में यह लागत शीघ्रता से घटती है। बाद में धीरे धीरे घटती है।

(2) औसत परिवर्तन लागत (*Average Variable Cost*) :

यह लागत कुल परिवर्तनशील लागत में उत्पादन का भाग देने से प्राप्त होती है। ज्यों ज्यों उत्पादन बढ़ता जाता है, यह लागत कम होती जाती है। यह कमी उस बिन्दु तक होती है जहा तक फर्म सबसे अधिक कार्यशील होती है। इसके पश्चात् यह ऊपर उठना आरम्भ होती है। इसलिए औसत परिवर्तनशील लागत वक्र का आकार अंग्रेजी के '*U*' की भांति होता है।

(3) कुल औसत लागत (Average Total Cost) :

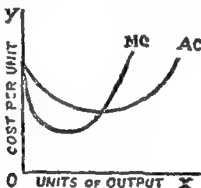
जैसा बतलाया जा चुका है, यह लागत कुल लागत मे उत्पादन की कुल इकाइयो मे विभाजित करने से प्राप्त होती है। दूसरे शब्दो मे यह लागत औसत निश्चित लागत और औसत परिवर्तनशील लागत का योग होती है। कुल औसत लागत मे औसत निश्चित लागत और औसत परिवर्तनशील लागत सम्मिलित रहती है। 'कुल औसत लागत' को 'औसत लागत' (Average Cost) भी कहते हैं। ज्यों-ज्यों उत्पादन मे वृद्धि होती जाती है, औसत निश्चित लागत कम होती जाती है। औसत परिवर्तनशील लागत मे भी आरम्भ मे कमी होती है, परन्तु जब उत्पादन एक निश्चित सीमा तक पहुच जाता है तब औसत परिवर्तनशील लागत मे वृद्धि हो जाती है। इसका प्रभाव यह पडता है कि जब उत्पादन उस सीमा तक पहुच जाता है जबकि औसत परिवर्तनशील लागत मे वृद्धि होने लगती है, तब कुल औसत लागत मे कमी होती है।

(4) सीमात लागत (Marginal Cost)

यह वह लागत है जिस पर उत्पादक वस्तु की एक इकाई कम या अधिक उत्पन्न करता है। दूसरे शब्दो मे उत्पादित वस्तुओ की अंतिम इकाई की लागत को सीमांत लागत कहते हैं। उदाहरण के लिए, यदि एक उत्पादक किसी वस्तु की 20 इकाइयों का उत्पादन करता है तो 20वी इकाई का जो उत्पादन-व्यय होगा उसे सीमान्त उत्पादन व्यय कहेगे। सीमात उत्पादन व्यय को हम एक दूसरे प्रकार से भी प्रकट कर सकते हैं। सीमान्त लागत वह अतिरिक्त लागत है जिसके द्वारा एक अतिरिक्त इकाई के पैदा करने से कुल व्यय मे वृद्धि होती है, जैसे एक व्यक्ति 50 वस्तुओं का उत्पादन करता है तथा उनके उत्पादन मे 200 रु० व्यय होता है। अब यदि वह 51 वस्तुओ का उत्पादन करे और कुल लागत व्यय 205 रु० होती है तो यह अतिरिक्त 5 रु० सीमान्त लागत हुई।

मूल्य निर्धारण मे 'सीमान्त लागत' का अत्यन्त ही महत्व है। उत्पादक को बाजार मूल्य को ध्यान मे रखते हुए यह निश्चय करना पडता है कि उत्पादन की मात्रा कितनी रखी जाय। जिस समय तक वस्तु का मूल्य 'सीमान्त लागत' से अधिक है उस समय तक उत्पादक उत्पादन मे वृद्धि करने का प्रयत्न करेगा। वह उत्पादन वृद्धि उस समय तक करता जाएगा, जब तक कि वस्तु का बाजार मूल्य 'सीमान्त लागत' के बराबर नही हो जाता। जिस सीमा पर बाजार मूल्य तथा 'सीमान्त उत्पादन व्यय' बराबर हो जायेंगे उस सीमा के बाद उत्पादन मे वृद्धि नहीं की जायेगी। यदि उत्पादक इसके बाद भी वृद्धि करता है तो उसे हानि होगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्पादक की मात्रा निश्चित करने मे सीमान्त उत्पत्ति लागत का प्रमुख हाथ है।

'औसत लागत' तथा 'सीमान्त लागत' मे सम्बन्ध (Average and Marginal Cost relationship) - औसत लागत तथा सीमान्त लागत मे सम्बन्ध है, जिसे निम्नलिखित रूप म प्रकट किया जा सकता है (i) आरम्भ मे औसत लागत तथा सीमान्त लागत दोनो गिरती हैं, परन्तु सीमान्त लागत औसत लागत की अपेक्षा तीव्र गति मे गिरती है, (ii) उत्पादन मे कोई ऐसा बिन्दु अवश्य आता है, जहा पर औसत लागत सीमान्त लागत के बराबर होती है, (iii) जहा पर औसत लागत और सीमान्त लागत बराबर होती है उसके बाद दोनो बढना प्रारम्भ करती हैं परन्तु सीमान्त लागत, औसत लागत की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से बढती है। सीमान्त तथा औसत लागत का यह सम्बन्ध निम्नलिखित रेखाचित्र मे स्पष्ट है



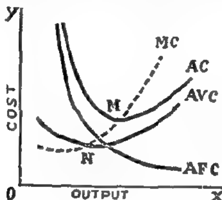
चित्र स० 51

प्रस्तुत चित्र मे AC औसत लागत रेखा है और MC सीमान्त लागत रेखा है। जिस बिन्दु पर दोनो रेखाय मिलती हैं उसके पश्चात् सीमान्त लागत रेखा औसत लागत रेखा की अपेक्षा अधिक तेजी से उठती है।

(iii) इकाई लागतो का रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण

'औसत लागत', 'औसत निश्चित लागत', 'औसत परिवर्तनशील लागत' तथा 'सीमान्त लागत' के पारस्परिक सम्बन्धो का अध्ययन रेखा चित्र स० 51 द्वारा किया जा सकता है। (चित्र के सम्बन्ध मे यह स्मरणीय है कि कोई भी प्रति इकाई लागत रेखा Y–अक्ष को स्पर्श नही करती, क्योकि उत्पादन शून्य होने की अवस्था म प्रति इकाई लागत का प्रश्न ही नही उठता)। *OX*—अक्ष पर उत्पादन की विभिन्न मात्राए तथा *OX*—अक्ष पर प्रति इकाई लागत दिखलाई गयी है। *AFC* औसत स्थायी लागत (Average Fixed Cost) रेखा है जो उत्पादन के बढने के साथ-साथ नीचे गिरती गई है। *AVC* औसत परिवर्तनशील लागत (Average Variable Cost) रेखा है। यह रेखा प्रारम्भ म गिरती और बाद मे उठना प्रारम्भ

करती है। AC औसत लागत रेखा है जो पहले गिरती है, तद्पश्चात् वह ऊपर उठना प्रारम्भ होती हैं। इस रेखा पर निम्नतम विन्दु (*M*) *AVC* के निम्नतम विन्दु (*N*) की दायी ओर पडता है। निम्नतम विन्दु के पश्चात् *AVC* उठना प्रारम्भ होती है, परन्तु *AFC* गिरती है। इसके पश्चात् *AVC* लगातार बढती गयी है तथा *AFC* के गिरने की गति धीमी होती गयी है। यहा पर यह ध्यान रखना चाहिए कि *AVC* की वृद्धि दर से *AFC* की गिरने की गति की दर अधिक है।



चित्र स० 52

फलस्वरूप *AC* ऊपर उठती गई है। *MC* सीमान्त लागत रेखा है। प्रारम्भ में सीमान्त लागत घटती है, उसके बाद उसमे वृद्धि होना प्रारम्भ होती है। यही कारण है कि *MC* रेखा प्रारम्भ मे नीचे की ओर गिरती है, उसके पश्चात् वह ऊपर की ओर उठती है। यह रेखा *AC* तथा *AVC* (Average Cost तथा Average Variable Cost) की रेखाओं को उनके निम्नतम विन्दुओं (Lowest points) (M तथा N) पर काटती है।

उपरोक्त रेखाचित्र के आधार पर, हम सीमान्त-लागत-सम्बन्धी निम्नलिखित विशेषताओं को पाते हैं, जिनका ध्यान रखना आवश्यक है।

(1) सीमान्त लागत का स्थायी लागत (Fixed Cost) से कोई सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि उत्पादन मे वृद्धि के साथ स्थायी लागत में कोई वृद्धि नही होती। सीमान्त लागत का सम्बन्ध कुल लागत में वृद्धि से है, क्योंकि उत्पादन मे वृद्धि होने पर कुल लागत मे वृद्धि होती है।

(2) एक ही सीमान्त लागत का सम्बन्ध कुल परिवर्तनशील लागत (Total Variable Cost) तथा कुल लागत मे होता है। इसका कारण यह है कि कुल परिवर्तनशील लागत की अपेक्षा कुल लागत मे वृद्धि स्थायी लागत मे वृद्धि के द्वारा होती है। परन्तु इस वृद्धि के द्वारा सीमान्त लागत मे वृद्धि नही होती। फलस्वरूप

उत्पादन की इकाई मे वृद्धि के साथ जब कुल लागत मे वृद्धि होती है, तब यह वृद्धि परिवर्तनशील लागत के बराबर होती है। अन्त सीमान्त लागत कुल प्रमुख लागत तथा कुल लागत के आकार पर निर्भर करती है।

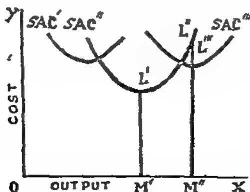
(3) सीमान्त लागत और औसत प्रमुख लागत तथा औसत कुल लागत का सम्बन्ध भी स्पष्ट है। इसमे प्रमुख सम्बन्ध यह है कि जब MC (Marginal Cost) *AVC* (Average Variable cost) तथा *ATC* (Average Total Cost) से कम रहती है, तो अन्तिम दो (*AVC* तथा *ATC*) को व्यक्त करने वाली रेखाए नीचे की ओर गिरती है, तथा जब *MC, AVC* और *ATC* से अधिक रहती है तो *AVC* और *ATC* रेखाए ऊपर की ओर उठती हैं।

3 दीर्घकाल मे लागत
(Costs in the long run)

अल्पकालीन लागतो के अध्ययन के पश्चात् अब हम दीर्घकाल के संदर्भ में लागतो का अध्ययन करेंगे । फर्में अल्पकालीन लागतो पर विशेष ध्यान देती हैं, क्योकि फर्मो के आर्थिक कार्य मुख्यतः अल्पकाल से सम्बन्धित होते हैं। कीन्स ने कहा है कि 'दीर्घकाल' मे हम सभी मर जाएगे (In the long run, we will all be dead)। फिर भी उत्पादक भविष्य की आशाओ तथा सम्भावनाओ को ध्यान म रख कर ही निर्णय लेता है (विशेषत फर्म के आकार के सम्बन्ध मे)। इस प्रकार यदि अल्पकाल का सम्बन्ध आर्थिक कार्यों (Economic action) से है, तो दीर्घकाल का सम्बन्ध आर्थिक निर्णयो (Decisions) से है। अत यहाँ पर 'दीर्घकाल मे लागतो' का संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत किया जायेगा।

1. दीर्घकालीन औसत लागत वक्र (Long Run Average Cost Curves) :

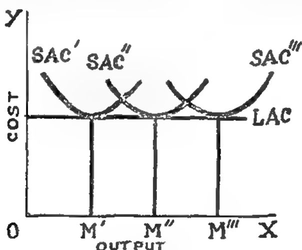
दीर्घकाल मे फर्म के आकार मे परिवर्तन किया जा सकता है। उत्पादक विभिन्न मानाओ मे उत्पादन कर इस बात का पता लगाता है कि उत्पादन की किस



चित्र स० 53

मात्रा पर उत्पादन लागत न्यूनतम होगी। यहाँ पर यह स्मरणीय है कि दीर्घकाल में उत्पादन के निश्चित साधनों (Fixed factors) में भी परिवर्तन किया जा सकता है, अतः दीर्घकाल में उत्पादन के समस्त साधन परिवर्तनशील (Variable) होते हैं। दीर्घकाल की अवधि जितनी ही अधिक लम्बी होगी 'निश्चित लागतें 'परिवर्तनशील लागतों' में परिवर्तित होती जाएँगी। दीर्घकाल में उत्पादन-साधनों के अपेक्षित संयोग से उत्पादन करना सम्भव होता है, अर्थात् 'उत्पादन मान' (Scale of Production) में सरलता से परिवर्तन किया जा सकता है। उत्पादन की मात्रा में जितनी बार परिवर्तन किया जाएगा, उतनी ही बार फर्म के लिए नए अल्पकालीन लागत-वक्र प्राप्त होंगे। रेखा चित्र स० 54 इस तथ्य को स्पष्ट करता है :

चित्र में फर्म का अल्पकालीन लागत वक्र SAC" है, M'L' लागत पर उत्पादन की अनुकूलतम मात्रा OM' है। यदि उत्पादन की मात्रा बढ़ाकर OM' कर दी जाए (अल्प काल) तो औसत लागत M"L" होगी (SAC" लागत-वक्र पर)। (इसका कारण यह है कि अल्पकाल में उत्पादन मान निश्चित है, तथा प्लांट आदि की संख्या में वृद्धि नहीं की जा सकती है)। परन्तु दीर्घकाल में प्लांट आदि की



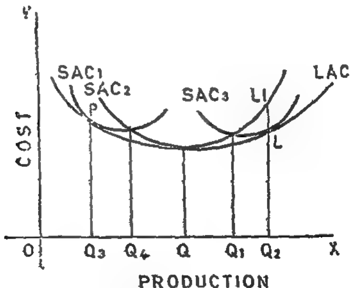
चित्र स० 54

संख्या तथा क्षमता में परिवर्तन किया जा सकता है। अतः उत्पादन-मान बढ़ाने पर नया अल्पकालीन औसत वक्र SAC" प्राप्त होगा (OM" मात्रा ■ उत्पादन के लिए)। अब OM" अनुकूलतम उत्पादन पर लागत M"L" होगी। (फर्म के आकार में परिवर्तन करने से लागत M"L" से घटकर M"L" हो जाएगी) अतः स्पष्ट है कि विभिन्न उत्पादन मानों पर फर्म को बढ़ती हुई तथा घटती हुई लागतों

का सामना करना पड़ेगा। दीर्घकाल में फर्म के आकार में परिवर्तन के कारण औसत लागत कम होगी।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि अल्पकाल तथा दीर्घकाल में औसत लागत में परिवर्तन होता रहता है। यह सम्भव है कि दीर्घकाल में उत्पादन समता नियम (Constant Returns) के अनुसार उत्पादन हो, अर्थात विभिन्न मात्राओं में उत्पादन के लिए प्लाट के आकार में परिवर्तन किया जाए तथा इस परिवर्तन के फलस्वरूप, औसत लागत समान रहे।

चित्र स० 55 में उपरोक्त तथ्यों को प्रदर्शित किया गया है SAC', SAC'', तथा SAC''' अल्पकालीन औसत लागत वक्र हैं। उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन करने से इन लागत वक्रों पर उत्पादन की मात्राएं क्रमश OM', OM'' तथा OM''' है। तीनों अल्पकालीन औसत लागत वक्रों की स्पर्श रेखा (Tangent) खींचने पर 'दीर्घकालीन औसत लागत वक्र' LAC प्राप्त होता है। यह एक सीधी रेखा है, जो यह प्रकट करती है कि उत्पादन-मान में परिवर्तन करने से औसत लागत में परिवर्तन नहीं होगा।

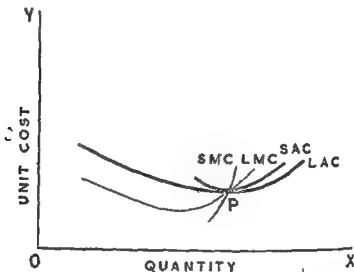


चित्र स० 55

परन्तु औसत लागत को सदैव समान मान लेना व्यावहारिक दृष्टि से उचित नहीं है। व्यवहार में उत्पादन-साधनों की लागतों में परिवर्तन (variation) होता रहता है। अत. दीर्घकालीन औसत लागत वक्र' को एक सीधी रेखा मान लेना कोरी कल्पना मात्र है, अर्थात् 'अल्पकालीन औसत लागत वक्रों' की स्पर्श-रेखाएं एक सीध

म नहीं हो सकती है । 'दीर्घकालीन औसत लागत वक्र' भी अल्पकालीन औसत लागत वक्रो की भाति U के सदृश होगा । रेखा चित्र स० 56 मे 'अल्पकालीन औसत लागत वक्रो (SAC_1, SAC_2 SAC_3,) की एक स्पर्श रेखा (सभी अल्पकालीन औसत लागत वक्रो के निम्नतम बिन्दुओ को स्पर्श करती हुई) खीची गई है, इस प्रकार दीर्घकालीन औसत लागत वक्र LAC बनता है ।

चित्र से स्पष्ट है कि SAC_1, SAC_2, तथा SAC_3, अल्पकालीन औसत लागत वक्र विभिन्न उत्पादन मान की अवस्थाओ को प्रकट करते हैं । OQ_3, OQ तथा OQ_2 मात्राए विभिन्न औसत लागतो पर पैदा की जा रही है । OQ मात्रा निम्नतम लागत पर पैदा की जा रही है । ये तीनो मात्राए 'दीघकालीन औसत लागत वक्र' (LAC) पर भी है । उत्पादन-मान मे परिवर्तन करने से, तीनो अवस्थाए



चित्र स० 56

पाई गई हैं जो तीनो अल्पकालीन औसत लागत वक्रो द्वारा प्रदर्शित की गई हैं । चित्र स० 56 से स्पष्ट है कि दीघकालीन औसत लागत वक्र भी अल्पकालीन औसत लागत वक्रो की भाति U की शक्ल का है, परन्तु इसका फैलाव अल्पकालीन औसत लागत वक्रो की अपेक्षा अधिक है । दीघकालीन औसत लागत वक्र को 'Envelope Curve' भी कहते हैं, क्योकि यह सभी 'अल्पकालीन औसत लागत वक्रो' को अपने मे समाहित कर लेता है । 'दीर्घकालीन औसत लागत' की ये विशेषताए उल्लेखनीय हैं -

(i) दीर्घकालीन औसत लागत कभी भी अल्पकालीन औसत लागत से अधिक नही हो सकती हैं, (ii) दीर्घकालीन औसत लागत वक्र अल्पकालीन

औसत लागत वक्रों को कभी भी काटता नहीं है, (iii) दीर्घकालीन औसत लागत वक्र का न्यूनतम बिन्दु निम्नतम लागत तथा फर्म के अनुकूलतम आकार को प्रकट करता है

2. दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र (*Long-run Marginal Cost Curve*) :

'दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र' तथा 'अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्र' में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। अल्पकाल में, कुल परिवर्तनशील लागत (AVC) की परिवर्तित मात्रा में उत्पादन की परिवर्तित मात्रा से भाग देने पर सीमान्त लागत ज्ञात की जाती है। परन्तु दीर्घकाल में 'निश्चित लागत' तथा 'परिवर्तनशील लागत' का भेद समाप्त हो जाता है। अतः दीर्घकाल में सीमान्त लागत उत्पादन की मात्रा में एक इकाई वृद्धि करने से, कुल लागत में हुई वृद्धि के बराबर होती है। दीर्घकाल में भी औसत लागत तथा सीमान्त लागत में वही सम्बन्ध रहते हैं जो अल्पकाल में होते हैं। अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र—दोनों *U* शक्ल के होते हैं। दीर्घकालीन औसत लागत के निम्नतम बिन्दु पर, दीर्घकालीन सीमान्त लागत, औसत लागत के बराबर होती है। इस निम्नतम बिन्दु पर दीर्घकालीन औसत लागत, अल्पकालीन औसत लागत, दीर्घकालीन सीमान्त लागत तथा अल्पकालीन सीमान्त लागत—सभी बराबर होती हैं। चित्र स० 56 इस तथ्य को प्रकट करता है।

चित्र से स्पष्ट है कि बिन्दु P पर अल्पकालीन, व दीर्घकालीन सीमान्त तथा औसत लागतें समान हैं।

प्रश्न व संकेत

1 लागतों की प्रकृति की संक्षेप में व्याख्या कीजिए तथा दिखलाइए कि अल्प काल में औसत लागत, सीमान्त लागत, औसत आय तथा सीमान्त आय का व्यवहार कैसा होता है?

(*Sagar B Com Part I, 1964*)

[संकेत प्रथम भाग में लागतों की प्रकृति समझाने के लिए मौद्रिक लागत, तथा संक्षेप में परिवर्तनशील और स्थिर लागतों का आशय स्पष्ट कीजिए। द्वितीय भाग में औसत लागत, सीमान्त लागत तथा औसत आय तथा सीमान्त आय का *अर्थ बताइए और अल्प काल में इनकी रेखाओं के आकार का स्पष्टीकरण कीजिए।*]

2 एक फर्म के औसत तथा सीमान्त आगमों के बीच अन्तर बताइए। पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत इनका वस्तु के मूल्य से क्या सम्बन्ध होता है?

(Agra B A., II 1960)

[संकेत . सर्व प्रथम औसत तथा सीमान्त आय का आशय रेखाचित्रों की सहायता से स्पष्ट कीजिए। इसके बाद समझाइए कि पूर्ण प्रतियोगिता में औसत आय सीमान्त आय के बराबर होती है।]

3. वास्तविक लागत तथा अवसर लागत में अन्तर बताइए तथा अवसर लागत के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।

(Raj, T. D. C Com., 1967; Agra, B. Com. I, 1960)

[संकेत : सर्व प्रथम प्रतिष्ठावादी अर्थशास्त्रियों के वास्तविक लागत के विचार को स्पष्ट कीजिए। इसके बाद इसकी कमियां बताते हुए आधुनिक अर्थशास्त्रियों के विचार बताइए। इसके पश्चात् अवसर लागत का आशय स्पष्ट कीजिए तथा इसके महत्व और सीमाओं का विवेचन कीजिए।

समस्याएं (Problems)

1 निम्न में से बताइए कि अल्पकाल में ये निश्चित लागतें होंगी या परिवर्तनशील लागतें होंगी—

(i) बिक्री कर (ii) सम्पत्ति कर (iii) कारखाने का किराया (iv) अतिरिक्त वस्तुएं खरीदने हेतु लिये गये ऋण पर ब्याज (v) अग्नि बीमा (vi) माल की विक्रय लागत (vii) कम्पनी के अध्यक्ष का वेतन

2 एक फर्म के किसी विशेष प्लान्ट पर 4000 रुपये प्रतिदिन स्थायी लागत आती है। कुल परिवर्तनशील लागत उत्पादन की अतिरिक्त इकाइयों पर (प्रतिदिन) इस प्रकार है—

उत्पादन इकाइयां	परिवर्तनशील लागत	उत्पादन इकाइयां	परिवर्तनशील लागत
1	2000 रु०	6	4000 रु०
2	2500 रु०	7	4500 रु०
3	2750 रु०	8	5500 रु०
4	3000 रु०	9	7500 रु०
5	3500 रु०	10	15000 रु०

उपरोक्त से औसत स्थायी लागत, औसत परिवर्तनशील लागत, औसत लागत और सीमान्त लागत निश्चित कीजिए और उन्हें ग्राफ पर चित्रित कीजिए।

3 एक फर्म में परिवर्तनशील उत्पादन साधनों जिनकी लागत 50 रु० प्रति इकाई है, अतिरिक्त इकाइयां लगाने पर उत्पादन मात्रा में निम्न प्रकार परिवर्तन होता है—

उत्पादन साधन की इकाई	कुल उत्पादन	उत्पादन साधन की इकाई	कुल उत्पादन
1	8	5	60
2	20	6	63
3	45	7	64
4	54		

उपरोक्त सूचना के आधार पर उत्पादन की प्रति इकाई औसत परिवर्तनशील लागत निश्चित कीजिए।

22

पूर्ति अथवा संभरण
(Supply)

"The behaviour of producers (businessmen) in making available quantities of want-satisfying goods and services assumes a vital economic significance."

—A L Gitlow

1. पूर्ति का अर्थ (Meaning of Supply)

पूर्ति का अर्थ किसी वस्तु अथवा सेवा की उस मात्रा से है जो उत्पादकों द्वारा एक समय विशेष में विभिन्न मूल्यों पर बाजार में बिक्री के लिए प्रस्तुत की जाती है। Meyers के अनुसार, "हम पूर्ति को किसी वस्तु की उन मात्राओं की सूची के रूप में परिभाषित कर सकते हैं, जो किसी समय विशेष पर अथवा किसी अवधि-विशेष; जैसे एक दिन, एक सप्ताह आदि में, जिसमें पूर्ति की दशाएं यथावत् रहती हैं, सभी सम्भव मूल्यों पर विक्रय के लिए प्रस्तुत की जाएंगी।"[1]

पूर्ति की उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि माग की गयी मात्रा की तरह पूर्ति की मात्रा भी मूल्य का फलन (function) है। माग की तरह यह भी समय तथा मूल्य के साथ परिवर्तित होती है। वस्तुतः पूर्ति माल के स्टॉक से भिन्न है। पूर्ति का अभिप्राय किसी वस्तु की उस मात्रा से है जो बाजार में बिक्री के लिए वास्तव में लायी जाती है, परन्तु स्टॉक का अर्थ वस्तु की उस मात्रा से है जो बिक्री के लिए अल्पावधि की सूचना पर बाजार में प्रस्तुत की जा सकती है।

[1] "We may define supply as a schedule of the amount of a goods that would be offered for sale at all possible prices at any one instant of time, or during any one period of time, for example a day, a week and so on, in which the conditions of supply remain the same." —*Meyers*

2 पूर्ति का नियम (The Law of Supply)

माग के सामान्य नियम की तरह पूर्ति का सामान्य नियम भी वस्तु तथा सेवा की मात्रा तथा उसके मूल्य के फलनीय सम्बन्ध (functional relationship) को प्रकट करता है। माग तथा पूर्ति के सामान्य नियमो मे आधारभूत अन्तर यह है कि जबकि मूल्य कम होने पर माग की मात्रा मे वृद्धि होती है, पूर्ति की मात्रा मूल्य मे वृद्धि होने पर बढती है। इस प्रकार पूर्ति का सामान्य नियम यह बतलाता है कि मूल्य अधिक होने पर पूर्ति की मात्रा अधिक होगी, तथा मूल्य कम होने पर पूर्ति की मात्रा कम होगी।

पूर्ति का नियम मूल्य तथा मात्रा के मध्य सकारात्मक सम्बन्ध (Positive Relation) निर्धारित करता है। इसका कारण यह है कि किसी वस्तु की पूर्ति उस मूल्य पर निर्भर है जो उत्पादक उसके लिए प्राप्त कर सकते है। उत्पादकों द्वारा अधिक मात्रा मे वस्तु का उत्पादन किए जाने पर उत्पादन-लागत बढती है (सामान्यत)। अत अधिक मूल्य प्राप्त होने पर ही उत्पादक अधिक मात्रा मे वस्तुओं का उत्पादन कर सकते है। यदि मूल्य मे वृद्धि होती है, तो उत्पादन अधिक लाभकारी होता है और पूर्ति मे भी वृद्धि होती है। इसके विपरीत यदि मूल्य मे कमी होती है तो अतिरिक्त उत्पादन-लागत न मिलने के कारण उत्पादन-मात्रा कम हो जाती है, जिसके फलस्वरूप पूर्ति की मात्रा मे भी कमी आ जाती है।

3. पूर्ति के निर्धारक तत्व (Determinants of Supply)

लिप्से (Lipsey)[1] के अनुसार किसी वस्तु की वह मात्रा, जिसका उत्पादक उत्पादन तथा विक्रय करना चाहेगे, निम्नलिखित बातों पर निर्भर हैं :

(1) वस्तु विशेष के मूल्य का प्रभाव : अन्य बातो के समान रहने पर, किसी वस्तु का मूल्य जितना ही अधिक होगा, उस वस्तु का उत्पादन उतना ही अधिक लाभप्रद होगा। अतः मूल्य अधिक होने पर पूर्ति भी अधिक होती है।

(2) अन्य वस्तुओ के मूल्यो का प्रभाव . किसी वस्तु की पूर्ति अन्य वस्तुओ के मूल्यो से प्रभावित होती है। सामान्यतः अन्य वस्तुओ के मूल्य मे वृद्धि के फलस्वरूप उत्पादक उस वस्तु के उत्पादन के लिए पहले की तरह प्रोत्साहित नही होते जिसके मूल्य मे वृद्धि नही होती। अत अन्य बातो के समान रहने पर, अन्य वस्तुओं के मूल्यो मे वृद्धि होने पर, किसी ऐसी वस्तु की पूर्ति (जिसका मूल्य अपरिवर्तित है) कम होगी।

(3) उत्पादन-साधनों के मूल्यों का प्रभाव . उत्पादन के किसी साधन के मूल्य मे वृद्धि होने पर, यदि वस्तु-विशेष के उत्पादन मे उस साधन का अधिक मात्रा मे प्रयोग मे लाया जाता है, तो उस वस्तु की उत्पादन-लागत मे अधिक वृद्धि हो

---

1 *Richard G. Lipsey*, An Introduction to Positive Economics, pp 68–69.

जाती है। इसके विपरीत यदि उस साधन का प्रयोग कम होता है, तो उत्पादन लागत मे कम वृद्धि होती है। उदाहरणार्थ, भूमि के मूल्य मे वृद्धि होने पर उसका प्रभाव गेहूँ के उत्पादन पर अधिक पडेगा, जबकि मोटर गाडियो की उत्पादन-लागत पर बहुत ही कम प्रभाव पडेगा। इस प्रकार उत्पादन के किसी एक साधन का मूल्य-परिवर्तन उत्पादन की विभिन्न दिशाओ की सापेक्ष लाभदायकता (Relative Profitability) मे भी परिवर्तन लायेगा। परिणामस्वरूप उत्पादक एक उत्पादन दिशा से किसी अन्य दिशा की ओर अग्रसर होने लगेगे। इस प्रकार विभिन्न वस्तुओ की पूर्ति मे भी परिवर्तन होने लगेंगे।

(4) उत्पादन की तकनीकी विधि मे परिवर्तन उत्पादन की वर्तमान विधियो मे तकनीकी विकास होने पर, चाहे उत्पादित वस्तु का मूल्य अपरिवर्तित ही क्यो न रहे, उत्पादक उत्पादन की मात्रा बढाने तथा उसे बेचने के लिए प्रेरित होते हैं।

(5) उत्पादको की रुचियो का प्रभाव. किसी वस्तु की उत्पादन-मात्रा उत्पादको की रुचियो पर निर्भर है। यदि उत्पादक किसी वस्तु-विशेष के उत्पादन मे ही विशेष रुचि लेते हैं तथा किसी अन्य वस्तु के उत्पादन के प्रति अनिच्छुक होते हैं, तो यह स्वाभाविक है कि उत्पादको द्वारा प्रथम वस्तु का उत्पादन अधिक मात्रा मे किया जायगा।

4 पूर्ति की सूची (Supply Schedule)

एक ऐसी तालिका, जो विभिन्न मूल्यो पर किसी वस्तु की पूर्ति की मात्रा को व्यक्त करती है, पूर्ति की सूची कहलाती है। इस सूची का निर्माण करते समय यह मान लिया जाता है कि पूर्ति को प्रभावित करने वाले अन्य तत्व अपरिवर्तित रहते है। यदि इस प्रकार की तालिका एक विक्रेता द्वारा विभिन्न मूल्यो पर प्रस्तुत की जाने वाली वस्तु की मात्राओ से तैयार की जाती है, तो उसे **व्यक्तिगत पूर्ति सूची** (Individual's Supply Schedule) कहा जाता है। किसी वस्तु बाजार मे विभिन्न उत्पादक विक्रेताओं द्वारा बिक्री के लिए प्रस्तुत की गयी मात्राओं के योग से तैयार की गयी तालिका **बाजार की पूर्ति-सूची** (Supply Schedule of the Market) कहलाती है। एक व्यक्तिगत पूर्ति सूची नीचे दी जा रही है:

पूर्ति सूची

मूल्य (प्रति इकाई) रु०	पूर्ति (व्यक्तिगत विक्रेता द्वारा) इकाइयां	समस्त विक्रेताओं द्वारा
6	12	1,200
5	10	1,000
4	[illegible]	800
3	6	600
2	4	400
1	2	200

उपर्युक्त सूची से स्पष्ट है कि जब प्रति इकाई मूल्य 6 रु० है तो व्यक्तिगत उत्पादक अथवा विक्रेता बाजार में 12 इकाइयां बेचने के लिए प्रस्तुत करता है। बाजार-पूर्ति को व्यक्त करने वाले खाने (Column 3) को देखने पर भी यह स्पष्ट है कि अधिकतम मूल्य (6 रु०) पर अधिकांश उत्पादक अधिकतम मात्रा में (1,200 इकाइयां) वस्तु की पूर्ति करते हैं। इनसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे उत्पादक जो अभी तक इस वस्तु विशेष के उत्पादन में सलग्न नहीं थे, अब लाभ प्राप्त करने की आशा से उसके उत्पादन एवं पूर्ति में सलग्न हो गए हैं। उपर्युक्त सूची से यह ज्ञात होता है कि मूल्य के गिरने पर पूर्ति की मात्रा घटती जाती है। यहां तक कि जब मूल्य घटकर 1 रुपया हो जाता है तब पूर्ति की मात्रा न्यूनतम, अर्थात् 2 अथवा 200 इकाइयां, ही रह जाती हैं। इसका अर्थ यह है कि बहुत से उत्पादक इस मूल्य पर अपने उत्पादन व्यय की पूर्ति करने में भी असमर्थ हैं। अतः उन्होंने इस वस्तु विशेष का उत्पादन करना स्थगित कर दिया है, जिससे बाजार से उस वस्तु की मात्रा कम हो गयी है।

5 पूर्ति-वक्र (Supply Curve)

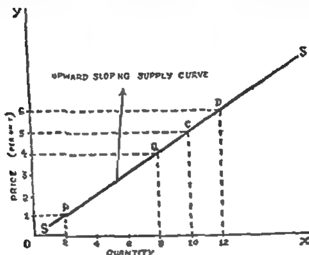
पूर्ति के अन्य निर्धारक तत्वों के समान रहने पर, मूल्य और पूर्ति की मात्रा के मध्य सम्बन्ध को प्रदर्शित करने वाला वक्र पूर्ति वक्र कहलाता है।[4] सैमुएलसन के अनुसार, 'पूर्ति सूची' या 'वक्र' का तात्पर्य उस सम्बन्ध से है जो बाजार मूल्यों तथा उन मात्राओं के, जिनकी पूर्ति उत्पादक करने के लिए तत्पर हैं, मध्य होता है।"[5] पूर्ति सूची के संमकों को रेखाचित्र में अंकित करने पर पूर्ति-वक्र SS पृष्ठ 421 पर दिए गए चित्र के अनुसार होगा। OX-अक्ष वस्तु की मात्राएं तथा OY-अक्ष प्रति इकाई मूल्य व्यक्त करता है। पूर्ति-वक्र को देखने पर ज्ञात होता है कि सामान्यतः उसका ढाल (slope) ऊपर की ओर दक्षिण पश्चिम से उत्तर-पूर्व को दाहिनी तरफ होता है (normally rises upward and to the right, from south west to north east)। इसका कारण यह है कि जैसे जैसे वस्तु की प्रति इकाई (Quantity) के बाजार मूल्य में वृद्धि होती जाती है, उत्पादक वैसे-वैसे पूर्ति की मात्राओं को बढ़ाता जाता है। एक रुपया प्रति इकाई मूल्य पर वह केवल वस्तु की दो इकाइयां बेचने के लिए तत्पर होता है, परन्तु जब बाजार-मूल्य 4, 5 अथवा 6 रुपया प्रति इकाई हो

[4] "The supply curve shows the relationship between price and quantity supplied under the assumption that the other determinants of supply are constant." —*Ferguson Kreps*

[5] "By the *supply schedule* or *curve* is meant the relation between market prices and the amounts that *producers are* willing to supply." —*Samuelson*

जाता है तब वह बाजार मे क्रमश: 8, 10 या 12 इकाइया प्रस्तुत करने के लिए तत्पर होता है।

व्यक्तिगत उत्पादक फर्म का पूर्ति वक्र यह प्रदर्शित करता है कि वह विभिन्न मूल्यो पर वस्तु की कितनी मात्राए बेचने के लिए तत्पर है। बाजार पूर्ति वक्र (Market Supply Curve or Supply Curve of an industry) यह प्रदर्शित



चित्र स० 57

करता है कि विभिन्न मूल्यो पर किसी उद्योग मे लगी उत्पादक फर्मों द्वारा बिक्री के लिए प्रस्तुत की गयी वस्तुओ की कुल मात्राए क्या होगी। दोनो ही स्थितियो मे, यदि बाजार मूल्य के अतिरिक्त पूर्ति के अन्य निर्धारक तत्व अपरिवर्तित रहे, तो पूर्ति-वक्र समान स्वरूप वाले होते हैं।

6 पूर्ति तथा माग वक्रों का पारस्परिक सम्बन्ध

पूर्ति मूल्य उत्पादन लागत पर आधारित है। कोई भी उत्पादक सामान्यत इस लागत से कम मूल्य पर अपनी वस्तु बिक्री के लिए प्रस्तुत नही करना चाहेगा। इस प्रकार प्रत्येक उत्पादक एक आरक्षित मूल्य (Reserve Price) निश्चित कर लेता है, जिसको निर्धारित करते समय उत्पादक वस्तु की प्रकृति—नाशवान अथवा स्थायी, भविष्य की लागतो, वस्तुओ के परिवहन व्यय, उनको सग्रह करने का व्यय, अपनी तरलता-पसन्दगी (वस्तु को शीघ्र बेच कर नकद धनराशि मे परिवर्तित करने की इच्छा) आदि तथ्यो को ध्यान मे रखता है। यदि वह आरक्षित मूल्य के स्थान पर उत्पादन लागत पर ही वस्तु की पूर्ति करने के लिए तत्पर हो जाता है, तो पूर्ति-वक्र को लागत वक्र कहा जा सकता है। परन्तु यदि उत्पादक आरक्षित मूल्य पर ही वस्तु की पूर्ति करना चाहे, तो लागत वक्र और पूर्ति-वक्र भिन्न होगे। इसीलिए यह

कहा जाता है कि एक दृष्टि से प्रत्येक पूर्ति-वक्र लागत-वक्र है, किन्तु प्रत्येक लागत-वक्र पूर्ति वक्र नहीं है।

7 पूर्ति पर अवधि का प्रभाव (The effect of time upon supply) :

किसी वस्तु की पूर्ति की मात्रा पर उसकी उत्पादन-अवधि का भी प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ :

(i) अल्पतम अवधि में (Very Short Period) : अल्पतम अवधि में, माग में चाहे जितनी भी वृद्धि क्यो न हो जाय, पूर्ति की निश्चित मात्रा में वृद्धि सम्भव नहीं है, जैसे बाजार में मछली की माग में अत्यधिक वृद्धि हो जाने पर भी उसकी पूर्ति नहीं बढायी जा सकती।

(ii) अल्प अवधि में (Short Period) : अल्प अवधि में पूर्ति की मात्रा म परिवर्तन विस्तार अथवा संकुचन सम्भव है। इस अवधि म यद्यपि उत्पादन के स्थायी साधनों में विस्तार सम्भव नहीं है, फिर भी परिवर्तनशील साधनों (Variable Factors) में वृद्धि करके वर्तमान संयत्र (Plant) की उत्पादन-क्षमता का प्रयोग कर पूर्ति की मात्रा में वृद्धि सम्भव हो पाती है। परिवर्तनशील साधनों की अतिरिक्त इकाइयां लगाने के कारण उत्पादन-लागत बढ़ जाती है, जिससे पूर्ति-मूल्य भी अधिक हो जाता है।

वास्तविकता तो यह है कि किसी दिए गए समय में किसी वस्तु विशेष का उत्पादन कई उत्पादनकारी इकाइयों (Producing units) द्वारा किया जाता है। ये इकाइयां समान रूप से उत्पादन-कार्य में कुशल नहीं होती। समान मात्रा में किसी वस्तु का उत्पादन करने के लिए विभिन्न उत्पादनकारी इकाइयों द्वारा उत्पादन-साधनों पर किए जाने वाले कुल व्यय की धनराशियां भी अलग-अलग होती हैं। उत्पादन-लागत भिन्न होने के कारण ही प्रति इकाई औसत कुल लागत तथा सीमान्त लागत भी भिन्न होती हैं। उत्पादन मूल्य (product price) कम होने पर अकुशल इकाइयां उत्पादन करना बन्द कर देती हैं, क्योंकि मूल्य सीमान्त लागत के तुल्य अधिक होने पर अकुशल इकाइयां भी अपनी कार्यक्षमता में वृद्धि करने में समर्थ हो पाती हैं। अतः यह स्पष्ट है कि कुल उत्पादन तथा बिक्री के लिए प्रस्तुत की गयी उत्पादन की मात्रा और उत्पादन-मूल्य में परिवर्तनों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। पूर्ति का नियम भी इसी तथ्य का द्योतक है, क्योंकि यह स्थिति सामान्यतया अल्पावधि पूर्ति के सम्बन्ध में पायी जाती है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि अल्प-अवधि में कुल पूर्ति में विस्तार उसी समय सम्भव हो सकता है जबकि प्रत्येक फर्म अधिकतम लाभ की मात्रा म

अपनी उत्पादन-मात्रा का विस्तार करे। यही कारण है कि अल्प-अवधि में व्यक्तिगत फर्म का सीमान्त लागत वक्र (marginal cost curve) उसका पूर्ति वक्र (supply curve) भी होता है। अत. सम्पूर्ण उद्योग-विशेष के अल्पावधि पूर्ति-वक्र (short-run supply-curve) उद्योग में संलग्न समस्त फर्मों द्वारा प्रत्येक सीमान्त-लागत-स्तर पर वस्तु की उत्पादित मात्राओं को जोड़ने पर ज्ञात किया जाता है। वस्तुत. पूर्ति वक्र के सम्बन्ध म यह स्थिति अल्प अवधि तथा पूर्ण स्पर्धा में पायी जाती है, क्योंकि लाभ में अधिकतम वृद्धि के अन्तर्गत यह सिद्धान्त निहित है कि सीमान्त लागत सीमान्त आय के बराबर होती है। चू कि एक पूर्ण-प्रतिस्पर्द्धी फर्म (perfectly competitive firm) को असीमित लोचदार माग-वक्र (infinitely elastic demand curve) के अनुसार अपनी पूर्ति को समायोजित करना पड़ता है, सीमान्त आय बाजार-मूल्य के बराबर होती है। अत यह स्पष्ट है कि यदि फर्म अधिकतम लाभ प्राप्त करती है, तो सीमान्त लागत भी मूल्य के बराबर होगी।

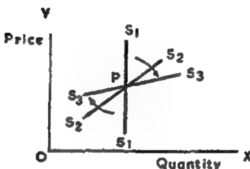
(iii) **दीर्घ अवधि में (in the long run)** : दीर्घ अवधि में उत्पादन-मान (scale of production) में परिवर्तन करना सम्भव होता है। मितव्ययिताओं अथवा अमितव्ययिताओं के कारण पूर्ति-मूल्य ह्रासमान (decreasing), वृद्धिमान (increasing) या समान (constant) हो सकता है। निर्माणकारी उद्योगों को आन्तरिक तथा बाह्य मितव्ययिताओं की सुविधाएं उत्पादन-मात्रा में विस्तार के कारण प्राप्त होती हैं। ऐसे उद्योगों के दीर्घकालीन पूर्ति-वक्र का झुकाव दायीं ओर नीचे की तरफ होगा। कृषि-उद्योग में उत्पादन की मात्रा में वृद्धि करने पर अनेक अमितव्ययिताओं के कारण पूर्ति-वक्र का झुकाव ऊपर की ओर दायीं तरफ होगा। कुछ अन्य उद्योगों में मितव्ययिताओं तथा अमितव्ययिताओं के सन्तुलित हो जाने पर उनका पूर्ति-वक्र उत्पाद अक्ष (Output-axis) के समानान्तर होगा।

दीर्घकाल में उद्योग में संलग्न फर्म उत्पाद की माग की पूर्ति करने के उद्देश्य से व्यक्तिगत रूप में अपने उत्पादन-मान तथा उपकरणों में वृद्धि करती हैं। यदि वस्तु का बाजार मूल्य अधिक होता है तो नयी फर्म उस उद्योग में प्रवेश करती है। विपरीत स्थिति म अर्थात् बाजार-मूल्य कम होने पर, कई फर्में उत्पादन-कार्य स्थगित कर देती हैं। वस्तुत दीर्घकाल के पूर्ति-वक्र का आकार फर्मों की सरचना में आवश्यक समायोजनाओं के पश्चात् लागत परिवर्तनों पर निर्भर है।

चित्र संख्या 58, विभिन्न अवधि में पूर्ति-रेखा का स्वरूप प्रकट करता है। अवधि जितनी ही लम्बी होगी, पूर्ति उतनी ही लोचदार होगी (i) चित्र में $S_1 S_1$ पूर्ति रेखा पूर्णतया बेलोचदार है जो अत्यन्त ही अल्प-काल (Very short-period) से सम्बन्धित है।

ऐसी दशा मे कीमत मे वृद्धि होने पर भी पूर्ति नही बढेगी । (ii) $S_2 S_2$ पूर्ति-रेखा अल्पकाल (Short Period) से सम्बन्धित है। कीमत मे वृद्धि होने पर, पूर्ति मे वृद्धि होगी। (iii) $S_3 S_3$ दीर्घकाल (Long Period) से सम्बन्धित है। कीमत मे वृद्धि होने पर, दीर्घकाल मे पूर्ति में और भी अधिक वृद्धि होगी।

Time and Elasticity of Supply



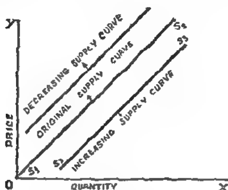
चित्र सं० 58

8. पूर्ति में परिवर्तन (Changes in the Supply)

मूल्य-परिवर्तनो के परिणामस्वरूप पूर्ति की मात्राओ मे परिवर्तनो को, मूल पूर्ति-वक्र पर ही प्रदर्शित किया जाता है। इसका कारण यह है कि किसी वस्तु के मूल्य मे वृद्धि होने से बिक्री के लिए प्रस्तुत की गई मात्रा मे वृद्धि मे होने का तात्पर्य यह नही है कि उस वस्तु की पूर्ति मे भी वृद्धि हो गई है। इसी प्रकार मूल्य-ह्रास से होने वाली पूर्ति की मात्रा मे कमी का अर्थ भी पूर्ति की कमी नही है। ये परिवर्तन पूर्ति के नियम मे अन्तर्निहित (inherent) है। इन परिवर्तनो से केवल यह सकेत मिलता है कि वर्तमान अल्प अवधि की पूर्ति मे उत्पत्ति और प्रदाय (offerings) मे वृद्धि के कारण विस्तार या सकुचन हुआ है या नही।

वस्तुत पूर्ति मे परिवर्तन उस समय होता है, जब मूल्यो के क्रम मे प्रत्येक मूल्य पर वस्तु की प्रस्तुत की गई मात्राए आगे या पीछे की ओर सरक जाती हैं। जब दिए हुए मूल्यो पर अपेक्षाकृत अधिक मात्राएं अथवा दी हुई मात्राएं अपेक्षाकृत कम मूल्यों पर प्रस्तुत की जाती हैं, तब पूर्ति बढ जाती है। जब दिये हुए मूल्यो पर अपेक्षाकृत कम मात्राएं अथवा दी हुयी मात्राएं अपेक्षाकृत अधिक मूल्यो पर प्रस्तुत की जाती हैं, तब पूर्ति घट जाती है। इन परिवर्तन को नयी पूर्ति-सूची तथा नए पूर्ति वक्रो द्वारा व्यक्त किया जाता है। पृष्ठ 425, के चित्र मे $S_1 S_1$ मूल पूर्ति वक्र (Original Supply Curve) है। पूर्ति मे वृद्धि होने पर यह दायी ओर

विचलित (shift) होकर, S_3 S_3 की स्थिति प्राप्त कर लेता है, तथा पूर्ति की कमी (decrease) होने पर यह स्थिति मूल-वक्र S_1 S_1 की बायी ओर एक नये वक्र S_2 S_2 रूप मे निर्मित होता है।



चित्र स० 59

पूर्ति मे परिवर्तन के कारण . पूर्ति मे वास्तविक परिवर्तन, जिनके फलस्वरूप पूर्ति-सूची तथा पूर्ति-वक्र मे भी परिवर्तन होते हैं, दीर्घ-अवधि मे ही होते हैं, क्योकि एक लम्बी अवधि मे ही सभी उत्पादन-साधन परिवर्तनशील हो सकते हैं। उत्पादक को वर्तमान सयन्त्रो का विस्तार एव आधुनिकीकरण करने का समय मिल जाता है। दीर्घ अवधि मे ही उत्पादको को अप्रचलित तथा अकुशल सयन्त्रो को हटाने तथा समाप्त करने का अवसर मिलता है। पूर्ति मे परिवर्तन होने के निम्नलिखित कारण हैं :

(1) **तकनीकी परिवर्तन (*Technological changes*)** उत्पादन के क्षेत्र मे तकनीकी विकास होने से पूर्ति कई प्रकार से प्रभावित होती है : (i) इसके द्वारा पुरानी वस्तु की अपेक्षा एक अच्छी नयी वस्तु का उत्पादन होने से, पुरानी वस्तु की तुलना मे नयी वस्तु की माग तथा तदानुसार पूर्ति मे वृद्धि हो जाती है, (ii) किसी वस्तु के उत्पादन की तकनीक मे विकास एव सुधार होने से प्रति इकाई लागत कम हो जाती है, जिससे उत्पादको को दिये हुए मूल्यो पर पहले की अपेक्षा पूर्ति की मात्राओ मे अधिक वृद्धि करने का प्रोत्साहन मिलता है।

(2) **युद्ध (War) तथा अन्य दैवी आपत्तियां (Other Natural Calamities)** : युद्ध-काल मे अर्थ-व्यवस्था सैनिक सेवाओ तथा युद्ध सम्बन्धी वस्तुओ के उत्पादन पर केन्द्रित हो जाती है। फलस्वरूप उपभोग-सामग्रियो तथा सेवाओ की पूर्ति कम हो जाती है। दैवी आपत्तियो, जैसे अनावृष्टि, अतिवृष्टि, बाढ आदि के फलस्वरूप भी उत्पादन-मात्रा कम हो जाती है।

(3) प्राकृतिक साधनो का ह्रास अथवा उनकी खोज (Depletion or Discovery of Natural Resources) नय प्राकृतिक व भौतिक साधनो की खोज के कम मूल्य पर उनके सुलभ होने से उनके द्वारा निर्मित वस्तुओ की प्रति इकाई लागत कम होती है जिससे इन वस्तुओं की पूर्ति मे वृद्धि होती है। इसके विपरीत प्राकृतिक साधनो के नष्ट हो जाने पर पूर्ति कम हो जाती है।

(4) उत्पादन साधनो के मूल्यो मे वृद्धि उत्पादन साधनो के मूल्यो में वृद्धि होने पर उत्पादन के साधनो की पडत (resource inputs) महगी पडती है जिसके फलस्वरूप वस्तु की प्रति इकाई लागत भी बढ जाती है। मूल्य के यथावत् रहने पर पूर्ति की मात्रा कम हो जाती है।

(5) सरकार की कर तथा व्यापारिक नीतिया यदि सरकार उत्पादकों तथा व्यवसायियो पर कई प्रकार के कर तथा प्रतिबन्ध लगाती है तो निश्चय ही सम्बंधित वस्तुओं की पूर्ति मे कमी हो जायेगी। किसी वस्तु पर आयात कर मे वृद्धि होने से उसकी पूर्ति कम हो जायेगी।

(6) परिवहन एव सन्देश वहन के साधनो मे विकास इन साधनों में विकास होने पर बाजार का क्षेत्र अधिक विस्तृत हो जाता है जिससे न केवल आयात मे ही वृद्धि होती है बल्कि उत्पादको को उत्पादन क्षमता को बढाने का प्रोत्साहन मिलता है।

9 पूर्ति की लोच (Elasticity of Supply)

(i) अर्थ पूर्ति का नियम किसी वस्तु के मूल्य परिवर्तन के प्रति उसके (उस वस्तु के) उत्पादक की प्रतिक्रिया की दशा को स्पष्टत बतलाता है। अधिक मूल्यो पर अधिक उत्पादन तथा कम मूल्यो पर कम उत्पादन किया जाता है। परन्तु पूर्ति का नियम उत्पादक की प्रतिक्रिया के अश या सीमा (degree) को व्यक्त नहीं करता। अत पूर्ति की लोच यह ज्ञात कराती है कि अधिक मूल्य पर कितनी अधिक मात्रा अथवा कम मूल्य पर कितनी कम मात्रा मे उत्पादन किया जाता है।

(ii) लोच की किस्मे पूर्ति की लोच पाच प्रकार की हो सकती हैं

1 इकाई लोच या सम लोच (unit elasticity) पूर्ति की इकाई लोच (unit elasticity) उस समय होती है जब किसी वस्तु का मूल्य परिवर्तन होने पर उत्पादित तथा बिक्री के लिए प्रस्तुत की गई मात्रा मे परिवर्तन प्रत्यक्ष अनुपात मे होता है। सम लोच उत्पादक की अनुक्रियाशीलता की लोचदार (elastic) तथा बेलोच (inelastic) अशो एव सीमाओ (degree) की विभाजन रेखा है।

2 लोचदार पूर्ति (Elastic Supply) पूर्ति उस समय लोचदार होती तथा तए कि मूल्य परिवर्तन के कारण उत्पादक की अनुक्रियाशीलता सम लोच की पूर्ति वक्र (O) अनुक्रियाशीलता से अधिक होती है अर्थात् जब मूल्य परिवर्तन के कारण

वस्तु की उत्पादित तथा प्रस्तुत की गयी मात्रा मे प्रत्यक्ष अनुपाती परिवर्तन अधिक होता है ।

3. बेलोच पूर्ति (Inelastic Supply) : जब उत्पादक की अनुक्रिया-शीलता के अश मे इकाई लोच (unit elasticity) के विपरीत परिवर्तन होता है, तब इसे बेलोच पूर्ति कहते है । बेलोच पूर्ति होने पर मूल्य-परिवर्तन के कारण वस्तु की उत्पादित तथा प्रस्तुत की गई मात्रा मे प्रत्यक्ष अनुपाती परिवर्तन कम होता है ।

4. पूर्णतया लोचदार पूर्ति (*Perfectly Elastic Supply*) : पूर्ति पूर्णतया लोचदार उस समय होती है, जब वर्तमान मूल्य पर वस्तु की असीमित मात्रा की पूर्ति की जाती है ।

5. पूर्णतया बेलोच पूर्ति (Perfectly Inelastic Supply) : जब मूल्य मे किसी परिवर्तन का विक्री के लिए प्रस्तुत की गयी मात्रा पर कोई प्रभाव नही पड़ता, तब पूर्ति पूर्णतया बेलोचदार कहलाती है ।

(iii) पूर्ति की लोच की माप (Measurement of Supply Elasticity) : अर्थशास्त्र मे पूर्ति की लोच ε (e) द्वारा व्यक्त की जाती है । [ε एक ग्रीक अक्षर है जिसे 'Epsilon' कहा जाता है जो 'पूर्ति की लोच' को व्यक्त करता है] । पूर्ति की लोच को ज्ञात करने के लिए निम्नलिखित सूत्र (Formula) का प्रयोग किया जाता है जो पूर्ति की मात्रा मे आनुपातिक परिवर्तन की माप करता है .

$$\text{पूर्ति की लोच} = \frac{\text{मात्रा मे आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{कीमत मे आनुपातिक परिवर्तन}} = \frac{\frac{\Delta \phi}{\phi}}{\frac{\Delta \sigma}{\sigma}}$$

$$= \frac{\Delta \phi}{\Delta \sigma} \times \frac{\sigma}{\phi}$$

$$\text{लोच} = \left(\frac{\text{मात्राओ मे अन्तर}}{\text{मात्राओ का योग}}\right) \left(\frac{\text{मूल्यो का योग}}{\text{मूल्यो मे अन्तर}}\right)$$

$$\left[\varepsilon = \left(\frac{\text{difference in quantities}}{\text{sum of quantities}}\right) \left(\frac{\text{sum of prices}}{\text{difference in prices}}\right)\right.$$

इस सूत्र के द्वारा आवश्यक गणना करने पर निम्नलिखित परिणाम निकाले जा सकते हैं

(अ) जब $\varepsilon = 1$, पूर्ति इकाई लोचदार होती है ।

(ब) जब $\varepsilon > 1$ (लोच 1 से अधिक होने पर), पूर्ति लोचदार होती है, क्योंकि उत्पादित तथा बिक्री के लिए प्रस्तुत की गई मात्रा म मूल्य मे परिवर्तन की तुलना मे अधिक प्रत्यक्ष अनुपाती परिवर्तन होता है ।

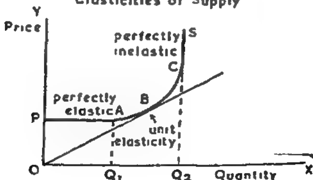
(स) जब ε < 1 (लोच 1 से कम होने पर) हो तो पूर्ति बेलोच होती है, क्योंकि उत्पादित तथा बिक्री के लिये प्रस्तुत की गई मात्रा में मूल्य-परिवर्तन के अनुपात में कम परिवर्तन होता है।

नीचे दी गई तालिका से विभिन्न प्रकार की लोच का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है :

बाजार-पूर्ति-सूची

मूल्य प्रति इकाई रु०	उत्पादित तथा बिक्री के लिए प्रस्तुत की गई मात्रा	लोच
1	50	लोच→ ε = 2 3
2	400	→ [$\varepsilon = \frac{350}{450} \times \frac{3}{1} = 2{\cdot}3$
3	600	→ समलोच→ ε = 1 0 [$\varepsilon = \frac{200}{1000} \times \frac{5}{1} = 1\ 0$]
4	700	
5	775	→ बेलोच→ ε = 43
6	825	[$\varepsilon = \frac{150}{1350} \times \frac{30}{4} = 43$]
7	850	

पूर्ति वक्र भी पूर्ति की लोच में परिवर्तनों को व्यक्त करता है। पूर्ति लोचदार होने पर वक्र का ढाल सरल होता है, बेलोच होने पर उसका ढाल सीधा या खड़ा (steep) होता है, परन्तु समलोच होने पर उसका ढाल साधारण होता है।



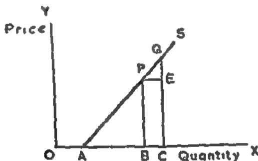
चित्र सं० 60

चित्र संख्या 60 में पूर्ति की लोच पर प्रकाश पड़ता है। PS पूर्ति वक्र है, जिसके ढलाव (slopes), अल्पकाल में पूर्ति की लोच को प्रदर्शित करते हैं। इस वक्र

पर विभिन्न प्रकार की लोचे सख्याओ मे व्यक्त की गई हैं। मांग-रेखा की ही तरह (i) यदि पूर्ति रेखा पडी (Horizontal) रेखा के रूप मे है तो पूर्ति 'पूर्णतया लोचदार' (ii) यदि पूर्ति रेखा खडी रेखा (Vertical) के रूप मे है तो पूर्ति पूर्णतया बेलोच' है। साधारण ढलाव, जैसा A B चाप (Arc) मे है, यह प्रकट करता है कि पूर्ति लोचदार है (iii) गहरा-ढलाव (steep slope) जैसा कि चाप BC मे है, लोचहीनता (inelasticity) को प्रकट करता है। (i) OP से कम कीमत पर, विक्रेता कुछ भी नही वेचेंगे। (ii) OP कीमत पर वे OQ_1 मात्रा वेचेंगे (iii) OQ_1 से अधिक मात्रा वेचने के लिए, कीमत OP से अधिक होनी चाहिये। (iv) कीमत कितनी ही ऊंची हो, विक्रेता OQ_2 मे अधिक मात्रा नही वेचेंगे।

पूर्ति की लोच की ज्यामिति माग की लोच से कुछ भिन्न होती है: नीचे के चित्र मे बिन्दु B पर इकाई-लोच है, इस बिन्दु पर बिन्दु O से खीची गई सीधी रेखा 'Tangent' है। यदि बिन्दु O मे रेखा खीची जाये तथा यह एक सीधी रेखा के रूप मे हो तो पूर्ति वक्र का ढाल कुछ भी हो, उसकी लोच इकाई होगी (पूरी रेखा पर)।

चित्र सख्या 61 मे वेलोच पूर्ति वक्र को प्रकट करता है। मान लीजिये पहले कीमत PB है तथा बाद मे बढ कर कीमत QC हो जाती है। अतः



चित्र स० 61

$$\text{पूर्ति की लोच} = \frac{\text{मात्रा मे आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{कीमत मे आनुपातिक परिवर्तन}} \text{या}$$

$$E_s = \frac{BC}{OB} - \frac{QE}{PB} = \frac{PE}{OB} \times \frac{PB}{QE}$$

अन्तिम अक्षरो को हम $\frac{PE}{QE} \times \frac{PB}{OB}$ भी लिख सकते हैं। चूंकि PBA तथा QEP त्रिभुज एक ही प्रकार के हैं, अतः

$$\frac{PE}{QE} = \frac{AB}{PB}, \text{ इसलिए } E_s = \frac{AB}{PB} \times \frac{PB}{OB} = \frac{AB}{OB}$$

चूंकि AB, OB से छोटा है, अत $\frac{AB}{OB}$ इकाई (एक) से कम है। इस प्रकार पूर्ति बेलोच है। यदि AB=OB के हो जिससे E =1 हो तो पूर्ति-वक्र प्रारम्भ बिन्दु O से गुजरना चाहिए। यदि AB, OB से लम्बा है जिससे Es 7 1 तब पूर्ति वक्र मूल्य-अक्ष (Price Axis) को काटेगा।

यदि पूर्ति रेखा एक वक्र (curve) के रूप मे है तो पूर्ति वक्र के किसी भी बिन्दु पर लोच ज्ञात करने के लिये, उस बिन्दु पर स्पर्श रेखा (Tangent) खींचकर लोच ज्ञात करते हैं।

(iv) पूर्ति की लोच और अवधि का सम्बन्ध : पूर्ति की लोच की उपर्युक्त व्याख्या अल्प अवधि के सन्दर्भ मे की गई है। परन्तु पूर्ति की लोच की माप दीर्घ अवधि के सन्दर्भ मे भी की जा सकती है। वस्तुत दीर्घ अवधि मे पूर्ति अपेक्षाकृत अधिक लोचदार होती है, क्योकि इस अवधि मे उत्पादकों को अपने उत्पादन साधनो, सयन्त्र, उपकरण आदि मे परिवर्तन करने के लिये अधिक समय मिल जाता है।

(v) पूर्ति की लोच के निर्धारक तत्व अल्प अवधि मे पूर्ति-लोच का सबसे महत्वपूर्ण निर्धारक तत्व वह प्रतिशत है जो 'स्थायी लागत' व 'कुल लागत' का होता है। (fixed cost as a percent of total cost)। यदि सापेक्ष रूप से स्थायी लागत पूर्ण लागत से अधिक होती है तो उत्पादक को हानि पर भी उत्पादन करने का प्रलोभन रहता है। इसका कारण यह है कि उत्पादन करने से उसकी हानि न्यूनतम हो जाती है। कम मूल्यो से परिवर्तनशील लागतो के अधिकांश भाग की पूर्ति हो जाती है। यदि उत्पादन निरन्तर होता रहता है, तो स्थायी लागतों के कुछ अंश की पूर्ति सम्भव हो जाती है, क्योकि उत्पादन कार्य स्थगित करने पर स्थायी लागत पूर्ण हानि के रूप मे परिवर्तित हो जायेगी। ऐसी स्थिति मे पूर्ति के बेलोच होने की प्रवृत्ति पायी जाती है। यदि स्थायी लागत कुल लागत की तुलना मे कम होती है, तो पूर्ति लोचदार होती है।

दीर्घ अवधि मे पूर्ति की लोच को निर्धारित करने वाले दो महत्वपूर्ण तत्व हैं

(1) उत्पादन साधनों के वैकल्पिक उपयोगो के अवसरो का होना (The alternative opportunities available to the productive factors) : यदि किसी वस्तु के उत्पादन मे प्रयुक्त उत्पादन साधनो के उपयोग के लिये अन्य आकर्षक अवसर वर्तमान होते हैं तो उस वस्तु के मूल्य के कम होने तथा प्राप्त आय मे कमी होने पर स्थान परिवर्तित कर देते हैं। वे साधन उस वस्तु के उत्पादन मे प्रयुक्त किये जाते हैं, जिसका मूल्य अधिक होता है तथा साधनो के विचलन (shifts) से उनकी

आय बढ़ जाती है। अतः किसी वस्तु के उत्पादन साधनों के प्रयोग के जितने अधिक विस्तृत अवसर वर्तमान रहते हैं, वस्तु की पूर्ति उतनी ही अधिक लोचदार होती है। इस प्रकार के अवसरों में कमी होने पर पूर्ति अधिक बेलोच होती है।

(2) उत्पादन साधनों की गतिशीलता (Mobility of productive factors) : वैकल्पिक प्रयोग के अवसरों के होने के साथ ही साथ उत्पादन साधनों का गतिशील होना भी आवश्यक है। साधनों में जितनी अधिक गतिशीलता होगी, उतनी ही अधिक लोचदार उस वस्तु की पूर्ति होगी जिसके उत्पादन एवं निर्माण में उन साधनों को प्रयुक्त किया जाता है।

पूर्ति के अन्य प्रकार

(अ) संयुक्त पूर्ति (Joint Supply) सामान्यतः कई वस्तुएं एक साथ उत्पादित की जाती हैं। किसी एक वस्तु की पूर्ति में परिवर्तन का प्रभाव किसी अन्य वस्तु की पूर्ति पर पड़ना स्वाभाविक है, जैसे कोयले की गैस और कोयला। इस प्रकार की पूर्ति संयुक्त पूर्ति कहलाती है। संयुक्त पूर्ति की दशा में किसी एक वस्तु की माग में वृद्धि होने पर संयुक्त उत्पाद (Joint Product) की पूर्ति में भी वृद्धि हो जाती है, जिससे संयुक्त उत्पाद का मूल्य गिरने लगता है।

(ब) सम्मिश्रित या सग्रथित पूर्ति (Composite Supply) किसी एक माग की पूर्ति कई वस्तुओं की पूर्ति द्वारा की जा सकती है। उदाहरणार्थ चाय काफी दूध आदि की पूर्ति पेय पदार्थों की माग को सन्तुष्ट करने के लिए सम्मिश्रित या सग्रथित पूर्ति कही जायेगी।

प्रश्न व संकेत

1. पूर्ति की लोच का आशय स्पष्ट कीजिये। पूर्ति की लोच को मापने की विधि बताइये।

[*संकेत—प्रश्न के प्रथम भाग में पूर्ति की लोच का आशय स्पष्ट कीजिये और द्वितीय भाग में इसको मापने की प्रमुख विधियां बताइये।*]

2. पूर्ति से आप क्या समझते हैं? निम्न में अन्तर स्पष्ट कीजिये—
   (अ) 'पूर्ति में वृद्धि' तथा 'पूर्ति में विस्तार' (ब) 'पूर्ति में कमी' तथा 'पूर्ति में सकुचन'।

3. पूर्ति का *अर्थ स्पष्ट कीजिये और इसे प्रभावित करने वाले विभिन्न तत्वों* का स्पष्टीकरण कीजिये।

[संकेत—प्रश्न के प्रथम भाग में पूर्ति का अर्थ स्पष्ट कीजिये तथा द्वितीय भाग में इसे प्रभावित करने वाले विभिन्न तत्वों का विवेचन कीजिये।]

समस्याएं (Problems)

1. निम्न तथ्यो के आधार पर अल्पकाल मे एक फर्म की पूर्ति सूची तैयार कीजिये—

उत्पादन इकाइया	परिवर्तनशील लागत	उत्पादन इकाइया	परिवर्तनशील लागत
1.	Rs 22	6.	Rs 85
2	„ 32	7.	„ 11
3.	„ 40	8.	„ 155
4.	„ 50	9.	„ 205
5.	„ 65	10	„ 310

2. निम्न लागत समको के आधार पर दीर्घकाल मे एक उद्योग का पूर्ति-वक्र बताइये—

	उद्योग का कुल उत्पादन (इकाइया)	प्रत्येक फर्म के लिए निम्नतम औसत लागत
1.	5,00,000	Rs. 470
2.	10,00,000	„ 520
3.	15,00,000	„ 550
4.	20,00,000	„ 590
5.	25,00,000	„ 630
6.	30,00,000	„ 660

23

उत्पादन के नियम

(Laws of Returns)

"While the part which nature plays in production shows a tendency to diminishing returns the part which man plays show a tendency to increasing returns If the action of the law of increasing and diminishing returns are balanced we have the law of constant returns"

Marshall

1 The Production Function

किसी वस्तु का उत्पादन करने के लिए उत्पादन के कई साधनो के सहयोग या सयोग (combination) की आवश्यकता पड़ती है। जिस वस्तु का उत्पादन किया जा रहा है उसे हम उत्पाद (out put) तथा जिन साधनो द्वारा उत्पादन किया जाता है उन्हे हम पड़त (Input) कहते है। किसी फर्म के उत्पाद तथा पड़त के सम्बन्धो को Production Function कहा जाता है। (The production function is the name for the relation between the physical inputs and the physical outputs of a firm) Production Function का बात हम किसी अवधि के सन्दर्भ मे करते हैं। (It is a flow of inputs resulting in a flow of outputs during some period of time)

किसी भी फर्म के Production Function का निर्धारण प्राविधिक स्थिति (State of Technology) द्वारा किया जाता है। जब प्राविधिक प्रगति होती है तो नये Production Function का जन्म होता है। सामान्य रूप से पहले से श्रेष्ठ प्रविधि का प्रयोग करने से, उन्ही पड़तो द्वारा उत्पादन म वृद्धि होती है। (उत्पादन म कमी भी हो सकती है जैसे भूमि की उवरता कम हो जाने के कारण अन्य पड़ता (Inputs) म वृद्धि करने पर भी उत्पादन म कमी हो सकती है) अर्थशास्त्रियो ने साख्यिकीय विधियो द्वारा पड़तो तथा उत्पादो के सम्बन्धो के परिवर्तनो (relations between changes in physical inputs and physical outputs) का अध्य-

हारिक रूप से अध्ययन किया है। इन अध्ययनो मे Paul H. Douglas तथा C W. Cobb द्वारा प्रस्तुत अध्ययन प्रसिद्ध है। इसे Cobb-Douglas Production Function कहते हैं। इसके द्वारा उत्पादन समता नियम पर प्रकाश पडता है। अर्थशास्त्र के अन्तर्गत हम Production Function मे उत्पाद पडत के दो प्रकार के सम्बन्धो पर ध्यान देते हैं, पहला, यदि कुछ पडतें (Inputs) स्थिर हैं तथा कुछ पडतें परिवर्तनशील हैं तो उत्पादन पर क्या प्रभाव पडता है ? दूसरा, यदि सभी पडतें परिवर्तनशील हैं तो उत्पादन पर क्या प्रभाव पडेगा ? यहा पर हम उत्पाद तथा पडत की मात्रा (Physical Quantity) की ही बात करते है, उनकी कीमतो पर ध्यान नही देते हैं। किसी फर्म के उत्पादन की मात्रा (निश्चित अवधि मे) दो बातो पर निर्भर है।

(i) उत्पादन की विधि (Technology) तथा (ii) उत्पादन के लिए प्रयोग किए जाने वाली पडतो (Inputs) या साधनो की मात्रा। यदि हम उत्पादन विधि को पूर्ववत् (Constant) मान लें तो उत्पादन मात्रा उत्पादन के साधनो की मात्रा पर निर्भर करेगी। यदि एक या अधिक साधनो की मात्रा मे परिवर्तन किया जाए तो उत्पादन की मात्रा पर क्या प्रभाव पडेगा ? इस प्रश्न का उत्तर हमे उत्पत्ति के नियमो (Laws of Returns) द्वारा मिलता है। अधिक उत्पादन के लिए अधिक साधनो की आवश्यकता पडती है। परन्तु यह भी सम्भव है कि उत्पादन मे वृद्धि, पडत (Inputs) अथवा साधनो की वृद्धि के अनुपात मे न हो। उत्पत्ति के तीन नियमो का उल्लेख किया जाता है

1. कुछ समय हम यह पाते है कि उत्पादन की मात्रा मे, साधनो की मात्रा मे वृद्धि करने पर, आनुपातिक रूप से कम वृद्धि होती है। प्रति इकाई उत्पादन की लागत बढ जाती है। इसे 'उत्पत्ति ह्रास नियम' या 'लागत वृद्धि नियम' कहते हैं।

2. कभी कभी उत्पादन साधनो की मात्रा मे वृद्धि करने से, कुल उत्पादन मे अधिक अनुपात से वृद्धि होती है, प्रति इकाई उत्पादन लागत कम हो जाती है, इसे 'उत्पत्ति वृद्धि नियम' या 'लागत ह्रास नियम' कहते हैं।

3. उत्पादन के साधनो मे वृद्धि करने पर, जब उत्पादन मे भी उसी अनुपात मे वृद्धि होती है, तब इसे 'उत्पत्ति समता नियम' या 'लागत समता नियम' कहते हैं।

1. उत्पत्ति ह्रास नियम या परिवर्तनशील अनुपातो का नियम
(Law of Diminishing Returns or Law of Variable Proportions)

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो ने इस नियम की व्याख्या केवल भूमि के सन्दर्भ मे की थी, परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री इस नियम की व्याख्या व्यापक रूप से करते हैं।

अत. हम इस नियम की दो प्रकार की व्याख्यायें पाते है, (i) पुराने अर्थ-

शास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत व्याख्या तथा (ii) नियम के विषय में आधुनिक मत। हम यहा पर इन दोनों दृष्टिकोणों से इस नियम पर प्रकाश डालेंगे।

(i) उत्पत्ति ह्रास नियम की मार्शल द्वारा प्रस्तुत व्याख्या
(Marshallian Version of the Law of Diminishing Returns)

1 परिभाषा उत्पादन क्रिया में जब उत्पादन साधनों की क्रमागत इकाइयों द्वारा उत्पादन में क्रमश ह्रास होता जाता है तो इसे उत्पादन-ह्रास नियम कहते हैं। मार्शल के अनुसार, "यदि कृषि कला में कोई सुधार न हो तो सामान्यतः कृषि में प्रयुक्त श्रम और पूंजी की वृद्धि से कुल उत्पादन में वृद्धि आनुपातिक रूप में कम होगी।"

"*An increase in the capital and labour applied in the cultivation of land causes in general, a less than proportionate increase in the amount of produce raised unless it happens to concide with an improvement in the arts of agriculture*" —*Marshall*

इस परिभाषा का अर्थ यह है कि यदि भूमि के एक टुकड़े पर कृषि उत्पादन के लिए श्रम और पूंजी की मात्राओं में वृद्धि की जाये तो उनकी प्रत्येक वृद्धि की इकाई से प्राप्त सीमान्त उपज, अपने पूर्व की इकाई द्वारा प्राप्त सीमान्त उपज से कम होगी अर्थात यदि श्रम तथा पूंजी की मात्रा दुगुनी या तीन गुनी कर दी जाय तो कुल उत्पादन दुगुना या तीन गुना नहीं होगा, बल्कि उत्पादन में आनुपातिक रूप से कम वृद्धि होगी। इस तथ्य का स्पष्टीकरण निम्नलिखित सारिणी से किया जा सकता है—

(श्रम की विभिन्न इकाइयों द्वारा उत्पादन मनों में)

भूमि (एकड़)	श्रम की इकाइया	कुल उत्पत्ति Total Product	सीमांत उत्पत्ति Marginal Product	औसत उत्पत्ति Average Product
10	1	100	100	100
10	2	230	130	115
10	3	360	130	120
10	4	480	120	120
10	5	560	80	112
10	6	600	40	100
10	7	620	20	88
10	8	620	0	79
10	9	610	−10	68

मान लीजिए दस एकड़ भूमि है। उत्पादन के लिए इस भूमि पर उत्पादन साधन लगाए जाते हैं। भूमि निश्चित मात्रा में है केवल श्रम व पूँजी ऐसे साधन हैं जिनकी मात्रा में परिवर्तन किया जाता है। पहले कॉलम में परिवर्तनशील साधन श्रम की इकाइयां दूसरे कालम में 'कुल उत्पत्ति', तीसरे में 'सीमान्त उत्पत्ति' तथा अन्तिम कॉलम में 'औसत उत्पत्ति दिखाई गई है।'

✓ **2 नियम की अवस्थाएं (Stages of Law) :** उत्पादन ह्रास नियम की तीन अलग अलग अवस्थाएं हैं, जैसा कि पीछे दी गई सारिणी से प्रकट है :

1. कुल उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Total Diminishing Returns) : सारिणी से स्पष्ट है कि सातवें श्रमिक तक कुल उत्पादन में कुछ न कुछ वृद्धि होती है। परन्तु नवें श्रमिक को लगाने से 'कुल उत्पत्ति 620 मन से घट कर 610 मन हो जाती है। इस प्रकार नवें श्रमिक को काम पर लगाना हानिप्रद है। अतः उसकी सेवाओं का उपयोग करना किसान के हित में नहीं है। इससे यह प्रकट होता है कि यदि उत्पादन के एक साधन में वृद्धि की जाए, तो आरम्भ में 'कुल उत्पत्ति' धीरे-धीरे बढ़ती है, परन्तु एक बिन्दु के पश्चात् उस साधन की अधिक इकाइयों को लगाने से 'कुल उत्पत्ति भी घटने लगती है। इस अवस्था को 'कुल उत्पत्ति ह्रास नियम' कहते हैं।

2. सीमान्त उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Marginal Returns) . 'सीमान्त उत्पत्ति' तीसरे श्रमिक तक बढ़ रही है। किसान यह जानता है कि यदि वह अतिरिक्त श्रमिकों को काम पर लगाएगा तो 'सीमान्त उत्पत्ति' बढ़ेगी क्योंकि कम श्रमिकों से भूमि की उत्पादन क्षमता का पूरा उपयोग नहीं हो सकेगा। परन्तु यदि चौथा श्रमिक लगाया जाता है, तो 'सीमान्त उत्पत्ति'130 से घट कर 120 मन हो जाती है। नवें श्रमिक के लगाने पर 'सीमान्त-उत्पत्ति'–10 हो जाती है, अर्थात् अतिरिक्त श्रमिक अन्य श्रमिकों के काम में भी बाधा उपस्थित करते हैं। सारिणी में चौथे श्रमिक से लेकर नवें श्रमिक तक सीमान्त उत्पत्ति घटती रहती है। इस अवस्था को 'सीमान्त उत्पत्ति ह्रास नियम' कहते हैं।

3. औसत उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Average Returns) : तीसरे श्रमिक तक 'औसत उत्पत्ति' अधिकतम है 120 मन। चौथे श्रमिक से 'औसत उत्पत्ति' घटना प्रारम्भ होती है और नवें श्रमिक तक प्रति श्रमिक औसत उत्पादन घटकर 68 मन हो जाता है। सारिणी से स्पष्ट है कि तीसरे श्रमिक के पश्चात् 'सीमान्त उत्पत्ति' भी तेजी से घटने लगती है। चौथे श्रमिक पर औसत उत्पत्ति तथा 'सीमान्त उत्पत्ति' समान होगी। उत्पादन का सर्वोत्तम बिन्दु वह होगा, जिस पर औसत तथा सीमान्त उत्पादन बराबर होंगे, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से

औसत व सीमान्त उत्पादन को समान रखना कभी कभी सम्भव नही हो पाता। औसत उत्पादन, एक सीमा (तीसरे श्रमिक) के पश्चात् घटता जाता है, अत इसे 'औसत उत्पत्ति ह्रास नियम कहते हैं।

3. नियम की सीमाए (Limitation's of the Law) : 'उत्पादन ह्रास नियम' की जो परिभाषा मार्शल ने दी है उसके अनुसार इस नियम की निम्नलिखित सीमाए हैं :

(1) सामान्यतया (In General) यदि भूमि पर अपेक्षित मात्रा में श्रम, पूँजी आदि साधन पहले से नही लगाए गए है तो आरम्भ म यह नियम नही लागू होगा। परन्तु अपेक्षित सीमा तक पूँजी आदि लगाने के पश्चात् यदि उत्पादन-साधनो की अतिरिक्त इकाइया लगाई जायगी तो यह नियम लागू होना प्रारम्भ हो जायगा।

(2) कृषि-प्रणाली मे सुधार (Improvement in the art of Agriculture) इस नियम के लागू होने के लिए यह आवश्यक है कि कृषि-प्रणाली पूर्ववत् हो, उसमे कोई सुधार न किया जाए। यदि पहले की अपेक्षा अच्छे किस्म के बीजो का प्रयोग किया जाता है, उत्तम खाद, फसल-चक्र (Crop Ro ation), मशीनें, उत्तम सिंचाई आदि की सुविधाओ का इस्तेमाल किया जाता है तो उत्पादन मे वृद्धि होगी। वैज्ञानिक कृषि द्वारा इस नियम के लागू होने की अवधि आगे बढायी जा सकती है। परन्तु दीर्घकाल मे इन सुधारो के होते हुए भी यह नियम लागू होगा।

(3) नयी भूमि (New Soil) : यदि परती भूमि पर कृषि प्रारम्भ की जाती है तो यह नियम आरम्भ मे लागू नहीं होगा। पूँजी व श्रम के क्रमागत प्रयोग से प्रारम्भ म उत्पादन मे वृद्धि होगी। अत नयी भूमि के सदर्भ मे प्रारम्भिक अवस्था म नियम लागू नही होगा।

(4) अपर्याप्त पूँजी (Inadequate Capital) : यदि अपर्याप्त पूँजी का प्रयोग किया है तो अतिरिक्त पूँजी लगाने पर उत्पादन म वृद्धि होगी।

इस नियम की उपरोक्त सभी सीमाओ का सम्बन्ध अल्पकाल से है। यह नियम स्थैतिक (Static) अवस्था से सम्बन्धित है। यदि कृषि-कला मे आवश्यक सुधार हो जाते हैं तो यह नियम लागू नहीं होगा। फिर भी दीर्घकाल मे यह नियम अवश्य लागू होता है।

5 नियम की अन्य विशेषताए (Other Features of the Law) .

(1) नियम की क्रियाशीलता यह नियम उत्पादन साधनों के सर्वोत्तम सयोग (Optimum Combination) की अनुपस्थिति मे ही लागू होता है। व्यावहारिक रूप से उत्पादन साधनो का सर्वोत्तम सयोग बनाये रखना अत्यन्त ही कठिन है,

क्योंकि कुछ साधन ऐसे हैं जिनकी पूर्ति सीमित है तथा उन्हें प्रतिस्थापित (substitute) करना मनुष्य के अधिकार से परे है। उदाहरण के लिए, 'भूमि' ऐसा ही साधन है। अन्य साधनों की मात्रा बढ़ाई जा सकती है परन्तु 'भूमि' की मात्रा नहीं बढ़ाई जा सकती। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि जिन उत्पादन क्रियाओं में 'प्रकृति' का महत्त्वपूर्ण स्थान है, उनमें यह नियम अवश्य लागू होगा। यही कारण है कि यह नियम कृषि पर विशेष रूप से लागू होता है। कृषि में प्रकृति का महत्वपूर्ण स्थान है। भूमि का क्षेत्रफल, वर्षा, मौसम आदि पर मनुष्य का अधिकार नहीं है, वह इनकी मात्रा व अनुकूलता को नियन्त्रित नहीं कर सकता है। अतः कृषि तथा अन्य ऐसे उद्योगों पर जो प्रकृति पर निर्भर है यह नियम शीघ्र लागू होता है।

इसके विपरीत उन उद्योगों में जिनमें मनुष्य की प्रधानता है, यह नियम शीघ्र लागू नहीं होगा। आधुनिक उत्पादन-प्रणाली, विशिष्टीकरण, नवीन आविष्कार, श्रम विभाजन आदि द्वारा मनुष्य उत्पादन में आशातीत वृद्धि कर सकता है। ऐसे उद्योग म मनुष्य प्रकृति पर विजय प्राप्त कर लेता है तथा उत्पादन-साधनों का अनुकूलतम संयोग बनाये रखने म सफल होता है। अतः इस नियम के लागू होने की अवधि को भविष्य के लिए टाल दिया जा सकता है। परन्तु मानव-प्रधान उद्योगों पर भी अत्यन्त दीर्घकाल में यह नियम अवश्य लागू होगा। इस प्रकार 'उत्पादन ह्रास नियम' सभी उद्योगों पर लागू होता है। मनुष्य केवल इनके लागू होने की तिथि को भविष्य के लिए टाल सकता है। इसी आधार पर Wicksteed ने कहा है, "This law is as universal as the law of life itself"

(2) **नियम का सम्बन्ध उपज की मात्रा से ही है :** 'उत्पादन ह्रास नियम' का सम्बन्ध उपज की मात्रा से है उसके मूल्य से नहीं। हो सकता है, मूल्य-स्तर में वृद्धि होने के कारण, पहले की अपेक्षा कम उपज होने पर भी, उपज का मूल्य पहले की अपेक्षा अधिक हो। अतः हम उपज की मात्राओं की ही तुलना करते हैं।

(ii) उत्पत्ति ह्रास नियम—आधुनिक मत
(Law of Diminishing Returns—Modern View)

1. **परिभाषा** . आधुनिक अर्थशास्त्री 'उत्पत्ति ह्रास नियम' को एक व्यापक नियम मानते हैं। उनके अनुसार यह नियम केवल 'कृषि' ही नहीं, वरन् समस्त उद्योगों पर लागू होता है। उन्होंने इस नियम को "परिवर्तनशील अनुपात नियम' (Law of variable proportions or Law of Proportionality) की संज्ञा दी है। यह नियम यह प्रकट करता है कि उत्पादन के साधनों के संयोग (Combination) में यदि एक साधन की मात्रा बढ़ाई जाए तथा अन्य साधनों की मात्राएं स्थिर हों तो कुल उपज एक सीमा के पश्चात् क्रमशः घटती जाएगी।

"When total output, or production of a commodity is increased by adding units of a variable input while the quantities of other inputs are held constant, the increase in total production become, after some point, smaller and smaller" —*Donald S. Watson*

बेनहम ने इस नियम को इस प्रकार परिभाषित किया है : "उत्पादन साधनो के सयोग मे एक साधन का अनुपात ज्यो ज्यो बढाया जाए, एक सीमा के पश्चात् त्यो-त्यो उस साधन की सीमान्त तथा औसत उपज घटती जाएगी।"[1] श्रीमती जॉन रॉबिन्सन द्वारा दी गयी इस नियम की परिभाषा इस प्रकार है : क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम, जैसा सामान्यतः कहा जाता है, यह बतलाता है कि किसी एक उत्पादन साधन की मात्रा निश्चित (यथास्थिर) रखने पर, एक सीमा के पश्चात् अन्य साधनो की क्रमागत वृद्धि करने से, उत्पत्ति मे घटती हुई दर पर वृद्धि होगी।"[2] ये दोनो परिभाषाए उपयुक्त तथा वैज्ञानिक हैं। इनके अनुसार *'क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम'* एक सार्वभौमिक (Universal) नियम है, तथा यह किसी भी उद्योग पर लागू किया जा सकता है। बेनहम तथा श्रीमती रॉबिन्सन की परिभाषाओ मे कुछ अन्तर है। *जोन रॉबिन्सन के अनुसार यदि एक साधन-विशेष को स्थिर रखा जाए तथा अन्य* साधनो की मात्रा बढ़ा दी जाए तो उत्पत्ति की वृद्धि दर कम होती जाती है। बेनहम के अनुसार यदि अन्य साधनो को स्थिर रखा जाए तथा एक साधन विशेष की मात्रा बढ़ा दी जाए तो प्राप्त उत्पत्ति की वृद्धि दर कम होती जाएगी। दोनो के विचारो मे दूसरा अन्तर यह है कि जोन रॉबिन्सन के अनुसार 'सीमान्त-उत्पत्ति के घटने के प्रारम्भ के साथ ही *'क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम'* लागू होना प्रारम्भ हो जाता है, जबकि बेनहम के अनुसार 'सीमान्त' व औसत उत्पत्ति—दोनो के घटने की प्रक्रिया प्रारम्भ होने पर यह नियम लागू होता है। वस्तुत. बेनहम व रॉबिन्सन के विचारो मे मौलिक अन्तर नहीं है। हम एक साधन को स्थिर रखें तथा अन्य साधनो को परिवर्तनशील रखे, या एक साधन को परिवर्तनशील तथा अन्य साधनों को स्थिर रखे, दोनो ही अवस्थाओ मे यह नियम लागू होगा। इसके साथ ही साथ एक बिन्दु के पश्चात् 'सीमान्त' तथा 'औसत उत्पत्ति' दोनो मे ही ह्रास प्रारम्भ हो जाता है, यद्यपि उनके घटने की गति या दर मे अन्तर होता है तथा उनके घटने की प्रक्रिया के

---

[1] "As the proportion of one factor in a combination of factors is increased, after a point, the marginal and average product of that factor will diminish" —*Benham*

[2] "The Law of Diminishing Returns, as is usually formulated, states that with a fixed amount of any one factor of production, successive increases in the amount of others will, after a point, yield a diminishing increment of output" —*Joan Robinson,* The Economics of Imperfect Competition, p. 330

प्रारम्भ होने के समय में भी अन्तर हो सकता है। प्रो० लिप्से[3] तथा डोनाल्ड स्टीवेन्सन वाटसन्[4] ने इस नियम की परिभाषा बेनहम की ही भाँति दी है। इन्होंने भी एक साधन को परिवर्तनशील तथा अन्य साधनों को यथास्थिर मानकर इस नियम की व्याख्या की है।

2. नियम का स्पष्टीकरण . इस नियम का स्पष्टीकरण निम्न सारिणी तथा रेखा चित्रों द्वारा किया जा सकता है :

श्रम द्वारा उत्पादन (मनों में)

श्रम की इकाइयाँ		कुल उत्पत्ति	औसत उत्पत्ति	सीमांत उत्पत्ति
प्रथम	1	6	6	6
अवस्था	2	18	9	12
	3	33	11	15
द्वितीय	4	40	10	7
अवस्था	5	45	9	5
	6	48	8	3
	7	49	7	1
तृतीय अवस्था	8	40	5	–9

रेखाचित्र में (पृष्ठ 441) सारिणी के समंक अंकित किए गए हैं। चित्र में तीन अवस्था (Phases) प्रदर्शित की गई हैं।

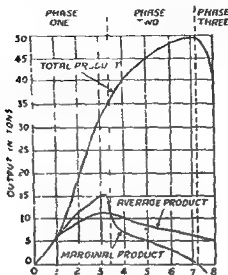
प्रथम अवस्था में परिवर्तनशील साधन (श्रम) की 'औसत उत्पत्ति' (Average Product) बढ़ रही है। इस अवस्था का अन्त अधिकतम औसत उत्पत्ति बिन्दु (highest average product point) पर होता है। इस बिन्दु पर 'औसत उत्पत्ति' तथा सीमान्त उत्पत्ति—दोनों बराबर हैं।

द्वितीय अवस्था में 'औसत उत्पत्ति' कम हो रही है। इस अवस्था का अन्त अधिकतम कुल उत्पत्ति बिन्दु तथा शून्य 'सीमान्त उत्पत्ति' बिन्दु पर होता है। यह

[3] "If increasing amounts of a variable factor are applied to a fixed quantity of the other factors, the amount added to the total product by each additional unit of the variable factor will eventually decrease, after this point has been reached, additional unit of the variable factor will add less to the total product than did previous unit".

[4] Richard G. Lipsey, op cit, p 18

स्मरणीय है कि इस अवस्था में भी 'कुल उत्पत्ति' (Total Product) में वृद्धि हो रही है, तथा 'औसत उत्पत्ति' 'सीमान्त उत्पत्ति' से अधिक है।



चित्र स० 62

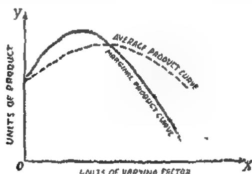
तृतीय अवस्था : में 'कुल उत्पत्ति भी गिरनी प्रारम्भ हो जाती है, 'औसत उत्पत्ति' भी कम होती रहती है तथा सीमान्त उत्पत्ति ऋणात्मक (Negative) हो जाती है।

(1) औसत उत्पत्ति (Average Product) : सारिणी से स्पष्ट है कि भूमि के एक टुकड़े पर श्रम की मात्रा बढ़ाई जा रही है। तीन श्रमिकों को लगाने पर प्रति श्रमिक 'औसत उत्पत्ति' अधिकतम है। प्रथम से तीसरे श्रमिक तक औसत उत्पत्ति बढ़ रही है तथा 'कुल उत्पत्ति' भी बढ़ रही है। इसे हम उत्पादन की प्रथम अवस्था कह सकते हैं। दूसरी अवस्था चौथे श्रमिक से सातवें श्रमिक तक है। इसमें 'कुल उत्पत्ति' में वृद्धि हो रही है, यद्यपि प्रति श्रमिक उत्पत्ति घट रही है। तीसरी अवस्था आठवें श्रमिक के लगाने पर प्रकट होती है। भूमि के टुकड़े पर अधिकतम कुल उत्पत्ति 49 मन प्राप्त की जा सकती है। आठवां श्रमिक लगाने पर अन्य श्रमिकों के कार्य में भी बाधा पड़ती है तथा कुल उत्पादन भी कम हो जाता है। इस प्रकार तृतीय अवस्था अव्यावहारिक है। केवल दूसरी अवस्था ही व्यावहारिक है। दूसरी अवस्था से स्पष्ट है कि यदि श्रम के अनुपात में भूमि की अपेक्षा वृद्धि की जाती है तो प्रति श्रमिक औसत उत्पत्ति घटती है। (इसी प्रकार यदि श्रम की अपेक्षा भूमि के अनुपात में वृद्धि की जाए तो प्रति एकड़ औसत उत्पत्ति कम होगी।) इससे स्पष्ट है कि यदि एक साधन की मात्रा में वृद्धि की जाए तो एक

सीमा के पश्चात् उस साधन की क्रमागत इकाइयों की 'औसत उत्पत्ति' घटती जाएगी। यदि एक साधन की मात्रा मे 20% वृद्धि की जाए (अन्य साधनो को यथास्थिर रखकर) तो 'कुल-उत्पत्ति' मे 20% से कम वृद्धि होगी।

(ii) सीमान्त उत्पत्ति (Marginal Product) : 'सीमान्त उत्पत्ति', कुल उत्पत्ति मे वृद्धि की मात्रा को कहते हैं जो किसी साधन की अतिरिक्त इकाई के लगाने मे प्राप्त होती है। सारिणी के अन्तिम कॉलम मे श्रम की इकाइयो की 'सीमान्त उत्पत्ति' दिखाई गई है। यदि श्रमिको की सख्या 2 से बढाकर 3 कर दी जाती है तो 'श्रम' की 'सीमान्त उत्पत्ति' 33–18=15 हो जाती है। (यहाँ पर यह स्मरणीय है कि उत्पादन मे 15 की वृद्धि केवल तीसरे श्रमिक के ही कारण नही है, क्योंकि यहा पर सभी श्रमिको की क्षमता समान है।

(iii) 'औसत' व 'सीमान्त-उत्पत्ति' मे सम्बन्ध : सारिणी के आधार पर यदि हम 'औसत-उत्पत्ति' और 'सीमान्त-उत्पत्ति' को रेखाचित्र द्वारा प्रकट करें तो उनकी रूप रेखा चित्र स० 63 के अनुसार होगी :



चित्र स० 63

उपर्युक्त चित्र से स्पष्ट है कि (1) प्रारम्भ मे श्रम की इकाइयां बढाने पर 'सीमान्त-उत्पत्ति' 'औसत-उत्पत्ति' की अपेक्षा अधिक तेजी से बढती है। (2) बाद मे 'सीमान्त-उत्पत्ति' 'औसत उत्पत्ति' की अपेक्षा अधिक तेजी से घटने लगती है। (3) एक ऐसा बिन्दु आता है जहा पर 'औसत उत्पत्ति' 'सीमान्त उत्पत्ति' के बराबर होती है। यह बिन्दु अधिकतम 'औसत-उत्पत्ति' का बिन्दु होता है। (4) इस बिन्दु के पश्चात् सीमान्त-उत्पत्ति' और 'औसत उत्पत्ति' दोनों नीचे गिरना प्रारम्भ होती हैं तथा 'सीमान्त-उत्पत्ति' के नीचे गिरने की गति तीव्रतर होती है।

'औसत' व 'सीमान्त उत्पत्ति' का उपरोक्त पारस्परिक सम्बन्ध सदैव सत्य होता है (यदि 'औसत उत्पत्ति' पहले बढ रही हो तथा बाद मे घट रही हो)। उपरोक्त विवरण को ध्यान मे रखते हुए यह कहा जा सकता है कि यदि एक उत्पादन-साधन

का अनुपात, अन्य साधनो के संयोग मे बढा दिया जाए तो एक सीमा के पश्चात् उस साधन की 'औसत' तथा 'सीमान्त-उत्पत्ति' कम होनी प्रारम्भ होगी।

'क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम' के आधुनिक रूप की विवेचना के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि यह नियम समस्त उत्पादन-क्रियाओ पर लागू होता है। अतः प्रतिष्ठित आग्ल अर्थशास्त्रियो का यह मत भ्रामक तथा त्रुटिपूर्ण है कि यह नियम कृषि पर ही लागू होता है। 'उत्पत्ति ह्रास नियम' की प्रवृत्ति प्रत्येक उद्योगो मे विद्यमान है। इसके लागू होने के लिए केवल एक शर्त है कि 'ज्ञान की अवस्था मे परिवर्तन न हो।

3. नियम की मान्यताए (Assumptions) *उत्पत्ति ह्रास नियम निम्नलिखित मान्यताओ पर आधारित है।*

1 उत्पादन विधि अपरिवर्तनीय : *यह मान लिया जाता है कि उत्पादन-विधि मे परिवर्तन नही होता है अर्थात् प्राविधिक ज्ञान की अवस्था दी हुई होती है।* साथ ही साथ यह भी मान लिया जाता है कि उत्पादन-पैमाने की मितव्ययिताए प्राप्त नही हो रही हैं। प्रो॰ बेनहम के शब्दो मे, "This assumes that the state of technical knowledge is given and that there are no economies of scale,"

2. उत्पादन के मूल्य से सम्बन्ध नहीं : इस नियम मे हम उत्पादन की मात्रा पर ध्यान देते हैं, उत्पादित वस्तुओ के मूल्यो पर नही।

3 साधनो का विभाजन सम्भव यह नियम इस मान्यता पर आधारित है कि उत्पादन साधनो—कम से कम परिवर्तनशील साधनो (Variable factors) को छोटी छोटी समान इकाइयो मे विभाजित किया जा सकता है।

4. साधनो का पहले से ही उत्तम सयोग : यह नियम यह मानकर चलता है कि उत्पादन साधनो का सयोग पहले से ही सर्वोत्तम है। यदि किसी साधन की मात्रा, आवश्यक मात्रा से कम है तो उस साधन की मात्रा बढाने पर उत्पादन मे कमी के स्थान पर वृद्धि हो सकती है (अन्य साधनो की मात्रा स्थिर रखने पर)।

5 एक साधन स्थिर : यह नियम उसी समय लागू होगा जबकि एक साधन स्थिर तथा अन्य साधन परिवर्तनशील हो या कम से कम एक साधन परिवर्तनशील हो।

4 नियम के लागू होने के कारण : उत्पत्ति ह्रास नियम के लागू होने के निम्नलिखित कारण है

1. अल्पकाल मे फर्म की लागत अल्प-काल मे यदि कोई फर्म अपनी क्षमता से अधिक उत्पादन कर रही है तो यह नियम लागू होगा। हम यह जानते हैं कि अल्पकाल मे फर्म का औसत लागत वक्र अंग्रेजी के U (यू) की शक्ल का होता है। औसत लागत वक्र का निम्नतम बिन्दु न्यूनतम लागत को प्रकट करता है। यदि

कोई फर्म इस बिन्दु की दाहिनी बिन्दु पर उत्पादन कर रही है तो प्रति इकाई उत्पादन लागत बढ़ती है तथा उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होने लगता है। दीर्घकाल में इस नियम के लागू होने के कारण निम्नलिखित हैं।

2 **एक या कुछ साधनों का स्थिर होना :** इस नियम के लागू होने का सबसे प्रमुख कारण यह है कि उत्पादन के एक या कुछ साधनों को स्थिर मान लिया जाता है। यदि उत्पादन के सभी साधनों में आवश्यक वृद्धि की जा सकती है, तब उत्पादन में आनुपातिक वृद्धि अधिक होगी तथा यह नियम लागू नहीं होगा।

3 **साधनों की कमी :** कुछ साधनों की पूर्ति सीमित होती है। अतः उत्पादन में जब वृद्धि की जाती है तब फर्म के संगठन में परिवर्तन करते समय सीमित साधनों को ध्यान में रखना पड़ता है। कृषि-व्यवसाय में भूमि सीमित होती है अत यह नियम लागू होता है। अन्य उद्योगों में भी यदि कोई कच्चा-माल या मशीन सीमित मात्रा में उपलब्ध है तो यह नियम लागू होने लगता है।

4 **उत्पादन साधनों का अपूर्ण स्थानापन्न होना (Imperfect substitution of Factors) :** उत्पादन के सभी साधन एक दूसरे के स्थानापन्न नहीं होते है। यदि हम उन्हे स्थानापन्न मान भी ले तो उन्हे एक सीमा तक ही, एक दूसरे से प्रतिस्थापित किया जा सकता है। श्रीमती जोन रॉबिन्सन ने कहा है कि यदि एक साधन स्थिर हो तथा अन्य साधनों की पूर्ति पूर्णतया लोचदार हो तो यह बिल्कुल सम्भव है कि उत्पादन का कुछ भाग, स्थिर साधन की सहायता से पैदा किया जाय (अन्य परिवर्तनशील साधनों की सहायता से)। जब स्थिर साधन का अन्य साधनों के साथ अनुकूलतम प्रयोग कर लिया जाए तब स्थिर साधन के स्थान पर स्थानापन्न (Substitue) साधन का प्रयोग किया जाए। इस प्रकार स्थिर लागत पर उत्पादन में वृद्धि सम्भव है, तथा यह नियम लागू होगा। परन्तु व्यावहारिक रूप में, साधन एक दूसरे के पूर्ण स्थानापन्न नहीं होते है, अतः उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है। श्रीमती जोन रॉबिन्सन के शब्दों में,

"..... Law of Diminishing Returns really states that there is a limit to the extent to which one factor of production can be substituted for another, or in other words the elasticity of substitution between different factors is not infinite If this were not true it would be possible... to substitute some other factor for it and to increase output at constant cost." —*Mrs Joan Robinson*

2. उत्पत्ति वृद्धि नियम

(Law of Increasing Returns)

पुराने अर्थशास्त्री यह विचार प्रकट करते थे कि किसी देश के उद्योगों का वर्गीकरण, उत्पत्ति के नियमों के आधार पर किया जा सकता है। मार्शल के अनुसार

जो उद्योग प्रकृति पर अधिक निर्भर रहते हैं (जैसे कृषि) उनमे उत्पत्ति ह्रास नियम तथा जो उद्योग मनुष्य के प्रयत्नो पर आधारित होते हैं। (जैसे मशीन निर्माण) उनमे उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता है। आधुनिक अर्थशास्त्रियो ने इस धारणा का खंडन किया है तथा यह विचार व्यक्त किया है कि उत्पत्ति ह्रास नियम तथा उत्पत्ति वृद्धि नियम एक ही प्रकार के तथ्यो पर आधारित नही है। उत्पत्ति ह्रास नियम मे हम कुछ साधनो को स्थिर (constant) तथा कुछ साधनो को परिवर्तनशील मानकर व्याख्या करते है, इसके विपरीत उत्पत्ति वृद्धि नियम उस स्थिति की व्याख्या करता है, जबकि उत्पादन के सभी साधनो (All Inputs) मे परिवर्तन होता है। उत्पत्ति ह्रास नियम साधनो के दोषपूर्ण संयोगो (incorrect factor proportions) की व्याख्या करता है जबकि उत्पत्ति वृद्धि नियम उत्पादन मान की मितव्ययिताओ (economies of scale) की व्याख्या करता है। इस प्रकार आधुनिक मत के अनुसार ये दोनो नियम एक दूसरे से भिन्न हैं। ये दोनो नियम दो विभिन्न परिस्थितियो मे लागू होते हैं।

1. परिभाषा 'क्रमागत-उत्पत्ति वृद्धि-नियम', 'क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम' के पूर्णतया प्रतिकूल है। यदि किसी उद्योग मे श्रम, पूजी आदि साधनो की अधिकाधिक इकाइया लगायी जाए तो सम्भव है उत्पादन मे लगाए गए साधनो के अनुपात की अपेक्षा अधिक वृद्धि हो। जैसे यदि साधनो की मात्रा मे 10% की वृद्धि की जाए तो कुल उत्पादन मे 10% से अधिक वृद्धि होगी। दूसरे शब्दो मे हम कह सकते हैं कि 'उत्पत्ति वृद्धि नियम' यह बतलाता है कि यदि उद्योग का विस्तार किया जाए तो 'सीमान्त उत्पादन लागत' कम होती जाएगी। प्रो॰ मार्शल ने इस नियम की क्रियाशीलता का सम्बन्ध उद्योगो के साथ (कृषि के साथ नही) स्थापित किया है। उनके अनुसार इस नियम की क्रियाशीलता का प्रमुख कारण श्रम व पूजी की मात्रा मे वृद्धि के फलस्वरूप संगठन का श्रेष्ठतर होना तथा श्रेष्ठ संगठन के फलस्वरूप उत्पादन साधनो की कार्य कुशलता मे वृद्धि होती है। चैपमैन के अनुसार, "एक उद्योग का विस्तार करने पर, यदि योग्य उत्पादन साधनो का अभाव नही है, तो अन्य बातो के समान रहने पर, उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता है।"[6] श्रीमती जोन रॉबिन्सन के अनुसार, "जब किसी साधन का अधिक मात्रा मे प्रयोग किया जाता है तो सामान्यत संगठन मे ऐसे सुधार सम्भव हो जाते हैं जिनसे उत्पादन साधन की इकाई (मनुष्य, एकड, या मुद्रा-पूजी) की कार्य-कुशलता मे वृद्धि हो जाती है, जिससे उत्पादन मे वृद्धि करने के लिए उत्पादन साधन की भौतिक मात्रा मे आनुपा-

[6] "The expansion of an industry, provided that there is no dearth of suitable agents of production, tends to be accompanied, other thing being equal, by increasing returns." — *Chapman*

तिक वृद्धि नहीं करनी पडती है।"[6] अर्थात् उद्योग में सगठन की कुशलता उत्तम होने पर उत्पादन मे, उत्पादन साधनो की मात्रा को आनुपातिक वृद्धि को अपेक्षा अधिक वृद्धि होती है।

2 नियम का स्पष्टीकरण : इस नियम का स्पष्टीकरण निम्नलिखित उदाहरण द्वारा किया जा सकता है। स्पष्ट है कि उत्पादन साधनों की इकाइयो में वृद्धि करने पर 'सीमान्त उत्पत्ति' तथा 'औसत उत्पत्ति'—दोनो मे क्रमशः वृद्धि हो रही है :

उत्पादन साधनो की इकाइयों द्वारा उत्पादन

श्रम व पूजी की इकाइया	कुल उत्पत्ति	सीमान्त उत्पत्ति	औसत उत्पत्ति
1	[illegible]	—	8
2	18	10	9
3	32	14	10 6
4	49	17	12 2
5	69	20	13 8

उपर्युक्त तालिका मे 'सीमान्त उत्पत्ति' 'औसत उत्पत्ति' की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ रही है। 'क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम' को लागत ह्रास नियम (Law of Decreasing Costs) भी कहते है, क्योकि साधनो की मात्रा बढने पर प्रति इकाई उत्पादन लागत कम होती जाती है।

3. नियम लागू होने के कारण

(1) आन्तरिक मितव्ययिताए : इस नियम के लागू होने का प्रमुख कारण आन्तरिक मितव्ययिताओ (Internal Economies) का पाया जाना है जो अधिकाश अशो मे अविभाज्यताओ (indivisibilities) के कारण प्राप्त होती हैं। उत्पादन की मात्रा म ज्यो-ज्यो वृद्धि की जाती है, अविभाज्य साधनो का त्यो त्यो अधिक उपयोग होने लगता है, अत उत्पादन लागत प्रति इकाई कम होने लगती है।

[6] "When an increased amount of any factor of production is devoted to a certain use, it is often the case that improvements in organisation can be introduced which will make natural units of the factor (men, acres, or money capital) more efficient, so that an increase in output does not require a proportionate increase in the physical amount of the factor."

—*Joan Robinson, op. cit, p 333*

उत्पादन मान का विस्तार करने पर 'बाह्य मितव्ययिताए' (External Economies) भी प्राप्त होती है, जो उत्पादन लागत को कम कर देती हैं।

(2) प्राविधिक मितव्ययिताए उत्पादन मान का विस्तार करने पर, Technical Economies प्राप्त होने लगती हैं, अत उत्पादन लागत अपेक्षाकृत कम होने लगती है।

(3) 'श्रम विभाजन' एव 'विशिष्टीकरण' की योजनाए कार्यान्वित की जाती हैं। इससे भी उत्पादन लागत कम होती है।

(4) अनुकूलतम आकार उत्पादन मान बढाने पर फर्म अनुकूलतम आकार (Optimum size) की ओर अग्रसर होती है। अतः अनुकूलतम बिन्दु पर पहुँचने तक उत्पादन लागत कम होती है (यह स्मरणीय है कि 'अनुकूलतम उत्पादन बिन्दु' के पश्चात् फर्म का विस्तार करने पर उत्पादन लागत बढती है)।

(5) साधनो की पूर्ति यदि उत्पादन के साधन आवश्यक मात्रा मे उपलब्ध हो तो उनका प्रयोग आवश्यक अनुपात मे किया जा सकता है। ऐसा होने पर, उत्पादन मान मे परिवर्तन द्वारा, लागत को कम करने का प्रयत्न किया जाता है तथा उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता है।

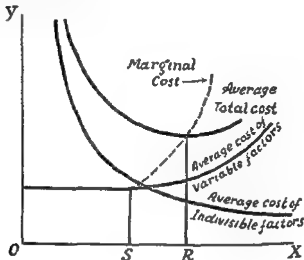
उपरोक्त कारणो के सयोग से उत्पादन-लागत मे कमी होती है तथा उत्पादन वृद्धि नियम लागू होने लगता है। जोन राबिन्सन के अनुसार इस नियम के लागू होने के प्रमुख कारण—उत्पादन विधि मे सुधार, साधनो की कुशलता मे वृद्धि, अविभाज्य साधनो का पूर्ण उपयोग तथा विशिष्ट उत्पादन प्रणाली का अपनाया जाना है।

"In every case increasing returns arise from improvements in productive technique As output increases the efficiency of the *factors can be increased by the fuller utilization of indivisible units* of the factors or by the adoption of more specialised methods of production." —*Joan Robinson*

4 रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण .

'क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम' के लागू होने के कारणो से स्पष्ट है कि यह नियम मुख्यत 'अविभाज्यताओ' (Indivisibilities) के कारण लागू होता है। मान लीजिए कोई एक उत्पादन साधन अविभाज्य (Indivisible) है तथा अन्य साधन विभाज्य हैं। विभाज्य साधनो म, छोटे-छोटे परिमाण मे, समान लागत पर वृद्धि की जा सकती है। उत्पादन लागत' ज्ञात करते समय, यदि हम 'अविभाज्य साधन' की लागत की गणना न करें, तो प्रति इकाई उत्पादन लागत, कुछ सीमा

तक समान (constant) रहेगी । ज्यो-ज्यों उत्पादन की मात्रा बढ़ाई जाएगी, अविभाज्य साधन की क्षमता का अधिकाधिक उपयोग होने लगेगा । अब यदि हम अविभाज्य साधन की लागत को भी उत्पादन व्यय में सम्मिलित कर लें, तो उत्पादन लागत प्रति इकाई कम होगी । अविभाज्य साधन की पूरी क्षमता का उपयोग करने के पश्चात् भी यदि उत्पादन मात्र बढ़ाया जाता है तो 'क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम' लागू होना प्रारम्भ हो जाएगा ।



चित्र सं० 64

चित्र सं० 64 में इस तथ्य को प्रदर्शित किया गया है । OX पर उत्पादन तथा OY पर लागत प्रदर्शित की गई है । चित्र से स्पष्ट है, कि अविभाज्य साधन के उत्पादन की प्रति इकाई लागत (Average Cost of Indivisible Factor) को प्रदर्शित करने वाली रेखा एक आयताकार 'अति परवलय' (a rectangular hyperbola) की शक्ल में है, जो उत्पादन की मात्रा में वृद्धि के साथ साथ नीचे गिर रही है । अन्य साधनों की औसत लागत OS तक समान है, इसके पश्चात् 'क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम' लागू होना प्रारम्भ हो जाता है तथा इन साधनों की औसत लागत वक्र (Average Cost Curve of Variable Factors) ऊपर उठना प्रारम्भ हो जाता है । कुल लागत वक्र (Average Total Cost Curve) OR तक नीचे गिरता है (यह स्मरणीय है कि Average Total Cost=Average Cost of Indivisible factors + Average Cost of Variable factors) तथा OR के पश्चात् ऊपर उठने लगता है । सीमान्त लागत वक्र OS तक समान (constant) है, उसके पश्चात् ऊपर उठता है तथा Average Total Cost Curve को निम्नतम बिन्दु पर पार करता है (उत्पादन की OR मात्रा के लिए) । यदि लागत में वृद्धि

एक सीमा तक पहुंच गई है, तो दूसरे अविभाज्य साधक का प्रयोग करना लाभदायक होगा, तथा पुन उपरोक्त प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाएगी ।

'क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम' विशेषतया उद्योगो पर लागू होता है, क्योंकि :

1. उद्योगो मे श्रम-विभाजन, विशिष्टीकरण, मशीनो का प्रयोग निरन्तर अनुसन्धान द्वारा नवीन उत्पादन विधियो की खोज तथा उनका उत्पादन क्रिया मे उपयोग और आन्तरिक एव बाह्य मितव्ययिताओ की प्राप्ति अपेक्षाकृत सरल होती है ।

2. उद्योगो पर इस नियम के लागू होने का दूसरा प्रमुख कारण, उनमे उत्पादन साधनो की पूर्ति का लोचदार होना है । उत्पादक आवश्यकतानुसार, उत्पादन साधनो के *अनुपात म परिवर्तन कर सकता है, इस प्रकार वह साधनों के* सर्वोत्तम सयोग द्वारा उत्पादन करता है, तथा बडे पैमाने के उत्पादन का लाभ उठाता है । कृषि मे, एक साधन (भूमि) की लोच बहुत कम होती है. अत. सभी साधनो को *सर्वोत्तम अनुपात मे सयुक्त करना कठिन होता है । इस प्रकार यह नियम* सामान्यतया उद्योगो पर ही लागू होता है।

यह स्मरणीय है कि यह नियम **उद्योगों पर भी अनिश्चित** काल तथा **अनिश्चित सीमा तक लागू नहीं होता** । उत्पादन साधनो की अविभाज्यता मे लाभ, और आतरिक एव बाह्य मितव्ययिताए एक सीमा तक ही प्राप्त की जा सकती है । *अन्त मे, एक सीमा के पश्चात् 'उत्पत्ति ह्रास नियम' अनिवार्य रूप से लागू होने* लगता है ।

3. उत्पत्ति समता नियम
(Law of Constant Returns)

उत्पत्ति-वृद्धि नियम की अवस्था बहुत दिनो तक नही चल सकती है । कुछ समय तक साधनो की मात्रा मे आवश्यक वृद्धि से उत्पादन मे अधिक वृद्धि होती है, परन्तु अधिक दीर्घकाल मे उत्पत्ति-समता नियम लागू होता है । अर्थात् जिस अनुपात मे उत्पादन के साधनो मे वृद्धि की जाती है, उत्पादन मे भी उसी अनुपात मे वृद्धि होती है । *जैसे यदि उत्पादन के साधनो की मात्रा बढाकर दुगुनी कर दी जाए* तो उत्पादन की मात्रा भी दुगुनी हो जाती है । इस नियम के लागू होने की व्याख्या अर्थशास्त्रियो द्वारा दो दृष्टिकोणो से की जाती है ।

1. पहला दृष्टिकोण : जब उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि की जाती है तब यह सम्भव है कि कुछ अशो मे मितव्ययिताए (Economies) *तथा कुछ अशो मे अमित-व्ययिताए* (Diseconomies) प्राप्त हो । यदि मितव्ययिताए तथा अमितव्ययिताए एक दूसरे के बराबर होती हैं तो उत्पत्ति-समता नियम की स्थिति पाई जाती है ।

निर्माणकारी उद्योगों मे, विस्तार (expansion) द्वारा मितव्ययिताएं हमेशा प्राप्त नहीं होती रहती। कुछ समय पश्चात् फर्मे अनुकूलतम आकार की हो जाती हैं। यदि अनुकूलतम आकार के पश्चात् भी उनका विस्तार किया जाए तो उनकी कार्य क्षमता म कमी होगी। परन्तु यदि उद्योग इस प्रकार का है जिसमे नई फर्मों का प्रवेश सम्भव है, तथा सभी फर्मों का प्राविधिक ढांचा (Technical Structure) एक-सा है तो ऐसी दशा मे उद्योग के उत्पादन मे वृद्धि, नई फर्मों के प्रवेश के कारण होगा (वर्तमान फर्मों के उत्पादन मे वृद्धि द्वारा नहीं)। इस प्रकार कुल उत्पादन, अनुकूलतम आकार की एक जैसी फर्मों द्वारा किया जाएगा तथा उन फर्मों की (इस प्रकार उद्योग की) लागत, लागत समता नियम से शासित होगी।

2 दूसरा दृष्टिकोण कुछ अर्थशास्त्रियों ने यह व्यक्त किया है कि उत्पत्ति नियम बहुत ही कम समय तक लागू होता है, परन्तु कुछ अर्थशास्त्रियों ने व्याव-हारिक अध्ययन (empirical studies) द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि इस नियम का क्षेत्र तथा लागू होने की अवधि काफी लम्बी हो सकती है। यदि बहुत ही छोटे पैमाने के उत्पादन की अकुशलताओं को दूर करने के बाद, किसी फर्म के उत्पादन मे बहुत ही कम मात्राओं म वृद्धि होती रहती है तथा दूसरी ओर प्रमितव्ययिताओं के कारण बहुत ही कम मात्रा मे उत्पादन ह्रास नियम भी लागू होता है तो यह कहा जा सकता है कि, ऐसी स्थिति म वास्तव म उत्पत्ति-समता नियम लागू हो रहा है। इस प्रकार की कल्पना मे सैद्धान्तिक विश्लेषण सरल हो जाता है तथा यह कल्पना व्यावहारिक दृष्टि म भी सरल है। प्रो० वाटसन के विचार इस सम्बन्ध मे महत्व-पूर्ण हैं:

> "Though some theorists are inclined to look upon constant returns with jaundiced eyes, empirical evidence suggests that the phase of constant returns is long, that it typically covers a wide range of output And if after overcoming the inefficiencies of too small scale a firm has return that increase only by the tiniest degrees and if the decreases in decreasing returns are exceedingly small then it can be assumed that returns to scale are constant. Such an assumption has great practical convenience, and it introduces a welcome simplication of theoretical analysis"

नियम का स्पष्टीकरण :

'क्रमागत उत्पत्ति समता नियम' यह प्रकट करता है कि यदि उत्पादन क्रिया म उत्पादन साधनों की मात्रा म वृद्धि की जाए तो "सीमान्त उत्पत्ति ठीक उसी अनुपात म बढ़ेगी, जिस अनुपात म उत्पादन साधनों म वृद्धि की गई है। मार्शल ने

इस नियम को इस प्रकार परिभाषित किया है, "जब समस्त उत्पादन सेवाओं में एक दिए हुए अनुपात में वृद्धि कर दी जाती है तो उत्पत्ति उसी अनुपात से बढ़ जाती है।"

"When all of the productive services are increased in a given proportion, the product is increased in the same proportion"

—*Marshall*

उदाहरणार्थ, यदि उत्पादन साधनों में 10% वृद्धि की जाती है तो कुल उत्पादन भी 10% से बढ़ जायगा। इस नियम के अनुसार उत्पादन-साधनों में वृद्धि करने पर 'सीमान्त लागत' सदैव समान रहती है। अतः इस नियम को 'क्रमागत-लागत-समता-नियम' (Law of Constant Costs) की भी संज्ञा दी गई है।

इस नियम को 'अनुकूलतम आकार' (Optimum size) के संदर्भ में भी स्पष्ट किया जा सकता है। यदि कोई फर्म 'अनुकूलतम आकार' प्राप्त करने की दिशा में प्रयत्नशील है तो वह 'क्रमागत उत्पत्ति-वृद्धि' प्राप्त करेगी। यदि फर्म 'अनुकूलतम आकार' की सीमा को पार कर जाती है तो 'क्रमागत-उत्पत्ति-ह्रास' प्राप्त करेगी। परन्तु जब तक वह अनुकूलतम-बिन्दु' पर उत्पादन कर रही है, उस समय तक 'क्रमागत उत्पत्ति समता' प्राप्त करेगी। निम्नलिखित सारिणी द्वारा इस समय को स्पष्ट किया जा सकता है

उत्पादन साधनों की इकाइयों द्वारा उत्पादन (मनों में)

उत्पत्ति-साधनों की इकाइयां	कुल-उत्पत्ति	सीमान्त-उत्पत्ति
1	20	—
2	40	20
3	60	20
4	80	20

सारिणी से स्पष्ट है कि उत्पादन साधनों की मात्रा में वृद्धि करने पर भी सीमान्त उत्पादन सदैव समान रहता है। सामान्यतया यह नियम उन उद्योगों पर लागू होता है जिनमें उत्पादन के कई विभाग होते हैं। ऐसा सम्भव है कि एक विभाग में 'उत्पादन-वृद्धि नियम' के अनुसार उत्पादन हो रहा हो तथा दूसरे विभाग में 'उत्पादन ह्रास नियम' के अनुसार और इन दोनों नियमों की परस्पर व विपरीत प्रवृत्तियां एक दूसरे को सन्तुलित कर लें, जिससे कुल-उत्पादन समता-नियम के अनुसार होने लगे।

'क्रमागत-उत्पत्ति-समता-नियम' उत्पादन-साधनों के अनुकूलतम तथा सर्वोत्तम संयुक्तीकरण का द्योतक है। उत्पादन क्रिया के आरम्भ में सामान्यतः 'क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम' लागू होता है (जब तक विभिन्न साधनों की उत्पादन-क्षमता का पूर्ण

उपयोग नहीं कर लिया गया है)। साधनों की क्षमता के पूर्ण उपयोग के बिन्दु पर 'उत्पत्ति-समता नियम' लागू होता है। यदि उस बिन्दु (सीमा) के पश्चात् भी फर्म का विस्तार किया जाए तो 'क्रमागत-उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होना प्रारम्भ हो जाएगा अतः 'उत्पत्ति समता-नियम' उद्यमी के लिए इस तथ्य के सूचक का काम करता है कि यदि फर्म का अधिक विस्तार किया गया तो 'उत्पत्ति-ह्रास-नियम' लागू होना प्रारम्भ हो जायगा। अतः 'उत्पत्ति-समता नियम' फर्म के 'अनुकूलतम आकार' का प्रतीक है। यह नियम फर्म का अनुकूलतम आकार निश्चित करने मे सहायक होता है।

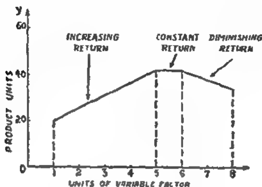
'उत्पत्ति समता नियम' के क्षेत्र मे गणितीय-भाषा (mathematical language) का प्रयोग कई अर्थशास्त्रियों ने किया है। Production Function पर गणित की सहायता से प्रकाश डाला गया है। जो Production Function उत्पत्ति समता नियम को दर्शाता है उसे 'Linear and homogeneous' या 'homogeneous of the first degree' कहते हैं। Cobb Douglas production Function इसी प्रकार का है।

कुछ अर्थशास्त्रियों ने यह मत व्यक्त किया है कि उत्पत्ति समता नियम बहुत दीर्घकाल मे उसी समय लागू होगा जबकि उत्पादन के सभी साधन परिवर्तनशील हो, परन्तु 'साहस' (entrepreneur) एक ऐसा साधन है जो परिवर्तनशील नहीं है अतः उत्पत्ति समता नियम लम्बे समय तक लागू नहीं हो सकता। परन्तु ऐसा कहना बाल की खाल निकालने के समान है।

4 उत्पादन नियमों मे पारस्परिक सम्बन्ध

उत्पादन के ये तीनों नियम एक दूसरे से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित हैं। वस्तुतः वे एक ही नियम—'प्रतिस्थापन नियम'—की तीन विभिन्न दशाओं मे प्रकट करते हैं। उत्पादक उत्पादन साधनों के विभिन्न सयोगो से उत्पादन करने का प्रयत्न करता है तथा उन सयोगो (Combinations) मे से सर्वोत्तम 'सयोग' मे विभिन्न साधनों के जो अनुपात होना है, उसी अनुपात मे वह उत्पादन साधनों को सयुक्त कर उत्पादन करता है, जिससे उत्पादन लागत न्यूनतम हो सके। जब उत्पादक उत्पादन प्रारम्भ करता है तो सामान्यतः आरम्भ मे उत्पादन की मात्रा बढाने पर 'क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम' के अनुसार उत्पादन होता है, क्योंकि आरम्भ मे साधनों की पूर्ण उत्पादन क्षमता का उपयोग नहीं हो पाता। ज्यों ज्यों उत्पादन मान बढाया जाता है, प्रति इकाई लागत कम होती जाती है (जब तक कि 'अविभाज्यताओं' का पूरा लाभ न उठा लिया जाए)। यह अवस्था एक सीमा तक ही रहती है। जब 'अविभाज्यताओं का पूरा लाभ उठा लिया जाता है, तब उस बिन्दु पर अत्यन्त अल्प समय के लिए 'उत्पत्ति समता नियम' लागू होता है, जो फर्म के अनुकूलतम आकार

का प्रतीक है। उसके पश्चात् यदि उत्पादन की मात्रा मे और वृद्धि की गई तो 'उत्पत्ति ह्रास मान' लागू होना प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार सामान्यतया, वृद्धि मान, समता मान तथा ह्रास मान, की अवस्थाए प्रत्येक उत्पादन क्रिया मे पाई जाती हैं।



चित्र स० 65

इन तीनो अवस्थाओ का निरूपण उपरोक्त रेखा चित्र मे किया गया है।

5 उत्पादन का प्रतिस्थापन नियम
(Law of Substitution in Production)

उत्पादन के उपरोक्त नियमो का प्रभाव उद्यमी के उत्पादन साधनो के सम्बन्ध मे निर्णय पर पड़ता है। वह विभिन्न उत्पादन साधनो को सर्वोत्तम अनुपात म मिलाकर उत्पादन करने का प्रयत्न करता है। वह विभिन्न साधनो को ऐसे अनुपात म मिलाने का प्रयत्न करता है जिससे लागत न्यूनतम तथा लाभ अधिकतम हो सके। उत्पादन प्रक्रिया मे यह सर्वथा सम्भव है कि एक साधन या उसके कुछ अश के स्थान पर दूसरे साधन या उसके कुछ अश को काम मे लाया जा सके। उदाहरणार्थ, अधिक पूजी व कम श्रम का प्रयोग किया जा सकता है या अधिक पूजी व कम भूमि अथवा अधिक श्रम व कम भूमि को उत्पादन कार्य के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। यद्यपि एक साधन के स्थान पर दूसरे साधन का पूर्ण उपयोग नही किया जा सकता, तथापि एक उद्यमी को कुछ अशो मे इस बात की स्वतन्त्रता रहती है कि वह उत्पादन के विभिन्न साधनो का प्रयोग किस अनुपात मे करें? व्यावहारिक दृष्टि से सम्भव है, किसी साधन की एक इकाई के स्थान पर किसी अन्य साधन की इकाई का प्रयोग न किया जा सके, परन्तु एक साधन की इकाई के एक अश का दूसरे साधन की इकाई के एक अश के स्थान पर प्रयोग करना सामान्यतया सम्भव होता है। किसी एक उत्पादन साधन की इकाइयो के स्थान पर अन्य साधन

या साधनों की इकाइयों का उपयोग करने को साधनों का प्रतिस्थापन (Substitution of Factors) कहते हैं।

1. परिभाषा : उत्पादन में 'प्रतिस्थापन' का अत्यधिक महत्व है। उत्पादक महँगे साधनों के स्थान पर सस्ते तथा अधिक उत्पादक साधनों का प्रयोग करता है। 'अनुकूलतम अनुपात' में साधनों को संयुक्त करने या 'न्यूनतम-लागत' पर उत्पादन करने के लिए उत्पादक 'प्रतिस्थापन सिद्धान्त' का सहारा लेता है। प्रतिस्थापन नियम यह बतलाता है कि, "न्यूनतम लागत पर उत्पादन हेतु, उत्पादन साधनों का आदर्श संयोग उस समय प्राप्त होता है जबकि विभिन्न साधनों का प्रयोग ऐसे अनुपात में किया जाए जिससे प्रत्येक साधन की 'सीमान्त उत्पत्ति' समान (साधनों के मूल्यों को ध्यान में रखते हुए) रहे।" समस्त साधनों की सीमांत उत्पादकता समान होने के कारण इसे सम सीमांत उत्पत्ति नियम' (Law of Equi marginal Productivity) भी कहते हैं।

2. नियम का स्पष्टीकरण उत्पादन के एक साधन की प्रतिस्थापना (substitution) दूसरे साधन द्वारा की जा सकती है। यदि उत्पादक x तथा y साधनों में से प्रत्येक पर दस दस रुपए व्यय करता है और उसे यह ज्ञात होता है कि x साधन द्वारा उत्पादन अधिक होता है, तो उत्पादक y साधन की प्रतिस्थापना x द्वारा करेगा अर्थात् वह x साधन की अधिक इकाइयों का प्रयोग करेगा और y साधन की कम इकाइयों का। उत्पादक, साम्य (Equilibrium) की अवस्था में उस समय होगा जबकि x साधन पर किए गये 'सीमान्त व्यय' से प्राप्त अतिरिक्त उत्पादन y साधन पर किए गए सीमान्त व्यय से प्राप्त अतिरिक्त उत्पादन के बराबर हो। उत्पादक उस समय तक y साधन के स्थान पर x साधन का प्रयोग करता जाएगा, जब तक दोनों (x और y) पर किए गए सीमान्त व्यय से प्राप्त अतिरिक्त उत्पादन बराबर न हो जाए।

हम यह जानते हैं कि किसी साधन की 'सीमान्त उत्पत्ति' उस साधन की एक अतिरिक्त इकाई से प्राप्त उत्पत्ति को कहते हैं। व्यावहारिक रूप में हम यह भी जानते हैं कि विभिन्न साधनों की इकाइयों का मूल्य समान नहीं होता। यह आवश्यक नहीं है कि श्रम की एक इकाई का मूल्य, भूमि या पूँजी की एक इकाई के मूल्य के बराबर हो। अतः विभिन्न साधनों की 'सीमांत उत्पत्ति' की तुलना करने के लिए यह आवश्यक है कि उन साधनों की सीमान्त इकाई को प्राप्त करने के लिए किए गए व्यय को भी ध्यान में रखें। अतः यदि हम x साधन पर किए गए 'सीमान्त व्यय' से प्राप्त अतिरिक्त उत्पादन' का मूल्य ज्ञात करना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि x साधन की सीमान्त उत्पत्ति में, साधन के मूल्य से भाग दे दें। उदाहरणार्थ, यदि एक साधन की 'सीमान्त उत्पत्ति' 50 इकाइयां हैं तथा उस साधन

की इकाई का मूल्य 5 रुपया है, तो ऐसी स्थिति म उस साधन पर किए गए सीमान्त व्यय (अन्तिम एक रुपया) से 50—5=10 रु० का अतिरिक्त उत्पादन होगा।

अत उत्पादक 'साम्य अवस्था' (न्यूनतम लागत की अवस्था) म उस समय होगा जबकि[8]

$$\frac{\text{साधन 'x' की सीमान्त उत्पादकता}}{\text{x का मूल्य}} = \frac{\text{साधन y की सीमान्त उत्पादकता}}{\text{y का मूल्य}}$$

यदि उपरोक्त समीकरण मे प्रथम (बाई तरफ का) का मूल्य द्वितीय (दाई तरफ) से अधिक है तो साधन x की अधिक तथा साधन y की कम इकाइयो का इस्तेमाल करना लाभदायक होगा । उत्पादक x तथा y की इकाइयो की सख्या मे उस समय तक परिवर्तन करता जाएगा, जब तक कि उपरोक्त समीकरण की शर्तें पूरी न हो जाए ।[9]

इस प्रकार 'प्रतिस्थापन नियम' साधनो के अनुकूलतम सयोग मे सहायक होता है । साधनो को विभिन्न उद्योगो में इस प्रकार वितरित (Allocation) किया जाता है जिससे उनकी सीमान्त उत्पत्ति प्रत्येक उद्योग मे समान रहे । यदि सूती वस्त्र उद्योग मे इस्पात उद्योग की अपेक्षा, श्रम की सीमान्त उत्पादकता अधिक है तो श्रम इस्पात उद्योग से हटकर सूती वस्त्र उद्योग मे लगेगा । श्रम के स्थानान्तर (transfer) की प्रक्रिया उस समय तक चलती रहेगी जब तक कि दोनो उद्योगों मे उसकी 'सीमान्त उत्पादकता' समान न हो जाए । इस प्रकार उत्पादन साधनो का विभिन्न उद्योगो मे वह वितरण आदर्श होगा, जिसमे किसी साधन को, एक उद्योग को छोड़कर दूसरे उद्योग मे जाने के लिए प्रोत्साहन (inducement) न मिले । बेनहम के शब्दो में, "साम्य अवस्था इस अर्थ मे प्राप्त हो चुकी है कि किसी भी साधन को एक उद्योग से दूसरे उद्योग मे स्थानान्तर के लिए प्रोत्साहन नही मिल रहा है । ऐसी अवस्था मे एक साधन की सीमान्त उत्पादकता का मूल्य, प्रत्येक उद्योग म समान होगा ।"

[8] इसे समीकरण के रूप म इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है

$\frac{MPx}{Px} = \frac{MPy}{Py} = \frac{MPn}{Pn}$ जबकि MPx=साधन की सीमान्त उत्पादकता MPy=साधन y की सीमान्त उत्पादकता, Px=साधन x का मूल्य तथा Py=साधन y का मूल्य ।

[9] यह स्मरणीय है कि उत्पादक विभिन्न 'साधनो की सीमान्त उत्पत्ति' को समान रखने का प्रयत्न नही करता बल्कि साम्य अवस्था प्राप्त करने के लिए वह विभिन्न साधनो की 'सीमान्त उत्पत्ति' म साधनो के मूल्यो का भाग देता है । इस प्रकार भाग देने मे प्राप्त परिणामो को वह बराबर रखने की चेष्टा करता है ।

प्रश्न व संकेत

1. परिवर्तनशील लागत सिद्धान्त को समझाइए। किन परिस्थितियों में उत्पादन, ह्रासमान लागत द्वारा शासित होता है ?

[संकेत—प्रश्न के प्रथम भाग में परिवर्तनशील अनुपात के नियम का उदाहरण व रेखाचित्र सहित विवेचन कीजिए तथा दूसरे भाग में इस नियम के लागू होने की दशाओं को बताइए।]

2. एक सामान्य उत्पादन फलन की दूसरी अवस्था में एक साधन की कुल उत्पत्ति, औसत उत्पत्ति और सीमान्त उत्पत्ति का क्या गतिक्रम होता है ? किसी एक साधन की माग का निर्धारण फलन की दूसरी अवस्था म ही क्यों होता है ?

(Raj. M. A 1969)

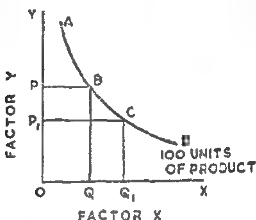
3. "वृद्धि तथा स्थिर नियम केवल ह्रास नियम के ही अस्थायी रूप (Temporary Phases) हैं।" इस कथन को समझाइए। (Vikram, B A I, 1964)

[संकेत—रेखाचित्र द्वारा उत्पत्ति ह्रास नियम को समझाइए तथा उपर्युक्त कथन की उपयुक्तता पर विचार करते हुए आधुनिक अर्थशास्त्रियों का मत लिखिए।]

4 (अ) वर्द्धमान उत्पादन-खर्च और (ब) ह्रासमान उत्पादन खर्च नियमों के लागू होने क कारणों को समझाइये। क्या आप सोचते हैं कि एक उद्योग के लिए ये दोनों नियम पूर्णरूप से Symmetrical हैं ?

(एम० काम०, राज०, 1969)

यदि इसे एक रेखाचित्र द्वारा प्रकट किया जाए तो चित्र सख्या 66 की भाति चित्र बनेगा। OX पर X साधन की मात्रा तथा OY पर Y साधन की मात्रा प्रदर्शित की गई है। AD सम उत्पादन वक्र (Equal Product curve) है। यह वक्र साधनो के उन सभी सयोगो को प्रदर्शित करता है जिनके द्वारा वस्तु की 100



चित्र स० 66

इकाइया पैदा की जा सकती हैं। उदाहरण के लिए बिन्दु C यह प्रदर्शित करता है कि साधन X की OQ_1 मात्रा तथा साधन Y की OP_1 मात्रा द्वारा वस्तु की 100 इकाइया पैदा की जा सकती है। इसी प्रकार बिन्दु B यह प्रदर्शित करता है कि साधन X की OQ मात्रा तथा साधन Y की OP मात्रा द्वारा 100 वस्तुएँ पैदा की जा सकती हैं। AD वक्र पर हम कोई भी बिन्दु ले ल वह बिन्दु यह प्रदर्शित करेगा कि दो साधनों के सयोग से उत्पादन समान होगा। इसीलिए इस वक्र को समोत्पत्ति वक्र कहते है। यहा पर यह मानना पडेगा कि उत्पादन की प्राविधिक अवस्थाएँ (Technical Conditions) दी हुई है।

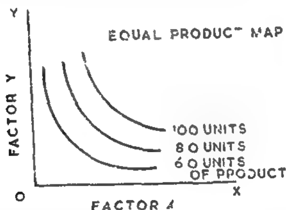
समोत्पत्ति वक्र तथा उदासीनता वक्र मे अन्तर

समोत्पत्ति वक्र को देखने से ऐसा मालूम पडता है कि वह उदासीनता वक्र की ही भाँति है। परन्तु दानो मे अन्तर होता है। प्रथम, समोत्पत्ति वक्र का उत्पादन की मात्रा द्वारा प्रकट किया जा सकता है। परन्तु उदासीनता वक्र को किसी मात्रा द्वारा प्रकट नही किया जा सकता। समोत्पत्ति वक्र को हम सख्याओ द्वारा प्रकट कर सकते हैं, जैसे चित्र मे समोत्पत्ति वक्र AD उत्पादन की 100 इकाइयो को प्रकट करती है। इसके द्वारा हम उत्पादन की मात्रा को क्विटल, टन आदि द्वारा प्रकट कर सकते हैं परन्तु उदासीनता वक्र दो वस्तुओ के उन सभी सयोगो का प्रकट करती है जिनके द्वारा एक निश्चित स्तर का सतोष प्राप्त होता है। उपभोक्ता की सतुष्टि को सख्याओं

द्वारा प्रकट नही किया जा सकता। इसीलिए उदासीन वक्रो को IC_1 IC_2 आदि द्वारा प्रकट करते हैं क्योंकि सतुष्टि को भौतिक सख्याओ द्वारा नही प्रकट किया जा सकता। दूसरा, प्रमुख अन्तर यह है कि हम नीचा समोत्पत्ति वक्र या ऊँचा समोत्पत्ति वक्र बना सकते है तथा यह बतला सकते हैं कि एक समोत्पत्ति वक्र पर उत्पादन दूसरे समोत्पत्ति वक्र की तुलना मे कितना अधिक है, जैसे चित्र सख्या 67 मे तीन समोत्पत्ति वक्र हैं जो 100, 80 तथा 60 उत्पादन की मात्रा को प्रकट करते हैं। इस चित्र को *Equal Product Map* कहते है, उदासीनता वक्र के चित्र द्वारा हम यह नही कह सकते कि एक बिन्दु पर उत्पादन दूसरे बिन्दु की तुलना मे कम है या अधिक है क्योकि सतुष्टि को सख्याओ द्वारा नही प्रकट किया जा सकता।

समोत्पत्ति वक्र की विशेषताएँ (Properties of Equal Product Curves):

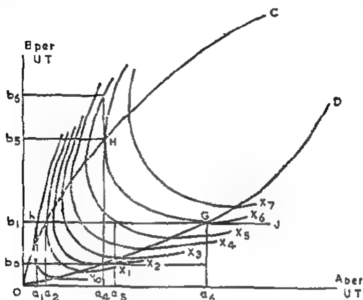
1. ये वक्र नीचे की ओर दाहिनी तरफ झुके हुए होते हैं (These Curves slope downwards to the right) : अधिकाश समोत्पत्ति वक्र नीचे की ओर दाहिनी तरफ झुकते है। ऐसा उस समय तक होता है जब तक कि किसी साधन की



चित्र स० 67

अतिरिक्त इकाइया ऋणात्मक उत्पादन नही करने लग जाती। कुछ दशाओ मे ऋणात्मक उत्पादन हो सकता है जैसे कृषि कार्य म यदि श्रमिको की अतिरिक्त इकाइयाँ लगाई जाए तो एक सीमा के बाद श्रमिको की अतिरिक्त इकाइयो का उत्पादन घट सकता है। अत यह आवश्यक होगा कि भूमि की मात्रा मे भी वृद्धि की जाए। समोत्पत्ति वक्र यदि ऊपर की ओर दाहिनी तरफ झुकते है तो इसका अर्थ यह होगा कि X तथा Y साधनो की मात्रा मे कमी वृद्धि करने पर भी *उत्पादन समान रहेगा* अर्थात् यदि X तथा Y की अधिक मात्राओ का प्रयोग किया जाए या उनकी कम मात्राओ का उपयोग किया जाए तो उत्पादन समान रहेगा। परन्तु ऐसा कहना

के लिए फर्म साधन B की b5 इकाइयां और साधन A की a4 इकाइयां प्रयुक्त कर सकती है, अथवा साधन B की b1 इकाइयों का उपयोग साधन A की a6 इकाइयों



चित्र स० 68

के साथ कर सकती है, अथवा उस समोत्पत्ति वक्र पर दिखलाये गये A और B के किसी अन्य संयोग का उपयोग कर सकती है।

उत्पत्ति की अपेक्षाकृत अधिक मात्राएँ ऊँचे समोत्पत्ति वक्रों से सूचित की जाती है। समोत्पत्ति वक्र A और B के उन विभिन्न संयोगों को दर्शाता है जो X वस्तु की X_7 की मात्रा उत्पन्न करने के लिए आवश्यक होते है, जहां X_7 मात्रा X_6 से अधिक होती है। इसी तरह X_5, X_4, X_3, X_2, और X_1 मात्राएँ X-वस्तु की अपेक्षाकृत कम मात्राओं के लिए नीचे के समोत्पत्ति वक्र है।"[1]

2 पैमाने के प्रतिफल
(Returns to Scale)

समोत्पत्ति वक्र की सहायता से उत्पादन नियमों को समझा जा सकता है। पैमाने के प्रतिफल का अर्थ यह है कि उत्पादन के साधनों की मात्रा में परिवर्तन करने से उनके प्रतिफल में क्या परिवर्तन होते हैं? साधारण रूप से यह कहा जा

1. रिचर्ड, एच०, लेफ्टविच, 'कीमत प्रणाली एवं साधन आवटन' (अनुवादक श्री लक्ष्मीनारायण नाथूरामका) p 131

सकता है कि यदि सभी साधनों की मात्रा मे एक ही अनुपात में वृद्धि की जाए तो उत्पादन म उसी अनुपात से वृद्धि होगी। जैसे यदि सभी साधनों की मात्रा दुगुनी कर दी जाए तो उत्पादन की मात्रा दुगुनी हो जावेगी। परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं होता। एक फर्म यदि सभी साधनों की मात्रा मे वृद्धि करती है तो शुरू में उत्पादन की मात्रा मे आनुपातिक वृद्धि अधिक दर पर होती है परन्तु धीरे-धीरे वृद्धि दर म कमी होने लगती है। जब उत्पादन के सभी साधनों में वृद्धि करने के फलस्वरूप उत्पादन म अधिक आनुपातिक वृद्धि होती है तो इसे Increasing returns to scale कहते हैं। यदि सभी साधनों की मात्रा म आनुपातिक मात्रा में वृद्धि की तुलना म उत्पादन मे कम वृद्धि होती है तो इसे Decreasing returns to scale कहते हैं। इन दोनो अवस्थाओ के बीच मे काफी समय तक एक ऐसी अवस्था पाई जाती है जिसमे सभी साधनो की मात्रा में जिस अनुपात म वृद्धि की जाती है ठीक उसी अनुपात मे कुल उत्पादन मे भी वृद्धि होती है। इस अवस्था को Constant returns to scale कहते हैं।

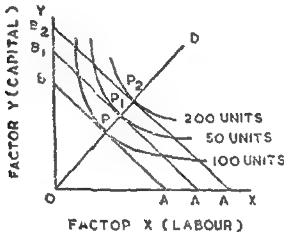
अब हम समोत्पत्ति वक्रों की सहायता से पैमाने के प्रतिफलो पर विचार करेंगे। अब तक हमने समोत्पत्ति वक्रो को समझने के लिए केवल दो साधनों का प्रयोग किया है। परन्तु वास्तव में उत्पादन के साधन कई होते हैं। दो से अधिक साधनो को चित्र म प्रदर्शित करना कठिन होता है तथा उनका चित्र पुस्तक मे देना अत्यन्त ही कठिन है। अत हम दो साधनों की ही सहायता से पैमाने के प्रतिफल को समझने का प्रयत्न करेंगे परन्तु साथ ही साथ आवश्यकतानुसार, विश्लेषण करते समय निष्कर्षों को दो से अधिक साधनों पर भी लागू करने का प्रयत्न करेंगे। हम यह मान कर चलेंगे कि साधनों के क्रेताओं के बीच पूर्ण स्पर्द्धा है।

यदि एक फर्म दो साधनों का प्रयोग करती है तथा दोनो साधनों की मात्रा बदलती है तो दीर्घकाल म वह उत्पादन म किस प्रकार परिवर्तन लायेगी ? माग म परिवर्तन के कारण दीर्घकाल म उत्पादन म परिवर्तन करना पडेगा। इस परिवर्तन को जानने के लिए साधनों की कीमतों पर भी विचार करना होगा क्योंकि साधनों की मात्रा उनके सापेक्ष मूल्यों तथा प्राविधिक दशाओं पर निर्भर है। यदि समोत्पत्ति वक्र चित्र संख्या 69 के अनुसार हैं तो वर्तमान समय मे—

$$\frac{X \text{ साधन की कीमत}}{Y \text{ साधन की कीमत}} = \frac{OB}{OA} = \frac{OB_1'}{OA_1'} = \frac{OB_2''}{OA_2''}$$

फर्म कम से कम लागत पर उत्पादन करना चाहती है। यदि फर्म 100 इकाइयां पैदा करना चाहती है तो वह P बिन्दु पर साम्य अवस्था में होगी। इसी बिन्दु पर BA Iso-cost line, समोत्पत्ति वक्र को स्पर्श-रेखा है। इस बिन्दु पर 100 इकाइयां पैदा करने की लागत न्यूनतम होगी। इसी प्रकार 150 तथा 200

इकाइया पैदा करने के लिए फर्म P_1 तथा P_2 बिन्दु पर साम्य अवस्था मे होगी। यह याद रखना चाहिए कि P, P_1 तथा P_2 आदि बिन्दु Y साधन के संदर्भ म X साधन का सीमान्त महत्त्व प्रकट करते हैं। यदि साम्य के इन सभी बिन्दुओ—P, P_1 तथा P_2 को मिला दिया जाए तो इस प्रकार जो वक्र OD बनता है उसे पैमाना रेखा (Scale line) कहते हैं। पैमाना रेखा यह बतलाती है कि यदि दो साधन X तथा Y परिवर्तनशील हैं तथा उनकी तुलनात्मक कीमत बाजार मे निश्चित हैं तो न्यूनतम लागत पर उत्पादन की विभिन्न मात्राए पैदा की जायेंगी। फर्म उत्पादन का पैमाना



चित्र सं० 69

OD रेखा पर निश्चित करेगी। इस पैमाना रेखा को Expansion Path भी कहते हैं। यह रेखा उत्पादन के विभिन्न स्तरो पर साधनो के विभिन्न सयोगो को प्रदर्शित करती हैं। पैमाना रेखा का ढलाव दो बातो पर निर्भर है—(i) सभी साधनो की कीमतें तथा (ii) समोत्पत्ति वक्रो का स्वरूप। पैमाना रेखा द्वारा यह ज्ञात किया जा सकता है कि यदि साधनो की मात्रा मे परिवर्तन किया जाए तो उत्पादन म बढती हुई दर से, घटती हुई दर से, या समान दर से परिवर्तन होगा ?

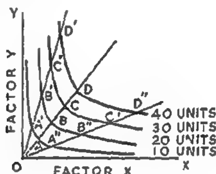
साथ ही साथ यह भी ज्ञात किया जा सकता है कि पैमाना रेखा पर आगे बढने से उत्पादन के दोनो साधनो की मात्राओ का अनुपात पूर्ववत रहेगा या बदल जायगा ?

(i) समता पैमाना प्रतिफल

(*Constant Returns to Scale*)

अब हम समोत्पत्ति वक्र की सहायता से यह समझाने का प्रयत्न करेंगे कि उपर्युक्त दोनो प्रकार के प्रभाव पैमाना रेखा को किस प्रकार प्रभावित करते हैं ? यदि दो साधनो के दिये हुए सयोग से उत्पादन प्रारम्भ किया जाए तथा यदि प्रत्येक साधन

की मात्रा दुगुनी कर दी जाए तो उत्पादन भी दुगुना होगा अर्थात् जिस अनुपात में साधनों की मात्रा में वृद्धि की जायेगी उसी अनुपात में उत्पादन में भी वृद्धि होगी। इसका अर्थ यह है इस समोत्पत्ति चित्र में सभी पैमाने की रेखाएं मूल बिन्दु से प्रारम्भ होने वाली सरल रेखा के रूप में होगी। चित्र की विभिन्न पैमाने की रेखाओं पर पैमाने का प्रतिफल (Return to scale) स्थिर रहता है। चित्र संख्या 70 में इस तथ्य को प्रदर्शित किया गया है।



चित्र स० 70

यदि समोत्पत्ति मानचित्र पर उत्पादन के दोनों साधनों की मात्रा में आनुपातिक परिवर्तन किया जाए तो उत्पादन में भी आनुपातिक परिवर्तन हो जायेगा। इसीलिए समोत्पत्ति मानचित्र पर पैमाने की प्रत्येक रेखा पर उत्पादन समान होगा। उपरोक्त चित्र में पैमाने की प्रत्येक रेखा पर उत्पादन स्थिर रहता है।

प्रतिफल की स्थिरता इस बात से स्पष्ट होती है कि O, A, B, C, D, तथा A'' B'' C'' D'' पर विभिन्न सम उत्पत्ति वक्रों के बीच की दूरी सदैव समान रहती है। उदाहरणार्थ उपरोक्त चित्र में $OA=AB=CD$, $OA'=A'B'=B'C'=C'D'$, $OA''=A''B''=B''C''=C''D''$ इत्यादि। यह कहा जा सकता है कि वैकल्पिक रूप से दिये हुए साधनों के मूल्यों पर मूल्यों का ढलाव व्यय के प्रतिफल के साथ स्थिर रहते हैं। अगर उत्पादन साधनों के मूल्य स्थिर रहते है और अगर उत्पादन साधन की मात्रा दुगुनी कर दी जाए तो कुल व्यय भी दुगुना हो जायेगा। इस प्रकार विशेष प्रकार के समोत्पत्ति मानचित्र में व्यय के प्रतिफल तथा पैमाने के प्रतिफल शब्द एक दूसरे के स्थान पर प्रयोग में लाये जा सकते हैं।

चित्र संख्या 70 में समोत्पत्ति वक्र मानचित्र के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि जो उत्पादन फलन (Production function) उत्पादन की मात्रा तथा इसके लिए प्रयुक्त साधनों की मात्रा में सम्बन्ध स्थापित करता है उसमें प्रथम श्रेणी की एकरूपता होती है। किसी भी उत्पादन फलन (Production function) को

हम इस प्रकार लिख सकते हैं, P=f (X,Y), जहा P=उत्पादन की मात्रा और X तथा Y उत्पादन के साधन है । इस प्रकार यदि उत्पादन प्रसाधन X एव Y मे परिवर्तन किया जाए तो उत्पादन मात्रा मे उसी अनुपात मे परिवर्तन हो जायेगा ।

प्रथम श्रेणी की समरूपता सरलता के कारण अध्ययन की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है । उपरोक्त विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि उत्पादन साधनो की कीमतो के स्थिर रहने पर उनका अनुपात एक सा बना रहता है, चाहे उत्पादन की मात्रा कितनी भी हो । लेकिन इस मान्यता का सही होना आवश्यक नही है । यदि किसी पैमाने की रेखा पर व्यय के प्रतिफल (Returns to outlay) स्थिर रहते हैं और उत्पत्ति के साधनो के दिये गये सापेक्ष मूल्यो पर व्यय को दुगुना कर देने से उत्पादन भी दुगुना हो जाता है तो उत्पत्ति के साधनो का अनुपात स्थिर रखना आवश्यक नही होता ।

यदि उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन होने पर प्रयुक्त किये जाने वाले साधनो की मात्रा मे परिवर्तन होता है तो पैमाने के प्रतिफल के स्थान पर व्यय के प्रतिफल *(Returns to outlay) का विचार करना आवश्यक हो जाता है, क्योकि उत्पादन* की मात्रा के बदलने पर जब किसी पैमाने की रेखा पर उत्पत्ति के पैमाने को दुगुना करके हम यह नही कह सकते कि प्रत्येक साधन की मात्रा दुगुनी कर दी गई है । दोनो उत्पादन के साधनो को एक ही मात्रा मे बढाने का अभिप्राय यह होगा कि हम पैमाने की दूसरी रेखा पर चले गये हैं । लेकिन इस स्थिति मे भी उत्पत्ति साधनो पर किये गये व्यय मे परिवर्तन की तुलना, उत्पादन की मात्रा मे परिवर्तन से कर सकते हैं । जैसे यदि उत्पादन के साधनो पर किये गये व्यय की मात्रा को दुगुनी कर दी जाए और उत्पादन की मात्रा भी दुगुनी हो जाये तो व्यय के प्रतिफल समान रहेंगे ।

यह भी कल्पना की जा सकती है कि उत्पत्ति के पैमाने मे परिवर्तन से प्रयुक्त साधनो के अनुपात मे भी परिवर्तन हो सकता है ।

(ii) पैमाने के बढते हुए प्रतिफल
(Increasing returns to scale)

इस अवस्था का आशय उस स्थिति से है जिसमे उत्पादन के साधनो की लगाई गई अतिरिक्त इकाइयो से उत्पादन (output) मे सापेक्षिक रूप से अधिक वृद्धि हो । ऐसी स्थिति पैदा होने के मुख्य कारण दो हैं—(i) कुछ उत्पत्ति साधनो की अविभाजिता और (ii) विशिष्टीकरण (Specialisation) के लाभ ।

(i) अविभाजिताए (Indivisibilities) : छोटे पैमाने पर उत्पादन की दशा मे कुछ उत्पादन साधनो के छोटे भागो मे विभक्त न हो सकने के कारण उत्पादन

प्रति इकाई कम होता है। उदाहरण के लिए कुछ पूजी सम्पत्तिया उचित प्रयोग मे नही आ सकती यदि उत्पादन बहुत छोटे पैमाने पर किया जाता है। सड़क निर्माण के लिए प्रयोग मे लाये जाने वाले विभिन्न साधनो के सम्बन्ध मे यह सत्य है। कुछ पूजीगत सम्पत्तियो से छोटी इकाइया पैदा की जा सकती है लेकिन ऐसी अवस्था मे भी उत्पादन (प्रति इकाई) कम होगा। पूजीगत सम्पत्तियो के समान श्रम भी पूर्णरूप से विभाज्य नही है। किसी भी उद्योग मे श्रमिक से उसकी अधिकतम उत्पादकता प्राप्त करना कठिन होता है।

(ii) विशिष्टीकरण (Specialisation) बढते हुए पैमाने के प्रतिफल का दूसरा महत्वपूर्ण कारण विशेष दक्षता है। किसी छोटे पैमाने के उद्योग मे लगे हुए व्यक्तियो को अनेक प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं। जब उत्पादन के पैमाने को बढाया जाता है तो उनको वे कार्य करने को दिये जा सकते है जिनमे वे अधिक दक्ष हैं। इससे दक्षता मे वृद्धि होगी और अधिक उत्पादन प्राप्त होगा।

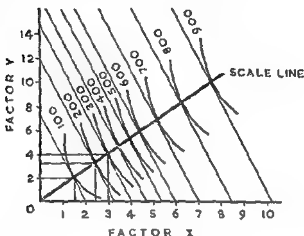
इस प्रकार यदि किसी उद्योग मे प्रारम्भ मे उत्पादन के कुछ साधनो का समुचित उपयोग नही किया जा रहा है तो उत्पादन वृद्धि के प्रारम्भिक प्रयास मे नये लगाये गये साधनो मे सापेक्षिक रूप से अधिक उत्पादन प्राप्त होगा।

(iii) पैमाने का घटता हुआ प्रतिफल
(Decreasing Returns to Scale)

यदि कोई फर्म निश्चित सीमा से आगे उत्पादन वृद्धि के लिए उत्पत्ति के साधनो की अतिरिक्त इकाइया लगाती जाती है तो इन अतिरिक्त इकाइयो से सापेक्षिक रूप से कम उत्पादन प्राप्त होगा। इसी स्थिति को पैमाने का घटता हुआ प्रतिफल कहते हैं। वास्तव मे उत्पादन के साधनो के सर्वोत्तम सयोग की स्थिति के बाद यदि अतिरिक्त इकाइया लगायी जाती हैं तो उत्पादन प्रति इकाई कम प्राप्त होगा। इसका प्रमुख कारण बड़े पैमाने पर उत्पादन की अनेक जटिलताए (Complexities) तथा समस्याए (Problems) हैं। उदाहरण के लिए श्रम साधन मे वृद्धि से उनकी क्रियाओ मे समन्वय एव नियन्त्रण के लिए अधिक प्रबन्धकीय व्यक्तियो (Administrative Personnel) की आवश्यकता होती है। प्रबन्धको को निर्णय लेने मे भी अनेक कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है। चित्र स० 71 मे पैमाने के घटते हुए, बढते हुए तथा स्थिर प्रतिफल को स्पष्ट किया गया है -

चित्र मे पैमाने की रेखा बिल्कुल सीधी (Straight) है इसलिए साधन X और साधन Y का अनुपात अपरिवर्तित रहता है। उदाहरण के लिए, साधन Y की 4 इकाइया और साधन X की तीन इकाइया। इस प्रकार जब उत्पादन 100

इकाइयों से बढ़कर 200 इकाइयां हो जाता है तो साधन Y में 1·2 इकाइयों की और X में ·9 इकाइयों की वृद्धि होती है। 200 इकाइयों से 300 इकाइयों का



चित्र सं० 71

उत्पादन करने पर साधन Y में ·8 इकाई की और साधन X में ·6 इकाई की वृद्धि होती है। दोनों साधन एक ही अनुपात में बढ़ते हैं।

यह स्पष्ट है कि उत्पादन 100 से 300 इकाइयां करने पर उत्पादन के साधनों की अतिरिक्त मात्रा प्रत्येक 100 इकाइयों के साथ घटती जाती है—वे बिन्दु जहां पर स्थिर उत्पत्ति वक्र है मूल्य रेखा अधिक नजदीक होती जा रही है। साधनों पर किया जाने वाला व्यय प्रत्येक अतिरिक्त 100 इकाइयों के साथ घटता जा रहा है। इस प्रकार फर्म पैमाने का बढ़ता हुआ प्रतिफल प्राप्त कर रही है क्योंकि प्रत्येक अतिरिक्त 100 इकाइयों पर सापेक्षिक रूप से कम व्यय होता है।

उत्पादन 300 इकाइयों से बढ़ा कर 600 इकाइयां कर देने पर प्रत्येक 100 इकाइयों के लिए लगाये जाने वाले साधनों की मात्रा स्थिर रहती है। वे बिन्दु, जहां पर उत्पत्ति वक्र मूल्य रेखा को काटते हैं, समान दूरी पर हैं। इस स्थिति में यह कहा जा सकता है कि फर्म स्थिर पैमाने का प्रतिफल प्राप्त कर रही है।

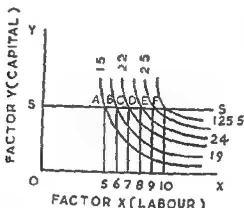
उत्पादन में 600 इकाइयों से अधिक वृद्धि करने पर उत्पादन की प्रत्येक 100 इकाइयों के लिए सापेक्षिक रूप से उत्पत्ति के साधनों की अधिक मात्राएं लगानी पड़ती हैं। इस प्रकार फर्म घटती हुई दर पर उत्पादन का प्रतिफल प्राप्त करती है।

उपसंहार : "पैमाने का प्रतिफल सिद्धान्त वह महत्व प्राप्त नहीं कर सका है जो महत्व ह्रासमान उत्पादन नियम प्राप्त कर सका है। व्यावहारिक रूप में इस

बात से सभी सहमत हैं कि एक फर्म प्रारम्भ में यदि उत्पादन पैमाने का विस्तार करती है तो प्रति-साधन-इकाई के उत्पादन में वृद्धि होती है। इसी प्रकार इस तथ्य से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि अन्त में पैमाने की मितव्ययिताएं (Economies of scale) धीरे धीरे समाप्त हो जाती हैं परन्तु (i) क्या अन्त में प्रति इकाई पडत (input) का उत्पादन कम होता है ? या (ii) ऐसा केवल कृषि जैसे व्यवसाय में ही होता है जिसकी प्रबन्ध सम्बन्धी समस्याएं भिन्न हैं ? इन दोनों प्रश्नों के सम्बन्ध में अर्थशास्त्री एक-मत नहीं हैं।" (देखिए इस अध्याय के प्रारम्भ का कोटेशन)।

सीमान्त भौतिक उत्पादकता
(Marginal Physical Productivity)

अब तक हमने यह माना था कि किसी उत्पादन इकाई द्वारा प्रयुक्त किये जाने वाले उत्पादन के साधनों की मात्रा परिवर्तनशील है। अब हम यह मानेंगे कि



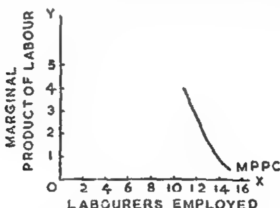
चित्र स० 72

फर्म द्वारा प्रयुक्त किये जाने वाले उत्पादन साधनों में एक साधन की मात्रा स्थिर रहती है। चित्र संख्या 72 में Y साधन (पूंजी) की मात्रा स्थिर है जबकि X साधन (श्रम) की मात्रा परिवर्तनशील रहती है। साधन Y, OS पर स्थायी दिखाया गया है जबकि साधन X (श्रम) 5 से 6, 6 से 7 और इसी तरह परिवर्तित होता रहता है। क्षैतिज रेखा SS साधन X और Y के विभिन्न संयोगों को प्रदर्शित करती है। उदाहरण के लिए A पर OS की Y की मात्रा और 5 इकाइयों, X साधन [श्रम] का संयोग है। समोत्पत्ति वक्र उत्पादन की विभिन्न मात्राएं जैसे 15, 19, 22, 24, 25, 25 5 इकाइयां प्रदर्शित करते हैं। जब Y साधन की OS मात्रा का X साधन की 6 इकाइयों का संयोग किया जाता है तो उत्पादन 19 इकाइयां होता है जो कि बिन्दु

Q के द्वारा स्पष्ट है । इस प्रकार छठी इकाई द्वारा उत्पादन मे की गई वृद्धि 4 इकाइया है या छठी इकाई की सीमांत उत्पादकता 4 इकाइया है । इसी प्रकार X साधन की 7वी इकाई से 3 इकाइयो और 10वी इकाई से ·5 इकाई से उत्पादन मे वृद्धि होती है ।

इस प्रकार जब कोई फर्म एक साधन पूँजी को स्थिर रख कर दूसरे साधन [श्रम] की मात्रा मे परिवर्तन करती जाती है तो दूसरे साधन (श्रम) की सीमांत उत्पादकता घटती जाती है । इस घटती हुई सीमान्त भौतिक उत्पादकता को हम वक्र द्वारा प्रदर्शित कर सकते हैं । एक सीमांत भौतिक उत्पादकता वक्र (MPPC) इस बात को स्पष्ट करता है कि किसी एक उत्पादन साधन की मात्रा स्थिर रखने तथा दूसरे साधन की मात्रा को परिवर्तनशील रखने पर उस दूसरे साधन की सीमांत उत्पादकता घटती जाती है । उत्पादन प्रसाधनो के मूल्य निर्धारण मे यह वक्र बहुत लाभदायक है । पीछे दिये गये चित्र मे 6 श्रमिको की सीमांत उत्पादकता 4 इकाइयाँ, 7 श्रमिको की 3 इकाइया, 8 श्रमिको की दो इकाइया 9 श्रमिको की एक इकाई और 10 श्रमिको की ·5 इकाई है । इस तथ्य को हम निम्न प्रकार चित्र द्वारा प्रदर्शित कर सकते हैं—

चित्र सख्या 73 मे MPPC सीमांत भौतिक उत्पादकता वक्र है । यह इस बात को स्पष्ट करता है कि जैसे जैसे श्रम की अधिक इकाइयो का प्रयोग किया जाता



चित्र स० 73

है तो सीमांत भौतिक उत्पादकता घटती जाती है । यही कारण है कि MPPC वक्र नीचे की ओर दाहिनी तरफ झुकता चला गया है । MPPC का साधारणतया यही ढाल होता है क्योंकि उत्पादन के किसी एक साधन को स्थिर रखने पर तथा दूसरे साधन की अतिरिक्त इकाइयो का प्रयोग करने पर उनकी सीमांत उत्पादकता घटती जाती है । इसी आधार पर हम औसत उत्पादकता वक्र [APPC] भी बना सकते हैं ।

इसके लिए हमे कुल उत्पादन को श्रम की इकाइयो से विभाजित करना पडेगा। इसी प्रकार कुल भौतिक उत्पादकता वक्र, [TPPC] समोत्पत्ति मानचित्र या सीमान्त भौतिक उत्पादकता वक्र तथा औसत सीमान्त उत्पादकता वक्र [APPC] की सहायता से बनाया जा सकता है।

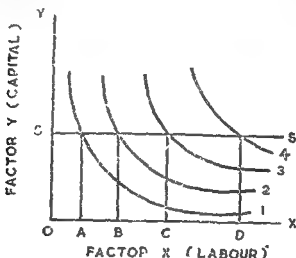
जैसा कि ऊपर बताया गया है किसी परिवर्तनशील उत्पादन साधन के साथ किसी स्थिर साधन का प्रयोग किया जाए तो सीमान्त उत्पादकता घटती जाती है। भूतकाल में इसी प्रवृत्ति को उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns) का नाम दिया जाता था। वर्तमान में इसे अधिक उचित रूप से परिवर्तनशील अनुपातो का नियम (Law of variable Proportions) का नाम दिया जाता है।

यह ध्यान मे रखना चाहिये कि किसी परिवर्तनशील (Variable) उत्पादन साधन की सीमान्त भौतिक उत्पादकता कुछ दशाओ मे बढ भी सकती है। सीमान्त उत्पादकता वक्र (MPPC) मे बहुत कुछ सीमाए ऐसी सीमाए भी हो सकती हैं जहा सीमान्त उत्पादकता घटने के बजाय बढती है। इसीलिए इसे कुछ अर्थशास्त्री 'घटनात्मक सीमान्त उत्पादकता ह्रासमान' (Eventually diminishing marginal productivity) की सज्ञा देते हैं लेकिन दीर्घकाल मे निश्चित रूप से सीमान्त उत्पादकता घटती है।

परिवर्तनशील साधन की सीमान्त भौतिक उत्पादकता, समोत्पत्ति वक्र मानचित्र से अन्य प्रकार से भी निकाली जा सकती है। अब हम यह मानकर कि उत्पादन क्रिया (Production function) समरूप है, विभिन्न परिवर्तनशील साधनो के अनुपातो का अध्ययन करेंगे जिनमे कि एक साधन को स्थिर रखा जाता है और दूसरे साधन या साधनो को परिवर्तनशील माना जाता है। पूर्व चित्र मे साधन X (श्रम) की सम इकाइया स्थिर साधन Y के साथ प्रयुक्त की जाती हैं। परिणामस्वरूप साधन X की सीमान्त भौतिक उत्पादकता घटती जाती है। लेकिन अब हम दूसरे प्रकार का चित्र प्रस्तुत करेंगे। क्योकि यह समरूप उत्पादन क्रिया (Homogeneous production function) की दशा है।

चित्र 74 मे सम उत्पाद चित्र (equal product map) चार वक्रो की सहायता से उत्पादन की 1, 2, 3, 4 इकाइयो के साथ दिखाया गया है। यहा साधन Y स्थिर है जबकि साधन X परिवर्तनशील है। क्षैतिज रेखा SS, OX के समानान्तर है। यह दो साधनो X और Y का X की परिवर्तनशील इकाइयो के साथ सयोग दिखाती है। एक इकाई के उत्पादन के लिए फर्म Y साधन की OS मात्रा और X की OA मात्रा का सयोग करती है। दो इकाइयो के उत्पादन के लिए फर्म Y साधन की OS मात्रा और X की OB मात्रा का सयोग करती है।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि अतिरिक्त इकाई के उत्पादन के लिए X साधन की AB अतिरिक्त मात्रा लगानी पड़ती है। इसके पूर्व एक इकाई के उत्पादन के लिए Y साधन की OS मात्रा के साथ X साधन की OA मात्रा का प्रयोग करना पड़ता था। अब उत्पादन की एक इकाई श्रम या X साधन की AB मात्रा और Y साधन की OS मात्रा के संयोग से उत्पादित की जाती है। इस प्रकार OS पूँजी से अधिक उत्पादन प्राप्त करने के लिए श्रम की अतिरिक्त इकाइयों की आवश्यकता होती है। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह है कि श्रम की सीमान्त उत्पादकता घट गई है। इसके बाद दो से तीन इकाइयों के उत्पादन के लिए OS पूँजी के साथ श्रम की BC इकाइयाँ लगायी जाती है। BC, AB से अधिक है। इस प्रकार अतिरिक्त इकाई के

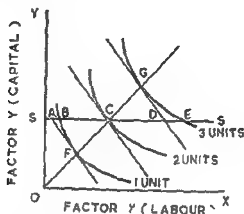


चित्र स० 74

उत्पादन के लिए श्रम की आनुपातिक रूप से अधिक इकाइयों की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार 3 व 4 इकाइयों के उत्पादन के लिए हमें तुलनात्मक रूप से श्रम की और अधिक इकाइयों का प्रयोग करना पड़ेगा। इस प्रकार किसी स्थिर साधन के साथ परिवर्तनशील साधन की अतिरिक्त इकाइयों के प्रयोग पर सीमान्त भौतिक उत्पादकता क्रमिक रूप से घटती जाती है। प्रथम श्रेणी (First degree) के समरूप उत्पादन क्रिया (Homogeneous Production function) में सीमान्त उत्पादकता हमेशा घटती जाती है। इसी तथ्य को आगे चित्र द्वारा भी स्पष्ट किया गया है।

चित्र संख्या 75 में तीन सम उत्पादन वक्र हैं जो क्रमश उत्पादन की 1, 2, और 3 इकाइयों को प्रदर्शित करते हैं। OFCG पैमाना रेखा है जो दो उत्पादन प्रसाधनों X (श्रम) तथा Y (पूंजी) का संयोग दिखाती है। F, C, G विभिन्न

संयोगो को प्रदर्शित करती है। OF=FC=CG इसका अर्थ यह हुआ कि पैमाने के प्रतिफल सम (Constant) हैं। FCG बिन्दुओ पर सम उत्पाद वक्र के साथ स्पर्श रेखाए (Tangent lines) बनाई गई है। क्योकि ये सभी स्पर्श रेखाए सम



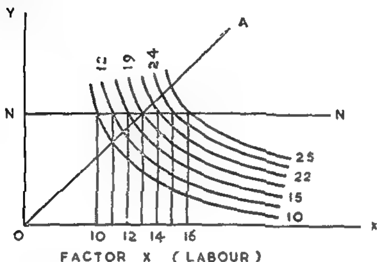
चित्र न० 75

उत्पाद वक्रो को उस स्थान पर पैमाने की रेखा इनको काटती हैं, इसलिए ये एक दूसरे के समानान्तर होनी चाहिए। सीमात भौतिक उत्पादकता हमेशा गिरती है यदि उत्पादन क्रिया (Production Function) समरूप है तथा पैमाने का प्रतिफल स्थिर है।

जैसा कि ऊपर बताया गया है कि परिवतनशील उत्पादन साधन (Variable factor) की सीमात भौतिक उत्पादकता उत्पादन की प्रारम्भिक अवस्था (initial stage) मे बढ भी सकती है यदि कुल उत्पादन (Total outlay) का प्रतिफल स्थिर (constant) नही रहता है। पृष्ठ 473 के चित्र द्वारा यह स्पष्ट है

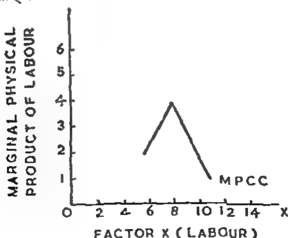
चित्र मे समोत्पत्ति वक्र मानचित्र से स्पष्ट है कि प्रत्येक वक्र साधन X श्रम तथा साधन Y पूजी के विभिन्न सयोगो को प्रदर्शित करते हैं। OP पैमाना रेखा है जो X व Y साधनो के विभिन्न सयोगो के साथ उत्पादन के विस्तार को स्पष्ट करती है। SS क्षैतिज रेखा Y स्थिर साधन का X की परिवतनशील मात्र के साथ सयोग को प्रदर्शित करती है। चित्र मे हम देखते हैं कि साधन Y की स्थिर मात्रा के साथ साधन X की बढती हुई इकाइयो का सयोग किया जाए तो कुछ सीमा तक उत्पादन बढता है अर्थात् साधन X (श्रम) की सीमात उत्पादकता कुछ सीमा तक बढती है। जैसा कि चित्र मे दिखाया गया है कुल उत्पादन 10 से 12 12 से 15, 15 से 19 इकाइया हो जाता है, यदि श्रम की इकाइयो मे 10 से 11, 11 से 12,

12 से 13 की वृद्धि की जाती है। श्रमिकों की सीमान उत्पादकता 2 इकाइया, 12 श्रमिकों की 3 इकाइया, 13 श्रमिकों की 4 इकाइयाँ हैं। इस प्रकार 13वें श्रमिक को लगाने तक सीमांत उत्पादकता बढती जाती है।



चित्र स० 76

इसके पश्चात् सीमान्त उत्पादकता क्रमशः घटती जाती है। इस प्रकार हम निष्कर्ष निकाल सकते है कि परिवर्तनशील उत्पादन इकाई को लगाने पर सीमान्त भौमिक उत्पादक प्रारम्भिक अवस्था मे कुछ समय बढती जाती है और इसके पश्चात् घटने लग जाती है।

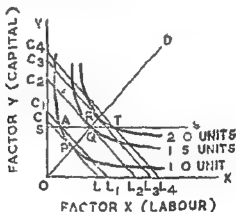


चित्र स० 77

इन मदक श्रम की सीमांत उत्पादकता को सीमान्त भौतिक उत्पादन वक्र द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है।

चित्र मे तीसरी इकाई तक सीमांत उत्पादकता बढती जाती है और उसके पश्चात् क्रमश घटना चालू हो जाती है।

बढती हुई सीमांत भौतिक उत्पादकता को दूसरे प्रकार के चित्र द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है। चित्र स० 78 म समोत्पत्ति वक्र मानचित्र मे तीन वक्र हैं जो कि 1·0, 1·5 और 2 इकाइयां उत्पादित की जाती हैं। पहली अवस्था मे श्रम और पूँजी दोनो की इकाइयाँ परिवर्तित की जाती है तथा पूँजी को स्थिर रखा जाता हैं। यह क्षैतिज रेखा SS से स्पष्ट है। पैमाना रेखा Op के बिन्दु A पर उत्पादन एक इकाई है, B पर उत्पादन 1 5 इकाई है तथा C पर उत्पादन 2 इकाई है। इस प्रकार यदि पैमाना रेखा पर P बिन्दु की ओर बढें तो कुल उत्पादन प्रत्येक स्थिति मे ·5 इकाइयो से बढता है। जब A से B की ओर बढते हैं तो दोनो साधनो की मात्रा मे परिवर्तन होता है। B से C की ओर बढते हैं तो कुल साधना की मात्रा बढाई जाती है और उत्पादन भी बढता है। इस प्रकार फर्म पैमाना रेखा OP पर आगे बढती है और बढता हुआ प्रतिफल प्राप्त होता है।



चित्र स० 78

उपर्युक्त विवेचन से हम किसी निर्णय पर नहीं पहुच सकते। लेकिन यह तो कहा जा सकता है कि जब तक बाजार मे पूर्ण प्रतिस्पर्धा पाई जाती है और उत्पादन की इकाइयो को पूर्ण साम्य की अवस्था मे रहना है तो उत्पादकता किसी न किसी स्तर पर अवश्य घटनी आरम्भ हो जायेगी। सीमांत उत्पादन वक्रो की आकृति उल्टे U की तरह होती है। इसका आशय यह है कि एक स्थिर साधन के साथ किसी भी परिवर्तनशील साधन का प्रयोग करने पर उत्पत्ति अन्त मे घटती जाती है।

प्रश्न व संकेत

1 समोत्पत्ति वक्र रेखाओ को स्पष्ट कीजिये तथा उनकी विशेषतायें बताइये ।

[*संकेत—समोत्पत्ति वक्र रेखायें तथा उदासीन वक्र रेखायें समान* (Counterpart) होती है । काल्पनिक उदाहरण देकर एक समोत्पत्ति वक्र बनाइये तथा उसकी चारो प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिये ।]

2 *समोत्पत्ति वक्र रेखायें किन्हे कहते हैं ? ये उदासीन वक्र रेखाओ से किस प्रकार भिन्न है ?*

3 पैमाने के प्रतिफल' (Returns to Scale) को समोत्पत्ति वक्रो द्वारा स्पष्ट कीजिये ।

[संकेत—पहले समोत्पत्ति वक्र का स्पष्टीकरण कीजिये । फिर उनकी सहायता से पैमाने के प्रतिफल को स्पष्ट कीजिये ।]

4 *उत्पादन ह्रास नियम की समोत्पत्ति वक्र विधि से व्याख्या कीजिये ।*

[संकेत—काल्पनिक उदाहरण देकर समोत्पत्ति वक्र मानचित्र बनाइये और उसकी सहायता से उत्पत्ति ह्रास नियम की व्याख्या कीजिये ।

5 *'सीमान्त आगम उत्पाद'* (MRP) तथा सीमान्त भौतिक उत्पाद (MPP) मे अन्तर स्पष्ट कीजिये । यह भी बताइए कि किस प्रकार जब तक प्रत्येक साधन की कीमत उसके सीमान्त आगम उत्पाद के बराबर नही होगी तो लाभ *अधिकतम नहीं होगी ।*

[संकेत—MRP तथा MPP मे अन्तर बताइए तथा दूसरे भाग मे बताइये कि यदि MRP साधनो की कीमत से कम है तो फर्म को घाटा होता है ।]

समस्याएं (Problems)

1 *यदि कृषक के अनुमान के विपरीत मौसम अच्छा हो जाता है तो श्रमिक* के सीमान्त भौतिक उत्पाद वक्र पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

2 एक समोत्पत्ति वक्र पर निम्नलिखित को चित्रित कीजिये—

(a) श्रम बचत नव प्रवतन (innovation) (b) पूंजी बचत प्रवर्तन

(c) *श्रम तथा पूंजी की क्षमता को बढ़ाने हेतु तकनीकी परिवर्तन ।*

3 समोत्पत्ति वक्र पर पूंजी की ह्रासमान सीमान्त उत्पत्ति प्रदर्शित कीजिये जबकि श्रम की मात्रा स्थिर है ।

4 सुपर बाजार और अल्पाहार गृह की स्थिति मे परिवर्तनशील आनुपातिक तथा स्थिर अनुपातिक पैमाने के विचार को प्रकट कीजिये ।

25

उत्पादन के साधनों का श्रेष्ठतम संयोग
(Optimum Factor Combination)

"A major task of the business firm is the selection of the factor combination which is the optimum in the sense of allowing lowest cost of producing a given a output"

Due and Clower

उत्पादक, उत्पत्ति के सयोग (combination) से उत्पादन करता है। पूर्व पृष्ठो मे हमने उत्पादन फलन (Production function) का विश्लेषण समोत्पत्ति वक्रो की सहायता से दो साधनो की मान्यता के आधार पर किया है। लेकिन व्यवहार मे उत्पादन के लिए दो से अधिक साधनो का सयोग किया जाता है। इसलिए प्रत्येक फर्म दी हुई मात्रा के उत्पादन के लिए उत्पादन के विभिन्न साधनो का उचित मात्रा मे सयोग करती है। इस अवस्था मे फर्म के सामने समस्या होती है कि विभिन्न साधनो को किस अनुपात मे मिलाया जाए कि कम से कम लागत पर अधिक से अधिक उत्पादन किया जा सके।

यहा पर हम मान लेते हैं कि विभिन्न उत्पादन के साधनो का मूल्य तथा यान्त्रिक ज्ञान दिया हुआ है। फर्म का उद्देश्य कम से कम लागत पर अधिक से अधिक उत्पादन प्राप्त करना होता है। स्पष्टतया फर्म इस उद्देश्य की प्राप्ति उत्पादन के विभिन्न साधनो के श्रेष्ठतम सयोग से ही प्राप्त कर सकती है। उत्पादक श्रेष्ठतम सयोग के लिए उत्पादक विभिन्न साधनो को इस प्रकार मिलाता है कि एक साधन के सीमात भौतिक उत्पाद और उसके मूल्य का अनुपात दूसरे साधनो के सीमात भौतिक उत्पाद और उनके मूल्यों के अनुपात के बराबर हो।

$$\frac{\text{साधन A का सीमान्त भौतिक उत्पाद}}{\text{साधन A का मूल्य}} = \frac{\text{साधन B का सीमान्त भौतिक उत्पाद}}{\text{साधन B का मूल्य}}$$

$$= \frac{\text{साधन C का सीमात भौतिक उत्पाद}}{\text{साधन C का मूल्य}} = \frac{\text{साधन Z का सीमात भौतिक उत्पाद}}{\text{साधन Z का मूल्य}}$$

उपरोक्त विश्लेषण से सम्बन्धित दो महत्वपूर्ण विचार सीमांत भौतिक उत्पाद और साधन का मूल्य है। कम से कम लागत पर उत्पादन प्राप्त करने के लिए प्रत्येक साधन का सीमान्त भौतिक उत्पाद इसके मूल्य के बराबर होना चाहिए। अगर किसी साधन के सीमांत भौतिक उत्पाद और उसके मूल्य का अनुपात दूसरे साधन के इसी अनुपात के बराबर नहीं है तो फर्म कम से कम लागत पर उत्पादन प्राप्त करने में सफल नहीं हो पायेगी। ऐसी दशा में फर्म के लिए किसी एक साधन का कम या दूसरे साधन का अधिक मूल्य देकर उनके अनुपात को बराबर करना पड़ेगा। जिस समय तक साधनों की सीमांत भौतिक उत्पत्ति और इनके मूल्यों का अनुपात बराबर नहीं होगा तब तक कम से कम लागत पर अधिकतम उत्पादन नहीं किया जा सकेगा।

मान लीजिए 5 एकड़ भूमि 500 रुपये पर किराये पर ली जाती है और *श्रम 1200 रुपये प्रतिवर्ष पर लगाया जाता है और भूमि की सीमांत भौतिक उत्पादकता* 500 kg और श्रम की सीमांत भौतिक उत्पादकता 1400 kg है तो उपरोक्त फार्मूले का प्रयोग करने पर

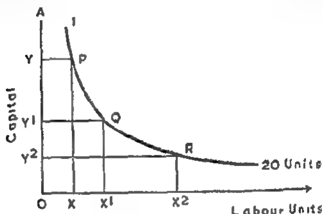
$$\frac{\text{श्रम की सीमांत भौतिक उत्पादकता } (1400\ kg)}{\text{श्रम का मूल्य } (Rs\ 1200)} = \frac{\text{भूमि की सीमांत उत्पादकता } (500\ kg)}{\text{भूमि का मूल्य } (Rs,\ 500)}$$

$$\text{या } \frac{7}{6} > \frac{1}{1}$$

दोनों साधनों का अनुपात बराबर नहीं है। इसलिए कम से कम लागत पर अधिक से अधिक उत्पादन नहीं किया जा सकेगा। इसलिए फर्म को अपना कुछ व्यय भूमि से श्रमिकों को प्रतिस्थापित करेगा। इस प्रकार साधनों के इष्टतम संयोग के लिए उत्पादक एक दूसरे साधन का प्रतिस्थापित करेगा। उत्पादक विभिन्न साधनों के संयोगों की लागत के दृष्टिकोण से तुलना करता है और जिस संयोग की लागत सबसे कम होती है वही संयोग अपनाया जाता है। मान लीजिए उत्पादक *किसी वस्तु की 20 इकाइयों का उत्पादन श्रम व पूँजी के निम्नलिखित सम लागतों* द्वारा किया जा सकता है।

श्रम इकाइयां		पूँजी इकाइयां	उत्पादन इकाइयां	पूँजी तथा श्रम के मध्य तकनीकी सीमांत स्थानापत्ति दर
1	+	10	20	—
2	+	8	20	1 4 ($\frac{1}{4}$)
3	+	6	20	1 2 ($\frac{1}{2}$)
4	+	4	20	1 1 (1)
5	+	2	20	1 $\frac{2}{5}$ ($\frac{2}{5}$)

इस प्रकार 20 इकाइयों का उत्पादन श्रम व पूँजी की उपरोक्त इकाइयों द्वारा किया जा सकता है। यहाँ यह मान लिया गया है कि श्रम तथा पूँजी के मध्य स्थानापत्ति सम्भव है। पीछे दी गई तालिका के आधार पर समोत्पत्ति वक्र भी प्राप्त किया जा सकता है :



चित्र सं० 79

उपरोक्त चित्र मे X अक्ष पर श्रम की इकाइया तथा Y अक्ष पर पूँजी की इकाइया व्यक्त की गई हैं। दोनो साधनो के विभिन्न इकाइयो से सयोग से 20 इकाइयो का उत्पादन किया जा सकता है। ये विभिन्न सयोग समोत्पाद (Equal Product Curves) द्वारा व्यक्त किये गये हैं। उत्पादक इन सयोगो में से किसी एक का चुनाव करते समय लागत को ध्यान मे रखता है और जिस सयोग (combination) से लागत कम से कम होती है वही सयाग उसके द्वारा चुना जाता है। किसी भी उत्पादक के लिए इस प्रकार के अनेक वक्र होते है जो भिन्न-भिन्न उत्पादन स्तरो पर विभिन्न सयोग (combination) प्रदर्शित करते हैं।

उत्पत्ति के साधनो की घटती हुई सीमान्त दर (**The principle of Diminishing Marginal Rate of Factor Substitution**) : उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि ज्यो ज्यो श्रम की अधिक इकाइयो का प्रयोग किया जाता है त्यो-त्यो पूँजी की कम मात्रा का प्रयोग किया जाता है। दूसरे शब्दो में जिस अधिक सीमा तक पूँजी का श्रम के साथ प्रतिस्थापन किया जाता है, प्रतिस्थापन (Substitution) की सीमान्त दर घटती जाती है। इसी सम्बन्ध को घटती हुई सीमान्त दर की सज्ञा दी जाती है। इस नियम को अधिक स्पष्ट रूप से इस प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है : किसी एक उत्पत्ति साधन की मात्रा बढाने पर उस सयोग से दूसरे साधन की क्रमशः कम इकाइयो की आवश्यकता पडती है। जिस दर पर दूसरे साधन द्वारा पहले साधन को प्रतिस्थापित किया जाता है वह दर घटती जाती है।

श्रेष्ठतम सयोग :—केवल प्रतिस्थापन की सीमान्त दर ही साधनो के प्रयोग की श्रेष्ठतम मात्रा निर्धारित नहीं करती। प्रत्येक साहसी इस चुनाव में इन सयोगो की लागत कर भी ध्यान म रखना है। इसलिए कोई भी सयोग उसी हालत मे निश्चित किया जा सकता है जबकि विभिन्न साधनो की लागत के बारे मे ज्ञान हो तथा जिस दर पर एक साधन को दूसरे साधन से प्रतिस्थापन किया जा सके, वह दर ज्ञात हो। मान लीजिए धुलाई की मशीनो की निश्चित इकाइयों के उत्पादन के लिए अल्युमिनियम और स्टील की निम्न मात्राओ के विभिन्न सयोग दिये हुए हैं और अल्युमिनियम की लागत 60 रुपये प्रति टन तथा स्टील की लागत 30 रुपये प्रति टन है। निम्न तालिका से इन मशीनो के निर्माण के विभिन्न सयोगो की लागत स्पष्ट है —

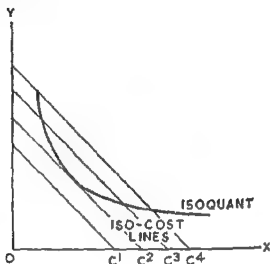
विभिन्न सयोगो की दशा मे 200 धुलाई की मशीनो के उत्पादन से सम्बन्धित लागत

अल्युमिनियम (टनो मे)	स्टील (Steel) (टनो मे)	अल्युमिनियम की लागत (रुपयो म)	स्टील की लागत (रुपयो मे)	अन्य लागत रुपयो म)	कुल लागत
0	10	0	300	9000	9300
1	6	60	180	9000	9240
2	3	120	90	9000	9210
3	1	180	30	9000	9210
4	$\frac{1}{4}$	240	$7\frac{1}{2}$	9000	$9247\frac{1}{2}$
5	0	300	0	9000	9300

उपरोक्त तालिका मे साधनो का श्रेष्ठतम सयोग उस हालत मे प्राप्त किया जाता है कि जबकि *अल्युमिनियम की मात्रा 2 टन और स्टील की 3 टन की मात्रा का* प्रयोग किया जाता है। अगर लागत का भिन्नो म लिया जाता तो ये तथ्य और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है क्योंकि इस दशा म हम पूर्णतया निम्न लागत ज्ञात कर सकते हैं।

समोत्पत्ति लागत वक्रो की समलागत रेखा के साथ स्पर्शता (Tangency of the Isoquants with an Iso cost line) साधनो क श्रेष्ठतम सयोग को, समोत्पत्ति वक्र (Isoquents) क साथ समलागत रेखाओ का जोडकर, रेखाचित्र द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है। प्रत्येक सम्भव सयोग के लिए सम लागत रेखाएँ बनाई जा सकती हैं। ये रेखाएँ एक दूसरे के समानान्तर होती हैं। विभिन्न वैकल्पिक सयोगो की दशा मे उस सयोगो की दशा मे उस सयोग का चुनाव कर जिसकी लागत सबसे कम है श्रेष्ठतम सयोग प्राप्त कर सकते हैं। रेखाचित्र मे जहाँ निम्नतम सम

लागत रेखा (Lowest isocost line) जिस विन्दु पर समोत्पत्ति वक्र को स्पर्श करती है वह बिन्दु साधनों के श्रेष्ठतम संयोग का बिन्दु होता है। यह निम्न चित्र से स्पष्ट है।



चित्र स० 80

उपरोक्त चित्र मे C_1, C_2, C_3, C_4 विभिन्न समलागत रेखाएँ हैं। समोत्पत्ति वक्र, बिन्दु P पर निम्न समलागत रेखा को स्पर्श करता है। यही बिन्दु साधनों के श्रेष्ठतम संयोग का बिन्दु है। इस बिन्दु से निम्न लागत पर आवश्यक उत्पादन प्राप्त करने के लिए साधन क्रय नहीं किये जा सकेंगे जबकि इसके ऊपर की रेखा पर अधिक लागत होगी। यह ध्यान मे रखना चाहिए कि समोत्पत्ति वक्र दी हुई मात्रा के उत्पादन के लिए दो साधनों की विभिन्न मात्राएँ प्रदर्शित करता है जबकि समलागत रेखाएँ दो साधनों की दिये हुए व्यय पर क्रय की जाने वाली मात्राएँ प्रदर्शित करते हैं।

26

बाजार की अवस्थाएं
(Types of Markets)

'We must therefore define a market as any area over which buyers and sellers are in such close touch with one another, either directly or through dealers, that price obtainable in one part of the market affect the prices paid in other parts'

Benham

'विनिमय' मे कुछ ऐसे शब्दो का प्रयोग किया जाता है जिनका अपना कुछ विशेष अर्थ होता है । अत यह आवश्यक है कि 'विनिमय' के सिद्धातो का विवेचन करने के पूर्व उन शब्दो के अर्थ का ज्ञान प्राप्त कर लिया जाय, जिनका प्रयोग विनिमय म किया जाता है ।

1 बाजार (Market)

1 अर्थ 'विनिमय' के लिए बाजार का होना आवश्यक है । जहा विनिमय होता है उसे बाजार कहते हैं । साधारण बोलचाल की भाषा मे 'बाजार' शब्द से उस स्थान का बोध होता है जहा वस्तुओ का क्रय विक्रय होता है । परन्तु अर्थशास्त्र मे बाजार का अर्थ कोई स्थान अथवा क्षेत्र नही है । वस्तुत अर्थशास्त्र मे बाजार शब्द का अर्थ अधिक व्यापक है । इसका अभिप्राय उस सम्पूर्ण क्षेत्र से है जहा वस्तु-विशेष के क्रेताओ तथा विक्रेताओ मे स्पर्द्धा तथा सम्पर्क रहता है जिसके फलस्वरूप उस क्षेत्र विशेष म उस वस्तु का मूल्य लगभग समान रहता है ।

उपरोक्त परिभाषा के आधार पर बाजार की विशेषताए इस प्रकार हैं : (i) वस्तु के विक्रेताओ का होना, (ii) वस्तु के क्रेताओ का होना, (iii) क्रेताओ तथा विक्रेताओ मे पारस्परिक सम्बन्ध होना, (iv) उनमे स्वतन्त्र प्रतिस्पर्द्धा होना, तथा (v) वस्तु की किस्म का एक होना ।

कुछ अर्थशास्त्री 'एक मूल्य' का होना भी बाजार की एक विशेषता मानते हैं। परन्तु जहा पर उपरोक्त विशेषताए पायी जाती है, वहा यह स्वाभाविक है कि एक

बाजार मूल्य ही पाया जायेगा, अथवा एक ही बाजार-मूल्य होने की प्रवृत्ति होगी। यह ध्यान रहे कि एक वस्तु के विभिन्न मूल्य हो सकते हैं, परन्तु एक वस्तु के जितने ही मूल्य होंगे, उसके उतने ही बाजार होंगे। यदि एक वस्तु की विभिन्न किस्में हैं, तो पृथक्-पृथक वस्तुएं मानी जायेंगी तथा उन किस्मों के अनुसार उतने ही पृथक बाजार भी होंगे।

अन्य परिभाषाएं : यहां पर कुछ प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों की परिभाषाओं पर विचार कर लेना भी आवश्यक है। कूर्नो (Cournot) के अनुसार, 'बाजार' का अर्थ "किसी स्थान-विशेष से नहीं है जहां वस्तुएं खरीदी और बेची जाती हैं, किन्तु उस पूरे प्रदेश से है जिसमें क्रेता व विक्रेता एक दूसरे से ऐसे स्वतन्त्र संयोग में होते हैं कि एक ही प्रकार की वस्तुओं के मूल्यों में शीघ्रता और सरलता से समान होने की प्रवृत्ति होती है।"[1] सिजविक (Sidgwick) के अनुसार बाजार 'व्यक्तियों का कोई समूह है जिसमें ऐसे पारस्परिक व्यापारिक सम्बन्ध हों कि प्रत्येक व्यक्ति उन दरों से अवगत हो सके जिन पर दूसरे व्यक्ति समय-समय पर विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं का विनिमय किया करते हैं।"[2]

जेवन्स (Jevons) ने अपनी पुस्तक "Theory of Political Economy" में यह मत प्रकट किया है कि बाजार शब्द 'इस प्रकार साधारणीकृत कर दिया गया है कि उसका तात्पर्य व्यक्तियों के किसी समूह से है जिनमें व्यापारिक सम्बन्ध होते हैं और जो किसी वस्तु का विस्तृत व्यापार करते हैं।"[3] चैपमैन (Chapman) के अनुसार, "बाजार शब्द आवश्यक रूप से स्थान का बोध नहीं कराता, बल्कि वस्तु अथवा वस्तुओं तथा क्रेताओं और विक्रेताओं का ज्ञान कराता है जिनमें पारस्परिक स्पर्द्धा रहती है।"[4]

---

[1] "Economists understand by the term market not any particular market place in which things are bought and sold but the whole of any region in which buyers and sellers are in such free intercourse with one another that the price of the same goods tend to equality easily and quickly." —*Cournot*

[2] "... is a body of persons in such commercial relations that each can easily acquaint himself with the rates at which certain kinds of exchange of goods or services are from time to time made by the others." —*Sidgwick*

[3] "... but the word has been generalised so as to mean any body of persons who are in intimate business relations and carry extensive transactions in any commodity." —*Jevons*

[4] "The term refers not necessarily to a place but always to a commodity or commodities and the buyers and sellers of the same who are in direct competition with one another." —*Chapman*

इस प्रकार विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने बाजार की विभिन्न विशेषताओं पर जोर दिया है। उपरोक्त परिभाषाओं में कूर्नो एक प्रदेश की बात करते है जबकि जेवन्स ने केवल क्रेताओं तथा विक्रेताओं के पारस्परिक सम्बन्ध पर विशेष बल दिया है। इसी प्रकार अन्य अर्थशास्त्रियों में सोगर ने भी स्थान शब्द पर जोर दिया है जबकि एली (Ely) के मत मे बाजार के लिए पारस्परिक स्पर्द्धा का होना अति आवश्यक है।

2. विस्तृत बाजार की दशाएं : (Conditions for a Wide Market) :

आधुनिक युग मे किसी भी वस्तु के बाजार का विस्तृत बनाने का प्रयत्न किया जाता है। अर्थशास्त्रियों ने इस सम्बन्ध में ऐसी दशाओं का वर्णन किया है, जो किसी वस्तु के विस्तृत बाजार होने के लिए आवश्यक हैं। यद्यपि प्रो० मेहता के मत मे ये दशाएं अनावश्यक है, क्योंकि उनके अनुसार बाजार "एक दशा-विशेष है तथा किसी दशा को विस्तृत या सकीर्ण कहना वास्तव मे निरर्थक है।" उनके अनुसार "बाजार शब्द एक स्थिति का बोध कराता है जिसमे किसी वस्तु की माग उस स्थान पर होती है जहा पर वह बिक्री के लिए प्रस्तुत की जाती है।"[5] फिर भी इस तथ्य को अस्वीकार नही किया जा सकता कि किसी भी वस्तु का बाजार विस्तृत या सकुचित हो सकता है। व्यावहारिक जगत मे हम यह देखते हैं कि कुछ वस्तुओं का बाजार ससार-व्यापी है तथा कुछ का केवल स्थानीय (local)। किसी वस्तु-विशेष के बाजार के विस्तृत होने के लिए निम्नलिखित दशाओं का होना आवश्यक है। इन दशाओं को दो भागों मे बाटा जा सकता है। (i) बाह्य परिस्थितियां, तथा (ii) वस्तुगत गुण।

(i) बाह्य परिस्थितियां (Conditions within a Country) :

(1) देश मे शाति सुरक्षा तथा अच्छे शासन का होना : यदि देश के अन्दर शान्ति और सुरक्षा नही है, तो कोई भी वस्तु एक स्थान से दूसरे स्थान को सरलतापूर्वक नही भेजी जा सकती। किसी देश मे शान्ति, सुरक्षा तथा अच्छी शासन-व्यवस्था रहने पर, वस्तुओं के बाजार का क्षेत्र विस्तृत होता है।

(2) परिवहन तथा सवाद वहन के साधनो का विकास ***(Developed means of Transport and Communications) :*** सवाद-वहन तथा परिवहन के साधनो के विकसित होने पर, वस्तुओं के सौदे करने तथा उनके स्थानान्तरण मे सुविधा होती है। फलस्वरूप वस्तुओं का बाजार किसी राष्ट्र की सीमा तक ही सीमित नही रहता, वरन् वह अन्तर्राष्ट्रीय हो जाता है।

(3) मुद्रा तथा साख-प्रणाली (Currency and Credit System) :

---

[5] "The word market signifies a state in which a commodity has a demand at a place where it is offered for sale."— *J K. Mehta*

उपयुक्त मुद्रा नीति, विकसित बैंक तथा साख-व्यवस्था बाजार के विकास मे सहायक होते है। यदि सरकारी साख एव मुद्रा नीति स्थायी है तथा उसमे जनता का पूर्ण विश्वास है तो वस्तुओ का क्रय-विक्रय दूर-दूर के स्थानो मे बडी सरलता से किया जा सकता है। इस प्रकार वस्तुओ का बाजार विस्तृत होता है।

(4) सरकारी नीति (The Government Policy) : सरकारी नीति भी बाजार के क्षेत्र को सीमित तथा विस्तृत बनाती है। सरकार निषेधात्मक कर लगाकर तथा कोटा (Quota) निश्चित करके किसी भी वस्तु के बाजार को सीमित कर सकती है।

(5) श्रम-विभाजन (Division of Labour): आधुनिक युग मे श्रम-विभाजन का अत्यधिक महत्व है। जहा पर जितना ही अधिक श्रम विभाजन होगा, वहा पर वस्तुए उतनी ही सस्ती होगी। परिणामस्वरूप उनकी माग अधिक होगी और बाजार विस्तृत होगा।

(6) विज्ञापन, प्रदर्शनी आदि (Advertisement, Exhibitions etc.) : उत्पादन प्रणाली मे ज्यो-ज्यो वैज्ञानिक साधनो का अधिकाधिक प्रयोग बढता जा रहा है, त्यो-त्यो विज्ञापन का महत्व भी बढता जा रहा है। जिन वस्तुओ का व्यवस्थित विज्ञापन होता है, उनकी माग अधिक होती है। इस प्रकार विज्ञापन तथा प्रचार के अन्य साधनो की सहायता से बाजार को विस्तृत बनाया जा सकता है।

(ii) वस्तुगत गुण (The Character of the Commodity) :

किसी वस्तु के बाजार के विस्तृत होने के लिए केवल बाह्य वातावरण का अनुकूल होना ही यथेष्ट नही है, बल्कि उसके विस्तार पर वस्तु के आन्तरिक गुणो का भी विशेष प्रभाव पडता है। ये गुण निम्नलिखित हैं।

(1) वहनीयता (Portability) . जो वस्तुए कम व्यय पर तथा सरलतापूर्वक स्थानान्तरणीय होती हैं, उनका बाजार विस्तृत होता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि वस्तु का भार व आकार उसके मूल्य के अनुपात मे कम हो।

( ) माग की प्रकृति (The Nature of Demand) : किसी वस्तु की माग अधिक होने पर उसका बाजार भी विस्तृत होगा। इसके विपरीत माग के सीमित होने पर बाजार सकुचित होगा। माग मे वृद्धि नियमित रूप से होनी चाहिए। परिवर्तनशील माग होने पर, अर्थात् माग के घटते बढते रहने पर बाजार अधिक विस्तृत नही होता।

(3) टिकाऊपन (Durability) : शीघ्र न नष्ट होने वाली वस्तुओ का बाजार विस्तृत होता है। इन वस्तुओ को अधिक दिनो तक रखा जा सकता है तथा उन्हे दूर-दूर के स्थानो को भेजा जा सकता है। शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओ, जैसे साग, सब्जी, फल, दूध, मछली आदि का बाजार विस्तृत नही होता।

(4) श्रेणीयन तथा प्रमापीकरण के योग्य होना (Suitability for Grading, Sampling etc) : यदि किसी वस्तु के नमूने अच्छी प्रकार के बनाये जा सकते हैं तो उन्हें दूर के व्यवसायियों के पास भेजा जा सकता है और वे उन्हें आसानी से क्रय कर सकते हैं। इसी प्रकार वस्तु ऐसी होनी चाहिए जिसका वितरण सरलतापूर्वक किया जा सके। इन सुविधाओं के होने से क्रेता को वस्तु का चुनाव करने के लिए उसके उत्पादन-स्थान पर नहीं जाना पड़ेगा। नमूने भेज कर तथा वस्तुओं के व्यापारिक चिन्ह (Trade Marks) निर्धारित करके, ग्राहकों को वस्तुओं की जानकारी करायी जा सकती है।

(5) अधिक मात्रा में पूर्ति (Large Supply) : यदि किसी वस्तु की पूर्ति उसकी माग के अनुसार शीघ्र बढायी जा सकती है, तो उसका बाजार विस्तृत होगा। इसके विपरीत स्थिति मे उसका बाजार सीमित होगा।

3 बाजार का वर्गीकरण (Types of Markets).

बाजार कई प्रकार के होते हैं। सुविधा की दृष्टि से बाजार को चार मुख्य शीर्षकों में वर्गीकृत किया जा सकता है। (i) स्थान या क्षेत्र के अनुसार, (ii) समय के अनुसार, (iii) कार्य के अनुसार, तथा (iv) परिस्थितियों या प्रतियोगिता के अनुसार।

(i) स्थान या क्षेत्र के अनुसार वर्गीकरण (According to Place or Region) स्थान या क्षेत्र के अनुसार बाजार के वर्गीकरण को उसका भौगोलिक विकास (Geographical Evolution) कहा जाता है। इसके अन्तर्गत जब वस्तुओं का विनिमय किसी परिवार के सदस्यों तक ही सीमित रहता है, तब इसे कौटुम्बिक बाजार (Family Market) कहा जाता है। परन्तु यदि किसी वस्तु के क्रेताओं तथा विक्रेताओं के विनिमय-कार्य या उनकी व्यापारिक क्रियाएं किसी एक स्थान विशेष नगर या ग्राम तक ही सीमित हो तब उस वस्तु के बाजार को स्थानीय बाजार (Local Market) कहा जायेगा। ऐसे बाजार के क्रेता व विक्रेता उसी स्थान के होते हैं। राष्ट्रीय बाजार (National Market) उस बाजार को कहा जाता है, जब कि किसी वस्तु का क्रय-विक्रय किसी स्थान, प्रान्त या राज्य तक सीमित न होकर देश-व्यापी होता है। परन्तु इसका विस्तार देश की सीमाओं तक ही सीमित होता है। इसके अन्तर्गत भी जब किसी वस्तु का क्रय-विक्रय किसी नगर या ग्राम की सीमाओं को पार कर, किसी प्रान्त (Province) या राज्य (State) के सीमाओं तक ही सीमित रहता है, तब इसे प्रान्तीय या राज्य बाजार (Provincial or State Market) कहा जायेगा। अन्त में, जब किसी वस्तु का क्रय-विक्रय विश्व के विभिन्न भागों में किया जाता है तथा उसके क्रेता तथा विक्रेता सम्पूर्ण संसार में फैले होते है, तब ऐसी वस्तु का बाजार अन्तर्राष्ट्रीय या विश्वव्यापी (International Mar-

ket) कहलाता है। ऐसे बाजार में विश्व के सभी क्रेताओं तथा विक्रेताओं में पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा होती है।

(ii) समयानुसार वर्गीकरण (According to Time) : समय के अनुसार बाजारों का वर्गीकरण दैनिक (Daily), अल्पकालीन (Short Period) तथा दीर्घकालीन (Long Period) बाजारों में किया जा सकता है। दैनिक बाजार में किसी वस्तु के क्रय-विक्रय की क्रियाएं कुछ ही घंटों या एक या दो दिनों तक ही की जाती हैं। ऐसा बाजार वास्तव में अति अल्पकालीन होता है। इसमें माग के अनुसार पूर्ति में वृद्धि नहीं की जा सकती। अल्पकालीन बाजार (Short Period Market) का समय दैनिक बाजार के समय से कुछ अधिक लम्बा होता है। प्राय इसका समय कुछ महीनों या एक वर्ष तक रहता है। अल्पकालीन बाजार में दैनिक बाजार की अपेक्षा पूर्ति में वृद्धि कुछ सीमा तक हो की जा सकती है। परन्तु अधिक समय न होने के कारण उपलब्ध उत्पादन साधनों का अधिकतम प्रयोग तथा विदेशों से वस्तुओं का आयात करके सामयिक माग की पूर्ति कर दी जाती है। परन्तु इस काल में पूंजी-निर्माण सम्भव न हो सकने के कारण निरन्तर बढती हुयी माग के अनुसार पूर्ति म वृद्धि नहीं हो पाती। इसीलिए यह कहा जाता है कि अल्पकालीन बाजार मे, यद्यपि माग और पूर्ति का समन्वय कुछ समय के लिए सम्भव हो पाता है फिर भी बाजार मूल्य निधारण मे पूर्ति की अपेक्षा माग का अधिक महत्व होता है। इस बाजार में प्राय वस्तु का बाजार-मूल्य उत्पादन-लागत के लगभग बराबर या कम होता है। इसके विपरीत दीर्घकालीन बाजार (Long period market) म समय सीमित नहीं होता। यह महीनों तथा वर्षों तक चलता रहता है। इस काल म उत्पादन साधनों को अधिक विकसित करके तथा पूँजी निर्माण द्वारा पूर्ति मे अत्यधिक वृद्धि की जा सकती है। फलस्वरूप ऐसे बाजार मे माग की अपेक्षा पूर्ति, मूल्य निर्धारण मे महत्वपूर्ण मानी जाती है। वस्तु के बाजार म उत्पादकों को, बढती हुयी माग से लाभ होता है, क्योंकि इसमें जब तक उत्पादन साधनों तथा पूँजी का स्थायी रूप से विकास नहीं हो जाता, तब तक वस्तु का मूल्य ऊंचा रहेगा। कीमत उत्पादन लागत के बराबर होती है। दीर्घकालीन बाजार मूल्य को ही 'सामान्य मूल्य' (Normal Price) कहते है।

(iii) कार्यानुसार वर्गीकरण (According to Functions) :

(अ) सामान्य अथवा मिश्रित बाजार (General or Mixed Market), इस प्रकार के बाजार में विविध प्रकार की वस्तुओं का क्रय विक्रय किया जाता है।

(ब) विशिष्ट बाजार (Specialized Market). प्रत्येक वस्तु के बाजार को विशिष्ट बाजार कहा जाता है, क्योंकि उसमें उस वस्तु विशेष के ही विभिन्न प्रकारों का क्रय विक्रय किया जाता है। उदाहरणार्थ, सर्राफा या सोने चांदी का बाजार, अनाज मण्डी, अश्व बाजार आदि।

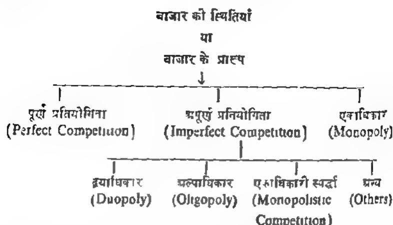
(स) नमूनों द्वारा बिक्री (Marketing by Samples) : वस्तुओं के प्रमापित होने पर जब उनके नमूने तैयार करने में सुविधा होती है, तब उनका क्रय विक्रय नमूनों के आधार पर ही किया जाता है। अतः ऐसे बाजार नमूनों द्वारा बिक्री के बाजार कहलाते हैं।

(द) श्रेणियों के आधार पर बिक्री (Marketing by Grades) : जिन वस्तुओं को श्रेणीबद्ध करके उनके गुणों तथा उनकी किस्मों के आधार पर वर्गीकृत करने तथा किस्मों और श्रेणियों के आधार पर उनके नामों या चिह्नों के आधार पर ही होता है। इस विधि द्वारा खरीद व बिक्री होने पर क्रेता वस्तु के नमूने नहीं देखता।

(iv) परिस्थितियों तथा प्रतियोगिता के आधार पर (On the Basis of Competiton) : प्रतियोगिता के आधार पर किसी बाजार को पूर्ण बाजार (Perfect Market) तथा अपूर्ण बाजार (Imperfect Market) में वर्गीकृत किया जा सकता है। पूर्ण बाजार का अभिप्राय ऐसे बाजार से है जिसमें क्रेता तथा विक्रेता बड़ी संख्या में होते हैं तथा उनमें पूर्ण एवं स्वतन्त्र प्रतिस्पर्द्धा होती है, जिसके फलस्वरूप बाजार में एक वस्तु का एक ही मूल्य प्रचलित होता है। इसके विपरीत अपूर्ण बाजार में ये दशाएं नहीं पायी जाती। एडम स्मिथ तथा उनके अनुयायियों ने पूर्ण बाजार की कल्पना की थी, परन्तु व्यावहारिक रूप से पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा नहीं पायी जाती। अतः यह कहा जाता है कि पूर्ण बाजार का अस्तित्व काल्पनिक है।

बाजार की स्थितियां
(Market Situations)

कोई फर्म किसी वस्तु का कितना उत्पादन करेगी तथा बाजार में वह वस्तु किस मूल्य पर बेची जायेगी, ये बातें बाजार के रूप या उसकी स्थितियों (situations) पर निर्भर करती है। वस्तुओं की प्रकृति, क्रेताओं तथा विक्रेताओं की संख्या तथा उनमें पारस्परिक सहयोग एवं निर्भरता आदि अनेक बातें बाजार के स्वरूप को निर्धारित करती है। बाजार के स्वरूपों की दो सीमाएं है। एक ओर पूर्ण प्रतियोगिता (Perfect Competition) तथा दूसरी ओर एकाधिकार (Monopoly)। इन दोनों स्थितियों के बीच अन्य कई अवस्थाएं पाई जाती हैं। मुख्य रूप से बाजार की तीन स्थितियां होती हैं जैसा कि आगे स्पष्ट किया गया है -



बाजार की उपर्युक्त विभिन्न स्थितियों में मूल्य किस प्रकार प्रभावित होता है ? इस बात की जानकारी के पूर्व यह आवश्यक है कि 'स्पर्द्धा' या 'प्रतियोगिता' (Competition) शब्द का आर्थिक अभिप्राय जान लिया जाय। स्पर्द्धा के लिए स्टिगलर (Stigler) ने तीन शर्तें दी हैं (i) प्रत्येक आर्थिक इकाई इतनी छोटी होती है कि उसका प्रभाव मूल्य पर बहुत कम पड़ता है, (ii) सरकार या व्यक्तिगत संस्थाएं उत्पादन के साधनों के पूर्ण उपयोग पर किसी प्रकार का नियंत्रण लगाया जाता है, तथा (iii) इसी प्रकार प्रत्येक साहसी को वस्तु के मूल्य का पूर्ण ज्ञान रहता है और उसे अपने लाभ की जानकारी रहती है। बाजार के रूप स्पर्द्धा या प्रतियोगिता की इन शर्तों पर निर्भर करते हैं जैसा कि बाजार की विभिन्न स्थितियों के निम्नलिखित विवेचन से स्पष्ट है।

पूर्ण स्पर्धा या प्रतियोगिता (Pure Competition) :

जैसा कि पहले स्पष्ट किया गया है बाजार के रूपों की दो सीमाओं में से एक ओर 'पूर्ण प्रतियोगिता' की स्थिति है। 'पूर्ण स्पर्द्धा या प्रतियोगिता' शब्द का प्रयोग अंग्रेज अर्थशास्त्रियों द्वारा किया गया है। कुछ अमेरिकन अर्थशास्त्रियों द्वारा पूर्ण स्पर्द्धा तथा शुद्ध स्पर्द्धा (Pure Competition) में भेद किया है और वे 'पूर्ण स्पर्द्धा' की अपेक्षा 'शुद्ध स्पर्द्धा' शब्द का प्रयोग करना अधिक पसन्द करते हैं। परन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि 'पूर्ण स्पर्द्धा' में 'शुद्ध स्पर्द्धा' की भावना पूर्णतया निहित है। फिर भी इन दोनों में भेद स्पष्ट करने के लिए इनकी निम्नलिखित परिभाषाओं एवं विशेषताओं का उल्लेख किया गया है :

पूर्ण प्रतियोगिता की परिभाषा (Definition of Perfect Competition) :

पूर्ण प्रतियोगिता का अभिप्राय बाजार की उस स्थिति से है जिसमें किसी वस्तु का एक ही मूल्य होता है, क्योंकि कोई भी क्रेता या विक्रेता व्यक्तिगत रूप से

बाजार मूल्य को प्रभावित नहीं कर सकता है। श्रीमती जोन राबिन्सन (Mrs Joan Robinson) के शब्दों में, "पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति उस समय पायी जाती है जबकि प्रत्येक उत्पादक के उत्पादन की माग पूर्णतया लोचदार होती है। इसका तात्पर्य है प्रथम, विक्रेताओं की सख्या बहुत अधिक होती है जिससे कि किसी एक विक्रेता (उत्पादक) का उत्पादन वस्तु के कुल उत्पादन का एक बहुत ही थोडा अश होता है, तथा द्वितीय, सभी क्रेता, प्रतियोगी विक्रेताओं के मध्य चुनाव करने की दृष्टि से समान होते हैं जिससे बाजार पूर्ण हो जाता है।"*

पूर्ण प्रतियोगिता की विशेषताएं

पूर्ण प्रतियोगिता की निम्नलिखित विशेषताएं हैं। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति के लिए निम्नलिखित दशाओं का होना आवश्यक है

(1) **स्वतन्त्र रूप से कार्य करने वाले क्रेताओं तथा विक्रेताओं का अधिक सख्या में होना** पूर्ण प्रतियोगिता में स्वतन्त्र रूप से कार्य करने वाले क्रेताओं तथा विक्रेताओं की सख्या बहुत ही अधिक होती है। उनके व्यवसाय का आकार बहुत ही छोटा होता है। यही कारण है कि उसके द्वारा किये गये उत्पादन की मात्रा कुल उत्पादन का इतना थोडा भाग होता है कि वह उसमें कमी या वृद्धि करके भी वस्तु के बाजार मूल्य को प्रभावित नहीं कर सकता। इसी प्रकार प्रत्येक क्रेता बाजार में कुल पूर्ति का इतना कम भाग खरीदता है कि उसके द्वारा क्रय की गयी मात्रा में कमी या वृद्धि होने पर भी बाजार मूल्य पर कोई भी प्रभाव नहीं पडता। इसमें यह स्पष्ट है कि पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में *बाजार में मूल्य निर्धारण सभी क्रेताओं तथा* विक्रेताओं की व्यापारिक क्रियाओं के सम्मिलित प्रभाव से होता है तथा 'एक मूल्य' के निश्चित हो जाने पर उसमें परिवर्तन कठिन हो जाता है।

स्वतन्त्र रूप से कार्य करने का अभिप्राय यह है कि क्रेताओं तथा विक्रेताओं में कोई पारस्परिक समझौता या गुप्त सन्धि नहीं होती। यही कारण है कि व्यक्तिगत रूप में व्यापार करते हुए बाजार मूल्य को प्रभावित करने में असमर्थ रहते हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में यह ध्यान रहे कि यद्यपि क्रेता अथवा विक्रेता व्यक्तिगत रूप में वस्तु

* "Perfect competition prevails when the demand for the output of each producer is perfectly elastic This entails first that the member of selless is large, so that the output of any one seller is negligibly small proportion of the total output of the commodity, and second, that buyers are all alike in respect of their choise between rival sellers, so that the market is perfect"

—Mrs Joan Robinson.

की कुल माग या पूर्ति मे कमी या वृद्धि करके उसके मूल्य को प्रभावित नही कर सकता फिर भी एक प्रतियोगी उद्योग मे समस्त उत्पादक सामूहिक रूप से कुल उत्पादन की मात्रा मे कमी या वृद्धि करके बाजार मूल्य को प्रभावित कर सकते हैं। इसी प्रकार क्रेता भी एक समूह के रूप मे वस्तु की कुल माग की मात्रा मे कमी या वृद्धि करके बाजार मूल्य को प्रभावित करने मे समर्थ होते हैं।

(ii) विक्रय की जाने वाली वस्तु का प्रमापित तथा एक रूप होना : (Standardised and Homogenous Commodity) उत्पादित या विक्रय की जाने वाली वस्तु प्रमापित तथा एक सी होनी चाहिए। इसके साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि विक्रेताओ अथवा उत्पादको मे एकरूपता होनी चाहिए, अर्थात् वस्तु विभेद अथवा उनके स्थान उनकी ख्याति अथवा उनके व्यक्तित्व मे अन्तर होने के कारण क्रेता को एक विक्रेता की अपेक्षा दूसरे विक्रेता को पसन्द करने का अवसर मिल सके। वस्तु की इकाइयो के एकरूप होने पर तथा विक्रेताओ की स्थिति समान होने पर वस्तु विभेद (Product differentiation) का प्रश्न नही उठता तथा क्रेता वस्तु की सभी इकाइयो तथा सभी विक्रेताओ को समान महत्व देते है। इस प्रकार क्रेता के दृष्टिकोण से सभी विक्रेताओ अथवा फर्मो की वस्तुओ की इकाइया एक दूसरे की पूर्ण स्थानापन्न होती है। इससे यह स्पष्ट है कि ऐसी वस्तु का मूल्य किसी विक्रेता के द्वारा यदि थोडा सा भी बढा दिया गया तो उसके सभी ग्राहक किसी अन्य विक्रेताओ के पास चले जायेंगे। विक्रेता प्रचलित मूल्य पर ही अपनी वस्तु का बेच कर लाभ कमाता है, अत. यह उसके मूल्य को कम भी नही करता।

(iii) बाजार का पूर्ण ज्ञान क्रेताओ तथा विक्रेताओ को बाजार की अवस्था का पूर्ण ज्ञान होता है। इसका अर्थ यह है कि क्रेताओ तथा विक्रेताओ को बाजार म प्रचलित मूल्यो की जानकारी होनी चाहिए। यह उसी समय सम्भव हो सकता है जबकि क्रेताओ तथा विक्रेताओ मे निकट सम्पर्क होता है। निकट सम्पर्क होने पर ही यह भी ज्ञात हो सकता है कि क्रेता तथा विक्रेता किस मूल्य पर किसी वस्तु को खरीदने अथवा बेचने के लिए तत्पर हैं।

(iv) फर्मो का स्वतत्र प्रवेश व बहिर्गमन पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे नये उत्पादको या फर्मो का उद्योग मे प्रवेश करने अथवा उससे हटने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती हैं। इसका प्रभाव यह पडता है कि फर्मो या उद्योगपतियो को उत्पादन के साधनो पर एकाधिकार प्राप्त करके वस्तु की पूर्ति पर एकाधिकार प्राप्त नही हो पाता है। इसके साथ ही फर्मो के आगमन व निर्गमन का प्रभाव लाभ पर भी पडता है। दीर्घकाल मे फर्मों को सामान्य लाभ ही प्राप्त होता है।

(v) नियन्त्रण एव प्रतिबन्ध का अभाव किसी भी फर्म की व्यावसायिक क्रियाओ पर किसी प्रकार का नियन्त्रण अथवा प्रतिबंध नही होना चाहिए। उत्पादन साधनो मे गतिशीलता होनी चाहिए।

(vi) सभी उत्पादको या फर्मों का निकट होना स्टोनियर व हेग (Stonier and Hague) ने पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति के लिए यह माना है कि समस्त उत्पादक एक दूसरे के काफी समीप होने चाहिए जिससे उनको कोई परिवहन लागत न हो। इससे बाजार मूल्य एक ही रहेगा।

शुद्ध स्पर्द्धा या परमाणुवादी प्रतियोगिता (Pure Competition or Atomistic Competition)

चेम्बरलिन (Chamberlin) ने शुद्ध स्पर्द्धा तथा पूर्ण स्पर्द्धा मे भेद किया है। शुद्ध स्पर्द्धा उस अवस्था को कहते है जिसमे एकाधिकार (monopoly) का कोई लक्षण या तत्व नहीं पाया जाता हैं। कुछ अर्थशास्त्री इस प्रकार की स्पर्द्धा या प्रतियोगिता के लिए 'परमाणुवादी प्रतियोगिता' (atomistic Competition) शब्द का प्रयोग करते हैं।

शुद्ध प्रतियोगिता के लिए पूर्ण प्रतियोगिता की तीन दशाओ का होना ही आवश्यक है। इन दशाओ को शुद्ध स्पर्द्धा की विशेषताए कहा जा सकता है। ये दशाए हैं

(i) स्वतन्त्र रूप से कार्य करने वाले क्रेताओ तथा विक्रेताओ की सख्या अधिक होती है, (ii) विक्रय की जाने वाली वस्तु प्रमापित एव एकरूप होनी है तथा वस्तु विभेद नही होता, तथा (iii) उद्योग मे फर्मो का आगमन अथवा उसमे से उनके निगमन पर कोई प्रतिबन्ध नही होता। वे उद्योग मे प्रवेश करने अथवा उससे बाहर चले जाने के लिए स्वतन्त्र होती हैं।

पूर्ण स्पर्द्धा तथा शुद्ध स्पर्द्धा मे अन्तर पूर्ण स्पर्द्धा तथा शुद्ध स्पर्द्धा की उपर्युक्त विशेषताओ से स्पष्ट है कि शुद्ध स्पर्द्धा तथा पूर्ण स्पर्द्धा मे कोई विशेष मौलिक अन्तर नही है। शुद्ध स्पर्द्धा मे भी पूर्ण स्पर्द्धा की तीन दशाए निहित हैं। यही कारण है कि दोनो की मात्रा मे ही अन्तर है, अर्थात् शुद्ध स्पर्द्धा की स्थिति अधिक सरल एव कम विस्तृत है जबकि पूर्ण स्पर्द्धा अधिक विस्तृत है। पूर्ण स्पर्द्धा की ही तरह क्रेता तथा विक्रेता व्यक्तिगत रूप से मूल्य प्रभावित नही कर सकते।

* "An absence of friction in the sense of an ideal fluidity or mobility of factors such that adjustment to changing conditions which actually involve time are accomplished instantaneously in theory"
—*Chamberlin*

दोनो ही स्थितियो मे उत्पादक या फर्म की कोई मूल्य नीति नही होती । उत्पादक या विक्रेता प्रचलित मूल्य के अनुसार ही अपनी उत्पादन-मात्रा का समायोजन करता है। वह मूल्य निर्धारक न होकर 'मूल्य ग्रहण करने वाला ही होता है ।

चैम्बरलिन (Chamberlin) ने पूर्ण स्पर्द्धा उस स्थिति को बतलाया है जिसमे घर्षण (Friction) का अभाव होता है, अर्थात् उसमें साधनो का ऐसा बहाव होता है या ऐसी गतिशीलता होती है कि परिवर्तनशील दशाओं के साथ सैद्धान्तिक रूप से तत्क्षण ही समायोजन हो जाता है जिसमे कि वास्तव मे काफी समय लगता है। ऐसे बाजार मे अपूर्णताओ (Imperfections) का अभाव रहता है। बाजार सम्बन्धी अपूर्णताए दो प्रकार की होती है .

(अ) बाजार के सम्बन्ध मे ज्ञान का अभाव : बाजार सम्बन्धी ज्ञान का अभाव सामान्य उत्पादको मे होता है। वे अपने साधनो के उचित तथा अनुकूलतम अनुपात म उपयोग के विषय मे पूर्ण ज्ञान नही रखते ।

(ब) उत्पादन के साधनो मे गतिशीलता का अभाव : नये साधनो के प्रवेश पर रोक लगाने से उनकी गतिशीलता समाप्त हो जाती है । इसके अतिरिक्त कुछ उत्पादक विशेष प्रकार के साधनो के नवीन प्रयोगो के विषय मे जानकारी नहीं रखते, जिससे उत्पादन अधिक मात्रा म सम्भव नही होता ।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पूर्ण स्पर्द्धा मे उत्पादन के साधनो की स्वतन्त्र गतिशीलता होती है, जबकि शुद्ध स्पर्द्धा मे इस प्रकार की गतिशीलता का अभाव होता है । पूर्ण स्पर्द्धा म किसी विक्रेता की अपनी मूल्य नीति नही होती। एक व्यक्तिगत फर्म की विक्रय की तालिका या माग रेखा बिल्कुल सीधी होती है । इसका अर्थ यह है कि फर्म किसी भी मात्रा मे अपनी वस्तु को बाजार मूल्य पर बेच सकती है । इसी प्रकार व्यक्तिगत रूप से क्रेता भी केवल मूल्य से प्रभावित होता है। क्रेता का सम्बन्ध किसी विक्रेता विशेष से नही होता, क्योकि सभी वस्तुए समान होती है ।

2. एकाधिकार (Monopoly)

एकाधिकार (Monopoly) मे दो शब्द हैं—Mono+poly'. Mono का अर्थ है 'एक' और 'Poly' का अर्थ है 'उत्पादक' अत Monopoly का शाब्दिक अर्थ है—'एक उत्पादक' । इस प्रकार एकाधिकार मे एक ही उत्पादक होता है या वस्तु की पूर्ति उत्पादको के एक समूह के हाथ मे होती है, जिससे वे वस्तु की कीमत पर प्रत्यक्ष प्रभाव रखते हैं । इस आधार पर ही एकाधिकार पूर्ण स्पर्द्धा से भिन्न है। एकाधिकार की स्थिति मे फर्म तथा उद्योग एक ही होता है । ऐसे एकाधिकार को 'पूर्ण' (Absolute) या शुद्ध (Pure) एकाधिकार कहते है । एकाधिकार की दूसरी

विशेषता यह होती है कि एकाधिकारी ऐसी वस्तु का उत्पादन करता है जिसकी स्थानापन्न वस्तु (Substitute) नहीं मिलती। एकाधिकारी के अधिकार बहुत से होते हैं। पूर्ति या मूल्य पर उसका पूर्ण नियन्त्रण होता है। उत्पादन के साधन भी उसके अधिकार में होते हैं। इस प्रकार वह दूसरी फर्मों को उद्योग में आने से रोकता है।

3. अपूर्ण प्रतियोगिता (Imperfeer Competition)

वास्तविक जगत में न तो पूर्ण स्पर्द्धा पाई जाती है और न पूर्ण एकाधिकार ही। पूर्ण एकाधिकार के स्थान पर श्रीमती जोन रॉबिन्सन के अनुसार 'अपूर्ण' प्रतियोगिता (Imperfect Competition) तथा चैम्बरलिन के अनुसार एकाधिकार-प्रतियोगिता (Monopolistic Competition) की स्थिति अधिक व्यापक है। पूर्ण स्पर्द्धा तथा पूर्ण एकाधिकार के मध्य बाजार की अन्य कई अवस्थाएं हैं। अपूर्ण स्पर्द्धा (Imperfect Competition) के विस्तृत क्षेत्र के अन्तर्गत एकाधिकारी स्पर्द्धा (Monopolistic Competition), द्वयाधिकार या द्वि-अल्पाधिकार तथा अल्पाधिकार (Oligopoly) की स्थितियाँ सम्मिलित होती है।

अपूर्ण प्रतियोगिता का अर्थ पूर्ण स्पर्द्धा की दशाओं में किसी दशा के अभाव में अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है पूर्ण स्पर्द्धा में अपूर्णताओं (Imeperfections) का अभाव रहता है परन्तु *बाजार में अपूर्णताओं के उपस्थित होने पर, वहां अपूर्ण प्रतियोगिता की* स्थिति पायी जाती है। यदि (i) क्रेताओं तथा विक्रेताओं की संख्या अधिक नहीं होती, या (ii) वस्तुएं प्रमापित या एकरूप नहीं होती या (iii) क्रेताओं व विक्रेताओं को बाजार का ज्ञान नहीं होता तो स्वाभाविक है कि बाजार में एक मूल्य नहीं होता। बाजार की ऐसी स्थिति को अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति कहा जाता है। अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में व्यक्तिगत फर्म द्वारा उत्पादित वस्तु की मांग पूर्णतया लोचदार (Perfectly elastic) नहीं होती।

जैसाकि ऊपर बताया गया है अपूर्ण प्रतियोगिता उत्पन्न होने के कई कारण हैं, जैसे (i) **क्रेताओं व विक्रेताओं की संख्या कम होना** इस स्थिति में वे व्यक्तिगत रूप में मांग अथवा पूर्ति में कमी व वृद्धि करके बाजार मूल्य को प्रभावित करने में समर्थ होते हैं, (ii) **वस्तुओं की इकाइयों का एकरूप न होना** विभिन्न फर्मों द्वारा उत्पादित वस्तुओं तथा विक्रेताओं द्वारा बेची जाने वाली वस्तुओं की इकाइयों में समानता न होने पर उनके मूल्यों में अन्तर होना स्वाभाविक है। विक्रेताओं के व्यक्तिगत गुणों, उनके व्यापार स्थानों, वस्तुओं की इकाइयों के गुणों में विभिन्नता, विज्ञापन एवं प्रसार का प्रयोग आदि कारणों से भी वस्तु के बाजार मूल्य में भिन्नता हो जाती है। (iii) **क्रेताओं तथा विक्रेताओं को बाजार का पूर्ण ज्ञान न**

क्रेताओं तथा विक्रेताओं को बाजार में वस्तुओं की पूर्ति की मात्रा तथा उनके मूल्यों के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी नहीं रहने पर भी बाजार मूल्य में भिन्नता होगी। (iv) क्रेताओं में अगतिशीलता (immobility) : पूर्ण स्पर्द्धा की स्थिति में क्रेताओं में गतिशीलता होती है, परन्तु जब क्रेता अपनी सुस्ती के कारण बाजार में प्रचलित क्रय मूल्यों पर वस्तु नहीं खरीदते हैं, तब यह स्वाभाविक है कि बाजार में कई मूल्य प्रचलित होंगे। (v) यातायात व्यय का ऊंचा होना . यदि उत्पादक या फर्म समीप नहीं है तो वस्तुओं को ले जाने व लाने पर यातायात लागत ऊंची पड़ेगी जिससे वस्तुओं के मूल्य समान नहीं होंगे।

(i) द्वयाधिकार या द्वि-अल्पाधिकार (Duopoly)

जब किसी वस्तु की कुल पूर्ति दो फर्मों या व्यक्तियों द्वारा की जाती है तब इसे द्वयाधिकार कहते हैं। यह बाजार की वह व्यवस्था है जिसमें दो फर्में या तो एक प्रमापित वस्तु का उत्पादन करती हैं या ऐसी दो वस्तुएं उत्पादित करती हैं जिनमें बहुत कम अन्तर होता है। सामान्यतया दो वस्तुएं एक ही प्रकार की होती हैं। यदि ये फर्में दो विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन करें तो दोनों फर्मों को अलग-अलग एकाधिकारी फर्म कहा जायेगा। यह स्थिति द्वयाधिकार की स्थिति नहीं होगी।

(ii) विक्रेता अल्पाधिकार (Oligopoly)

अल्पाधिकार (Oligopoly) एक ग्रीक (Greek) शब्द है जिसका अर्थ होता है कुछ विक्रेता (a few sellers) यदि किसी वस्तु की कुल पूर्ति कुछ फर्मों या कुछ व्यक्तियों के द्वारा ही की जाती है तो ऐसी स्थिति को अल्पाधिकार की स्थिति कहते हैं। इस अवस्था में पूंजी विक्रेता बहुत ही कम होते हैं, इसलिए वे माल की पूर्ति तथा उसके मूल्य के प्रति सजग रहते हैं, क्योंकि एक विक्रेता की व्यावसायिक नीति का प्रभाव दूसरे पर भी पड़ता है। इस प्रकार सभी विक्रेताओं में मूल्य तथा उत्पादन की नीति के सम्बन्ध में अन्तसम्बन्ध होता है।

द्वयाधिकार की अवस्था में दो विक्रेताओं के होने से उनमें अत्यधिक स्पर्द्धा होती है। उनमें किसी एक के द्वारा मूल्य उत्पादन-नीति में परिवर्तन किये जाने पर उस का प्रभाव दूसरे विक्रेता पर पड़ता है। इस प्रकार प्रत्येक परिवर्तन अन्य परिवर्तन को जन्म देता है।

यदि दोनों उत्पादक या विक्रेता एक ही प्रकार की वस्तु (Identical goods) बेचते हैं तो इस वस्तु को 'समान उत्पाद वाला द्वयाधिकार' (Duopoly with homogeneous Products) कहते हैं। यदि दोनों फर्मों में कोई पारस्परिक समझौता नहीं है तो ग्राहक दोनों को समान समझते हैं, दोनों की क्रय-विक्रय की नीति

कोई अन्तर नहीं है तथा दोनों के उत्पादन व्यय बराबर है, तो ऐसी अवस्था मे बाजार मे एक ही मूल्य होगा तथा दोनों फर्म कुल विक्रय मे समान रूप से भागीदार होगी।

अल्पाधिकार के कई रूप हो सकते है जैसे—(अ) **शुद्ध अल्पाधिकार (Pure Oligopoly)** इसमे सभी फर्मों द्वारा समान वस्तु का उत्पादन किया जाता है, (ब) **उपज विभेद अल्पाधिकार (Differentiated Oligopoly)** : इसमे प्रत्येक फर्म द्वारा उत्पादित वस्तु एक दूसरे से भिन्न होती है, (स) **सामूहिक अल्पाधिकार (Collective Oligopoly)** : इसमे विक्रेताओं मे पारस्परिक पूर्ण सम्बन्ध होता है, (द) **आंशिक अल्पाधिकार (Partial Oligopoly)** इसमे विक्रेताओं के मध्य पारस्परिक सम्बन्ध दृढ़ नहीं होता, तथा (य) **पूर्ण अल्पाधिकार (Complete Oligopoly)** : इसमे विक्रेताओं मे पारस्परिक समझौते के आधार पर पूर्ण सम्बन्ध होता है। अल्पाधिकार की इन विभिन्न अवस्थाओं मे मूल्य तथा पूर्ति का निर्धारण अलग-अलग होता है।

(iii) एकाधिकारिक प्रतियोगिता (Monopolistic Competition)

सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग Chamberlin ने अपनी पुस्तक 'The theory of Monopolistic Competition' मे किया था। व्यावहारिक जगत मे न तो हम पूर्ण प्रतियोगिता या स्पर्द्धा की स्थिति पाते हैं और न ही पूर्ण एकाधिकार की। बहुत से उत्पादक जो अपूर्ण स्पर्द्धा की भावना रखते है (Imperfectly competitive producers) उनमे से अधिकांश एसे है जो लगभग समान वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। फलस्वरूप ये उत्पादक इस बात का सदैव ध्यान रखते है कि उनके प्रतियोगियो की उत्पादन तथा व्यावसायिक नीति क्या है? इस अवस्था को ही एकाधिकारी स्पर्द्धा (Monopolistic Competition) या समूह सन्तुलन (Group Equilibrium) कहते है। इस अवस्था मे तीव्र स्पर्द्धा (Keen competition) होती है, परन्तु यह स्पर्द्धा पूर्ण नहीं होती। इस प्रकार एकाधिकारिक स्पर्द्धा की दो विशेषताएं हैं (अ) विक्रेताओं का अधिक होना तथा (ii) विभिन्न उत्पादकों की वस्तुओं के मे असमानता होने के कारण क्रेता अपनी रुचि के अनुसार वस्तु-विशेष को पसन्द करते है, यद्यपि एक वस्तु दूसरी वस्तु की पूरक या प्रतिस्थापक होती है।

वस्तुओं मे विभिन्नता होने के कारण उत्पादक अथवा विक्रेता विज्ञापन पर अधिक ध्यान देता है। जब उपभोक्ता किसी एक वस्तु के लिए अपनी रुचि रखते है, तो उस वस्तु के उत्पादक का अपनी वस्तु के बाजार पर एकाधिकार होता है। परन्तु वह एकाधिकार की नीति नहीं अपना सकता, क्योंकि बाजार मे अन्य उत्पादकों द्वारा उसकी उत्पादित वस्तु की प्रतिस्पर्द्धी पूरक वस्तुएँ वर्तमान रहती हैं। इस प्रकार **एकाधिकारिक स्पर्द्धा वह अवस्था है जिसमे स्पर्द्धा तथा एकाधिकार दोनों का ही**

स्पर्धा के प्रकार (Types of Competition)

स्पर्धा के प्रकार (Kinds of competition)	फर्मों की संख्या No of Firms	वस्तु का रूप (Nature of Product)	मूल्य नियन्त्रण सीमा (Degree of Control over Price)	अन्य फर्मों का प्रवेश (Entry of other Firms)
पूर्ण स्पर्द्धा (Perfect Competition)	अनेक (Many)	एक रूप (Identical Product)	बिल्कुल नहीं (None)	बहुत सरलता पूर्वक (Easy entry)
एकाधिकृत स्पर्द्धा (Monopolistic Competition)	अनेक (Many)	वर्गीकृत, पर कुछ भेद (Differentiated similar but not the same)	कम (a little)	सरलता से (Entry with no Difficulty)
अल्पाधिकार (Oligopoly)	कुछ (a few)	एक-रूप या विभिन्न (same or with difference in product)	प्रतिस्पर्द्धियों में समझौता होने पर अधिक (More on agreement)	बहुत कठिन (Very Difficult)
द्वयाधिकार (Duopoly)	दो (Two)	सामान्यतया एकरूपता (Generally the same)	कुछ (Some)	कठिन (Difficult)
पूर्ण एकाधिकार (Complete Monopoly)	एक (One)	एक वस्तु बिना निकट स्थानापन्न वस्तु के (Single product without close substitutes)	अधिक (Considerable)	असम्भव (Impossible)

समन्वय होता है। इस अवस्था में स्पर्द्धा के कारण कीमतों की प्रवृत्ति समान होने की होती है। परन्तु इसके साथ ही साथ प्रत्येक फर्म का अपनी वस्तु पर एकाधिकार होता है तथा वस्तुओं में उपज असमानता (product differentiation) भी पाई जाती है। अतः विभिन्न फर्मों की उत्पादित वस्तुओं के मूल्य भी अलग-अलग होते हैं।

विभिन्न बाजार स्थितियों में अन्तर

विशेषताएं (Characteristics)	पूर्ण प्रतियोगिता (Perfect competition)	एकाधिकार (Monopoly)
1 क्रेता व विक्रेताओं की संख्या	बहुत अधिक	एक व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह
2 वस्तु का प्रकार	एक रूप (Homogeneous)	सर्वथा भिन्न जिसका कोई निकट स्थानापन्न नहीं होता
3 फर्म की मांग की रेखा	पूर्ण लोचदार	पूर्ण लोचदार से कम
4 क्रेताओं व विक्रेताओं में जानकारी की प्राप्यता	हां	नहीं
5 फर्मों का प्रवेश या बहिर्गमन	स्वतन्त्र	पूर्णतया निषिद्ध
6 मूल्य पर नियन्त्रण की मात्रा	कुछ नहीं	पर्याप्त
7 अन्य प्रतिस्पर्द्धाएं	कुछ नहीं	जनता से मधुर सम्बन्ध बनाये रखने के लिए विज्ञापन आदि पर विशेष जोर

कुछ अर्थशास्त्रियों ने बाजार की इन अवस्थाओं के अतिरिक्त कुछ अन्य अवस्थाओं का भी उल्लेख किया है जैसे—(i) पूर्ण परन्तु एकाधिकारी (Perfect but monopolistic) (ii) शुद्ध परन्तु अपूर्ण (Pure but imperfect) तथा (iii) शुद्ध तथा पूर्ण (Pure and perfect)

क्रेता एकाधिकार का वर्गीकरण (Monopoly) क्रेता एकाधिकार एकाधिकार की विपरीत स्थिति है। प्रायः एकाधिकार का अभिप्राय बाजार पर विक्रेताओं के पूर्ण अधिकार से लगाया जाता है, परन्तु कभी कभी किसी वस्तु विशेष के बाजार में कई विक्रेता हों और एक ही क्रेता हो तो ऐसी स्थिति में बाजार में एकमात्र क्रेता का एकाधिकार स्थापित हो जाता है। क्रेता एकाधिकारी (monopsonist) वस्तु विशेष के सम्पूर्ण बाजार पर इस प्रकार अपना नियन्त्रण रखता है कि वह कम मूल्य पर वस्तु विशेष क्रय करने में सफल होता है। विक्रेताओं को उस एकाधिकारी क्रेता के इच्छानुकूल मूल्य पर अपनी वस्तु को बेचने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

प्रो० मेहता ने ऐसे क्रेता एकाधिकारी को वस्तु विशेष के एकाकी क्रेता की संज्ञा दी है। क्रेता-एकाधिकार की स्थिति एक व्यक्ति या फर्म अथवा उपभोक्ताओं के समूहों के द्वारा स्थापित की जा सकती है। कभी कभी सरकार भी वस्तु विशेष के बाजार पर क्रेता एकाधिकार स्थापित कर लेती है। जिस प्रकार एकाधिकार की स्थिति में विक्रेता क्रेताओं का शोषण करते हैं, उसी प्रकार क्रेता एकाधिकार की स्थिति में क्रेता द्वारा विक्रेताओं का शोषण किया जाता है।

द्विक्रेता-अल्पाधिकार (Duopsony) : द्वि-क्रेता अल्पाधिकार की स्थिति में किसी वस्तु विशेष के बाजार में एकाकी क्रेता के स्थान पर दो क्रेता तथा कई विक्रेता होते हैं। ऐसी स्थिति में दोनों क्रेताओं को बाजार पर एकाधिकार स्थापित करने के लिये (i) एक ही प्रकार की वस्तु रहने पर पारस्परिक समझौते द्वारा मिलकर बाजार पर पूर्ण एकाधिकार स्थापित कर लें, या (ii) अपना-अपना अलग बाजार क्षेत्र निर्धारित कर ले, जिस पर प्रत्येक का पूर्ण नियन्त्रण हो। उपज विभेद (product differentiation) की स्थिति में दोनों वस्तुओं के बाजार अलग अलग होते हैं।

क्रेता अल्पाधिकार (Oligopsony) : इस स्थिति या बाजार में थोड़े क्रेता तथा कई विक्रेता होते है।

प्रश्न व संकेत

1. 'पूर्ण प्रतियोगिता एक मिथ्या वाद है।' इस कथन की पूर्ण विवेचना कीजिए। [संकेत : पूर्ण प्रतियोगिता की विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास कीजिए कि व्यावहारिक जीवन के दृष्टिकोण से ये मान्यताएं अवास्तविक है।]

2. उन तत्वों को बताइए जो कि बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता के कार्य कारण में बाधाएं डालते है।

(Jabalpur, B, com II, 1963, Agra B, com I, 1960)

[संकेत सर्व प्रथम बहुत संक्षेप में पूर्ण प्रतियोगिता का आशय स्पष्ट कीजिए और इसके पश्चात पूर्ण प्रतियोगिता का आशय स्पष्ट कीजिए और इसके पश्चात् पूर्ण प्रतियोगिता के कार्य करण में बाधा डालने वाले या अपूर्ण प्रतियोगिता के कारणों का विवेचन कीजिए।

3. निम्न के अन्तरो को स्पष्ट रूप से बताइए -

(i) पूर्ण बाजार तथा अपूर्ण बाजार (Perfect market and imperfect Market)

(ii) एकाधिकार तथा एकाधिकारी प्रतियोगिता (Monopoly and Monopolistic competition (Ravishankar, B, com. I, 1965)

4 "अत: अर्थशास्त्री कहते है कि एकाधिकारी प्रतियोगिता मे, प्रत्येक फर्म प्रतिस्थापन के बिन्दु तक एक एकाधिकारी की भांति होती है, परन्तु इस बिन्दु के आगे बाजार स्पर्द्धात्मक होता है।" विवेचना कीजिए।

[सकेत सर्व प्रथम एकाधिकारी प्रतियोगिता का आशय स्पष्ट कीजिए और इसके पश्चात् उसकी विशेषताओ की पूर्ण विवेचना कीजिए।]

5 अल्पाधिकारी (oligopolist) की परिभाषा दीजिए तथा उसकी विशेषताओ का पूर्ण विवेचन कीजिए।

6 पूर्ण प्रतियोगिता, शुद्ध प्रतियोगिता, अपूर्ण प्रतियोगिता, एकाधिकारी प्रतियोगिता म अन्तर बताइए। इनमे से कौन सा स्वरूप अधिक व्यावहारिक है?

(Bihar, B A Hons 1966 E)

[सकेत उपर्युक्त बाजारो के स्वरूपो मे अन्तर बताइए और फिर प्रत्येक स्वरूप की व्यावहारिकता बताते हुए निष्कर्ष दीजिए।]

27

कुल आगम, सीमान्त आगम व लोच
(Total Revenue, Marginal Revenue & Elasticity)

कोई वस्तु इसलिये बेची जाती है कि बाजार मे उसकी माग होती है। जो कुछ बाजार मे खरीदा जाता है, वही बेचा भी जाता है, अर्थात् एक ही सौदा क्रेता के लिए खरीद तथा विक्रेता के लिए बिक्री होता है। माग-सूची यह बतलाती है कि विक्रेता विभिन्न कीमतो पर कितनी मात्रा मे बेच सकता है ? बिक्री द्वारा विक्रेता जो कुछ प्राप्त करता है, वह उसकी आगम या आय होती है। किसी उत्पादक की आय का निर्धारण माग द्वारा किया जाता है। जिस प्रकार 'कुल लागत' 'औसत लागत' तथा सीमान्त लागत' शब्दो का प्रयोग लागत के सन्दर्भ मे किया जाता है, उसी प्रकार कुल आगम', 'औसत आगम' तथा 'सीमान्त आगम' शब्दो का प्रयोग आगम के सन्दर्भ मे किया जाता है।

1 कुल आगम (Total Revenue) उस राशि को कहते हैं जो फर्म अपनी वस्तुओ की बिक्री से प्राप्त करती है। इस प्रकार

कुल आगम = प्रति इकाई कीमत × बेची गई इकाइयो की संख्या।

2 औसत आगम (Average Revenue) : किसी वस्तु की बिक्री से प्राप्त कुल आगम को कुल बची गई मात्रा से विभाजित करने पर औसत आगम प्राप्त होती है, अर्थात् औसत आगम $= \frac{\text{कुल आगम}}{\text{कुल बिक्री की मात्रा या इकाइयां}}$

3. सीमान्त आगम (Marginal Revenue) : यह राशि, जिससे फर्म की कुल आगम मे, एक अतिरिक्त इकाई बेचने से, वृद्धि होती है, सीमान्त आगम कहलाती है, अर्थात् सीमांत आगम = { कुल पूर्व आगम तथा एक अतिरिक्त इकाई बेचने से प्राप्त कुल आगम का अन्तर।

प्रति इकाई कीमत प्रकट करता है। चूंकि CB एक इकाई प्रगट करती है इसलिए BD रुपया (8 रुपये) प्रति इकाई कीमत प्रकट करती है। अत D फर्म के सीमांत आगम वक्र पर वह बिन्दु है जो OB उत्पादन पर प्रति इकाई कीमत प्रकट करता है। इसी प्रकार औसत आगम वक्र (AR) पर अन्य बिन्दु ज्ञात किए जा सकते हैं। जैसे OF उत्पादन (सात इकाइयां) पर GF वस्तु की एक इकाई प्रगट करता है।

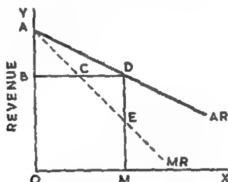
चित्र स० 81

औसत आगम FH रुपये (7 रुपये) है। यहा पर OE GH के समानान्तर है। इसी प्रकार उत्पादन की किसी भी मात्रा पर सीमांत आगम उस आगम से सम्बन्धित कुल आगम वक्र के बिन्दु की स्पर्श-रेखा के ढलाव से प्रगट होता है, जैसे चित्र में yz कुल आगम वक्र के A बिन्दु पर एक स्पर्श रेखा है। yz का ढलाव उस दूरी को प्रकट करता है जिस पर कुल आगम उत्पादन की OB मात्रा पर बदलता है। अर्थात् यह अन्तिम इकाई के पैदा करने से आगम मे होने वाली वृद्धि—सीमान्त आगम को प्रकट करता है। अत यदि हम yz के समानान्तर CL खीचे तो हम CB इकाई द्वारा की गयी आगम मे वृद्धि ज्ञात कर सकते हैं। यहा पर सीमान्त आगम BL रुपये (छः रुपये) है। इसी प्रकार हम किसी फर्म के कुल आगम वक्र पर स्पर्श रेखाएं खीच कर तथा उनका ढलाव ज्ञात करके सीमान्त आगम वक्र बना सकते है।

अब हम औसत आगम वक्र तथा उससे सम्बन्धित सीमान्त आगम वक्र के ज्यामितीय सम्बन्ध पर प्रकाश डालेंगे—

(1) जब औसत आगम वक्र गिरता है तब सीमांत आगम औसत आगम से कम रहता है। स्वयं सीमांत आगम वक्र भी ऊंचा उठ सकता है, गिर सकता है या परिस्थितियों के अनुसार सीधी रेखा के रूप में (Horizontal) रह सकता है। परन्तु सामान्य रूप से यह गिरता है।

(2) सीमान्त आगम और औसत आगम के पारस्परिक सम्बन्धों को उस समय सरलता से ज्ञात किया जा सकता है जबकि औसत तथा सीमान्त आगम वक्र सीधी रेखाओं के रूप में हों। यदि ये दोनों सीधी रेखाओं के रूप में हैं तो सीमांत आगम वक्र Oy अक्ष पर डाली गयी लम्बी रेखा को औसत आगम वक्र को आधी दूरी पर काटेगा, जैसा कि चित्र सं० 82 से प्रकट है।



चित्र सं० 82

चित्र सं० 82 में AR तथा MR सम्बन्धित औसत तथा सीमान्त आगम वक्र हैं। हमें यह सिद्ध करना है कि **सीमांत आगम वक्र हमेशा Oy अक्ष तथा औसत आगम वक्र के ठीक बीच में होता है।**

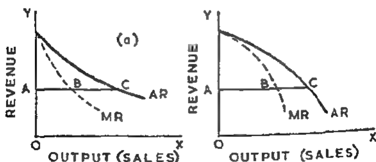
DB तथा DM, OY तथा OX अक्ष पर क्रमशः लम्ब हैं। औसत आगम वक्र पर D बिन्दु से DB सीमान्त आगम वक्र को C पर काटती है और DM सीमान्त आगम वक्र को E पर काटती है। हमें यह सिद्ध करना है कि BC=CD होगा।

BDMO का क्षेत्रफल AEMO के बराबर है, क्योंकि इनमें से प्रत्येक OM उत्पादन के कुल आगम को प्रकट करता है। (BDMO आयत औसत आगम तथा उत्पादन के गुणनफल, अर्थात् कुल आगम को प्रकट करता है। AEMO क्षेत्रफल O तथा M के बीच में उत्पादन की विभिन्न मात्राओं पर सीमांत आगम का जोड़

बतलाता है, अर्थात् यह इस दूरी पर उत्पादन की सभी वृद्धियों का जोड़ बतलाता है तथा इस प्रकार OM उत्पादन के कुल आगम को प्रकट करता है।) परन्तु BDMO आयत=BCEMO+त्रिभुज CDE का क्षेत्रफल। इसी प्रकार AEMO का क्षेत्रफल=BCEMO+त्रिभुज ABC का क्षेत्रफल। इस प्रकार त्रिभुज CDE का क्षेत्रफल=त्रिभुज ABC का क्षेत्रफल। परन्तु कोण ABC=कोण CDE, क्योंकि दोनों समकोण हैं और कोण ACB=कोण DCE, क्योंकि दोनों शीर्ष रूप में आमने सामने (Vertically Opposite) हैं। इस प्रकार ABC तथा CDE त्रिभुज प्रत्येक प्रकार से बराबर हैं। अत: BC=CD। इससे यह सिद्ध होता है कि औसत आगम वक्र के D बिन्दु से OY अक्ष पर डाला गया BD लम्ब सीमान्त आगम वक्र से C बिन्दु पर दो बराबर भागों में विभाजित हो जाता है। इसका अर्थ यह भी है कि सीधी रेखा के रूप में सीमान्त आगम वक्र का ढलाव $\frac{AB}{BC}$=सीधी रेखा के रूप में औसत आगम वक्र के ढलाव $\frac{AB}{BD}$ का दुगुना। क्योंकि

$$\frac{AB}{BC}=\frac{AB}{CD}=2\frac{AB}{BD}$$

यदि औसत आगम वक्र ऊपर की ओर नतोदर (Concave) होता है, तो सीमान्त आगम वक्र OY अक्ष पर डाली गयी। किसी भी लम्ब रेखा को औसत आगम वक्र को आधी से कम दूरी पर काटता है, जैसा कि चित्र स० 83 में प्रदर्शित किया गया है।



चित्र स० 83

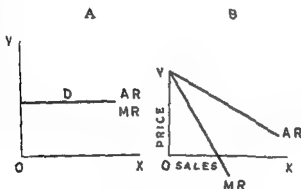
परन्तु जहां औसत आगम वक्र ऊपर की ओर उन्नतोदर (Convex) होता है, वहां OY अक्ष पर डाले गये किसी भी लम्ब को औसत आगम वक्र के आधे से अधिक दूरी पर काटता है, जैसाकि ऊपर के चित्र में प्रकट है।

(1) पूर्ण स्पर्द्धा मे औसत तथा सीमांत आगम
(Average and Marginal Revenue in Perfect Competition)

पूर्ण स्पर्द्धा के अन्तर्गत फर्म की वस्तुओं की माग पूर्णतया लोचदार होती है। फर्म की उत्पादन-मात्रा का कीमत पर प्रभाव नही पडता है। अत: एक अतिरिक्त इकाई बेचने से प्राप्त आगम (सीमात आगम) सदैव समान रहता है। इस प्रकार सीमात आगम कीमत के बराबर होता है। साथ ही साथ वह' औसत आगम' के भी बराबर होता है। इस प्रकार पूर्ण स्पर्द्धा के अन्तर्गत :

कीमत=सीमात आगम=औसत आगम (या P=MR=AR)

इन तीनों के समान होने के कारण कुल आगम मे भी समान दर से वृद्धि होती है। चूंकि पूर्ण स्पर्द्धा मे औसत आय सीमान्त आय के बराबर होती है, अतः सीमान्त आय और औसत आय की रेखायें अलग-अलग न होकर एक सीधी क्षैतिज (Horizontal) रेखा के रूप मे होती हैं, जैसाकि नीचे दिये गये रेखाचित्र मे स्पष्ट किया गया है।



चित्र स० 84

पूर्ण स्पर्द्धा मे उत्पादक को न तो लाभ होता है और न हानि। मूल्य औसत उत्पादन व्यय के बराबर होता है तथा इस मूल्य पर उत्पादक वस्तु की मात्रायें बेचता है। प्रत्येक इकाई के लिए उसे एक ही दर से मूल्य प्राप्त होता है, इसलिए औसत आय और सीमान्त आय मे कोई अन्तर नही होता। यही कारण है कि औसत आय और सीमान्त आय की रेखा भी एक ही होती है।

इस सन्दर्भ मे यह भी याद रखना चाहिये कि **एक फर्म की औसत आय रेखा फर्म की वस्तुओं के लिए उपभोक्ताओं की माग रेखा (Demand Curve)** भी होती है। अत: फर्म की औसत आय रेखा को माग-रेखा भी कहा जाता है, क्योंकि यह रेखा इस तथ्य को व्यक्त करती है कि विभिन्न मूल्यों पर फर्म की कितनी वस्तुओं की

माग होगी ? कुछ अर्थशास्त्री औसत आय वक्र (Average Revenue Curve) को विक्रय वक्र (Sales Curve) भी कहते हैं। इस प्रकार पूर्ण स्पर्द्धा मे माग-वक्र (Demand Curve), औसत आय-वक्र (Average Revenue Curve) तथा सीमान्त आय वक्र (Marginal Revenue Curve) का रूप एक सीधी रेखा की तरह होता है। परन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि माग पूर्णतया लोचदार हो।

2. एकाधिकारी के आगम वक्र (Revenue Curves For Monopolist) :

चूंकि एकाधिकारी एकमात्र उत्पादक होता है। अतः उसकी माग की लोच, बाजार-माग की लोच के समान होती है। यदि वह अपने उत्पादन म 20% परिवर्तन करता है तो उद्योग के उत्पादन मे भी 20% परिवर्तन होगा। एकाधिकारी, उत्पादन की विभिन्न मात्रायें अलग-अलग कीमतों पर बेचता है। उसके औसत तथा सीमात आगम, माग द्वारा निर्धारित किए जाते है। एकाधिकारी के औसत तथा सीमात आगम मे अन्तर होता है। एकाधिकारी के लिए माग वक्र नीचे की ओर भुका होता है (downward sloping demand curve) तथा यदि वह अतिरिक्त इकाइया बेचना चाहता है तो कुल उत्पादन बेचने के लिए, उसे कीमत कम करनी पडती है। कीमत (या औसत आगम) के नीचे गिरने पर सीमात आगम औसत आगम की अपेक्षा तेजी से गिरता है। सीमात आगम ऋणात्मक (Negative) भी हो सकता है, यद्यपि कीमत धनात्मक (Positive) ही हो। निम्न सारिणी द्वारा इन तथ्यो को स्पष्ट किया गया है :

एकाधिकारी का आगम

कीमत या औसत आगम (रु० मे)	विक्रय इकाइया (सख्या)	कुल आगम (रु० मे)	सीमात आगम (रु० मे)
10	5	50	10
9	6	54	4
8	7	56	2
7	8	54	0
6	9	54	−2
5	10	50	−4
4	11	44	−6

सारिणी से स्पष्ट है कि (i) बिक्री की मात्रा म वृद्धि के लिए कीमतें कम करनी पडती है, (ii) कुल आगम घटते हुए दर से वृद्धि होती है तथा कुछ समय पश्चात् कुल आगम भी घटने लगता है तथा (iii) सीमान्त आगम, औसत आगम से सदैव कम है तथा कुल आगम के अधिकतम होने के पश्चात्, सीमान्त आगम ऋणात्मक होने लगता है।

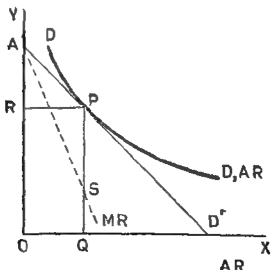
रेखाचित्र : अपूर्ण स्पर्द्धा तथा एकाधिकार की अवस्थाओं मे सीमान्त आगम तथा औसत आगम की रेखायें नीचे की ओर भुकी हुयी होती हैं तथा सीमात आगम

रेखा औसत आगम रेखा के नीचे होती है। इसका कारण यह है कि सामान्यतया माँग की रेखा पूर्ण लोचदार नहीं होती है। ऐसी अवस्था में मूल्य तथा औसत आगम की रेखायें ही एक-सी होती हैं, परन्तु सीमांत आगम रेखा भिन्न होती है। सीमांत आगम रेखा औसत आगम रेखा की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से गिरती है, क्योंकि एकाधिकारी को अधिक मात्रा में वस्तुओं के विक्रय के लिए सभी इकाइयों का मूल्य घटाना पड़ता है। इस प्रकार उसे केवल सीमांत आगम (अतिरिक्त बेची गयी इकाई पर आय) की ही हानि नहीं होती बल्कि औसत आगम (सभी बेची गयी इकाइयों पर आय) की मात्रा में कमी होने से हानि उठानी पड़ती है। यही कारण है कि एकाधिकार की अवस्था में यदि एकाधिकारी अधिक वस्तुओं की बिक्री करता है तो सीमांत आय औसत आय की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से गिरती है।

रेखा-चित्र सं० 84 (पृ० 505 पर) AR औसत आगम रेखा तथा MR सीमांत आगम रेखा है जो AR के नीचे हैं, क्योंकि अपूर्ण स्पर्द्धा में सीमांत आय मूल्य से सदैव कम होती है। सीमांत आय उस समय ऋणात्मक (Negative) होती है जब माँग बेलोचदार (Inelastic) होती है। ऐसी अवस्था में अधिक मात्रा में वस्तुओं का बेचने पर कुल आय में भी कमी होती है।

3. औसत व सीमान्त आगम तथा लोच (Average Revenue, Marginal Revenue and Elasticity)

औसत व सीमान्त आगम तथा लोच के पारस्परिक गणितीय-सम्बन्ध



चित्र सं० 85

[ध्यान रक्खें MR रेखा RP रेखा को दो समान भागों में बाटती है।]

(Mathematical Relationship) को ज्ञात किया जा सकता है। चित्र सं० 85 मे DD माग वक्र या औसत-आगम वक्र है। इसके विन्दु P पर स्पर्श रेखा (Tangent) AD खीची गई है। इसे भी हम माग वक्र मान सकते हैं। विक्री की OQ मात्रा के लिए P विन्दु पर इन दोनो (DD or AD') की लोच समान होगी। AD' के नीचे की रेखा (MR) सीमान्त आगम रेखा है। अत OQ मात्रा के लिए माग की लोच

$$=\frac{PD'}{PA}=\frac{OR}{RA}=\frac{PQ}{SP} \text{ (क्योंकि } SP=AR)$$

$$=\frac{PQ}{PQ-SQ}=\frac{\text{औसत आगम}}{\text{औसत आगम}-\text{सीमान्त आगम}}$$

यदि माग की लोच=e, औसत आगम=A, सीमात आगम=M, तो समीकरण के रूप मे हम इन सम्बन्धो को इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं :

$$e=\frac{A}{A-M}, \text{ अर्थात् } eA-eM=A \text{ अतः } -eM=A-eA$$

$$\text{अत. } M=\frac{eA-A}{e}=A\,\frac{e-1}{e}$$

इसी प्रकार, चूकि eA–eM=A, अत eA–A=eM,

$$\because A(e-1)=eM, \quad A=\frac{M}{e-1} \therefore A=M\left(\frac{e}{e-1}\right)$$

$$\text{या } M=A\left(1-\frac{1}{e}\right)=A\left(\frac{e-1}{e}\right)$$

अत सामान्य नियम के रूप मे कहा जा सकता है कि यदि e=औसत आगम पर, माग की विन्दु लोच हो तो किसी भी उत्पादन के लिए .

$$\text{औसत आगम}=\text{सीमात आगम}\times\frac{e}{e-1} \text{ तथा}$$

$$\text{सीमात आगम}=\text{औसत आगम}\times\frac{e-1}{e} \text{ और सीमात आगम}=\text{कीमत}-\frac{\text{कीमत}}{\text{लोच}}$$

सीमान्त आगम, औसत आगम तथा लोच के उपरोक्त सम्बन्ध स्मरणीय है।

सीमात आगम कीमत व माग की लोच (Marginal Revenue, Price and Elasticity of Demand)

सीमात आगम, कीमत तथा माग के पारस्परिक सम्बन्धो को निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए किसी वस्तु की X इकाइयो को P कीमत पर वेचा जा सकता है तथा $X+X_1$ इकाइयो को $P-P_1$ कीमत पर वेचा जा सकता है (जबकि X_1 तथा P_1 बहुत ही छोटी मात्रा हैं)। ऐसी अवस्था मे सीमात आगम (MR).

$$=\frac{\text{कुल आगम मे वृद्धि}}{\text{बिक्री मे वृद्धि}}=\frac{(X+X_1)(P-P_1)-XP}{X_1}$$

$$=\frac{XP+X_1P-P_1-X_1P_1-XP}{X_1}=P-\frac{XP_1}{X_1}-P_1$$

$\therefore \frac{MR}{P}=1-\frac{X}{X_1}\times\frac{P_1}{P}-\frac{P_1}{P}$ हम यह मान चुके है कि P_1 बहुत ही छोटी मात्रा है अतः $\frac{P_1}{P}$ को छोडा जा सकता है (Neglected) और,

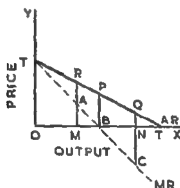
$\frac{X}{X_1}\times\frac{P_1}{P}=1-\left(\frac{X_1}{X}-\frac{P_1}{P}\right)=\frac{1}{e}$ यहाँ पर e माँग की लोच है।

इससे यह स्पष्ट है कि, $MR=P\left(1-\frac{1}{e}\right)$ इस प्रकार सीमान्त आगम, कीमत तथा माग की लोच पर निर्भर है।

परिशिष्ट

यदि किसी फर्म के औसत आगम वक्र की लोच किसी भी दी हुयी उत्पत्ति पर एक के बराबर होती है, तो

$$\text{सीमान्त आगम}=\text{औसत आगम}\times\frac{1-1}{1}=\text{औसत आय}\times 0=0$$



चित्र स० 86

अतः जब औसत आगम वक्र की लोच एक के बराबर होती है, सीमान्त आगम शून्य होता है। इसे चित्र स० 86 मे प्रदर्शित किया गया है :

चित्र स० 86 औसत आगम वक्र पर P बिन्दु पर लोच एक के बराबर है, जहा उत्पत्ति OB है, क्योंकि PT=Pt, अतः $\frac{PT}{Pt}=1$। इस उत्पत्ति पर सीमान्त

आगम शून्य है। इसी प्रकार जब माँग की लोच 2 के बराबर होती है (चित्र सं० 86 में बिन्दु R पर), जहाँ $RT=2Rt$,

$$M=A\frac{2-1}{2}=\frac{1}{2}A$$

अन्य शब्दों में $AM=\frac{1}{2}RM$। सीमान्त आगम औसत आगम के आधे के बराबर होगा। जब भी औसत आगम वक्र से अधिक होगा, तो किसी भी उत्पत्ति पर सीमान्त आगम सदैव धनात्मक (Positive) ही होगा। चित्र सं० 86 में औसत आगम वक्र की t से P तक की दूरी पर ऐसा ही होता है। इसी प्रकार, P से T तक की दूरी पर लोच के एक से कम होने पर, सीमान्त आगम सदैव ऋणात्मक (negative) होता है।

Q बिन्दु पर लोच एक से कम अर्थात् $\frac{1}{4}$ मान लेने पर, उपर्युक्त फार्मूले को स्पष्ट किया जा सकता है। यहाँ $QT=\frac{1}{4}Qt$ और

$$M=A\times\frac{\frac{1}{4}-1}{\frac{1}{4}}=A\times\frac{-\frac{3}{4}}{1/4}=-3A$$

सीमान्त आगम ऋणात्मक है और औसत आगम का तिगुना है। चित्र सं० 86 में $NC=3QN$। इसलिए सीमान्त आगम औसत आगम वक्र के लोचदार होने पर सदैव ऋणात्मक होता है। औसत आगम वक्र पर माँग की बिन्दु लोच ज्ञात होने पर इन फार्मूलों की सहायता से किसी भी उत्पत्ति के औसत आगम से उसी उत्पत्ति का सीमान्त आगम ज्ञात करना सम्भव होगा।

प्रश्न व संकेत

1. फर्म की औसत तथा सीमान्त आगमों के बीच अन्तर बताइए, पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत उनका वस्तु के मूल्य से क्या सम्बन्ध होता है?

[संकेत—MR व AR का अर्थ समझाइए तथा यह सिद्ध कीजिए कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत अन्य बातों के साथ ही साथ P=AR=MR]

2. औसत व सीमान्त आगम तथा लोच में क्या सम्बन्ध है?

[संकेत—पृष्ठ 507 के चित्र की सहायता से सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए।]

28

मूल्य-सिद्धान्त तथा बाजार-मूल्य

(Theories of Value and Market Price)

"The real price of anything, what everything really costs to the man who wants to acquire it, is the toil and trouble of acquiring it. What is brought with money or with goods is purchased by labour as much as what we acquire with the toil of our body."

Adam Smith

'मूल्य' अर्थशास्त्र की प्रमुख समस्या है। मूल्य शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया जाता है। प्रतिदिन हम खाद्य-सामग्री का मूल्य, कपड़ों का मूल्य, साहित्य का मूल्य आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। अर्थशास्त्र में मूल्य शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है—(i) उपयोगिता मूल्य (Value-in-use) तथा (ii) विनिमय मूल्य (Value-in-Exchange)। आधुनिक अर्थशास्त्री इन शब्दों के स्थान पर 'उपयोगिता' (utility) तथा 'मूल्य' (value) शब्द का प्रयोग करते हैं। उपयोगिता का अर्थ आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली शक्ति से लिया जाता है, जबकि मूल्य का अर्थ किसी वस्तु की विनिमय-शक्ति से होता है। मूल्य या कीमत उस विनिमय मूल्य को प्रकट करती है जिसे मुद्रा के सन्दर्भ में मापा जा सकता है।[1]

1 मूल्य के सिद्धान्त
(Theories of Value)

मूल्य निर्धारण के आधुनिक सिद्धान्त के पहले विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने मूल्य निर्धारण सम्बन्धी कई सिद्धान्त प्रस्तुत किये थे। यहाँ पर हम संक्षेप में देखेंगे कि मूल्य के वे सिद्धान्त क्या थे।

---

1 "Price indicates the value in Exchange as measured in terms of money." —*H A. Silverman*, The Substance of Economics, p. 59.

1. मूल्य का श्रम सिद्धांत (Labour Theory of Value) :

श्रम-सिद्धात विभिन्न समय मे तथा विभिन्न रूपो मे एडम स्मिथ, रिकार्डो आदि अर्थशास्त्रियो द्वारा बतलाया गया, परन्तु इस सिद्धात का पूर्ण विकास कार्ल मार्क्स ने किया। अत इस सिद्धात के प्रमुख प्रतिपादक मार्क्स माने जाते है। इस सिद्धात के अनुसार किसी वस्तु का मूल्य उस वस्तु को पैदा करने मे लगे हुए श्रम के बराबर होता है। इस प्रकार श्रम को मूल्य का स्रोत (Source) तथा मूल्य का मापक (Measure) मानते हैं। इस सिद्धात को मानने वाले 'पूजीगत वस्तु (capital goods) की आवश्यकता को भी स्वीकार करते है। परन्तु उनका कहना है कि पूजी भूतकाल के श्रम का परिणाम है, इसलिए वे पूजी सम्बन्धी वस्तुओ को 'Crystallised' श्रम कहते है। कार्ल मार्क्स ने इस सिद्धात का प्रतिपादन पूजीवाद अर्थव्यवस्था की कटु आलोचना के लिए किया था। उनका कहना था कि श्रम के द्वारा सभी प्रकार के मूल्यो का सृजन होता है। परन्तु श्रमिक को कुल उत्पादन का बहुत थोडा सा भाग निर्वाह-मजदूरी (subsistence wage) के रूप मे मिलता है। इस प्रकार श्रम के वास्तविक उत्पादन तथा उसके लिए दी गई मजदूरी का अन्तर अधिमूल्य (surplus value) है जिसे पूंजीपति ब्याज, लाभ, लगान, आदि के रूप मे प्राप्त करते है।

कुछ अर्थशास्त्री यह कहते है कि मार्क्स ने उपयोगिता पर ध्यान नही दिया। वास्तव मे मार्क्स ने उपयोगिता पर ध्यान दिया था, परन्तु उन्होने उपयोगिता को मूल्य-निर्धारण के सिद्धात मे महत्व नही दिया था, क्योकि उपयोगिता अत्यधिक बदलती रहती है और इसका मूल्य से विशेष सम्बन्ध नही होता।

2. उत्पादन-व्यय सिद्धात (Cost of Production Theory) :

यह सिद्धात एक प्रकार से श्रम-सिद्धात का सुधरा हुआ रूप है। इसके अन्तर्गत श्रम के अतिरिक्त अन्य लागतो पर भी ध्यान दिया जाता है। इस सिद्धात के अनुसार किसी वस्तु का मूल्य उस वस्तु के उत्पादन मे लगे हुए साधनो की लागत से निर्धारित होता है। श्रम-सिद्धात की तरह इसमे भी पूर्ति पक्ष पर ध्यान दिया गया है, परन्तु इसमे उत्पादन के सभी साधनो की लागत को ध्यान मे रखा गया है, न कि केवल श्रम की। पूर्ण स्पर्धा मे इस सिद्धात का महत्व है, क्योकि मूल्य तथा लागत मे यदि अन्तर अधिक होता है तो लाभ की मात्रा बढती है। यही कारण है कि उद्योग मे अधिक प्रतियोगी आते हैं जिससे पूर्ति मे वृद्धि होती है और मूल्य कम होकर लागत व्यय के बराबर हो जाता है।

श्रम सिद्धात तथा उत्पादन-व्यय सिद्धात दोनो को लागत-व्यय-सिद्धात (Cost Theories of Value) कहते है। इन दोनो सिद्धातो मे पूर्ति पक्ष पर अधिक ध्यान दिया गया है तथा उपयोगिता और माग पर ध्यान नही दिया गया है।

3 उपयोगिता-सिद्धांत (Utility Theory) :

इस सिद्धांत के मानने वाले वस्तु की उपयोगिता पर अधिक ध्यान देते हैं। इनके अनुसार वस्तु का मूल्य उससे प्राप्त होने वाली उपयोगिता से निर्धारित होता है। इस प्रकार इस सिद्धात को मानने वाले माग पक्ष पर ध्यान देते हैं। जर्मन अर्थशास्त्री Gossen के अनुसार किसी वस्तु के मूल्य का उससे प्राप्त होने वाली सतुष्टि मे घनिष्ट सम्बन्ध है। कुछ समय बाद W. S. Jevons ने इस सिद्धात को वास्तविक रूप मे रखा।

कुछ अर्थशास्त्री उपयोगिता सिद्धात को दूसरे रूप मे भी रखते है। उनके अनुसार मूल्य निर्धारण मे दुर्लभता (scarcity) व माग का हाथ रहता है। कोई वस्तु उत्पादन की अधिक लागत तथा अन्य कारणों से दुलभ होती है। इसलिए उपयोगिता अथवा उत्पादन के दुर्लभ साधनो को प्रतियोगी मागो के आधार पर उत्पादन लागत की व्यवस्था की जा सकती है। इस प्रकार मूल्य के उपयोगिता सिद्धात को लागत सिद्धात का सुधरा हुआ रूप माना जा सकता है।

4. सीमात उपयोगिता सिद्धात (Marginal Utility Theory) :

पहले सिद्धातो मे मूल्य-सिद्धान्त की सतोषजनक व्याख्या न की जा सकी। अतः विभिन्न अर्थशास्त्रियो ने मूल्य के नये सिद्धान की व्याख्या करने का प्रयत्न किया। इस सिद्धात को सीमान उपयोगिता सिद्धात' (Marginal Utility Theory of Value) कहते हैं। इस सिद्धात के अनुसार किसी वस्तु का मूल्य माग तथा पूर्ति के द्वारा निर्धारित किया जाता है। इसमे वस्तु की सीमात उपयोगिता पर विशेष ध्यान दिया जाता है, अर्थात् वस्तु की दुर्लभता (scarcity) से सम्बन्धित माग द्वारा मूल्य निर्धारित होता है। पूर्ति का भी महत्वपूर्ण स्थान है। पूर्ति का सम्बन्ध उत्पादन-लागत से होता है। उत्पादन लागत किसी वस्तु की दुर्लभता निर्धारित करती है। मूल्य मे दुर्लभता का अत्यधिक महत्व है, इसी के द्वारा मूल्य निर्धारित होता है। किसी वस्तु का बढा हुआ मूल्य उसके बढे हुये माग-मूल्य का ही दूसरा रूप है। माग-मूल्य उपभोक्ताओ की सीमात उपयोगिता पर निर्भर है। अत यह कहा जा सकता है कि सीमात उपयोगिता ही मूल्य निर्धारित करती है।

इस व्याख्या से ऐसा प्रतीत होता है कि मूल्य के सीमात उपयोगिता सिद्धात तथा लागत सिद्धात लगभग एक से ही है, क्योकि उत्पादन लागत सिद्धात मे भी उत्पादन लागत द्वारा पूर्ति निर्धारित होती है और पूर्ति द्वारा मूल्य निर्धारित किया जाता है, परन्तु दोनो सिद्धातो मे मौलिक अन्तर है। सीमात उपयोगिता सिद्धात के अनुसार उत्पादन लागत किसी वस्तु की न्यूनता पर प्रभाव डालती है। और यह प्रभाव भी प्रत्यक्ष नही होता है। इस प्रकार सीमांत उपयोगिता सिद्धात मे उत्पादन

लागत द्वारा मूल्य निर्धारित नहीं होता है। किसी वस्तु के दुर्लभ होने से जितना हाथ उत्पादन व्यय का होता है उससे बहुत अधिक हाथ उस वस्तु की माग का होता है। अत. कोई वस्तु उसकी माग के अनुसार दुर्लभ होती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि किसी वस्तु का मूल्य निर्धारण उसके उत्पादन व्यय से नहीं, बल्कि परस्पर प्रतियोगी मागो (competing demards) द्वारा होता है। माग के अनुसार वस्तु की पूर्ति बदलती रहती है और पूर्ति के अनुसार उत्पादन व्यय। किसी वस्तु की लागत उस वस्तु के विकल्पो (Alternatives) का त्याग है। विकल्पो के मूल्यो को उनकी उपयोगिता द्वारा प्रकट किया जाता है। इसलिए लागत का सिद्धात उपयोगिता पर निर्भर है।

उपयोगिता सिद्धात की यह व्याख्या एकात्मक (Monistic) है। प्रो॰ मार्शल ने मूल्य निर्धारण का जो सिद्धांत दिया उसे हम दुहरी व्याख्या (dual analysis) कहते हैं। मार्शल के अनुसार उपयोगिता तथा लागत दो अलग अलग वस्तुए हैं तथा इन दोनो का मूल्य निर्धारण मे समान रूप से महत्व है। अत मूल्य केवल उपयोगिता से ही नहीं बल्कि उपयोगिता और लागत दोनो के द्वारा निर्धारित होता है। उपयोगिता का सम्बन्ध माग से है और लागत का सम्बन्ध पूर्ति से है। अत न केवल माग तथा न केवल पूर्ति से ही मूल्य निर्धारित होता है, बल्कि माग और पूर्ति दोनो से ही निर्धारित होता है। मार्शल ने माग और पूर्ति की तुलना एक कैंची के दो पातो (blades) से की है। जिस प्रकार कैंची के दोनो पातो की सहायता से ही कागज का एक टुकडा काटा जा सकता है, उसी प्रकार मूल्य निर्धारण म उपयोगिता और लागत दोनो का हाथ रहता है। किसी एक के द्वारा ही मूल्य निर्धारित नहीं होता है[2] यद्यपि इन दोनो का महत्व समय के अनुसार घटता बढता रहता है। मार्शल ने कहा है कि अल्पावधि मे मूल्य पर माग का अधिक प्रभाव पडता है तथा दीर्घावधि मे उत्पादन व्यय या पूर्ति का।[3]

"अत उपयोगिता सिद्धात के मानने वाले इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं— उत्पादन लागत (पूर्ति) तथा उपयोगिता [माग] दोनो को स्वतन्त्र वर्ग नहीं माना

2. "We might as reasonably dispute whether it is the upper or under blade of a pair of scissors that cuts a piece of paper as whether value is governed by utility or cost of production"

— *Marshall* Principles of Economics

3. "As a general rule, the shorter period which we are considering the greater must be the share of our attention which is given to the influence of demand on value and longer the period, the more important will be the influence of cost of production on value."

Marshall : Principles of Economics, 291

जा सकता, क्योंकि उत्पादन लागत भी उपयोगिता का एक अंग है। लागत वैकल्पिक उपयोगिता (alternative utility) प्रकट करती है। इसीलिए उपयोगिता पर केवल माग ही नहीं निर्भर करती, बल्कि पूर्ति भी निर्भर करती है। इस प्रकार माग तथा पूर्ति दोनो उपयोगिता पर निर्भर करते है। अतः यह कहा जा सकता है कि मूल्य के निर्धारण मे उपयोगिता विशेषतया सीमात उपयोगिता का हाथ रहता है।

वर्तमान समय मे सीमात उपयोगिता सिद्धात मूल्य का सर्वमान्य सिद्धात है। यद्यपि इस सिद्धात का प्रतिपादन Jevons तथा कुछ अन्य अर्थशास्त्रियों ने किया था, परन्तु इसको आधुनिक रूप देने मे Wicksteed, Wicksell, Davenport तथा Cassel का प्रमुख स्थान है। सीमात उपयोगिता-सिद्धात, मूल्य का सर्वमान्य सिद्धात है क्योंकि (i) यह अल्पकाल तथा दीर्घकाल दोनो मे सम्बन्धित मूल्यो की व्याख्या करता है, (ii) माग तथा पूर्ति मे होने वाले परिवर्तनो का स्पष्टीकरण भी करता है। (iii) दुर्लभ, खराब तथा शीघ्र नाशवान वस्तुओ के मूल्य की एक मात्र व्याख्या इसी सिद्धात मे मिलती। यह सिद्धान्त पानी, धूप आदि ऐसी वस्तुओं के मूल्य का भी स्पष्टीकरण करता है जो अधिक उपयोगी होते हुए भी मूल्यवान नहीं होती है।

मूल्य-निर्धारण . सामान्य सिद्धांत
(Price Determination . General Theory)

किसी वस्तु का मूल्य किस प्रकार निर्धारित किया जाता है? मूल्य-निर्धारण का सामान्य सिद्धांत यह है कि वस्तु का मूल्य उस बिन्दु पर निश्चित किया जाता है, जिस बिन्दु पर उस वस्तु की माग तथा पूर्ति बराबर होती है।

बाजार मूल्य माग तथा पूर्ति के सम्मिलित प्रभाव से निर्धारित होता है। बाजार मे जिस कीमत पर वस्तु की मागी हुई मात्रा तथा वस्तु की पूर्ति की मात्रा बराबर होती है वहीं पर मूल्य निर्धारित हो जाता है। इस प्रकार निर्धारित की हुई कीमत को साम्य कीमत (Equilibrium Price) कहते है तथा इस कीमत पर बेची गई वस्तु की मात्रा को साम्य राशि (Equilibrium Amount) कहते हैं। माग तथा पूर्ति द्वारा निर्धारित इस प्रकार की कीमत का अध्ययन नीचे प्रस्तुत है :

(i) वस्तु की माग (Demand for Commodity) : वस्तु की माग बाजार मे उपभोक्ताओ के द्वारा होती है। माग के नियम के अनुसार यदि वस्तु के मूल्य मे कमी होती है तो कम मूल्य पर उपभोक्ता अधिक माल खरीदना चाहते हैं। इसके विपरीत वस्तु की कीमत बढ जाती है तो उपभोक्ता कम खरीदना चाहते हैं।

(ii) वस्तु की पूर्ति (Supply of Commodity) : बाजार मे किसी वस्तु की पूर्ति सभी विक्रेताओं की पूर्ति का योग होती है। विभिन्न मूल्यो पर विक्रेता

अपनी वस्तुओं की विभिन्न मात्रा बेचने के लिए तैयार रहते हैं। इस प्रकार विभिन्न कीमतों पर पूर्ति की विभिन्न मात्रा की तालिका को बाजार पूर्ति तालिका (Market Supply Schedule) कहते है। वस्तु की कितनी मात्रा प्रत्येक विक्रेता विभिन्न कीमतों पर बेचेगा, यह उसके आरक्षित मूल्य (Reservation Price) पर निर्भर करता है। इससे कम पर विक्रेता माल को बेचने के लिए तैयार नहीं होगा। यह आरक्षित मूल्य (Reservation Price) कई बातों पर निर्भर करता है। जैसे :

1. वस्तु की प्रकृति : यदि वस्तु नाशवान [Perishable] है तो विक्रेता उसे शीघ्रतापूर्वक बेचना चाहेगा। इसलिए वस्तु का आरक्षित मूल्य [Reservation Price] कम होगा।

2. भविष्य की आशा : यदि भविष्य में मूल्य गिरने की आशा है तो वह कम कीमत पर ही अपनी वस्तु अधिक से अधिक मात्रा में बेचना चाहेगा।

3 उत्पादन व्यय टिकाऊ तथा अर्ध टिकाऊ (durable and semi-durable) वस्तुओं पर उत्पादन व्यय का प्रभाव पड़ता है। साधारणतया विक्रेता उत्पादन व्यय से कम कीमत पर अपनी वस्तु को नहीं बेचेगा। विक्रेता की कई कीमतें आरक्षित कीमतें (Re ervation Price) होती हैं।

बाजार कीमत माग तथा पूर्ति के सम्मिलित प्रभाव से निर्धारित होती है। बाजार पूर्ति तालिका यह दिखलाती है कि विभिन्न कीमतों पर विक्रेता अपनी वस्तु की कितनी मात्रा बेचेगा तथा बाजार माग तालिका [Market Demand Schedule] उपभोक्ताओं की यह तत्परता (Willingness) दिखलाती है कि वे विभिन्न मूल्यों पर कितनी मात्रा खरीदेंगे। इस प्रकार जिस कीमत पर बाजार में वस्तु की माग तथा पूर्ति बराबर हो जाती है वही वस्तु का बाजार मूल्य होता है। इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है :

विभिन्न कीमतों पर गेहूं की माग तथा पूर्ति

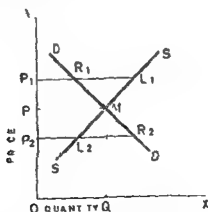
कीमत प्रति मन	(माग)	(पूर्ति)
30	200	0
31	180	20
32	170	40
33	140	70
34	100	100
35	75	135
36	25	170

उपरोक्त तालिका मे गेहू की कीमत प्रति मन दी गई है तथा बाजार मे विभिन्न कीमतो पर उसकी मागी जाने वाली तथा बेची जाने वाली मात्राए दी गई है। तालिका से स्पष्ट है कि जब गेहू का मूल्य 34 रु० प्रतिमन है तो उसकी माग तथा पूर्ति दोनो 100 मन हैं। इस प्रकार बाजार मूल्य 34 रुपये प्रति मन होगा, क्योंकि इसी मूल्य पर वस्तु की माग तथा पूर्ति बराबर होती है।

(iii) रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण बाजार मूल्य बाजार की माग तथा पूर्ति के द्वारा निर्धारित होता है। इस प्रकार जहा पर माग तथा पूर्ति रेखाए एक दूसरे को काटती है वही पर मूल्य निर्धारित होता है। जैसा कि आगे के पृष्ठ पर दिये गये रेखाचित्र स 71 म दर्शाया गया है।

इस रेखा चित्र मे DD बाजार की माँग रेखा है तथा SS पूर्ति रेखा है। दोनो एक दूसरे को M बिन्दु पर काटती हैं। अत OP (MQ=OP) बाजार मूल्य अथवा साम्य कीमत हुई तथा OQ साम्य मात्रा (Equilibrium Quantity) हुई।

प्रत्येक अवस्था मे यही मूल्य होगा। एक पूर्ण स्पर्धा वाले बाजार मे जिसम क्रेता तथा विक्रेता को बाजार की परिस्थिति का पूर्ण ज्ञान होता है वहा पर साम्य कीमत अधिक समय तक बदल नही सकती। ऐसी परिस्थिति मे वास्तविक विक्रय कीमत (Selling Price) तथा बाजार साम्य कीमत (Equilibrium Market Price) दोना एक ही होती है।



चित्र स० 87

बाजार मूल्य की यह विशेषता होती है कि यदि वास्तविक मूल्य साम्य मूल्य से कम या अधिक होता है तो बाजार म ऐसी शक्तिया काम करती हैं जिनसे थोडे ही समय मे वास्तविक मूल्य पुन साम्य मूल्य के बराबर हो जाता है जैसे, यदि

विक्रय मूल्य साम्य मूल्य से अधिक है तो बाजार मे माँग की अपेक्षा पूर्ति बढेगी। इस प्रकार विक्रेताओ मे स्पर्धा होगी। क्रेताओ की संख्या पहले की ही भांति रहेगी। अत विक्रेताओ मे स्पर्धा के कारण बाजार मूल्य पुनः साम्य मूल्य पर आ जायेगा। इसके विपरीत यदि विक्रय मूल्य साम्य मूल्य से कम है तो बाजार की माग (Market Demand) बाजार की पूर्ति से अधिक होगी। इस प्रकार क्रेताओ में स्पर्धा होगी जिससे विक्रय मूल्य बढेगा और पुनः साम्य मूल्य के बराबर हो जायेगा।

इस तथ्य को ऊपर रेखाचित्र मे दर्शाया गया है जिसमे OP कीमत पर वस्तु की माग और पूर्ति बराबर हैं (OQ मात्रा)। मूल्य बढकर OP_1 हो जाता है तो पूर्ति बढकर P_1L_1 हो जाती है। मूल्य बढने के कारण माग घटकर P_1R_1 हो जाती है जिससे यह प्रकट होता है कि विक्रेता बेचने के लिए उत्सुक है, परन्तु क्रेता खरीदने को तैयार नही हैं। अत कीमत गिरेगी और पुन OP के बराबर होगी। दूसरी परिस्थिति मे मूल्य कम होकर OP_2 हो जाता है तो पूर्ति तथा माग क्रमश: P_2L_2 व P_2R_2 हो जाती है। यहा पर क्रेताओ का दबाव बढेगा, अत कीमत पुनः बढकर OP हो जायेगी।

बाजार कीमत की विशेषतायें (Characteristics of Marker Price) :

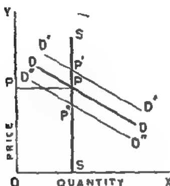
(1) बाजार कीमत वह कीमत है जिस पर बाजार की माग व पूर्ति बराबर होती है।

(2) साम्य बाजार कीमत (Equilibrium Market Price) मे घट-बढ होते रहते हैं, क्योंकि बाजार की माँग तथा पूर्ति मे परिवर्तन होते रहते है। बाजार की पूर्ति व्यक्तिगत फर्मों की पूर्ति का योग होती है तथा यह पूर्ति बहुत कुछ अशो मे भविष्य मे कीमत मे होने वाले परिवर्तन पर निर्भर करती है। इसी प्रकार बाजार की माग भी परिवर्तित होती रहती है। अत माग तथा पूर्ति मे परिवर्तन होने के कारण अत्यन्त ही अल्प काल मे बाजार साम्य-मूल्य बदलता रहता है।

शीघ्र नाशवान वस्तुओ (Perishable Commodities) का मूल्य-निर्धारण :

शीघ्र नाशवान वस्तुओ जैसे सब्जी, दूध, अण्डा आदि के मूल्य निर्धारण मे 'पूर्ति' का महत्व नही रहता। शीघ्र नाशवान वस्तुओ का मूल्य उनकी माग के अनुसार निर्धारित किया जाता है। माग म वृद्धि होने स उनके मूल्य मे वृद्धि तथा माग मे कमी होने से मूल्य मे कमी होती है। विक्रेता के पास जो भी स्टॉक होता है, उसे वह बेचना चाहता है, क्योंकि बाद मे ये वस्तुयें खराब हो जाती हैं, तथा उन्हे बेचना कठिन हो जाता है। अत ऐसी वस्तुओ के मूल्य निर्धारण म उत्पादन लागत का ध्यान नही रखा जाता है, माग ही मूल्य का निर्धारक तत्व है। दिये गये चित्र सं० 88 मे इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है। पूर्ति रेखा SS है जो एक ऊर्ध्व रेखा के

रूप मे है । DD माग-वक्र है, कीमत OP है । माग मे वृद्धि होने से (D'D') कीमत बढ़कर P' हो जाती है, तथा मांग मे कमी होने से (D"D") कीमत घट कर P" हो जाती है ।



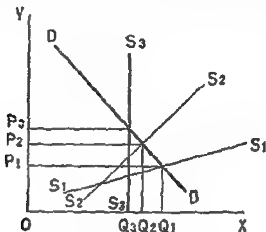
चित्र स० 88

मात्रा का समयानुसार विभाजन (Rationing over Time) :

कुछ वस्तुये ऐसी होती हैं जिनका उत्पादन वर्ष मे एक बार किया जाता है, परन्तु उपभोक्ताओ द्वारा उनका प्रयोग वर्ष पर्यन्त किया जाता है, जैसे खाद्यान्न। ऐसी वस्तुओ की बाजार-अवधि सामान्यत एक वर्ष होती है। अतः उपभोक्ताओ की वर्ष भर की माग की पूर्ति एक ही बार उत्पादित वस्तु से करनी पड़ती है। सरलता की दृष्टि से हम मान लेते हैं कि एक वर्ष म चार माह की तीन अवधि हैं। आरम्भ मे स्टॉक अधिक होने के कारण कीमत कम रहेगी तथा ज्यो-ज्यो स्टॉक घटता जाएगा, कीमत ऊंची होती जायेगी। आरम्भ मे (प्रथम चार माह) पूर्ति की मात्रा कीमत पर निर्भर होगी। यदि क्रेता अधिक कीमत देने को तैयार होंगे तो विक्रेता अधिक मात्रा मे वस्तुओ को बेचेंगे। (अन्यथा स्टॉक को अपने पास रखे रहेंगे परन्तु वे स्टॉक रखने पर होने वाले व्यय को भी ध्यान मे रखेंगे)। अत प्रथम चार माह के लिए पूर्ति-वक्र अधिक लोचदार होगा, तथा यह नीचे से ऊपर की ओर उठता हुआ होगा (चित्र स० 89 मे S_1S_1 देखिये)।

दूसरे चार महीने की अवधि मे पूर्ति अपेक्षाकृत कम लोचदार होगी तथा इस अवधि का पूर्ति-वक्र प्रथम पूर्ति-वक्र के ऊपर रहेगा (S_2S_2) क्योंकि विक्रेता अधिक ऊंची कीमत लेना चाहेंगे (स्टॉक रखने से सम्बन्धित व्यय, कम मूल्य पर ब्याज आदि को भी वसूल करना चाहेंगे)। इस अवधि मे पूर्ति-वक्र S_2S_2 पर पूर्ति की मात्रा OQ_2 तथा कीमत OP_2 होगी। तीसरे चार महीने मे, विक्रेता कुल स्टॉक को किसी

प्रकार बेचना चाहेंगे अत: पूर्ति कुल स्टॉक के बराबर होगी। यही कारण है कि पूर्ति-वक्र S_3S_3 लम्बवत् प्रदर्शित किया गया है। अब पूर्ति लगभग लोचहीन हो जाएगी।



चित्र सं० 89

ऐसी अवस्था मे कीमत माँग पर निर्भर करेगी। यदि माग अधिक होती है तो कीमत बढेगी यदि माग अधिक होती है तो कीमत घटेगी।

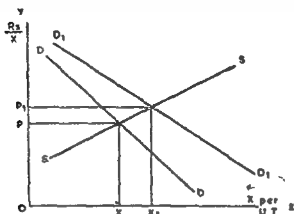
चित्र सं० 89 से स्पष्ट है कि तीनो अवधियो मे कीमत क्रमशः बढती गई है, क्योंकि स्टॉक सम्बन्धी व्यय बढते जायेंगे तथा विक्रेता उन व्ययो को भी क्रेताओ से प्राप्त करने का प्रयत्न किया करेंगे। परन्तु यदि विक्रेता का माग सम्बन्धी अनुमान गलत सिद्ध होता है अर्थात् बाद मे माग बहुत कम हो जाती है तो उसे कम कीमत पर भी वस्तु बेचनी पडेगी, क्योंकि तीसरी अवधि की समाप्ति के समय नया स्टॉक आ जाएगा। उपरोक्त विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि सामान्यतया प्रारम्भ मे अधिक मात्रा बेची जायगी तथा कीमत कम रहेगी, तथा बाद मे कीमतें बढती जायेंगी।

माग मे परिवर्तन तथा बाजार मूल्य
(Changes in Demand & Market Price)

1. माग मे वृद्धि होने पर बाजार-अवधि मे साम्य कीमत का निर्धारण माग तथा पूर्ति द्वारा किया जाता है। यदि माग मे वृद्धि हो जाए तो बाजार-कीमत मे परिवर्तन आएगा। इस दशा का स्पष्टीकरण चित्र संख्या 90 मे किया गया है। DD प्रथम माग वक्र है, मान लीजिये माग मे वृद्धि हो जाती है। D_1D_1 वक्र बढी हुई माग को प्रकट करता है *इस बढी हुई माग के कारण कीमत OP से बढकर

*"Total supply cannot be changed during the market period but it is possible for sellers to decide to offer more or less out of given non perishable stocks" —*Robinson, Adams and Dillin*, An Introduction to Modern Economics, p. 328.

OP_1 हो जाएगी । बढे हुए मूल्य पर विक्रेता अधिक वस्तु बेचना चाहेंगे इस प्रकार बेची जाने वाली मात्रा OX से बढकर OX_1 हो जाएगी । इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि माग म वृद्धि होने पर बाजार मूल्य ऊचा उठता है तथा पूर्ति मे भी वृद्धि होती है (वर्तमान उत्पादन की सीमा तक) ।



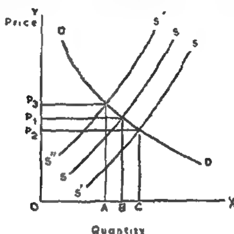
चित्र स० 90

2. माग के घटने पर मान लीजिये D_1D_1 मूल माग वक्र है तथा OP_1 मूल बाजार मूल्य है । OP_1 मूल्य पर वस्तु की OX_1 मात्रा बेची जा रही है । यदि माग घटती है तो DD नया माग वक्र होगा इस प्रकार बाजार मे OP_1 कीमत पर वस्तु का आधिक्य हो जाएगा, क्योकि खरीद कम हो गई है । इस आधिक्य के कारण विक्रेता कीमत मे कमी करेंगे इस प्रकार कीमत OP हो जाएगी तथा बेची जाने वाली मात्रा OX हो जायेगी ।

पूर्ति मे परिवर्तन तथा बाजार मूल्य
(Changes in Supply and Market Price)

1. पूर्ति मे वृद्धि होने पर : यदि माग-वक्र दिया हुआ हो तो, पूर्ति मे परिवर्तन होने से कीमत तथा वस्तु की मात्रा दोनो मे परिवर्तन होंगे । चित्र सख्या 91 मे DD माग वक्र तथा SS पूर्ति वक्र हैं । OP_1 कीमत तथा OB विक्रय-मात्रा को प्रकट करते है । मान लीजिए पूर्ति मे परिवर्तन होता है* (यह याद रखना चाहिए कि बाजार-अवधि मे पूर्ति म परिवर्तन नहो किया जा सकता है, परन्तु विक्रेता अनाशवान वस्तुओ के स्टाक मे से विक्रय के लिए कम या अधिक मात्रा बेचने के लिए प्रस्तुत कर सकते हैं) मूल्य मे परिवर्तन के अनुसार विक्रेता वस्तु की कम या अधिक मात्रा बेचने के लिए अपने वर्तमान स्टाक मे से प्रस्तुत करेंगे । चित्र मे इसी स्थिति को स्पष्ट किया गया है । माग (माग-सूची) मे कोई परिवर्तन

नहीं हो रहा है तथा पूर्ति-सूची में कमी व वृद्धि हो रही है। यदि **पूर्ति बढ़ती है** तो $S_1 S_1$ नया पूर्ति-वक्र होगा इस प्रकार कीमत घटकर OP_2 हो जाएगी। तथा बेची जाने वाली मात्रा OB से बढ़कर OC हो जाएगी।



चित्र स० 91

2 पूर्ति में कमी होने पर - मान लीजिये विक्रेता दिए गए मूल्य पर कम मात्रा बेचना चाहते हैं। इस प्रकार S''S'' घटी हुई पूर्ति-सूची को प्रकट करता है। पूर्ति घटाने से कीमत घटकर OP_3 हो जाएगी तथा बेची जाने वाली मात्रा OB से घटकर OA हो जाएगी।

माग व पूर्ति दोनो मे परिवर्तन तथा बाजार मूल्य
(Changes in Demand & Supply)

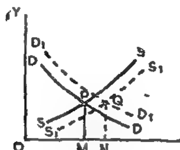
व्यावहारिक रूप मे यह सम्भव है कि बाजार काल मे माग तथा पूर्ति दोनों मे परिवतन हो। यदि माग तथा पूर्ति मे परिवर्तन एक दूसरे को प्रभावहीन कर देते है तो कीमत मे कोई परिवर्तन नही होगा परन्तु विक्रय-मात्रा मे महत्वपूर्ण परिवर्तन होंगे।

"It is conceivable that changes in both demand and supply will occur during the market period. To the extent that such changes cancel each other out, on change in price will occur The quantity bought and sold will, however, change considerably".

Robinson, Adams and Dillin.

चित्र स० 91 A से इस स्थिति पर प्रकाश पडता है, DD माग वक्र तथा SS पूर्ति वक्र है। MP कीमत तथा OM वस्तु की विक्रय मात्रा है। मान लीजिये पूर्ति बढ़ जाती है, S_1S_1 नया पूर्ति वक्र होगा। इसी प्रकार माग मे वृद्धि के कारण

D_1D_1 नया माग वक्र होगा। मान लीजिए, माग तथा पूर्ति दोनो मे आनुपातिक वृद्धि समान हुई है, जैसा कि चित्र से स्पष्ट है। चित्र मे हम देख रहे हैं कि कीमत



चित्र स० 91 A

पहले के ही समान है : $PM = QN$, परन्तु विक्रय मात्रा OM से बढकर ON हो गई है। इसी प्रकार यदि माग तथा पूर्ति दोनो मे समान आनुपातिक कमी होती है। तो कीमत पूर्ववत रहेगी, परन्तु विक्रय मात्रा घट जाएगी। माग तथा पूर्ति मे परिवर्तन का अनुपात समान न रहने पर कीमत तथा विक्रय मात्रा दोनो मे परिवर्तन होंगे। (हमने उदाहरणार्थ माग व पूर्ति के परिवर्तन सम्बन्धी ऊपर एक चित्र दिया है विद्यार्थी स्वय माग तथा पूर्ति मे असमान आनुपातिक परिवर्तन मानकर तथा माग व पूर्ति मे विपरीत दिशाओ मे परिवर्तन मानकर, स्वय रेखा चित्र बनाकर ज्ञात कर सकते है कि माग व पूर्ति मे परिवर्तन होने पर, कीमत पर क्या प्रभाव पडता है)

प्रश्न व सकेत

1 सतुलन-मूल्य की परिभाषा देते हुए बताइये कि माग तथा पूर्ति मे परिवर्तन होने से सतुलन मूल्य किस प्रकार प्रभावित होता है। [सकेत : पहले सतुलन मूल्य की परिभाषा दीजिए। दूसरे भाग मे रेखा चित्रो की सहायता से माग, पूर्ति के अलग अलग एव सामूहिक परिवर्तन से मूल्य सतुलन पर पडने वाले प्रभावों को दिखाइये।]

2 "हम यह विवाद कर सकते हैं कि कैंची का ऊपरी फलका या नीचे का फलका (blade) कागज को काटता है जिस प्रकार कि मूल्य उपयोगिता से या उत्पादन व्यय से नियन्त्रित होता है।" इस कथन की विवेचना करिए। [सकेत : जेवन्स व मार्शल के विचारो को स्पष्ट करते हुए बताइये कि माग शक्ति व पूर्ति शक्ति दोनो का ही मूल्य निर्धारण मे महत्व है। इन शक्तियो की व्याख्या कीजिए तथा सतुलन मूल्य के निर्धारण को सोदाहरण समझाइये।]

29

पूर्ण प्रतिस्पर्धा : मूल्य व उत्पादन निर्धारण
(Perfect Competition Price & Output Determination)

"Short run price output analysis treats situations in which the firm is free to vary its output but does not have time to change its scale of plant in the long run firms have time to increase or decrease their scales of plant and there is ample time and opportunity for new firms to enter or for existing firms to leave the industry"[1]

Leftwich

लागत तथा आगम के अध्ययन के पश्चात् अब हम पूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत 'अल्पकाल' तथा 'दीर्घकाल' मे 'मूल्य' तथा 'उत्पादन' के निर्धारण के प्रश्न पर विचार करेंगे। यहा पर यह बतला देना आवश्यक है कि मूल्य निर्धारण की समस्या की पूर्ण जानकारी के लिए उत्पादन लागत', 'उत्पादक का आगम' तथा 'माग' का सम्यक् अध्ययन आवश्यक है, क्योकि मूल्य निर्धारण इन्ही तत्वो पर निर्भर है। (अत इन विषयो से सम्बन्धित अध्यायो का अध्ययन करने तथा उन्हे भली भाति समझ लेने के पश्चात् ही विद्यार्थी इस अध्याय का अध्ययन कर।) मूल्य निर्धारण के साथ ही साथ फर्म तथा उद्योग की साम्यावस्था (Equilibrium of the Firm and Industry) की भी जानकारी आवश्यक है अत इस अध्याय मे इन पर भी प्रकाश डाला गया है। यहा पर 'फर्म' तथा उद्योग' का अर्थ भी समझ लेना चाहिए।

(1) फर्म (Firm) जिस सस्थान द्वारा उत्पादन किया जाता है उसे उत्पादन इकाई (production unit) कहते हैं जैसे कोई कारखाना। फर्म एक या अधिक उत्पादन इकाइयो को कहते है जो कि एक ही स्वामित्व (same ownership) के अन्तर्गत हो। सैमुएलसन के अनुसार पूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत फर्म उसे कहते हैं,

[1] *Leftwich, Richard H*, Price System and Resource Allocation, pp *160–167*

'जो जितनी मात्रा मे चाहे, प्रचलित बाजार मूल्य पर बेच सकती है, परन्तु उस बाजार मूल्य मे वृद्धि या कमी करने की क्षमता उसमे नही होती है।"[2]

(ii) उद्योग (Industry) बहुत सी एसी फर्मो के समूह को उद्योग कहते हैं, जो उसी बाजार (same market) के लिए किसी वस्तु का उत्पादन कर रही हो। परन्तु E.A G Robinson ने 'उसी बाजार' तथा वस्तु शब्द के प्रयोग पर आपत्ति की है। उन्ही के शब्दो म ' इसे (बाजार को) उत्पादित वस्तु अथवा बाजार जिसके लिए यह (वस्तु) पैदा की जाती है के सदर्भ मे परिभाषित करना बहुत सी अवस्थाओ मे या तो असम्भव है या कम से कम असन्तोषजनक। व्यावहारिक रूप मे, हम अधिक से अधिक यही कह सकते हैं कि हम उनका उदाहरण सामने रक्खें जो वास्तविक रूप से उद्योगो मे लगे हुए हैं। कुछ नियोक्ता (employers) अपने को एक उद्योग से सम्बन्धित केवल इसलिए मान लेते हैं कि उनके हित उभयनिष्ठ (comon) होते हैं। एक ही प्रकार के कच्चे माल का प्रयोग करने वाले (जैसे लोहा तथा इस्पात उद्योग मे) या एक ही प्रकार की मशीनों का प्रयोग करने वाले या उत्पादन की एक ही प्रणाली अपनाने वाले भी अपने को एक ही उद्योग के प्रतिनिधि मान सकते हैं।[3] कोई ऐसी फर्म भी हो सकती है जो विभिन्न प्रकार की वस्तुओ का उत्पादन करने के कारण कई उद्योगो से सम्बन्धित हो। सैमुएलसन के अनुसार "पूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत बहुत सी प्रतिस्पर्धी फर्मों के समूह को उद्योग कहते हैं।"

1. फर्म की साम्य-अवस्था (Equilibrium of the Firm)

फर्म की साम्य अवस्था उस अवस्था को कहते हैं, जिसमे फर्म का लाभ अनुकूलतम हो (*when profit is optimised*)। साम्य-अवस्था मे फर्म का लाभ सामान्यतया अधिकतम होता है। उत्पादन की जिस मात्रा पर, लाभ अधिकतम होता है, उस मात्रा को साम्य उत्पादन (Equilibrium Output) कहते हैं। यह मात्रा वह मात्रा होती है, जिसमे कम या अधिक उत्पादन करने से फर्म के कुल लाभ मे कमी होती है।

साम्य का अर्थ परिवर्तनशीलता की अनुपस्थिति भी होता है (Equilibrium *is position of rest'* or 'stage of no change' or position of balance') अर्थात् फर्म साम्य की स्थिति मे उस समय होती है, जबकि कुल उत्पादन मे कोई परिवर्तन नही होता है तथा यदि परिवतन किया जाता है तो कुल लाभ मे कमी

[2] "One who can sell all he wishes at the going market price, but is unable in any appreciable degree to raise or depress that market price" —*Samuelson, P A op, cit., p. 454*

[3] "*Robinson* E A. G, The Structure of Competitive Industry.

होती है। फर्म परिवर्तन हीनता की स्थिति में उस समय पहुचती है जबकि न्यूनतम लागत पर उसका उत्पादन ऐसी मात्रा पर पहुँच जाता है जिस मात्रा पर उसका लाभ अधिकतम होता है। यह वह अवस्था होती है, जिसमें फर्म परिवर्तन करना नहीं चाहती है। फर्म मे, इस अवस्था मे न तो विस्तार की प्रवृत्ति होती है और न सकुचन की। एक प्रकार मे साम्यावस्था, सतुलन या स्थिरता की अवस्था होती है। साम्य अवस्था मे फर्म के उत्पादन की मात्रा ऐसी मात्रा होती है, जिस पर उसका लाभ अधिकतम होता है।

साम्य-अवस्था की मान्यताएं (Assumptions)

साम्य-अवस्था का विश्लेषण निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है :

1 फर्म का उद्देश्य अपने लाभ को अधिकतम करना होता है। इस प्रकार फर्म का व्यवहार विवेकपूर्ण (rational) होता है। फर्म कम लाभ से ही सतुष्ट नहीं हो जाती है।

2 उत्पादक या फर्म उत्पादन-लागत को न्यूनतम करने के लिए प्रयत्नशील रहती है।

3 यह मान लिया जाता है कि विभिन्न पड़तो (Inputs) की कीमत ज्ञात होती है। उत्पादन साधनों की सभी इकाइयां समान रूप से कार्य-कुशल होती हैं तथा उनकी पूर्ति बहुत ही लोचदार (infinitely elastic) होती है। इसका अर्थ यह है कि उत्पादक, वर्तमान कीमत या पुरस्कार देकर उत्पादन साधनों की जितनी मात्रा चाहे, काम में लगा सकता है।

2 अधिकतम लाभ (Profit Maximization)

फर्म का उद्देश्य लाभ को अधिकतम करना होता है। अधिकतम लाभ किस स्थिति में होगा? इसका उत्तर दो प्रकार से दिया जा सकता है। सामान्य रूप से **अधिकतम लाभ की स्थिति को दो प्रकार से व्यक्त किया जाता है।**

1 कुल लागत तथा कुल आगम द्वारा तथा 2. सीमान्त व औसत लागत तथा आगम द्वारा

1. अधिकतम लाभ : कुल आगम तथा कुल लागत द्वारा ज्ञात करना (Maximisation of Profits through Total Revenue and Total Cost)

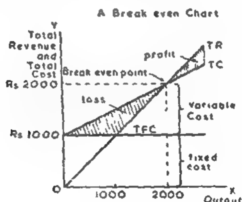
उत्पादन की जिस मात्रा पर कुल आगम तथा कुल लागत का अन्तर अधिकतम होता है, उस बिन्दु पर फर्म का लाभ अधिकतम होता है (Profit is maximised when the difference between Total Revenue and Total Cost is maximum)। इसके लिए 'कुल लागत वक्र' (Total Cost Curve) तथा कुल आगम वक्र (Total Revenue Curue) का प्रयोग किया जाता है। इन वक्रों की सहायता से जो चार्ट बनता है उसे Break-even Chart कहते हैं।

Break even Chart तैयार करना : यह चार्ट कुल आगम तथा कुल लागत रेखाओं द्वारा तैयार किया जाता है। मान लीजिए किसी फर्म की 'अल्पकालीन-लागत सूची' अग्रलिखित सारणी के अनुसार है :

फर्म की अल्पकालीन लागत तालिका (रुपयों में)

उत्पादन (इकाइयाँ)	कुल निश्चित लागत (TFC)	कुल परिवर्तनशील लागत (TVC)	कुल लागत (TC)
0	1 000	0	1,000
1,000	1 000	500	1,500
2,000	1,000	1,000	2,000
3,000	1,000	1.500	2,500

मान लीजिए फर्म द्वारा उत्पादित वस्तु का विक्रय-मूल्य एक रुपया प्रति इकाई है (माँग की मात्रा चाहे जितनी भी हो)। उपर्युक्त सारणी के आधार पर Break-even Chart निम्न चित्र के अनुसार होगा। चित्र में TR रेखा विभिन्न उत्पादन-मात्राओं (बिक्री) पर कुल आगम प्रदर्शित करती है। TFC रेखा कुल निश्चित-लागत को प्रकट करती है जो आधार रेखा के समानान्तर है, क्योंकि कुल निश्चित

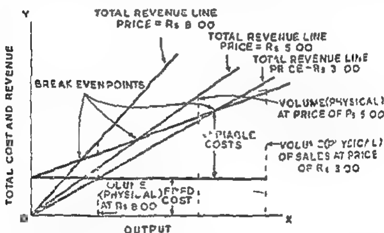


चित्र म० 92

लागत प्रत्येक अवस्था में 1,000 रुपए है। TC रेखा कुल लागत को प्रकट करती है (TFC+TVC)। TR तथा TC रेखाएं जिस बिन्दु पर एक दूसरे को काटती हैं, उस Break-even point कहते है। यह बिन्दु यह प्रकट करता है कि उत्पादन की मात्रा 2,000 इकाइयां होने पर कुल-आगम तथा कुल-लागत बराबर होंगी। (कुल लागत 2 000 रुपए तथा कुल आगम 2,000 रुपए) 2,000 इकाइयां से कम उत्पादन होने पर फर्म को हानि उठानी पड़ेगी। इससे अधिक उत्पादन होने पर फर्म को लाभ होगा। Break-even Chart द्वारा फर्म की दशा का ज्ञान सरलता से हो जाता है।

सामान्यतया यह चार्ट सीधी रेखाओ द्वारा तैयार किया जाता है, यद्यपि वक्रो का भी प्रयोग किया जा सकता है। सीधी रेखाए यह मानकर चलती हैं कि कुल-लागत मे परिवर्तन उत्पादन मे परिवर्तन के आनुपातिक होते हैं (Straight lines mean the linear assumption that changes in total costs are proportional to changes in output)।

उपर्युक्त चार्ट मे यह मान लिया गया है कि कीमत एक रुपया प्रति इकाई दी हुई है। दूसरे शब्दो मे यह मान लिया गया है कि माग दी हुई है। परन्तु कीमत मे परिवर्तन होते रहते हैं। अत इस कठिनाई को दूर करने के लिए कई मूल्यो से सम्बन्धित कुल-आगम रेखाए खीची जाती है। प्रत्येक मूल्य पर उत्पादन तथा विक्रय की मात्राए चार्ट द्वारा ज्ञात की जा सकती हैं। चित्र स० 93 से इस प्रकार के चार्ट (कई अनुमानित कीमतो पर आधारित) का ज्ञान होता है। चित्र मे 3 5 तथा 8 रुपए प्रति इकाई मूल्यो से सम्बन्धित कुल आगम रेखाए (TR) खीची गई



चित्र स० 93

हैं। कुल लागत रेखा, भी साथ मे दी गई है। चित्र मे तीन Brack even points है, जो इन मूल्यो पर उत्पादन की मात्रा का प्रकट करते हैं। इन कीमतो मे से, 5 रुपए कीमत सबसे अधिक लाभ प्रदान करेगी। अत पाच रुपए कीमत पर जो उत्पादन होगा वह साम्य उत्पादन होगा।

2 अधिकतम लाभ - सीमात तथा औसत वक्रो द्वारा ज्ञात करना (Profit Maximisation. From Marginal and Average Curves)

Break even चार्ट द्वारा लाभ की मात्रा ज्ञात करना एक जटिल तथा भद्दा तरीका है, क्योकि कुल आगम तथा कुल लागत वक्रो का रूप जटिल होने पर, अधिकतम लाभ सरलता से ज्ञात नही किया जा सकता है। अत अधिकतम लाभ या फर्म

की साम्य अवस्था ज्ञात करने के लिए 'सीमांत' तथा 'औसत' वक्रों का प्रयोग किया जाता है। सामान्यतया उत्पादन की जिस मात्रा पर सीमांत आगम तथा सीमांत लागत बराबर होते हैं, उत्पादन की वह मात्रा अधिकतम लाभ प्रदान करती है (when MR=MC profit is maximised)। फर्म का लाभ औसत आगम (AR) तथा औसत-लागत (AC) के अन्तर से जाना जा सकता है। (यहां पर यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक दशा में MR=MC होने से लाभ की मात्रा अधिकतम नहीं होगी, यह अवस्था न्यूनतम हानि की भी अवस्था हो सकती है, विशेष विवरण अगले पृष्ठों पर देखिए।) इस अध्ययन में हमने फर्म की साम्य अवस्था का अध्ययन सीमांत तथा औसत वक्रों की ही सहायता से किया है।

3. पूर्ण स्पर्द्धा : अल्पावधि में मूल्य तथा उत्पादन
(Perfect Competition : Price And Output in The Short Run)

पूर्ण स्पर्धा की विशेषताओं का पहले उल्लेख किया जा चुका है। यहां पर संक्षेप में उनकी पुनरावृत्ति आवश्यक है (1) वस्तु में एकरूपता (Homogeneity) होती है, (2) क्रेताओं तथा विक्रेताओं की संख्या अधिक होती है जिससे उनमें से कोई भी मूल्य को प्रभावित नहीं कर सकता है तथा मांग पूर्ण लोचदार होती है, (3) वस्तु की मांग, पूर्ति तथा मूल्य पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता है, तथा (4) फर्मों के प्रवेश करने या छोड़ने की स्वतन्त्रता होती है।

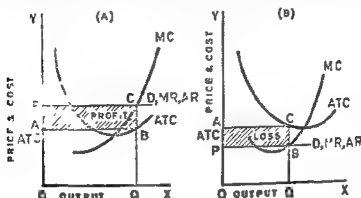
अल्पावधि उस अवधि को कहते हैं जिसमें फर्म अपने वर्तमान साधनों द्वारा उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन कर सकती है, परन्तु उत्पादन साधनों की मात्रा में या आकार में परिवर्तन नहीं कर सकती है। प्रत्येक फर्म उद्योग के कुल उत्पादन की तुलना में, इतना कम उत्पादन करती है कि वह मूल्य को प्रभावित नहीं कर सकती। फर्म केवल अपनी उत्पादन की मात्रा के सम्बन्ध में ही निर्णय ले सकती है।

(i) फर्म की साम्य अवस्था :

फर्म का उद्देश्य अधिकतम लाभ अर्जित करना या न्यूनतम हानि उठाना होता है। लाभ की मात्रा अधिकतम या हानि की मात्रा न्यूनतम उस समय होती है, जबकि सीमान्त लागत सीमान्त आय के बराबर होती है (when MC=MR)। यदि सीमान्त लागत सीमांत आय से अधिक है तो उत्पादक उत्पादन की मात्रा कम कर देता है। यदि सीमान्त लागत सीमांत आय से कम है तो उत्पादक उत्पादन की मात्रा बढ़ाकर लाभ में वृद्धि कर सकता है। परन्तु यदि सीमांत लागत सीमान्त आय के बराबर है तो उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन करने से उत्पादक को कोई लाभ नहीं होगा। अतः यह स्मरण रखना चाहिए कि लाभ की मात्रा अधिकतम तथा हानि की मात्रा न्यूनतम उस समय होती है जबकि सीमान्त लागत सीमान्त आय के बराबर हो

(Profit is maximum or loss is minimum when Marginal Revenue is equal to Marginal Cost) । इस तथ्य का स्पष्टीकरण चित्र स॰ 94 मे किया गया है :

पूर्ण स्पर्धा मे माग पूर्णतया लोचदार होती है, जो PD द्वारा प्रदर्शित की गई है । साथ ही साथ पूर्ण स्पर्धा मे माग-वक्र, सीमान्त आय वक्र तथा औसत आय वक्र एक ही वक्र के रूप मे होते हैं । चित्र से स्पष्ट है कि OQ मात्रा का उत्पादन



चित्र स॰ 94

करने से सीमान्त लागत, सीमान्त आय के बराबर होती है (MC = MR) । ATC कुल उत्पादन लागत वक्र है, MC सीमान्त लागत वक्र है तथा MR सीमान्त आय रेखा है । OQBA कुल उत्पादन लागत तथा ABCP लाभ की मात्रा को प्रदर्शित करते हैं (चित्र A) ।

चित्र स॰ 94 [B] मे OQ मात्रा का उत्पादन करने से हानि की मात्रा न्यूनतम होती है । इस स्थिति मे भी सीमान्त लागत सीमान्त आय के बराबर है (MC = MR) । OQCA कुल उत्पादन लागत तथा PBCA हानि की मात्रा को व्यक्त करते है । अतः यह स्पष्ट है कि अधिकतम लाभ या न्यूनतम हानि उस समय होती है जबकि सीमात लागत सीमान्त आय के बराबर हो । चित्र से स्पष्ट है कि इस स्थिति के अतिरिक्त हम कोई भी अन्य स्थिति ले लें, उत्पादक को अधिकतम लाभ या न्यूनतम हानि नही प्राप्त होगी । अन्य स्थितियो मे या तो उसका लाभ कम हो जाएगा, या हानि बढ जाएगी ।

उपरोक्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि अल्पकाल मे पूर्ण प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत, उत्पादन की जिस मात्रा पर सीमान्त लागत तथा सीमान्त आय बराबर होगी, उत्पादन की वह मात्रा फर्म के लिए साम्य उत्पादन (Equilibrium output) होगी तथा ऐसी दशा मे फर्म साम्य अवस्था मे होगी, क्योंकि फर्म की साम्य-अवस्था का अर्थ उस अवस्था से है, जिसमे फर्म लाभ की अधिकतम मात्रा

को कायम रख सके। यदि इस मात्रा से कम या अधिक उत्पादन किया जाता है तो फर्म का लाभ कम हो जाएगा या हानि की मात्रा बढ़ जाएगी।

अल्पकाल मे, पूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत, फर्म की साम्य अवस्था को सूत्र रूप में निम्नलिखित रूप मे प्रकट कर सकते हैं। फर्म साम्य-अवस्था म उस समय होगी जब कि कीमत या औसत आय=सीमान्त लागत=सीमान्त आय

$$P \text{ or } AR = MC = MR$$

यह वह अवस्था होगी जिसमे फर्म का लाभ अनुकूलतम होगा।

क्या फर्म हानि उठाकर भी उत्पादन जारी रख सकती है ?

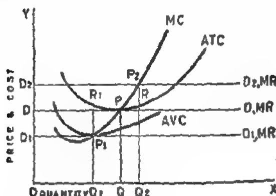
(Can a firm continue to produce even at a loss ?)

फर्म की साम्य अवस्था के उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि फर्म साम्य अवस्था मे उस समय होगी, जबकि सीमान्त लागत सीमान्त आय के बराबर होगी, परन्तु सीमान्त आय तथा सीमान्त लागत के बराबर होने पर फर्म को हानि भी सहन करनी पड़ सकती है। प्रश्न है—क्या फर्म हानि सहन करके भी उत्पादन जारी रख सकती है ? यदि फर्म को हानि हो रही है तो फर्म को यह निर्णय लेना पड़ेगा कि उत्पादन जारी रखा जाए या बन्द कर दिया जाए। हम यह जानते है कि फर्म की कुल लागत मे निश्चित लागत (Fixed Costs) तथा परिवर्तनशील लागत (Variable Costs) सम्मिलित होती है। सामान्यतया फर्म के कुल औसत उत्पादन व्यय के बराबर कीमत प्राप्त होनी चाहिए, परन्तु अल्पकाल मे उत्पादक कुल उत्पादन व्यय से कम कीमत प्राप्त करने पर भी उत्पादन जारी रखेगा, क्योंकि उत्पादक यह जानता है कि उत्पादन बन्द कर देने पर भी उसे निश्चित लागत का भार सहन करना पड़ेगा। अतः अल्पकाल मे यदि उत्पादक को केवल परिवर्तनशील लागत के बराबर भी कीमत प्राप्त हो जाती है तो वह उत्पादन जारी रखेगा। यदि उसे परिवर्तनशील लागत के बराबर भी कीमत नही मिलती तो वह उत्पादन बन्द कर देगा।

अत अल्पकाल मे उत्पादन जारी रखने के लिए यह आवश्यक है कि फर्म को कम से कम कुल औसत परिवर्तनशील लागत के बराबर कीमत प्राप्त हो। इस तथ्य का स्पष्टीकरण चित्र स० 95 मे किया गया है :

चित्र मे OX अक्ष पर उत्पादन तथा OY अक्ष पर कीमत प्रदर्शित की गई है। ATC, AVC तथा MC क्रमश 'कुल औसत उत्पादन लागत', औसत परिवर्तन लागत' तथा 'सीमान्त लागत वक्र' है। D_1D_1, D_2D_2 तथा DD माग रेखाएँ है जो माग की विभिन्न अवस्थाओ को प्रकट करती है। P_1 बिन्दु पर MC तथा AVC एक दूसरे को काटती है। उत्पादक को उत्पादन जारी रखने के लिए यह आवश्यक है कि उसे कम से कम Q_1P_1 प्रति इकाई कीमत प्राप्त हो। यदि कीमत इससे कम है तो वह उत्पादन बन्द कर देगा, क्योंकि उसे परिवर्तनशील लागत के बराबर भी

कीमत प्राप्त नहीं हो रही है। यदि माग बढ़कर DD हो जाती है तो कीमत QP हो जाएगी। इस कीमत पर 'सीमान्त आय' 'सीमान्त लागत' के बराबर है। इस कीमत पर उत्पादक OQ माना का उत्पादन करेगा। यदि माग बढ़कर D_2D_2 हो जाती है तो ऐसी अवस्था म MC, D_2D_2 को P_2 विन्दु पर काटती है तथा उत्पादन



चित्र स० 95

की मात्रा OQ_2 हो जाती है। ऐसी अवस्था मे उत्पादक को P_2R के बराबर अधिक लाभ प्राप्त होगा। अधिक लाभ की अवस्था मे नई फर्में प्रवेश करेंगी तथा पूर्ति मे वृद्धि होगी। इस प्रकार लाभ की मात्रा कम हो जाएगी तथा कीमत PQ के बराबर हो जाएगी, क्योंकि इस बिन्दु पर उत्पादन करने से न तो हानि होगी न लाभ।

अब स्पष्ट है कि उत्पादक P_1Q_1 से कम कीमत प्राप्त करने पर उत्पादन नहीं करेगा, परन्तु यदि उत्पादक का अनुमान है कि माग मे कमी अल्पकालीन है तथा भविष्य मे माग बढ़ेगी तो वह Q_1P_1 कीमत पर भी उत्पादन जारी रखेगा क्योंकि उसे औसत परिवर्तनशील लागत के बराबर कीमत प्राप्त हो रही है। सामान्यत यदि उत्पादक को औसत परिवर्तनशील लागत तथा निश्चित लागत का कुछ भाग प्राप्त हो जाता है तो वह उत्पादन जारी रखेगा। इतना ही नहीं बल्कि यदि उसे कुछ समय के लिए केवल औसत परिवर्तनशील लागत के बराबर भी कीमत प्राप्त हो जाती है तो भी वह उत्पादन जारी रखेगा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अल्पकाल मे यदि उत्पादक को केवल औसत परिवर्तनशील लागत (AVC) के बराबर भी कीमत प्राप्त हो जाती है तथा भविष्य मे यदि माग बढ़ने की सम्भावना है तो भी वह उत्पादन जारी रखेगा अर्थात् वह ATC-AVC के बराबर अल्पकाल मे हानि सहन कर सकता है। इससे अधिक हानि होने पर वह उत्पादन बन्द कर देगा। (यह याद रखना चाहिए कि AVC के ऊपर MC वक्र का जो भाग पड़ता

है, वह फर्म का अल्पकालीन पूर्ति वक्र भी है। AVC के नीचे किसी भी बिन्दु पर पूर्ति शून्य होगी। माग रेखा फर्म की सीमान्त आय रेखा भी है।)

(ii) उद्योग की साम्यावस्था (Industry equilibrium)

फर्मों के समूह को 'उद्योग' कहते है। अब तक हमने अल्पकाल मे फर्म की साम्यावस्था का वर्णन किया है। परन्तु अब देखना है कि अल्पकाल मे उद्योग की सन्तुलन स्थिति क्या होगी ? तथा अल्पकाल मे मूल्य किस प्रकार निर्धारित किया जाएगा ? यहा पर यह याद रखना चाहिए कि कीमत का सम्बन्ध सम्पूर्ण उद्योग से है किसी फर्म विशेष से नहीं। अत कीमत का निर्धारण सम्पूर्ण उद्योग की माग तथा पूर्ति से किया जाता है। चूंकि उद्योग की परिस्थितिया उद्योग से सम्बन्धित फर्मों की कुल परिस्थितियो की प्रतीक होती हैं, तथा फर्मों को ही कीमत, आय के रूप मे प्राप्त होती है, अत साथ ही साथ फर्म (प्रतिनिधि के रूप में) का भी जिक्र किया जाएगा। उद्योग का मूल्य निर्धारण माग तथा पूर्ति के सामान्य नियमो पर ही आधारित है।

(1) उद्योग का माग वक्र या अल्पकाल म वस्तु का माग वक्र (Short run *Demand Curve of the Industry*) किसी वस्तु की माग (सम्पूर्ण उद्योग के लिए) उपभोक्ताओ की व्यक्तिगत माग का योग होती है। माग वक्र यह प्रदर्शित करता है कि विभिन्न मूल्यो पर उपभोक्ता किसी वस्तु की कितनी मात्रा खरीदना चाहेगे। अत सभी उपभोक्ताओ की मागो का योग उद्योग की वस्तु के लिए 'माग' को प्रकट करेगा।

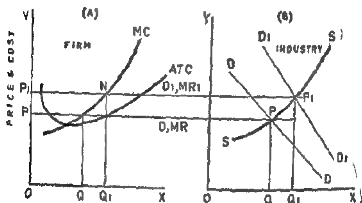
(2) उद्योग का अल्पकाल मे पूर्ति वक्र (Short Run Supply Curve of the Industry) उद्योग का पूर्ति वक्र सभी फर्मों के पूर्ति वक्रों का योग है। यह अल्पकालीन पूर्ति वक्र यह प्रदर्शित करता है कि विभिन्न कीमतो पर एक उद्योग की समस्त फर्म कुल कितनी मात्रा बेचने को प्रस्तुत है।

(3) उद्योग की साम्यावस्था (Industry Equilibrium) उद्योग के माग तथा पूर्ति वक्र जिस बिन्दु पर एक दूसरे को काटगे, उसी बिन्दु पर अल्पकालीन मूल्य निर्धारित होगा। इसका स्पष्टीकरण चित्र स० 96 म किया गया है

चित्र मे अल्पकाल म मूल्य निर्धारण फर्म (केवल एक फर्म प्रतिनिधि के रूप मे) तथा उद्योग का उत्पादन निधारण प्रदर्शित किया गया है। MC तथा ATC वक्र क्रमश सीमान्त लागत तथा कुल औसत लागत वक्र है। SS उद्योग पूर्ति वक्र' (सभी फर्मो का पूर्ति का योग) है प्रत्येक फर्म लाभ की मात्रा को अधिकतम करने के लिए सीमान्त लागत तथा सीमान्त आय को समान रक्खेगी। DD उद्योग माग वक्र है। DD तथा SS एक दूसरे का P बिन्दु पर काटते हैं। अत PQ अल्प कालीन मूल्य होगा तथा उद्योग द्वारा OQ मात्रा बेची जाएगी (फर्मों के उत्पादन

का योग) । चित्र से स्पष्ट है कि P ऐसा बिन्दु है जहा पर उद्योग सन्तुलन की स्थिति मे है । इसी बिन्दु पर फर्म का माग-वक्र तथा सीमान्त आय वक्र क्षैतिज (Horizontal) होगा ।

यदि माग बढकर D_1D_1 हो जाती है तो कीमत बढकर OP_1 (या $P_1 Q_1$) हो जाएगी अर्थात् अल्पकालीन साम्य कीमत तथा उत्पादन बढ जाएँगे । इस मूल्य पर फर्म का माग-वक्र तथा सीमात आय-वक्र D_1 MR_1 हो जाएँगे । प्रत्येक फर्म लाभ को अधिकतम करने के लिए सीमात लागत सीमात आय को बराबर रखने का



चित्र स० 96

प्रदान करेगी । चित्र मे स्पष्ट है कि N बिन्दु पर फर्म की सीमात लागत सीमात आय के बराबर है तथा यह बिन्दु P_1 बिन्दु के बिलकुल सीध मे है । इस कीमत पर फर्म (प्रतिनिधि फर्म) का उत्पादन OQ_1 तथा उद्योग की पूर्ति OQ_1 होगी ।

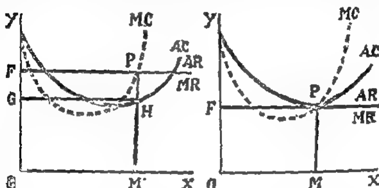
4 दीर्घकाल मे उत्पादन तथा मूल्य निर्धारण
(Determination of Output and Price in the Long Run)

दीर्घकाल म 'निश्चित लागत' तथा 'परिवर्तनशील लागत' का भेद समाप्त हो जाता है । दीर्घकाल मे सभी लागतें 'परिवर्तनशील लागतें' हो जाती हैं साथ ही साथ फर्म के आकार तथा उत्पादन पैमाने मे भी परिवर्तन किया जा सकता है। उद्योग मे फर्मों की सख्या मे भी परिवर्तन हो सकता है । माग मे परिवर्तन के अनुरूप पूर्ति मे भी कमी या वृद्धि की जा सकती है ।

(1) फर्म की साम्यावस्था (Firm's Equilibrium)

हम यह जानते है कि अल्पावधि मे यदि फर्म को परिवर्तनशील लागत (Variable Cost) के बराबर कीमत प्राप्त हो जाती है तो फर्म सामान्यत उत्पादन बन्द नही करती है। दीर्घकाल मे निश्चित लागत तथा परिवर्तनशील लागत का भेद

OM उत्पादन की मात्रा तथा MP कीमत को व्यक्त करते हैं। प्रथम अवस्था में फर्म साम्य की अवस्था में नहीं है, क्योंकि उसे GHPF के बराबर असामान्य Abnormal Profit प्राप्त हो रहा है। द्वितीय अवस्था में फर्म साम्यावस्था में है, क्योंकि कीमत, सीमांत आय, औसत आय, सीमांत लागत तथा औसत लागत सभी बराबर हैं। यह स्मरणीय है कि अधिलाभ अर्जित करके भी फर्म साम्यावस्था में



चित्र सं० 97

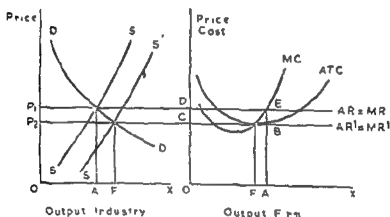
होगी जैसाकि प्रथम चित्र से स्पष्ट है कि फर्म की P=MC=AC=AR=MR, परन्तु यह अवस्था अधिक समय तक नहीं रह सकती है। नई फर्मों के प्रवेश से अधिलाभ समाप्त हो जाएगा।

(ii) उद्योग की साम्यावस्था (Industry's Equilibrium) :

दीर्घकाल में पूर्ण स्पर्द्धा के अन्तर्गत, उद्योग को पूर्ण साम्य की अवस्था में उस समय कहते हैं जबकि फर्मों की संख्या में परिवर्तन की प्रवृत्ति नहीं होती है। ऐसी अवस्था में फर्मों द्वारा अर्जित लाभ सामान्य होता है।[5] यदि किसी फर्म को अधिक लाभ प्राप्त होता है तो नई फर्में उद्योग में प्रवेश करेंगी, जिससे वस्तु की पूर्ति बढ़ जाएगी और कीमत कम हो जाएगी। इस प्रकार अधिलाभ समाप्त हो जाएगा। सभी फर्में न्यूनतम उत्पादन लागत पर उत्पादन करने लगेंगी तथा कीमत उत्पादन-लागत के बराबर होगी। उद्योग के दीर्घकालीन साम्यावस्था में होने के लिए यह आवश्यक है कि सभी फर्में न्यूनतम लागत पर उत्पादन करेंगी, तथा उनका आकार अनुकूलतम होगा। जो फर्म अकुशल होगी उसे उद्योग छोड़ देना पड़ेगा। अतः दीर्घ काल में उद्योग के साम्यावस्था में होने के लिए उन्हीं शर्तों का पाया जाना आव-

[5] "An industry is said to be in full equilibrium when there is no tendency for the number of firms to alter. The profits earned by the firms in it are then normal." Ibid p 93

श्यक है, जो कि फर्म के लिए आवश्यक है। अन्तर केवल इतना ही है कि उद्योग के दीर्घकालीन सतुलन के लिए, उसकी सभी फर्मों का दीर्घकालीन सतुलन की स्थिति मे होना आवश्यक है, जबकि इसकी विपरीत दशा सही नही है। एक फर्म लाभ अर्जित करते हुए भी दीर्घकालीन साम्यावस्था मे हो सकती है, परन्तु इस अवस्था मे उद्योग सतुलन की स्थिति मे नही होगा। उद्योग के सतुलन की स्थिति मे होने के लिए यह आवश्यक है कि सभी फर्म व्यक्तिगत रूप से साम्यावस्था मे हो तथा उन्हे न लाभ हो रहा हो और न हानि, अर्थात् सभी फर्मों के लिए कीमत औसत लागत के बराबर हो।[6]



चित्र सख्या 99

फर्म तथा उद्योग की दीर्घकालीन साम्यावस्था से सम्बन्धित समायोजन चित्र स० 99 मे प्रदर्शित की गई है। अल्पकालीन कीमत=AR=MR (चित्र के दाहिने भाग मे) जो OP_1 के बराबर है। फर्म का उत्पादन OA है। OA उत्पादन पर सीमान्त लागत तथा सीमान्त आय समान है। AB इस उत्पादन की लागत है तथा AE इस उत्पादन का आगम (Revenue) है। BE शुद्ध लाभ की मात्रा को प्रकट करता है।

लाभ के कारण अन्य फर्मों का प्रवेश होगा। अत: पूर्ति-रेखा (उद्योग की) खिसककर S'S' हो जाएगी अर्थात् पूर्ति बढ जाएगी तथा बाजार-मूल्य OP_1 से घट

[6] "An individual firm could be in long run equilibrium while making profits. But in this case the industry would not be in equilibrium The existence of long-run industry equilibrium requires long run individual firm equilibrium at a no profit no loss level of operation." *Leftwich R. H*, op. cit. p. 173.

कर OP_2 हो जाएगा । इस कीमत पर फर्म का औसत-आगम तथा सीमांत-आगम वक्र, औसत लागत वक्र पर (Tangent) होगा और फर्म का उत्पादन अनुकूलतम (Optimum) होगा । यह अवस्था साम्य की अवस्था होगी ।

('पूर्ण स्पर्धा की अवस्था मे अल्पकाल व दीर्घकाल में मूल्य निर्धारण' के अध्ययन हेतु आनर्स के विद्यार्थी इसी अध्याय को पढ़ें ।)

प्रश्न व संकेत

1. पूर्ण प्रतियोगिता मे एक फर्म का उत्पादन कैसे निर्धारित होता है ?
(Luck, II A I., 1962)

[संकेत—पहले 'पूर्ण प्रतियोगिता' का आशय समझाइये तथा फिर (i) कुल आगम व कुल लागत रेखाओं एव (ii) सीमान्त और औसत रेखाओं की रीतियों द्वारा साम्य-स्थिति की व्याख्या करिये ।]

2 एक उपयुक्त चित्र की सहायता से स्पष्ट कीजिये कि वस्तु की कीमत सीमान्त लागत और औसत लागत के समान होती है ।
(Alld. B. Com , I, 1964)

[संकेत – प्रथम भाग मे संक्षेप मे पूर्ण प्रतियोगिता को समझाइये । तत्पश्चात् चित्र की सहायता से सीमात और औसत लागत रेखाओं द्वारा सिद्ध कीजिये कि कीमत सीमान्त लागत तथा औसत लागत के बराबर (P=AC=MC) होती है ।]

3 पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्थाओं (conditions) की व्याख्या करिये । इसके अन्तर्गत मूल्य-निर्धारण को समझाइये । (Raj. II A., 1964)

[संकेत—प्रथम भाग मे पूर्ण प्रतियोगिता के लक्षणों को समझाइये । दूसरे भाग के अन्तर्गत संक्षेप मे दोनो विधियो—कुल आगम व कुल लागत विधि तथा सीमात व औसत रेखा विधि की सहायता से मूल्य निर्धारण को स्पष्ट करिये । उत्तर मे यथा आवश्यक चित्र भी दीजिये ।]

4. पूर्ण प्रतियोगिता की मुख्य विशेषतायें बताइये । पूर्ण प्रतियोगिता मे फर्म का साम्य किस प्रकार स्थापित होगा ? (Delhi, B Com , 1956)

[संकेत – प्रथम भाग मे पूर्ण प्रतियोगिता की परिभाषा देकर उसके लक्षणों को बताइये और दूसरे भाग मे रेखा चित्रो द्वारा फर्म के साम्य की विवेचना करिये । प्रश्न व संकेत सं० 3 भी देखिये ।]

समस्यायें (Problems)

1 कृषि वस्तुओं का उत्पादन अनियमित प्रकृति का होता है । चूंकि कृषि वस्तुओं की उत्पत्ति प्रतिस्पर्धी दशाओं मे (under competitive conditions) होती

है अतः यह आशा की जाती है फसल के समय कृषि पदार्थों की अधिकतम पूर्ति होने के कारण उनके मूल्य न्यूनतम होने की आशा (expectation) की जाती है। यह विचार सामान्यतया सही क्यों नहीं उतरता ?

2 पूर्ण प्रतिस्पर्धा मे एक फर्म सीमान्त लागत वक्र के बढते हुए भाग पर ही उत्पादन क्यो करती है, गिरते हुए भाग पर क्यो नही ?

3 एक फर्म के लिए सीमांत लागत कीमत का निर्धारण करती है अथवा कीमत से *सीमांत लागत निर्धारित होती है ?*

4 कल्पना कीजिये कि एक प्रतिस्पर्धी उद्योग को उसकी फर्मों द्वारा उत्पादित प्रत्येक इकाई के भुगतान के लिए स्थायी सहायता (permanent subsidy) दी जाती है। एक रेखाचित्र खीचकर बताइये कि मूल्य (कीमत) पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा।

5 नीचे एक फर्म के सम्बन्ध मे ये सूचनायें उपलब्ध हैं—

उत्पाद	0	1	2	3	4	5	6	7	8	9
कुल आगम (रु०)	—	50	100	150	200	250	300	350	400	450
कुल लागत (रु०)	110	140	162	175	180	185	194	219	260	325

(i) क्या फर्म पूर्ण प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत उत्पादन कर रही है ?

(ii) इसकी सीमात आगम (M.R.) क्या है ?

(iii) इसकी स्थिर लागतें (F.C.) क्या है ?

(iv) सीमान्त लागतो की सभी उत्पादन स्तरो पर गणना कीजिये।

(v) दीर्घकाल मे फर्म कितना उत्पादन करेगी ?

(vi) इसके लाभ क्या हैं ?

(vii) वह न्यूनतम कीमत क्या है जिस पर फर्म अल्पकाल तथा दीर्घकाल मे अपनी उत्पत्ति बेच सकती है ?

6 नीचे एक फर्म के सम्बन्ध मे ये सूचनायें दी गई हैं—

उत्पादन (इकाइयां)	सीमांत लागत (रु०)
1	6
2	5
3	[illegible]
4	5
5	8
6	12
7	[illegible]

फर्म अधिकतम लाभ चाहती है तो बताइये वह कितनी मात्रा उत्पन्न करे यदि विक्रय मूल्य 4 रु०, 5 रु० व 18 रु० प्रति इकाई हो ?

30

कीमत निर्धारण में समय-तत्व
(Time Element in Price Determination)

"As a general rule, the shorter the period which we are considering the greater must be the share of our attention which is given to the influence of demand on value, and the longer the period the more of production on value"

—Marshall

कीमत निर्धारण में समय का बड़ा महत्व है। सर्वप्रथम मार्शल ने 'समय तत्व' पर ध्यान आकर्षित किया। किसी वस्तु का मूल्य निर्धारण माग तथा पूर्ति के सम्मिलित प्रभाव से किया जाता है। परन्तु समय के अनुसार माग तथा पूर्ति की दशाओं में परिवर्तन होता रहता है, अतः कीमत निर्धारण में भी अन्तर पाया जाता है। कीमत पर माग व पूर्ति के सापेक्षिक प्रभाव का अध्ययन समय के ही सन्दर्भ में किया जा सकता है। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि समय जितना ही कम होगा, कीमत पर माँग का प्रभाव उतना ही अधिक होगा तथा समय जितना ही अधिक होगा, कीमत पर पूर्ति का प्रभाव उतना ही अधिक होगा।

मार्शल ने समय या अवधि को चार भागों में बाटा है :

1 अति अल्पकालीन अवधि (**Very Short Period**) : यह अवधि अत्यन्त ही अल्प समय के लिए होती है- कुछ घण्टे, एक दिन या एक सप्ताह। इसमें पूर्ति निश्चित (Fixed) होती है। इसे बाजार अवधि (Market period) भी कहते हैं। बाजार मूल्य, माग तथा पूर्ति के सतुलन द्वारा निर्धारित किया जाता है। पूर्ति में वृद्धि नहीं की जा सकती है, अतः मूल्य निर्धारण में माग का प्रमुख हाथ रहता है।

2. अल्पावधि (Short Period) : अल्पावधि में पूर्ति में वृद्धि, उद्योग की वर्तमान उत्पादन क्षमता का ही उपयोग कर की जा सकती है। इस अवधि में प्लाट के उत्पादन मान (Scale of Plant) में परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। इस

अवधि मे पूर्ति ■ कुछ वद्धि की जा सकती है, अत अति अल्पकालीन समय की अपेक्षा इस अवधि मे पूर्ति का अधिक प्रभाव पडता है। फर्मों की संख्या अपरिवर्तित रहती है। सामान्यतया कीमत उत्पादन लागत के बराबर होती है पर तु भविष्य की आशा मे यदि उत्पादन को परिवर्तनशील लागत तथा निश्चित लागत के कुछ भाग के बराबर भी कीमत प्राप्त हो जाती है तो वह उत्पादन जारी रखगा। इस अवधि से सम्बधित सतुलन मूल्य को **अल्पकालीन सामान्य मूल्य** (Short Run Normal Price) कहते है।

3 **दीर्घावधि (Long Period)** दीर्घावधि उस अवधि को कहते है जिसमे फर्मों के आकार तथा उद्योगो मे फर्मों की संख्या मे परिवतन हो सकता है। यह अवधि इतनी लम्बी होती है कि इसमे निश्चित साधनो (Fixed Factors) म भी परिवतन किया जा सकता है। इस अवधि मे पूर्ति का प्रभाव अधिक पडता है। इस अवधि स सम्बन्धित कीमत को सामा य मूल्य या दीघकालीन साम य मूल्य (Normal Price or Long Run Normal Price) कहते हैं। दीर्घावधि मे कीमत अनुकूलतम फम की औसत उत्पादन लागत क बराबर होती है।

4 **अति दीर्घावधि (Very Long Period)** यह अवधि इतनी लम्बी होती है कि इसमे उत्पादन के साधनो के उत्पादक साधनो (Factors of production) मे भी परिवतन हो जाता है। पूजीगत उपकरण (Capital equipment) की लागत मे कमी या वृद्धि के कारण पूर्ति वक्र का रूप बदल जाता है। माग म भी आदत या रुचि म परिवतन के कारण परिवतन हो जाता है। इतने महत्वपूर्ण परिवतनो के कारण मूल्य मे जो परिवतन होते हैं, मार्शल ने उ हे Secular changes in value कहा है।

उपयुक्त चार प्रकार की अवधि मे से कीमत निर्धारण म प्रथम तीन का महत्व है। आजकल चौथी अवधि को कोई महत्व नही दिया जाता है। यह याद रखना चाहिये कि य समय घडी (Clock) पर आधारित नहीं है बल्कि ये Operational Time ह। अर्थात माग मे परिवतन के अनुसार पूर्ति मे परिवतन करने से सम्बधित हैं। (निश्चित साधनो म समायोजन द्वारा) (The time required to alter supply by adjusting the fixed equipment to the conditions of demand)। स क्षेप मे कहा जा सकता है —

1 अति अल्पकाल या बाजार काल म पूर्ति निश्चित होती है।

2 अल्पकाल मे पूर्ति मे परिवतन, वतमान उत्पादन क्षमता की सीमा तक किया जा सकता है। फर्मों की संख्या अपरिवर्तित रहती है।

3 दीर्घावधि मे उत्पादन साधनो तथा उत्पादन मशीन म परिवतन कर पूर्ति म आवश्यक समायोजन किया जा सकता ह। फर्मों की संख्या भी बदल सकती है।

पिछले पृष्ठों में उन तत्वों (concepts) पर प्रकाश डाला गया है जिनके द्वारा मूल्य-विश्लेषण (price analysis) में सहायता मिलती है। यहा पर हम विभिन्न अवधि (different time periods) के संदर्भ में पूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण पर विचार करेंगे। पूर्ण स्पर्धा की परिभाषा पहले ही दी जा चुकी है तथा उसकी विशेषताओं का भी उल्लेख किया जा चुका है। यहा पर यह बतला देना आवश्यक है कि पूर्ण स्पर्धा में मूल्य निर्धारण पूरे उद्योग के द्वारा किया जाता है, किसी फर्म विशेष द्वारा नहीं। पूर्ण स्पर्धा में कीमत (Price) सभी क्रेताओं तथा विक्रेताओं की सम्मिलित माग और पूर्ति का परिणाम होती है। किसी एक फर्म का प्रभाव कीमत पर नहीं पड़ता।

कीमत का निर्धारण माग तथा पूर्ति पर निर्भर है तथा पूर्ति समय के अनुसार बदलती रहती है, क्योंकि फर्मों को अपनी प्रबन्ध व्यवस्था, उत्पादन के पैमाने तथा उत्पादन के ढग में समयानुसार परिवर्तन करने पड़ते हैं। पूर्ति में समायोजन (adjustment) करने के दृष्टिकोण से समय तीन प्रकार के हो सकते हैं : (i) बाजार समय (Market Period) (ii) अल्पकाल (Short Period) तथा (iii) दीर्घकाल (Long Period)।

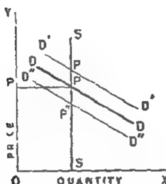
चूंकि पूर्ति पर प्रभाव डालने वाले कारण विभिन्न समयों में अलग-अलग होते हैं, इसलिये यह आवश्यक है कि कीमत निर्धारण का अध्ययन इन तीनों समयों में अलग अलग किया जाए।

1 बाजार मूल्य (Market Price)

किसी वस्तु का बाजार मूल्य वह मूल्य है जो बाजार में अल्प समय के लिए (एक दिन या एक सप्ताह) बाजार में पाया जाता है। बाजार समय उस अल्प समय को कहते हैं जिसके अन्दर उत्पादन की दर में परिवर्तन नहीं किया जा सकता तथा जिसमें विक्रेता के पास वस्तुओं का निश्चित स्टॉक (Fixed Stock) रहता है। इसमें समय इतना कम रहता है कि अतिरिक्त इकाइयों का उत्पादन नहीं किया जा सकता। इस प्रकार वर्तमान स्टॉक में से ही बिक्री की जाती है। वस्तु की पूर्ति उसके स्टॉक तक ही सीमित रहती है। वस्तु की माग अधिक हो जाने पर कम समय होने के कारण उसकी पूर्ति में वृद्धि नहीं की जा सकती तथा माग कम हो जाने पर उसकी पूर्ति में कमी भी नहीं की जा सकती। बाजार समय को स्पष्ट करना कठिन है। उदाहरण के लिए उद्योग सम्बन्धी वस्तुओं के लिए जिनकी पूर्ति, उत्पादन लगातार होने से, शीघ्रता से बढ़ाई जा सकती है, बाजार समय बहुत कम होता है। यह कुछ दिनों का या कुछ घण्टों का भी हो सकता है परन्तु कृषि-सम्बन्धी वस्तुओं के लिये बाजार समय कुछ महीनों का हो सकता है।

'बाजार-काल' को 'अति अल्पकाल' (Very Short Period) या 'तात्कालिक समय' (Immediate Period) भी कहते। यह अवधि इतनी कम होती है कि

उत्पादन की दर मे परिवर्तन नही किया जा सकता है। माग बढने पर, केवल वर्तमान स्टॉक से ही पूर्ति स्थिर या निश्चित (Fixed) होती है। कीमत मुख्यत माग द्वारा निर्धारित होती है। माग अधिक होने पर कीमत ऊँची उठती है तथा माग कम होने पर कीमत कीमत नीचे गिरती है। इस तथ्य को चित्र सख्या 100 द्वारा प्रदर्शित किया गया है। SS पूर्ति रखा है, जो एक खडी रेखा के रूप (Vertical) मे है, जो इस बात का सूचक है कि पूर्ति स्थिर है। DD माग रेखा है जो पूर्ति रेखा को बिन्दु P



चित्र सख्या 100

पर काटती है अत मूल्य PS होगा। यदि माग बढकर D'D' हो जाए तो कीमत SP' होगी तथा यदि माँग घटकर D"D" हो जाए तो कीमत घटकर P"S हो जाएगी। इससे यह स्पष्ट है कि अति-अल्पकाल मे, कीमत माग द्वारा निर्धारित होती है, पूर्ति का प्रभाव अपेक्षाकृत बहुत कम पडता है। माग मे परिवर्तन के अनुसार कीमत बदलती रहती है। इस मूल्य को बाजार-मूल्य या अति अल्पकालीन साम्य मूल्य (Very Short Period equilibrium-Price) कहते हैं।

2. अल्पकालीन सामान्य-मूल्य
(Short Run Nomral Price)

अल्पकालीन सामान्य-मूल्य उस मूल्य को कहते हैं जिसका सम्बन्ध अल्पकाल से होता है। हम यह जानते हैं कि अल्पकाल उस अवधि को कहते हैं जिसमे फर्में माग मे वृद्धि के कारण पूर्ति मे वृद्धि केवल अपने वर्तमान साधनो का अधिक उपयोग करके कर सकती हैं। फर्मों की सख्या मे परिवर्तन नही किया जा सकता। फर्मों को उतना ही समय मिलता है जिसमे बढी हुई माग की पूर्ति वर्तमान प्लाट मशीनरी आदि की उत्पादन-क्षमता का अधिकाधिक उपयोग कर सकें। इस प्रकार अल्पकाल मे उत्पादक, पूर्ति की मात्रा मे कुछ सीमा तक समायोजन कर सकते हैं।

अतः अल्पकाल में माग परिवर्तन के कारण पूर्ति में कुछ सीमा तक परिवर्तन किया जा सकता है। अल्पकाल में माग में वृद्धि का अर्थ है, पूर्ति में भी कुछ सीमा तक वृद्धि का पाया जाना। इसी प्रकार माँग घटने का अर्थ है, पूर्ति की मात्रा में भी कमी करना। परन्तु अल्पकाल में माग के साथ पूर्ति का पूर्ण समायोजन सम्भव नही होता है। यदि माग में अधिक वृद्धि हो जाए, तो पूर्ति में अधिक वृद्धि नही की जा सकती है, अतः मूल्य ऊँचा उठेगा तथा उत्पादकों को अधिक लाभ प्राप्त होगा। यदि माग में कमी होती है तो कीमत नीचे गिरेगी, अतः उत्पादकों को हानि उठानी पड़ेगी। परन्तु लाभ व हानि की मात्रा उतनी अधिक नही हो सकती है, जितनी कि 'बाजार अवधि' में सम्भव होती है।

अल्प काल में भी उत्पादक इस बात का प्रयत्न करता है कि कीमत सीमान्त लागत के बराबर हो। परन्तु यदि उसे केवल परिवर्तनशील लागत (variable costs) के बराबर भी कीमत प्राप्त होती है तो भी वह उत्पादन जारी रखेगा, क्योंकि उत्पादन बन्द कर देने पर भी उसे 'निश्चित लागत' (fixed costs) वहन करनी पड़ेगी। (मार्शल ने variable cost को prime cost तथा fixed cost को supplementary cost कहा है।)

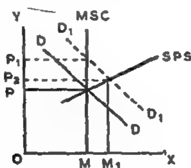
अल्पकाल में भी मूल्य निर्धारण बाजार-काल की भांति माग तथा पूर्ति के साम्य द्वारा निर्धारित होता है। अर्थात जिस कीमत पर वस्तु की माग तथा पूर्ति बराबर होती है वही कीमत निर्धारण होता।

(क) वस्तु की माग : कीमत अधिकाश अर्थों में वस्तु की माग पर निर्भर करेगी। यदि माग में वृद्धि होती है तो कीमत बढ़ेगी, यदि माग में कमी होती है तो कीमत घटेगी।

(ख) वस्तु की पूर्ति : उत्पादक इस बात की चेष्टा करता है कि उसे सीमान्त लागत के बराबर कीमत प्राप्त हो। अतः अल्पकाल में पूर्ति वक्र का स्वरूप फर्म के सीमान्त लागत वक्र की भांति होगा (उद्योग का पूर्ति-वक्र फर्मों के पूर्ति-वक्रों का योग होगा)। अल्पकाल में पूर्ति वक्र की स्थिति निश्चित होगी, क्योंकि परिवर्तन उसी वक्र पर ऊपर या नीचे की ओर होंगे (अर्थात् पूर्ति की तालिका को परिवर्तित नहीं किया जा सकता है) अर्थात पूर्ति वक्र स्थान परिवर्तन नहीं कर सकता (There can't be shifts in supply curve)। परन्तु यदि परिवर्तनशील साधन में भी परिवर्तन होता है और परिवर्तनशील साधनों में परिवर्तन कर, वर्तमान मशीन आदि का अधिक उपयोग कर उत्पादन में वृद्धि की जाती है तो फर्मों की सीमान्त लागत में परिवर्तन हो जाएगा, ऐसी परिस्थिति में दूसरा पूर्ति वक्र बनाना पड़ेगा। अल्पकाल में, बाजार काल की भांति पूर्ति पूर्ण स्थिर नहीं होती है। वर्तमान साधनों

का अधिक उपयोग कर पूर्ति की मात्रा मे वृद्धि की जा सकती है। वर्तमान उत्पादन क्षमता तक पूर्ति की मात्रा मे वृद्धि की जा सकती है। वस्तु के मूल्य-निर्धारण मे, पूर्ति की अपेक्षा माग का अधिक प्रभाव पडेगा।

(ग) मूल्य निर्धारण : अल्पकालीन सामान्य-मूल्य-निर्धारण का स्पष्टीकरण चित्र सख्या 101 मे होता है। चित्र मे MSC बाजार-पूर्ति-रेखा (Market Supply Curve) है। (यह मान लिया गया है कि पूर्ति पूर्ण स्थिर है तथा सम्पूर्ण स्टॉक वर्तमान मूल्य पर बेचने के लिए प्रस्तुत है)। DD माग वक्र है बाजार-मूल्य OP है। वस्तु की माग मे वृद्धि होने पर D_1D_1 नया माग-वक्र है। उत्पादक वर्तमान



चित्र स० 101

उत्पादन क्षमता का उपयोग कर उत्पादन मे वृद्धि करेंगे जिससे बढी हुई माग की पूर्ति की जा सकेगी। पूर्ति मे परिवर्तन होगा SPS अल्पकालीन पूर्ति (Short Period Supply) वक्र है। इस प्रकार कीमत OP_2 होगी। यह याद रखना चाहिए कि यदि केवल वर्तमान स्टॉक तक ही पूर्ति सीमित है तो माग बढने के कारण बाजार मूल्य OP_1 हो जाएगा। परन्तु अल्पकाल मे वर्तमान क्षमता के उपयोग द्वारा पूर्ति मे वृद्धि की जा सकती है अतः अल्पकालीन पूर्ति-वक्र, बाजार पूर्ति वक्र के दाहिने होगा। पूर्ति मे वृद्धि होगी, अत अल्पकालीन सामान्य-मूल्य बढी हुई माग पर, बाजार-मूल्य से कम होगा (OP_1 बाजार मूल्य तथा OP_2 अल्पकालीन सामान्य मूल्य होगा।)

अल्पकालीन सामान्य मूल्य के निर्धारण मे निश्चित लागतो' पर ध्यान नही दिया जाता है। J. M Keynes ने इस धारणा को गलत सिद्ध किया है। उनका कहना है कि अल्पकालीन सीमात लागत मे 'निश्चित लागत' का भी अश वर्तमान रहता है, अर्थात् निश्चित उपकरणो (Fixed equipments) के जिस भाग का प्रयोग साहसी वर्तमान उत्पादन के लिए करता है तथा उन्हे बेकार नही पडा रहने देता, उसकी लागत को भी ध्यान मे रखना चाहिए। उन्होंने ऐसी लागत को 'प्रयोगक

लागत' (user cost) कहा है। इस प्रकार अल्पकालीन सीमात लागत मे सम्पूर्ण परिवर्तनशील लागत तथा निश्चित लागत के कुछ भाग को सम्मिलित करना चाहिए।

3. दीर्घकालीन सामान्य मूल्य (Long Run Normal Price)

1. परिभाषा : दीर्घकालीन सामान्य मूल्य उस मूल्य को कहते हैं जिसका सम्बन्ध दीर्घकाल से होता है। दीघकाल मे उत्पादक को इतना समय मिल जाता है कि वह उत्पादन साधनो तथा फर्म के आकार व उत्पादन मान मे परिवर्तन कर उत्पादन की मात्रा मे माग के अनुरूप परिवर्तन कर सकता है। दीर्घकाल मे माग तथा पूर्ति को प्रभावित करने वाले तत्वो को पूरा समय मिल जाता है। दीर्घकालीन सामान्य मूल्य वास्तविक दीर्घकालीन साम्य मूल्य होता है, क्योकि इसी मूल्य द्वारा उत्पादन तथा उपभोग का प्रवाह समायोजित होता है। बाजार-मूल्य की प्रवृत्ति सामान्य मूल्य के बराबर होने की होती है, अत. बाजार-मूल्य सामान्य मूल्य के इद-गिर्द चक्कर लगाता है। एडम स्मिथ ने सामान्य-मूल्य के लिए प्राकृतिक कीमत (Natural Price) तथा मार्शल ने Normal Price शब्दो का प्रयोग किया है। मार्शल ने इसे इस प्रकार परिभाषित किया है : "एक वस्तु की प्राकृतिक या सामान्य कीमत वह है जिसे आर्थिक शक्तिया दीर्घकाल मे लाने के लिए प्रवृत्त होती हैं। यह औसत मूल्य है जिसे आर्थिक शक्तिया लाती है, यदि जीवन की सामान्य दशाएँ, इतने लम्बे समय तक स्थैतिक हो जिसमे उनका (आर्थिक शक्तियों का) पूरा प्रभाव पड सके।"[7]

(2) दीर्घकालीन सामान्य मूल्य का निर्धारण : हम यह जानते हैं कि अल्पकालीन सामान्य मूल्य सीमात लागत द्वारा निर्धारित होता है (यदि माग की तालिका दी हुई है)। दीर्घकाल मे यदि माग बढ जाती है तो फर्म उत्पादन मान मे परिवर्तन करती है। फर्में अतिरिक्त पूंजी तथा साधन लगाकर माग के अनुरूप उत्पादन मे वृद्धि करेगी। परन्तु फर्म ऐसी अवस्था मे करेंगी जबकि औसत लागत सीमात लागत से कम है, क्योकि ऐसी दशा मे फर्मो को अधिक लाभ प्राप्त होता रहता है। एक फर्म के लाभ की मात्रा, व्यक्तिगत रूप से, उस समय अधिकतम होती है जबकि उसकी सीमात लागत तथा सीमात आय समान हो, जिस प्रकार एक फर्म के लिए साम्य उत्पादन, उत्पादन की वह मात्रा होगी जिस पर सीमात लागत, कीमत

---

[7] "Normal or natural value of a commodity is that which economic forces would tend to bring about in the long run. It is the average value which economic forces would bring about if the general conditions of life were stationary for a run of time long enough to enable them all to work out their full effects."

—*Marshall*

के बराबर हो। परन्तु सम्पूर्ण उद्योग को साम्य अवस्था मे होने के लिए यह आवश्यक है कि कीमत औसत लागत के बराबर हो। इस प्रकार दीर्घकाल मे कीमत उत्पादन-लागत के बराबर होती है। (Price in the long run is equal to cost of production)

अल्पकाल मे उत्पादक अपनी वस्तु को कुल औसत लागत से कम पर भी बेच सकता है। यदि उसे औसत प्रमुख लागत (AVC) के बराबर कीमत प्राप्त हो जाती है, तो भी अच्छे भविष्य की आशा मे वह उत्पादन जारी रक्खेगा। परन्तु दीर्घकाल में वह ऐसा नही कर सकता है। दीर्घकाल मे यह आवश्यक है कि उसे कुल औसत उत्पादन लागत के बराबर कीमत प्राप्त हो। साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि कीमत सीमात लागत के बराबर हो अतः

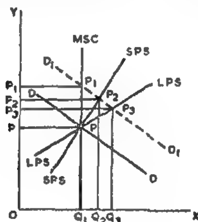
दीर्घकालीन सामान्य मूल्य=औसत लागत=सीमात लागत

इस प्रकार दीर्घकाल में उत्पादक को न तो हानि होती है, न लाभ (केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त होता है, जो उत्पादन व्यय का ही एक भाग माना जाता है) यदि फर्मे अधिक लाभ प्राप्त कर रही हैं तो अन्य उत्पादक फर्मे उस उद्योग की ओर आकर्षित होगी। इस प्रकार उत्पादन बढ़ेगा, पूर्ति बढेगी तथा वस्तु की कीमत नीचे गिरेगी। कीमत उस समय तक नीचे गिरती जाएगी, जब तक कि वह औसत लागत तथा सीमात लागत के बराबर नही हो जाती है।

यदि उत्पादक को हानि हो रही है, अर्थात् उसे औसत लागत से कम कीमत प्राप्त हो रही है, तो वह दीघकाल मे उद्योग छोड़कर अन्यत्र चला जाएगा। अत उत्पादन तथा पूर्ति—दोनो मे कमी हो जाएगी और इस प्रकार कीमत बढ जाएगी। यह प्रक्रिया उस समय तक चलती रहेगी जब तक कीमत औसत लागत तथा सीमात लागत के बराबर नही हो जाती। अत दीघकाल मे किसी वस्तु की कीमत उसकी उत्पादन-लागत के बराबर होती है।

चूंकि दीघकाल मे कीमत उत्पादन लागत के बराबर होती है, अत पूर्ण स्पर्धा के सन्दर्भ मे हम यह कह सकते हैं कि सभी फर्मो को समान रूप से कुशल होना पडेगा, अन्यथा अकुशल फर्म को उद्योग छोडना पडेगा। इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुँच सकते हैं कि सभी फर्मो की औसत लागत समान होगी। यद्यपि व्यावहारिक रूप मे सम्भव है कि कुछ फर्मों के पास दूसरो की अपेक्षा अधिक कुशल उत्पादक सेवाएँ उपलब्ध हो—जैसे अधिक कुशल प्रबन्धक, फर्म की अधिक उपयुक्त स्थान पर स्थिति आदि, परन्तु इनका प्रभाव औसत उत्पादन लागत पर नही पडेगा, क्योंकि ऐसे अधिक कुशल साधनो को उनके सामान्य पारिश्रमिक के अतिरिक्त पारिश्रमिक मिलेगा, अत सभी फर्मों की औसत लागत समान होगी।

3 रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण : दीर्घकाल मे सभी उत्पादन साधनो की सख्या मे वृद्धि कर पूर्ति बढाई जा सकती है। नई फर्मों का भी प्रवेश हो सकता है। माग के अनुसार पूर्ति मे पूर्ण समायोजन (Adjustment) किया जा सकता है। इस काल मे मूल्य माग की अपेक्षा पूर्ति से बहुत अधिक प्रभावित होता है। चित्र सख्या 102 मे DD मूल माग वक्र है। MSC बाजार पूर्ति रेखा, तथा SPS अल्पकालीन पूर्ति रेखा है। LPS दीर्घकाल पूर्ति रेखा (Long Period Supply) है, जो SPS



चित्र सख्या 102

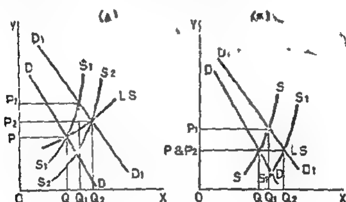
की दाहिनी ओर है और यह प्रकट करती है कि दीर्घकाल मे, अल्पकाल की अपेक्षा पूर्ति मे अधिक वृद्धि की जा सकती है। साथ ही माप उत्पादन लागत (Cost of Production) भी कम होगी। D_1D_1 बढी हुई माग रेखा LPS को P_3 बिन्दु पर काटती है। इस प्रकार OP_3 सामान्य मूल्य या दीर्घकालीन सामान्य मूल्य होगा तथा OQ_3 मात्रा बेची जाएगी। यह स्मरणीय है कि दीर्घकालीन सामान्य मूल्य (OP_3) अल्पकालीन सामान्य मूल्य (OP_2) से कम है, क्योकि दीर्घकाल मे पूर्ति बढेगी तथा सामान्यतया उत्पादन लागत घटेगी। दीर्घकालीन उत्पादन मात्रा (OQ_3) अल्पकालीन उत्पादन मात्रा (OQ_2) से अधिक होगी। चित्र से बाजार-मूल्य (OP_1) अल्पकालीन सामान्य मूल्य (OP_2) तथा सामान्य मूल्य (OP_3) का अन्तर जाना जा सकता है।

(4) माग मे परिवर्तन तथा दीर्घकालीन मूल्य : अब तक हमने माग का जिक्र नही किया। दीर्घकाल मे भी माग मे परिवर्तन होते हैं क्योकि माग पर प्रभाव डालने वाले तत्व—आय, रुचि, प्रथा आदि मे परिवर्तन होते रहते हैं। माग मे परिवतन का प्रभाव कीमत पर पडता है। यदि पूर्ति की अवस्थाए पूर्ववत हैं तो माग मे वृद्धि होने पर साम्य बिन्दु ऊपर उठेगा तथा माग मे कमी होने से साम्य बिन्दु नीचे गिरेगा।

(5) पूर्ति में परिवर्तन तथा सामान्य मूल्य (Changes in Supply and Long Run Price) दीर्घकाल में पूर्ति, माग के अनुसार समायोजित की जाती है। पूर्ति की मात्रा में परिवर्तन का अर्थ है उत्पादन मात्रा में परिवर्तन करना। चूंकि दीर्घकाल में कीमत, उत्पादन व्यय के बराबर होती है, अत यह स्वाभाविक है कि उत्पादन-व्यय में परिवर्तनों का प्रभाव कीमत पर पड़ेगा। उत्पादन व्यय में किस प्रकार या किस सीमा तक परिवर्तन होंगे, यह इस बात पर निर्भर है कि उत्पादन, लागत वृद्धि समान लागत या लागत ह्रास नियम के अनुसार किया जा रहा है।

उत्पादन के नियम तथा दीर्घकालीन सामान्य मूल्य :
(Laws of Returns and Long Run Normal Price)

(1) लागत वृद्धि नियम (Law of Increasing Costs) इसे क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम भी कहते हैं। यदि किसी वस्तु का उत्पादन लागत वृद्धि नियम के अनुसार हो रहा है तो माग कम होने पर, उत्पादन की मात्रा कम कर दी जाएगी, फलस्वरूप उत्पादन लागत कम होगी तथा मूल्य नीचे गिरेगा। माग के बढ़ने पर, उत्पादन में वृद्धि की जाएगी। इस प्रकार उत्पादन लागत बढ़ेगी तथा मूल्य ऊंचा उठेगा। चित्र स० 103 A, में इसका स्पष्टीकरण किया गया है।



चित्र स० 103

चित्र 103 A में DD माग वक्र है। S_1S_1 अल्पकालीन पूर्ति वक्र है। दोनों एक दूसरे को जहा काटते है, उसी बिन्दु पर कीमत निर्धारित होगी। इस प्रकार OP कीमत तथा OQ उत्पादन मात्रा होगी। यदि माग बढकर D_1D_1 हो जाए तो, कीमत बढकर OP_1 हो जाएगी तथा लाभ अधिकतम करने के लिए उत्पादन मात्रा OQ_1 हो जाएगी। इस प्रकार माग में वृद्धि के कारण कीमत ऊंची उठती है तथा उत्पादन की मात्रा में कुछ वृद्धि होती है। (वर्तमान साधनों का अधिक उपयोग कर)

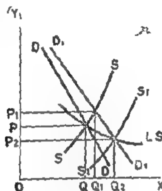
दीर्घकाल मे, लाभ देखकर अन्य फर्में उद्योग मे प्रवेश करेंगी। नई फर्मों के आने से उद्योग के उत्पादन मे वृद्धि होगी, इस प्रकार अल्पकालीन पूर्ति वक्र दाहिनी ओर हटेगी, अर्थात् पूर्ति बढेगी (S_2S_2 पूर्ति वक्र) पूर्ति के बढते हुए भी कीमत बढने का कारण यह है कि 'उद्योग लागत वृद्धि नियम' के अनुसार चलाया जा रहा है, अतः उत्पादन बढाने पर लागत बढेगी, इस प्रकार अधिक मात्रा की पूर्ति, ऊची कीमत पर ही की जा सकती है। LS दीर्घकालीन पूर्ति वक्र होगा, जो अल्पकालीन पूर्ति का योग है। दीर्घकालीन मूल्य OP_2 होगा।

(2) लागत समता नियम (Law of Constant Costs) : यदि कोई वस्तु लागत समता नियम के अनुसार पैदा की जा रही है तो उत्पादन बढने से प्रति इकाई उत्पादन लागत पर कोई प्रभाव नही पडेगा। अतः यदि माग मे वृद्धि होती है तो सामान्य कीमत पर कोई प्रभाव नही पडेगा। चित्र स० 103 II मे DD माग-वक्र तथा SS अल्पकालीन पूर्ति-वक्र है। अत PQ कीमत तथा OQ उत्पादन की मात्रा हुई। यदि माग बढकर D_1D_1 हो जाती है तो अल्पकाल मे कीमत भी बढकर OP_1 हो जाएगी, क्योकि अल्पकाल मे कीमत सीमान्त लागत के बराबर होगी। कीमत बढने से फर्मों के प्रवेश या फर्मों के विस्तार को प्रोत्साहन मिलेगा। उत्पादन मे वृद्धि के कारण नया अल्पकालीन पूर्ति वक्र S_1S_1 होगा जो नए माग-वक्र D_1D_1 को P_- की सीध म काटता है। दीर्घकालीन पूर्ति-वक्र LS होगा जो एक क्षैतिज (Horizontal) रेखा के रूप मे होगा। इससे स्पष्ट है कि दीर्घकाल मे कीमत मे परिवर्तन नही होगा। नया मूल्य OP_2 या OP होगा।

(3) लागत ह्रास नियम (Law of Decreasing Costs) : जिन वस्तुओ का उत्पादन 'लागत ह्रास नियम' के अनुसार होता है, उनकी उत्पादन लागत, अधिक मात्रा मे उत्पादन करने से, प्रति इकाई घटती जाती है। अत. ऐसी वस्तुओ की माग मे वृद्धि होने के कारण यदि पूर्ति मे वृद्धि की जाए तो प्रति इकाई उत्पादन लागत कम होने के कारण, उनकी कीमत भी घटती जाएगी। इसी प्रकार माग कम होने पर उत्पादन कम किया जाएगा तथा उत्पादन मे वृद्धि होगी, फलस्वरूप कीमत बढ जाएगी। *चित्र स० 104 मे इस तथ्य का स्पष्टीकरण किया गया है :*

DD माग वक्र तथा SS अल्पकालीन पूर्ति वक्र है। अतः OQ उत्पादन-मात्रा तथा OP कीमत हुई। D_1D_1 बढी हुई माग का प्रतीक है, अतः अल्पकाल मे कीमत बढकर P_1O हो जाएगी। फर्मो को अधिक लाभ प्राप्त होगा, तथा नई फर्में प्रवेश करेंगी। अत. नया पूर्ति वक्र S_1S_1 होगा (पूर्ति बढ जाएगी)। इस प्रकार कीमत घटकर P_2O हो जाएगी। LS दीर्घकालीन पूर्ति वक्र होगा जो बाए

से दाये नीचे की ओर गिरता गया है, जिससे यह प्रकट होता है कि अधिक पूर्ति, घटती हुई कीमतो पर की जाएगी।*



चित्र सख्या 104

4. सामान्य मूल्य किस फर्म की उत्पादन-लागत के बराबर होगा ?

दीर्घकालीन सामान्य मूल्य, औसत उत्पादन लागत के बराबर होता है। एक उद्योग मे बहुत सी फर्मे उत्पादन का काम करती है। पूर्ण प्रतिस्पर्धा के कारण, सभी फर्मों को समान दर पर कीमत प्राप्त होती है, अर्थात् सम्पूर्ण उद्योग के लिए एक ही कीमत होती है। अत प्रश्न है—किस फर्म की औसत लागत के आधार पर मूल्य निश्चन किया जाएगा ? मार्शल ने इस समस्या का समाधान 'प्रतिनिधि फर्म' का विचार (concept) प्रस्तुत करके किया है।

1 प्रतिनिधि फर्म (Representative Firm)

पूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत विकास की दृष्टि से फर्मों की विभिन्न अवस्थायें होती है। कुछ फर्मे नई होती हैं, कुछ पुरानी होती है। मार्शल ने उद्योग की दशा की तुलना एक वन (Forest) से की है। जिस प्रकार वन मे कुछ वृक्ष अकुरित व पल्लवित होते रहते है, कुछ पूर्ण विकसित होते हैं तथा कुछ पुराने होकर जीर्ण शीर्ण हो जाते है, इसी प्रकार कुछ फर्मे विकासोन्मुख, कुछ विकसित तथा कुछ पुरानी फर्मे ह्रासोन्मुख होती है। अत उद्योग मे कुछ फर्मे लाभ पर चलती है, कुछ न हानि न लाभ पर चलती है, और कुछ हानि उठाकर उत्पादन करती हैं। यदि सामान्य मूल्य का निर्धारण विकसित फर्म की उत्पादन लागत के आधार पर किया जाए तो नई फर्मों (कम कुशल) को हानि होगी तथा वे उद्योग छोड देंगी। इसी प्रकार यदि

* 'बाजार मूल्य व सामान्य मूल्य मे अन्तर' के लिए इसी अध्याय के अन्तिम पृष्ठ देखिए।

ह्रासोन्मुख फर्म की उत्पादन लागत को आधार मान लिया जाए तो अन्य फर्मों को बहुत लाभ होगा, जिससे बहुत सी नई फर्में उद्योग में प्रवेश करेंगी। इस प्रकार समस्या यह है कि किस फर्म की उत्पादन लागत को आधार माना जाए ? मार्शल के अनुसार 'दीर्घकालीन सामान्य मूल्य प्रतिनिधि फर्म की उत्पादन लागत के बराबर होता है।"

प्रतिनिधि फर्म क्या है ? मार्शल के शब्दों में, "प्रतिनिधि फर्म वह है जो काफी समय से चालू है, जिसे अच्छी सफलता मिलती है, जिसका प्रबन्ध सामान्य योग्यता वाले व्यक्तियों द्वारा किया जाता है तथा जिसमें वे बाह्य एवं आन्तरिक मितव्ययिताएं सामान्य रूप से प्राप्त हों जो उत्पादन की कुल मात्रा के कारण होती है, जिसमें उत्पादित वस्तुओं का वर्ग, उनकी विक्रय की स्थितियां तथा आर्थिक वातावरण का विचार रखना जाना है।"

इस प्रकार प्रतिनिधि फर्म न तो बहुत खराब व्यवस्था वाली और न बहुत अच्छी व्यवस्था वाली होती है यह फर्म न तो नई होती है और न बहुत पुरानी। अपने ढंग की यह एक विशेष फर्म होती है जो बड़े पैमाने पर होने वाले उत्पादन का साधारण लाभ उठाती है। हम यह देखते हैं कि एक उद्योग में कई प्रकार की फर्में होती हैं : (1) कुछ फर्में बिल्कुल नई होती हैं जिनका आकार बढ़ता रहता है,

(2) कुछ फर्में मध्यम श्रेणी की होती है जिन्हें हम परिपक्व फर्म कह सकते है। ऐसी फर्में न नई होती है, न पुरानी, तथा (3) जीर्ण फर्में हैं जो क्षमता की सीमा पार कर चुकी है।

इन सभी प्रकार की फर्मों में कुछ अधिक क्षमता वाली फर्में होती हैं, कुछ कम क्षमता वाली और कुछ सामान्य क्षमता वाली। मार्शल की प्रतिनिधि फर्म सामान्य क्षमता वाली फर्म है।

प्रतिनिधि फर्म सिद्धान्त की आलोचना : अर्थशास्त्रियों ने प्रतिनिधि फर्म की काफी आलोचना की है। प्रमुख आलोचनाएं निम्नलिखित है :

(1) यह सिद्धांत एक कल्पना मात्र है। प्रतिनिधि फर्म का सिद्धांत एडम के आर्थिक व्यक्ति की भांति किसी व्यावहारिक उपयोगिता के योग्य नहीं है। व्यावहारिक जगत में यह नहीं पाया जाता है। राबिन्स ने इस सिद्धांत को व्यर्थ तथा

5. "Our representative firm must be one, which has had a fairly long life, and fair success, and which is managed with normal ability and which has a normal access to economies, external and internal, which belong to that aggregate volume of production, account being taken of the class of goods produced, the conditions of marketing them and the economic environment generally."

—*Marshall* : Principles of Economics, p 65

तत्वहीन बतलाया है। उनके शब्दों में, 'प्रतिनिधि फर्म या प्रतिनिधि उत्पादक की बात सोचने की कोई आवश्यकता नहीं, हमारे लिए सोचने की वस्तुएं हैं प्रतिनिधि रूप में धरती का एक टुकड़ा, प्रतिनिधि रूप में एक मशीन अथवा प्रतिनिधि रूप में एक मजदूर। प्रतिनिधि फर्म का सिद्धान्त भ्रमात्मक, अनावश्यक तथा बेकार है। यह अनावश्यक ही नहीं, बल्कि गलत दिशा में ले जाने वाला है।'[9]

(2) इस धारणा को वास्तविक मान लिया जाय तो भी इसके तर्क में जान नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार सामान्य मूल्य प्रतिनिधि फर्म के लागत के बराबर होता है। यह ऐसी फर्म है जिसकी लागत सामान्य मूल्य के बराबर होती है। इस प्रकार मार्शल ने जो सिद्ध करना चाहा वही उन्होंने मान भी लिया है।

(3) प्रतिनिधि फर्म विस्तार बतलाती है या लागत? इन दोनों में से वह किसका प्रतिनिधित्व करती है? कहीं-कहीं मार्शल ने विस्तार को महत्व दिया है, परन्तु उनके विचार से यह पता चल जाता है कि प्रतिनिधि फर्म उद्योग की सामान्य लागत प्रकट करती है। रॉबर्टसन की यही धारणा है। उनके शब्दों में, 'मेरे विचार से (प्रतिनिधि फर्म को) पूरे उद्योग की पूर्ति रेखा के एक छोटे प्रतिबिम्ब से अधिक मानने की आवश्यकता नहीं है।'[10] प्रो० निकोलस कैल्डॉर ने भी उसकी व्यावहारिक उपयोगिता को पूर्णतया बेकार माना है।[11]

2 पीगू की सन्तुलित फर्म (Pigou's Equilibrium Firm)

मार्शल की प्रतिनिधि फर्म साम्य की केवल एक स्थिति से ही सम्बन्धित है। साम्य की दशा में परिवर्तन होने पर, दूसरी प्रतिनिधि फर्म की तलाश करनी पड़ती है। इस प्रकार साम्य-परिवर्तन के साथ प्रतिनिधि फर्म भी बदलती रहती है।

[9] "There is no more need for us to assume a representative firm or a representative producer, than there is for us to assume a representative piece of land, a representative machine or a representative worker. The concept of representative firm is illusory, unnecessary and superfluous It is yet unnessary, but misleading "—*Robbins* The Representative Firm Economic Journal, Sept., 1928

[10] "In my opinion it is not necessary... . to regard it as anything other than a small scale replica of the supply curve of the industry as a whole" —*Robertson* Increasing Returns and Representative Firm, Economic Journal March 1930

[11] "A representative firm is a tool of mind rather than an analysis of the concrete."—*N. Kaldor*, Equilibrium of the Firm, Economic Journal, March 1930.

इस प्रकार हम किसी फर्म विशेष को ही सदैव प्रतिनिधि फर्म नहीं कह सकते हैं। प्रो० पीगू ने इस दोष को दूर करने के लिए 'सस्थित-फर्म' या 'साम्य-फर्म का विचार (concept) प्रस्तुत किया। उनके अनुसार, यदि सम्पूर्ण उद्योग साम्य की अवस्था मे है तो यह आवश्यक नहीं है कि उस उद्योग की सभी फर्में भी साम्यावस्था मे हो। व्यावहारिक दृष्टि मे कुछ फर्मों का विस्तार हो रहा होगा तथा कुछ का सकुचन। ऐसी दशा मे भी हम एक ऐसी फर्म की कल्पना कर सकते हैं जो उद्योग के विभिन्न साम्य-स्तरो पर फर्म भी साम्यावस्था मे हो। अत यह फर्म जो उद्योग की विभिन्न साम्य अवस्थाओ मे, स्वयं भी साम्य अवस्थाओ में रहती है, साम्य फर्म कहलाती है। पीगू के ही शब्दो मे, साम्य का "अर्थ ह कि एक ऐसी फर्म हो सकती है, जो जब कभी सम्पूर्ण उद्योग इस अर्थ मे साम्य की अवस्था मे है कि वह सामान्य पूर्ति कीमत P पर F उत्पादन की नियमित मात्रा Y पैदा कर रहा है, स्वयं नियमित उत्पादन मात्रा X पर साम्य की अवस्था मे हो।"[12] इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए किसी उद्योग मे दस फर्में हैं, उनका कुल उत्पादन एक वर्ष म दस हजार टन है। दूसरे वर्ष फर्मों के उत्पादन मे परिवर्तन होता है अर्थात् कुछ फर्में पहले की अपेक्षा कम उत्पादन करती हैं तथा कुछ फर्में अधिक उत्पादन करती है परन्तु पूरे उद्योग का उत्पादन दस हजार टन ही रहता है। उनमे एक ऐसी फर्म है जो एक वर्ष मे 500 टन उत्पादन तथा दूसरे वर्ष भी 500 टन ही उत्पादन करती है, तो ऐसी फर्म 'साम्य फर्म' कही जाएगी उद्योग का पूर्ति मूल्य (Supply Price), साम्य फर्म क ही पूर्ति मूल्य के बराबर होगा, तथा साम्य फर्म की कीमत, सीमात लागत के बराबर होगी। इतना ही नहीं वल्कि उद्योग का पूर्ति मूल्य साम्य-फर्म की औसत लागत के भी बराबर होगा।

पीगू की साम्य-फर्म की भी आलोचना की गई है। जोन रॉबिन्सन का कहना है कि यदि वास्तविक फर्म साम्य की अवस्था मे नहीं हैं तो उनकी लागतें उस काल्पनिक फर्म की लागतो से सम्बन्धित नहीं होंगी। प्रो० जे० के० मेहता ने यह विचार व्यक्त किया है कि पीगू की साम्य फर्म मार्शल की प्रतिनिधि फर्म का किसी भी प्रकार सुधरा हुआ रूप नहीं है। वस्तुतः दोनो ही विचार मूलतः एक हैं उन्होंने प्रतिनिधि के विचार को उपयुक्त माना है तथा यह कहा है कि प्रतिनिधि फर्म उद्योग का

---

[12] Equilibrium firm "implies that there can exist some one firm, which, whenever the industry as a whole is in equilibrium in the sense that it is producing a regular output in response to a normal supply price, will itself individually be in equilibrium with a regular output." —*Pigou A C.*, Economics of Welfare, p 720

पूर्ण रूप से प्रतिनिधित्व करती है तथा "उसमे उद्योग की ही भांति उसी रूप मे प्रसार या सकुचन की प्रवृत्ति होती है।"[13]

3 अनुकूलतम फर्म (Optimum Firm)

आधुनिक अर्थशास्त्री 'प्रतिनिधि फर्म' तथा 'साम्य फर्म' के विचार को निरर्थक तथा अव्यावहारिक मानते है। इन अर्थशास्त्रियो मे रॉबिन्स तथा जोन रॉबिन्सन के नाम उल्लेखनीय है। आधुनिक समय मे यह माना जाता है कि **दीर्घकालीन सामान्य मूल्य 'अनुकूलतम फर्म' की उत्पादन लागत के बराबर होता।** अनुकूलतम फर्म उस फर्म को कहते है जिसमे उत्पादन साधनो का अनुकूलतम समन्वय होता है। ऐसी फर्म की औसत लागत न्यूनतम होती है, औसत तथा सीमान्त लागतें बराबर होती है तथा फर्म का आकार ऐसा होता है कि उसकी औसत लागत न्यूनतम बिन्दु पर पहुँच जाती है तथा उससे अधिक औसत लागत के न गिरने की सम्भावना होती है न ऊपर उठने की। रॉबिन्सन के शब्दो मे "वह फर्म अनुकूलतम फर्म कहलाती है जिसमे वर्तमान तकनीकी विधियो तथा सगठन योग्यता की दशाओं मे, प्रति इकाई उत्पादन लागत न्यूनतम होती है, जबकि वे सभी लागतें सम्मिलित कर ली जाती है, जिन्हे दीर्घकाल मे सम्मिलित करना आवश्यक होता है।"[14]

अनुकूलतम फर्म की धारणा व्यावहारिक है। यह किसी फर्म का वह आदर्श आकार है, जिस पर पहुचने के लिए सभी फर्में प्रयत्न करती है। दीर्घकालीन सामान्य मूल्य अनुकूलतम फर्म की औसत उत्पादन लागत के बराबर होता है।

साराश रूप मे हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि दीर्घकालीन सामान्य मूल्य अनुकूलतम फर्म की औसत उत्पादन लागत के बराबर होता है।

6 बाजार मूल्य तथा सामान्य मूल्य[1] मे अन्तर
(Distinction between Market Price and Normal Price)

(1) **समय** बाजार मूल्य का सम्बन्ध अत्यन्त ही अल्पकाल—कुछ घटे एक दिन, सप्ताह आदि—से होता है जबकि सामान्य मूल्य का सम्बन्ध दीर्घकाल से है।

---

[13] Representative firm is the firm, "that shows the tendency to expand or contract with industry in the same manner"

Mehta J K Studies in Advanced Economic Theory, p 181

[14] "That firm which in existing conditions of technique and organising ability has the lowest average cost of production per unit when all those costs which must be covered in the long run are included is called an optimum firm." —*E.A G Robinson*

[1] यहा पर सामान्य मूल्य' का प्रयोग दीर्घकालीन सामान्य मूल्य के लिए किया गया है।

(2) परिवर्तन बाजार मूल्य मे परिवर्तन तेजी से होते है जबकि सामा य मूल्य मे स्थायित्व होता है।

(3) दशा बाजार मूल्य वह वास्तविक मूल्य होता है, जिस पर क्रय विक्रय किया जाता है परन्तु सामा य मूल्य एक प्रकार का आदर्श मूल्य होता है। बाजार मूल्य की प्रवृत्ति सामा य मूल्य के बराबर होने का होती है।

(4) कीमत निर्धारण बाजार मूल्य के निर्धारण मे माग का प्रमुख हाथ रहता है जबकि सामा य मूल्य के निर्धारण मे पूर्ति का प्रमुख स्थान रहता है तथा माग स्थान गौण रहता है।

(5) उत्पादन लागत बाजार मूल्य औसत उत्पादन लागत के बराबर—उससे कम या अधिक हो सकता है परन्तु सामा य मूल्य सदैव औसत उत्पादन लागत के बराबर होता है।

(6) वस्तु की प्रकृति बाजार मूल्य प्रत्येक प्रकार की वस्त का होता है—पुनर पादनीय वस्त निरुत्पादनीय वस्तु। परन्तु सामान्य मूल्य का सम्बन्ध उत्पादन लागत से होता है, अत केवल पुनर पादनीय वस्तुओ का ही सामा य मूल्य होता है।

(7) पूर्ति बाजार मूल्य स सम्बन्धित पूर्ति स्थिर (fixed) होती है अर्थात् पूर्ति स्टाक तक ही सीमित होती है। सामान्य मूल्य दीघकालीन होता है अत प्लाट के आकार मे परिवतन द्वारा तथा फर्मों की सख्या मे परिवतन द्वारा पूर्ति घटाई बढाई जा सकती है।

प्रश्न व सकेत

1 मूल्य निर्धारण मे समय के महत्व की व्याख्या कीजिए। अपने उत्तर को स्पष्ट करने के लिए चित्र दीजिए।

(Jodhpur, II yr T D C Arts 1964)

[सकेत—सवप्रथम अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से मार्शल द्वारा किया गया वर्गीकरण व इये और यह स्पष्ट कीजिए कि समय का यह विभाजन क्रियात्मक समय (operat onal time) पर आधारित है। इसके बाद अति अल्पकाल अल्प काल तथा दीघकाल मे मूल्य निर्धारण पर समय के प्रभाव का चित्र द्वारा स्पष्ट कीजिए और अन्त मे निष्कर्ष दीजिए।]

2 सीमा वह बिन्दु है जिस पर (जिसके द्वारा नही) मूल्य का निर्धारण होता है। विवेचन कीजिए।

(Agra B A Part II 1967)

[सकेत—प्रश्न मे सवप्रथम समय के महत्व को चित्रो द्वारा स्पष्ट कीजिए और दूसरे भाग म मूल्य निर्धारण मे सीमा के महत्व की व्याख्या कीजिए।]

3 किसी वस्तु की माग मे स्थायी वृद्धि का मूल्य पर निम्न समयावधियो मे प्रभाव बताइये — (अ) अति अल्पकाल, (ब) अल्पकाल तथा (स) दीर्घकाल।
(Agra B A. II, 1962)

[संकेत—प्रश्न मे अति अल्पकाल, अल्पकाल तथा दीर्घकाल मे माग मे स्थायी वृद्धि का मूल्य पर प्रभाव बताइये।]

4 (अ) वस्तु के बाजार मूल्य तथा सामान्य मूल्य के बीच अन्तर को समझाइये। (ब) मूल्य सिद्धान्त मे समय के महत्व को बताइए।
(Agra, B A 1964)

[संकेत—प्रश्न के अ भाग मे बाजार मूल्य तथा सामान्य मूल्य के अन्तर को स्पष्ट कीजिए तथा ब भाग म समय के महत्व को बताइए।]



31

एकाधिकार के अन्तर्गत मूल्य व उत्पादन निर्धारण

(Price and Output Determination Under Monopoly)

"The prima-facie interest of the owner of a monopoly is clearly to adjust the supply to the demand, not in such a way that the price at which he can sell his commodity shall just cover its expenses of production but in such a way as to afford him the greatest total net revenue."

—Marshall

1 अर्थ (Meaning)

शुद्ध एकाधिकार पूर्ण स्पर्धा की ठीक विपरीत स्थिति है। इसमें तीन बातों का होना आवश्यक है (i) एकाधिकार के अन्तर्गत केवल एक उत्पादक होता है जो वस्तु की पूर्ति या कीमत पर नियन्त्रण रखता है। एकाधिकार में फर्म तथा उद्योग वस्तुतः एक ही होते है (ii) उद्योग में एकाधिकारी के अतिरिक्त अन्य उत्पादक प्रवेश नही कर सकते। क्योंकि अन्य फर्मों के प्रवेश मे कई प्रभावपूर्ण रुकावटें होती हैं, तथा (iii) एकाधिकारी द्वारा उत्पादित वस्तु की कोई निकट स्थानापन्न (Close substitute) वस्तु भी नही होती है अर्थात् उसके द्वारा उत्पादित वस्तु अन्य उत्पादकों की वस्तुओं से पूर्णतया भिन्न होती है, जिसके परिणामस्वरूप उसकी वस्तु की माग की आड़ी लोच शून्य होती है।

विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने एकाधिकार को परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। चैम्बरलिन के अनुसार एकाधिकारी वह है जो पूर्ति पर पूर्ण नियन्त्रण रखता है, "एक एकाधिकारी उसे समझना चाहिए कि जो किसी वस्तु पर नियन्त्रण रखता है, अधिकाशतः वह प्रत्यक्ष रूप से पूर्ति द्वारा कार्य नही करता, बल्कि कीमत द्वारा

करता है।"[1] लर्नर के अनुसार, "एकाधिकारी उस विक्रेता को कहते हैं जिसकी वस्तु का माग वक्र गिरता हुआ होता है अर्थात् उसकी फम का विक्रय-वक्र लोचहीन होता है।" स्टोनियर और हग (Stonier & Hague) ने एकाधिकारी की व्याख्या इस प्रकार की है "एकाधिकारी वह उत्पादक होता है जोकि किसी एक वस्तु की पूर्ति पर पूर्ण अधिकार रखता है तथा उस वस्तु का कोई स्थानापन्न नहीं होता है।[2]

2 वर्गीकरण (Classification)

अर्थशास्त्रियों ने एकाधिकार को अलग अलग ढग से वर्गीकृत किया है

(1) पूर्ण या शुद्ध तथा अपूर्ण एकाधिकार (Perfect or Pure and Imperfect Monopoly) शुद्ध एकाधिकार उस कहते हैं जिसमे स्पर्धा का तत्व लेशमात्र भी नहीं होता है अर्थात एक ही फर्म का पूर्ति पर पूर्ण नियन्त्रण होता है, चेम्बरलिन के अनुसार शुद्ध एकाधिकार वह अवस्था है, जिसम सभी वस्तुओ की पूर्ति पर एक ही फम का नियन्त्रण होता है। शुद्ध एकाधिकारी को भविष्य म भी स्पर्धा का भय नही रहता है। अपूर्ण एकाधिकार उसे कहते हैं जिसम नयी फर्मों के प्रवश, सरकारी नियन्त्रण आदि का भय रहता है।[3]

(2) साधारण एकाधिकार व विवेचनात्मक एकाधिकार (Simple and Discriminating Monopoly) साधारण एकाधिकार उसे कहते हैं, जबकि एकाधिकारी सभी क्रेताओ से समान कीमत लेता है। विवेचनात्मक एकाधिकार के अन्तगत विभिन्न ग्राहको से एक ही वस्तु की एक ही विक्रय अवस्थाओ म विभिन्न दर पर कीमत ली जाती है।

(3) व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक एकाधिकार [Private and Public Monopolies] व्यक्तिगत एकाधिकार उस अधिकार को कहते हैं, जिसम फम का स्वामित्व व्यक्तिगत साहसी या सगठन के अधिकार म होता है। सार्वजनिक एकाधिकार उस एकाधिकार को कहते हैं जिसम स्वामित्व सरकार या सार्वजनिक निकायों का होता है। प्रथम का उद्देश्य अधिकतम लाभ कमाना तथा द्वितीय का उद्देश्य

---

1 "A monopolist must be thought of as some one who simply controls the supply of something, in most cases he operates directly not on supply but on the price"

—*Chamberlin*, Towards a More General Theory of Value p 62

2 'The producer who controls the whole supply of a single commodity which has no close substitutes" —*Stonier & Hague*

3 "Imperfect monopoly is one which is threatened by newcomer's competition, Government sanctions and organised public reaction"

—*Fritz Machlup*

सार्वजनिक हित सवर्धन होता है। चैपमैन ने एकाधिकार को (i) प्राकृतिक [Natural] (ii) सामाजिक (Social), (iii) कानूनी (Legal), तथा ऐच्छिक (Voluntary), वर्गो मे विभाजित किया है। यह ध्यान मे रखना चाहिए कि जिस प्रकार पूर्ण स्पर्धा वास्तविक जगत मे नही पाई जाती, उसी प्रकार शुद्ध एकाधिकार की अवस्था भी एक काल्पनिक अवस्था है। शुद्ध एकाधिकार का केवल सैद्धांतिक महत्त्व है।

3. मान्यताएं :

एकाधिकार के अन्तर्गत मूल्य तथा उत्पादन के निर्धारण के सम्बन्ध मे अध्ययन करते समय हमे कुछ मान्यताओ को ध्यान मे रखना होगा। प्रथम, **आर्थिक विवेकशीलता** (economic rationality), जो पूर्ण प्रतियोगिता की आधारभूत मान्यता है, एकाधिकार के सम्बन्ध मे भी इस बात को प्रकट करती है कि एक एकाधिकारी अन्य उत्पादको की तरह अपने लाभ को अधिकतम करेगा, **द्वितीय**, एकाधिकार की स्थिति मे फर्म तथा उद्योग के एक ही रहने के कारण प्रतियोगिता का पूर्णतया अभाव रहता है, अर्थात् प्रतियोगिता नही होती है। परन्तु क्रेताओ तथा उपभोक्ताओ की सख्या अधिक होने के कारण उनमे प्रतियोगिता होती है। इस सम्बन्ध मे भी यह ध्यान रहे कि कोई भी क्रेता या उपभोक्ता व्यक्तिगत रूप से वस्तु के मूल्य को प्रभावित करने मे असमर्थ रहता है, क्योकि एक क्रेता के लिए वस्तु का मूल्य पूर्व निर्धारित होता है। **तृतीय**, एकाधिकारी अपनी वस्तु के लिए विभिन्न मूल्यो पर प्रत्येक उपभोक्ता का व्यक्तिगत माग की मात्राओ या माग रेखाओ के आधार पर अपनी वस्तु की कुल माग का अनुमान लगा सकता है। उपभोक्ता विवेकशील होने के कारण किसी वस्तु को अपने अधिमान या पसन्दगी (Scale of preference) के क्रम म खरीदता है। इस आधार पर विभिन्न मूल्यो पर उसके द्वारा वस्तु की मागी गई मात्राओ का अनुमान लगाया जा सकता है और प्रत्येक उपभोक्ता की व्यक्तिगत माग रेखाएं खीची जा सकती है, जिनकी सहायता से एकाधिकारी अपनी वस्तु की कुल माग की रेखा खीच सकता है।

4 एकाधिकारी एक साथ मूल्य तथा पूर्ति दोनों की मात्रा निश्चित नही कर सकता (A monopolist cannot fix both Price and Output Simultaneously) :

एकाधिकार की मान्यताओ के अन्तर्गत यह स्पष्ट किया गया है कि एकाधिकारी का वस्तु की पूर्ति पर ही एकाधिकार या पूर्ण नियन्त्रण होता है। क्रेताओ तथा उपभोक्ताओ की सख्या अधिक होने के कारण उनकी माग पर जो पसन्दगी के क्रम के आधार पर निर्धारित की जाती है, एकाधिकारी का कोई नियन्त्रण सम्भव

नहीं हो सकता। यही कारण है कि एकाधिकारी अपनी वस्तु के मूल्य तथा उसकी उत्पादन मात्रा दोनों को एक साथ निर्धारित नहीं कर सकता। उसे इन दोनों में से किसी एक को निश्चित करके दूसरे को उसके अनुसार समायोजित करना पड़ता है। इसका अर्थ यह है कि यदि वह अपनी वस्तु का मूल्य निश्चित करता है तो उस मूल्य पर क्रेताओं तथा उपभोक्ताओं द्वारा मांगी गयी वस्तु की कुल मात्रा के अनुरूप उसे अपनी पूर्ति की मात्रा निश्चित करनी पड़ेगी, क्योंकि ऐसा करने पर ही उसे शुद्ध एकाधिकारी लाभ प्राप्त हो सकेगा। इसके विपरीत यदि वह पहले पूर्ति की मात्रा निश्चित कर लेता है तो उसे मांग के अनुसार उस वस्तु का मूल्य निश्चित करना होगा। परन्तु मांग की दशा अनिश्चित तथा क्रेताओं तथा उपभोक्ताओं की मांग पर उसका कोई नियन्त्रण न होने के कारण से यह सम्भव हो सकता है कि उसकी कुल पूर्ति की मात्रा न बिके। ऐसी स्थिति में उसे हानि हो सकती है। अतः यह स्पष्ट है कि एकाधिकारी के लिए पहले मूल्य निश्चित करना ही उचित है। उस निश्चित मूल्य पर कुल मांग का अनुमान लगाकर वस्तु का उत्पादन एवं पूर्ति करने पर ही उसे अधिकतम लाभ या शुद्ध एकाधिकारी लाभ प्राप्त हो सकता है।

5 एकाधिकार के अन्तर्गत लागत व आगम

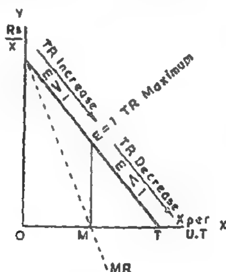
एकाधिकार के अन्तर्गत लागत उसी प्रकार तथा प्रकृति की होती है जिस प्रकार पूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत। हम यह मानकर चलेंगे कि एकाधिकारिक उत्पादक, उत्पादन साधनों की कीमतों को प्रभावित नहीं करता है।

आगम (Revenues) : पूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत विक्रेता वर्तमान कीमत पर जितनी मात्रा चाहे बेच सकता है। अतः उसकी कीमत तथा सीमान्त आय (MR) बराबर होती है। परन्तु एकाधिकारी मांग से प्रभावित होता है, अतः अधिक बिक्री के लिए उसे कीमत कम करनी पड़ती है। यह तथ्य कि एकाधिकारी को अपनी वस्तु की बिक्री बढ़ाने के लिए मूल्य कम करना पड़ता है उत्पादन के प्रथम स्तर (इकाई) को छोड़ कर, सीमान्त आय (MR) को औसत आय या कीमत (AR) से कम रखता है। इस वजह से एकाधिकारी की कीमत तथा सीमान्त आगम का सम्बन्ध बदल जाता है। विक्रय की विभिन्न मात्राओं पर एकाधिकारी की सीमान्त आय सामान्यतया कीमत से कम होती है। हम यह जानते हैं कि फर्म की औसत आय रेखा, उसकी मांग रेखा भी होती है। कीमत को हम औसत आय (AR) भी कहते हैं। सीमान्त आय औसत आय से कम होती है (एकाधिकार में), अतः सीमान्त आय रेखा मांग रेखा (या AR) के नीचे होती है। निम्न सारणी से इन तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है।

एकाधिकारी की कुल आय सीमान्त आय रुपयों में

कीमत (AR)	विक्रय मात्रा	कुल आय (TR)	सीमान्त आय (MR)
100	1	100	100
90	2	180	80
80	3	240	60
70	4	280	40
60	5	300	20
50	6	300	0
40	7	280	—20
30	8	240	—40
20	9	180	—60
10	10	100	—80

सारणी से स्पष्ट है कि केवल पहली इकाई के अतिरिक्त सभी विक्रय मात्राओं पर सीमान्त आय औसत-आय से कम है। यदि इन संख्याओं की सहायता से रेखा-



चित्र सं० 105

चित्र बनाया जाए तो सीमान्त आय रेखा औसत आय रेखा (या माग रेखा) के नीचे होगी।

उपर्युक्त सारणी की सहायता से यह तथ्य अधिक स्पष्ट करने के लिए कि सीमान्त आगम कीमत से कम होता है एक अन्य उदाहरण लिया जा सकता है। माना कि एकाधिकारी 4 इकाइयां 70 रु० की दर से बेचता है। यदि वह 4 इकाइयां

न बेचकर 5 इकाइयां बेचना चाहता है तो उसे कीमत कम करनी होगी। या वह कीमत 70 रु० से घटाकर 60 रु० कर देता है। अतः सीमान्त आय (MR) = 5वी इकाई से प्राप्त आगम पिछली 4 इकाइयों पर 10 रु० प्रति इकाई की दर से कीमत की कुल कटौती .

= 60 रु० — 40 रु०
= 20 रु०

उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक अतिरिक्त इकाई को बेचने पर कुल आय (TR) में जो वृद्धि होती हैं, उसे सीमान्त आय (MR) कहा जाता है। इसे इस प्रकार भी स्पष्ट किया जा सकता है।

5 इकाइयों को बेचने पर कुल आय = $5 \times 60 = 300$ रु०
यदि 4 इकाइयां बेची जाती तो कुल आय = $4 \times 70 = 280$ रु०
अतः 5वी इकाई के बेचने से कुल आगम
(अर्थात् सीमान्त आय–MR) में वृद्धि = 20 रु०

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि सीमान्त आय (MR), जो 20 रु० है, कीमत (AR) से, जो 60 रु० है, कम हैं।

माग की लोच का एकाधिकारी मूल्य पर प्रभाव :

एकाधिकारी को अपनी वस्तु का मूल्य निर्धारित करते समय माग की लोच को भी ध्यान में रखना पड़ता है।

विक्रय की किसी भी मात्रा पर प्रत्येक अवस्था मे सीमान्त आगम (MR) कीमत तथा माग की लोच में निम्नलिखित सम्बन्ध होता है :

सीमान्त आगम = कीमत — कीमत का माग की लोच से अनुपात

$$MR = P - \frac{P}{e}$$

(at any given level of sales by the firm, marginal revenue equals Price minus the ratio of price to elasticity of demand at that sales level)

(i) पूर्ण स्पर्धा मे, माग रेखा आधार रेखा के समानान्तर होती है। इसका अर्थ यह है कि विक्रय की सभी मात्राओं पर माग की लोच अपरिमित (infinity or ∞) होती है।

चूंकि $MR = P - \frac{P}{e}$ और $e \to \infty$, $\frac{P}{e}$ शून्य तक पहुंचती है तथा MR, P तक पहुंचता है इसका अर्थ यह हुआ कि विक्रय की सभी मात्राओं पर $MR = P$ (विद्यार्थी यह याद रक्खें कि पूर्ण स्पर्धा में मांग रेखा, औसत आगम रेखा (AR) या कीमत तथा सीमान्त आगम रेखा (MR) एक ही रेखा द्वारा प्रकट किए जाते हैं, तथा यह रेखा आधार रेखा के सामान्तर होती है।)

एकाधिकार : एकाधिकार के अन्तर्गत माग रेखा या औसत आय रेखा, आधार रेखा के समानान्तर नही होती है, बल्कि नीचे झुकती जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि एकाधिकारी, कीमत कम करके ही अधिक मात्रा बेच सकता है। पिछले चित्र में एकाधिकारी की माग रेखा पर ध्यान दें (जो रेखा T बिन्दु पर आधार रेखा को छूती है)

उत्पादन की OM मात्रा पर (M बिन्दु O व T के ठीक मध्य मे है), माग की लोच इकाई (1) के बराबर है। OM से कम उत्पादन पर, माग की लोच इकाई से अधिक है ($e>1$) तथा OM से अधिक उत्पादन पर माग की लोच इकाई से कम है ($e<1$).

हम माग की लोच, कुल आगम, औसत तथा सीमान्त आगम के सम्बन्धो से जानते हैं कि यदि $e>1$, बिक्री की मात्रा मे वृद्धि करने से कुल आगम (TR) मे वृद्धि होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि $e>1$, सीमान्त आगम धनात्मक (Positive) होना चाहिए।

उत्पादन की वह मात्रा जिस पर माग की लोच इकाई है ($e=1$), कुल आगम (TR) अधिकतम है। जिस बिन्दु पर कुल आगम अधिकतम है, उस बिन्दु पर सीमान्त आगम शून्य है। यदि $MR=P-\frac{P}{e}$ तथा $e=1$ है तो $MR=P-P=0$ यदि $e<1$, तो बिक्री की मात्रा बढाने से कुल आगम (TR) मे कमी होगी। ऐसी अवस्था मे सीमान्त आगम ऋणात्मक (Negative) होगा।

6. एकाधिकार तथा पूर्ण स्पर्धा (Monopoly and Perfect Competition) :

हम पूर्ण स्पर्धा के विषय मे अध्ययन कर चुके हैं। लागत तथा आगम और एकाधिकारी के आगम (Monopolist's Revenue) पर भी प्रकाश डाला जा चुका है। अत हम यहा पर 'एकाधिकार' तथा पूर्ण स्पर्धा मे साम्यावस्था तथा मूल्य निर्धारण-सम्बन्धी कुछ तत्वो का सामान्य रूप से विवेचन करेंगे, जिससे एकाधिकार के अन्तर्गत मूल्य तथा उत्पादन-मात्रा के निर्धारण को समझने मे काफी सहायता मिलेगी।

समानता पूर्ण स्पर्धा तथा एकाधिकार दोनो के अन्तर्गत उत्पादक का उद्देश्य लाभ की मात्रा अधिकतम करना होता है। अधिकतम लाभ दोनो ही अवस्थाओ मे उस समय प्राप्त किया जाएगा जबकि सीमात आय तथा सीमात लागत बराबर हो (MR=MC) एकाधिकारी भी साम्य अवस्था मे उस समय होगा जबकि सीमात आगम तथा सीमांत लागत बराबर हो।

विभिन्नताएं : परन्तु दोनो अवस्थाओ मे, मूल्य-निर्धारण मे कुछ प्रमुख विभिन्नताए पाई जाती है :

(1) पूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत उत्पादक एक ही मूल्य पर जितनी मात्रा चाहे, उतनी बेच सकता हैं, अर्थात् उसकी वस्तु की माँग पूर्णतया लोचदार होती है। अतः उसकी माग रेखा या औसत आय रेखा (Demand or AR) एक क्षैतिज सीधी रेखा (Horizontal Straight Line) होती है। परन्तु एकाधिकारी का आय वक्र (माग रेखा) नीचे की ओर गिरता हुआ होता हैं, (देखिए 'लागत तथा आगम विश्लेषण' शीर्षक अध्याय) अर्थात् वह कीमत घटा करके ही वस्तु को अधिक मात्रा बेच सकता है।

(2) पूर्ण स्पर्धा मे उत्पादक की सीमात आय तथा सीमात लागत कीमत के बराबर होती है ($MR=MC=P$)। वह कीमत तथा सीमान्त लागत को बराबर कर लाभ की मात्रा को अधिकतम कर सकता है (Profit is maximised when $P=MC$)। इसी प्रकार उसकी सीमात आय, औसत आय के बराबर होती है तथा सीमात व औसत आय वक्र एक ही होते है (MR=AR and MR curves coincide with the AR curve), परन्तु एकाधिकारी की सीमात आय, कीमत या औसत आय से सदैव कम होती है, इसलिए उसका सीमात आय वक्र, औसत आय वक्र के नीचे होता है।

(3) पूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत फर्मों की सख्या अधिक होती है तथा दीर्घकाल मे उद्योग अनुकूलतम फर्मों का समूह हो जाता है, परन्तु एकाधिकार के अन्तर्गत फर्म व उद्योग वस्तुत एक ही होते हैं। नई फर्मो के प्रवेश की सम्भावना भी नही रहती है।

(4) पूर्ण स्पर्धा म जब कीमत न्यूनतम औसत लागत के बराबर होती है। तब उद्योग साम्य की अवस्था मे होता है, औसत आय वक्र, औसत लागत वक्र के निम्नतम विन्दु पर स्पर्श रेखा (Tangent) के रूप म होता हैं। परन्तु एकाधिकार की साम्य अवस्था मे, औसत लागत वक्र के निम्नतम विन्दु तक पहुचने की पूर्व ही उत्पादन का विस्तार रोक दिया जाता है। स्पर्धा न होने के कारण, एकाधिकारी न्यूनतम लागत पर उत्पादन करने के लिए बाध्य नही होता है। एकाधिकारी के न्यूनतम लागत बिन्दु पर न पहुँचने का कारण यह है कि (i) उत्पादन विस्तार करने से लागत-व्यय बढता जाता है तथा (ii) पूर्ति की मात्रा बढने अथवा उत्पादन मे वृद्धि करने से कीमतें कम हो जाती है। एकाधिकारी अधिकतम शुद्ध आय (maximum net revenue) प्राप्त करना चाहता है तथा इस उद्देश्य की पूर्ति उसी समय हो जाती है जबकि सीमात लागत सीमात आय के बराबर हो जाती है।

(5) पूर्ण स्पर्धा मे उत्पादक सीमात लागत के बराबर कीमत प्राप्त कर साम्य की अवस्था मे हो जाता है। औसत लागत तथा कीमत म समानता नई फर्मों के प्रवेश या प्रवेश की सम्भावना के कारण हो पाती है। परन्तु एकाधिकार के अन्तर्गत नई फर्मों के प्रवेश की सम्भावना ही नही रहती है।

(6) पूर्ण स्पर्धा : मे उत्पादक का कीमत पर नियत्रण नहीं होता है, उसके लिए कीमत पूर्व निश्चित होती है। परन्तु एकाधिकारी का कीमत पर कुछ नियत्रण होता है। फिर भी वह मनमाने ढग से ऊंची कीमत नहीं प्राप्त कर सकता है क्योंकि वस्तुओं की माग शायद ही कभी पूर्णतया बेलोच होती है।

7. एकाधिकारी का उद्देश्य (The aim of the monopolist) :

प्रत्यक्ष उत्पादन का उद्देश्य अधिक से अधिक लाभ कमाना होता है। पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे भी उत्पादक या विक्रेता लाभ की मात्रा को अधिकतम करना चाहता है परन्तु पूर्ण प्रतियोगिता मे माग लोचदार होने के कारण साम्य बिन्दु पर औसत लागत भी औसत आय एव सीमात आय के बराबर होती है। अन्य शब्दो म, पूर्ण प्रतियोगिता म मूल्य की प्रवृत्ति सदैव सीमान्त लागत (marginal cost of production) के बराबर होने की होती है। ऐसी स्थिति मे पूर्ण प्रतिस्पर्धा की परिस्थितियो म विक्रेता का केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त होता है, जो उत्पादन लागत (सीमात लागत) का ही एक भाग होता है।

यद्यपि एकाधिकार की स्थिति म भी साम्य बिन्दु पर सीमान्त लागत तथा सीमात आय बराबर होती हैं, फिर भी एकाधिकार की स्थिति पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति के विपरीत होती है। इसका कारण यह है कि एकाधिकारी अपनी एकाधिकारिक शक्ति का प्रयोग करके अपने लाभ को अधिकतम करने का प्रयत्न करता है। वह अपनी वस्तु की कीमत को उत्पादन लागत से काफी ऊंचा रख कर अधिक से अधिक लाभ कमाना चाहता है। एकाधिकारी का कोई प्रतियोगी नहीं होता, अत. वह बाजार मे अपनी वस्तु अधिक से अधिक मूल्य पर बेचकर अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। एकाधिकारी को सामान्य लाभ के अतिरिक्त प्राप्त होने वाले लाभ को प्रो० मार्शल ने एकाधिकारी लाभ (Monopoly gain) कहा है। श्रीमती जोन रॉबिन्सन (Mrs. Joan Robinson) ने इस अतिरिक्त लाभ को शुद्ध एकाधिकारी आय (Net Monopoly Revenue) की सज्ञा दी है।

प्रत्येक एकाधिकारी अपनी 'शुद्ध एकाधिकारी आय' को अधिकतम करने का प्रयत्न करता है। वह अधिकतम समाज कल्याण की भावना से प्रेरित नहीं होता। यही कारण है कि अधिकतम सन्तुष्टि का सिद्धान्त एकाधिकारी वस्तुओं की माग व पूर्ति के सम्बन्ध म लागू नहीं होता है। अधिकतम कुल शुद्ध एकाधिकारी आय प्राप्त करने के उद्देश्य से ही एकाधिकारी केवल प्रत्येक इकाई लाभ को अधिकतम करने का प्रयत्न नहीं करता, बल्कि वह पूर्ति को माग के साथ इस प्रकार व्यवस्था करता, है कि वह अपनी वस्तु की अधिक से अधिक मात्रा अधिक से अधिक मूल्य पर बेच सके। मूल्य निर्धारण वह अपनी वस्तु की पूर्ति के आधार पर ही कर सकता है। अत वह माग

को ध्यान मे रखकर पूर्ति को इस प्रकार समायोजित करता है कि उसकी वस्तु का इतना मूल्य हो जाये कि वह उस माग पर अधिकतम लाभ कमा सके ।

एकाधिकारी का सतुलन : सामान्य विवेचन

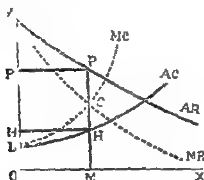
(Equilibrium of the Monopolist General Discussion)

एकाधिकारी, सतुलन की स्थिति मे उस समय होता है जबकि उसके द्वारा अर्जित लाभ अधिकतम हो, अर्थात् कुल आय तथा कुल लागत का अन्तर अधिकतम हो (When Aggregate Revenue – Aggregate Cost is maximum)। इस अन्तर को सीमान्त आय वक्र के नीचे के क्षेत्र तथा सीमान्त लागत वक्र के नीचे के क्षेत्र द्वारा ज्ञात किया जा सकता है। अत. एकाधिकारी का कुल लाभ :

कुल लाभ = औसत आय—औसत लागत × उत्पादन की मात्रा

(Total Profit = AR – AC × Quantity Produced)

इसका स्पष्टीकरण रेखा चित्र स० 106 द्वारा किया गया है.



चित्र स० 106

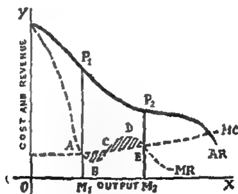
एकाधिकारी का लाभ YCL क्षेत्र के बराबर है। उसकी औसत लागत HM है। कीमत PM है। यदि P तथा H बिन्दुओ से OY पर लम्ब डाले जाएं तो एक आयत बन जाएगा। एकाधिकारी का लाभ इसी आयत के बराबर होगा (PP'HH के बराबर)। यह एकाधिकारी का अधिकतम लाभ है। आयत PP'HH का क्षेत्रफल ACL क्षेत्र के क्षेत्रफल के बराबर होगा।

अधिकतम लाभ की उपरोक्त सैद्धान्तिक विधि सही है, परन्तु कोई भी एकाधिकारी व्यावहारिक रूप से माग के विषय में पूर्ण जानकारी नहीं रखता है। अतः, वह कार्यों जिनो तक माग तथा पूर्ति की अवस्थाओ का अध्ययन कर सीमान्त आय को बराबर कर, लाभ को अधिकतम कर सकता है। जब तक सीमान्त आय सीमान्त लागत से अधिक है तब तक वह उत्पादन मे वृद्धि कर लाभ म वृद्धि कर सकता है। इसके

विपरीत यदि सीमान्त आय सीमान्त लागत से कम है तो वह उत्पादन की मात्रा मे कमी कर अपने लाभ म वृद्धि कर सकता है। अत एकाधिकारी उत्पादन की मात्रा मे कमी तथा वृद्धि कर उस मात्रा का पता लगाता है जिस पर उसका लाभ अधिकतम हो।

बहुविध सतुलन (Multiple Equilibrium) : अधिकतम लाभ के बिन्दु का पता लगाने मे यह सम्भव है कि सतुलन के कई बिन्दु प्राप्त हो, अर्थात् उत्पादन की कई निश्चित मात्राओ पर एकाधिकारी सतुलन की स्थिति मे हो सकता है। इन विभिन्न सतुलन स्थितियो को बहुविध सतुलन (Multiple Equilibrium) कहते हैं। यह स्थिति उस समय होती है जबकि माग वक्र के ढाल म परिवर्तन होते हैं—अर्थात् माग कुछ समय तक लोचपूर्ण तथा कुछ समय तक अपेक्षाकृत कम लोचपूर्ण, और पुन लोचपूर्ण हो जाती है।[3] इस प्रकार की अवस्था का पाया जाना उस समय सम्भव है, जबकि उपभोक्ताओ के विभिन्न आय समुदाय हो, जिससे कीमत म कमी होने पर कम आय के उपभोक्ता भी उस वस्तु को खरीदने लगेगे, इस प्रकार माग अधिक लोचपूर्ण हो जाएगी। ऐसी माग से सम्बन्धित सीमात आय वक्र नीचे गिरकर फिर ऊपर उठता है, तथा पुन नीचे गिरता है, अत एकाधिकारी के कई सतुलन बिन्दु होने हैं जिन पर उसका लाभ अधिकतम होता है। चित्र स० 108 बहुविध सतुलन की स्थिति को प्रकट करता है।

चित्र स० 107 मे OM_1, OM_2 एकाधिकारी की उत्पादन मात्रा को प्रकट करते हैं। P_1M_1, P_2M_2 क्रमश कीमतो को व्यक्त करते है। चित्र म सीमात लागत



चित्र स० 107

[3] "Cases of multiple equilibrium may arise when the demand curve charges its slope being highly elastic for a streeth, then perhaps becoming relatively inelastic, than elastic again"

—*Joan Robinson* P. 57

वक्र लगभग सीधी रेखा के रूप में ऊपर उठता हुआ है। यह वक्र भी नीचे गिरकर पुन ऊपर उठ सकता है और फिर नीचे गिर सकता है। इस अवस्था में भी MR तथा MC जिन जिन बिन्दुओं पर एक दूसरे को काटगी, वे बिन्दु सतुलन की स्थिति को व्यक्त करेंगे। ऐसी दशा में उपर्युक्त चित्र में MR वक्र की भांति MC वक्र भी टेढ़ा मेढ़ा होगा।

एकाधिकार के अन्तर्गत मूल्य व उत्पादन निर्धारण
(Determination of Price and Output under monopoly)

जिस प्रकार पूर्ण प्रतियोगिता वास्तविक रूप से नहीं पायी जाती है, उसी प्रकार एकाधिकार की अवस्था भी वास्तविक रूप से नहीं पायी जाती है। फिर भी मूल्य निर्धारण के सिद्धान्त का अध्ययन करने के लिए हम एकाधिकार की अवस्था की कल्पना करते हैं। व्यावहारिक रूप में न तो हम पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था और न एकाधिकार की अवस्था पाते हैं। वास्तव में बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकार के बीच की अवस्थाएं पाई जाती है।

एकाधिकार के अन्तगत मूल्य व उत्पादन निर्धारण की दो विधियां हैं—प्रथम को कुल आगम तथा कुल लागत रेखाओं की विधि तथा दूसरी को सीमांत तथा औसत रेखाओं की विधि कहते है। प्रथम विधि मार्शल द्वारा तथा दूसरी विधि श्रीमती जोन राबिन्सन द्वारा बतलाई गई है।

1 कुल आगम तथा कुल लागत विधि
(Total Revenue and Total Cost Method)

एकाधिकारी को सामान्य लाभ के अतिरिक्त जो लाभ प्राप्त होता है उस प्रो० मार्शल ने 'एकाधिकार लाभ' (Monopoly gain) कहा है। मार्शल ने अपने सिद्धान्त को जाच तथा भूल का सिद्धान्त (Trial and Error Method) बतलाया है। एकाधिकारी का उद्देश्य अधिकतम लाभ प्राप्त करना होता है। अत वह मूल्य इस प्रकार निर्धारित करने का प्रयत्न करता है जिससे उसे अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके। प्रो० मार्शल के ही शब्दो मे, "स्पष्टत एकाधिकारी का उद्देश्य पूर्ति को माग के साथ इस प्रकार समायोजित करना है जिस मूल्य पर वह अपनी वस्तु को बेचे, वह न केवल उत्पादन लागत निकालने के लिए पर्याप्त हो अपितु उसे अधिकतम शुद्ध आय प्राप्त हो सके।" इस आय को अधिकतम करने के लिए एकाधिकारी जाच तथा भूल सिद्धान्त का पालन करता है। इस नियम के अनुसार एकाधिकारी वस्तु का एक मूल्य निर्धारित करता हैं और देखता है कि उसे कुल कितनी आय प्राप्त होती है। तद्पश्चात वह मूल्य म परिवर्तन करता है और देखता है कि अब उसे परिवर्तित मूल्य पर कुल कितनी आय प्राप्त होती है। इस प्रकार वह कई बार मूल्य मे परिवर्तन करता

है और अपनी कुल आय ज्ञात करता रहता है। जिस मूल्य पर उसे अधिकतम आय प्राप्त होती है, वही मूल्य वह निर्धारित करता है।

प्रश्न है—एकाधिकारी, एकाधिकारिक लाभ' (Monopoly gain) को किस प्रकार अधिकतम करता है ? 'एकाधिकारिक लाभ' को अधिकतम करने के लिए एकाधिकारी को वस्तु की माग की लोच तथा पूर्ति पक्ष पर ध्यान देना पड़ता है।

(1) **माग की लोच** . यदि एकाधिकारी द्वारा उत्पादित वस्तु की माग लोचदार है तो कीमत बढ़ने पर कुल आय घटती है क्योंकि मूल्य मे वृद्धि होने पर वस्तु की माग मे एक बडी कमी आ जायेगी। इसके विपरीत कीमत घटने पर कुल आय बढती है क्योकि उससे माग बढ़ जाती है। यदि माग बेलोच है तो कीमत बढने पर कुल आय बढती है तथा कीमत घटने पर कुल आय कम होती है। यदि माग की लोच इकाई के बराबर हो तो मूल्य परिवर्तन का कुल आय पर कोई प्रभाव नही पड़ता है।

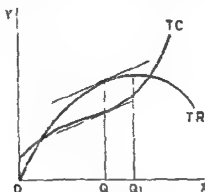
(2) **वस्तु की पूर्ति** . वस्तु की पूर्ति इस बात पर निर्भर है कि उसका उत्पादन, उत्पादन के किस नियम के अनुसार किया जा रहा है ? यदि उत्पादन 'उत्पत्ति वृद्धि नियम के अनुसार हो रहा है तो उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि कर, कम कीमत पर बेचने से कुल आय मे वृद्धि होगी। यदि उत्पादन उत्पत्ति ह्रास नियम' के अनुसार हो रहा है तो उत्पादन की मात्रा कम करके ऊंची कीमत पर बेचने से लाभ होगा। 'उत्पत्ति समता नियम' के अनुसार उत्पादन होने पर उत्पादन की मात्रा माग की लोच पर निर्भर होगी।

अत माग तथा पूर्ति की परिस्थितियो को ध्यान मे रखते हुए, उत्पादक उत्पादन की मात्रा बढा घटा कर इस बात का पता लगाएगा कि कितनी मात्रा मे उत्पादन करने से उसका 'एकाधिकारिक लाभ' अधिकतम होगा। उत्पादन की जिस मात्रा तथा कीमत पर 'एकाधिकारिक लाभ' अधिकतम होगा, एकाधिकारी द्वारा उतनी ही मात्रा का उत्पादन किया जाएगा तथा उतनी ही कीमत निश्चित की जाएगी।

(3) **रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण** : चित्र स० *108* मे *TC* वक्र कुल लागत वक्र है तथा TR कुल आय वक्र हैं। यदि एकाधिकारी OQ मात्रा का उत्पादन करता है तो उसकी कुल आय अधिकतम होती है। इससे अधिक उत्पादन करने पर TR वक्र नीचे गिरता है, परन्तु OQ_1 मात्रा पर 'एकाधिकारिक लाभ' अधिकतम नही है। अत: वह उत्पादन की मात्रा कम करेगा। चित्र स० *108* से स्पष्ट है कि OQ मात्रा का उत्पादन करने से TR तथा TC का अन्तर अधिकतम है।

अत. एकाधिकारी उस मात्रा का उत्पादन करेगा जिस मात्रा पर कुल आय

तथा कुल लागत का अन्तर अधिकतम होगा। उसी उत्पादन पर एकाधिकारिक लाभ अधिकतम होगा। (नोट : यह ध्यान में रखना चाहिए कि TC वक्र का ढाल slope 'सीमांत लागत' तथा TR वक्र का ढाल 'सीमान्त आय' को प्रकट करता है। जिस



चित्र सं० 108

उत्पादन पर TC तथा TR के ढाल समान है अर्थात् TR व TC की स्पर्श रेखाएं (Tangents) जिस बिन्दु पर सामानान्तर (Parallel) हैं, उसी बिन्दु पर उत्पादन करने से TR व TC का अन्तर अधिकतम होगा, क्योंकि अधिकतम लाभ उस बिन्दु पर होता है, जिस पर सीमांत लागत=सीमान्त आय है।)

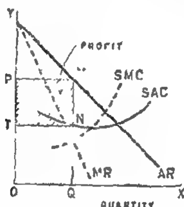
2. सीमांत तथा औसत-रेखाओं की विधि
(Marginal and Average Curves Method)

श्रीमती जोन रॉबिन्सन के अनुसार एकाधिकार 'शुद्ध एकाधिकार आय' (Net Monopoly Revenue) को अधिकतम करने का प्रयत्न करता है। उनके अनुसार, शुद्ध एकाधिकार आय=कुल आय—कुल लागत (सामान्य लाभ को सम्मिलित कर) [Net Monopoly Revenue=Total Revenue—Total Cost (including Normal Profit)। इस उद्देश्य की पूर्ति उस समय होती है, जबकि एकाधिकार की सीमांत आय, सीमांत लागत के बराबर हो। अतः एकाधिकारी साम्य की स्थिति के लिए यह चेष्टा करता है, कि उत्पादन प्रक्रिया में उसकी सीमान्त आय सीमांत लागत के बराबर हो। उत्पादन की जिस मात्रा व कीमत पर सीमांत आय सीमांत लागत के बराबर होती है, एकाधिकारी वही मात्रा व कीमत निर्धारित करता है।

अल्पकाल तथा दीर्घकाल में एकाधिकारी द्वारा मूल्य निर्धारण :

अब हम अल्पकाल तथा दीर्घकाल में इस विधि द्वारा एकाधिकारी द्वारा मूल्य निर्धारण का अध्ययन करेंगे.

1. अल्पकाल (Short Run) : अल्पकाल में एकाधिकारी की उत्पादन क्षमता निश्चित होती है। वह उत्पादन के वर्तमान साधनों द्वारा ही पूर्ति में वृद्धि कर सकता है। अल्पकाल में भी उसका उद्देश्य अधिकतम लाभ प्राप्त करना होता है। अधिकतम लाभ उस बिन्दु पर होता है जिस पर अल्पकालीन सीमांत लागत सीमांत आय के बराबर होती है (SMC=MR) इस तथ्य का स्पष्टीकरण चित्र स० 109 द्वारा किया गया है। AR माग वक्र या औसत आय वक्र है। SMC व SAC क्रमश अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्र व अल्पकालीन औसत लागत वक्र हैं। MR सीमांत आय वक्र है। उत्पादन की OQ मात्रा पर MR तथा SMC समान हैं, अत वह OQ मात्रा का ही उत्पादन करेगा। इस उत्पादन के लिए उसे प्रति इकाई OP



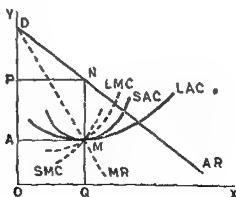
चित्र सं० 109

कीमत प्राप्त होगी। मांग अधिक होने के कारण इस उत्पादन की प्रति इकाई औसत लागत (SAC) OT है। इस प्रकार एकाधिकारी का अतिरिक्त लाभ प्रति इकाई PT होगा, (OP—OT)। कुल अतिरिक्त लाभ TNMP होगा। यदि वह OQ से कम मात्रा का उत्पादन करता है तो सीमांत आय (MR) अल्पकालीन सीमांत लागत (SMC) से अधिक होगी। यदि OQ से अधिक उत्पादन करता है तो MR, SMC से कम होगा, अत. इस मात्रा से अधिक उत्पादन करने पर उसकी कुल लागत में कुल आय की अपेक्षा अधिक वृद्धि होगी, अत उसका लाभ कम होगा। (यह याद रखना चाहिए कि एकाधिकार के अन्तर्गत कीमत सीमान्त आय से सदैव अधिक होती है, जबकि पूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत कीमत सीमांत आय के बराबर होती है। अत निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि अल्पकाल में एकाधिकारी उस मात्रा का उत्पादन करेगा जिस पर उसकी सीमान्त आय व सीमांत लागत बराबर हो क्योंकि उसी मात्रा पर उसका लाभ अधिकतम होगा। कीमत माग के स्वरूप व प्रकृति पर निर्भर करेगी।

यह आवश्यक नहीं है कि एकाधिकारी को सदैव लाभ ही हो। लाभ वस्तु की माग तथा उत्पादन लागत के सम्बन्धो पर निर्भर है। यदि उसकी उत्पादन लागत बहुत अधिक तथा उसकी वस्तु की माग कम है तो वह कीमत द्वारा औसत लागत भी वसूल नही कर सकता है। ऐसी परिस्थिति मे वह 'हानि' को न्यूनतम करने का प्रयत्न करेगा तथा पूर्ण स्पर्धा की ही भांति उत्पादन जारी रक्खेगा, यदि उसे परिवर्तनशील लागत (variable cost) से कुछ अधिक कीमत के रूप मे प्राप्त हो जाता है। अत यह धारणा निर्मूल है कि एकाधिकारी सदैव लाभ ही प्राप्त करता है।

(2) दीर्घकाल (*Long Run*) : *पूर्ण स्पर्धा की ही भांति एकाधिकार की अवस्था मे भी दीर्घकाल मे उत्पादन साधनो की मात्रा मे 'परिवर्तन' कर अर्थात् फर्म* के आकार मे परिवर्तन कर, उत्पादन-मात्रा मे परिवर्तन किया जा सकता है। पूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत दीर्घकाल मे कीमत उत्पादन-लागत के बराबर होती है, परन्तु एकाधिकार की अवस्था में कीमत उत्पादन लागत से अधिक होती है, अर्थात दीर्घकाल मे भी एकाधिकारी अतिरिक्त लाभ अर्जित करता है, क्योकि उसे नई फर्मों के प्रवेश का भय नही रहता है।

नई फर्मो के प्रवेश का भय न रहने के कारण एकाधिकारी अपनी उत्पादन-क्षमता मे अधिकतम लाभ को ही दृष्टि मे रखकर परिवर्तन करता है। वस्तु का



चित्र स० 110

आकार तथा दीर्घकालीन औसत लागत के सम्बन्धो को ध्यान मे रखते हुए वह अनुकूलतम आकार से कम आकार की, अनुकूलतम आकार की तथा अनुकूलतम से अधिक आकार की फर्म चला सकता है (यह याद रखना चाहिए की पूर्ण स्पर्धा मे दीर्घकाल मे फर्म अनुकूलतम आकार की होती है या होने का प्रयत्न करती है)। सामान्यतः एकाधिकारी इस बात की चेष्टा करेगा कि उसकी फर्म का आकार इतना बड़ा हो कि

सीमान्त आय वक्र (MR), दीर्घकालीन लागत वक्र (LAC) को निम्नतम बिन्दु पर काटे। इस तथ्य का स्पष्टीकरण रेखाचित्र स॰ 110 में किया गया है। OQ मात्रा का उत्पादन करने से दीर्घकालीन सीमांत लागत तथा सीमांत आय बराबर होती हैं। (LMC=MR)। यह दीर्घकालीन औसत लागत (LAC) का निम्नतम बिन्दु है। इस बिन्दु पर अर्थात् OQ मात्रा का उत्पादन करने पर MR=SMC=LMC=SAC=LAC। फर्म इस बिन्दु पर अल्पकालीन व दीर्घकालीन—दोनों अवस्थाओं मे—सन्तुलन की स्थिति में है। कीमत OP, लागत OA तथा लाभ AP के बराबर है। कुल अतिरिक्त लाभ=AP×PN अर्थात् AMNP के बराबर होगा।

जिस बिन्दु पर MR, LAC को काटता है (M बिन्दु), यदि उस बिन्दु से बाई तरफ के किसी बिन्दु पर एक दूसरे को काटें तो फर्म का आकार अनुकूलतम नही होगा (अर्थात् अनुकूलतम से छोटा होगा)। इसी प्रकार यदि MR, LAC को बिन्दु M के दाहिनी ओर काटता है तो फर्म का आकार अनुकूलतम से बड़ा होगा।[4]

निष्कर्ष मूल्य निर्धारण सम्बन्धी उपरोक्त विवरण के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि एकाधिकार की अवस्था मे कीमत सीमांत आय से अधिक होती है तथा सीमांत लागत, कीमत के बराबर होने के पूर्व ही, सीमांत आय के बराबर हो जाती है। (पूर्ण स्पर्धा मे सीमांत आय तथा कीमत बराबर होती हैं)। जहां पर सीमांत आय व सीमान्त लागत बराबर हो जाती हैं उसी बिन्दु पर उत्पादन की मात्रा निश्चित होती है, क्योंकि उसी परिस्थिति मे लाभ अधिकतम होता है। (एकाधिकारी पूर्ण स्पर्धा की अपेक्षा कम उत्पादन करता है तथा ऊंची कीमत पर उसे बेचता है। देखिए पृष्ठ 586–87)

उत्पादन के नियमों का एकाधिकारी के उत्पादन पर प्रभाव

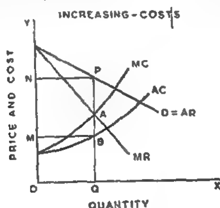
दीर्घकाल मे एकाधिकारी अपनी वस्तु का मूल्य अधिक या कम निर्धारित करेगा, यह निर्णय उस वस्तु की लागत की दशाओं पर निर्भर करता है। दीर्घकाल मे एकाधिकारी उद्योग का विस्तार या संकुचन किये जाने पर उत्पादन के साधनों की लागत मे वृद्धि या कमी हो सकती है जिसका अर्थ यह है कि फर्म के उत्पादन की औसत लागत उत्पादन के नियमों—घटती हुई, बढ़ती हुई या स्थिर लागत द्वारा प्रभावित होता है।

---

[4] यहां पर सरलता की दृष्टि से केवल अनुकूलतम आकार के सन्दर्भ मे ही मूल्य निर्धारण की व्याख्या की गई है। अनुकूलतम से छोटी तथा बड़ी आकार की फर्मों के सन्दर्भ के लिए देखिये *Leftwich* op, cit, pp, 190–311 डिग्री तथा ऑनर्स कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए उपरोक्त विवरण ही पर्याप्त है।

(i) उत्पत्ति ह्रास नियम या बढ़ती हुई लागत नियम (Law of Increasing Cost)

यदि उत्पादन मे बढ़ती हुई लागत का नियम क्रियाशील हो रहा है, अर्थात् जबकि उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि करने पर औसत लागत बढ रही है, तो एकाधिकारी के लिए कम मात्रा मे उत्पादन करना ही हितकर है। ऐसा करने पर ही वह औसत लागत की वृद्धि को रोक सकता है तथा सीमान्त लागत कम करके अपनी वस्तु का मूल्य अधिक निर्धारित कर सकता है। चित्र स० 111 मे एकाधिकारी फर्म लागत वृद्धि के अन्तगत काय कर रही है। जैसा कि चित्र मे दिखलाया गया है औसत तथा सीमान्त लागत रेखाय (AC तथा MC) ऊपर की ओर जा रही है। A बिन्दु



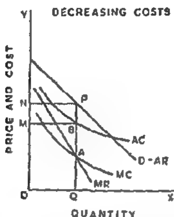
चित्र स० 111

सीमान्त लागत (MC) = सीमान्त आय (MR) के। इस बिन्दु से होती हुई एक खड़ी रेखा खीचने पर वह कीमत रेखा (AR) को P बिन्दु पर तथा OX अक्ष को Q बिन्दु पर काटती है। अतः OQ उत्पादन मात्रा के लिए PQ कीमत हुई। एकाधिकारी के लाभ के लिए AR तथा AC की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि AR (औसत आय रेखा) AC (औसत लागत रेखा) के ऊपर है। इन दोनों रेखाओं के मध्य की दूरी PB प्रति इकाई लाभ प्रदर्शित करती है तथा कुल लाभ PBMN क्षेत्रफल के बराबर है। अतः कीमत–PQ, उत्पादन की मात्रा OQ, प्रति इकाई लाभ PB तथा कुल लाभ=PB × BM या PBMN आयत व क्षेत्रफल के।

(ii) जबकि उत्पत्ति वृद्धि नियम या लागत के घटने का नियम (Law of Diminishing Costs) क्रियाशील हो रहा हो।

इस नियम व अन्तर्गत कार्य करने वाले एकाधिकारी द्वारा अधिक उत्पादन करने पर औसत लागत (AC) घटती चली जायगी। ऐसी स्थिति म औसत लागत को कम करने के लिए उत्पादन की मात्रा बढ़ाना एकाधिकारी के

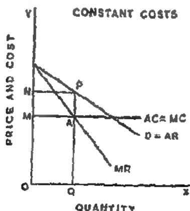
हित मे होगा उत्पादन की मात्रा बढने पर सीमान्त लागत (MC) भी कम होगी जिससे एकाधिकारी की आय म वृद्धि होगी।



चित्र सं० 112

चित्र स० 112 मे AC तथा MC नीचे की ओर गिरती हुई दिखलाई गई है। A बिन्दु पर सीमान्त आय (MR)=सीमान्त लागत (MC) के। इस बिन्दु से होती हुई खडी रेखा खीचने पर PQ रेखा कीमत बताती है। AR तथा AC के मध्य खडी रेखा PB प्रति इकाई लाभ व्यक्त करती है। OQ कुल उत्पादन मात्रा है। अतः वस्तु का मूल्य=PQ, उत्पादन की मात्रा OQ कुल लाभ=PB×BM या PBMN के क्षेत्रफल के।

(iii) जबकि उत्पत्ति स्थिरता नियम या लागत स्थिरता नियम (Law of Constant Costs) लागू होता हो



चित्र सं० 113

उत्पादन लागत स्थिर रहने पर वस्तु की मात्रा मे कोई अन्तर नही आयेगा।

वह एकाधिकारी को किसी प्रकार प्रभावित नहीं करता। जैसाकि चित्र सं० 113 से स्पष्ट है 'लागत स्थिरता नियम' के अन्तर्गत औसत लागत (AC) = सीमान्त लागत (MC) के। A बिन्दु पर सीमान्त आय (MR) = सीमान्त लागत (MC) के। A से होती हुई खड़ी रेखा AR को P बिन्दु पर तथा OX अक्ष को Q पर काटती है जिससे यह ज्ञात होता है कि PQ कीमत है, OQ उत्पादन की मात्रा है तथा PA × AM या OQ या PAMN आयत के क्षेत्रफल के बराबर एकाधिकारी का कुल लाभ है।

विभेदात्मक या विवेचनात्मक एकाधिकार
(Discriminating Monopoly)

1 प्रकृति : एकाधिकारी का उद्देश्य 'एकाधिकारिक लाभ' को अधिकतम करना होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह विभिन्न प्रकार के ग्राहकों के समूहों से एक ही प्रकार की वस्तु के लिए भिन्न-भिन्न दरों पर कीमतें लेता है। इस स्थिति को 'विवेचनात्मक एकाधिकार' कहा जाता है। विवेचनात्मक एकाधिकार विभिन्न व्यक्तियों, विभिन्न स्थानों तथा विभिन्न प्रयोगों के बीच सम्भव है। अतः कीमतों के विवेचन निम्नलिखित प्रकार के हो सकते हैं

(i) व्यक्तिगत विवेचन (Personal Discrimination) : जब विभिन्न व्यक्तियों से अलग-अलग दरों पर कीमतें वसूल की जाती हैं तो इसे व्यक्तिगत विवेचन कहते हैं। वस्तुओं के मूल्य उनकी माग की तीव्रता (Intensity) के आधार पर लिये जाते हैं।

(ii) स्थान विवेचन (Place Discrimination) : जब विभिन्न बाजारों में अलग-अलग दरों पर कीमतें ली जाती हैं तो उसे स्थान विवेचन कहते हैं, जैसे विदेशी बाजार में राशि-पातन (Dumping) के उद्देश्य से अत्यन्त ही कम मूल्य पर वस्तु बेची जाये तथा देश के अन्दर वस्तु का मूल्य बहुत ऊंचा रखा जाय।

(iii) व्यवसाय विवेचन (Trade Discrimination) : जब किसी वस्तु के प्रयोग के आधार पर विभिन्न दरों पर कीमत ली जाती है तो उसे व्यवसाय विवेचन कहते हैं, जैसे बिजली के इस्तेमाल के लिए औद्योगिक उपयोग (Industrial use) के लिए कम दर पर कीमत ली जाती है तथा रोशनी आदि के लिए ऊंची दर पर कीमत वसूल की जाती है। एक ही गुण की वस्तु को विभिन्न लेबल लगाकर भी अलग-अलग दरों पर उन्हें बेचा जाता है।

2. मूल्य-विभेद की शर्तें (Conditions for Price Discrimination) :

एकाधिकारी द्वारा मूल्य विवेचन कुछ विशेष परिस्थितियों के अन्तर्गत ही सम्भव है :

(1) मांग की लोच में विभिन्नता : विवेचनात्मक एकाधिकार उसी समय

सफल हो सकता है, जबकि ग्राहकों की माग की लोच मे विभिन्नता हो। जिन ग्राहकों की माग लोचहीन है उनसे ऊचा मूल्य तथा जिनकी माग लोचपूर्ण है उनसे कम मूल्य लिया जाता है।

(2) **बाजारों का पृथक होना** जिन बाजारो मे मूल्य-विभेद किया जाए, वे बाजार पृथक-पृथक तथा एक दूसरे से दूर होने चाहिए, अन्यथा ग्राहक सस्ते मूल्य वाले बाजार मे जाकर वस्तु को क्रय करेंगे।

(3) **क्रय शक्ति मे विभिन्नता :** ग्राहकों की क्रय शक्ति मे विभिन्नता होने पर मूल्य-विभेद सम्भव होता है। एक डाक्टर धनी व्यक्ति से अधिक तथा गरीब व्यक्ति से कम शुल्क लेता है।

(4) **आर्डर पर विक्रय :** यदि वस्तु ग्राहकों के आदेश पर बेची जाती है तो विभिन्न ग्राहकों से अलग अलग दर से कीमत प्राप्त की जा सकती है, क्योंकि ग्राहकों को कीमतों की जानकारी नहीं होती है।

(5) **समान सेवा :** यदि विभिन्न वस्तुओ के लिए एक ही प्रकार की सेवा की आवश्यकता है तो भी मूल्य विभेद सम्भव हो सकता है, जैसे ग्राहकों द्वारा विभिन्न प्रकार की वस्तुयें रेलवे द्वारा भेजी जाती हैं, परन्तु रेलवे द्वारा समान दूरी के लिए भी विभिन्न वस्तुओ पर रेलवे भाड़े की अलग-अलग दरें वसूल की जाती हैं। अत रेलवे सेवा की आवश्यकता विभिन्न वस्तुओ के लिए समान है, परन्तु उन वस्तुओ के साथ रेलवे मूल्य विभेद करती है।

(6) **परिवहन व्यय :** वस्तुओ के एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचने मे परिवहन-व्यय उठाना पड़ता है। इस व्यय के कारण भी विभिन्न बाजारों मे एक ही वस्तु विभिन्न दरों पर बेची जाती है। परिवहन-व्यय के कारण बाजारों का एक प्रकार से भौगोलिक विभाजन हो जाता है।

(7) **सरकारी नियमन :** कभी कभी सरकार ऐसे प्रतिबन्ध लगाती है या वस्तुओं की पूर्ति के सम्बन्ध मे ऐसे नियम बनाती है जिनके कारण एक ही प्रकार की वस्तु विभिन्न मूल्यों पर बेची जाती है।

प्रो० पीगू ने अपने मूल्य विभेद के लिये दो शर्तों का उल्लेख किया है। प्रथम, वस्तु के अलग अलग विभिन्न बाजार हो तथा एक बाजार से सम्बन्धित माग

---

[6] "The first of these (conditions) is that no unit of the commodity sold in one market can be transferred to another market The second is that no unit of demand, proper to one market, can be transferred to another market"

—*Pigou, A.C*, 'The Economics of Welfare' (1950) p 275

का स्थानान्तर (Transfer) दूसरे बाजार में नहीं किया जा सकता हो। द्वितीय, एक बाजार से सम्बन्धित पूर्ति का स्थानान्तर दूसरे बाजार में नहीं हो सकता है। प्रत्यक्ष व्यक्तिगत सेवाओं का विक्रय इसका उदाहरण है जैसे डाक्टर की सेवा। यदि एक डाक्टर एक निर्धन व्यक्ति से कम शुल्क लेता है तो निर्धन व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह डाक्टर से प्राप्त लाभ (पूर्ति) को धनी व्यक्ति को हस्तान्तरित कर सके या बेच सके। अतः डाक्टर धनी व्यक्ति से अधिक शुल्क ले सकता है। अतः यहां पर मूल्य विभेद इसलिए सम्भव हो सका है कि पूर्ति का स्थानान्तर सस्ते बाजार से महंगे बाजार को नहीं हो सकता है। इसी प्रकार इस उदाहरण में मूल्य विभेद इसलिए सम्भव हो सका है कि मांग का भी स्थानान्तर सम्भव नहीं है जैसे धनी व्यक्ति डाक्टर की सेवा सम्बन्धी अपनी मांग का भी स्थानान्तर नहीं कर सकता है, *अर्थात् वह निर्धन बनकर अपनी मांग को निर्धन व्यक्ति की मांग नहीं बना सकता है।*

3 वर्गीकरण

प्रो॰ पीगू ने मूल्य विवेचन का वर्गीकरण तीन श्रेणियों में किया है।[6]

(i) **प्रथम श्रेणी का मूल्य विवेचन** (Discrimination of the first order) *उस अवस्था का कहना है जिसमें विक्रेता विभिन्न क्रेताओं से अलग अलग* कीमत लेता है। इतना ही नहीं बल्कि वस्तु की विभिन्न इकाइयों के लिए अलग अलग कीमत भी ली जाती हैं (एक ही विक्रेता से)। (श्रीमती जोन राबिन्सन का कहना है कि पूर्ण विवेचन तभी सम्भव है जबकि एक क्रेता एक इकाई क्रय करे तथा उसके लिए वह अधिकतम कीमत देने को प्रस्तुत हो)।

(ii) **द्वितीय श्रेणी का मूल्य विवेचन** उस अवस्था में पाया जाता है *जबकि बाजार को विभिन्न वर्गों में मूल्य चुकाने की क्षमता के आधार पर बांट दिया जाता है।*

(iii) **तृतीय श्रेणी का मूल्य विवेचन** यह विवेचन दूसरी श्रेणी के विवेचन का ही एक रूप है। इसमें विभिन्न क्रेताओं से विभिन्न मूल्य लिए जाते हैं तथा उनमें विभेद किसी बाह्य निर्देशांक (External Indices) द्वारा किया जाता है, जैसे रेलवे विभिन्न श्रेणी के यात्रियों से अलग अलग दरों पर किराया लेती है परन्तु श्रेणी के चुनाव की स्वतन्त्रता यात्रियों को होती है।

---

[6] "We may distinguish three degrees of discriminating power, which a monopolist may conceivably wield ... though all theoretically possible are not, from a practical point of view of equal importance" —*Ibid pp 278 9*

मूल्य विभेद के रूपों का ज्ञान, निम्न सारिणी द्वारा किया जा सकता है :

मूल्य विभेद के प्रमुख रूप

मुख्य प्रकार	विभेद के आधार	उदाहरण
1. व्यक्तिगत (Personal)	क्रेता की आय क्रेता की भजन की क्षमता	डाक्टर का शुल्क पेटेन्टेड मशीन की रायल्टी
2. समूह (Group)	(i) क्रेता की आयु, लिंग इत्यादि (ii) क्रेता का स्थान (iii) क्रेता का स्तर (Status) (iv) वस्तु का प्रयोग	बच्चों की बाल कटाई, सिनेमा गृह में विद्यार्थियों का प्रवेश-शुल्क डम्पिग, क्षेत्र के अनुसार कीमतें नए ग्राहकों से कम की कीमत लेना, अधिक मात्रा में खरीदने वालों को छूट देना। रेलवे किराया, बिजली की अलग दरें,
3 वस्तु (Product)	(i) वस्तु के गुण (ii) वस्तु के लेबिल (iii) वस्तु की माप (Size) (iv) सेवा के प्रयोग का समय (Peak and off peak period)	पुस्तक के डिलक्स संस्करण की कीमत, बिना छाप की वस्तुओं की कम कीमत बड़े पैक के टुथपेस्ट की कम कीमत रेलवे द्वारा गर्मी के दिनों में भाड़े में छूट, परिवहन सेवाओं द्वारा या होटलों द्वारा अवधि विशेष में कम दरें वसूल करना।

4 विभेदात्मक एकाधिकार में मूल्य निर्धारण :
(Price Determination Under Discriminating Monopoly)

1 मूल्य निर्धारण विधि : एकाधिकारी का उद्देश्य एकाधिकारिक लाभ को अधिकतम करना होता है। विवेचनात्मक एकाधिकार के अन्तर्गत वह माग की लोच के अनुसार, विभिन्न बाजारों में, विभिन्न दर पर कीमत वसूल करेगा। हम यह जानते हैं कि जब बाजार एक ही होता है तब शुद्ध एकाधिकारी सीमान्त आय को सीमान्त लागत के बराबर कर अपना लाभ अधिकतम करता है। परन्तु विवेचनात्मक एकाधिकार की स्थिति में लाभ को अधिकतम किस प्रकार किया जाता है? क्या (1) प्रत्येक बाजार में सीमान्त आय को सीमान्त लागत के बराबर कर लाभ अधिकतम किया जाए ? अथवा (2) सभी बाजारों की सीमान्त आय के कुल योग को कुल सीमान्त लागत के बराबर किया जाए ? श्रीमती जोन रॉबिन्सन का मत है कि (i) कुल उत्पादन की सीमान्त लागत को प्रत्येक बाजार की सीमान्त आय के बराबर कर विवेचनात्मक एकाधिकारी लाभ को अधिकतम कर सकता है। अर्थात् प्रत्येक बाजार

मे उसकी सीमात आय समान होनी चाहिए परन्तु साथ ही साथ प्रत्येक बाजार मे प्राप्त सीमात आय कुल उत्पादन की सीमात लागत के बराबर होनी चाहिए। कीमत प्रत्येक बाजार मे माग के अनुसार होगी।[7] विभेदात्मक एकाधिकारी द्वारा कीमत-निर्धारण की विधि का स्पष्टीकरण दो विधियो से किया जाता है—(1) जब एक बाजार मे उसका एकाधिकार हो तथा दूसरे बाजार मे उसे प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड रहा है। तथा (11) जब उसे प्रतिस्पर्धा का सामना किसी भी बाजार म नही करना पड रहा हो, अर्थात् प्रत्येक बाजार मे उसका एकाधिकार हो। इन दोनो दशाओ मे कीमत निर्धारण विधि का स्पष्टीकरण किया गया है

1 सरक्षित देशी बाजार तथा प्रतिस्पर्धा पूर्ण विदेशी बाजार

(Prote ted Home Market and Competetive Foreign Market)

मूल्य-विवेचन की एक विशेष परिस्थिति उस समय होती जबकि एकाधिकार वा एसे बाजारो म अपनी वस्तु बेच रहा हो जिनमे से एक मे उसका एकाधिकार हो तथा दूसरे म उसे अ य प्रतिस्पर्धियो का मुकाबला करना पड रहा हो। जैसे, देश के अ दर तो उसे एकाधिकार प्राप्त हो परन्तु विदेशो मे उसे प्रतिस्पर्धा का सामना करना पडता हो। ऐसी परिस्थिति मे सामान्यतया एकाधिकारी देश के अन्दर वस्तु का अधिक मूल्य तथा विदेश मे कम मूल्य वसूल कर एकाधिकारिक लाभ को अधिकतम करता है।

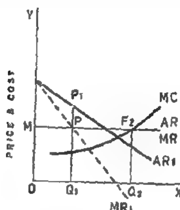
मान लीजिए बाजार 1 सरक्षित देशी बाजार तथा बाजार 2 प्रतिस्पर्धी विदेशी बाजार है। विदेशी बाजार मे कीमत सीमात आय के बराबर होगी (P=MR) एकाधिकारी बिक्री मे इस प्रकार का समायोजन करेगा जिसस देशी बाजार की सीमात आय विदेशी बाजार की कीमत के बराबर हो। क्योकि ऐसी समायोजना करने स ही दोनो बाजारो की सीमात आय समान होगी जिसमे कुल उत्पादन की सीमात लागत विदेशी बाजार के मूल्य के बराबर हो सकेगी। इसका स्पष्टीकरण रेखा चित्र सख्या 11 1 मे किया गया है।

कुल उत्पादन OQ_2 है। AR_1 तथा AR क्रमश देशी तथा विदेशी बाजार मे माग वक्र है MR_1 तथा MR क्रमश देशी तथा विदेशी बाजार म सम्बन्धित

---

7 The monopoly output under price discrimination is determined by the intersect on of the monopolist s marginal cost curve with aggregate marginal revenue curve This total output is made up of the amounts sold in the two market, in each of which marginal revenue is equal to the marginal cost of the whole output The price in each market will be the demand price for the amount of output sold there". *Joan Robinson*, op. cit, p 182

सीमांत आय-वक्र है। OQ_1 मात्रा देशी बाजार तथा $Q_1 Q_2$ मात्रा विदेशी बाजार में बेची जा रही है जिनकी कीमतें क्रमशः $P_1 \ Q_1$ (देशी बाजार) तथा $F_2 Q_2$ (विदेशी बाजार) हैं। चित्र से स्पष्ट है कि विदेशी बाजार में कीमत तथा सीमांत आय दोनों बराबर है (F_2Q_2 कीमत तथा सीमांत आय है) देशी बाजार में OQ_1



चित्र सं० 114

उत्पादन मात्रा ऐसी मात्रा है कि उसकी सीमांत आय विदेशी बाजार की कीमत के बराबर है। विदेशी बाजार में बेची जाने वाली मात्रा $Q_1Q_2 = OQ_2 - OQ_1$।

यदि विदेशी बाजार में कीमत कम हो जाए तो एकाधिकारी कुल उत्पादन कम कर देगा, इससे सीमांत लागत कम होगी (Q_2 बिन्दु बाईं तरफ खिसक जाएगा)। देशी बाजार में बिक्री की मात्रा बढ़ा दी जाएगी (Q_1 बिन्दु दाहिनी तरफ खिसक जाएगा)। इस प्रकार विदेशी बाजार में बेची जाने वाली मात्रा कम हो जाएगी। यदि विदेशी बाजार में कीमत इतनी अधिक गिर जाए कि MR_1 तथा MC जहाँ एक दूसरे को काटते हैं, उससे भी कम कीमत प्राप्त होने लगे तो विदेशी बाजार में एकाधिकारी बिक्री बन्द कर देगा।

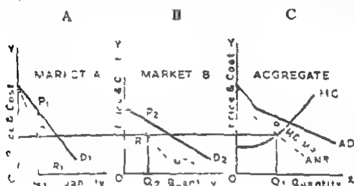
2. जब सभी बाजारों में उसका एकाधिकार हो :

जब सभी बाजारों में उसका एकाधिकार हो तो निम्नविधि द्वारा कीमत निर्धारित की जाएगी।

जब बाजारों में एकाधिकार की स्थिति हो तो कीमत-निर्धारण विधि का स्पष्टीकरण चित्र संख्या 115 द्वारा किया जा सकता है :

चित्र A तथा B एक एकाधिकारिक फर्म को दो बाजारों (A तथा B) में औसत और सीमांत आगम-वक्र दिखलाते हैं। इन बाजारों में अलग-अलग कीमतों पर

मांग की लोचें भिन्न हैं। चित्र C दोनों बाजारों का योग है। बाजार A ऊंची आय प्रकट करता है अतः मांग तथा सीमान्त आगम रेखाएं (क्रमशः D_1 तथा MR_1) ऊंचे से प्रारम्भ होती हैं (चित्र B की अपेक्षा)। चित्र B में भी D_2 तथा MR_2 क्रमशः मांग तथा सीमान्त आगम को प्रकट करते हैं। चित्र C में A तथा B बाजारों का योग (Total) दिखलाया गया है इस चित्र में $AMR = MR_1 + MR_2$ को



चित्र सं० 115

प्रकट करता है। चित्र C में सीमान्त-लागत भी दिखलाई गई है। बिन्दु R पर (चित्र C) सीमान्त लागत, कुल सीमान्त आगम (दोनों बाजारों की) के बराबर है। बिन्दु R से आधार-रेखा के समानान्तर रेखा खींची गई है। बिन्दु R_1 तथा R_2 पर MR_1 तथा MR_2, MC (सीमान्त लागत) के बराबर है।

R_1 तथा R_2 बिन्दुओं से लम्ब डाले गये हैं। इस प्रकार दोनों प्रकार की कीमतों को ज्ञात किया जाता है।

चित्र C में स्पष्ट है कि उत्पादन की मात्रा OQ होगी। इस उत्पादन पर फर्म सन्तुलन की स्थिति में होगी क्योंकि इस उत्पादन पर सीमान्त लागत तथा सीमान्त आगम समान हैं। उत्पादन की यह मात्रा दोनों बाजारों में इस प्रकार विभाजित की जाती है कि प्रत्येक बाजार का सीमान्त आगम चित्र C के सीमान्त आगम (Q_1R) के बराबर हो। बाजार A में OQ_1 मात्रा बेची जाएगी। इस मात्रा पर बाजार A में सीमान्त आगम QR के बराबर है। उस बाजार में कीमत Q_1P_1 होगी। इसी प्रकार बाजार B में OQ_2 मात्रा Q_2P_2 कीमत पर बेची जाएगी। यहां पर भी सीमान्त आय (बाजार B में) RQ के बराबर है। चित्र C में R बिन्दु के बाएं का क्षेत्र (AMR तथा MC द्वारा घिरा हुआ क्षेत्र, जहां पर ये एक दूसरे को काटती हैं R बिन्दु के बाईं तरफ का घिरा हुआ क्षेत्र) एकाधिकारी के लाभ को प्रकट करता है।

पहले हम उल्लेख कर चुके हैं कि विभेदात्मक एकाधिकारी को लाभ अधिकतम करने के लिए दो शर्तों की पूर्ति आवश्यक है : (i) सभी बाजारों में उसकी सीमान्त आय समान होनी चाहिए तथा (ii) उसकी सीमान्त आय, सीमान्त लागत के बराबर होनी चाहिए दूसरे शब्दों में प्रथम बाजार की सीमान्त आय=दूसरे बाजार की सीमान्त आय=सीमान्त लागत होनी चाहिए। चित्र से इन तीनों शर्तों की पूर्ति होती है।

मांग की लोच का प्रभाव :

मूल्य विभेद किन दशाओं में लाभदायक होता है, इस प्रश्न के उत्तर के लिए एक साधारण एकाधिकारी फर्म के बजाय दो या अधिक फर्मों पर एक साधारण फर्म का सिद्धांत लागू करना होगा। इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि समस्त बाजारों में सीमान्त आय समान रहनी चाहिए। इस बात को स्पष्ट करने के लिए हमें मांग की लोच पर भी विचार करना होगा क्योंकि सीमान्त आय तथा औसत आय मांग की लोच से प्रभावित होती है। यदि हम यह मानते कि मूल्य-विभेद वस्तुतः सम्भव होता है तो एकाधिकारी के लिए दो बाजारों में वह उसी समय हितकर होगा जबकि एक ही एकाधिकार मूल्य (Single monopoly price) उनमें मांग की लोचें भिन्न भिन्न हों। इसका कारण यह है कि यदि दोनों बाजारों में एक ही एकाधिकार मूल्य पर मांग की लोचें बराबर होती हैं, तो दोनों बाजारों में सीमान्त आय बराबर होगी। इसको निम्न फार्मूला द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है :

$$\text{सीमान्त आय} = \text{औसत आय} \times \frac{e-1}{e}$$

यहां e मांग का बिन्दु लोच है। यदि प्रत्येक बाजार में औसत आय (अर्थात् एक ही एकाधिकार मूल्य) समान है तथा मांग की लोचें भी समान हैं, तो उक्त फार्मूले से यह ज्ञात किया जा सकता है कि दोनों बाजारों में सीमांत आय बराबर रहती है। दोनों बाजारों में सीमान्त आय के बराबर रहने पर एकाधिकारी को मूल्य-विभेद से कोई प्रेरणा नहीं मिलती, क्योंकि यदि माल ऊंचे मूल्य वाले बाजार से कम मूल्य वाले बाजार में स्थानान्तरित भी कर दिया जाता है तो कम मूल्य वाले बाजार का लाभ ऊंचे बाजार की हानि से मिट जाने के कारण उसकी कुल आय में कोई वृद्धि नहीं होगी।

अब यदि यह कल्पना की जाये कि एक ही एकाधिकार मूल्य पर प्रत्येक मांग की लोच भिन्न-भिन्न होती है। माना कि बाजार A में मांग की लोच या बेलोच (demand is inelastic) है तथा बाजार B में मांग की लोच बहुत ही

अधिक है (अर्थात् माग लोचदार है demand is elastic)। उक्त फार्मूले से यह मालूम किया जा सकता है कि यदि दोनों बाजारों में माग की लोच भिन्न भिन्न हैं, तो एक ही एकाधिकार मूल्य पर सीमात आय भी भिन्न भिन्न होगी। बाजार A मे माग की लोच नीची होने पर मूल्य एक ही एकाधिकार मूल्य से ऊपर जा सकेगा। इसका कारण यह है कि मूल्य के बदलने का माग पर बहुत कम प्रभाव पड़ता है और मूल्य वृद्धि से माग मे अधिक कमी नहीं आती। इसके विपरीत बाजार B मे माग की लोच अधिक होने पर, मूल्य परिवर्तन का माँग पर अधिक प्रभाव पड़ता है। ऐसी स्थिति मे बाजार B मे वस्तु के मूल्य को एक ही एकाधिकार मूल्य से नीचे रखना लाभप्रद होगा। इससे यह स्पष्ट है बाजार A मे माग की लोच नीची होने से बिक्री की कमी से आय मे बहुत मामूली कमी आती है और बाजार B मे माग की लोच ऊची होने से मूल्य की कमी से आय मे बहुत अधिक वृद्धि हो जाती है। ऐसी स्थिति मे एक ही मूल्य लेने वाले एकाधिकारी के लिए बेलोच माग वाले बाजार (A) से वस्तुओ को, लोचदार माग वाले बाजार (B) म को हस्तान्तरित करना लाभप्रद होगा। बेलोच माग वाले बाजार (A) मे एक (सीमान्त) इकाई की बिक्री कम होने पर आय मे जो हानि होगी, वह लोचदार माग वाले बाजार (B) मे एक (सीमात) इकाई की बिक्री की वृद्धि से होने वाली आय मे जो वृद्धि होती है उससे कम होगी। जब दोनों बाजार मे औसत आय समान होती है, तब उस बाजार मे, जहा माग की लोच अधिक ऊची होती है, सीमात आय अपेक्षाकृत अधिक होती है। बाजार B मे, जहा लोच ऊची है, बाजार A की अपेक्षा सीमात आय अधिक होगी, क्योंकि दोनों मे औसत आय प्रारम्भ मे समान है।

5 मूल्य-विभेद का औचित्य (Justification of Price Discrimination)

आर्थिक या सामान्य-जीवन मे किसी भी प्रकार का विवेचन सामान्यत: उचित नही है। मूल्य विवेचन उचित है या नही? यह इस बात पर निर्भर है कि मूल्य-विवेचन किन परिस्थितियो मे किया जा रहा है, तथा किस उद्देश्य से किया जा रहा है।

(1) मूल्य-विवेचन द्वारा, शुद्ध एकाधिकार की तुलना मे अधिक लाभ प्राप्त किया जा सकता है। यह सम्भव है कि यदि मूल्य-विवेचन द्वारा लाभ न प्राप्त किया जाए तो उत्पादन या सेवा बन्द कर दी जाए। उदाहरणार्थ, यदि रेलवे बिजली कम्पनी (जो सार्वजनिक सेवा प्रदान करती है) आदि मूल्य-विवेचन की नीति न अपनाए तो उन्हें घाटा होगा तथा उत्पादन बन्द करना पड़ेगा। अत. ऐसी सेवाओ को जारी रखने के लिए मूल्य विवेचन पूर्णतया उचित है।

(2) यदि दो बाजारो मे मूल्य विवेचन किया जा रहा है तो यह बतलाना कठिन है कि मूल्य-विवेचन उचित है या अनुचित। यदि मूल्य-विवेचन द्वारा निर्धनों

को कम मूल्य तथा धनी व्यक्तियों से अधिक मूल्य पर वस्तुएं बेची जा रही हैं तो सामाजिक न्याय की दृष्टि से मूल्य-विवेचन उचित है।

(3) यदि निर्यात व्यापार में वृद्धि की दृष्टि से विदेशों में कम मूल्य पर तथा देश में अधिक मूल्य पर वस्तुएं बेची जा रही हैं तथा देश में बहुत अधिक ऊंचा मूल्य नहीं वसूल किया जा रहा है तो मूल्य-विवेचन उचित है।

(4) यदि मूल्य विवेचन द्वारा देश के कुल उत्पादन में अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि हो रही है तो देश के कुल आर्थिक कल्याण की दृष्टि से मूल्य-विवेचन उचित है। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि मूल्य-विवेचन द्वारा उत्पादन-साधनों का दुर्वितरण (maldistribution) होता है, अत: इस दृष्टि से मूल्य विवेचन हानि-प्रद है।

क्या एकाधिकार मूल्य सदैव स्पर्द्धात्मक मूल्य से ऊंचा होता है ?
(Is Monopoly Price Always Higher than Competitive Price ?)

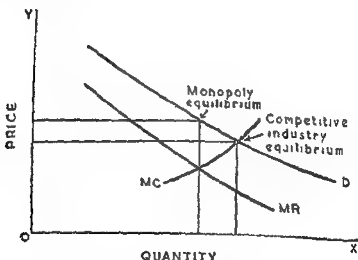
हम यह जानते हैं कि पूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत कीमत सीमान्त लागत के बराबर होती है तथा एकाधिकार के अन्तर्गत कीमत सामान्यतः सीमान्त लागत से अधिक होती है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि एकाधिकार के अन्तर्गत कीमत, पूर्ण-स्पर्द्धा की अपेक्षा सदैव ऊंची होगी। ऐसी परिस्थितियां का पाया जाना सम्भव है, जिनमें एकाधिकार मूल्य प्रतिस्पर्द्धा-मूल्य से कम हो।

अधिक मात्रा में उत्पादन तथा क्रिय-व्ययों में मितव्ययिता के कारण यह सम्भव है कि एकाधिकारी की सीमान्त लागत अपेक्षाकृत कम हो। अत: यदि एकाधिकारी अपनी सीमान्त लागत से अधिक भी कीमत वसूल करे तो भी यह सर्वथा सम्भव है कि उसकी सीमान्त लागत प्रतिस्पर्द्धी विक्रेता की लागत से कम हो। इस प्रकार एकाधिकारी की कीमत पूर्ण-स्पर्द्धा की कीमत से कम हो सकती है।

सामान्यतया एकाधिकारी-कीमत पूर्ण स्पर्द्धा कीमत से ऊंची होती है परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि यह कीमत सदैव ऊंची हो। कुछ ऐसी परिस्थितियां तथा तत्त्व हैं जो एकाधिकारी को अधिक कीमत रखने से रोकती है : (1) स्थानापन्न वस्तुओं का भय, (2) सरकारी नियमन तथा नियन्त्रण, (3) उपभोक्ताओं का प्रबल विरोध, (4) प्रतियोगिता का भय, (5) अधिक मात्रा में उत्पादन द्वारा उत्पादन व्यय में कमी कर विक्रय की मात्रा में वृद्धि करके अधिक लाभ अर्जित करने की इच्छा, (6) और कभी-कभी जन-कल्याण की भावना, आदि कारणों से एकाधिकारी मनमाने ढंग से ऊंची कीमत निर्धारित नहीं कर सकता है।

अधिकतम लाभ प्राप्त करने वाला एकाधिकारी पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत उत्पादन करने वाले उद्योग की अपेक्षा कीमत ऊंची रखता है तथा उत्पादन कम करता है, यदि माग तथा लागत की दशाएं समान हों।

चित्र सं० 116 में पूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकार की स्थितियों की तुलना की गयी है। यहाँ पर यह मान लिया गया है कि एकाधिकारी के पास भी उतने ही प्लांट (plants) हैं जितने कि पूर्ण स्पर्द्धा की स्थिति में उत्पादन करने वाले उद्योग के पास। दोनों के लिए लागत समान है तथा उद्योग में प्रत्येक पडत का थोडा अंश प्रयोग में लाया जाता है। एकाधिकारी की प्रेरणा का आधार अधिकतम लाभ प्राप्त करना है। अतः जहाँ पर भी सम्भव होगा वह पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत कार्य करने वाले फर्मों की तरह लागत कम करने का प्रयत्न करेगा। वह दी गयी उत्पादन-मात्रा को विभिन्न प्लांटों में उसी प्रकार बाँटेगा जिस प्रकार कि उत्पादन का बटवारा पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में किया जाता है। यदि वह ऐसा नहीं करेगा, तो विभिन्न प्लांटों में सीमान्त लागतों में अन्तर होगा और इस प्रकार वह ऊँची सीमान्त लागत वाले प्लांट द्वारा एक इकाई कम उत्पादन करके अथवा कम सीमान्त लागत वाले प्लांट द्वारा एक इकाई अधिक उत्पादन करके कुल लागत कम करने का प्रयत्न करेगा। चित्र सं० 116 में एकाधिकार तथा प्रतिस्पर्धात्मक कुल सीमान्त लागत एक ही है। उपर्युक्त मान्यता के आधार पर ही दोनों प्रकार की सस्थागत स्थितियों के लिए माँग वक्र भी एक ही है।



चित्र सं० 116

प्रो० गैलब्रेथ (John Kenneth Galbraith) ने 'Theory of Countervailing Power' का विचार प्रस्तुत किया है। अर्थशास्त्रियों ने यह विचार व्यक्त किया है कि एकाधिकारी भावी प्रतिस्पर्धा के भय से अधिक ऊँची कीमत नहीं रखता

है। साथ ही साथ सरकारी प्रतिबन्धों का भी उसे भय रहता है। प्रो० गैलब्रेथ का कहना है कि एकाधिकारी उपभोक्ताओं की प्रतिस्पर्धा से अधिक डरता है। उन्होंने इस सम्बन्ध में जो सिद्धात प्रतिपादित किया है उसे Theory of Countervailing Power कहते है। उन्होंने 'फुटकर उपभोक्ता वस्तु बाजार' तथा 'उत्पादक वस्तु बाजार' का अध्ययन कर यह बतलाया है कि एकाधिकारी की असामाजिक नीतियों के विरोध में उपभोक्ता भी 'क्रेता एकाधिकारी' के रूप में सगठित होते हैं। इस प्रकार उनकी एकाधिकारिक शक्ति, उत्पादक एकाधिकारी की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होती है। इस प्रकार व्यक्तिगत आर्थिक शक्ति को उन व्यक्तियों द्वारा रोका जाता है जो इस शक्ति के शिकार होते हैं। आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण ने केवल मजबूत विक्रेताओं को ही नहीं, बल्कि मजबूत क्रेताओं को भी जन्म दिया है। 'कुछ विक्रेताओं के विशिष्ट आधुनिक बाजार में क्रियात्मक प्रतिरोध, प्रतिस्पर्धियों द्वारा नहीं बल्कि बाजार के दूसरे पक्ष विक्रेताओं द्वारा किया जाता है।'[8] अतः एकाधिकारी की शक्ति का सबसे बड़ा प्रतिरोधक तत्व स्वयं क्रेता ही है। (प्रो० गैलब्रेथ ने विक्रेता के Countervailing Power का भी उल्लेख किया है।)

एकाधिकार का नियमन (Regulation of Monopoly)

कभी कभी एकाधिकार के परिणाम बड़े घातक सिद्ध होते हैं। उपभोक्ताओं का शोषण, कृत्रिम ढग से वस्तुओं की पूर्ति कम कर देना, उत्पादन की नवीन विधियों के प्रति एकाधिकारी की उदासीनता, एकाधिकारी द्वारा अर्थ व्यवस्था में असन्तुलन की स्थिति पैदा कर देना आदि ऐसे दोष है, जिनके आधार पर एकाधिकार की कटु निन्दा की जाती है। इन दोषों को दूर करने तथा उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा के लिए, एकाधिकार का नियमन किया जाता है नियमन के निम्नलिखित ढग हैं

(1) एकाधिकार विरोधी सन्नियम (Anti-Monopoly Legislation) एकाधिकार पर नियन्त्रण रखा जा सकता है। ऐसे अधिनियमों का उद्देश्य (i) एकाधिकारिक सस्थाओं की स्थापना न होने देना या (ii) पूर्व स्थापित एकाधिकारिक सस्थाओं को समाप्त कर उन्हें छोटी-छोटी इकाइयों में विकेन्द्रित करना होता है। परन्तु यह विधि किसी भी देश में पूर्ण रूप से सफल सिद्ध नहीं हुई है। नियमों की

8 "—Private economic power is held in check by the countervailing power of those who are subject to it. The first begets the second The long trend towards concentration of industrial enterprise in the hands of a relatively few firms has brought into existence not only strong sellers. but also strong buyers In the typical modern market of few sellers, the active restraint is provided not by competitors but from the other side of the market by strong buyers."

—*J. K Galbraith*, American Capitalism, p III f

कमियो से एकाधिकारी अनुचित रूप मे लाभ उठाते हैं तथा किसी न किसी प्रकार वे उन नियमो की छिपे रूप मे अवहेलना करते रहते है ।

(2) अनुचित व्यवहारों पर प्रतिबन्ध (Control of Mal practices) : ऐसे नियम बनाए जाए जो एकाधिकारी संस्थाओ की अनुचित कार्यवाहियो पर रोक लगा सकें। वस्तु का गुण (Quality) निश्चित करने, विनाशकारी राशिपातन (Dumping) को रोकने तथा सम्भावित प्रतियोगी को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से नियम बनाए जा सकते है। प्रो० पीगू का विचार है कि इस प्रकार के नियमो को भी आंशिक सफलता ही मिलती है। अत. निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीयकरण की नीति ही श्रेयस्कर है।

(3) मूल्य तथा उत्पादन पर नियन्त्रण (Control of Prices and Output) सरकार द्वारा एकाधिकारी के मूल्य तथा उत्पादन पर नियन्त्रण रखा जाता है। सरकार आयोग की नियुक्ति कर, उसके सुझावो के अनुसार उचित कीमत निर्धारित कर सकती है तथा उत्पादन की मात्रा निश्चित कर सकती है। परन्तु उचित कीमत निर्धारित करने मे कुछ व्यावहारिक कठिनाइयो का सामना करना पडता है, जैसे उत्पादन व्यय का अनुमान किस प्रकार लगाया जाए तथा लाभ की किस दर को उचित माना जाए। सामान्यतया कीमत तथा उत्पादन पर निम्नलिखित ढग से नियन्त्रण लागू किया जा सकता है।

(क) कीमत इस प्रकार से निश्चित की जाए की सीमान्त आय सीमान्त व्यय के बराबर हो। (P=M=MC)।

(ख) कीमत उस बिन्दु पर निश्चित की जाए जिस पर सीमान्त उत्पादन लागत कीमत अथवा औसत आय के बराबर हो (P=MC=AR)। ऐसी स्थिति मे एकाधिकारी को अधिक लाभ होगा, परन्तु यह स्थिति अनियन्त्रित एकाधिकार की स्थिति मे, उपभोक्ताओ की दृष्टि, से श्रेष्ठतर है। इस प्रकार के नियन्त्रण के पक्ष मे यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि सीमान्त लागत (MC) उत्पादन मे प्रयुक्त साधनो की कीमत को व्यक्त करती है तथा कीमत उपभोक्ताओ का वस्तु से प्राप्त मूल्य को प्रकट करती है, अत सामाजिक दृष्टि से यह उचित है कि उत्पादन मे वृद्धि उस सीमा तक होने दिया जाए, जहा पर साधनो का मूल्य उनकी सीमात लागत के बराबर हो।

(ग) कीमत इस प्रकार निश्चित की जाए कि औसत उत्पादन लागत, औसत आय के बराबर हो। इसके साथ ही उत्पादन की न्यूनतम मात्रा भी निश्चित कर दी जाए। ऐसी परिस्थिति मे एकाधिकारी को केवल सामान्य लाभ प्राप्त होगा।

(4) सार्वजनिक स्वामित्व (Public Ownership) एकाधिकारिक सस्थानो का राष्ट्रीयकरण करना, एकाधिकार पर नियन्त्रण रखने का अन्तिम शस्त्र

है। सामान्यत. रेलवे तथा परिवहन के साधनों, विद्युत उत्पादन तथा वितरण, जल-व्यवस्था, आदि सार्वजनिक हित से सम्बन्धित उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया जाता है। जनहित की दृष्टि से सार्वजनिक स्वामित्व व्यक्तिगत स्वामित्व से श्रेष्ठतर है। राष्ट्रीयकरण द्वारा उत्पादन साधनों का विभिन्न उपयोगों के बीच उचित वितरण सम्भव होता है। राजकीय स्वामित्व अनियन्त्रित निजी स्वामित्व से बहुत अच्छा है।

एकाधिकार की आर्थिक कुशलता (Economic Efficiency of Monopoly)

(i) एकाधिकारी फर्म सामान्यतया साधनों का उपयोग अधिकतम कुशलता के साथ नहीं करती है। हम यह जानते हैं कि पूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत, दीर्घकाल में, फर्म अनुकूलतम आकार की होती है तथा उसका उत्पादन भी अनुकूलतम (Optimum) होता है। परन्तु दीर्घकाल में, जिस उत्पादन पर एकाधिकारी का लाभ अधिकतम होता है, यह आवश्यक नहीं है कि उत्पादन की वह मात्रा अनुकूलतम हो तथा फर्म का आकार अनुकूलतम हो, (ii) ऐसा होते हुए भी हम यह याद रखना चाहिए कि कोई ऐसा उद्योग, जिसमें बाजार सीमित होने के कारण उत्पादन अनुकूलतम उत्पादन से कम किया जा रहा हो, ऐसी दशा में एकाधिकार की अवस्था कम उत्पादन लागत अथवा अधिक कुशलता का प्रतीक हो सकता है। इस दशा में यदि फर्मों की संख्या अधिक है अर्थात् पूर्ण स्पर्धा की दशा है तो प्रत्येक फर्म अपनी प्लाट का अनुकूलतम उपयोग नहीं कर सकती, इस प्रकार आर्थिक कुशलता कम होगा। परन्तु यह स्मरणीय है कि ऐसी दशा में अधिक कुशल होते हुए भी, एकाधिकारी फर्म साधनों का अधिकतम कुशलता के साथ उपयोग नहीं कर सकती है।

प्रश्न व संकेत

1 एकाधिकारी वस्तु का मूल्य कैसे निर्धारित करता है ?

(Nagpur B Com I 1964)

[संकेत सर्वप्रथम एकाधिकार का अर्थ लिखिए और उसका उद्देश्य बताइये। तत्पश्चात् रेखाचित्रों द्वारा कुल आगम व कुल लागत वक्रों की रीति व सीमान्त और औसत वक्रों की रीति (अल्पकाल में तथा दीर्घकाल में) द्वारा एकाधिकार के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण को समझाइये।]

2 एकाधिकारी किन सिद्धान्तों के आधार पर अपनी वस्तु का मूल्य निर्धारित करता है ? क्या एकाधिकारी का मूल्य प्रतियोगात्मक मूल्य से सदैव अधिक होता है ?

(Agra B Com I, 1963)

[संकेत—'अधिकतम लाभ अर्जित करने हेतु एकाधिकारी कम उत्पत्ति को ऊँचे मूल्यों पर बेचता है', इसे समझाइये। दूसरे भाग में उदाहरण सहित स्पष्ट

कीजिए कि एकाधिकारी द्वारा लिया जाने वाला मूल्य प्रतिस्पर्धात्मक मूल्य से सामान्यत: अधिक होता है, सदैव नहीं चित्र संख्या 116 का प्रयोग कीजिए।]

3. "एकाधिकारी के स्वामी की स्वार्थ पूर्ति माग का इस प्रकार से समायोजन करने मे नहीं है कि वस्तु की विक्रय कीमत केवल उसकी उत्पादन लागतो को ही पूरा कर सके, बल्कि उसका स्वार्थ इस प्रकार के समायोजन मे है कि उसे अधिकतम शुद्ध आगम प्राप्त हो।" मार्शल के इस कथन के सदर्भ मे एकाधिकारी मूल्य निर्धारण को समझाइये।

(संकेत – एकाधिकारी के उद्देश्यो को समझाते हुए कथन की सार्थकता पर प्रकाश डालिए तथा मूल्य-निर्धारण को रेखाचित्र द्वारा व्याख्या कीजिए।]

4 एकाधिकार तथा पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण के अन्तर को पूर्णतया स्पष्ट कीजिए।

(Ravishankar, B Com I, Compart., 1965, Agra B Com I, 1961)

(संकेत––एकाधिकार व प्रतियोगिता का सक्षेप मे समझाइये और दोनो अवस्थाओ मे मूल्य निर्धारण के मूल तत्वो का वर्णन करके उनमे अन्तर स्पष्ट कीजिए। यथास्थान चित्र भी दे।)

5. मूल्य विभेद की परिभाषा दो। विभेदकारी एकाधिकार के अन्तर्गत मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है ? क्या मूल्य विभेद सदैव हानिकारक होता है ?

(संकेत––मूल्य विभेद की परिभाषा लिखिए और उसे स्पष्ट करिए। रेखाचित्र द्वारा इस बाजार अवस्था मे मूल्य निर्धारण की व्याख्या कीजिए। अन्त मे उन दशाओं को समझाइये जिनमे विभेदात्मक एकाधिकार उपयोगी हो सकता है।)

6 एकाधिकार को किस प्रकार नियन्त्रित किया जा सकता ? इस नियन्त्रण की क्या सीमाए हैं ? (Ravi. B A (F) Comp., 1965)

(संकेत––एकाधिकार पर लगाये जाने वाले विभिन्न नियन्त्रणो को बताइये तथा इनकी सीमाएँ लिखिए।)

समस्याएँ (Problems)

1. क्या एक एकाधिकारी अपने उत्पाद का 'मूल्य–विभेद' (Price discrimination) करके बेच सकेगा, यदि दो अलग-अलग बाजारो मे माग सूची निम्न प्रकार हो। कारण सहित समझाइये।

$$Q_1 = 72,000 - 1,000,000P$$

$$Q_2 = 108,000 - 1,500,000P$$

2. अनेक वायुयान 'मूल्य विभेद' का प्रयोग करते हैं। बताइये इनके संदर्भ में मूल्य-विभेद का क्या आधार है—ट्यूरिस्ट बनाम प्रथम श्रेणी के किराये व परिवार वायुयान।

3. यूनाइटेड एयर लाइन्स ने 'प्रथम-श्रेणी' के वायुयानों के आरम्भ करने की सूचना दी जो 'ट्यूरिस्ट तथा प्रथम श्रेणी' की प्रणाली (System) को प्रतिस्थापित करने हेतु चलाये गये। उदाहरणार्थ इस विधि के अन्तर्गत "एकमार्गी-बिना रुकने वाले जेट" (One-way non stop jet) की प्रथम-श्रेणी की सेवा का व्यय 160 65 था जबकि पहले 'प्रथम श्रेणी' व 'ट्यूरिस्ट श्रेणी' का किराया-व्यय क्रमश $196·25 तथा $152 36 था। बताइये यूनाइटेड एयरलाइन्स द्वारा पहले की दोनों प्रणालियों को समाप्त करने के क्या कारण थे?

4 कारण सहित बताइये कि एक एकाधिकारी के समस्त लाभों पर कर लगा दिया जाय तो वह क्या प्रयत्न करेगा?

5. माना एक एकाधिकारी के उत्पाद की माग की लोच 1 50 से 1.25 रह जाती है। यदि लागते स्थिर रहती हैं तो कीमत मे कितना प्रतिशत परिवर्तन होगा?

6 एक तेल-उत्पादक एकाधिकारी के सम्मुख निम्नलिखित माग-सूची है। मान लीजिए कि उसकी सीमान्त लागतें शून्य हैं :—

(i) किस सीमा के पश्चात् वह उत्पादन की मात्रा बढाना बन्द कर देगा?

(ii) अधोलिखित उत्पादन पर उसकी माग लोच क्या होगी?

मूल्य	तेल की माग (टनों मे)
6	250
5	900
4	1,500
3	2,000
2	2,500
1	3,800

7. निम्न मे से मूल्य-विभेद के उदाहरण दीजिए—

(i) बस-यात्रा (ii) देशी बाजार की तुलना मे विदेशी बाजार मे कार की बिक्री (iii) रेलवे द्वारा वसूल किया गया किराया, तथा (iv) टेलिफोन काल्स (Telephone Calls)

8 मान लीजिए एकाधिकारी दो भिन्न भिन्न बाजारो में निम्नलिखित माग-सूचियाँ हैं, तथा उसके पास विक्रय हेतु 1 400 इकाइया हैं, तो बताइये कि वह इस मात्रा को दानो बाजारो मे प्रस्तुत करने हेतु उसे कितनी कीमत लेनी चाहिए और क्यो ?

माग सूचिया	बाजार I		बाजार II	
	कीमत (रु०)	मात्रा (इकाइया)	कीमत (रु०)	मात्रा (इकाइया)
	50	400	60	600
	40	600	50	800
	30	900	40	1,100
	20	1,000	30	1,400

9 मान लीजिए प्रथम बाजार म e=2 0 तथा द्वितीय बाजार मे e=1 5 है तो उत्पादक (एकाधिकारी) किस बाजार म अपना उत्पाद बेचेगा ? उसके द्वारा वसूल की गई कीमतो का आनुपातिक प्रतिशत (Percentage ratio of the Prices) क्या होगा ?

32

अपूर्ण प्रतिस्पर्धा : मूल्य व उत्पादन निर्धारण
(Imperfect Competition Price and Output Determination)

"The terms monopolistic and imperfect competition describe a situation similar to perfect competition with the single important difference that each producer sells a product that is somewhat differentiated from that sold by his competitors"

—Lipsey, Richard G

अब तक हमने बाजार की दो चरम सीमाओं–पूर्ण स्पर्धा तथा एकाधिकार के विषय म अध्ययन किया है। इस अध्याय म सक्षेप मे हम उन अवस्थाओ का अध्ययन करेंगे जो इन दोनो के बीच पाई जाती है। व्यावहारिक जगत मे न तो पूर्ण स्पर्धा पाई जाती है और न शुद्ध एकाधिकार। वस्तुत इन दोनो के बीच की अवस्थाए पाई जाती है। इन बीच की अवस्थाओ को 'मध्यम बाजार की अवस्थाओ' (Intermediate Market Situations) की सज्ञा दी जा सकती है। वस्तुत हम किसी एक स्थिति को अपूर्ण स्पर्धा की स्थिति नहीं कह सकते हैं। अपूर्ण स्पर्धा की कई स्थितिया होती है। अपूर्ण स्पर्धा की सभी अवस्थाओ के वर्णन को इस पुस्तक की अध्ययन सामग्री नहीं बनाया जा सकता, अत यहा पर हम केवल अपूर्ण प्रतिस्पर्धा के दो रूपो 'एकाधिकृत प्रतिस्पर्धा (Monopolistic Competition) तथा अल्प विक्रेताधिकार या अल्पाधिकार (oligopoly) के अन्तर्गत मूल्य एव उत्पाद निर्धारण का अध्ययन करेंगे।

1 एकाधिकृत प्रतिस्पर्धा
(Monopolistic Competition)—

1 अर्थ 'एकाधिकृत प्रतिस्पर्धा' शब्द के प्रणेता चैम्बरलिन थे। उन्होने इस शब्द का प्रयोग बाजार की दो अवस्थाओ के लिए किया है—प्रथम, बहुत से उत्पादक प्रवेश की स्वतन्त्रता के साथ तथा द्वितीय कुछ उत्पादक प्रवेश को सीमित

स्वतन्त्रता के साथ। परन्तु आजकल एकाधिकृत प्रतिस्पर्धा का अर्थ प्रथम अवस्था से है, तथा द्वितीय का अभिप्राय Oligopoly से है। एकाधिकृत प्रतिस्पर्धा का अभिप्राय उस अवस्था से है जिसमे बहुत से विक्रेता होते हैं परन्तु उनकी वस्तुओ मे इतना विभेद (Differentiation) पाया जाता है कि वे एक दूसरे की अपूर्ण स्थानापन्न (Imperfect Substitutes) सिद्ध होती हैं। प्रत्येक विक्रेता या उत्पादक का अपनी वस्तु पर पूर्ण एकाधिकार होता है, परन्तु उसे लगभग अपूर्ण स्थानापन्न वस्तुओ से प्रतिस्पर्धा करनी पडती है। अत प्रत्येक उत्पादक एकाधिकारी होता है, परन्तु साथ ही साथ उसे प्रतिस्पर्धा का भी सामना करना पडता है। उदाहरण के लिए, विभिन्न ब्राड की कारो तथा सिगरेटो के बीच जो स्पर्धा होती है, उसे एकाधिकृत स्पर्धा कह सकते हैं। स्टोनियर तथा हेग के शब्दो मे, "अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा मे अधिकाश उत्पादको की वस्तुए उनके प्रतिद्वन्द्वियो की वस्तुओ से बहुत मिलती जुलती होती हैं। परिणामस्वरूप इन उत्पादको को हमेशा इस बात पर ध्यान देना पडता है कि प्रतिद्वन्द्वियो की क्रियाएं उनके लाभ को कैसे प्रभावित करेंगी। आर्थिक सिद्धात मे इस तरह की स्थिति का विश्लेषण एकाधिकृत प्रतिस्पर्धा (Monopolistic Competition) अथवा समूह-सतुलन (Group Equilibrium) के अन्तर्गत किया जाता है। इसमे एक सी वस्तुए बनाने वाली अनेक फर्मों मे प्रतिस्पर्धा पूर्ण न होकर तीव्र होती है।" एकाधिकृत प्रतिस्पर्धा की निम्नलिखित विशेषताए है : (i) फर्मों की सख्या का अधिक होना, (ii) उद्योग मे किसी भी फर्म के प्रवेश की स्वतन्त्रता, (iii) सभी के द्वारा एक ही प्रकार की वस्तु का उत्पादन करना, परन्तु वस्तुओ का समान न होना, (iv) वस्तु-विभेद का पाया जाना, (v) फर्म का अपनी वस्तु के उत्पादन पर एकाधिकार (vi) विभिन्न फर्मों द्वारा उत्पादित एक ही प्रकार की वस्तुओ मे प्रतिस्पर्धा का पाया जाना। (vii) क्रेता विभिन्न विक्रेताओ मे से किसी एक की वस्तु को अधिक पसन्द कर सकते हैं। यह पसन्दगी वास्तविक अथवा काल्पनिक आधार पर हो सकती है, तथा (iii) क्रेताओं की पसन्द के आधार पर एकाधिकृत प्रतिस्पर्धी, अपने प्रतिस्पर्धी की वस्तुओ की तुलना मे अधिक कीमत ले सकता है, परन्तु अधिक कीमत की सीमा स्थानापन्न वस्तुओ द्वारा निश्चित होती है, अत "एकाधिकृत प्रतिस्पर्धा...एकाधिकृत उसी बिन्दु तक है जहा स्थानापन्न वस्तुओ का प्रयोग प्रारम्भ होता है तथा इस बिन्दु के पश्चात वह प्रतिस्पर्धी हो जाती है।[1]

पूर्ण स्पर्धा मे सम-रूप वस्तु एक ही होती हैं, एकाधिकृत-प्रतिस्पर्धा मे वस्तुओ मे अन्तर पाया जाता है। परन्तु वस्तुए ऐसी भी नही होती है जो एक दूसरे से

1 "Monopolistic competition is.........monopolistic only up to the point where substitution take place and competitive only beyond that point." —*Clair Wilcox*

पूर्णतया भिन्न हो । वस्तु एक ही प्रकार की होती है, परन्तु उसमे कुछ भिन्नता पाई जाती है । वस्तुयें समान (Identical) या लगभग समान होते हुए भी, ट्रेड-मार्क, भिन्न पैकिंग या भिन्न ब्राड के प्रयोग से अलग तथा भिन्न प्रतीत होती हैं । वस्तु की बनावट से भी कुछ भिन्नता दिखलाने का प्रयत्न किया जाता है । वास्तव मे न तो वस्तुयें समरूप होती हैं और न एकाधिकार की तरह दूर की स्थानापन्न । एकाधिकृत-प्रतिस्पर्धा मे कई 'एकाधिकारी' पाये जाते हैं जो एक दूसरे के तीव्र प्रतिस्पर्धी होते हैं । उनमे गम्भीर प्रतिस्पर्धा होती है ।

2 वस्तु विभेद (Product Differentiation) : वस्तु-विभेद एकाधिकृत प्रतिस्पर्धा का मूल आधार है, अर्थात् प्रत्येक फर्म की वस्तु किसी न किसी प्रकार अन्य फर्मों की वस्तुओ से भिन्न होती है । सभी फर्मों द्वारा उत्पादित वस्तुये अधिकाश अशों मे एक दूसरे की स्थानापन्न होती हैं, परन्तु वे एक जैसी नही होती हैं । यदि वस्तु-विभेद नहीं हो, अर्थात् वस्तुओ मे एकरूपता हो तो एकाधिकृत प्रतिस्पर्धा पूर्ण प्रतिस्पर्धा का रूप ग्रहण कर लेगी । इसी प्रकार यदि पूर्ण वस्तु-विभेद हो, अर्थात् वस्तुयें एक दूसरे की स्थानापन्न (Substitutes) न हो तो एकाधिकृत प्रतिस्पर्धा, एकाधिकार का रूप ग्रहण कर लेगी ।

एकाधिकृत प्रतिस्पर्धी वस्तु-विभेद के विभिन्न तरीके अपनाता है । यह विभेद (i) वस्तु की विशेषताओ पर आधारित हो सकता है, जैसे ट्रेडमार्क, पैकिंग मे विभिन्नता, रग तथा रूप मे विभिन्नता, डिजाइन का अलग होना आदि, (ii) वस्तु विभेद विक्रय की दशाओ पर भी आधारित हो सकता है, जैसे विक्रय स्थान का सुविधाजनक होना, विक्रेता की ख्याति, विक्रय की आकर्षक शर्तें—जैसे वस्तु की मरम्मत की सुविधा, खराब होने की अवस्था मे वस्तु की वापसी, साख-सुविधा, वस्तु को क्रेता के घर पर पहुँचाने की सुविधा आदि आदि, (iii) विज्ञापन तथा अन्य विक्रय-वृद्धि-विधियो द्वारा भी वस्तु-विभेद सफलतापूर्वक किया जाता है । मुख्य रूप से वस्तु विभेद की दो विधियां हैं : (1) वस्तु-विभिन्नता (Product Varation) तथा (2) विक्रय-विस्तार (Sales Promotion) ।

3. एकाधिकृत प्रतिस्पर्धी की माग : हम यह जानते हैं कि पूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत वस्तु की माग पूर्णतया लोचदार होती है, अर्थात् वर्तमान कीमत पर फर्म जितनी मात्रा चाहे बेंच सकती हैं । परन्तु एकाधिकृत स्पर्धा के अन्तर्गत माग—एक फर्म की माग, पूर्ण लोचदार नहीं होती है । यदि फर्म अधिक मात्रा बेचना चाहती है तो उसे कीमत कम करनी पडेगी, ताकि दूसरी फर्मों के ग्राहको को आकर्षित किया जा सके । इस प्रकार विक्रेता का कीमत पर अधिकार अपेक्षाकृत कम होता है । उसकी वस्तु की माग-वक्र का ढाल (slope) नीचे की ओर होता है, जो यह प्रकट

करता है कि कम मूल्य पर ही वस्तु की अधिक मात्रा बेची जा सकती है। स्थानापन्न वस्तुओं के उपलब्ध होने के कारण भी कीमत कम रखकर ही अधिक मात्रा बेची जा सकती है।

4. एकाधिकृत प्रतिस्पर्धा की पूर्ति : (1) पूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत उत्पादक को 'उत्पादन-लागत' ही वहन करना पड़ता है, परन्तु एकाधिकृत स्पर्धा में उत्पादन-लागत के साथ ही साथ 'विक्रय-सम्बन्धी लागतों (selling costs) को भी वहन करना पड़ता है, (ii) पूर्ण स्पर्धा में दीर्घकाल में असंख्य अनुकूलतम फर्में होती हैं, जो न्यूनतम 'उत्पादन लागत' पर उत्पादन करती हैं, परन्तु एकाधिकृत स्पर्धा के अन्तर्गत दीर्घकाल में भी फर्में अनुकूलतम से छोटे आकार (less than optimum) की होती हैं।

5 फर्म का सन्तुलन तथा कीमत-निर्धारण (Equilibrium of Firm and Price):

1 अल्प-काल (Short Run) एकाधिकृत प्रतिस्पर्धी की माग तथा पूर्ति का हम अध्ययन कर चुके हैं। उसका माग-वक्र नीचे झुका हुआ होना है। (अर्थात् उसका औसत आय वक्र नीचे झुका हुआ होना है) । फर्म अनुकूलतम आकार से छोटी होती है। फर्म अपना विस्तार उस समय भी रोक देती है जबकि उसकी औसत लागत घट रही हो। इसका कारण यह है कि फर्म सन्तुलन की स्थिति में उसी समय हो जाएगी, जिस समय सीमान्त लागत तथा सीमान्त आय समान हो जाएगी (MR=MC)। फर्म की औसत आय अथवा कीमत सीमान्त आय से कम होगी। (Price is less than marginal revenue)। यदि फर्म इस बिन्दु के पश्चात् भी (where MR=MC) बड़े पैमाने के उत्पादन से लाभ उठाने के लिए अपना विस्तार करती जाती है तो उसकी सीमान्त आय ऋणात्मक (Negative) हो जाएगी। चूंकि सन्तुलन की स्थिति उस समय होती है जबकि सीमांत आय सीमांत लागत के बराबर हो, (Profit is maximum when MR=MC), अतः इस बिन्दु के पश्चात् एकाधिकृत स्पर्धी फर्म अपना विस्तार रोक देगी।

एकाधिकृत प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत फर्म को विक्रय-व्यय भी वहन करना पड़ता है। फर्म बिक्री में वृद्धि केवल मूल्य घटाकर ही नहीं, बल्कि विज्ञापन आदि द्वारा भी करती है। अत. फर्म विक्रय-व्यय भी कीमत द्वारा वसूल करना चाहती है। इस प्रकार फर्म जिस शुद्ध आय (Net Revenue) को अधिकतम करना चाहती है, उसे निम्नलिखित प्रकार प्रकट किया जा सकता है :

[कीमत × उत्पादन] — [उत्पादन लागत + विक्रय व्यय]

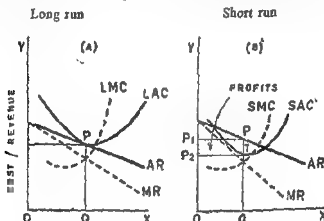
उपरोक्त दोनों के अन्तर को फर्म अधिकतम करना चाहती है। अत फर्म को सन्तुलन स्थिति का अध्ययन करते समय विक्रय-व्यय का भी ध्यान रखना होगा।

विक्रय-व्यय को सीमान्त तथा औसत लागत में सम्मिलित करना पड़ेगा। इससे कठिनाई बढ़ जाती है। एक सामान्य नियम यह हो सकता है कि फर्म 'विक्रय-व्यय' में वृद्धि को उस समय रोक देगी, जबकि अतिरिक्त विक्रय-व्यय के कारण प्राप्त अतिरिक्त आय, अतिरिक्त विक्रय व्यय के बराबर हो जाए। जैसे दस रुपया विक्रय-व्यय करने से यदि अतिरिक्त आय भी दस रुपया होती है, तो फर्म इसके बाद विक्रय व्यय में वृद्धि नहीं करेगी। अतः यह कहा जा सकता है कि फर्म सन्तुलन की स्थिति में उस समय होगी जबकि उत्पादन लागत तथा विक्रय-लागत को सम्मिलित कर :

सीमान्त आय=सीमान्त लागत, MR=MC।

सन्तुलन की स्थिति का स्पष्टीकरण चित्र संख्या 108 में किया गया है।

चित्र सं० 108 में SMC, SAC क्रमशः अल्पकालीन सीमान्त लागत तथा अल्पकालीन औसत लागत वक्र है। AR तथा MR वक्र क्रमशः औसत तथा सीमान्त



चित्र सं० 108

आय वक्र है। MR तथा SMC वक्र एक दूसरे को OQ उत्पादन-मात्रा पर काटते है। अतः इस उत्पादन-मात्रा पर फर्म सन्तुलन की स्थिति में है। इस उत्पादन मात्रा के लिए कीमत PQ (या OP_1) है। QT औसत उत्पादन लागत है तथा PQ औसत आय है। इस प्रकार फर्म को P_1P_2 TP के बराबर अधिक-लाभ (Super-normal profit) प्राप्त हो रहा है। (इससे यह स्पष्ट होता है कि एकाधिकृत प्रतिस्पर्धी फर्म का अल्पकालीन सन्तुलन पूर्णतया एकाधिकारी फर्म के सतुलन की ही भांति है[2])

[2] "The Short Run equilibrium of the firm (under monopolistic competition) is exactly the same as that of a monopolist."

—*Lipsey R G., op. cit., p* 217

8 उद्योग की साम्य अवस्था अथवा 'सामूहिक-सन्तुलन-स्थिति' :
(Equilibrium of the Industry or Group Equilibrium):

एकाधिकारिक प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत वस्तु-विभेद पाया जाता है, अत यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या 'उद्योग' शब्द का प्रयोग ऐसी स्थिति मे उपयुक्त है ? हम यह जानते हैं कि इस अवस्था मे वस्तु विभेद होने पर भी वस्तुएँ एक दूसरे की स्थानापन्न होती हैं। हिन्द', हरक्यूलिस', 'ईस्टर्न स्टार' आदि साइकिलो मे अन्तर हो सकता है, परन्तु उद्योग विभिन्न उत्पादक-समूहो का एक वृहद् समूह होता है। इसी कारण एकाधिकारिक स्पर्धा की स्थिति मे उद्योग के सतुलन को सामूहिक या 'समूह-सतुलन' भी कहते हैं। इस समूह मे प्रत्येक उत्पादक एकाधिकारी है (जहा तक उसकी वस्तु का सम्बन्ध है), साथ ही साथ उसे सीमित प्रतिस्पर्धा का भी सामना करना पड़ता है। 'समूह-सतुलन की स्थिति का वर्णन अत्यन्त ही कठिन है। वस्तुओ मे विभिन्नता कीमतो तथा उत्पादन-लागतो म विभिन्नता, क्रेताओं की माग मे विभिन्नता आदि कारणो से कठिनाई उपस्थित होती है। फिर भी हम 'उद्योग–सतुलन' की कल्पना कर सकते हैं।

उद्योग की सतुलन स्थिति वह स्थिति है, जिसमे फर्मों की सख्या मे परिवर्तन न हो तथा फर्मों को सामान्य लाभ प्राप्त हो रहा हो। पूर्ण-स्पर्धा की भाति एकाधिकारिक स्पर्धा की स्थिति मे भी उद्योग सतुलन की स्थिति मे उस समय होगा जबकि (i) फर्मों की सख्या निश्चित होगी, (ii) कीमत औसत उत्पादन लागत के बराबर होगी, तथा (iii) फर्मों को केवल सामान्य लाभ प्राप्त होगा। परन्तु अन्य बातो मे विभिन्नता पाई जाती है, जैसे :

(1) पूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत, दीर्घकाल मे, प्रत्येक फर्म अनुकूलतम आकार की होगी तथा कीमत न्यूनतम उत्पादन लागत के बराबर होगी। परन्तु एकाधिकारिक स्पर्धा के अन्तर्गत प्रत्येक फर्म न्यूनतम उत्पादन लागत-बिन्दु पर पहुँचने के पूर्व ही सतुलन की स्थिति म होगी। उद्योग की सतुलन स्थिति मे कीमत औसत उत्पादन-व्यय के बराबर होगी, परन्तु औसत उत्पादन व्यय न्यूनतम नही होगा।

(2) क्रेताओ के लिए पूर्ण स्पर्धा की स्थिति लाभदायक है, क्योकि उन्हे न्यूनतम उत्पादन लागत के बराबर कीमत देनी पड़ती है। एकाधिकारिक स्पर्धा के अन्तर्गत न्यूनतम लागत का प्रश्न ही नही उठता है।

(3) पूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत फर्मों को विक्रय-सम्बन्धी व्यय (Selling cost) वहन नही करना पड़ता है। एकाधिकारिक प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत 'विक्रय-व्यय' बहुत अधिक होता है, जो उपभोक्ताओ से ही ऊची कीमत के रूप म वसूल किया जाता है। अत कीमत, पूर्ण स्पर्धा की अपेक्षा सामान्यतया अधिक होती है।

7. विक्रय-लागतें (Selling Costs):

विक्रय-लागत उन समस्त व्ययों को कहते हैं जो क्रेताओं को प्रभावित करने के लिए किए जाते है, जिससे क्रेता अन्य फर्मों की वस्तुओं को न खरीद कर, फर्म-विशेष की ही वस्तुओं को खरीद सके। विज्ञापन, प्रचार, विक्रय कला आदि पर किए गए व्यय इस श्रेणी म आते है। एकाधिकारिक प्रतिस्पर्द्धा के अन्तर्गत विक्रय लागतों का महत्वपूर्ण स्थान है। इन लागतों से उपभोक्ता की मांग प्रभावित होती है तथा विक्रेता की औसत आय म वृद्धि होती है, साथ ही साथ उपभोक्ताओं को भी अधिक मूल्य देना पडता ह। पूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत सभी पक्षों को बाजार की दशाओं का ज्ञान रहता है अत विक्रय-व्ययों की आवश्यकता नही पडती।

(1) **विक्रय व्यय का प्रभाव** विज्ञापन तथा समुचित प्रचार द्वारा, फर्म की वस्तुओं की माग म वृद्धि होती है, अत उत्पादन म वृद्धि की जाती ह। यदि वस्तु का उत्पादन 'क्रमागत उत्पादन वृद्धि नियम' के अनुसार हो रहा हो तो उत्पादन लागत कम पडती है अत वस्तु की कम कीमत निर्धारित की जाती ह। इससे उपभोक्ताओं को लाभ होता है। परन्तु आजकल स्पर्धा अधिक होने के कारण विज्ञापन आदि पर इतना अधिक धन व्यय किया जाता है कि उत्पादन लागत म जो कमी होती हे उससे अधिक विक्रय व्यय मे वृद्धि होती है, अत सामान्यत इन व्ययो के कारण कीमतें ऊँची उठती हैं।

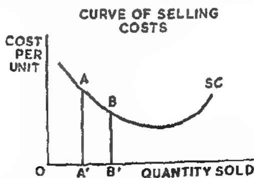
प्रचार का विक्री की मात्रा पर क्या प्रभाव पडता है? इसकी जानकारी के लिए यह आवश्यक है कि कीमत मे परिवर्तन किए बिना, विक्रय की मात्रा मे वृद्धि की जाए (प्रचार द्वारा)। चूंकि विक्री, कीमत तथा प्रचार का परिणाम है, अत. उक्त विधि द्वारा 'विक्रय व्यय' के प्रभाव की जानकारी प्राप्त की जा सकती है। 1 कभी कभी उपभोक्ता क विशिष्ट अधिमानों के कारण विज्ञापन का कोई प्रभाव नही पडता है, अत विज्ञापन व्यय व्यर्थ जाता है। 2 जब एक फर्म विज्ञापन करती ह तो अन्य प्रतिस्पर्धी फर्में भी विज्ञापन करती हैं अत किसी फर्म विशेष की विक्री पर विज्ञापन का प्रभाव नही पडता ह। 3 ऐसा होते हुए भी विक्री की वर्तमान मात्रा बनाए रखने के लिए विज्ञापन करना आवश्यक होता है। 4 यदि विज्ञापन द्वारा खराब किस्म की वस्तुओं का प्रयोग बढता है तो यह सामाजिक दृष्टि से अवाछनीय हैं। 5. विज्ञापन के कारण स्पर्धा मे और वृद्धि होती है, परन्तु कभी-कभी इससे एकाधिकारिक प्रवृत्ति को बल मिलता है, क्योंकि छोटी फर्में विज्ञापन व्यय को बडे पैमाने पर वहन नहीं कर पाती तथा उन्हे उद्योग छोडना पडता है।

(2) **विक्रय व्यय तथा मूल्य सिद्धान्त** 'विक्रय लागत' ने मूल्य निर्धारण सिद्धान्त को प्रभावित किया है। इन व्ययो के कारण माग के स्वरूप मे परिवर्तन हो

जाता है, दूसरी ओर पूर्ति का स्वरूप भी प्रभावित होता है, क्योंकि इन व्ययों का प्रभाव कुल उत्पादन-लागतों पर पड़ता है। मूल्य-निर्धारण के पुराने सिद्धान्तों में विक्रय-व्ययों का कोई उल्लेख नहीं मिलता है, परन्तु आधुनिक युग में इन व्ययों का महत्व बढ़ गया है, अतः मूल्य-निर्धारण सिद्धान्त की व्याख्या करते समय इन पर भी ध्यान दिया जाता है। चैम्बरलिन ने, एकाधिकारिक प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण-सिद्धान्त का विश्लेषण करते समय विक्रय-व्ययों को भी ध्यान में रक्खा है। अतः उनके द्वारा प्रतिपादित मूल्य-निर्धारण-सिद्धांत अधिक उपयुक्त तथा तर्कसंगत है।

विक्रय-व्यय (Selling Costs) के अंतर्गत विज्ञापन व्यय के अतिरिक्त सेल्समैन पर किया गया व्यय, फुटकर-विक्रेताओं द्वारा प्रदर्शन आदि के लिए किया गया व्यय तथा बिक्री बढ़ाने के लिए, किए गए सभी व्यय सम्मिलित किए जाते हैं। उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं में परिवर्तन लाने के लिए, किए गए सभी प्रकार के व्यय विक्रय-लागत माने जाते हैं (The Costs of Changing consumers wants are Selling costs) 'Selling Costs' के स्थान पर 'Advertising expenditures शब्द का भी प्रयोग किया जा सकता है, जैसाकि चैम्बरलिन ने किया है।

हम यह मानकर चलेंगे कि कीमत, वस्तु का गुण तथा क्रेताओं की आय समान रहने पर, विज्ञापन से बिक्री में वृद्धि होती है। अब हमें इस बात पर विचार करना है कि विज्ञापन व्यय तथा फर्म के बिक्री में क्या सम्बन्ध है ? इनके सम्बन्धों को 'विक्रय लागत वक्रों, द्वारा जाना जा सकता है। चित्र स० 109 में विक्रय लागत



चित्र स० 109

वक्र प्रदर्शित किया गया है। देखने में ऐसा प्रतीत होता है कि विक्रय-लागत वक्र (SC) अन्य लागत वक्रों की ही तरह U की तरह होता है, परन्तु विक्रय-लागत

वक्र का अर्थ भिन्न होता है। यह वक्र किसी वस्तु की दी हुई मात्रा के बेचने पर प्रति इकाई विक्रय-व्यय को प्रदर्शित करती है। चित्र से स्पष्ट है कि वस्तु की AO' मात्रा बेचने पर प्रति इकाई AA' विक्रय लागत है। इसी प्रकार OB' मात्रा बेचने पर यह लागत प्रति इकाई BB' है। प्रारम्भ में विक्रय लागत वक्र नीचे गिरता है जो पैमाने की मितव्ययिताओं का परिणाम है। परन्तु बाद में यह वक्र ऊपर उठता है जो यह बतलाता है कि बिक्री की मात्रा में अधिक विस्तार होने पर, विक्रय लागतों में अधिक वृद्धि होती है। अतः में यह वक्र एक खड़ी रेखा (Vertical) के रूप में हो जाता है, जो यह बतलाता है कि बिक्री चरम सीमा (Saturation) पर पहुँच गई है तथा विक्रय व्यय में वृद्धि करने पर भी, विक्रय मात्रा पूर्ववत रहेगी।

एक फर्म के विक्रय व्यय वक्र का स्वरूप तथा स्थिति यह बतलाता है कि, दिए हुए समय में अन्य बातों का क्या प्रभाव पड़ता है? अर्थात् इसके द्वारा विचारणीय वस्तु तथा उस वस्तु की स्थानापन्न वस्तुओं (Substitutes) की कीमतों तथा गुण, क्रेताओं की आय, तथा क्रेताओं का विज्ञापन के प्रति प्रतिक्रिया पर प्रकाश पड़ता है। इनमें से किसी एक में भी परिवर्तन होने से, विक्रय लागत वक्र का नाम तथा स्थिति बदल जाता है। कीमत ऊँची होने पर यह वक्र ऊपर उठता है जिसका अर्थ यह है कि वस्तु की किसी भी अतिरिक्त मात्रा को बेचने के लिए विक्रय-व्यय अधिक करना पड़ता है। यदि वस्तु की किस्म (Quality) में सुधार किए जाएं तो यह वक्र नीचे गिरता है।

चैम्बरलिन, बोल्डिंग आदि अर्थशास्त्रियों ने विक्रय व्यय, मांग तथा पूर्ति के सम्बन्धों की व्याख्या करने का प्रयास किया है, परन्तु वे किसी निर्णायक परिणाम पर नहीं पहुंच सके हैं। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि एकाधिकारिक प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत कीमत उत्पादन व्यय तथा विक्रय व्ययों के सम्मिलित योग द्वारा निर्धारित की जाती है। मांग पूर्ति तथा विक्रय व्ययों के पारस्परिक सम्बन्धों का रेखाचित्र द्वारा सही प्रदर्शन लगभग असम्भव है।

अल्प विक्रेताधिकार या अल्पाधिकार (Oligopoly)

एकाधिकारिक प्रतिस्पर्धा की ही भांति अल्पाधिकार अपूर्ण प्रतियोगिता का ही एक रूप है। जब केवल दो फर्में ही उत्पादक होती हैं तथा वे किसी प्रमापित वस्तु (Standard Product) का उत्पादन करती हैं तो ऐसी स्थिति को शुद्ध द्वयाधिकार (Pure Duopoly) कहते हैं। 'अशुद्ध द्वयाधिकार' (Impure Duopoly) उस स्थिति को कहते हैं जबकि दो फर्में एक ही वस्तु का उत्पादन करती हैं, परन्तु कुछ सीमा तक वे वस्तु विभेद (Product Differentiation) अपनाती हैं अर्थात् उनके द्वारा उत्पादित वस्तुएं एक ही प्रकार की नहीं होती हैं।

(1) परिभाषा अल्पाधिकार, उस स्थिति को कहते है जब फर्मों की सख्या दो से अधिक होती है (परन्तु बहुत अधिक फर्में नहीं होती हैं) अल्प विक्रेताधिकार की दो स्थितियां हो सकती हैं—(i) जबकि विभिन्न अल्प-विक्रेताधिकारी एक सी वस्तुए बनाते है। इसे वस्तु-भिन्नता रहित अल्प-विक्रेताधिकार (Oligopoly without product differentiation) कह सकते हैं तथा (ii) जबकि फर्मों की वस्तुओं मे विभिन्नता पाई जाती है, परन्तु वे वस्तुए एक दूसरे की निकट की स्थानापन्न वस्तुए होती है। (Oligopoly with product differentiation, where commodities are close substitutes, but not perfect substitutes) किसी भी एक उत्पादक के उत्पादन तथा मूल्य नीति का प्रभाव अन्य उत्पादकों पर निश्चित रूप से पड़ता है।

उपर्युक्त दो प्रकार के अल्प-विक्रेताधिकार की अवस्थाओं को दूसरे नामो से भी पुकारते है जैसे

(i) **Homogenous Oligopoly** जिसके अन्तर्गत वस्तु प्रमापित (standardized) होती है। इस्पात और सीमेंट उद्योग इस अवस्था के प्रतीक हो सकते है। क्रेता इस दिशा मे इस बात पर ध्यान नही देते है कि उत्पादक कौन है, वे मूल्य पर ज्यादा ध्यान देते है क्योंकि वस्तु लगभग एक समान होती है। इस अवस्था को पूर्ण अल्पविक्रेताधिकार (Perfect oligopoly) भी कहा जाता है।

(ii) **Differentiated Oligopoly :** यह अवस्था कई उद्योगों मे पाई जाती है, जैसे रेफ्रिजरेटर, थर्मस, सिलाई की मशीन, मोटर कार आदि उद्योग। इस अवस्था मे वस्तु के रूप प्रकार आदि म विभिन्नता पाई जाती हैं। विज्ञापन, कुशल विक्रय-कला ट्रेड मार्क आदि द्वारा भी एक फर्म की वस्तु दूसरे से भिन्न प्रतीत होती है। इसे अपूर्ण अल्प-विक्रेताधिकार (Imperfect oligopoly) भी कहते हैं।

2 अल्पविक्रेताधिकार के अतर्गत कीमत निर्धारण

अल्पविक्रेताधिकार के अन्तर्गत कीमत निर्धारण किस प्रकार किया जाता है ? इसके म कोई निश्चित सिद्धान्त नही है। इसके अतर्गत कीमत निर्धारण की समस्या बड़ी जटिल है। कीमत तथा उत्पादन अन्य प्रतिस्पर्धियो की प्रतिक्रिया (Reaction) पर निर्भर करेगा। प्रतिक्रिया का अनुमान लगाना अत्यन्त ही कठिन है अत. अल्पाधिकार के अन्तर्गत फर्म की सन्तुलन स्थिति तथा मूल्य-निर्धारण का अध्ययन एक जटिल समस्या है। मूल्य-निर्धारण के सम्बन्ध मे विभिन्न मत प्रकट किए गए हैं, जिनका सक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है

(i) अल्प विक्रेताधिकार के अतर्गत विक्रेता एक दूसरे की नीतियो से प्रभावित होते है। अल्प विक्रेताधिकारी का माग वक्र केवल कीमत पर ही नही निर्भर

करता है, बल्कि अन्य प्रतिस्पर्धी फर्मों की विक्रय-नीति से भी प्रभावित होता है। क्या फर्म A द्वारा कीमत कम कर देने पर फर्म B भी अपनी वस्तु की कीमत घटा देगी ? या फर्म B अपनी ख्याति या वस्तु विभिन्नता को ध्यान में रखते हुए कीमत नहीं घटाएगी। क्या यदि B फर्म कीमत घटा देती है तो फर्म A अपनी वस्तु की कीमत पुनः घटा देगी ? अल्पविक्रेताधिकार के अंतर्गत कीमत निर्धारण के उतने ही तरीके हैं, जितना कि कोई व्यक्ति मान्यताएं मान सकता है तथा बहुत सी मान्यताएं, विशेषतः वे जो वास्तविकता के निकट होती हैं, कीमत अनिश्चित भी रहेगी।

जैसा कि कहा जा चुका है, अल्पविक्रेताधिकार दो प्रकार का होता है। (i) पूर्ण अल्पविक्रेताधिकार जिसमें वस्तुओं में एकरूपता होती है तथा यदि एक फर्म कीमत घटाती है तो दूसरी प्रतिस्पर्धी फर्म कीमत अवश्य घटाएगी। (ii) अपूर्ण अल्पविक्रेताधिकार जिसके अन्तर्गत वस्तु विभिन्नता पाई जाती है तथा एक फर्म द्वारा कीमत घटाने पर यह आवश्यक नहीं है कि दूसरी फर्म भी तुरन्त कीमत घटा दे।

पूर्ण अल्पविक्रेताधिकार (Perfect oligopoly)

इस अवस्था में एक फर्म का विक्रय वक्र, पूर्ण लोचदार नहीं होती है, क्योंकि एक फर्म द्वारा कीमत में परिवर्तन करने से, दूसरी फर्में भी कीमत में परिवर्तन कर देती हैं। अतः फर्म की बिक्री न तो शून्य होती है और न ही अनन्त। यदि फर्म A कीमत घटाती है तो B, C अन्य फर्में भी कीमत घटा देंगी। कीमत कम होने पर कुल बिक्री में वृद्धि होगी तथा प्रत्येक फर्म की बिक्री कुल बिक्री बढ़ाने के कारण बढ़ेगी। इसी प्रकार एक फर्म द्वारा कीमत में वृद्धि करने पर अन्य फर्में भी कीमतें बढ़ाएंगी। परन्तु सामान्यतया एक फर्म द्वारा कीमत घटाने पर अन्य फर्में कीमतें तुरन्त घटा देती हैं, परन्तु एक फर्म द्वारा कीमत बढ़ाने पर अन्य फर्में तुरन्त कीमतें नहीं बढ़ाती हैं। अतः विक्रय वक्र वर्तमान मूल्य से ऊंचे मूल्य पर अधिक लोचदार होगा, तथा वर्तमान मूल्य से कम मूल्य पर कम लोचदार। ऐसे मांग वक्र को Kinked demand curve कहा जाता है।

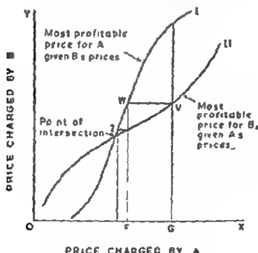
फर्म की साम्य अवस्था इस बात पर निर्भर करेगी कि हम प्रतिस्पर्धी फर्मों द्वारा मूल्य परिवर्तन होने पर किस प्रकार की प्रतिक्रिया (Reaction) की आशा रखते हैं ? विक्रेता मिलकर (Collective) निर्णय ले सकते हैं तथा वे एकाधिकारी की भांति व्यवहार कर सकते हैं। इसका परिणाम यह हो सकता है कि कुल उत्पादन तथा कीमतें इस प्रकार की हो सकती हैं जिससे कुल-लाभ (Aggregate Profit) अधिकतम हो। ऐसी दशा में, प्रत्येक फर्म की कीमत औसत लागत से अधिक होगी।

इसके विपरीत, फर्मों में तीव्र प्रतिस्पर्धा हो सकती है तथा कीमत न्यूनतम हो सकती है। इस दशा में कीमत औसत लागत के बराबर होगी। फर्में वस्तु-विभेद का सहारा लेकर (ब्रैंड या विज्ञापन आदि द्वारा) तथा उपभोक्ताओं को भुगतान सम्बन्धी

सुविधायें देकर बिक्री बढ़ाने का प्रयत्न करेंगी। फर्में कीमत कम करने की अपेक्षा इन तरीकों को अधिक अपनाती हैं। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि पूर्ण अल्प विक्रेताधिकार के अन्तर्गत कीमत निर्धारण के सम्बन्ध में निश्चित मत नहीं दिया जा सकता है। उत्पादकों के बीच प्रतिस्पर्धा या सहयोग के सम्बन्ध में हम कई प्रकार की मान्यताओं के आधार पर कीमत निर्धारण के विषय में विभिन्न कल्पनायें कर सकते हैं। जितनी ही मान्यतायें (Assumptions) होंगी, उतने ही प्रकार से कीमत निर्धारित होगी। इस प्रकार कीमत निर्धारण के विषय में निश्चित मत नहीं दिया जा सकता है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि पूर्ण अल्प विक्रेताधिकार के अन्तर्गत कीमत एकाधिकार-कीमत तथा पूर्णस्पर्धा कीमत के बीच में होगी।

अपूर्ण अल्प विक्रेताधिकार (Imperfect Oligopoly) :

यदि वस्तु-विभेद की स्थिति है तो यह आवश्यक नहीं है कि एक फर्म द्वारा कीमत कम करने पर, अन्य फर्में भी तुरन्त कीमत घटा देंगी। फर्में इस मान्यता पर निर्णय ले सकती हैं कि अन्य फर्में तुरन्त बदला नहीं लेंगी (will not retaliate)। ऐसी दशा में अनिश्चितता बनी रहेगी। फर्म A कीमत कम देती है क्योंकि उसकी सीमान्त आय (MR), सीमान्त लागत (MC) से अधिक है। ऐसा करना उसी समय



चित्र सं० 110

उचित होगा, यदि फर्म B कीमत न घटाए। हम मान लेते हैं कि फर्म B की वस्तु भिन्न है तथा वह तुरन्त कीमत कम नहीं करती है। परन्तु बाद में फर्म B फर्म A से भी अधिक कीमत कम कर सकती है B की कम कीमत, A को कीमत पुनः घटाने पर मजबूर कर सकती है। ऐसी क्रियायें तथा प्रतिक्रियायें चलती रहती हैं।

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण : चित्र सं० 110 में उपर्युक्त बात को स्पष्ट

लिया गया है। यदि I वक्र मे बिन्दु U से OX पर एक लम्ब डाला जाए तो OG, फर्म A के लिए अधिक लाभदायक (most profitable) कीमत होगी, जबकि फर्म B की कीमत VG है। (I वक्र पर जहा से लम्ब डाला गया है, वहा बिन्दु U मानिए)। परन्तु यदि फर्म A की कीमत OG है तो फर्म B के लिए VG कीमत उपयुक्त होगी जो वक्र II द्वारा दिखलाई गई है। यदि फर्म B अब VG कीमत निश्चित करे, जो WF के बराबर है तो वक्र I से स्पष्ट है कि फर्म A के लिये अधिक लाभ सम्बन्धी कीमत OF होगी। यदि कीमत का घटना (Price Cutting) जारी रहता है तो अन्त में हम बिन्दु Z पर पहुँचेंगे। इसके पश्चात् कीमत घटाना किसी भी फर्म के लिए लाभदायक सिद्ध नहीं होगा।

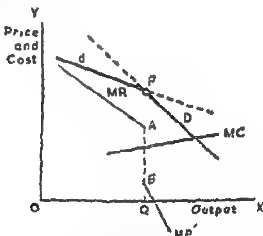
यह अवस्था स्थायी (Stable) है या नहीं यह इस बात पर निर्भर है कि दोनों फर्में कम से कम सामान्य लाभ अर्जित कर रही है या नहीं ? यदि ऐसा नहीं है तो एक फर्म उद्योग छोड़ देगी तथा अन्य विक्रेताधिकार के स्थान पर एकाधिकार (Monopoly) की दशा हो जायगी। फर्में आपस में समझौते द्वारा कीमतें बढ़ा सकती हैं परन्तु यह अवस्था भी एकाधिकार की अवस्था होगी। वे अपनी वस्तुओं में और अधिक विभेद के लिए भी कदम उठा सकती हैं। इसके विपरीत यदि साम्य बिन्दु पर दोनों असामान्य लाभ (Abnormal Profit) अर्जित कर रही हैं तो अन्य फर्मों के प्रवेश द्वारा, इस साम्य-कीमत में परिवर्तन होगा।

ii) Kinky or Kinked Demand Curve : अल्पविक्रेताधिकार के अन्तर्गत माग रेखा की शक्ल (Shape) या लोच के सम्बन्ध मे सामान्य-तत्वो का उल्लेख करना कठिन है। परस्पर प्रतिस्पर्धी फर्मों की कीमत-नीति एक दूसरे से बहुत अधिक प्रभावित होती है। अत: कीमत की इस अन्तर्निर्भरता (Interdependence) के कारण एक सामान्य माग रेखा बनाना कठिन होता है। अर्थशास्त्रियो ने इस अन्तर्निर्भरता का विभिन्न प्रकार से विश्लेषण किया है। फर्मों की माग वक्र दूसरी प्रतिस्पर्धी फर्मों से प्रभावित होती है। Homogenous oligopoly की दशा मे, Differentiated oligopoly के अपेक्षा फर्मों की माग एक दूसरे से अधिक प्रभावित होती है। सन् 1930–40 की अवधि मे अर्थशास्त्रियो ने इस बात पर जोर दिया कि अल्पविक्रेताधिकारी माग कोनेदार (Kinked) होती है, यद्यपि यह विषय अत्यन्त ही विवादग्रस्त है।

कुछ अर्थशास्त्रियो का मत है कि यदि एक फर्म मूल्य मे वृद्धि करती है तो अन्य फर्में भी अपनी वस्तुओं के मूल्य घटा देंगी, परन्तु यदि एक फर्म मूल्य मे वृद्धि करती है तो अन्य फर्म मूल्य मे वृद्धि नहीं करेगी। इस प्रकार अल्पाधिकारियो को मूल्य परिवर्तन से लाभ नही होता है, अतः वे एक ही कीमत पर टिके रहते है। इन अर्थशास्त्रियो के अनुसार, अल्पाधिकार के अन्तर्गत, वस्तु के माग वक्र मे एक कोना (Kink or

corner) होता है जो वर्तमान मूल्य से सम्बन्धित होता है। उसी बिन्दु पर कीमतें स्थिर रहती है, न घटती हैं न बढ़ती हैं। अतः अल्पाधिकार के अन्तर्गत कीमतों में स्थिरता होती है। उत्पादन लागत में परिवर्तन भी अल्पाधिकारी के उत्पादन तथा मूल्य को बहुत कम प्रभावित करते हैं। जैसे यदि मजदूरी की दरें कम हो जाती हैं तो उत्पादन लागत कम होगी, परन्तु फर्में कीमत में परिवर्तन नहीं करेंगी, क्योंकि वे अपने प्रतिस्पर्धियों की प्रतिक्रिया का सही अनुमान नहीं लगा सकती हैं। इस प्रकार माँग तथा लागत में परिवर्तन हो सकते हैं, परन्तु उनका प्रभाव मूल्य पर नहीं पड़ेगा (या बहुत कम पड़ेगा) अतः अर्थव्यवस्था में मूल्यों की अपरिवर्तनशीलता के लिए बहुत कुछ अंशों में अल्पाधिकारी उत्तरदायी हैं।

कोनेदार माँग वक्र इस मान्यता पर आधारित है कि अल्पविक्रेताधिकारी फर्में सामान्यतया न तो कीमत बढ़ाती हैं और न घटाती हैं। यदि कोई फर्म कीमत घटाती है तो अन्य फर्में भी कीमत घटाएँगी। अतः कीमत कम करने से फर्म को लाभ नहीं होगा। कीमत बढ़ाने से बिक्री और भी कम होगी। अतः कीमत में परिवर्तन उस समय तक नहीं किया जाता है जब तक कि माँग या लागत की दशाओं में अत्यधिक परिवर्तन या आमूल परिवर्तन न होता हो।



चित्र सं० 111

चित्र संख्या 111 में 'कोनेदार माँग' को प्रदर्शित किया गया है। माँग की कोना (Kink) बिन्दु P पर है। इस बिन्दु पर फर्म OQ मात्रा का उत्पादन व विक्रय कर रही है। P बिन्दु से ऊँची कीमत पर, फर्म यह कल्पना करती है कि उसका माँग वक्र PP की भाँति होगा। P बिन्दु की बाईं ओर माँग वक्र बहुत लोचदार है।

क्योंकि फर्म यह मानती है कि यदि वह कीमत को बढ़ाती है तो उसके प्रतिस्पर्धी कीमत नहीं बढ़ाएंगे जिससे बिक्री कम होगी । dP मांग रेखा से सम्बन्धित, सीमांत आगम (MR) धनात्मक (Positive) है । PD उसी मांग रेखा का दूसरा भाग है । PD भाग कम लोचदार है । कम कीमत पर PD वक्र बेलोच है जैसा कि MR सीमांत आगम वक्र से प्रकट है, एक बिन्दु के पश्चात सीमांत आगम ऋणात्मक (Negative) हो गया है । इसका अर्थ यह है कि फर्म यह सोचती है कि यदि उसने कीमत में P में कमी की तो अन्य फर्में भी अपनी कीमतें घटा देंगी ।

P बिन्दु से ऊंची कीमत पर मांग-वक्र लोचदार है तथा इस बिन्दु से कम कीमत पर कम लोचदार है, इसका परिणाम यह होता है कि सीमांत आगम वक्र में Break आ जाता है । इस Break या Gap का कारण यह है कि मांग वक्र में p बिन्दु के बाद अचानक परिवर्तन हो जाता है । इस गैप को AB द्वारा प्रदर्शित किया गया है । सीमांत लागत वक्र (MC), इस गैप से गुजरती है ।

Kinked Demand यह प्रकट करती है कि कीमतें स्थिर (Sticky) रहेंगी । कोनेदार मांग वक्र के सम्बन्ध में यह याद रखना कि चाहिए यह पूर्णतया काल्पनिक होती है, जो प्रबन्धक के विचार में कीमत-परिवर्तन के सम्भावित परिणामों को प्रकट करती है । उसका वास्तविक मांग वक्र भिन्न हो सकता है । (The kinked demand curve is often called subjective—it exists in the decision maker's mind. His actual demand curve, the objective one, might be different) (WATSON)

कीमत की स्थिरता (Rigidity) की कल्पना लागत के कारण होती है । यदि सीमांत लागत बढ़ती है (परन्तु बिन्दु A से ऊपर नहीं) या घटती है, उत्पादन मात्रा तथा कीमत परिवर्तित नहीं होती । क्योंकि MC अब भी MR के खड़े हिस्से (Vertical Part) को पार कर रही है ।

इस प्रकार कोनेदार मांग, कीमत-स्थिरता के कारणों पर प्रकाश डालती है । परन्तु यह स्थिर-कीमत (Rigid Price) किस प्रकार निश्चित की जाती है, इसके सम्बन्ध में कोनेदार मांग प्रकाश नहीं डालती । साथ ही साथ इसके द्वारा इस बात पर भी प्रकाश नहीं पड़ता कि नई कीमत पर नया कोना कैसे बनता है । (The model has a serious flaw. There is nothing in the model to show how the rigid price is established Nor does the model explain how a new king forms around a new price." watson)

(iii) कीमत पर नेतृत्व (Price Leadership) कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि अल्पाधिकार के अन्तर्गत कोई एक फर्म अगुआ के रूप में कार्य करती है तथा

उस फर्म द्वारा जो कीमत निश्चित करदी जाती है, अन्य फर्में उसी का अनुकरण करती है। सामान्यतः वही फर्म अगुआ के रूप मे कार्य करती है जिनकी उत्पादन लागत अन्य सभी फर्मों से कम है, तथा जिसने अपने प्रतिस्पर्धियो से स्पर्धा मे विजय प्राप्त कर ली है।

(iv) पूर्व निश्चित मूल्य (Mark-up pricing) : कुछ अल्पाधिकारी कीमत निर्धारण औसत उत्पादन लागत के आधार पर करते हैं। उत्पादक लागत मे कुछ प्रतिशत लाभ को सम्मिलित करके एक कीमत निश्चित करते हैं, तथा वे उतनी ही मात्रा का उत्पादन करते है, जितनी मात्रा को इस प्रकार निर्धारित मूल्य पर बेचा जा सकता है।

(v) Collusion कीमत निर्धारण की एक विधि यह भी हो सकती है कि प्रतिस्पर्धी फर्में आपस मे समझौता कर लें तथा कुल माग को आपस मे बाट लें।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि अल्पाधिकार के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण का कोई निश्चित सिद्धान्त नही है। अल्पाधिकारी की सन्तुलन स्थिति की जानकारी के लिए यह आवश्यक है कि उसके प्रतिस्पर्धियो की प्रतिक्रिया का ज्ञान हो परन्तु ऐसी जानकारी प्राप्त करना असम्भव ही है। विभिन्न अर्थशास्त्रियो ने, विभिन्न व्यक्तिगत मान्यताओं के आधार पर, अल्पाधिकार के अन्तर्गत उत्पादन तथा मूल्य-निर्धारण सिद्धान्त का निर्माण करने का प्रयत्न किया है। मान्यताओं (Assumptions) मे विभिन्नता के कारण वे किसी एक निर्णय पर नही पहुच सके हैं। अल्पाधिकार के अन्तर्गत मूल्य के सम्बन्ध मे केवल इतना ही कहा जा सकता है कि विक्रेता का अपेक्षाकृत बाजार पर अधिक अधिकार रहता है। अत वह पूर्ण-स्पर्धा तथा एकाधिकारिक स्पर्धा की अपेक्षा अधिक ऊची कीमत नही प्राप्त कर सकता है। परन्तु कुछ प्रतिस्पर्धियो की उपस्थिति के कारण वह उतनी अधिक कीमत नही प्राप्त कर सकता है, जितनी कि एकाधिकारी प्राप्त कर सकता है। फर्मों के प्रवेश का भय कम होने के कारण कीमत उत्पादन लागत से अधिक होती है।

निष्कर्ष : गत पृष्ठो मे हमने अपूर्ण-स्पर्धा (Imperfect Competition) की कुछ परिस्थितियो के अन्तर्गत मूल्य-निर्धारण विधि का अध्ययन किया। एकाधिकार, एकाधिकारिक-स्पर्धा, अल्पाधिकार आदि सभी अपूर्ण स्पर्धा की ही स्थितिया है। एकाधिकार अपूर्ण स्पर्धा की चरम सीमा है। पूर्णस्पर्धा तथा एकाधिकार के बीच विभिन्न स्थितिया हो सकती है।[4] उन सभी स्थितियो को 'अपूर्ण-प्रतिस्पर्धा' की संज्ञा दी जा सकती है।

---

4 "There is no single case of imperfect competition, but a whole range or series of cases representing progressively more and more imperfect competition" *Stonier and Hague*

अतः शुद्ध एकाधिकार तथा पूर्ण-प्रतिस्पर्धा की भाति हम हम,अपूर्ण प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत एक निश्चित मूल्य-सिद्धान्त की व्याख्या नही कर सकते हैं। अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की विभिन्न स्थितियो मे, मूल्य निर्धारण के अलग अलग सिद्धान्त हैं, जिनमे से कुछ एक परिस्थितियो मे मूल्य निर्धारण की विधि का अध्ययन हमने गत पृष्ठो मे प्रस्तुत किया है। अपूर्ण-स्पर्धा के अन्तर्गत मूल्य के सम्बन्ध मे हम केवल कुछ सामान्य निष्कर्षों की ही बात कर सकते हैं, जैसे :

(1) अपूर्ण-स्पर्धा के अन्तर्गत एक ही वस्तु के विभिन्न मूल्य होते हैं। मूल्यो मे यह विभिन्नता स्थान तथा क्रेताओं के अनुसार होती है। यह स्थिति क्रेताओं की अनभिज्ञता के कारण हो सकती है।

(2) मूल्य मे विभिन्नता विक्रेताओं की संख्या कम होने के कारण होती है। विक्रेता का बाजार पर अधिक अधिकार रहता है। वह पूर्ति की मात्रा को नियन्त्रण कर, मूल्य ऊचा रख सकता है।

(3) वस्तु विभेद के कारण भी मूल्य ऊचा होता है।

(4) औसत आय वक्र (AR) सदैव नीचे गिरता हुआ होता है, परन्तु विभिन्न प्रकार की अपूर्ण स्पर्धाओं मे औसत आय वक्र के नीचे गिरने की गति मे विभिन्नता पाई जाती है।

3 सम्बन्धित मूल्य
(Related Values)

कुछ वस्तुओ की माग तथा पूर्ति म अन्तर्सम्बन्ध होता है। व्यावहारिक रूप मे हम देखते हैं कि कई उत्पादक-सस्थान एक दूसरे स सम्बन्धित विभिन्न वस्तुओ का उत्पादन करते है। उपभोक्ता भी एक एक साथ कई ऐसी वस्तुओ को खरीदते हैं, जो एक दूसरे की पूरक होती हैं। ऐसी वस्तुओ की माग सयुक्त होती है। उपभोक्ता की कुछ आवश्यकताओ की पूर्ति कई वस्तुओ द्वारा की जा सकती है। अत. एक वस्तु की कीमत मे परिवर्तन का प्रभाव उसी प्रकार की अन्य किसी दूसरी वस्तु की माग पर पडता है। इस प्रकार की प्रतिस्पर्धी वस्तुओ (जो एक ही उद्देश्य की पूर्ति करती हैं) के मूल्य एक दूसरे को प्रभावित करते है। अतः यह आवश्यक है कि इस प्रकार की वस्तुओ की मूल्य-निर्धारण-विधि का अध्ययन किया जाय।

1 सयुक्त माग (Joint Demand)

जब किसी एक उद्देश्य की पूर्ति के लिए कई वस्तुओ की माग की जाती है, (पूरक वस्तुओ की) तब ऐसी माग को सयुक्त माग कहते है, जैसे कार के साथ पेट्रोल, चाय के साथ चीनी तथा कलम के साथ स्याही की माग होती है। ऐसी वस्तुओ को पूरक वस्तुए (complementary goods) कहते है। पूरक वस्तुओ की कीमतें

परस्पर विरोधी होती है। यदि एक वस्तु की कीमत घटती हैं तो उसकी पूरक वस्तु की कीमत बढ़ती है। उदाहरणार्थ, यदि कलम की कीमत कम हो जाए तो उसकी बिक्री बढ़ जायेगी, परिणामस्वरूप स्याही की अधिक माग होगी तथा स्याही की कीमत बढ़ जाएगी। इस प्रकार एक दूसरे की पूरक वस्तुओ के मूल्य परिवर्तन दो बातो पर निर्भर करते है—(i) प्रथम वस्तु (मान लीजिए कलम) की माग की लोच तथा द्वितीय वस्तु (स्याही) की पूर्ति की लोच तथा (ii) दो सयुक्त माग वाली वस्तुओ की खरीद के अनुपात म किस सीमा तक परिवर्तन किया जा सकता है?

इस प्रकार की वस्तुओ के मूल्य निर्धारण मे कठिनाई का प्रमुख कारण यह है कि (i) उनकी माग सूचि एक दूसरे से सम्बन्धित होती है। यदि स्याही की पूर्ति होनी कठिन है तो इससे कलम की माग प्रभावित होगी, (ii) दूसरी प्रमुख कठिनाई है पूरक वस्तुओ की सीमात उपयोगिता ज्ञात करना। हम यह जानते है कि कोई भी क्रेता किसी खरीदी जाने वाली वस्तु की कीमत उसकी सीमान्त उपयोगिता से अधिक नही देता कि। इस प्रकार पूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत कीमत=उत्पादन लागत= सीमान्त उपयोगिता। पूरक वस्तुओ की सीमात उपयोगिता की जानकारी के बिना मूल्य निर्धारण कठिन होगा। सामान्यतया पूरक वस्तुओ की सीमात उपयोगिता ज्ञात करने के लिए निम्नलिखित विधियो का प्रयोग किया जाता है

(क) यदि दो वस्तुए एक दूसरे की पूरक है तो उनमे से एक वस्तु की मात्रा को स्थिर रखकर दूसरी की मात्रा मे कुछ वृद्धि कर दी जाए तो इस प्रकार कुल-उपयोगिता मे जितनी वृद्धि होगी वही उस वस्तु (जिस वस्तु की मात्रा मे वृद्धि की जाएगी) की सीमान्त उपयोगिता होगी।

(ख) दूसरी विधि के अनुसार मान लीजिए कलम तथा स्याही दो पूरक वस्तुए हैं। यदि कलम की मात्रा मे कुछ वृद्धि कर दी जाए तथा आवश्यक मात्रा मे स्याही का भी उपयोग बढा दिया जाए तो इस प्रकार उपयोगिता मे जो वृद्धि होगी यदि उसम से स्याही की बढी हुई मात्रा का मूल्य घटा दिया जाय तो जो शेष बचेगा वह कलम की सीमात उपयोगिता का मौद्रिक माप होगा। इसी सीमात उपयोगिता के आधार पर वस्तु का मूल्य निश्चित किया जाएगा।

उत्पादन साधनो की सयुक्त माग उपरोक्त विधियो का वास्तविक रूप से प्रयोग करना कठिन है, क्योकि उपयोगिता की माग करना कठिन है। (इस कठिनाई को उदासीनता वक्रो की सहायता से दूर कर सकते है।) सयुक्त माग का महत्व उत्पादन साधनो का माग की अवस्था म अत्यधिक है। उत्पादन साधनो की माग पर विचार करते समय हम सीमात उपयोगिता के स्थान पर साधनो की सीमात उत्पादकता (Marginal Productivity) पर विचार करते है। किसी वस्तु का उत्पादन

करने के लिए उत्पादन के कई साधनो की आवश्यकता होती है। प्रत्येक साधन की माग अन्य साधनो की माग से सम्बन्धित होती है। साथ ही साथ यह भी स्मरणीय है कि उत्पादन साधनो की माग 'व्युत्पादित माग' (Derived Demand) होती है, क्योकि उत्पादन साधनो की माग उपयोग मे लाई जाने वाली वस्तुओं के उत्पादन के लिए की जाती है। अत साधनो की कीमत उन उपभोग-वस्तुओ पर निर्भर है, जिनका उत्पादन उनके द्वारा किया जाता है। मार्शल ने 'मकान निर्माण का उदाहरण प्रस्तुत किया है तथा यह कहा है कि मकान के निर्माण के लिए कारीगर, बढई इ जीनियर, तथा अकुशल श्रमिको आदि की सेवाओ का भुगतान माग पूर्ति की अवस्थाओ अथवा उनकी सीमात उत्पादकता के आधार पर किया जा सकता है। यह सम्भव है कि इनमे से कोई एक साधन बाजार मे प्रचलित पारिश्रमिक से अधिक पारिश्रमिक की माग करे। मार्शल ने चार शर्तों का उल्लेख किया है जिनम एक साधन-विशेष को अधिक पारिश्रमिक दिया जा सकता है।

(i) वह साधन अत्यावश्यक हो तथा स्थानापन्न साधन कम कीमत पर उपलब्ध नही हो,

(ii) जिस वस्तु का उत्पादन ऐसे साधनो से करना हो, उसकी माग लोचहीन हो जिससे वस्तु को ऊ चे मूल्य पर बेचा जा सके,

(iii) पैदा की जाने वाली वस्तु की कुल उत्पादन लागत मे उस साधन की कीमत का भाग बहुत कम हो, तथा

(iv) उस साधन की माग मे थोडा भी अवरोध करने पर अन्य साधनो के मूल्य पूर्ति मे पर्याप्त कमी हो जाए, जिससे उस साधन को भुगतान के लिए अधिक धनराशि बच सके।

सयुक्त पूर्ति (Joint Supply)

उन वस्तुओ की पूर्ति को सयुक्त पूर्ति कहते हैं जिनका उत्पादन साथ ही साथ तथा एक ही उत्पादन विधि द्वारा किया जाता है, जैसे ऊन और मास चावल तथा छिलका, चीनी तथा शीरा आदि। सयुक्त पूर्ति वाली वस्तुओ की कीमतो म घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। यदि एक की कीमत से वृद्धि होता है तो उसकी पूर्ति बढेगी, अत दूसरी वस्तु की कीमत कम होगी।

इस प्रकार के सयुक्त उत्पादो (Joint Products) के सम्बन्ध मे सबसे बडी समस्या होती है-उनकी अलग-अलग सीमान्त लागत ज्ञात करना, क्योकि यदि उनकी सीमान्त लागतो को ज्ञात कर लिया जाये तो उनका मूल्य निर्धारण भी सरल हो

* *Marshall*, op cit, p 385–6

जाएगा (प्रत्येक की कीमत उसकी सीमान्त लागत के बराबर होगी) : संयुक्त पूर्ति वाली वस्तुओं को अवस्था के अनुसार दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—

(i) वह अवस्था जिसमें वस्तुओं की उत्पादन मात्रा का अनुपात निश्चित है (cases where proportion is fixed), तथा (ii) वह अवस्था जिसमें उनकी उत्पादन-मात्रा का अनुपात निश्चित नहीं है (cases where proportions vary)।

(i) जब अनुपात निश्चित हो रूई तथा कपास का बीज इसके उदाहरण हैं। जब विभिन्न उत्पादों के अनुपात निश्चित हो तो उनकी सीमांत लागत पृथक पृथक ज्ञात करना सम्भव नहीं है। जैसे रूई और कपास के बीज कपास की किसी भी मात्रा में एक निश्चित अनुपात में प्राप्त होंगे, अत रूई तथा बीज की अलग-अलग सीमांत लागत ज्ञात नहीं की जा सकती है। ऐसी परिस्थिति में मूल्य निर्धारित करते समय इस बात का प्रयत्न किया जाएगा कि उनसे प्राप्त कुल आय (TR) उनके कुल उत्पादन व्यय (TC) के बराबर हो। उत्पादक संयुक्त उत्पादों में से प्रत्येक की कीमत उनकी माग की लोच के अनुसार निश्चित करता तथा वह यह प्रयत्न करता कि कुल आय कुल लागत के बराबर हो।

(ii) जब उत्पादन मात्रा के अनुपात में परिवर्तन हो सकता हो ऊन तथा मास, चीनी व शिरा इस परिस्थिति के प्रतीक हैं। ऐसी भेड़े पाली जा सकती हैं जिनसे या तो अधिक मांस प्राप्त हो सकता हो या अधिक ऊन। ऐसी स्थिति में संयुक्त उत्पादों की पृथक पृथक सीमांत लागत करना सरल है। जैसे, यदि दस रुपये व्यय करने मे एक उत्पादन विधि द्वारा 3 किलो चीनी तथा 4 किलो शिरा का उत्पादन होता है। उत्पादन विधि में आवश्यक समायोजन कर यदि बारह रुपये व्यय होते हैं तो 4 किलो चीनी तथा 4 किलो शीरा प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में एक किलो चीनी की सीमांत लागत दो व्यय होगी। इस प्रकार शीरा की भी सीमांत-लागत स्वत ज्ञात हो जाएगी। ऐसी वस्तुओं का मूल्य निम्नलिखित प्रकार निश्चित किया जाएगा

(क) पूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत कीमत = सीमांत लागत ($P = MC$)

(ख) अपूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत कीमत = सीमान्त आय ($P = MR$)

उपरोक्त विधि सैद्धान्तिक दृष्टि से उपयुक्त है। एक ही विधि द्वारा कई वस्तुएं एक ही साथ पैदा की जाती हैं, अत ऐसी स्थिति में प्रत्येक की सीमांत लागत ज्ञात करना बहुत कठिन हो जाता है। सामान्यत. ऐसी परिस्थिति में वे एक वस्तु को तो प्रमुख उत्पाद (Main Product) मानते हैं तथा उसका मूल्य-निर्धारण उचित रूप से करते हैं अन्य वस्तुओं का उप उत्पाद (By Product) मानकर माग तथा पूर्ति के अनुसार जो भी मूल्य मिल जाता है ले लेते हैं। परन्तु यदि 'उप-

उत्पाद' के निर्माण के लिए कोई 'विशेष व्यय' करना पडना हैं तो ऐसी स्थिति में उत्पादक 'उप उत्पाद' को बचने समय कम से कम 'विशेष व्यय' की कीमत के रूप मे प्राप्त करना चाहता है।

3. मिश्रित माग (Composit Demand) :

एक वस्तु की माग को मिश्रित-माग' उस समय कहते हैं जबकि उस वस्तु की माग विभिन्न प्रयोगो (different uses) के लिए होती है। ऐसी वस्तु की कुल माग ज्ञात करने के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न उपयोगो से सम्बन्धित मागो का जोड दिया जाए। मिश्रित माग वाली वस्तु की माग यदि एक उपयोग के लिए बढ जाती है तो अन्य उपयोगो के लिए भी उसकी कीमत बढ जाएगी। मिश्रित माग वाली वस्तु का विभाजन विभिन्न उपयोगो मे इस प्रकार किया जाएगा कि उस वस्तु की सीमात उपयोगिता विभिन्न उपयोगो में समान हो। ऐसी वस्तु की मूल्य निर्धारण विधि सरल है। विभिन्न उपयोगो में सम्बन्धित मागों का योग तथा उस वस्तु की पूर्ति के सतुलन द्वारा कीमत निर्धारित की जाती है।

4 मिश्रित पूर्ति (Composite Supply) ।

उन वस्तुओ की पूर्ति को मिश्रित पूर्ति कहते हैं जिनके द्वारा किसी एक आवश्यकता की सतुष्टि होती हो। ऐसी वस्तुए एक दूसरे की स्थानापन्न (Substitutes) होती है जैसे चाय और काफी। स्थानापन्न वस्तुओ की कीमतो मे समान दिशा मे परिवर्तन होते हैं, अर्थात् एक की कीमत कम होती है तो दूसरे की भी कीमत कम हो जाती है। जैसे यदि काफी की कीमत कम हो जाए तो लोग चाय के स्थान पर काफी का प्रयोग करने लगेगे। इस प्रकार चाय की माग कम होगी तथा उसकी कीमत स्वत कम हो जाएगी। परन्तु स्थानापन्न वस्तुओ की माग सूची बनाना अत्यन्त ही कठिन है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि इन चारो परिस्थितियो म मूल्य निर्धारण के सिद्धात मे मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता नही पडती हैं। उपरोक्त सभी परिस्थितियो के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण माग तथा पूर्ति के सतुलन द्वारा निर्धारित होता हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि माग तथा पूर्ति मे परिवर्तनो के प्रभाव तथा प्रति-प्रभाव (effects and counter effects) कुछ जटिल हो जाते हैं तथा जब वस्तु की सीमात उपयोगिता या उत्पादन-साधन की सीमात उत्पादकता ज्ञात करना सम्भव नही होता है तो मूल्य निर्धारण का सिद्धात बतलाना भी सम्भव नही होता है।

कीमत निर्धारण के परम्परागत सिद्धांत की समीक्षा
(Traditional Theory of Price Determination : Its Review)

गत अध्यायों में हमने पूर्ण स्पर्धा, एकाधिकार तथा अपूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत कीमत-निर्धारण सिद्धान्तों का अध्ययन किया। ये सभी सिद्धान्त सामान्यतया सीमान्तवाद (Marginalism) के अन्तर्गत आते हैं (अल्प विक्रेताधिकार के अतिरिक्त)। विभिन्न परिस्थितियों के अन्तर्गत, हमारा अध्ययन इस मान्यता पर आधारित रहा है कि उत्पादक की हानि या लाभ, कीमत निर्धारण पर निर्भर है। कीमत निर्धारण का यह सिद्धान्त माँग की दशाओं (Demand Conditions) तथा लागत की दशाओं (Cost Conditions) को पूर्णतया ध्यान में रखता है। माँग तथा लागत में परिवर्तन होने पर कीमत में भी परिवर्तन होता है।

परम्परागत कीमत सिद्धान्त बाजार की शक्तियों तथा लागतों में परिवर्तन के फलस्वरूप, फर्म की कीमतों में आवश्यक समायोजन पर प्रकाश डालता है। परम्परागत सिद्धान्त, फर्म के प्रबन्धक को एक दूरदर्शी, विचार-शील तथा विवेक पूर्ण व्यक्ति मानता है जो परिस्थिति सम्बन्धी परिवर्तनों का विश्लेषण करता है। प्रो० हेन्स के शब्दों में,

"They (Price theories) picture the manager, not as a simple minded automation who rigidly follows machanical rules of thumb, but rather as a rational human being who can analyse the implications of changes in conditions."

—*W. W. Haynes*, Managerial Economics

कीमत के ये सभी सिद्धान्त सीमान्तवाद (Marginalism) पर आधारित हैं।

इन विशेषताओं के होते हुए भी परम्परागत कीमत निर्धारण सिद्धान्त की कुछ सीमाएं हैं जो फर्म के व्यवहार का विश्लेषण करते समय प्रकट होती हैं। वे सीमाएं निम्नलिखित हैं—

1. लाभ को अधिकतम करना (Profit Maximisation) परम्परागत सिद्धान्त का मूल आधार है। परन्तु व्यावहारिक जगत में हम जानते हैं कि उत्पादक अन्य तत्वों से भी प्रभावित होता है। उत्पादक कभी कभी, लाभ के अतिरिक्त बिक्री को अधिकतम करने की सोच सकता है। कोई उत्पादक व्यक्तिगत शक्ति तथा ख्याति बढ़ाने की भी सोच सकता है। जनता के प्रति उत्तरदायित्व तथा अन्य नैतिक आदर्शों से भी उत्पादक प्रभावित हो सकता है। उचित-कीमत के लिए 'लाभ' का त्याग भी किया जा सकता है। इस प्रकार उत्पादन केवल 'अधिकतम लाभ' से ही प्रभावित नहीं होता है।

2. परम्परागत सिद्धान्त-कीमत परिवर्तन के अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन प्रभावो मे स्पष्ट भेद नही करता है। यह सिद्धान्त यह नही बतलाता है कि वतमान कीमतो का भविष्य के लाभो पर क्या प्रभाव पडेगा। अल्पकालीन कीमत से सम्बन्धित चित्र वतमान माग वक्र (और सीमान्त आय वक्र) तथा वतमान लागत-वक्रो (सीमान्त लागत वक्रो को सम्मिलित कर) को प्रदर्शित करते है तथा यह बतलाते हैं कि उत्पादक सीमान्त लागत व सीमान्त आय को बराबर करने का प्रयत्न करता है। परन्तु उत्पादक भविष्य की आशा मे हमेशा ऐसा नही भी कर सकता है। भविष्य के लाभ की आशा मे वह वर्तमान लाभ का त्याग भी कर सकता है। परम्परागत कीमत सिद्धान्त इस तथ्य की उपेक्षा करता है।

3 परम्परागत सिद्धान्त सामान्यतया एक वस्तु पैदा करने वाली फर्म (a single product firm) की मान्यता पर आधारित है, परन्तु व्यावहारिक रूप से हम जानते है कि एक फर्म कई वस्तुओ (Product Mix) का उत्पादन करती है, यह तथ्य कीमत निर्धारण को बहुत कुछ अश मे प्रभावित करता है, परन्तु परम्परागत कीमत सिद्धान्त इस तथ्य की भी उपेक्षा करता है।

4. यह सिद्धान्त अनिश्चितता की समस्या (Problem of uncertainty) की भी उपेक्षा करता है। यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि उत्पादक लागतो तथा माग के विषय मे पूरी जानकारी रखता है। परन्तु वास्तविक जगत मे यह मान्यता निराधार सिद्ध होती है।

इन सीमाओ के होते हुए भी यह मानना पडेगा कि परम्परागत कीमत-सिद्धान्त, कीमत निर्धारण के लिए सैद्धान्तिक आधार प्रस्तुत करता है तथा व्यावहारिक रूप से मूल्य निर्धारण मे सहायक सिद्ध होता है।

प्रश्न व संकेत

1. पूर्ण तथा अपूर्ण प्रतियोगिता के बीच अन्तर बताइए। अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मूल्य कैसे निर्धारित होता है। चित्रों की सहायता से पूर्णतया समझाइए।
(जोधपुर, द्वितीय वर्ष, वाणिज्य, 1963)

(संकेत—पहले दोनो का अन्तर बतलाइए, फिर यह स्पष्ट कीजिए की अपूर्ण प्रतियोगिता की कई अवस्थाएँ होती है, उन अवस्थाओ मे से किसी एक अवस्था को प्रतिनिधि अवस्था मानकर (एकाधिकृत प्रतियोगिता) मूल्य निर्धारण की विधि समझाइए।)

2 एकाधिकृत प्रतियोगिता का क्या अर्थ है ? इसके अन्तर्गत मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है ?

(संकेत—एकाविक्रत प्रतियोगिता का अर्थ समझाइए तथा इसके अन्तर्गत मूल्य निर्धारण की विधि समझाइए—अल्पकाल व दीर्घकाल दोनो मे)

3. अल्प-विक्रेताधिकार के अन्तर्गत कीमत किस प्रकार निर्धारित की जाती है।

(संकेत—अल्प विक्रेताधिकार का अर्थ स्पष्ट करते हुए, कीमत निर्धारण विधि पर प्रकाश डालिए।)

4 'संयुक्त पूर्ति' तथा 'संयुक्त माग' के बीच अन्तर बताइए। संयुक्त पूर्ति के अन्तर्गत मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है ?

(लखनऊ, बी० काम० प्रीवियस, 1971)

5. निम्न दशाओं मे मूल्य किस प्रकार प्रभावित होते हैं ?

(i) जब दो वस्तुएँ संयुक्त रूप मे मागी जाती हैं ?

(ii) जब दो वस्तुओं की संयुक्त रूप से पूर्ति की जाती है ?

समस्याएं (Problems)

एकाधिकारिक प्रतिस्पर्धा

1 बताइये कि किस प्रकार एक फर्म अपने उत्पाद (Product) को अच्छा बनाने की उपेक्षा सस्ता करके लाभ मे वृद्धि कर सकती है ?

2 एक गणितीय सारिणी बनाइये जिसमे एक फर्म के विभिन्न मूल्य संयोगों, विज्ञापन-व्ययों तथा लाभों को प्रदर्शित करिये।

अल्पविक्रेताधिकार

1 मूल्य सिद्धान्त अल्पविक्रेताधिकार की कीमतो तथा उत्पाद के आधार पर जाचना है। क्या अन्य प्रमाप (Standards) भी ध्यान मे रखने चाहिए ? यदि हां तो वे कौन से प्रमाप हो सकते है ?

2 एक किन्कड माग-वक्र (Kinked Demand Curve) खींचिए और तब एक 'माग मे कमी' (Decrease in demand) रेखा बनाकर सिद्ध करिये कि मूल्य मे कमी उपस्थित नहीं होगी।

3 एक रेखाचित्र बनाइये और बताइये कि एक अल्पविक्रेताधिकारी-उद्योग मे प्रवेश करने पर किस प्रकार मूल्य पूर्व-स्तर से नीचे गिर जाता है ?

38

उत्पादन के साधनों का मूल्य-निर्धारण

(Factor Price Determination)

"The firm will increase production upto the point at which the last unit of the variable factor employed adds just as much to revenue as it does to costs."

—Lipsey. R. G.

19 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में अर्थशास्त्रियों ने भूमि, श्रम तथा पूँजी को ही उत्पादन के प्रमुख साधनों के रूप में महत्व प्रदान किया था। 19 वीं शताब्दी के अन्त में उत्पादन के साधनों में 'साहस' का भी समावेश किया गया। उस समय अर्थशास्त्रियों का केवल इस समस्या में ही अधिक दिलचस्पी थी कि कृषि व उद्योग का कितना अंश उत्पादन के उक्त साधनों को प्राप्त होता है ? इसका प्रमुख कारण यह भी था कि उस समय उत्पादन साधनों के स्वामी—भूमिपति, श्रमिक पूँजीपति तथा साहसी—जिन्हें लगान, मजदूरी, ब्याज तथा लाभ के रूप में आय प्राप्त होती थी, आर्थिक समूहों (economic groups) से अधिक महत्वपूर्ण स्थिति में थे। राजनीतिक एवं सामाजिक दृष्टि से व विभिन्न सामाजिक उच्चवर्गीय, मध्यवर्गीय तथा निम्नवर्गीय समूह थे जिनकी सापेक्षिक आय निर्धारित करने के लिए राष्ट्रीय आय में उनके अलग-अलग हिस्से का अध्ययन किया जाता था। परन्तु आजकल विशुद्ध आर्थिक विश्लेषण में आर्थिक सिद्धान्त का सम्बन्ध अब केवल इस बात से नहीं है कि राष्ट्रीय आय में उत्पादन साधनों का अलग अलग हिस्सा क्या है, बल्कि इस तथ्य से है कि उत्पादन के साधनों की कीमतें कैसे निर्धारित होती है ? अतः हम इस अध्याय में इस विधि का अध्ययन करेंगे जिसके द्वारा उत्पादन साधनों के मूल्य निर्धारित होते हैं।

साधनों के मूल्य निर्धारण सिद्धान्त के ढाँचे के चार प्रमुख भाग हैं :

(1) प्रत्येक फर्म साधनों की इतनी मात्राएं प्रयोग में लाती है कि उनकी सीमान्त भौतिक उत्पादकता के मूल्य फर्म के लिए उनकी इकाई लागतों के बराबर होते हैं।

(ii) प्रत्येक फर्म के लिए उत्पादन साधनों का एक माग वक्र होता है। इस वक्र का साधनों की घटती हुयी सीमान्त भौतिक उत्पादकता के कारण ढाल नीचे की ओर होता है। जब फर्मों की व्यक्तिगत माग को जोड दिया जाता है, तब प्रत्येक बाजार तथा सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था मे साधनों के माग फलन (demand functions) ज्ञात हो सकते हैं।

(iii) विभिन्न मूल्यों पर साधनों की पूर्ति की मात्रा उनके स्वामियों द्वारा लिए गए निर्णय के आधार पर निश्चित होती है। साधन के मूल्य माग तथा पूर्ति नियम के आधार पर निर्धारित होते हैं।

(iv) उत्पादित वस्तु का मूल्य निर्धारण सिद्धान्त तथा उत्पादन साधनों का मूल्य सिद्धान्त एक ही सिद्धान्त के अग हैं।

इस सम्बन्ध मे इस बात पर भी विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है कि उपभोक्ताओं की माग उनकी रुचि तथा उस आय पर निर्भर करती है जो वे अपने उत्पादन साधनों, अर्थात् अपनी उत्पादन सेवाओ (productive services), को बेचकर प्राप्त करते हैं। उपभोक्ताओ की माग तथा उत्पादन विधि मे तकनीकी प्रगति उत्पादन साधनों की सीमान्त उत्पादकता निर्धारित करती है। इस प्रकार उत्पादन तथा साधनो के मूल्य सिद्धान्त, तकनीकी विधि तथा उपभोक्ताओ की रुचि की सीमाओं के अन्तर्गत, इस तथ्य को व्यक्त करते है कि उत्पादन साधन किस प्रकार अपने मूल्यो के कारण कई प्रकार से प्रयोग मे लाये जाते है।

उत्पादन साधनो का मूल्य सिद्धान्त सामान्यतया उत्पादन का 'सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त' (Marginal Productivity Theory) कहा जाता हैं। परन्तु यह सिद्धान्त पूर्णतया साधनो के मूल्य सिद्धान्त का विवेचन नहीं करता, क्योंकि इसके अन्तर्गत सीमान्त उत्पादकता की धारणा माग पक्ष पर आधारित है जबकि प्रत्येक मूल्य सिद्धान्त मे पूर्ति पक्ष का उतना ही महत्व है जितना कि माग पक्ष का। यही कारण है कि उत्पादन-साधनों के मूल्य-निर्धारण सिद्धान्त मे उनकी माग व पूर्ति, दोनो ही, पक्षो का अध्ययन करना पडता है। परन्तु जैसा कि स्टोनियर व हेग (Stonier & Hague) का कहना है 'उत्पादन के साधनो के मूल्य निर्धारण सिद्धात का सार यह है कि प्रत्येक उत्पादन के साधन की कीमत इसकी सीमान्त उत्पादकता पर निर्भर करती है।' अन्य शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि उत्पादन के साधनों की कीमत के निर्धारण की प्रक्रिया को सीमान्त-उत्पादकता सिद्धान्त के आधार पर समझा जा सकता है। उत्पादन के समस्त साधनो पर यह सिद्धान्त समान रूप से लागू होता है।

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त (The Marginal Productivity Theory)

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त वितरण का सामान्य सिद्धान्त है जो इस बात की व्याख्या करता है कि उत्पादन के साधनों की कीमत किस प्रकार निर्धारित होती है ? इसके अनुसार उत्पादन के प्रत्येक साधन को उस साधन की सीमान्त उत्पादकता के बराबर हिस्सा दिया जाता है। वितरण का प्रतिष्ठित सिद्धान्त एक सामान्य सिद्धान्त नहीं था, अतः अर्थशास्त्री वितरण के एक सामान्य सिद्धान्त की खोज करते रहे, जिससे एक ही सिद्धान्त के अनुसार उत्पादन-साधनों का हिस्सा निर्धारित किया जा सके। वितरण के सिद्धान्त 'सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त' का निर्माण विकस्टीड (Wicksteed), वालरस (Walras) तथा क्लार्क (J B Clark) के स्वतन्त्र प्रयत्नों द्वारा हुआ। बाद में श्रीमती जोन रॉबिन्सन ने इन अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्तों में महत्वपूर्ण संशोधन किया।

'सीमांत उत्पादकता सिद्धान्त के अनुसार साम्य अवस्था में प्रत्येक उत्पादन-साधन का पारितोषिक या मूल्य उस साधन की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होगा। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक साधन का मूल्य उसकी 'उत्पादकता' पर निर्भर करता है तथा उसकी यह उत्पादकता उसकी सीमान्त उत्पादकता द्वारा निर्धारित की जाती है।

(1) सीमान्त उत्पादकता क्या है प्रो० हिक्स के अनुसार "सीमांत उपज जिसके द्वारा साम्य अवस्था में उत्पादन के एक साधन को प्राप्त होने वाले हिस्से को ज्ञात करते हैं, एक फर्म का अतिरिक्त उत्पादन है जो उत्पादन-साधन के एक अतिरिक्त इकाई के प्रयोग के कारण प्राप्त होता है, जबकि उद्योग का शेष संगठन अपरिवर्तित रक्खा जाए।"[1] मूल्य निर्धारण का अध्ययन करते समय हम यह देख चुके हैं कि फर्म अपने उत्पादन का विस्तार उस बिन्दु तक करती है, जिस पर उत्पादन की अन्तिम इकाई की लागत तथा उस इकाई से प्राप्त आय बराबर होती है अर्थात् फर्म का विस्तार उस समय तक होता है जब तक सीमांत लागत सीमांत आय के बराबर नहीं हो जाती है। उत्पादन साधनों के सन्दर्भ में इसे इस प्रकार कहा जा सकता है, 'फर्म उत्पादन में वृद्धि उस बिन्दु तक करेगी जिस पर परिवर्तनशील साधन की अन्तिम इकाई द्वारा आय में उतनी ही वृद्धि होगी जितनी की लागत में।"

1 "The marginal product which measures the actual return which a factor of Production must get in a state of equilibrium is the addition which is made to the product of a firm when a small unit is added to the supply of that factor available to that firm and the rest of the organistion of the industry remains unchanged,"
—*J R Hicks*

इस प्रकार सरल शब्दों में, सीमान्त उत्पादकता की परिभाषा इस प्रकार है : "अन्य साधनों को स्थिर रखकर परिवर्तनशील साधन की एक अतिरिक्त इकाई का प्रयोग करने पर कुल उत्पादन में जो वृद्धि होती है, वही उस साधन की सीमान्त उत्पादकता है।"

(2) **सीमान्त उत्पादकता की मांग :** एक साधन की अतिरिक्त इकाई द्वारा प्राप्त कुछ उत्पादन में वृद्धि अर्थात् सीमांत उत्पादकता की माप तीन प्रकार से की जा सकती है :

उपर्युक्त तीनों तरीकों की व्याख्या निम्नलिखित है :—

(i) सीमांत भौतिक उत्पाद (Marginal Physical Product or MPP) किसी साधन की एक अतिरिक्त इकाई के प्रयोग से कुल भौतिक उत्पादन (Total Physical Product) में वृद्धि को उस साधन की सीमान्त भौतिक उत्पाद कहते है, जबकि अन्य साधन पूर्ववत या स्थिर रखे जाते है। सीमांत भौतिक उत्पादकता रेखा उल्टे 'यू' (U) आकार (∩) की होती है, क्योंकि उत्पत्ति ह्रास नियम या परिवर्तनशील अनुपात नियम के अनुसार प्रारम्भ में सीमांत भौतिक उत्पादकता बढती है, एक बिन्दु पर यह अधिकतम हो जाती है और उसके बाद गिरने लगती है।

(ii) सीमान्त आय उत्पाद (Marginal Revenue Product or MRP) किसी उत्पादक या फर्म के लिए सीमान्त भौतिक उत्पादकता का उतना महत्व नहीं है जितना कि उस भौतिक उत्पाद को बेचने से प्राप्त आय का। सीमांत आय उत्पाद का अभिप्राय कुल आय में उस द्रव्य या आय की वृद्धि से है जो कि अन्य साधनों को पूर्ववत रखने पर परिवर्तनशील साधन की एक अतिरिक्त इकाई के प्रयोग से होती है। सीमान्त आय उत्पाद को ज्ञात करने के लिए सीमांत भौतिक उत्पाद को सीमांत आय से गुणा किया जाता है अर्थात्,

$$MRP = MPP \times MR$$

(iii) सीमांत भौतिक उत्पाद का भौतिक मूल्य (Marginal Value Product or MVP) या सीमान्त उत्पादक का मूल्य (Value of Marginal Product or VMP) सीमांत भौतिक उत्पादकता को वस्तु की कीमत से गुणा करने पर सीमान्त भौतिक उत्पाद का मूल्य ज्ञात होता है। अर्थात्,

$$MVP \text{ or } VMP = MPP \times Price$$

परन्तु पूर्ण प्रतियोगिता में औसत आय (AR) सीमान्त आय (MR) के बराबर होती है तथा औसत आय (AR) को ही मूल्य (Price) कहा जाता है अतः

$$MVP \text{ or } VMP = MPP \times MR$$
$$= MRP$$

उक्त समीकरण से स्पष्ट है कि पूर्ण प्रतियोगिता मे सीमात भौतिक उत्पाद का मूल्य (MVP) या सीमात उत्पाद का मूल्य (VMP) तथा सीमान्त आय उत्पाद (MRP) एक ही होते है।

इन तीनो का स्पष्टीकरण एक उदाहरण द्वारा किया जा सकता है। मान लीजिए एक फर्म (पूर्ण स्पर्धा मे) 20 श्रमिक उत्पादन-कार्य मे लगाती है तथा वे वस्तु की 100 इकाइयो का उत्पादन करते हैं। यदि एक श्रमिक और लगा दिया जाता है तो उत्पादन 106 इकाई हो जाता है। फर्म दस रुपये प्रति इकाई की दर से वस्तु बेच रही है। अतः प्रथम अवस्था मे फर्म की कुल आय 1,000 रुपये तथा द्वितीय अवस्था मे 1 060 रुपये होगी। ऐसी परिस्थिति मे।

सीमात भौतिक उत्पाद (MPP) = 106 — 100 = 6 इकाइया
सीमान्त मूल्य उत्पाद (MVP) = 6 × 10 = 60 रुपये
सीमात आय उत्पाद (MRP) = 1 060 — 1,000 = 60 रुपए

पूर्ण स्पर्धा मे अतिरिक्त इकाइया भी उसी कीमत पर बेची जाती हैं, अत. MVP तथा MRP समान होंगे। जैसा कि आगे दी गयी तालिका से स्पष्ट है।

MPP, MRP तथा MVP के माप की तालिका

नियुक्त श्रमिकों की संख्या	कुल भौतिक उत्पाद	उत्पाद का मूल्य (Price)	कुल आय (Total Revenue)	सीमांत भौतिक उत्पाद (MPP इकाइयाँ)	सीमांत आय उत्पाद (MRP) रु०	सीमांत भौतिक उत्पाद का मौद्रिक मूल्य (MVP) रु०
	इकाइयां	रु०				
20	100	10	10×100 =1000	—	—	—
21	106	10	10×106 =1060	(106–100) = 6	(1060–1000)=60	6×10=60

अपूर्ण स्पर्धा में अतिरिक्त इकाइयां कम मूल्य पर बेची जाती है। ऐसी स्थिति में सीमान्त आय उत्पाद (MRP) सीमांत भौतिक उत्पाद के मौद्रिक मूल्य (MVP) से कम होता है, जैसा कि प्रति इकाई 10 रु० के मूल्य के 9.90 रु० हो जाने पर निम्न तालिका में MRP तथा MVP में हुए परिवर्तनों से स्पष्ट है

अपूर्ण स्पर्धा में MPP, MRP तथा MVP के माप की तालिका

नियुक्त श्रमिकों की संख्या	कुल भौतिक उत्पाद	उत्पाद का मूल्य (Price)	कुल आगम (Total Revenue)	सीमांत भौतिक उत्पाद (MPP)	सीमांत आय उत्पाद (MRP)	सीमांत भौतिक उत्पाद का मौद्रिक मूल्य (MVP)
	इकाइयां	रु०	रु०	इकाइयां		
20	100	10	10×100 =1000	—	—	—
21	106	9 90	9 90×106 =1049 40	(106–100)=6	(1049 40)–(1000) = 49 40	6×9 90=59 40

औसत सम्पूर्ण आगम उत्पादकता तथा औसत शुद्ध आगम उत्पादकता (Average Gross Revenue Productivity i e. AGRP and Average Net Revenue Productivity i e ANRP) :—

सीमान्त आगम उत्पादकता के सम्बन्ध मे यह स्पष्ट किया जा चुका है कि MRP वक्र उल्टे 'U' के आकार का होता है जिससे यह ज्ञात होता है कि उसकी ऊपर उठती हुयी ढलान सीमान्त आगम उत्पाद मे वृद्धि तथा उसकी नीचे की ओर गिरती हुयी ढलान सीमान्त आगम उत्पाद मे कमी को व्यक्त करती है। सीमान्त आगम उत्पादकता वक्र की तरह ही हम औसत आगम उत्पादकता वक्र को भी खीच सकते है। साधन के किसी प्रयोग के स्तर पर कुल आगम (Total Revenue) को साधन की इकाइयो से भाग देने पर औसत आगम उत्पाद ज्ञात कर सकते हैं, अर्थात्

$$\text{साधन के किसी प्रयोग के स्तर पर औसत आगम उत्पाद} = \frac{\text{कुल आगम}}{\text{साधन की इकाइया}}$$

$$\left(\text{Average Revenue Product at any level of employment} = \frac{\text{Total Revenue}}{\text{Total number of units of the factor}}\right)$$

उक्त समीकरण की सहायता से ज्ञात आकडो के आधार पर औसत आगम उत्पादकता वक्र खीचा जा सकता है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित तालिका की सहायता से खीचे गये सीमान्त आगम उत्पादकता वक्र (MRPC) तथा औसत आगम उत्पादकता वक्र के आकार चित्र स० 117 मे दिए गये वक्रो के अनुरूप होंगे।

सीमान्त आगम उत्पादकता की तालिका

नियुक्त श्रमिको की सख्या	श्रम की सीमान्त भौतिक उत्पादकता (किलो ग्राम मे)	श्रम की सीमान्त आगम उत्पादकता (MPP × Price)
		रु०
1	5	25
2	7	35
3	12	60
4	20	100
5	25	125
6	30	150
7	27	135
8	25	125
9	18	90
10	10	50

चित्र सं० 117 से सीमान्त आगम उत्पादकता तथा औसत आगम उत्पादकता वक्रों के पारस्परिक सम्बन्ध को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है : "जब सीमान्त



चित्र सं० 117

आगम औसत आगम से अधिक होता है, तब सीमान्त आगम उत्पादकता वक्र औसत आगम उत्पादकता वक्र के ऊपर होता है। परन्तु सीमान्त आगम औसत आगम से कम होता है तब सीमान्त आगम उत्पादकता वक्र औसत आगम उत्पादकता वक्र के नीचे होता है। सीमान्त आगम उत्पादकता वक्र आगम उत्पादकता वक्र को सबसे ऊँचे बिन्दु पर काटता है।"

चित्र सं० 117 में औसत आगम उत्पादकता वक्र कुल या 'सम्पूर्ण औसत आगम उत्पाद' (Gross Average Revenue Product) को प्रकट करता है। परन्तु हम लोगों को इस सिद्धान्त के विवेचन में सम्पूर्ण आगम उत्पाद की अपेक्षा 'शुद्ध औसत आगम उत्पाद' (Net Average Revenue Product) पर विचार करना है।

इस सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है कि उत्पादन का कोई साधन स्वयं किसी वस्तु का उत्पादन नहीं कर सकता। उसे अन्य साधनों के साथ मिलाने पर ही किसी वस्तु का उत्पादन सम्भव हो सकता है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है औसत आगम उत्पाद कुल या सम्पूर्ण आगम को साधन (माना कि श्रम) की कुल इकाइयों से भाग देकर ज्ञात किया जाता है। परन्तु कुल आगम श्रम के अतिरिक्त अन्य साधनों जैसे भूमि, पूँजी तथा साहस के अंशदान के कारण प्राप्त होता है। *श्रम की औसत शुद्ध आगम उत्पादकता को ज्ञात करने के लिए हमें सर्वप्रथम* कुल आगम में से भूमि, पूँजी तथा साहस के साधनों के आगम के हिस्से को निकालना होगा। उसके बाद शेष आगम को श्रमिकों की संख्या से भाग देना होगा। इस प्रकार

तक व्यक्तिगत फर्म के लिए श्रम के पूर्तिवक्र का प्रश्न है, यह वक्र चित्र स 118 मे WW रखा की तरह एक पड़ी हुयी सीधी रेखा (Horizontal Straight Line) के आकार का होगा, क्योंकि यह मान लिया गया है कि साधन (श्रम) बाजार मे पूर्ण प्रतियोगिता है।

पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे फर्म श्रम के प्रचलित मूल्य अर्थात् मजदूरी (जो श्रम की कुल माग व पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है) पर श्रम की जितनी इकाइया चाहे उत्पादन कार्य मे लगा सकती हैं। इसमे यह ज्ञात होता है कि फर्म के लिए श्रम की औसत लागत या औसत मजदूरी [जिसे किसी भी साधन के लिए 'साधन की औसत लागत' (Average Factor Cost-AFC) या 'औसत पारिश्रमिक' (Average Remuneration) कहा जा सकता है] का वक्र एक पड़ी हुयी रेखा के आकार का होता है जो यह प्रकट करता है कि फर्म के लिये औसत मजदूरी श्रम की मजदूरी (अर्थात् साधन का औसत पारिश्रमिक साधन के सीमांत पारिश्रमिक (Marginal Factor Cost या MFC) के बराबर होती है। चित्र स० 118 की WW रेखा को AFC या MFC भी कहा जा सकता है, क्योंकि AW or AFC=MW या MFC,

पूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत एक फर्म अधिकतम लाभ उसी समय प्राप्त करेगी जबकि वह श्रम साधन की एक अतिरिक्त इकाई का प्रयोग उस बिन्दु तक करे जिस बिन्दु पर श्रम की सीमान्त आगम उत्पादकता (MRP) [अर्थात् अतिरिक्त इकाई के प्रयोग से कुल आगम मे वृद्धि] श्रम की अतिरिक्त इकाई की सीमान्त मजदूरी [अर्थात् सीमान्त साधन लागत (MFC)] के बराबर न हो जाये। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि फर्म उस समय सतुलन प्राप्त करती है जबकि उसके लिए एक साधन की सीमान्त आगम उत्पादकता (MRP) उसकी सीमांत लागत (MFC) के बराबर हो जाती है। इसी स्थिति मे लाभ अधिकतम होते हैं। अत. श्रम बाजार मे पूर्ण प्रतिस्पर्धा होने पर एक फर्म की सतुलन की दशा इस प्रकार होगी

श्रम की सीमान्त उत्पादकता = सीमान्त मजदूरी = औसत मजदूरी

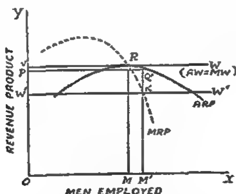
MRP of Labour = Marginal Wage = Average Wage

अर्थात् MRP = MFC

उपर्युक्त तथ्यो के आधार पर किसी भी साधन का मूल्य निर्धारित किया जा सकता है। यहा हम सुविधा की दृष्टि से श्रम के पारिश्रमिक अर्थात् मजदूरी निर्धारण की विधि को रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट करते हैं। हमने इस सम्बन्ध मे यह भी मान लिया है कि वस्तु और श्रम दोनो के ही बाजारो मे पूर्ण स्पर्धा है। ऐसी स्थिति मे अन्य साधनो को स्थिर रखते हुये यदि श्रम की मात्रा म एक इकाई से वृद्धि की जाती है, तो मजदूरी श्रम की सीमान्त उत्पादकता के मूल्य (MVP) के बराबर

होगी। यदि श्रम को MVP के बराबर मजदूरी नही मिलेगी तो वह किसी अन्य फर्म में चला जायेगा क्योंकि पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे श्रम गतिशील होता है। श्रम की गतिशीलता ही मजदूरी और सीमान्त उत्पादकता में समानता लाती है। श्रमिको के गतिशील होने के कारण सीमान्त उत्पादकता और मूल्य बराबर हो जायेंगे, क्योंकि श्रम की माग का प्रकट करने वाला सीमान्त आगम उत्पादकता (MPP) वक्र नीचे दाहिनी तरफ मुड़ता है और वह 'औसत आगम उत्पादन' (ARP) वक्र को उसके उसके उच्चतम बिन्दु पर काटता है जैसा कि चित्र स० 118 मे दिखलाया गया है। मजदूरी की समान दर पर किसी फर्म का इच्छानुसार श्रम की इकाइया प्राप्त होगी। फलस्वरूप श्रम की पूर्ति प्रकट करने वाला सीमान्त मजदूरी (MW) वक्र एक पटी हुयी रखा (Horizontal) के रूप म होगा। इस प्रकार औसत मजदूरी (AW) वक्र तथा 'सीमान्त मजदूरी' (MW) वक्र दोनो एक ही होगे, अर्थात पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे सीमान्त मजदूरी और औसत मजदूरी एक ही होगी।

चित्र स० 118 से स्पष्ट है कि कोई फर्म अपने लाभ को सर्वाधिक करने के लिए एक दी हुयी मजदूरी की दर पर कितने श्रमिको को कार्य पर लगायेगी। WW रेखा सीमान्त मजदूरी और औसत मजदूरी दोनो को प्रदर्शित करती है। श्रम की प्रत्येक इकाई को OW मजदूरी मिलती है। अन्त श्रम की एक अतिरिक्त इकाई को भी इतनी ही रकम मजदूरी के रूप में प्राप्त होगी। ऐसी स्थिति मे फर्म का लाभ



चित्र स० 118

वही सम्भव होगा जहा श्रम का सीमान्त आगम उत्पादन (MRP) श्रम की सीमान्त लागत (सीमान्त मजदूरी) के बराबर है और ऐसा सम्भव होता है जबकि उत्पादक OM श्रमिको को कार्य पर लगाता है। यदि इससे कम मात्रा मे श्रमिक कार्य पर लगाये जाते है तो श्रम की मात्रा में वृद्धि करके उत्पादक, लागत की अपेक्षा अपनी आय को अधिक बढा सकता है, क्योंकि 'सीमान्त आय उत्पादन (MRP) उसकी

लागत की तुलना में अधिक होगा। ठीक इसके विपरीत यदि OM से अधिक मात्रा में श्रम को लगाया जाता है तो श्रम का 'सीमान्त आय उत्पादन' (MRP) उसकी सीमान्त लागत से कम होगा, परिणामस्वरूप फर्म अपनी कुल आय की अपेक्षा कुल लागत में ही अधिक वृद्धि करेगी। अतः स्पष्ट है कि फर्म के लिये OM मात्रा में श्रम की नियुक्ति ही सर्वाधिक लाभप्रद होगी। इस प्रकार जब श्रम बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता हो तो फर्म के लिए सन्तुलन की यह स्थिति होगी :

श्रम की सीमान्त आय उत्पादन (MRP) = श्रम की सीमान्त मजदूरी (MW)
= श्रम की औसत मजदूरी (AW)[1]

पूर्ण प्रतिस्पर्धा में, पूर्ण सन्तुलन की अवस्था में, इसका यह भी आशय निकलता है कि मजदूरी श्रम की शुद्ध आय उत्पादकता के बराबर हो जाती है।

यह स्थिति OW से स्पष्ट है अर्थात् जब मजदूरी OW रु० है तो श्रम का औसत आय उत्पादन (ARP) उसकी मजदूरी के बराबर है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि फर्म सन्तुलन की अवस्था में है तथा उत्पादक केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त कर रहा है। सन्तुलन की अवस्था में प्रत्येक फर्म का औसत आय-उत्पादकता-वक्र (ARP) मजदूरी की रेखा को स्पर्श करता है। अल्पकाल में मजदूरी की रेखा WW से ऊपर या नीचे हो सकती है, जिसके कारण उत्पादक को क्रमशः हानि या लाभ होगा, किन्तु दीर्घकाल में ऐसी स्थिति नहीं होगी तथा उत्पादक को केवल सामान्य लाभ ही मिलेगा। चित्र सं० 110 के अनुसार यदि मजदूरी WW से कम है अर्थात् W'W' है तो OM श्रमिक काम पर लगाये जायेंगे। फलस्वरूप असामान्य लाभ WP होगा। ऐसी स्थिति में फर्म तो सन्तुलन की स्थिति में रहता है, किन्तु उद्योग सन्तुलन की स्थिति में नहीं रहता। लेकिन जब नई फर्में प्रवेश करेंगी तो मूल्य में कमी आयगी तथा असामान्य लाभ कम होता जायेगा। फलस्वरूप 'सीमान्त आय उत्पादन वक्र (MRP) तथा 'औसत आय उत्पादन वक्र' (ARP) नीचे की तरफ गिरेगा। किन्तु ठीक इसके विपरीत, श्रम की मांग में वृद्धि होगी, क्योंकि श्रम की मांग में वृद्धि के कारण मजदूरी का बढ़ना स्वाभाविक होगा और श्रम का मूल्य बढ़ेगा और औसत आय उत्पादन वक्र' नीचे की तरफ आयेगा। लेकिन मजदूरी की रेखा ऊपर जायगी और किसी स्तर पर दोनों एक दूसरे को स्पर्श करेंगे। इस क्रिया के कारण पुनः उत्पादकों को केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त होगा। इसी प्रकार यदि फर्मों को सामान्य लाभ नहीं मिलेगा या उससे कम मिलेगा तो वे उद्योग छोड़ सकती हैं और फिर अन्तत सन्तुलन की स्थिति आ जायेगी।

[1] "The firm will be in equilibrium—profits will be maximised when the marginal revenue productivity of the factor is equal to the marginal cost of the factor—the marginal wage."

—*Stonier and Hague*

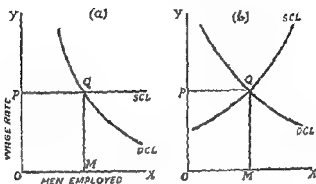
उक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि कोई फर्म श्रम की विभिन्न इकाइयों का प्रयोग उसी सीमा तक करेगी जहां श्रम का सीमान्त आय उत्पादन (MRP) उसकी सीमान्त मजदूरी के बराबर होता है पूर्ण प्रतिस्पर्धा तथा सन्तुलन की स्थिति में मजदूरी श्रम के औसत आय उत्पादन के बराबर होती है। स्पष्ट है कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में फर्म के लिये श्रम का पूर्ति वक्र प्रचलित मजदूरी की दर पर पूर्ण रूप से लोचदार होगा।

4. उद्योग का सन्तुलन (Equilibrium of Industry) :

इस प्रकार किसी एक फर्म के लिये तो मजदूरी निश्चित और दी हुई होती है किन्तु पूरे उद्योग के लिए ऐसा नहीं होता। पूरे उद्योग की दृष्टि से श्रम की पूर्ति पूर्ण रूप से लोचदार नहीं होती, क्योंकि यदि कोई उद्योग अधिक मजदूरों को कार्य पर लगाना चाहता है तो उसे मजदूरी में वृद्धि करना आवश्यक होगा। इसके साथ ही एक विशिष्ट प्रकार का श्रमिक विभिन्न प्रकार के उद्योग में कार्य भी नहीं कर सकता। परिणामस्वरूप वह एक उद्योग छोड़कर किसी दूसरे उद्योग में आसानी से जा भी नहीं सकता, किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि समान पेशे वाले उद्योगों में मजदूरी में वृद्धि होने से अधिक श्रमिक उस तरफ जाने के लिए प्रवृत्त होंगे, जिसके कारण उस उद्योग में श्रम की पूर्ति बढ़ जायगी। श्रम की पूर्ति में वृद्धि एक अन्य दृष्टि से भी सम्भव है। जब किसी उद्योग में मजदूरी बढ़ती है तो उस उद्योग के श्रमिक अतिरिक्त काल (over-time) तक काम करना प्रारम्भ कर देते हैं, ऐसी दशा में उद्योग के श्रम का पूर्ति वक्र बायीं ओर ऊपर (slopes upward from left to right) की तरफ बढ़ता है। इसका अर्थ यह है कि मजदूरी-दर में वृद्धि होने पर अधिक मजदूर काम करने को तत्पर होंगे और मजदूरी-दर बदल जायेगी। अतः पूरे उद्योग की दृष्टि में सन्तुलन उसी दशा में सम्भव है, जब सभी फर्मों के लिए श्रम की मांग एवं पूर्ति बराबर होती है।

फर्म और उद्योग में श्रम की पूर्ति और मांग का क्या स्वरूप होगा तथा मजदूरी दर क्या होगी, यह चित्र सं० 119 द्वारा और भी सरल रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :

किसी फर्म के लिये तो मजदूरी दर दी हुई है तथा श्रम के पूर्ति-वक्र (SCL) का स्वरूप समानान्तर है, जिसका तात्पर्य यह है कि उत्पादक अपने व्यवहार से मजदूरी दर को प्रभावित नहीं कर सकता। फर्म की सन्तुलन की स्थिति में (OM) श्रम की इकाई कार्य करती है तथा OP मजदूरी की दर है। यह स्थिति चित्र (a) द्वारा स्पष्ट है किन्तु पूरे उद्योग में श्रम का पूर्ति वक्र (SCL) का स्वरूप (चित्र b में) बदल जाता है तथा वह बायें से दायें ऊपर की ओर उठता है तथा पूरे उद्योग की दृष्टि से सन्तुलन बिन्दु Q होगा। जिस स्थिति में सभी फर्मों में OM मात्रा में श्रमिक कार्य पर लगाये जाते हैं तथा उनको OP मजदूरी प्राप्त होती है।



चित्र सं० 119

श्रम की गतिशीलता माग एव पूर्ति को प्रभावित करती है। श्रम के एक उद्योग से दूसरे उद्योग मे जाने का क्रम उस सीमा तक चलता रहेगा। जब तक कि पूरे उद्योग में केवल एक मजदूरी दर कायम न हो जाये तथा मजदूरी दर सीमान्त उत्पादकता के मूल्य (MVP) के बराबर न हो जाने। ऐसी स्थिति मे माग एव पूर्ति की शक्तियो के द्वारा पूरे उद्योग मे मजदूरी श्रम की सीमात उत्पादकता (MVP) के बराबर होगी तथा श्रम की सीमान्त उत्पादकता के समान रहेगी।

(i) साधनों की मांग (Demand of the Factors) : जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि किसी वस्तु के मूल्य का निर्धारण उसकी माग व पूर्ति पर निर्भर करता है। उत्पादन साधनों के मूल्य-सिद्धात के सम्बन्ध में अर्थात् उनके पारिश्रमिक को निर्धारित करते समय सीमान्त उत्पादकता पर विचार करते समय साधनो की माग पर विचार करना आवश्यक है। वस्तुत साधनो की माग उनकी 'उत्पादकता' पर निर्भर करती है, परन्तु किसी भी उत्पादन साधन की माग प्रत्यक्ष नही होती, बल्कि व्युत्पादित माग (derived demand) होती है। इसके साथ ही साथ साधन की माग उत्पादन की प्राविधिक दशा पर भी निर्भर करती है। प्राविधिक दशा का अभिप्राय साधन की सीमात उत्पादकता, कुल उत्पादन लागत मे साधन का महत्व तथा एक साधन का दूसरे साधन के प्रयोग से है। साधन द्वारा उत्पादित वस्तु की माग बढने पर साधन की भी माग बढती है, अर्थात् किसी साधन की मांग उसके द्वारा उत्पादित वस्तु की माग की लोच पर निर्भर करती है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि किसी भी साधन की उत्पादकता अधिक होने पर उसकी माग अधिक होगी तथा उसका मूल्य भी अधिक होगा। इसके विपरीत उत्पादकता कम होने पर उसका मूल्य कम होगा।

किसी साधन का सीमान्त आय-उत्पादकता-वक्र (MRP) फर्म के लिए उस

साधन का माग-वक्र भी है। इस माग वक्र का ढाल सीमात भौतिक उत्पाद (MPP) पर निर्भर करता है। किसी साधन के लिए उद्योग का माग वक्र नीचे की ओर ढलता हुआ (downward sloping) होता है, क्योकि साधन की जितनी ही अधिक इकाइयो का प्रयोग किया जाता है, क्रमागत इकाइयो का 'सीमात भौतिक उत्पाद' (MPP) धीरे-धीरे कम होता जाता है।

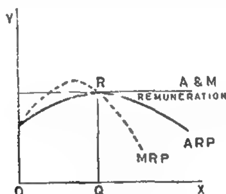
पूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत अधिकतम लाभ अर्जित करने वाली उत्पादक परिवर्तनशील उत्पादन-साधन को उस सीमा या बिन्दु पर उत्पादन कार्य मे लगाता है, जिस बिन्दु पर उत्पादन-साधन की सीमात लागत (साधन की एक अतिरिक्त इकाई लगाने से कुल लागत मे वृद्धि) इस साधन द्वारा उत्पादित 'सीमात आय उत्पाद' के बराबर होती है। उत्पादक इस 'सीमात आय उत्पाद' के बराबर उस साधन की कीमत निर्धारित करता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है साधनो का मूल्य सीमात उत्पादकता द्वारा निर्धारित होता है।

उक्त विवेचन से एक निष्कर्ष यह भी निकलता है कि फर्म का लाभ अधिकतम उस स्थिति मे होता है जबकि परिवर्तनशील साधन की सीमान्त लागत (MC) साधन की सीमान्त आय (MRP) के बराबर होती है। इसके लिए फर्म या उद्योग अपना लाभ अधिकतम करने के लिए साधन की सीमात उत्पादकता तथा साधन की सीमान्त लागत (MC or MFC or Marginal Factor Cost) को बराबर करती है। यही कारण है कि साधन के मूल्य निर्धारण मे सीमान्त उत्पादकता को महत्व दिया जाता है, न कि औसत उत्पादकता (Average Productivity) को। सीमान्त उत्पादकता ही साधन की सीमान्त लागत (Marginal Factor Cost) अर्थात् 'साधन की सीमान्त आय या उसका पारिश्रमिक (Marginal Remuneration of the Factor) निर्धारित करती है।

(ii) साधनो की पूर्ति पूर्ण स्पर्द्धा के अन्तर्गत (क) उत्पादक अधिकतम लाभ उसी समय प्राप्त कर सकता है जबकि वह प्रत्येक उत्पादन साधन का उपयोग उस बिन्दु तक करे जिस बिन्दु पर साधन की 'सीमात आय उत्पाद' (MRP) उस साधन के बाजार मूल्य के बराबर हो। (ख) इसके साथ ही साथ हम यह भी जानते हैं कि प्रतिस्थापन के नियम के अनुसार उत्पादक, साधनो का 'न्यूनतम लागत सयोग' (Least Cost Combination) उस अवस्था मे प्राप्त करता है, जब कि वह प्रत्येक साधन की इकाइयो का प्रयोग उस बिन्दु तक करे, जिस बिन्दु पर 'सीमात आय उत्पाद' (MRP) तथा साधन के मूल्य का अनुपात, सभी उत्पादन साधनो के लिए समान हो। उपरोक्त दोनो बातो को ध्यान मे रखते हुए उत्पादन साधनो को उत्पादन कार्य मे लगाता है। अब हम यह देखना है कि साधनो की पूर्ति की क्या दशा होगी? एक फर्म के लिए साधन का पूर्ति वक्र क्षैतिज (Horizontal) होगा।

आय उत्पाद' से अधिक होगी। अतः उत्पादक किसी साधन की उतनी ही मात्रा का प्रयोग करेगा जितनी मात्रा का प्रयोग करने से साधन की 'सीमान्त आय उत्पाद' उस साधन की कीमत के बराबर हो। इस तथ्य का स्पष्टीकरण निम्न रेखाचित्र द्वारा किया जा सकता है।

चित्र मे MRP तथा ARP वक्र उत्पादन-साधन के क्रमश 'सीमान्त आय उत्पाद' तथा 'औसत आय उत्पाद' वक्र हैं जो R बिन्दु पर एक दूसरे के बराबर है। यह वह बिन्दु है जहा पर औसत आय उत्पाद' अधिकतम है। QR साधन की कीमत हुई या उसका पारिश्रमिक हुआ। उत्पादक की आय उस समय अधिकतम है, जबकि वह साधन की OQ मात्रा का प्रयोग करता है। साधन की OQ मात्रा का



चित्र स० 120

प्रयोग करने पर साधन की कीमत='सीमान्त आय उत्पाद'='औसत आय उत्पाद।' MRP वक्र उत्पादक का साधन के लिए माग-वक्र भी है। A & M-Remuneration एक सीधी रेखा के रूप मे है जो यह प्रकट करता है कि इस पारिश्रमिक (RQ) पर साधन की पूर्ति इच्छित मात्रा मे की जा सकती है। अतः R वह बिन्दु है जहा पर माग (MRP) तथा पूर्ति मे भी सतुलन है।

अपूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत पारिश्रमिक

(Remuneration Under Imperfect Competition)

अपूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत भी उत्पादक का लाभ उस बिन्दु पर अधिकतम होगा जिस बिन्दु पर साधन का 'सीमान्त आय उत्पाद' उसकी कीमत के बराबर होगा (When MRP=MC of the factor), परन्तु पूर्ण स्पर्धा की स्थिति से अपूर्ण स्पर्धा की स्थिति म एक विभिन्नता पाई जाएगी। पूर्ण स्पर्धा मे उत्पादक को एक ही कीमत पर साधन की अपेक्षित मात्रा प्राप्त हो जाएगी, परन्तु अपूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत

साधन की अधिक मात्रा प्राप्त करने के लिए, उत्पादक को उत्तरोत्तर अधिक कीमत चुकानी पड़ेगी।

उपर्युक्त से स्पष्ट है कि सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक साधन को वह पारिश्रमिक मिलता है जितना उस साधन द्वारा उत्पत्ति में हिस्सा (Contribution) प्रदान किया गया है (साधन-विशेष के पूर्ति पक्ष को ध्यान में रखते हुए)। साधन का उत्पादित वस्तु में कितना हिस्सा होगा ? यह उस वस्तु के बाजार मूल्य पर निर्भर है। यदि साधन (श्रम) की पूर्ति घटती है तो पारिश्रमिक बढ़ जायेगा तथा वस्तु की कीमत बढ़ने पर भी पारिश्रमिक बढ़ेगा। इसकी विपरीत दशा में उपर्युक्त के विपरीत परिणाम होंगे। यहां पर यह याद रखना चाहिए कि सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त का सम्बन्ध केवल साधनों के मूल्य निर्धारण-विधि से है। पारिश्रमिक उचित है या नहीं, इस बात से इस सिद्धान्त का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस सिद्धान्त द्वारा इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि साधनों की मांग क्यों बढ़ती है।

व्यवहारिक जगत में पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति नहीं पायी जाती। अपूर्ण प्रतिस्पर्धा व्यवहारिक स्थिति है। अपूर्ण प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत यह सम्भव है कि साधन को उसके सीमान्त उत्पाद (Marginal Product) के बराबर पारिश्रमिक न मिले। अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की दो स्थितियां हो सकती हैं - (i) उत्पादित वस्तु के विक्रय से सम्बन्धित अपूर्ण प्रतिस्पर्धा, तथा (ii) साधन (श्रम) की मांग से सम्बन्धित पूर्ण प्रतिस्पर्धा।

(i) वस्तु बाजार में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा

(Imperfect Competition in the Product Market) :

मान लीजिए कि कोई साधन (श्रम) ऐसे उत्पादक की सेवा में है जो एकाधिकारी है। इस दशा में भी वह श्रम को उस बिन्दु तक लगाता जायेगा जिस बिन्दु पर मजदूरी सीमान्त आय उत्पादकता (MRP) के बराबर होगी। परन्तु ऐसी स्थिति में मुख्य अन्तर यह होगा कि सीमान्त आय उत्पाद (MRP) सीमान्त भौतिक उत्पाद (MPP) तथा कीमत के गुणनफल के बराबर नहीं नहीं होगा (MRP no longer equals MRP $\times$ P)। इसका कारण यह है कि उत्पादन में वृद्धि होने पर एकाधिकारी बेची जाने वाली वस्तु की सभी मात्राओं पर कम कीमत प्राप्त करता है (देखिए एकाधिकार सम्बन्धी अध्याय)। अतः एकाधिकारी साधन की अतिरिक्त इकाइयों को लगाते समय केवल सीमान्त भौतिक उत्पाद (MPP) की मात्रा पर ही ध्यान नहीं देगा, बल्कि वह इस बात पर भी ध्यान देगा कि बढ़ा हुआ उत्पादन किस कीमत पर बेचा जायेगा। इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए श्रम की MPP तथा MPP की दशाएं अगले पृष्ठ पर दी गयी सारणी के अनुसार है -

श्रमिक को सख्या	कुल उत्पाद (TP)	सीमात भौतिक उत्पाद (MPP,(किलो मे)	सीमात श्राय उत्पाद (MRP) (पैसो मे)
1	1	1	20
2	[illegible]	7	140
3	27	19	380
4	40	13	260
5	47 5	7.5	150
6	54	6.5	130
7	60	6	120
8	65	5	100
9	69	4	80
10	71	2	40
11	71	0	—

वस्नु 20 पैसे प्रति किलोग्राम की दर से बेची जाती है । यदि 3 श्रमिक लगाये जाते हैं तो वस्तु की 47.5 किलो ग्राम मात्रा पैदा की जाती है। इस मात्रा को उत्पादक 20 प्रति किलो की दर से पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा में बेचता है। यदि छठवा श्रमिक लगाया जाय तो कुल उत्पादन बढकर 54 किलोग्राम हो जाता है। इस प्रकार छठवे श्रमिक की MRP 130 (6 5 × 20=130) पैसे होगी । मान लीजिए मजदूरी की दर 1 30 रु० है । इसका अर्थ यह है कि छठवें श्रमिक को लगाना लाभप्रद होगा, क्योकि अतिरिक्त लागत उत्पादन द्वारा पूरी हो जाती है।

अब मान लीजिए उत्पादक एकाधिकारी है तथा उसकी विक्रय मात्रा कीमत को प्रभावित करती है। उसका माग तालिका निम्नलिखित है :

कीमत (पैसो म)	मांगी गयी मात्रा (कि० ग्राम में)
23	[illegible]
22	23
21	37
20	47.5
19	54

इस प्रकार यदि वह 47 5 कि० ग्राम वस्तु की मात्रा बेचता है तो उसे 20 पैसे प्रति कि० ग्राम कीमत मिलती है। यदि वह 54 कि० ग्राम बेचता है तो उसे 19 पैसे प्रति कि० ग्राम कीमत प्राप्त होती है। छठवें श्रमिक की MRP 76 पैसे होगी, जबकि मजदूरी 1 30 रु० होगी। अत केवल 5 श्रमिक लगाये जायेंगे। इस प्रकार यदि वस्तु विक्रय के सम्बन्ध मे एकाधिकार की स्थिति है तो श्रम की माग पूर्ण प्रतिस्पर्धा की तुलना मे कम होगा तथा मजदूरी की दर भी कम होगी।

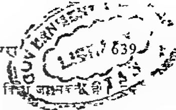
(ii) साधन बाजार में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा

(Imperfect Competition in the Factor Market)

एक उत्पादक साधनों का एकमात्र क्रेता हो सकता है अर्थात् उसकी स्थिति क्रेता एकाधिकारी (Monopsonist) की हो सकती है। ऐसी स्थिति में उत्पादक द्वारा की जाने वाली साधन (श्रम) की माँग मजदूरी दर को प्रभावित करेगी। यदि अधिक श्रम लगाया जाय तो सभी श्रमिकों को ऊँची मजदूरी देनी पड़ेगी। इसका परिणाम यह होगा कि मजदूरी अर्थात् श्रम का औसत लागत वक्र एक सीधी रेखा के रूप में नहीं होगा। श्रम की मात्रा बढ़ाने के लिए मजदूरी बढ़ानी पड़ेगी अर्थात् वक्र दाहिनी ओर ऊपर की तरफ उठता हुआ होगा, परन्तु उत्पादक यदि अधिक श्रमिक लगाता है तो उसे सभी श्रमिकों को अधिक मजदूरी देनी पड़ेगी। अतः अतिरिक्त श्रम (साधन) की सीमान्त लागत मजदूरी (पारिश्रमिक) या औसत लागत से अधिक होगी।

इस स्थिति को अधिक स्पष्ट करने के लिए माना कि उत्पादक अथवा फर्म उत्पाद बाजार (product market) में एकाधिकारी है तथा साधन बाजार (factor market) (श्रम बाजार) में क्रेता एकाधिकारी (Monopsonist) है। इसका अर्थ यह है कि साधन बाजार में फर्म श्रम का एक मात्र नियोजक (employer) है। ऐसी स्थिति में श्रम की कुल माँग क्रेता एकाधिकारी फर्म की माँग के समान होगी। अतः श्रम की मजदूरी क्रेता एकाधिकारी फर्म की श्रम की माँग तथा बाजार में श्रम की पूर्ति द्वारा निर्धारित होगी।

(i) माँग पक्ष (**Demand Side**) पूर्ण प्रतिस्पर्धा की तरह 'एकाधिकारी क्रेता अधिकारी' (monopolist monopsonist) की श्रम की माँग सीमान्त आय उत्पादकता (MRP) वक्र पर निर्भर करती है। उत्पाद बाजार में, जहाँ हमने एकाधिकार की स्थिति मान ली है पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति की तरह फर्म की वस्तु का मूल्य न तो दिया हुआ रहेगा और न ही निश्चित होगा। इसके विपरीत, फर्म के एकाधिकारी होने के कारण वस्तु का मूल्य उत्पादन की मात्रा में कमी या वृद्धि होने पर बदलता रहता है। अधिक उत्पादन होने पर, वस्तु कम मूल्य पर बिकेगी तथा कम उत्पादन होने पर वस्तु अधिक मूल्य पर बिकेगी। एकाधिकार की स्थिति में वस्तु का मूल्य बदलते रहने के कारण श्रम के सीमान्त आय उत्पाद (MRP) की गणना करना कठिन हो जाता है। वास्तव में एकाधिकार की स्थिति में श्रम की MRP की गणना करना सरल नहीं है। एकाधिकार की स्थिति होने पर उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होने पर जब उत्पाद का मूल्य कम हो जाता है तब पूर्ण प्रतिस्पर्धा की तरह श्रम का सीमान्त आय उत्पाद (MRP) सीमान्त भौतिक उत्पाद (MPP) को उत्पाद के मूल्य से गुणा करने पर ज्ञात नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत श्रम का सीमान्त आय उत्पाद (MRP) सीमान्त भौतिक उत्पाद (MPP) को



भौतिक उत्पाद को सीमान्त आय से गुणा करने पर ज्ञात किया जाता है। इस तथ्य को निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है :

[पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा के अन्तर्गत श्रम की सीमान्त आय उत्पादकता] = [श्रम का सीमान्त भौतिक उत्पाद × उत्पाद का मूल्य]

या

[MRP of Labour (Under Perfect Competition)] = [MPP of Labour × Price of the Product]

[एकाधिकार के अन्तर्गत श्रम की सीमान्त आय उत्पादकता] = [श्रम का सीमान्त भौतिक उत्पाद × भौतिक उत्पाद से सीमान्त आय]

या

[MRP of Labour (Under Monopoly)] = [MPP of Labour × Marginal Revenue from the Physical Product]

उक्त सभी तथ्यों को उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए कि पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा के अन्तर्गत एक फर्म में एक अतिरिक्त श्रमिक लगाने पर किसी वस्तु की 5 अतिरिक्त इकाइयों का उत्पादन होता है जबकि इससे पूर्व 45 इकाइयाँ उत्पादित की जाती थीं। अतिरिक्त श्रमिक को लगाने पर कुल उत्पादन बढ़कर 50 इकाइयाँ हो जाती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि अतिरिक्त या सीमान्त श्रमिक का उत्पादन 5 इकाइयों के बराबर है। अन्य शब्दों में श्रम की सीमान्त भौतिक उत्पादकता (MPP) वस्तु की 5 इकाइयाँ हैं। माना कि वस्तु का प्रति-इकाई मूल्य 5 रुपए है। अतः श्रम के सीमान्त भौतिक उत्पाद का द्रव्य में मूल्य अथवा श्रम की सीमान्त आय उत्पाद 5 × 5=25 रु० होगा। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रहे कि पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा के अन्तर्गत फर्म द्वारा उत्पादित वस्तु का मूल्य 5 रु० पर स्थिर रहेगा, चाहे फर्म वस्तु की 50 इकाइयाँ उत्पादित करे अथवा 500।

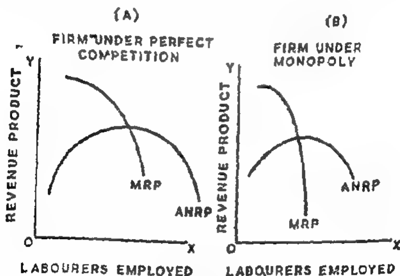
परन्तु एकाधिकार के अन्तर्गत फर्म द्वारा उत्पादित वस्तु का मूल्य स्थिर नहीं रहता। वह उत्पादन-मात्रा में वृद्धि होने पर घटता है तथा उसमें कमी होने पर बढ़ता है। इसी कारण श्रम की MRP की गणना जटिल हो जाती है। इसको एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए कि एकाधिकारी फर्म वस्तु की 50 इकाइयाँ उत्पादित करती है तथा प्रति इकाई का मूल्य 5.25 रु० है। अब फर्म एक अतिरिक्त (सीमान्त) श्रमिक लगाती है जिसके फलस्वरूप फर्म के उत्पादन की मात्रा बढ़कर 55 इकाइयाँ हो जाती हैं। इसका अर्थ यह है कि श्रम का सीमान्त भौतिक उत्पाद (MRP) वस्तु की 5 इकाइयों के बराबर है। चूंकि फर्म की उत्पादन-मात्रा 50 इकाइयों से बढ़कर 55 इकाइयाँ हो गयी है, इसलिए वस्तु का प्रति इकाई मूल्य 5.25 रु० पर स्थिर नहीं रहेगा। मान लीजिए कि वह

घटकर 5 रु० हो जाता है। ऐसी दशा मे श्रम के सीमान्त आय उत्पाद (MRP) को इस प्रकार ज्ञात किया जायेगा।

$$(53 \times 5\text{रु०}) - (50 \times 5.25\text{रु०}) = 275\text{ रु०} - 262.50\text{ रु०} = 12.50$$

उक्त गणना से स्पष्ट है कि फर्म द्वारा श्रम की सीमान्त इकाई को लगाने पर उसकी आय 12.50 रु० की शुद्ध (net) वृद्धि होती है। इस सम्बन्ध मे यह स्मरण रहे कि फर्म की उत्पादित वस्तु के मूल्य मे कमी इस आधार पर की गयी है कि एकाधिकारी फर्म का औसत आय वक्र का ढाल एक पूर्ण प्रतिस्पर्धी फर्म के औसत आय वक्र की तरह एक पड़ी रेखा (horizontal) के रूप मे न होकर नीचे की तरफ होता है।

इसका परिणाम यह होता है कि ऐसा एकाधिकारी फर्म का 'श्रम का सीमांत आय उत्पादकता (MRP) वक्र' (श्रम का माग वक्र) पूर्ण प्रतिस्पधी फर्म के MRP वक्र की अपेक्षा अधिक तेजी से नीचे की ओर गिरता है (Slopes downwards more rapidly) जैसा कि चित्र सं० 121 (a) और (b) मे दिखाया गया है



चित्र स० 121

चित्र स० 121 (a) तथा (b) से यह स्पष्ट है कि एकाधिकारी फर्म का MRP वक्र पूर्ण प्रतिस्पर्धी फर्म के MRP वक्र की अपेक्षा अधिक तेजी से नीचे की ओर गिरता है, क्योंकि पूर्ण प्रतिस्पर्धी फर्म का औसत आय वक्र एक पड़ी रेखा (horzontal) के आकार का होता है, जबकि एकाधिकारी फर्म के औसत आय वक्र का ढाल नीचे की ओर होता है।

(ii) पूर्ति पक्ष (Supply Side) : एकाधिकारी-क्रेता एकाधिकारी (monopolist monosonist) फर्म के श्रम का पूर्ति वक्र भी पूर्ण प्रतिस्पर्धी फर्म के श्रम के पूर्ति वक्र से भिन्न होता है। पूर्ण प्रतिस्पर्धी फर्म के श्रम का पूर्ति वक्र एक सीधी पडी रेखा के आकार का होता है तथा उसकी मजदूरी रेखा भी क्षैतिज (horizontal) होती है। ऐसी फर्म के लिए मजदूरी की दर निश्चित रहती है तथा फर्म का उस पर कोई नियंत्रण नही रहता। परन्तु 'एकाधिकार-क्रेता-एकाधिकार' की स्थिति म यह स्थिति नही रहती। क्रेता एकाधिकारी होने के कारण फर्म ही श्रम का एक मात्र क्रेता होता है, जिस कारण वह श्रम के मूल्य (मजदूरी) को श्रम की खरीदी गयी मात्राओं को कम या अधिक करके प्रभावित कर सकता है। यदि वह अधिक श्रमिक लगाकर श्रम की माग बढा देता ह तो मजदूरी बढ जायेगी। इसके विपरीत यदि वह कम संख्या में श्रमिक लगाता है और इस प्रकार श्रम की माग को कम कर दता ह तो मजदूरी कम हो जायेगी। इस प्रकार क्रेता एकाधिकारी के लिए मजदूरी घटती व बढती रहती है, जबकि पूर्ण प्रतिस्पर्धी फर्म के लिए, चाहे वह कितनी ही संख्या म श्रम लगाये, मजदूरी स्थिर रहती है।

पूर्ण प्रतिस्पर्धी फर्म के लिए औसत मजदूरी तथा सीमान्त मजदूरी मे कोई अन्तर नही होता, क्योंकि AW=MW तथा दोनो ही एक ही पडी हुयी रेखा (horizontal line) या मजदूरी रेखा (Wage line) द्वारा प्रदर्शित की जाती है। परन्तु एक क्रेता एकाधिकारी के लिए औसत मजदूरी तथा सीमान्त मजदूरी मे विशेष अन्तर होता है। दोनो ही एक-दूसरे मे भिन्न होती हैं, तथा दोनो अलग-अलग वक्रो द्वारा प्रदर्शित होते हैं। इसका कारण यह है कि मजदूरी की कुल रकम को लगाये गये श्रमिको की कुल संख्या से भाग देने पर औसत मजदूरी ज्ञात होती है। इसके विपरीत सीमान्त मजदूरी एक अतिरिक्त मजदूरी को लगाने पर पूर्व मजदूरी की कुल रकम मे वृद्धि के बराबर होती है। इसको इस प्रकार भी स्पष्ट किया जा सकता है :

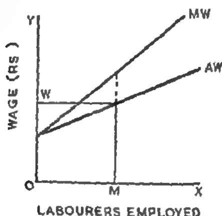
औसत मजदूरी (AW) = $\dfrac{\text{मजदूरी की कुल रकम (Total Wage-bill)}}{\text{लगाये गये श्रमिकों की संख्या (Number of workers employed)}}$

सीमान्त मजदूरी (MW) = मजदूरी की कुल रकम मे अतिरिक्त श्रमिक को नियुक्त करने पर वृद्धि
(Addition to the Wage-bill when another labourer is employed)

सीमान्त मजदूरी औसत मजदूरी से अपेक्षाकृत अधिक होती है। यह स्थिति उस स्थिति की ही तरह है जबकि उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि होने पर औसत लागत बढने लगती है तब सीमान्त लागत औसत लागत से अपेक्षाकृत अधिक हो जाती है।

क्रेता-एकाधिकारी फर्म के लिए श्रम की पूर्ति की स्थिति चित्र सं० 122 में प्रदर्शित की गयी है।

औसत मजदूरी द्रव्य की उस मात्रा को व्यक्त करती है जो प्रत्येक श्रमिक को रोजगार के विभिन्न स्तरों पर दी जाती है। उदाहरण के लिए जब OP श्रमिक लगाये जाते हैं तब प्रत्येक को मजदूरी के रूप में OW रु० देने होंगे। अत: जब OM



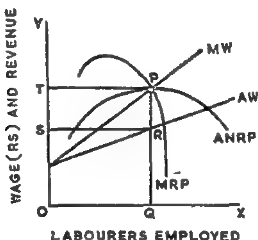
चित्र संख्या 122

श्रमिक रखे जाते हैं तब OM औसत मजदूरी प्रकट करता है। परन्तु जैसा कि चित्र सं० 122 में दिखलाया गया है रोजगार के इस स्तर पर सीमान्त मजदूरी औसत मजदूरी से अपेक्षाकृत अधिक है।

परन्तु यहाँ यह स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है कि सीमान्त मजदूरी का अर्थ उस मजदूरी से नहीं है जो कि सीमान्त श्रमिक को दी जाती है (क्योंकि सभी श्रमिकों को एक समान मजदूरी दी जाती है)। इसका अभिप्राय एक अतिरिक्त श्रमिक लगाने पर कुल मजदूरी में वृद्धि से है। क्रेता-एकाधिकार के अन्तर्गत, एक अतिरिक्त श्रमिक उसी स्थिति में लगाया जा सकता है, जबकि सभी श्रमिकों को ऊंची दर से मजदूरी दी जाती है। इसलिए फर्म द्वारा रखे जाने पर सीमान्त श्रमिक की मजदूरी कुल मजदूरी में वृद्धि से अपेक्षाकृत कम होगी। अत: क्रेता-एकाधिकार के अन्तर्गत, सीमांत मजदूरी वक्र औसत मजदूरी वक्र के ऊपर होगा, जबकि पूर्ण प्रतिस्पर्धा में औसत मजदूरी वक्र तथा सीमान्त मजदूरी वक्र एक ही होते हैं।

(iii) एकाधिकारी-क्रेता एकाधिकारी फर्म का सन्तुलन (Equilibrium of the Monopolist-Monopsonist Firm) : 'एकाधिकारी-क्रेता एकाधिकारी' फर्म की सतुलन की स्थिति ज्ञात करने के लिए श्रम के मांग तथा पूर्ति वक्रों का चित्र सं०

123 मे एक साथ मिलाकर प्रदर्शित किया गया है। श्रम की माग व पूर्ति म फर्म उस समय सतुलन प्राप्त करती है, जब कि श्रमिको को OQ सख्या काम मे लगायी जाती है, क्योकि रोजगार के इस स्तर पर श्रम की MRP सीमान्त मजदूरी MW के बराबर होती है। य दोनो PQ के बराबर हैं। रोजगार के OM स्तर पर फर्म को अधिकतम लाभ प्राप्त होता है। परन्तु लाभ को अधिकतम करते समय फर्म असामान्य लाभ (abnormal profit) भी अर्जित करती है, क्योकि रोजगार के इस स्तर पर औसत शुद्ध आय उत्पाद (ANRP) औसत मजदूरी से ऊची है। OQ



चित्र सख्या 123

रोजगार स्तर पर ANRP, PQ है तथा औसत मजदूरी RQ है, जिसस प्रति मजदूर PR क बराबर अधिक्य (Surplus) है। इस प्रकार OQ श्रमिको से कुल आधिक्य (Total Surplus) PR × OQ या SR अथवा PRST आयत के क्षेत्रफल के बराबर होगा। यह आयात उस असामान्य लाभ को प्रकट करता है जो क्रेता एकाधिकारी फर्म का श्रम से उत्पन्न अधिक्य के कारण प्राप्त होता है। इसके विपरीत पूर्ण प्रतिस्पर्धी फम को इस प्रकार का असामान्य लाभ प्राप्त नही होता, क्योकि उसकी मजदूरी रेखा (जो औसत मजदूरी रेखा भी है) ANRP वक्र की स्पर्श रेखा होती है, जिसस उसकी औसत मजदूरी उसके ANRP के बराबर होती है।

पूर्ण प्रतिस्पर्धी फर्म तथा एकाधिकारी-क्रेता-एकाधिकारी फर्म मे अन्तर

पूर्ण प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत	एकाधिकार-क्रेता एकाधिकार के अन्तर्गत
1. वस्तु का मूल्य दिया रहता है।	1. मूल्य उत्पादन की मात्रा म परिवर्तन के साथ बदलता रहता है। उत्पादन मात्रा म कमी होने पर मूल्य बढ़ता है, जबकि वृद्धि होने पर मूल्य कम हो जाता है।
2. सीमान्त आय उत्पाद मे तीव्र गति से कमी नही आती।	2. उक्त कारण से इस स्थिति मे MRP अपेक्षाकृत तेजी से नीचे की ओर गिरता है।
3 सीमान्त मजदूरी वक्र तथा औसत मजदूरी वक्र एक ही होते हैं। दोनो एक ही क्षैतिज रेखा द्वारा प्रदर्शित होते हैं।	3. सीमान्त मजदूरी वक्र औसत मजदूरी वक्र से पूर्णतया अलग होता है। सीमान्त आय वक्र ऊपर दाहिनी ओर ऊपर की तरफ उठता हुआ होगा तथा औसत मजदूरी वक्र के ऊपर होगा।
4. फर्म के सतुलन की स्थिति मे श्रम का MRP=औसत मजदूरी, तथा MW=AW 5 उत्पाद बाजार मे MW=श्रम का MRP [चूंकि श्रम का सीमान्त आय उत्पाद श्रम के सीमान्त भौतिक उत्पाद के मूल्य के बराबर होता है, इसलिए सीमान्त मजदूरी भी श्रम के सीमान्त भौतिक उत्पाद के मूल्य के बराबर होती है।]	4 सीमान्त मजदूरी औसत मजदूरी से ऊंची होती है, अत: श्रम का MRP भी औसत मजदूरी से अधिक होता है। 5 उत्पाद बाजार मे (एकाधिकार की स्थिति मे), श्रम का सीमान्त आय उत्पाद श्रम के सीमान्त भौतिक उत्पाद के मूल्य से कम होता है।

एकाधिकृत शोषण (Monopolistic Exploitation) :

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है। एक ऐसी फर्म जो उत्पाद बाजार म एकाधिकारी है तथा साधन बाजार मे क्रेता एकाधिकारी है दो तरीको से लाभ उठाती है। वह उत्पाद-बाजार मे उपभोक्ताओ का तथा साधन-बाजार म साधनो का शोषण कर सकती है। उत्पाद बाजार में एकाधिकारी फर्म सीमान्त लागत से कही अधिक ऊंची सीमान्त आय (या मूल्य) निर्धारित कर सकती है तथा असामान्य लाभ प्राप्त कर सकती है। साधन (श्रम) बाजार मे क्रेता-एकाधिकारी फर्म द्वारा श्रमिको को दी गयी मजदूरी श्रम के औसत शुद्ध आय उत्पाद (ANRP) से कम होती है। इस प्रकार श्रम बाजार म भी फर्म को लाभ ही होता है। अत यह स्पष्ट है कि एकाधिकारी-क्रेता एकाधिकारी फर्म को उत्पाद या साधन, दोनों ही, बाजारो, म लाभ प्राप्त होता है। ऐसे फर्म की इस विशेषता को ही अर्थशास्त्रियों ने 'एकाधिकृत शोषण' कहा है।

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की मान्यताएं (Assumptions of the Marginal Productivity Theory) .

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त निम्नलिखित मान्यताओ पर आधारित है :

(1) उत्पादक साधनो की उत्पादकता का अनुमान लगा सकता है तथा उत्पादकता की माप भी कर सकता है ।

(2) उत्पादन-साधनो के अनुपात मे परिवर्तन किया जा सकता है तथा अधिकतम लाभ बिन्दु ज्ञात करने के लिए साधनो के अनुपात मे परिवर्तन करना पड़ता है ।

(3) इस सिद्धान्त को पूर्ण स्पर्धा की दशाओ को मानकर प्रतिपादित किया गया है । पूर्ण स्पर्धा के कारण प्रत्येक उत्पादन साधन को सीमात उत्पादकता के बराबर पारिश्रमिक मिलता है ।

(4) उत्पादन साधनो तथा उनकी विभिन्न इकाइयो के एक रूप होने के कारण वे इकाइया समान रूप से कुशल होती हैं तथा पूर्ण रूप मे स्थानापन्न (Substitutes) होती हैं और उन्हे एक दूसरे के द्वारा प्रतिस्थापित किया जा सकता है ।

(5) उत्पादन के साधन पूर्णतया गतिशील है ।

(6) यह सिद्धात पूर्ण रूप से दीर्घकाल मे लागू होता है, अल्पकाल मे साधनो का पारिश्रमिक उनकी सीमान्त उत्पादकता से कम या अधिक भी हो सकता है ।

(7) दीर्घकाल मे उत्पादन-प्रक्रिया मे उत्पादन समता नियम लागू होता है ।

(8) पूर्ण रोजगार (Full employment) सामान्य स्थिति है । पूर्ण रोजगार के कारण ही साधनो को उनकी सीमात उत्पादकता के बराबर पारिश्रमिक प्राप्त होता है ।

(9) यदि साधयो को उनकी 'सीमात उत्पादक' के बराबर पारिश्रमिक दिया जाए, तो 'कुल उत्पाद' उनमे पूर्णतया बट जाता है ।

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की आलोचनाएं (Criticisms of the Marginal Productivity Theory) :

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की कई आलोचनाए की गई है, जिनका सक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है ।

(1) उत्पादन विभिन्न साधनो के सम्मिलित सहयोग एव प्रयास का परिणाम है, अतः प्रत्येक साधन तथा उसकी इकाइयो की उत्पादकता ज्ञात करना असम्भव है फिर भी 'सीमात विश्लेषण' तथा 'सीमात आय उत्पाद' विश्लेषण द्वारा सीमान्त उत्पादकता का अनुमान लगाया जा सकता है ।

(2) यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि प्रत्येक साधन की मात्रा में अपरिमित सीमा तक कमी या वृद्धि की जा सकती है। परन्तु उत्पादन के बड़े तथा अविभाज्य (Lumpy and Indivisible) साधनों के सम्बन्ध में यह मान्यता गलत सिद्ध होती है।

(3) यह सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि उत्पादक का उद्देश्य केवल लाभ को अधिकतम करना होता है, परन्तु प्रत्येक उत्पादक का यही उद्देश्य नहीं होता है। व्यावहारिक दृष्टि से उत्पादक विभिन्न उद्देश्यों को ध्यान में रखता है।

(4) इस सिद्धान्त को पूर्ण-स्पर्धा की दशाओं को मानकर बनाया गया है, परन्तु वास्तविक जीवन में पूर्ण स्पर्धा नहीं पाई जाती है। इस प्रकार यह सिद्धान्त काल्पनिक है। (चैम्बरलिन ने यह मत व्यक्त किया है कि यह सिद्धान्त अपूर्ण स्पर्धा में भी लागू होता है। अपूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत प्रत्येक साधन का पारिश्रमिक 'सीमान्त आय उत्पाद' के बराबर होता है।)

(5) यह सिद्धान्त 'पूर्ति पक्ष' की उपेक्षा करता है (सिद्धान्त के प्राचीन रूप में)। साधनों की माँग उनकी सीमान्त उत्पादकता पर निर्भर है, परन्तु मूल्य-निर्धारण माँग तथा पूर्ति दोनों के सम्मिलित प्रभावों से होता है।

(6) सिद्धान्त की 'उत्पादन समता नियम' सम्बन्धी मान्यता भी दोषपूर्ण है। यह सिद्धान्त 'उत्पादन वृद्धि नियम' तथा 'उत्पादन ह्रास नियम' की अवस्था में लागू नहीं होता है। परन्तु व्यावहारिक रूप में उत्पादन इन्हीं अन्तिम दो नियमों के अनुसार किया जाता है। 'उत्पादन समता नियम' एक प्रकार से अपवाद के रूप में ही लागू होता है। 'उत्पादन वृद्धि नियम' के अनुसार हो रहे उत्पादन की अवस्था में यदि साधनों का उनकी 'सीमान्त उत्पादकता' के अनुसार पारिश्रमिक दिया जाए तो उत्पादक को हानि उठानी पड़ेगी। श्रीमती जोन रॉबिन्सन ने यह मत व्यक्त किया है कि यदि उद्योग को बड़े पैमाने के उत्पादन की मितव्ययिताएं प्राप्त हो रही हैं तो पूर्ण प्रतिस्पर्धी उद्योग में श्रम की 'सीमान्त भौतिक उत्पादकता' (MPP) फर्म की अपेक्षा अधिक होगी, क्योंकि एक फर्म द्वारा रोजगार में की गई वृद्धि से दूसरों की कार्य-कुशलता बढ़ती है।[4] इस प्रकार उद्योग में 'सीमान्त उत्पादकता' फर्म से अधिक होगी है (उत्पादन वृद्धि नियम की अवस्था में) तथा यदि साधनों को उद्योग की सीमान्त उत्पादकता के अनुसार भुगतान किया जाता है तो भुगतान की दरों में विभिन्नता होगी तथा साधनों का बाजार अशान्त हो जाएगा।

---

[4] "When there are economies of large scale industry the marginal physical productivity of labour to a competitive industry will be greater than the individual firms, since an increment of employment given by one firm will enhance the efficiency of others."

—*Joan Robinson, op cit., p 237*

(7) हॉब्सन (Hobson) ने कहा है कि विभिन्न साधनों के प्रयोग का अनुपात प्राविधिक दशाओं के अनुसार निश्चित किया जाता है, तथा उन्हें परिवर्तित नहीं किया जा सकता है, परन्तु यह आलोचना निराधार है। साधनों के अनुपात में वस्तुतः परिवर्तन किया जाता है।

(8) आर्थिक विषमता को उचित ठहराने के लिए इस सिद्धान्त की शरण ली जाती है तथा यह कहा जाता है कि साधनों की सीमान्त उत्पादकता में विभिन्नता के कारण उनकी आय में विभिन्नताएं पाई जाती हैं, परन्तु यह धारणा 'व्यक्तिगत वितरण' तथा 'क्रियात्मक वितरण' में भेद नहीं करती है। आर्थिक विषमता का कारण योग्यता का अन्तर नहीं अपितु सम्पत्ति तथा शोषण भी है। आर्थिक विषमता को उत्पादकता के आधार पर उचित नहीं ठहराया जा सकता है।

उपरोक्त आलोचनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त एक अपूर्ण सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त की आलोचना जोन रॉबिन्सन, डाजिन, पीगू, जे० आर० हिक्स, हॉब्सन तथा फ्रेजर आदि प्रसिद्ध विद्वानों द्वारा की गई है। फ्रेजर ने कहा है, "कोई भी अर्थशास्त्री यह दृढ़तापूर्वक नहीं कह सकता है कि सिद्धान्त अब भी पूर्ण है। चूंकि यह सरल और दृढ़ है, अतः यह अमूर्त तथा अवैयक्तिक है। यह अधूरा है, इसकी मान्यताएं अनावश्यक रूप से दृढ़ तथा सङ्कुचित हैं।[5]

यह सिद्धान्त बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अत्यन्त ही मान्य था परन्तु अब यह सिद्धान्त अपूर्ण माना जाता है। यह व्यष्टि गत (Micro) परिस्थितियों में ही लागू होता है। इसे समष्टिगत बनाने की आवश्यकता है।

वितरण का आधुनिक सिद्धान्त (Modern Theory of Distribution)

वितरण के आधुनिक सिद्धान्त को 'माग व पूर्ति सिद्धान्त' भी कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार उत्पादन साधनों का पारिश्रमिक वस्तुओं के मूल्य की भांति माग व पूर्ति की सम्मिलित शक्तियों द्वारा निर्धारित किया जाता है। विभिन्न साधनों की माग तथा पूर्ति की परिस्थितियां भिन्न भिन्न होती हैं अतः मजदूरी, ब्याज, लगान तथा लाभ के सम्बन्ध में अलग-अलग सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। फिर भी कुछ सामान्य नियम बनाए जा सकते हैं।

(i) साधनों की माग - किसी भी साधन की माग उसकी सीमान्त उत्पादकता पर निर्भर है। जब तक किसी साधन की सीमान्त उत्पादकता उसके मूल्य से

[5] "No economist would claim that the theory is as yet complete.........Being simple and self consistent it is abstract and impersonal. It is guilty of both omission and commission, its postulates are unduly rigid and narrow." — *Fraser*

अधिक है, उत्पादक उस साधन की अतिरिक्त इकाइयों का प्रयोग करता जाएगा। कुल उत्पादन उस बिन्दु पर अधिकतम होता है, जिस पर साधन का मूल्य उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर होगा। कोई भी उत्पादक किसी भी साधन को उसकी सीमान्त उत्पादकता से अधिक पारिश्रमिक नहीं देगा। अतः पूर्ण स्पर्द्धा के अन्तर्गत साधन का पारिश्रमिक उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर होगा।

(ii) साधनों की पूर्ति : वस्तुओं की पूर्ति उनकी उत्पादन लागत पर निर्भर होती है। उत्पादन साधनों की पूर्ति भी उनकी लागत पर निर्भर है, परन्तु यहां पर 'लागत' का अभिप्राय 'मौद्रिक लागत' या 'वास्तविक लागत' से नहीं है, बल्कि अवसर लागत से है। उत्पादन साधनों के वैकल्पिक प्रयोग हो सकते हैं, अतः साधनों को पारिश्रमिक के रूप में कम से कम उतनी आय प्राप्त होनी चाहिए जितनी वह वैकल्पिक प्रयोगों में प्राप्त कर सकता है। इससे कम पारिश्रमिक देने पर साधन अन्यत्र चला जाएगा। अतः किसी भी साधन का पूर्ति मूल्य उसे वैकल्पिक प्रयोगों में प्राप्त होने वाली आय के बराबर होना चाहिए।

(iii) पारिश्रमिक निर्धारण : वितरण के 'माग-पूर्ति' सिद्धान्त के अनुसार, पूर्ण स्पर्द्धा के अन्तर्गत किसी उत्पादन साधन का पारिश्रमिक उसकी माग तथा पूर्ति पर निर्भर है। माग, साधन की सीमान्त उत्पादकता (MP) तथा पूर्ति उस साधन की 'अवसर लागत' निर्भर है। साम्य की अवस्था में सीमान्त उत्पादकता तथा अवसर लागत समान होती हैं तथा इसी बिन्दु पर साधन का पारिश्रमिक निश्चित होता है।

(vi) मान्यताएं वितरण का 'माग व पूर्ति' सिद्धान्त निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है — (1) प्रत्येक उत्पादन-साधन पूर्णतया विभाजनीय है। (2) साधनों के सम्बन्ध में 'प्रतिस्थापन नियम' पूर्ण रूप से लागू होता है। (3) उत्पादन-साधन की विभिन्न इकाइयों में एकरूपता पाई जाती है तथा वे एक दूसरे की पूर्ण स्थानापन्न (Substitutes) होती हैं।

प्रश्न व संकेत

1. वितरण के सीमान्त उत्पादनशीलता सिद्धान्त को समझाइये। इस सिद्धान्त के मुख्य दोषों को बताइये। (Raj. T.D.C. Arts, Final, 1966)

[संकेत पहले भाग में सिद्धान्त की परिभाषा दीजिए और उसकी व्याख्या करिए। द्वितीय भाग में इस सिद्धान्त की आलोचनाएं लिखिए।]

2. किसी साधन का मूल्य एक ओर तो उसकी सीमान्त उत्पादकता तथा दूसरी ओर साधन के त्याग द्वारा निर्धारित होता है। इस कथन की विवेचना करिए।

(Agra B. Com. II, 1962)

[संकेत—इस कथन को समझाने के लिए साधन के मूल्य को निर्धारित करने वाली शक्तियों अर्थात् 'माग' और 'पूर्ति' के प्रभावों को समझाइये और अन्त मे निष्कर्ष लिखिए।]

3 "वितरण का सिद्धान्त मूल्य के सिद्धान्त की ही एक विशेष दशा है," विवेचना करिये।

[सकेत—प्रथम भाग मे समझाइये कि साधन का मूल्य भी वस्तु के मूल्य के सिद्धान्तो पर ही निर्धारित होता है—(देखिए प्रश्न सकेत 2) तथा इस कथन के स्पष्टीकरण के लिए रेखाचित्र देकर सिद्ध कीजिए कि वितरण का सिद्धात मूल्य के सिद्धात की ही एक विशेष दशा है।]

समस्याए (Problems)

1. किसी फर्म के उत्पादन (Product) तथा एक उत्पादन साधन (Factor of Production) की मात्राओ का पारस्परिक सम्बन्ध प्रदर्शित करने वाली एक तालिका बनाइये जिसमे सीमात भौतिक उत्पाद (M. P P.) दर की गणना करिए। इस उत्पाद की माग रेखा खीच कर सीमात आगम उत्पाद (M.R P.) की गणना करिए। वस्तु व साधन के मूल्य काल्पनिक मानते हुए बताइये कि फर्म इससे अधिक या कम उत्पादन साधन की मात्रा प्रयुक्त नही करेगी ?

2. मान लीजिए एक एकाधिकारी किसी श्रम सघ के कर्मचारियों को नियुक्त करने हेतु निर्धारित दर से अधिक दर पर पारिश्रमिक प्रदान करता है। साथ ही, यह भी मान लीजिए कि उत्पादक साम्य मात्रा (Equilibrium Quantity) से अधिक मात्रा मे श्रमिको को लगाता है। इन पूर्व धारणाओ (assumptions) के आधार पर बताइये कि :

(अ) अल्पकालीन स्थिर लागतो, परिवर्तनशील लागतो तथा सीमात लागतो पर इस नीति का क्या प्रभाव होगा ?

(ब) फर्म के अल्पकालीन 'उत्पाद व कीमत साम्य' पर क्या प्रभाव होगा ?

(स) यदि फर्म प्रतियोगी फर्म हो एव अन्य फर्मे भी प्रतियोगी फर्मो के रूप मे श्रम सघ से व्यवहार करें तो अल्पकाल व दीर्घकाल मे इस फर्म के 'उत्पाद' व 'कीमत साम्य' पर क्या प्रभाव पड़ेगा ?

(द) यदि प्रतियोगी फर्म अकेली ही उद्योग मे हो (उद्योग की यह फर्म श्रम सघ से सम्पर्क रखे हुए हो) तो अल्पकालीन व दीर्घकालीन व दीघकाल 'उत्पाद कीमत साम्य' पर क्या प्रभाव होगे ?

34

लगान
(Rent)

"The difference between price and cost of production on infra marginal land is the Ricardian rent the present way of interpreting the rent concept leads to regarding rent as a surplus accruing to any unit of a factor of production over and above the income just necessary for keeping that unit in its occupation"

—William Fellner

1 लगान का अर्थ (Meaning of Rent)

साधारण बोल चाल की भाषा मे लगान (Rent) शब्द का अभिप्राय उस भुगतान से है जो किसी मकान, दूकान, खेत, यन्त्र आदि के प्रयोग के बदले में उनके स्वामी को दिया जाता है। परन्तु अर्थशास्त्र में लगान शब्द का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया गया है। अर्थशास्त्र मे राष्ट्रीय आय में केवल भूमि (Land) के प्रयोग के बदले में किये गये भुगतान को लगान कहते है।

लगान सम्बन्धी विचार सबसे पहले निर्बाधावादी (Physiocrats) अर्थशास्त्रियों ने प्रस्तुत किया था। उनके अनुसार लगान एक ऐसी बचत है जो कृषि उत्पादन से प्रकृति की दया के कारण प्राप्त होती है। एडम स्मिथ ने भी इस विषय पर कोई निश्चित विचार व्यक्त नही किया था। उन्होंने इसे एक ईश्वरीय देन बतलाया था। माल्थस ने भी लगान को प्रकृति की उदारता का परिणाम माना था। रिकार्डो (Ricardo) प्रथम अर्थशास्त्री थे जिन्होंने लगान के सम्बन्ध में अपना निश्चित तथा व्यवस्थित विचार प्रस्तुत किया। उनके अनुसार "लगान भूमि की उपज का वह भाग है जो भूमि के मालिक को भूमि की मौलिक तथा अविनाशी शक्तियों के उपयोग के बदले मे दिया जाता है।"[1] सीनियर के अनुसार "किसी प्रकृति दत्त साधन के प्रयोग से

[1] "Rent is that portion of the produce of the earth which is paid to the landlord for the use of the original and indestructible powers of the soil" — *David Ricardo*

प्राप्त को गयी अतिरिक्त उपज ही लगान है (Rent is the surplus arising from the use of an appropriated natural agent)। कार्वर (Carver) ने भी भूमि के प्रयोग के बदले मे दिये जाने वाले मूल्य को लगान माना है (Rent is the price paid for the use of land)। मार्शल के अनुसार भी "भूमि तथा अन्य प्रकृति-दत्त उपहारो के स्वामित्व के कारण प्राप्त आय को लगान कहते है।"[2]

लगान की उपर्युक्त परिभाषाओ मे इन शब्द का प्रयोग भूमि (Land) तथा अन्य प्रकृति-दत्त उपहारो (free gifts of nature) मे प्राप्त आय के सम्बन्ध म ही किया गया है। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री लगान शब्द का प्रयोग इस सकुचित अर्थ मे नही करते। उनके अनुसार लगान उत्पादन के किसी भी साधन (factor) को, यदि उनकी पूर्ति पूर्ण रूप से लोचदार (perfectly elastic) नही है, प्राप्त हो सकता है। आधुनिक विचारधारा के अनुसार लगान की सही व्याख्या 'अल्पता के सिद्धान्त' (Principle of Scarcity) पर आधारित होनी चाहिए। उत्पादन का प्रत्येक साधन अल्प (scarce) है और उसकी माग अलग-अलग उपयोगो के लिए की जा सकती है। स्वय भूमि का प्रयोग कृषि, मकान बनाने, उद्योग-धन्धे स्थापित करने, दूकान खोलने आदि के लिए किया जा सकता है। परन्तु भूमि की पूर्ति सीमित एव अल्प तथा पूर्णतया बेलोचदार होने के कारण, उसे उत्पादक कार्य मे बनाये रखने के लिए आवश्यक न्यूनतम आय से जो अधिक आय प्राप्त होती है, उसे लगान कहते है। प्रो० बोल्डिग (Prof Boulding) के अनुसार "किसी भी उत्पादन के साधन की एक इकाई को उसे वर्तमान उत्पादन-कार्य मे बनाये रखने के लिए जो न्यूनतम रकम देना आवश्यक होता है, उससे अधिक जो भी भुगतान किया जाता है, उसे लगान कहा जाता है।"[3] श्रीमती जोन राबिन्सन (Mrs Joan Robinson) के अनुसार, 'लगान की धारणा का तत्व उस आधिक्य को धारणा से है जो उत्पादन के किसी साधन की एक इकाई को उस उत्पादन-कार्य मे बनाये रखने के लिए आवश्यक न्यूनतम आय से अधिक है।"[4] इस प्रकार आधुनिक अर्थशास्त्रियो ने लगान का तत्व उत्पादन के सभी

[2] 'The income derived from the ownership of land and other free gifts of nature is called rent' —*Marshall*.

[3] "Economic rent may be defined as any payment to a unit of any factor of production which is in excess of the minimum amount necessary to keep that factor in its present occupation"

—*Boulding*.

[4] "The essence of the conception of the rent is the conception of a surplus earned by a particular part of a factor of production over and above the minimum earning necessary to induce it to do its work"

—*Mrs Joan Robinson*.

साधनों के पुरस्कार–मजदूरी, व्याज, लाभ–में माना है और भूमि के लगान को एक बड़ी जाति की उप-जाति माना है (Rent is a species of a large genus)।

2 लगान के सिद्धान्त (Theories of Rent)

लगान–निर्धारण के दो प्रमुख सिद्धान्त है : (i) प्रतिष्ठित या रिकार्डो का लगान सिद्धान्त (Classical or Ricardian Theory of Rent) तथा (ii) लगान का आधुनिक सिद्धान्त (Modern Theory of Rent)।

(i) रिकार्डो का लगान-सिद्धान्त (Ricardian Theory of Rent) :

डेविड रिकार्डो (David Ricardo) प्रथम अर्थशास्त्री थे जिन्होने लगान के सम्बन्ध मे निश्चित एव व्यवस्थित विचार प्रस्तुत किया। लगान का क्यो और कैसे उदय होता है ? इसका स्पष्टीकरण उन्होने अपने लगान के सिद्धान्त मे किया है। उन्होंने उत्पादन के साधन के रूप मे भूमि की विशेषताओ को ध्यान मे रखकर लगान क सिद्धान्त का प्रतिपादन भूमि के सदर्भ म हो किया है। उन्होने अपने सिद्धान्त मे यह निष्कर्ष निकाला है कि लगान एक प्रकार का अन्तरमूलक लाभ या आधिक्य है (Rent is a differential surplus)। यह लाभ या आधिक्य भूमि की कुछ विशेषताओं के कारण ही उदय होता है। ये विशेषताए हैं : (i) भूमि का सीमित होना : भूमि की उपलब्ध मात्रा से अधिक मात्रा बढ़ायी नही जा सकती। अधिक से अधिक, गहरी खेती द्वारा भूमि की बढ़ी हुयी माग की आंशिक पूर्ति की जा सकती है। (ii) भूमि गतिशील नहीं है भूमि का एक टुकड़ा अपने स्थान से हटाकर कही और नही ले जाया जा सकता। (iii) भूमि की उर्वराशक्ति मे भिन्नता होती है भूमि के सभी टुकड़े एक ही तरह उपजाऊ नही होते।

सिद्धान्त की व्याख्या . रिकार्डो ने लगान की परिभाषा इस प्रकार दी है . 'लगान भूमि के उत्पादन का वह भाग है जो भूमि के मालिक को भूमि की मौलिक तथा अविनाशी शक्तियो के प्रयोग के लिए दिया जाता है।" इस प्रकार रिकार्डो ने अपने सिद्धान्त मे निम्नलिखित तथ्यो पर प्रकाश डाला :

(1) लगान एक प्रकार का अन्तरमूलक लाभ है (Rent is a differential gain) · रिकार्डो के अनुसार, 'लगान अधिसीमान्त तथा सीमान्त भूमि की उपजो का अन्तर है" (Rent is the excess of the yield of a superior piece of land, i e super-marginal land over that of a marginal land)। रिकार्डो का कहना था कि सीमान्त भूमि के अतिरिक्त अन्य सभी भूमि पर आय तथा उत्पादन-लागत का अन्तर अधिक होगा तथा यह अन्तर ही 'आर्थिक लगान' (Economic Rent) कहा जायेगा।

उदाहरण : रिकार्डो ने उक्त कथन को स्पष्ट करने के लिए एक ऐसे द्वीप का

उदाहरण प्रस्तुत किया है जहा अभी तक कोई व्यक्ति निवास नही करता है। वहा भूमि का प्रयोग न होने के कारण भूमि नि शुल्क होगी। अब यदि कुछ लोग उस द्वीप पर आकर बसते है तो वे सबसे पहले सबसे अच्छी या सबसे अधिक उपजाऊ भूमि के टुकडे, जो प्रथम श्रेणी की भूमि (A-Grade land) कही जायगी, पर कृषि करना प्रारम्भ करेगे। कुछ समय के बाद जनसख्या मे वृद्धि होने पर जब खाद्यान्नो की माग मे वृद्धि होगी, तब प्रथम श्रेणी की भूमि से कम उपजाऊ, द्वितीय श्रेणी (B Grade land) की भूमि पर खेती की जाने लगगी। इसी प्रकार जनसख्या मे वृद्धि के साथ निम्न से निम्न कोटि की (द्वितीय श्रेणी से तृतीय श्रेणी तथा तृतीय श्रेणी से चतुर्थ श्रेणी की भूमि पर खेती की जाने लगेगी।

अब प्रश्न यह उठता है कि लगान किन स्थितियो मे किस प्रकार उदय होता है? उपर्युक्त उदाहरण मे एक नये द्वीप मे लोगो के द्वारा खेती के लिए भूमि का प्रयोग किये जाने पर प्रारम्भिक अवस्था मे लगान के उदय होने का प्रश्न ही नही उठता। परन्तु जन सख्या के बढने पर द्वितीय श्रेणी की भूमि का प्रयोग उसी समय किया जायगा जबकि उत्पादन से प्राप्त आय उत्पादन की लागत (श्रमिको की साधारण मजदूरी तथा पूजी के साधारण लाभ) के बराबर होगी। यदि इस श्रेणी की भूमि के उत्पादन से उत्पादन लागत प्राप्त हो जाती है, तो वह सीमान्त भूमि (Marginal or no rent land) कही जायेगी। चूकि वस्तु बाजार मे भूमि से प्राप्त एक प्रकार की उपज का एक ही मूल्य होता है, अत प्रथम श्रेणी की भूमि से प्राप्त उत्पादन की आय मे से उत्पादन लागत की पूर्ति करने के पश्चात कुछ आय या लाभ अवश्य बचेगा। यह लाभ या आधिक्य ही प्रथम श्रेणी की भूमि का अन्तरमूलक लाभ या लगान है।

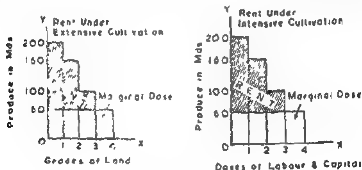
इसी प्रकार तीसरी, चौथी और उनके बाद की श्रेणी की भूमि से प्राप्त उत्पादन की आय तथा उन पर उत्पादन लागत की तुलना करके यह देखा जायगा कि किस श्रेणी की भूमि से प्राप्त उत्पादन की आय उत्पादन लागत से कम होती है। जिस श्रेणी की भूमि से प्राप्त उपज द्वारा उत्पादन लागत का भुगतान भी नहीं किया जा सकता, उस भूमि पर खेती नही की जायगी। माना कि ऐसी भूमि पाचवी श्रेणी की है। अत चौथी श्रेणी की भूमि ऐसी होगी जिसकी उपज से प्राप्त आय उत्पादन लागत के बराबर होगी तथा वह सीमान्त या लगान-हीन भूमि होगी। इस श्रेणी की भूमि के ऊपर तीसरी, दूसरी तथा पहली श्रेणी की भूमि अधि सीमान्त (Super marginal or superior piece of land) भूमि होगी, क्योकि उनकी उपज से प्राप्त आय मे से उत्पादन लागत की पूर्ति करने के बाद कुछ लाभ या आधिक्य बच रहेगा, जैसा कि पृ० 654 पर दी गई तालिका मे स्पष्ट किया गया है।

विस्तृत खेती में लगान

भूमि की श्रेणी	प्रति एकड़ उत्पादन	लगान
पहली	200 मन	200–60=140 मन
दूसरी	160 मन	160–60=100 मन
तीसरी	100 मन	100–60= 40 मन
चौथी	60 मन	60–60= 0 सीमान्त भूमि
पाचवी	40 मन	40–60=–20 मन

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि पाचवी श्रेणी की भूमि पर खेती नहीं की जायेगी, क्योंकि उत्पादन लागत 60 मन के बराबर है जबकि उपज 40 मन ही है। चौथी श्रेणी की भूमि पर उपज (60 मन) उत्पादन लागत (60 मन) के बराबर है, अतः यह सीमान्त भूमि होगी। इसके पहले की भूमि तीसरी, दूसरी तथा पहली श्रेणियां अधिसीमान्त हैं जिन पर क्रमशः 40, 100 और 140 मन का अतिरिक्त या अन्तर मूलक लाभ (differential gain) प्राप्त हो रहा है।

चित्र द्वारा स्पष्टीकरण : उपर्युक्त नक्शे को नीचे दिये रेखाचित्र में भी स्पष्ट किया गया है। OX—आधार रेखा पर भूमि की श्रेणियां (units) दिखलायी गयी हैं तथा OY—खड़ी रेखा पर भूमि से प्राप्त उपज। प्रत्येक आयत प्रत्येक श्रेणी



चित्र संख्या 124

की भूमि की उपज को व्यक्त करता है। चौथी श्रेणी की भूमि सीमान्त भूमि है, क्योंकि उसकी उपज उत्पादन-लागत के बराबर है। चूंकि प्रत्येक श्रेणी की भूमि की उपज की उत्पादन-लागत समान होगी, अतः प्रत्येक की उपज में से सीमान्त भूमि के बराबर उपज निकाल देने पर प्रत्येक श्रेणी की उपज को व्यक्त करने वाले आयत में जो काला भाग (shaded portion) शेष रहता है, वही उस श्रेणी की भूमि का लगान है।

2. गहरी खेती के अन्तर्गत लगान रिकार्डो के अन्तरमूलक लाभ या लगान की उपर्युक्त व्याख्या विस्तृत खेती के सम्बन्ध म की थी । परन्तु इसका अध्ययन गहरी खेती के अन्तर्गत भी किया जा सकता है । गहरी खेती के अन्तर्गत अन्तरमूलक लाभ या लगान को Rent under intensive cultivation or Rent with intensive margin कहते है ।

गहरी खेती के अन्तर्गत बिल्कुल ही घटिया किस्म की भूमि पर खेती नही की जाती । ऐसी स्थिति म गहन खेती द्वारा अच्छी भूमि के टुकडे पर ही श्रम तथा पूजी की अतिरिक्त इकाइयो का प्रयोग करके, कृषि उत्पादन म वृद्धि की जाती है । परन्तु भूमि को स्थिर रखकर, अन्य साधनो मे वृद्धि करके उत्पादन करने से उत्पादन ह्रास नियम लागू होने लगता है । पूजी तथा श्रम की मात्राओ मे वृद्धि करने पर प्रारम्भ म सीमात उपज बढगी । बाद म एक बिन्दु एसा आएगा जिस पर सीमात उपज उत्पादन लागत के बराबर होगी । इस बिन्दु म पहले की श्रम तथा पूजी की प्रत्येक इकाई से उत्पादन लागत की अपेक्षा अधिक उत्पादन प्राप्त होगा, अर्थात श्रम व पूजी की सीमान्त इकाई के पहले की सभी इकाइया रिकार्डो के अनुसार लगान प्राप्त करेंगी, जैसा कि नीचे दी गयी तालिका तथा चित्र स० 124 से स्पष्ट है :

गहन खेती मे लगान

श्रम व पूजी की इकाइया	प्रति एकड उत्पादन	लगान
पहली इकाई (dose)	200 मन	200–60=140
दूसरी ,, ,,	160 मन	160–60=100
तीसरी ,, ,,	100 मन	100–60= 40
चौथी ,, ,,	60 मन	60–60= 0 सीमान्त इकाई

3. खेतो की स्थिति तथा लगान (Location of fields and rent) : खेतो की स्थिति मे अन्तर होने के कारण भी लगान उदय होता है । कुछ खेत, गाव शहरो व उपज बाजारो के निकट तथा कुछ उनसे दूर होते है । जो खेत गाव, शहर या बाजार के नजदीक होते है, उनकी उपज को ढोने आदि पर किया गया व्यय (transport charges) कम होता है, तथा जो खेत बाजार से दूर होते हैं, उन पर किया गया मार्ग-व्यय अधिक होता है । ऐसी स्थिति मे बाजार के निकट स्थित खेत से प्राप्त उपज से अन्तरमूलक लाभ या लगान प्राप्त होता है, जबकि बाजार से अपेक्षाकृत दूर स्थित खेतो से कम लाभ प्राप्त होगा अथवा उपज का मूल्य मार्ग व्यय तथा उत्पादन-व्यय के योग के बराबर होने पर वह भूमि लगान हीन भूमि होगी ।

उदाहरण माना कि तीन खेत A, B व C हैं। A खेत बाजार से 2 मील और B तथा C खेत क्रमश 8 और 12 मील की दूरी पर स्थित है यह भी मान लिया गया है कि प्रत्येक खेत की उपज का उत्पादन-व्यय 110 रु० है तथा प्रति मन उपज का मूल्य 40 रु० है। अब यदि प्रत्येक खेत पर क्रमश 10, 8 तथा 4 मन उपज प्राप्त होती है तथा मार्ग व्यय क्रमश 20 रु०, 30 रु० व 50 रु० है, तो स्थिति के अन्तर के कारण अन्तरमूलक लाभ नीचे दी गयी तालिका के अनुसार ज्ञात किया जायगा

स्थिति के अन्तर के कारण लगान

खेत	दूरी मील	उपज मन में	उपज का मूल्य रु० में	कुल व्यय उत्पादन व्यय रु०	मार्ग व्यय रु०	योग रु०	अन्तरमूलक लाभ या लगान रु०
A	2	10	400	110+	20=	130	400–130=270
B	8	8	320	110+	30=	140	320–140=180
C	12	4	160	110+	50=	160	160–160= 0

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि C खेत बाजार से अपेक्षाकृत दूर होने के कारण लगानहीन भूमि है, क्योंकि उत्पादन व्यय+मार्ग-व्यय (160 रु०) उपज मूल्य (160 रु०) के बराबर है, जबकि A व B खेतो के बाजार के अपेक्षाकृत निकट होने के कारण उनसे प्राप्त उपज का मूल्य कुल व्यय (उत्पादन व्यय+मार्ग व्यय) से अधिक है (क्रमश 270 रु० तथा 180 रु०)। यह आधिक्य ही A व B खेत का अन्तरमूलक लाभ या लगान है।

(ii) सिद्धान्त के मुख्य तत्व

रिकार्डो के लगान सिद्धान्त के निम्नलिखित मुख्य तत्व हैं

1 लगान प्रकृति की कृपणता के कारण उत्पन्न होता है (Rent is due to the niggardliness of Nature) : 'अन्तरमूलक लाभ' उसी समय प्राप्त होता है जबकि निम्न कोटि की भूमि पर खेती की जाए। यदि सभी भूमि एक ही प्रकार की तथा उत्तम श्रेणी की हो तो लगान का प्रश्न ही नही उठेगा। अत लगान की समस्या इसलिए उठती है कि अच्छी किस्म की भूमि यथेष्ठ सीमा तक उपलब्ध नही होती है। इस प्रकार लगान प्रकृति की उदारता नही बल्कि उसकी कृपणता के कारण उत्पन्न होता है।

2. लगान भूमि की मौलिक तथा अविनाशी शक्तियों का प्रतिफल है. रिकार्डो ने लगान की परिभाषा मे ही यह स्पष्ट कर दिया है कि भूमि की मौलिक

तथा अविनाशी शक्तियो अर्थात भूमि के विभिन्न टुकडो के उपजाऊपन मे भिन्नता होने के कारण ही लगान उत्पन्न होता है। यदि भूमि के सभी टुकडा पर पूंजी और श्रम की समान मात्राओ का प्रयोग किया जाता है तो जो भूमि जितनी ही अधिक उपजाऊ होगी उस भूमि का लगान उतना ही अधिक होगा।

3 लगान अनुपार्जित आय है (**Rent is Unearned Income**) : लगान भू पति क प्रयत्नो का फल नही है। लगान, उपज का बाजार मूल्य उत्पादन लागत से अधिक होने के कारण प्रकट होता है। अत यह एक अनुपार्जित आय है। लगान कम होने पर, भूमि की पूर्ति पर कोई प्रभाव नही पडता।

4 वास्तविक लगान की प्रवृत्ति आर्थिक लगान के बराबर होने की होती है (Actual Rent tends to equal Economic Rent) रिकार्डो के अनुसार लगान अन्तरमूलक लाभ है। ऐसी स्थिति मे भूमि का स्वामी किसान से इस अन्तरमूलक लाभ, अर्थात कुल उपज से प्राप्त आय तथा कुल उत्पादन व्यय के अन्तर, की माग कर सकता है। पूर्ण स्पर्धा मे किसान को इस अन्तर के बराबर लगान दने मे कोई आपत्ति नही होगी, क्योकि उसका भुगतान कर देने पर किसान को कोई हानि नही होती है। लगान का भुगतान कर देने के बाद भी उसक पास उत्पादन लागत के बराबर आय बच रहती है, जिसमे उसका सामा य लाभ भी सम्मिलित रहता है। अत वास्तविक लगान की प्रवृत्ति आर्थिक लगान के बराबर होने की होती है।

(iii) रिकार्डो के लगान सिद्धान्त की आलोचना

(Criticism to the Ricardian Theory)

(1) भूमि की मौलिक तथा अविनाशी शक्तियों को ज्ञात करना कठिन है • रिकार्डो के अनुसार भूमिपति को लगान भूमि की मौलिक तथा अविनाशी शक्तियो के प्रयोग के कारण प्राप्त होता है। परन्तु यह ज्ञात करना अत्यन्त ही कठिन है कि भूमि का कौन सा गुण मौलिक तथा कौन सा अर्जित (acquired) है ? एक पुराने देश मे 'मौलिक गुण' तथा 'अर्जित गुण' मे भेद करना अत्यन्त ही कठिन है। इसके साथ ही साथ भूमि की 'अविनाशी शक्तियो' का पता लगाना भी असम्भव है। किसी भी भूमि म 'अविनाशी उपजाऊपन' नही होता है। प्रयोग के साथ उपजाऊपन घटता जाता है, जब तक कि उसे यथावत् बनाए रखने के लिए प्रयत्न न किए जाए।

(2) भूमि के प्रयोग का क्रम अव्यावहारिक है रिकार्डो द्वारा वर्णित भूमि के प्रयोग का क्रम भी अव्यावहारिक है। रिकार्डो के अनुसार सवप्रथम सर्वोत्तम भूमि का प्रयोग किया जाता है, तत्पश्चात् उससे निम्न कोटि की भूमि का प्रयोग किया जाएगा। परन्तु व्यावहारिक रूप मे हम जानते हैं कि भूमि की स्थिति का

उसके उपजाऊपन से अधिक महत्त्व है। भूमि का प्रयोग उसके उपजाऊपन के क्रम में नहीं बल्कि उसकी स्थिति के अनुसार या सुविधाजनक भूमि के क्रम में किया जाता है।

(3) लगान रहित भूमि का न होना रिकार्डो द्वारा वर्णित 'लगान रहित भूमि' व्यावहारिक दृष्टि से नहीं पाई जाती है। इस आलोचना का यह उत्तर दिया जा सकता है कि लगान के नाम पर भुगतान की राशि में पूँजी पर ब्याज भी सम्मिलित रहता है। यद्यपि लगान का भुगतान किया जाता है, फिर भी यह सम्भव है कि आर्थिक लगान' शून्य हो। अतः यहाँ पर लगान रहित भूमि का अभिप्राय ऐसी भूमि से है जिसकी उपज से प्राप्त आय उपज के व्यय के बराबर हो। इस दृष्टि से सीमान्त या लगान हीन भूमि का पता लगाना कठिन या अव्यावहारिक नहीं है।

(4) पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता ठीक नहीं है रिकार्डो ने सभी प्रकार की भूमि के टुकड़ों की उपज की एक ही कीमत मानकर पूर्ण प्रतियोगिता की कल्पना की थी। परन्तु इस प्रकार की मान्यता अव्यावहारिक है। पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति वास्तव में कहीं भी नहीं पायी जाती, अतः उस पर आधारित होने के कारण रिकार्डो का लगान सिद्धान्त असत्य एवं काल्पनिक है।

(5) लगान मूल्य में सम्मिलित नहीं होता, यह विचार भी भ्रामक है रिकार्डो के सिद्धान्त के अनुसार सीमान्त भूमि लगान हीन भूमि होती है अर्थात् उसकी उपज से प्राप्त मूल्य में लगान शामिल नहीं होता है। परन्तु आलोचकों का यह कहना है कि रिकार्डो का यह विचार भ्रामक है। व्यावहारिक जीवन में लगान कुछ विशेष परिस्थितियों में अवसर या वैकल्पिक व्यय (opportunity or alternative costs) के रूप में मूल्य में सम्मिलित रहता है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के आधार पर रिकार्डो के लगान सिद्धान्त को पूर्णतया अव्यावहारिक माना जाता है, परन्तु वस्तुतः उनका लगान सिद्धान्त पूर्णतया अव्यावहारिक नहीं है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने रिकार्डो के लगान सिद्धान्त का परित्याग नहीं किया है, बल्कि उसे एक सामान्य सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है जो उत्पादन के किसी भी साधन के सन्दर्भ में लागू किया जा सकता है। रिकार्डो ने लगान का कारण भूमि की 'मौलिक एवं अविनाशी शक्तियों' को बतलाया है, आधुनिक अर्थशास्त्री उत्पादन साधन की पूर्ति के बेलोच होने, अर्थात् उत्तम प्रकार के उत्पादन साधनों की कमी, को लगान का कारण मानते है। इस प्रकार रिकार्डो का लगान सिद्धान्त आधारहीन नहीं है, उसमें कुछ तथ्य हैं। अतः रावर्टसन का यह कथन सर्वथा उपयुक्त है, "The Classical Theory of Rent has by no means lost its validity and instructiveness".

लगान तथा कीमत (Rent and Price)

रिकार्डो के अनुसार किसी भी कृषि वस्तु की कीमत सीमांत भूमि पर पैदा की गई उस वस्तु की उत्पादन लागत के बराबर होती है, अर्थात् कीमत सीमान्त लागत के बराबर होती है। रिकार्डो के अनुसार लगान एक प्रकार का आधिक्य है जो कीमत तथा लागत के अन्तर को प्रकट करता है। अतः उनके अनुसार लगान द्वारा कीमत का निर्धारण नहीं होता है, बल्कि कीमत द्वारा लगान का निर्धारण होता है। अतः लगान कीमत का परिणाम है। Corn is not high because rent is paid, but rent is paid because corn is high"

लगान कीमत में प्रवेश नहीं करता (Rent does not enter into price) लगान कीमत में प्रवेश नहीं करता है। इसके पक्ष में तर्क इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है पूर्ण-स्पर्धा के अन्तर्गत किसी वस्तु की कीमत उसकी सीमान्त उत्पादन लागत के बराबर होती है। यहाँ पर सीमान्त उत्पादन लागत का अभिप्राय सीमान्त भूमि पर उत्पादन लागत से है। लागत एक प्रकार का 'अन्तर' (Differential) है, अतः सीमान्त भूमि का कोई लगान नहीं होता है। चूंकि लगान सीमांत उत्पादन लागत का कोई अंश नहीं है, अतः लगान कीमत में प्रवेश नहीं करता है।

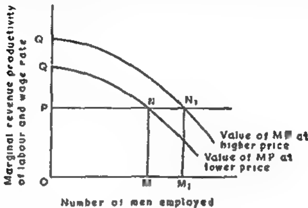
लगान कीमत का परिणाम है। ऊँची सीमान्त उत्पादन-लागत के कारण यदि कीमत ऊँची है तो ऐसी परिस्थिति में उत्तम भूमि पर अपेक्षाकृत कम उत्पादन-लागत के कारण आधिक्य प्राप्त होगा। यह आधिक्य सीमान्त भूमि की ऊँची उत्पादन लागत तथा उत्तम भूमि की कम उत्पादन-लागत के अन्तर के बराबर होगा। अतः खेती की सीमा निम्नतर होने पर उत्पादित वस्तु की कीमत अधिक होगी, इस प्रकार उत्तम भूमि अधिक लगान अर्जित करेगी। इसी प्रकार यदि किसी भूमि पर गहन खेती की जाती है, तो सीमान्त लागत अधिक होगी जिससे औसत लागत तथा सीमान्त लागत में अन्तर होगा अतः लगान उत्पन्न होगा। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि ऊँची सीमान्त लागत के कारण कीमत बढ़ती है तो उत्तम भूमि द्वारा ऊँची दर पर लगान अर्जित किया जाएगा।

भूमि के सदर्भ में उपर्युक्त विश्लेषण तर्कसगत है। भूमि की पूर्ति निश्चित है, अतः उसके लिए दी जाने वाली कीमत में परिवर्तन का प्रभाव उसकी पूर्ति पर नहीं पड़ेगा (यदि हम पूरे समाज के सदर्भ में बात करते हैं)। यदि लगान शून्य भी हो जाय तो भूमि की पूर्ति पर प्रभाव नहीं पड़ेगा। परन्तु यदि हम किसी एक फर्म के सदर्भ में बात करें, तो 'लगान' उत्पादन-लागत का एक अंश होगा। यदि उत्पादक की कुल आय लगान को प्राप्त नहीं करती है तो उत्पादन बन्द कर दिया जाएगा। अतः अन्य व्ययों की भांति, उत्पादक को कीमत द्वारा, लगान का अंश भी प्राप्त होना

चाहिए। उद्योग की दृष्टि से 'अवसर लागत' (opportunity cost) भी उत्पादन लागत का अंश होता है। हम यह जानते हैं कि वस्तु की कीमत सीमान्त फर्म की सीमांत लागत के बराबर होती है। अतः सीमांत भूमि की अवसर लागत भी उत्पादन लागत का एक अंश होगा। सीमांत भूमि अधिकतम लागत वाली भूमि है जिसे उद्योग को अपने पास रखना होगा, यदि उद्योग कुल माँग की पूर्ति करना चाहता है। परन्तु कुछ फर्मों के पास कम अवसर लागत वाली भूमि भी होगी। वे फर्में भी अपने उत्पादन को उसी कीमत पर बेचेंगी जिस कीमत पर सीमान्त फर्म। अतः सीमान्त फर्म के अतिरिक्त अन्य फर्मों को 'आधिक्य' प्राप्त होगा। उद्योग के अन्तर्गत इस आधिक्य को आर्थिक लगान कहा जा सकता है। माँग में ज्यों ज्यों वृद्धि होगी, त्यों-त्यों अधिक अवसर लागत वाली भूमि का भी प्रयोग किया जाएगा, अतः वस्तु के मूल्य में वृद्धि होती जाएगी। इस प्रकार पूर्व की भूमि की इकाइयों की अवसर लागत तथा सीमांत भूमि की अवसर लागत का अंतर बढ़ता जाएगा। उद्योग के अंतर्गत आधिक्य या लगान बढ़ता जाएगा, जो कम अवसर लागत वाली भूमि द्वारा अर्जित किया जाएगा। यह लगान उत्पादन की सीमान्त लागत का भाग नहीं है। अतः यह कीमत में प्रवेश नहीं करेगा बल्कि कीमत का परिणाम होगा, परन्तु अवसर लागत उत्पादन लागत का ही अंश है। सीमांत भूमि की अवसर लागत सीमांत लागत का अंश है, अतः यह कीमत में प्रवेश करती है।

कुछ भी हो, रिकार्डो ने एक सत्य की ओर संकेत किया है—यदि किसी साधन की पूर्ति पूर्ण बेलोच है अर्थात् पूर्ति निश्चित है तो उस साधन द्वारा किया गया उत्पादन उत्पादित वस्तु की कीमत के अनुसार बदलेगा। (The return to a factor fixed in supply that is whose supply is absolutely inelastic, will vary directly with variations in the price of the goods produced by it) इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए भूमि का एक ऐसा टुकड़ा है, जिस पर केवल गेहूं पैदा किया जा सकता है, (ii) केवल भूमि व श्रम का प्रयोग किया जाता है। (iii) श्रम की पूर्ति पूर्ण लोचदार है। हम यह देखेंगे कि इस भूमि की उपज (Return) गेहूं के मूल्य पर निर्भर करेगी, जैसा कि चित्र सं० 125 द्वारा स्पष्ट होता है। QN श्रम की सीमांत आय उत्पत्ति (MRP) को दर्शाती है। OP मजदूरी पर OM श्रमिक काम पर लगाए जाते हैं। कुल उत्पादन (TP) OMNQ है। मजदूरी बिल OMNP है तथा उत्पादन (Return) PNQ है। यदि गेहूं की कीमत बढ़ जाती है तो श्रम की MRP ऊपर खिसक जाएगा, जैसा कि चित्र सं० 125 में दिखलाया गया है। श्रमिक Q_1N_1 मजदूरी बिल पर काम करते हैं। प्रत्येक श्रमिक अब भी वही मजदूरी, OP, प्राप्त करता है, क्योंकि हम मान चुके हैं कि श्रम की पूर्ति पूर्ण लोचदार है। परन्तु भूमि का उत्पादन (Return) बढ़कर

PN_1Q_1 हो गया है। यदि गेहूं की कीमत गिर जाए तो उपर्युक्त विवरण की विपरीत स्थिति पाई जाएगी। उपर्युक्त विवरण में हम कुछ व्यावहारिक निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं। चूंकि भूमि पर केवल गेहूं पैदा किया जा सकता है, अतः गेहूँ की खेती उस समय तक की जाती रहेगी, जब तक कि उत्पादन की कीमत मजदूरी बिल का भुगतान



चित्र संख्या 125

करने के लिए पर्याप्त है। अर्थात् कीमत कम रहने पर भूमि पर QPN मात्रा तक उत्पादन को प्रभावित किए बिना, कर लगाया जा सकता है। परिवर्तनशील साधन की पूर्ति में वृद्धि (यदि उत्पादित वस्तु की उत्पादकता तथा कीमत अपरिवर्तित रहे) स्थिर साधन की उत्पत्ति में वृद्धि करेगी। 3. लगान का यह सिद्धान्त कि भूमि के स्थिर (fixed) होने के कारण, लगान एक प्रकार का आधिक्य (Surplus) है और अधिक सामान्य रूप से लागू किया जा सकता है। आधुनिक अर्थशास्त्री रिकार्डो के भूमि सम्बन्धी विचार को उत्पादन के अन्य साधनों पर भी लागू करते हैं।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि रिकार्डो का कथन (लगान कीमत का अंश नहीं है) उसी समय सही होगा जबकि आर्थिक लगान को 'अन्तउद्योग लगान' (intra-industrial rent) के रूप में परिभाषित किया जाए। यदि 'लगान' शब्द का प्रयोग भूमि के उपयोग के बदले में किए गए समस्त भुगतानों (भूमि की अवसर लागत को सम्मिलित कर) के लिए किया जाता है तो भूमि के लगान का वह भाग, जो अवसर लागत को प्रकट करता है, उत्पादन लागत का एक अंश माना जाएगा तथा वह कीमत में प्रवेश करेगा। अतः रिकार्डो का कथन उसी समय सत्य माना जाएगा, यदि हम यह मान लें कि प्रत्येक भूमि का टुकड़ा एक विशिष्ट प्रयोग के ही लिए है, अर्थात् उसकी अवसर लागत शून्य है। यदि भूमि की अवसर लागत होती है (निश्चित रूप से होती है) तो 'लगान' का अंश कीमत में अवश्य प्रवेश करेगा। अतः रिकार्डो का कथन पूर्णतया सत्य नहीं है।

2. लगान का आधुनिक सिद्धान्त (The Modern Theory of Rent)

1. लगान की परिभाषा : आधुनिक अर्थशास्त्री लगान का विश्लेषण केवल भूमि के ही सन्दर्भ में नहीं करते हैं। आधुनिक विचारधारा के अनुसार आर्थिक लगान किसी भी उत्पादन साधन को दिए गए उस अतिरिक्त भुगतान को कहते हैं, जो उस साधन को उद्योग में लगाए रखने के लिए आवश्यक न्यूनतम राशि से अधिक होता है। (Economic rent is any payment to a unit of factor of production, which is in excess of the minimum amount necessary to keep that factor in its present use)। इस प्रकार लगान एक सामान्य पुरस्कार है जो किसी भी उत्पादन साधन को दिया जा सकता है। हम यह जानते हैं कि किसी भी उत्पादन-साधन को वर्तमान व्यवसाय में बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है उसे कम से कम उतना भुगतान अवश्य किया जाय, जितना कि वह अन्यत्र प्राप्त कर सकता है। अतः एक साधन की आय के लिए हम दो शब्दों का प्रयोग कर सकते हैं—(i) वर्तमान आय या वास्तविक आय (Present or actual earning), (ii) विकल्प आय (Transfer earning)। साधन को जो कुछ प्राप्त होता है, वह उसकी वास्तविक आय है। विकल्प आय वह आय है जिसे साधन अन्य वैकल्पिक प्रयोगों द्वारा प्राप्त कर सकता है। साधन को वर्तमान उद्योग में बनाए रखने के लिए आवश्यक है कि उसे कम से कम 'विकल्प आय' के बराबर भुगतान किया जाए, अन्यथा वह साधन दूसरे उद्योग में चला जाएगा। साधारणतः साधनों की वर्तमान आय या वास्तविक आय विकल्प आय से अधिक होती है। अतः वास्तविक आय तथा विकल्प आय के अन्तर को आर्थिक लगान कहते हैं (Rent= Actual Earning—Transfer Earning)।

आधुनिक मत के अनुसार, ऐसे साधनों के स्वामियों को प्राप्त होने वाली आय को जिनकी साधनों की) पूर्ति पूर्ण लोचदार से कम होती है, लगान कहा जाता है। प्रो० वाटसन के अनुसार, "The income of owners of factors in less than perfectly elastic supply are called 'rents'. In this sense, the word 'rent' is not confined to land, nor does it have anything to do with leasing things or hiring them. The factor owner can receive rent from land or from capital under certain conditions, or from labour under certain conditions."

(*D. S Watson*, Price Theory and its Uses, p. 462)

2 लगान क्यों दिया जाता है ? (i) साधन की पूर्ति : किसी उत्पादन साधन की इकाइयों को विकल्प आय से अधिक भुगतान क्यों किया जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर साधनों की माँग तथा पूर्ति में निहित है। यदि किसी साधन की पूर्ति पूर्णतया लोचदार है तो इसका अर्थ यह होगा कि एक दिए हुए मूल्य पर उस साधन को

आवश्यक मात्रा में पूर्ति उपलब्ध होगी। ऐसी अवस्था में उस साधन की कोई भी इकाई लगान अर्जित नहीं कर पाएगी। परन्तु यह स्मरणीय है कि उस दिए हुए मूल्य से कम मूल्य पर उस साधन की पूर्ति बिल्कुल नहीं उपलब्ध होगी।

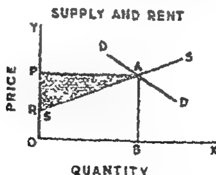
यदि साधन की पूर्ति पूर्ण लोचदार से कम है (less than perfectly elastic) तो उसकी उन इकाइयों को पहले काम में लगाया जाएगा जिनका पूर्ति-मूल्य न्यूनतम है। परन्तु यदि माग में वृद्धि होती है तो साधन की अधिकाधिक इकाइयों का प्रयोग अधिक मूल्य पर किया जाएगा जिससे साधन वैकल्पिक व्यवसायों को छोड़कर अधिक माग वाले उद्योग में आ सकें। चूकि साधन की समस्त इकाइयों को एक ही दर पर कीमत दी जाएगी, अत पूर्व की अन्तर सीमान्त इकाइया (Intra marginal unit) जिनका पूर्ति-मूल्य कम है, उस कीमत से अधिक अर्जित करेंगी, जितनी की उन्हे उद्योग में बनाये रखने के लिए देना आवश्यक है। अतः ऐसी अन्तर-सीमान्त इकाइयो को लगान प्राप्त होगा।

(ii) साधन की गतिशीलता : लगान की मात्रा साधन की प्रकृति पर भी निर्भर करती है। आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार उत्पादन-साधनों में कोई मौलिक अन्तर नहीं होता है, परन्तु साधनों की गतिशीलता के कारण उनके गुणों में अन्तर पाया जाता है। प्रत्येक साधन को उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर पुरस्कार मिलने के लिए यह आवश्यक है कि साधन पूर्ण गतिशील हो। परन्तु यदि कोई साधन कम गतिशील है तो उसे उस उसकी सीमान्त उत्पादकता से कम पारिश्रम मिलता। आस्ट्रिया के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री **वान वीजर** (Von Wieser) ने गतिशीलता के आधार पर साधनों को दो वर्गों में विभाजित किया है—(i) **पूर्ण विशिष्ट** (Perfectly Specific), तथा (ii) **पूर्ण अविशिष्ट** (Perfectly non specific)। पूर्ण विशिष्ट साधन वे हैं जिनका प्रयोग केवल एक कार्य के ही लिए किया जा सकता है। इसके विपरीत पूर्ण अविशिष्ट साधन वे है जिनका प्रयोग विभिन्न प्रकार के कार्यों के लिए किया जा सकता है। यदि पूर्ण अविशिष्ट साधनों को उनकी सीमान्त उत्पादकता से कम पारिश्रमिक दिया जाता है तो वे उद्योग छोड़कर अन्यत्र चले जाएँगे। परन्तु वैकल्पिक प्रयोग की उपलब्धि न होने के कारण पूर्ण विशिष्ट साधन उसी उद्योग में बने रहेंगे, यद्यपि उन्हे पारिश्रमिक सीमांत उत्पादकता से भले ही कम दिया जा रहा हो यहा पर यह याद रखना चाहिए कि (i) साधनों का उपरोक्त दो श्रेणियों में स्थायी तौर पर विभाजन नहीं किया जा सकता है। 'विशिष्टता' साधनों का एक गुण मात्र है, (ii) आज जो साधन विशिष्ट है वह भविष्य में अविशिष्ट भी हो सकता है, (iii) व्यावहारिक रूप में कोई भी साधन न तो पूर्ण विशिष्ट होता है और न पूर्ण अविशिष्ट। (प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने यह भूल की थी कि वे भूमि का ही सदैव विशिष्ट साधन

मानते थे। उन्होंने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि समय-विशेष में भूमि, श्रम, पूंजी आदि कोई भी साधन विशिष्ट हो सकता है।)

(iii) लगान निर्धारण चूंकि भूमि, श्रम, पूंजी आदि में कोई मौलिक भेद नहीं है, अत. समस्त साधनों के पारिश्रमिक का निर्धारण उनकी सीमान्त उत्पादकता के आधार पर किया जाता है। अत. सन्तुलन की स्थिति में भूमि का पारिश्रमिक उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर होता है। किसी भी साधन का उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर पारिश्रमिक प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि वह साधन पूर्णतया अविशिष्ट हो। किसी भी साधन का उसकी अविशिष्टता की सीमा तक ही सीमान्त उत्पादकता के बराबर पारिश्रमिक मिलता है। किसी भी साधन को उसकी (विशिष्टता के आधार पर) सीमान्त उत्पादकता से अधिक जिस मात्रा में पारिश्रमिक मिलता है, वही मात्रा उस साधन का लगान है। अत. लगान विशिष्टता के लिए किया गया भुगतान है (*Rent is a payment for specificity*)। कोई भी साधन लगान अर्जित कर सकता है, यदि वह विशिष्ट (*Specific*) है। वह साधन भूमि, श्रम, पूंजी आदि कोई भी हो सकता है। इस प्रकार केवल भूमि ही नहीं, कोई भी साधन लगान अर्जित कर सकता है।

(iv) रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण चित्र स 126 द्वारा लगान के आधुनिक सिद्धान्त को समझाया गया है। चित्र म SS दीर्घकाल पूर्ति वक्र है जो पूर्ण लोचदार पूर्ति वक्र से कम लोचदार है। मान लीजिए यह पूर्ति वक्र किसी उद्योग में मैनेजर की पूर्ति को प्रकट करता है। मैनेजरों की माग उनकी योग्यता व कुशलता (उत्पादकता) पर निर्भर होगी। यदि बाजार का पूर्ण ज्ञान है तथा पूर्ण प्रतियोगिता पाई



चित्र संख्या 126

जाती है तो दीर्घकाल में सभी मैनेजर OP वेतन प्राप्त करेंगे। पूर्ति वक्र से यह पता चलता है कि एक मैनेजर के अतिरिक्त सभी मैनेजर OP वेतन से कम वेतन पर नौकरी करने को तैयार हैं। परन्तु कोई भी व्यक्ति OR से कम वेतन पर काम

करने को तैयार नहीं होगा। चित्र में दिखलाया गया छायांकित भाग, मैनेजरों के वेतन में कुल लगान के भाग (Total Rent element) को प्रदर्शित करता है। लगान अवसर-लगान के ऊपर आधिक्य को प्रकट करता है। OPAB आयत का छायांकित भाग लगान को तथा शेष भाग अवसर लागत को प्रकट करता है। यदि पूर्ति वक्र पूर्ण लोचदार हो जाए, अर्थात एक सीधी पड़ी रेखा के रूप में (आधार रेखा OX के समानान्तर) हो जाए, तो छायांकित भाग (लगान) समाप्त हो जाएगा। अतः पूर्ति पूर्ण लोचदार (Perfectly elastic) होने पर लगान शून्य हो जाता है।

निष्कर्ष : यह प्रश्न किया जा सकता है कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने 'लगान' शब्द का प्रयोग भूमि के सदंर्भ में ही किया था, परन्तु आधुनिक विचारधारा के अनुसार 'लगान' कोई भी साधन अर्जित कर सकता है, अतः हम लगान के स्थान पर किसी अन्य शब्द का प्रयोग क्यों नहीं करते हैं? वास्तव में प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के मस्तिष्क में 'भूमि' शब्द गतिहीनता के ही लिए था, जिसे हम अब विशिष्टता (Specificity) कहते हैं। उन्होंने केवल यही गलती की कि वे केवल भूमि को ही 'विशिष्ट' मान बैठे थे। यदि वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे होते कि भूमि के अतिरिक्त अन्य साधन भी विशिष्ट हो सकते हैं तथा यह आवश्यक नहीं है कि भूमि सदैव 'विशिष्ट' ही रहे तो वे सही निर्णय पर पहुंच सकते थे। आजकल लगान शब्द का प्रयोग 'विशिष्टता' के लिए किए गए भुगतान के लिए किया जाता है। विशिष्टता' को 'भूमि पहलू' (Land Aspect) भी कहते हैं। प्रत्येक साधन में 'विशिष्टता' तथा 'अविशिष्टता' के तत्व विद्यमान रहते हैं, अतः प्रत्येक साधन में 'भूमि-पहलू' पाया जाता है। लगान का भुगतान 'भूमि-पहलू' के लिए ही किया जाता है। अतः आधुनिक सिद्धान्त में भी 'लगान' शब्द का ही प्रयोग किया जाता है, क्योंकि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के विचार मूलतः सही थे। उन्होंने केवल साधारण सी भूल की थी।

3 अर्द्ध-लगान या आभास लगान (Quasi-Rent)

'अर्द्ध-लगान' का विचार सर्वप्रथम मार्शल ने प्रस्तुत किया था। मार्शल ने 'अर्द्ध-लगान' शब्द का प्रयोग उन उत्पादन-साधनों की आय के लिए किया है जिनकी पूर्ति अल्प समय में निश्चित होती है, जैसे निश्चित प्लाट, मकान आदि की आय। प्रो० मार्शल ने अर्द्ध-लगान की परिभाषा इस प्रकार दी है. "अर्द्ध-लगान प्रमुख (मौद्रिक) लागत पर कुल आय के आधिक्य को कहते हैं जो कम या अधिक उस समय की माग और पूर्ति के घटनावश सम्बन्धों से प्रभावित होते हैं।"

(Quasi-Rent is a surplus of total receipts over 'prime (money) cost' governed by more or less accidental relations of demand and supply for that time.)

प्रो० सिचरमैन के अनुसार 'अर्द्ध-लगान उत्पादन के उन साधनों से प्राप्त होता है जिनकी पूर्ति अल्पकाल मे स्थिर, परन्तु दीर्घकाल मे परिवर्तनशील होती है।

(The additional payment for those agents of production, the supply of which, though alterable in a long period, is fixed in a short period, is technically known as Quasi-rent)

प्रो० लिप्से के अनुसार, साधनो के वे भुगतान जो अल्पकाल मे आर्थिक लगान तथा दीर्घकाल मे हस्तान्तरण भुगतान होते है, आभास लगान कहे जाते है।

('Factor payments which are economic rents in the short run and transfer payments in the long-run are called Quasi Rents ')

आधुनिक अर्थशास्त्री 'अर्द्ध लगान' के विषय मे एक मत नही है। प्रो० लैफ्ट-विच ने यह कहा है कि अस्पष्टता के कारण, अर्द्ध-लगान के विचार का परित्याग करना ही श्रेयस्कर है। आधुनिक अर्थशास्त्रियो के अनुसार अल्पकाल मे—
कुल अर्ध लगान=कुल आय—कुल परिवर्तनशील लागत (TR–TVC) या
प्रति इकाई उत्पादन पर अर्ध लगान=औसत आय—औसत परिवर्तनशील लागत (AR-AVC)

अर्ध-लगान को अवसर लगान के संदर्भ मे भी व्यक्त किया जा सकता है। अल्पकाल मे अवसर लागत के ऊपर जो भी आधिक्य प्राप्त होता है, उसे अर्ध लगान कहते हैं। स्टोनियर तथा हेग ने मशीन के संदर्भ मे, आभास-लगान को इस प्रकार परिभाषित किया है—' मशीन का आभास लगान इसकी कुल अल्पकालीन आय मे से इसके साथ प्रयुक्त किए गए परिवर्तनशील साधनो की लागत एवं अल्पकाल मे मशीन को चालू अवस्था म बनाए रखने के व्यय को घटाने के बराबर होता है। दीर्घ-कालीन सतुलन मे आभास लगान मशीन की (स्थिर) सामान्य आय के बराबर हो जाएगा। दूसरे शब्दो मे आभास लगान अपने दीर्घकालीन 'सामान्य' स्तर पर आ जाएगा जहाँ यह मशीन के अस्तित्व को निरन्तर बनाए रखने के व्यय के बराबर हो जाएगा।" इस प्रकार स्टोनियर तथा हेग के अनुसार मशीन का आभास लगान=[कुल आय]—[कुल परिवर्तनशील लागत+अल्पकालीन रक्षण लागत]

"Quasi-rent of the machine=T R—TVC+Short Run maintenance cost."

अन्य आधुनिक अर्थशास्त्रियो के अनुसार Quasi Rent=TR–TVC होता है। यह स्मरणीय है कि इन अर्थशास्त्रियो ने 'अल्पकालीन रक्षण लागत' को TVC के अन्तर्गत माना है। स्टोनियर तथा हेग ने भी कहीं-कहीं परोक्ष रूप से 'अल्पकालीन रक्षण लागत' को 'परिवर्तनशील लागत' के ही अन्दर शामिल माना है।

लगान व आभास लगान में अन्तर

लगान या आर्थिक लगान उन साधनों से प्राप्त होता है जिनकी पूर्ति दीर्घकाल तक बेलोच होती है या स्थिर रहती है। यह अवसर लागत के ऊपर ऐसा आधिक्य है जो दीर्घकाल तक प्राप्त होता रहता है। इस प्रकार लगान स्थायी प्रकृति का होता है। परन्तु आभास लगान अल्पकाल में कुल आय तथा परिवर्तनशील लागत के अन्तर को प्रकट करता है।

आधुनिक अर्थशास्त्री आभास लगान को अवसर लागत (Opportunity Cost) के ऊपर आधिक्य मानते हैं। इन अर्थशास्त्रियों ने लगान को भी अवसर लागत के ऊपर का आधिक्य माना है। इस प्रकार आभास लगान व लगान के अन्तर के सम्बन्ध में भ्रम हो जाना है। दोनों में बहुत बारीक अन्तर है। आभास लगान अवसर लागत के ऊपर आधिक्य है जो अल्पकाल में साधन की पूर्ति में अस्थाई कमी के कारण उत्पन्न होता है जो दीर्घकाल में पूर्ति की स्थिति ठीक हो जाने पर समाप्त हो जाता है। लगान के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता है।

(i) स्थिर साधनों के सदर्भ में आभास लगान भूमि के अतिरिक्त उत्पादन के कुछ ऐसे साधन हैं जिनकी पूर्ति अल्पकाल में स्थिर या अपरिवर्तनशील रहती है। माग में वृद्धि होने पर उनकी पूर्ति केवल दीर्घकाल में ही बढ़ायी जा सकती है। अल्पकाल में ऐसे साधनों की माग बढ़ जाने पर उनका मूल्य (आय) बढ़ जाता है। इस मूल्य वृद्धि तथा पूर्ति के स्थिर रहने के कारण इन साधनों को सामान्य आय से अधिक आय प्राप्त होने लगता है। इस स्थिति में सामान्य आय के ऊपर जितनी अतिरिक्त आय प्राप्त होती है, उसे अर्द्ध या आभास लगान कहा जायगा। मान लीजिये किसी कारणवश भूमि या मशीन की माग बढ़ जाती है, परन्तु उसकी पूर्ति स्थिर एवं अपरिवर्तित रहती है। यदि पहले उसका लगान 500 रु० था तो अब माग बढ़ जाने के कारण 600 रु० हो जायगा। अब मार्शल के अनुसार सामान्य आय से 100 रु० अधिक आय प्राप्त होगी। यह अतिरिक्त आय ही अर्द्ध-लगान कही जायगी। अर्द्ध लगान के रूप में यह आय उस समय तक मिलती जायगी जब तक कि दीर्घकाल में भूमि या मशीन की पूर्ति माग के अनुपात में बढ़ नहीं जायगी। पूर्ति में वृद्धि होने पर अर्द्ध-लगान स्वतः समाप्त हो जायगा।

(ii) निर्माणकारी उद्योग के सदर्भ में आभास लगान एक उत्पादन को निश्चित तथा परिवर्तनशील दोनों प्रकार की लागतें वहन करनी पड़ती हैं। निश्चित लागतें (Fixd or Supplementary Costs) उत्पादन की मात्रा में कमी या वृद्धि से सम्बन्धित नहीं होती हैं जैसे भवन, मशीन आदि। परन्तु प्रमुख या परिवर्तनशील लागत (Prime or Variable Cost) उत्पादन की मात्रा के अनुपात में

घटती या बढती है, जैसे श्रम, कच्चा माल आदि से सम्बन्धित लागतें। एक उत्पादक को, अल्पकाल मे, यदि परिवर्तनशील लागत के बराबर भी कीमत प्राप्त हो जाती है तो वह उत्पादन जारी रक्खेगा, क्योकि उत्पादन बन्द करने पर भी उसे निश्चित लागत का भार वहन करना पडेगा। यदि उत्पादन को अल्प-काल मे परिवर्तनशील लागत से आय प्राप्त होती है तो आय के इस आधिक्य को 'अर्ध-लगान' कहेंगे, क्योकि यह आधिक्य (Surplus) एक प्रकार से निश्चित तथा स्थायी साधनो का प्रतिफल है। अत —

अर्द्धलगान=कीमत परिवर्तन लागत (Quasi Rent = Price AVC)

दीर्घकाल मे निश्चित तथा परिवर्तनशील दोनों प्रकार की लागतो के बराबर कीमत प्राप्त करना आवश्यक है, अन्यथा हानि होने के कारण उत्पादक उद्योग को छोडकर अन्यत्र चला जाएगा। दीर्घकाल म कीमत उत्पादन लागत के बराबर होती है, परन्तु यह सम्भव है कि कुछ फर्में अत्यन्त ही अधिक कार्यकुशल हो तथा उनकी उत्पादन लागत उद्योग की उत्पादन-लागत से कम हो। ऐसी अवस्था मे इन फर्मों को उत्पादन लागत स अधिक कीमत प्राप्त होगी। कीमत तथा उत्पादन लागत का अन्तर, अर्थात् 'आधिक्य', इन फर्मों के लिए 'अर्ध-लगान' होगा। अत. दीर्घकाल मे भी कुछ फर्मे कुछ समय तक अर्ध-लगान अर्जित कर सकती हैं, परन्तु यह स्थिति अधिक समय तक नही हो सकती है। उद्योग मे लाभ से आकर्षित होकर नई फर्में प्रवेश करेंगी तथा कीमत उत्पादन-लागत के बराबर हो जाएगी। इस प्रकार 'अर्ध-लगान' स्वत समाप्त हो जाएगा।

कभी कभी ऐसी भ्रान्ति हो जाती है कि हम अर्ध-लगान को नकारात्मक (Negative) मान लेते हैं जैसे कि पारिश्रमिक का पूर्व अनुमान लगा लिया जाता है। यदि वास्तविक प्रतिफल अनुमानित प्रतिफल से कम होता है तो इनके अन्तर को नकारात्मक अर्ध लगान कहने लगते हैं, परन्तु यह धारणा पूर्णतया निर्मूल है। **अर्ध लगान कभी भी नकारात्मक नहीं होता है।** यदि मूल्य (अल्पकाल मे) परिवर्तनशील लागत के बराबर है तो अर्ध लगान शून्य होगा, परन्तु ऋणात्मक किसी भी अवस्था मे नहीं हो सकता है। [प्रो० फ्लक्स (Flux) ने ऋणात्मक 'अर्ध लगान' शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार यदि वास्तविक आय कुल लागत से कम है (सामान्य लाभ को सम्मिलित कर) तो यह अन्तर ऋणात्मक अर्ध लगान होगा, परन्तु इस धारणा को ठीक नही माना जाता है।

निष्कर्ष : (i) आभास लगान के सम्बन्ध मे दिए गए उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि मार्शल के अनुसार अल्पकाल मे पूंजीगत वस्तुओं की पूर्ति स्थिर होने के कारण, आभास लगान का उदय होता है। (ii) मार्शल ने यह भी कहा है कि मजदूरी व लाभ मे भी आभास लगान का अंश विद्यमान रहता है। (iii) आधुनिक

अर्थशास्त्री कुल आय तथा परिवर्तनशील लागत के अन्तर को आभास लगान मानते हैं। (iv) वस्तुत मार्शल का 'आभास लगान' सम्बन्धी विचार, रिकार्डो के लगान सिद्धान्त तथा लगान के आधुनिक सिद्धान्त के बीच एक कडी (Link) के समान है। (v) आधुनिक मत के अनुसार ऐसी योग्यता वाले व्यक्ति भी आभास लगान अर्जित करते है, जिनकी पूर्ति अल्पकाल मे बेलोच होती है। (vi) स्थानान्तरण आय का जिस प्रकार प्रयोग लगान के विश्लेषण के लिए किया जाता है, उसी प्रकार आभास लगान के विश्लेषण के लिए भी किया जाता है।

4 अवसर आय या स्थानान्तरण आय
(Opportunity Earnings or Transfer Earnings)

हस्तातरण आय, जिसे अवसर आय भी कहते हैं, मुद्रा की वह रकम है जो उत्पादन के किसी साधन की इकाई विशेष के द्वारा अपने सर्वोत्तम पुरस्कार वाले वैकल्पिक प्रयोग मे अर्जित की जा सकती है।[5] श्रीमती जोन रॉबिन्सन के अनुसार "किसी साधन की विशेष इकाई को एक विशेष उद्योग मे ही बने रहने के लिए जो मूल्य देना आवश्यक होता है, उसे हस्तान्तरण आय अथवा हस्तातरण मूल्य कहते है।"

"The price which is necessary to retain a given unit of a factor in certain industry may be called its transfer earnings or transfer price"

स्थानान्तरण आय की धारणा आर्थिक लगान के सिद्धान्त को पूर्णतया प्रभावित करती है। इस धारणा के अन्तर्गत उत्पादन के किसी साधन की इकाई-विशेष के वर्तमान उपयोग से प्राप्त आय की तुलना उसके वैकल्पिक प्रयोग से सम्भावित अवसर आय से की जाती है। वर्तमान उपयोग की आय मे से अवसर आय को कम कर देने पर यदि शेष आय धनात्मक (positive) है तो उस शेष आय को ही लगान कहा जाता है। उदाहरण के लिए, यदि एक भूमि के टुकड़े पर मकान बनाने पर 300 रु० आय होती है परन्तु उसका प्रयोग खेती के लिए किए जाने पर आय 350 रु० हो तो, ऐसी स्थिति मे उस भूमि पर अवसर या हस्तातरण आय (350 300) रु० = 50 रु० होगी।

स्थानान्तरण-आय भूमि के अतिरिक्त उत्पादन के किसी भी साधन को प्राप्त हो सकती है। परन्तु इसके उत्पन्न होने की शर्त यह है कि वह साधन किसी अश तक विशिष्ट (specific) होना चाहिए। चूंकि उत्पादन का प्रत्येक साधन किसी अश तक विशिष्ट होता है अतः सभी साधनो मे स्थानान्तरण आय या लगान उत्पन्न

[5]. "The amount of money which any particular unit could earn in its best paid alternative use is sometimes called its transfer earnings." —*Benham.*

होना है। इसके विपरीत यदि कोई साधन पूर्णतया विशिष्ट है तथा उसका उपयोग किसी भी अन्य कार्य में नहीं किया जा सकता तो उसकी अवसर लागत न होने के कारण, उसको हस्तान्तरण आय नहीं होती, या उसका कोई लगान हो नहीं होता।

5 लगान तथा आर्थिक उन्नति (Rent and Economic Progress)

किसी भी भूमि के टुकड़े का लगान उस पर लगाई गई उत्पादन लागत तथा सीमान्त भूमि पर लगाई गई उत्पादन लागत के अन्तर के बराबर होता है। अतः यदि आर्थिक विकास खेती सीमान्तता (Margin of cultivation) को प्रभावित करता है तो इससे लगान भी प्रभावित होगा। विभिन्न परिस्थितियों में इसका प्रभाव निम्नलिखित प्रकार पड़ेगा

(1) **जनसंख्या में वृद्धि** जनसंख्या में वृद्धि के कारण कृषि-पदार्थों की माग बढ़ती है। अतः खराब किस्म की भूमि पर भी खेती की जाती है तथा अधिकाधिक सीमा तक गहन कृषि प्रणाली अपनाई जाती है। इस प्रकार लगान में वृद्धि होती है।

(2) **जीवन स्तर में सुधार** : आर्थिक विकास के कारण आय में वृद्धि होती है तथा जीवन स्तर ऊंचा उठता है, परन्तु अन्य वस्तुओं के व्यय में जिस अनुपात से वृद्धि होती है, खाद्य पदार्थों पर किए जाने वाले व्यय मे उस अनुपात से कम अनुपात में वृद्धि होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि आर्थिक विकास के कारण आय के अन्य स्रोतों—मजदूरी, लगान तथा ब्याज आदि—में जिस अनुपात से वृद्धि होती है, कृषि आय में उस अनुपात से कम दर पर वृद्धि होती है।

(3) **परिवहन में सुधार** परिवहन के साधनों का विकास न होने पर भूमि को स्थिति-सम्बन्धी लाभ (जैसे बाजार की निकटता आदि) कम मिल पाते हैं, अतः लगान घटता है। विकसित परिवहन के साधनों के कारण खाद्य पदार्थों का आयात भी सरल हो जाता है, अतः देश में खराब किस्म की भूमि पर खेती बन्द कर दी जाती है। इस प्रकार खेती की सीमान्तता (Margin of cultivation) ऊपर उठती है तथा लगान कम हो जाता है।

(4) **कृषि कला में सुधार** कृषि कला में उन्नति के कारण भूमि की सीमांत उत्पादकता में वृद्धि होती है। यदि कृषि वस्तुओं की मांग पूर्ववत् हो तो उनकी कीमत गिरेगी तथा खराब किस्म की भूमि पर खेती नहीं की जाएगी। इस प्रकार लगान में कमी होगी।

प्रश्न व संकेत

1. रिकार्डो के लगान सिद्धात को बताइये एव उसकी व्याख्या करते हुए सिद्धान्त की सीमाए लिखिए। (Agra II A. II, 1960)

[संकेत : इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए प्रथम भाग मे रिकार्डो के लगान की परिभाषा दीजिए और उसकी मूल विशेषताए लिखिये। दूसरे भाग मे इस सिद्धान्त की प्रमुख सीमाए बताइये।]

2. "अनाज का मूल्य इसलिए ऊचा नही होता है क्योंकि लगान दिया जाता है, बल्कि ऊचे लगान इसलिए दिये जाते हैं, क्योंकि अनाज का मूल्य ऊचा होता है।" आलोचनात्मक ढग से कथन को समझाइय। (Vik. B. Com II, 1964)

[संकेत प्रश्न के उत्तर मे यह बताना है कि क्या लगान मूल्य मे प्रवेश करता है ? इसकी व्याख्या के लिए रिकार्डो एव आधुनिक अर्थशास्त्रियो के विचार लिखिए और 'लगान-कीमत सहसम्बन्ध' को समझाइये। देखिये पृष्ठ 659–61]

3. लगान के आधुनिक सिद्धात की विवेचना करिये। रिकार्डो के सिद्धात से यह सिद्धात किस प्रकार भिन्न है ? (Sagar, B Com I, 1964)

[संकेतः पहले आधुनिक अर्थशास्त्रियो के लगान सम्बन्धी विचार लिखिए और तत्पश्चात् इस सिद्धान्त की विशेषताओ की तुलना करके रिकार्डो के सिद्धात से भिन्नताओ को समझाइये।]

4. "लगान विशिष्टता के लिए भुगतान है।" समझाइये।

[संकेत : इस कथन की सार्थकता को सिद्ध करने हेतु आधुनिक अर्थशास्त्रियो द्वारा प्रतिपादित लगान के सिद्धात को समझाइये और अन्त मे निष्कर्ष लिखिए।]

5. आभास लगान को समझाते हुए बताइये यह आर्थिक लगान व ब्याज से किस प्रकार भिन्न है।

[संकेत : आभास लगान का तात्पर्य बताइये और बाद मे आर्थिक लगान व ब्याज से यह किस तरह भिन्न है, समझाइये।]

35

मजदूरी
(Wages)

"The market will tend toward that equilibrium pattern of wages differentials at which the total demand for each category of labour exactly matches its competitive supply"

—Semuelson

मजदूरी निर्धारण के सिद्धांत
(Theories of Wage Determination)

मजदूरी राष्ट्रीय आय का वह भाग है जो श्रम को उत्पादन के साधन के रूप मे प्रतिफल स्वरूप दिया जाता है। मजदूरी निर्धारण के सम्बन्ध मे समय समय पर अनेक प्रयास किए गए है। प्राचीन काल मे जनसख्या की कमी तथा सामन्तवादी सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था के कारण मजदूरी-निर्धारण को कोई विशेष महत्व नही दिया गया। उस समय 'न्यायपूर्ण मजदूरी पर विचार अवश्य व्यक्त किए गए थे, परन्तु न्यायपूर्ण मजदूरी का आधार निर्धारित नही किया गया था। औद्योगिक क्रांति के पूर्व घरेलू उद्योग धन्धो के काल मे अधिकाश नियोक्ता स्वय अपने श्रमिक होते थे। ऐसी स्थिति मे मजदूरी निर्धारित करने के सिद्धात का प्रश्न ही नही था। औद्योगिक क्रांति के पश्चात् श्रम विभाजन, बड़े पैमाने पर उत्पादन तथा फैक्टरी व्यवस्था ने वर्ग-सघर्ष को जन्म दिया। पूँजीपतियो तथा श्रमिको के वर्ग विभेद के कारण ही उत्पादन से प्राप्त आय के उपयुक्त विभाजन की समस्या उठ खडी हुयी। समाज सुधारको तथा अर्थशास्त्रियो ने श्रमिको के शोषण तथा सामाजिक एव आर्थिक विषमताओ को दूर करने के विचार से समय-समय पर निम्न मजदूरी-निर्धारण के सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया। परन्तु आधुनिक सिद्धात की तुलना मे अब उन सिद्धान्तो का केवल सैद्धान्तिक महत्व ही है।

(1) जीवन-निर्वाह अथवा मजदूरी का लौह सिद्धान्त (The Subsistence Theory or the Iron Law of Wages), (2) जीवन स्तर सिद्धान्त (The Standard of Living Theory), (3) मजदूरी कोष सिद्धांत (The Wage Fund Theory) (4) मजदूरी का अवशेष अधिकारी सिद्धात (The Residual Claimant Theory), (5) सीमान्त उत्पादकता सिद्धात (The Marginal Productivity Theory) (6), अपहृत सीमात उत्पादकता नियम (Discounted Marginal Productivity of Wages)

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि आधुनिक सिद्धात कि तुलना मे अब उक्त सिद्धातो मे से अधिकाश सिद्धान्तो का केवल सैद्धान्तिक महत्व है, अत यहा पर उत्पादन-साधन श्रम, के मूल्य-निर्धारण सिद्धान्त की दृष्टि से सीमान्त उत्पादकता सिद्धान, अपहृत सीमात उत्पादकता सिद्धान तथा आधुनिक सिद्धात की ही व्याख्या की गई है।

1. सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त (The Marginal Productivity Theory)

मजदूरी का 'सीमान्त उत्पादकता सिद्धात' वितरण के सामान्य सीमान्त उत्पादकता सिद्धान पर आधारित है। इस सिद्धान के अनुसार **मजदूरी श्रम की सीमान्त उत्पादकता के मूल्य के बराबर होने की प्रवृत्ति रखती है।**[1] इसका अर्थ यह हैं कि नियोक्ता श्रम की एक अतिरिक्त इकाई लगाने पर जितनी उत्पादन की अतिरिक्त मात्रा प्राप्त करता है, मजदूरी उसी के बराबर होने को प्रवृत्त होती है। उदाहरणार्थ, एक फर्म 20 श्रमिको को नियुक्त करके अन्य साधनो की सहायता से किसी वस्तु की 50 इकाइया उत्पादित करती है। यदि अन्य साधनो की मात्रा मे परिवर्तन किए बिना यह एक और श्रमिक नियुक्त करता है तथा उसके फर्म का उत्पादन 50 इकाइयो से बढकर 52 इकाइयो के बराबर हो जाता है तो उसके फर्म मे श्रम की सीमान्त उत्पादकता 2 इकाइयो के बराबर कही जायेगी। यदि प्रत्येक इकाई का मूल्य 1 रुपया है तो अतिरिक्त श्रम की सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य 2 रुपया होगा। अत नियोक्ता श्रम को 2 रुपये से अधिक मजदूरी नही देना चाहेगा, क्योंकि यह मजदूरी श्रम की सीमान्त उत्पादकता के बराबर है। जब तक मजदूरी की दर 2 रुपए से कम होगी, तब तक नियोक्ता के लिए अतिरिक्त श्रमिको को नियुक्त करना लाभप्रद होगा, परन्तु श्रम की प्रत्येक अतिरिक्त इकाई की वृद्धि करने पर 'सीमान्त

[1] (a) "Demand for labour to this theory is based on the final or marginal utility of the labour to the entrepreneur" —*S. B. Thomas*

(b) "The only wage at which equilibrium is possible is a wage which equals the value of the marginal product of the labourers." —*J. R. Hicks*

उत्पादकता ह्रास नियम लागू होने लगेगा जिससे श्रम की सीमान्त उत्पादकता भी कम होने लगेगी। इस प्रकार श्रमिकों की संख्या में वृद्धि करते रहने पर एक ऐसी स्थिति आ जायेगी जबकि मजदूरी की बाजार दर श्रम की सीमान्त उत्पादकता के बराबर हो जायगी। इस बिन्दु पर पहुंचने पर नियोक्ता अतिरिक्त श्रमिकों को नियुक्त करना बन्द कर देगा। अतः सन्तुलन की स्थिति में मजदूरी दर सदैव श्रम की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होनी चाहिए। यह स्थिति पूर्ण स्पर्धा में पायी जाती है। सपूर्ण स्पर्धा में मजदूरी की दर श्रम की सीमान्त आय उत्पत्ति के बराबर होगी।

मजदूरी के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के विश्लेषण के सम्बन्ध में प्रो० जे० आर० हिक्स का यह कथन उल्लेखनीय है कि 'सीमान्त उत्पादकता के परम्परागत विचार का स्पष्ट करना बहुत ही सरल है, क्योंकि यह मूल रूप में सीमान्त उत्पादन ह्रास नियम से निकलता है।"[2] इस सिद्धान्त के अन्तर्गत उत्पादन के अन्य साधनों की मात्रा में कोई परिवर्तन नहीं किया जाता। श्रम की मात्रा से एक इकाई की वृद्धि करने पर कुल उत्पादन में घटती दर से वृद्धि होती है। एडम स्मिथ ने भी यह संकेत किया था कि मजदूरी श्रम की उत्पादकता पर ही निर्भर है। उनके विचार से श्रम को मजदूरी इस कारण दी जाती है कि वह ऐसी उपयोगी वस्तु का उत्पादन करता है या ऐसी वस्तु के उत्पादन में सहायता पहुँचाता है जिसका कुछ मौद्रिक मूल्य होता है। इस आधार पर ही कोई भी उत्पादक श्रमिक की उत्पादकता के मूल्य से अधिक मजदूरी नहीं देता। अन्य शब्दों में, उत्पादक अतिरिक्त श्रम की इकाइयों को उस समय तक नियुक्त करता जायेगा जब तक उनकी उत्पादकता (प्राप्त लाभ) उनकी मजदूरी (उन पर खर्च) में अधिक होती है।

सारांश रूप में सीमान्त उत्पादकता सिद्धांत के अनुसार मजदूरी श्रम की मांग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है तथा सतुलन की दशा में मजदूरी श्रम की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होती है। यदि मजदूरी सीमान्त उत्पादकता के बराबर नहीं होगी तो सन्तुलन नहीं होगा। ऐसी स्थिति में सन्तुलन प्राप्त करने के लिए श्रम की मांग एवं पूर्ति में आवश्यक परिवर्तन करने होंगे। यह सम्भव है कि वास्तविक जगत में मजदूरी सीमान्त उत्पादकता से विचलित हो जाय। ऐसी परिस्थिति में सन्तुलन की स्थिति नहीं आ पायेगी। अन्त व्यवहार में सन्तुलन प्राप्त करने की प्रवृत्ति सदैव वर्तमान रहती है।

मान्यताएं यह सिद्धान्त कुछ मान्यताओं (Assumptions) पर आधारित है, (i) श्रम की सभी इकाइयां एकरूप हैं, (ii) श्रम तथा नियोक्ता दोनों की

[2] "The conventional proof of the marginal productivity proposition is simple enough. It follows from the most fundamental form of the law of diminishing returns" —*J R Hicks*

मोल जोल करने की क्षमता बराबर है तथा पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति वर्तमान है, (iii) दीर्घकाल में भी अन्य दशायें स्थिर हैं, (iv) उत्पादन कार्य में लगे सभी उत्पादन के साधन, श्रम को छोड़कर, स्थिर है। श्रम के अतिरिक्त उत्पादन के अन्य साधनों की मात्रा में कोई परिवर्तन नहीं होता। (v) श्रम की माग व्युत्पन्न माग (derived demand) है, क्योंकि वस्तुओं की माग में वृद्धि या कमी होने पर ही उसकी माग बढ़ती या घटती है। (vi) इस सिद्धात के अन्तर्गत उत्पादन ह्रास नियम (*Law of Diminishing Returns*) लागू होता है तथा साहसी श्रम की सीमान्त उत्पादकता का पता लगाने के लिये प्रतिस्थापन के नियम को जानता है।

आलोचनायें . अन्य सिद्धान्तों की तुलना में सत्य के अधिक निकट होते हुये भी मजदूरी के सीमान्त उत्पादकता सिद्धांत की कड़ी आलोचना की जाती है :

(1) पूर्ण प्रतियोगिता तथा श्रम की गतिशीलता की मान्यता अव्यावहारिक है यह सिद्धान्त पूर्ण प्रतियोगिता तथा श्रम की गतिशीलता की मान्यता को स्वीकार करता है, जबकि व्यवहार में न तो श्रम गतिशील है और न पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति ही पायी जाती है। इन कारणों से मजदूरी सीमान्त उत्पादकता के बराबर नहीं होती है। यह आवश्यक नहीं है कि कोई नियोक्ता प्रतियोगिता के कारण ही अधिक मजदूरी देगा। व्यवहार में विभिन्न प्रकार के उद्योगपति होते हैं। अच्छे उद्योगपति अधिक मजदूरी देते हैं और बुरे उद्योगपति कम मजदूरी देते हैं। ऐसी स्थिति में विभिन्न उद्योगों में श्रमिकों की उत्पादकता के मूल्यों में अन्तर होगा तथा मजदूरी भी अलग-अलग होगी। परन्तु दीर्घकाल में श्रम की गतिशीलता पूर्ण होने पर सभी व्यवसायों में मजदूरी एक ही होगी।

(2) उत्पादकता का सकुचित अर्थ . *"उत्पादकता" का प्रयोग सकुचित अर्थ* में किया गया है। अतिरिक्त उत्पादन के कारण सम्भव है कि वस्तु के मूल्य में कमी आ जाये। वस्तुतः उत्पादन से प्राप्त आय ही श्रमिकों की मजदूरी निर्धारित करती है, *तथा उत्पादित वस्तु का मूल्य बाजार की दशाओं पर निर्भर करता है।* फलस्वरूप श्रमिकों की कुशलता तथा उत्पादन में वृद्धि का यह अर्थ नहीं है कि नियोक्ता की मजदूरी देने की क्षमता में भी आनुपातिक वृद्धि हुई है।

(3) अपूर्ण सिद्धान्त इस सिद्धान्त के समर्थक भी इसे एक पूर्ण सिद्धान्त नहीं मानते। **मार्शल** का यह कथन कि श्रमिक की मजदूरी उसके शुद्ध उत्पादन के बराबर होगी, अपने आप में कोई अर्थ नहीं रखता, क्योंकि शुद्ध उत्पादन का अनुमान लगाने के लिये हमें श्रमिक की मजदूरी के अतिरिक्त, उत्पादन के उन सभी व्ययों को भी सम्मिलित करना पड़ता है जो उत्पादन में व्यय किए जाते है। स्वयं **मार्शल** ने भी इस बात पर बल दिया है कि हम मूल्य को निर्धारित करने वाली शक्तियों का अध्ययन करने के लिए 'सीमान्त' पर विचार करना ही पड़ता है,

तथा सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त मजदूरी-निर्धारण के कम से कम एक तथ्य पर प्रकाश डालता है[10]। वास्तविक जगत मे मजदूरी का सीमान्त उत्पादकता के बराबर होना आवश्यक नही है, किन्तु मजदूरी की प्रवृत्ति सदैव सीमान्त उत्पादकता के बराबर होने की रहती है।

(4) अतिरिक्त मजदूरी के अतिरिक्त उत्पादन की माप असम्भव है : अतिरिक्त मजदूरी से उत्पन्न अतिरिक्त उत्पादन की माप सम्भव नही है। इस सम्बन्ध में टासिग तथा डेवनपोर्ट का यह कहना है कि उत्पादन सभी साधनो की सयुक्त चेष्टा का परिणाम है। ऐसी स्थिति मे अतिरिक्त उत्पादन की ठीक-ठीक माप नहीं हो सकती। यह तर्क सही नही है, क्योकि सभी साधनो को स्थिर रख कर यदि अतिरिक्त मजदूर नही लगाया जाता, तो अतिरिक्त उत्पादन का होना सम्भव नही होता। उत्पादन मे अतिरिक्त वृद्धि अतिरिक्त मजदूर को लगाने का ही फल है, तथा इसे श्रम की सीमान्त उत्पादकता कहना पूर्णत सही होगा। अत श्रम की अतिरिक्त इकाई द्वारा किये गये कार्य, अर्थात् उत्पादन की अतिरिक्त वृद्धि की मात्रा, को जानना सम्भव है और इस दृष्टि से श्रमिक की सीमान्त उत्पादकता ज्ञात की जा सकती है।

(5) सिद्धान्त एक पक्षीय है : यह सिद्धान्त एक पक्षीय एव अपूर्ण है क्योकि इसमे श्रम की पूर्ति को ध्यान मे नहीं रखा गया है। हम जानते है कि श्रम की पूर्ति सीमित है। यदि श्रम की पूर्ति सीमित है तो निश्चय ही मजदूरी सीमान्त उत्पादकता से अधिक होगी। मजदूरी-निर्धारण का कोई भी सिद्धान्त तब तक पूर्ण नही कहा जा सकता, जब तक कि माग तथा पूर्ति दोनो पक्षो को ध्यान मे न रखा जाये।

(6) श्रम की सीमान्त उत्पादकता श्रमिक की कार्यकुशलता पर ही निर्भर नही है श्रम की सीमान्त उत्पादकता न केवल श्रमिक की कुशलता, बल्कि कच्चे-माल, यन्त्र तथा औद्योगिक सगठन आदि की कुशलता पर निर्भर करती है। फलस्वरूप एक ही उद्योग के श्रमिक की सीमात उत्पादकता मे अन्तर पाया जाता है। तात्पर्य यह है कि श्रम द्वारा प्राप्त उत्पादन केवल श्रम की कुशलता पर ही नहीं, बल्कि उत्पादन के अन्य साधनो के कुशल प्रयोग पर भी निर्भर है। इन साधनो मे परिवर्तन के कारण भी श्रमिक की उत्पादनशीलता बदल जाती है। स्पष्ट है इस सिद्धान्त मे औद्योगिक व्यवस्था के महत्व को स्वीकार नही किया गया है जो कि बहुत सीमा तक मजदूरी को बढाने मे सहायक होता है।

(7) उत्पादन साधनो के अनुपात मे परिवर्तन सम्भव नहीं है यह मान्यता

---

10 'One has to go to the margin to study the action of these forces which govern the value of the whole,' and that the marginal productivity theory throws into clear light the action of one of the sources that govern wages."

कि उत्पादन के विभिन्न साधनों के अनुपात में इच्छानुसार परिवर्तन करना सम्भव है, ठीक नहीं है यदि किसी फर्म के अन्दर का आकार निश्चित है तो उत्पादन के साधनों में मनमाना परिवर्तन करना सम्भव नहीं होगा। फलस्वरूप श्रम के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त का प्रयोग भी सम्भव नहीं है। दीर्घकाल में इस तर्क का विशेष स्थान नहीं है। स्थिर उत्पादन-इकाई (plant) को बदला जा सकता है। निश्चित आकार वाली इकाई की धारणा में भी दीर्घकाल में परिवर्तन का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है।

(8) **अन्य साधनों के स्थिर रहने पर श्रम की एक इकाई में वृद्धि करना सम्भव नहीं है :** यह सिद्धान्त इस मान्यता को स्वीकार करता है कि अन्य सभी साधनों को स्थिर रखते हुए श्रम की मात्रा में एक इकाई से वृद्धि की जा सकती है, किन्तु यदि उत्पादन की तकनीकी प्रगति निश्चित हो तो इस प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं है, क्योंकि श्रम की मात्रा में एक इकाई से वृद्धि करने पर उत्पादन के अन्य साधनों में भी परिवर्तन करना होगा।

(9) **सीमान्त उत्पादकता के सम्बन्ध में उत्पादक की अज्ञानता** व्यवहार में प्राय उत्पादकों या नियोक्ताओं को श्रम की सीमान्त उत्पादकता के विषय में जानकारी नहीं होती। परन्तु वास्तविकता यह है कि उत्पादक सीमान्त उत्पादकता को ध्यान में अवश्य रखता है। वह सदा इस बात पर विचार करता है कि एक अतिरिक्त मजदूर को काम पर लगाने से उसे कितना लाभ होगा या कितनी हानि उठानी पड़ेगी। वस्तुतः उत्पादक द्वारा अधिकतम लाभ प्राप्त करने की भावना की व्याख्या सीमान्त उत्पादकता के विचार के द्वारा ही सम्भव है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के आधार पर ही यह कहा जाता है कि यह एक स्थिर (static) सिद्धान्त है, किन्तु व्यावहारिक संसार गतिशील है जिसमें बराबर परिवर्तन होता रहता है। यह सत्य है कि सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त अपूर्ण है, किन्तु यह मजदूरी को प्रभावित करने वाले महत्वपूर्ण तत्व की ओर संकेत करता है। श्रम की कुशलता में वृद्धि का अर्थ सीमान्त उत्पादकता में वृद्धि है जिसके कारण मजदूरी में भी वृद्धि सम्भव है। एक उद्योग दूसरे उद्योग की तुलना में अधिक मजदूरी इस कारण देता है *कि इसकी सीमान्त उत्पादकता (बाजार मूल्य की दृष्टि से) अधिक है इसी कारण* एक देश दूसरे देश की तुलना में अधिक वास्तविक मजदूरी अदा कर सकता है।[11]

[11] 'Through the doctrine is thus incomplete, it offers useful indications of the influences on wages. A rise in efficiency means an increase in the marginal worth and therefore makes a possible rise in the wage One industry pays a higher wage than another because the marginal productivity is higher (i.e. in terms of market value).''
—*H. A. Silverman.*

मजदूरी में वृद्धि उद्योगपति की सगठन-कुशलता एव निपुणता के कारण तथा नये साधनो की खोज एव आविष्कार के द्वारा भी सम्भव है।

मार्शल तथा अन्य पुराने अर्थशास्त्रियो ने यह नही कहा कि मजदूरी का निर्धारण सीमान्त उत्पादकता के द्वारा ही होना चाहिए। उनका केवल इतना ही कहना था कि दी जाने वाली मजदूरी की दर सीमान्त उत्पादकता तथा काम पर लगाये जाने वाले श्रमिको के बीच एक फलन सम्बन्ध (functional relation ship) है, अत इस दृष्टि से सीमान्त उत्पादकता मजदूरी की दर की माप है, निर्धारक नही।

बट्टायुक्त सीमात उत्पादकता सिद्धान्त

(Discounted Marginal Productivity Theory of Wages)

प्रसिद्ध अमेरिकन अर्थशास्त्री प्रो॰ टाजिग (Prof Taussig) ने सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त को ही एक नय सिद्धा त के रूप म प्रस्तुत किया है, जिसे हम मजदूरी का बट्टायुक्त सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त (Discounted Marginal Productivity Theory of Wages) कहते हैं। टॉजिग के अनुसार मजदूरी सीमात उत्पादकता के बराबर नही होती, क्योंकि मजदूरी का भुगतान तो उत्पादन के पहले ही कर दिया जाता है। प्रो॰ टॉजिग (Prof Taussig) का कहना है कि उत्पादन मे समय लगता है। अत श्रम की सीमान्त उत्पादकता को मालूम करने मे भी समय लगता है तथा कुछ समय बाद ही श्रमिक की सीमान्त उत्पादकता को जाना जा सकता है। परन्तु श्रमिक उस समय तक मजदूरी पाने के लिये प्रतीक्षा नही करता तथा उत्पादक को उत्पादन की बिक्री क पूर्व ही मजदूरी देनी पड़ती है। अत यह स्पष्ट है कि उत्पादक श्रमिको को मजदूरी का भुगतान उत्पादन के पहले ही कर देता है। इस पेशगी मजदूरी की रकम उत्पादक अपने पास से या उधार के रूप मे दूसरो से प्राप्त करता है और इस राशि पर उसे ब्याज चुकाना पड़ता है। फलस्वरूप वह मजदूरी मे से उतने दिनो का ब्याज काट लेता है जितने दिन पहले वह मजदूरी चुकाता है। इसका फल यह होता है कि अन्तत मजदूरी श्रम की सीमान्त उत्पादकता के बराबर नही हो पाती। अत. मजदूरी श्रम की सीमान्त उत्पादकता मे से इस कटौती (कटौती वर्तमान ब्याज की दर पर निर्भर करती है) को निकाल देने पर जो शेष बचता है उसी के बराबर होती है। इसीलिये प्रो॰ टॉजिग का कहना है कि मजदूरी श्रमिक की बट्टायुक्त (discounted) सीमान्त उत्पादकता द्वारा निर्धारित की जाती है। इस सम्बन्ध मे बॉम बावर्क (Bohm Bawrk) का भी यही विचार है।

3 मजदूरी-निर्धारण का आधुनिक सिद्धान्त (The Modern Theory)

मजदूरी-निर्धारण के सम्बन्ध मे आधुनिक अर्थशास्त्रियो का मत है कि जिस प्रकार किसी वस्तु का मूल्य माग एव पूर्ति के सामान्य नियम द्वारा निर्धारित

किया जाता है उसी प्रकार श्रम की मजदूरी भी, जो उसकी सेवाओं का मूल्य है, श्रमिकों की माग और पूर्ति के नियम के आधार पर ही निर्धारित की जानी चाहिए। परन्तु श्रम अन्य वस्तुओं से भिन्न है तथा उसकी कुछ अपनी विशेषताएं हैं। यही कारण है कि मजदूरी-निर्धारण के लिए माग तथा पूर्ति के सिद्धान्त को एक सशोधित एव विशिष्ट रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस सशोधित सिद्धान्त का आधार यह है कि "*श्रम का मूल्य ही उसकी मजदूरी है। प्रतिस्पर्धात्मक श्रम बाजारों में यह मूल्य अवैयक्तिक रूप से श्रम की माग तथा पूर्ति की पारस्परिक प्रतिक्रियाओं द्वारा निर्धारित होता है।*" इन पारस्परिक प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप श्रम की माग रेखा उसकी पूर्ति रेखा को जिस बिन्दु पर काटती है, उस बिन्दु पर ही मजदूरी निर्धारित होती है। अन्य शब्दों में, जिस मूल्य पर उत्पादक श्रमिकों द्वारा प्रस्तुत की गयी सेवाओं को खरीदने तथा श्रमिक अपनी सेवायें उत्पादकों को बेचने के लिए तैयार हो जाते हैं, वही मूल्य श्रमिकों की मजदूरी है। मजदूरी निर्धारित करने वाले सिद्धान्त की *व्याख्या करने के पहले, श्रम की माग तथा पूर्ति की विवेचना आवश्यक है।*

पूर्ण तथा अपूर्ण प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत मजदूरी निर्धारण
(Determination of Wage under Perfect and Imperfect Competition)

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की सहायता से साधनों की मूल्य निर्धारण विधि की विवेचना करते समय हमने श्रम तथा मजदूरी का उदाहरण लिया था। उस उदाहरण में यह स्पष्ट किया गया था कि एक फर्म में उस समय तक श्रम की अधिक से *अधिक इकाइयां नियुक्त की जाती हैं जब तक कि श्रम की सीमान्त आय उत्पादकता* सीमान्त मजदूरी के बराबर नहीं हो जाती। पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में उत्पाद बाजार तथा साधन बाजार में प्रत्येक फर्म में श्रम का मूल्य (अर्थात मजदूरी) सीमान्त भौतिक उत्पाद के मूल्य के बराबर होता है। जहा तक उद्योग का सम्बन्ध है श्रम का मूल्य (अर्थात मजदूरी) एक तरफ श्रम के सीमान्त उत्पादकता वक्र (अथवा माग वक्र) द्वारा तथा दूसरी तरफ श्रम के पूर्ति वक्र द्वारा निर्धारित होता है। अन्य शब्दों में, पूर्ण प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत बाजार में श्रमिकों की मजदूरी श्रम की माग व पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। यहा अब हम सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के आधार पर श्रम बाजार की विभिन्न स्थितियों पूर्ण प्रतिस्पर्धा तथा अपूर्ण प्रतिस्पर्धा—में मजदूरी निर्धारण की विधियों का विवेचन करेंगे।

परन्तु उक्त दोनो स्थितियों में मजदूरी निर्धारण सिद्धान्त की विवेचना करने के पूर्व हमें उत्पादन साधन के रूप में श्रम की कुछ विशेषताओं को ध्यान में रखना होगा, क्योंकि उनके आधार पर हमें सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त को मजदूरी पर लागू करते समय उसमें कुछ आवश्यक सशोधन करने होंगे। पहली विशेषता यह है कि श्रमिक सामूहिक रूप से श्रम सघ बना सकते हैं तथा प्रचलित मूल्य से भिन्न

मजदूरी के लिए सौदेबाजी कर सकते हैं। दूसरी विशेषता यह है कि श्रमिक की काम करने के सम्बन्ध में स्वतन्त्र इच्छा होती है। वह पूँजी तथा भूमि की तरह जीवनहीन नहीं है। वह अपनी इच्छानुसार किसी दिन या किसी क्षण काम करता है या काम करने के लिए अनिच्छुक रहता है। ये दोनों विशेषताएं भूमि और पूंजी में नहीं पायी जाती। इसी कारण श्रम की मजदूरी निर्धारित करते समय उसकी इन दोनों विशेषताओं को ध्यान में रखना पड़ता है।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत मजदूरी निर्धारण :

पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की दशाओं में किसी उद्योग में मजदूरी माग व पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। ऐसी स्थिति में पूर्ण प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत मजदूरी-निर्धारण का अध्ययन करने के लिए दो वक्र–माग वक्र तथा पूर्ति वक्र-सोचे जाते हैं। यहा यह मान लिया गया है कि उत्पाद-बाजार तथा साधन-बाजार दोनों में ही पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह स्मरण रहे कि आजकल औद्योगीकरण के इस युग में साधन बाजार (यहा श्रम बाजार) में पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति शायद ही कभी पायी जाती है। ऐसा पूर्ण प्रतिस्पर्धी श्रम बाजार केवल अविकसित तथा कृषि प्रधान देशों में ही पाया जा सकता है।

(1) उद्योग के लिए श्रम का माग वक्र जैसा कि सीमान्त उत्पादकता के अध्याय म स्पष्ट किया जा चुका है श्रम के लिए किसी फर्म का सीमान्त आय उत्पादकता (MRP) वक्र फर्म द्वारा विभिन्न मजदूरी दरो पर लगाय गय श्रमिकों की विभिन्न मात्राओं (इकाइयों) को व्यक्त करता है। फर्म श्रम की अतिरिक्त इकाइया उस समय तक प्रयोग म लाता जायगा जब तक कि श्रम की सीमान्त आय उत्पादकता प्रचलित मजदूरी दर के बराबर नहीं हो जाती है। इस प्रकार फर्म का MRP वक्र फर्म के लिए श्रम की माग प्रदर्शित करता है। यही कारण है कि फर्म का MRP वक्र उसके लिए श्रम का माग वक्र भी है। एक उद्योग के अन्तर्गत विभिन्न फर्मों के लिए अलग-अलग MRP वक्र या श्रम के लिए माग-वक्र होते हैं। यदि हम पड़ी रेखा के रूप में (horizontally) उद्योग में लगी सभी फर्मों के MRP या श्रम के माग वक्रों को जोड़ दें तो हमें सम्पूर्ण उद्योग के लिए श्रम का माग-वक्र प्राप्त होगा। इस प्रकार श्रम के लिए उद्योग का माग वक्र A,B,C, ...फर्मों के MRP वक्रों का योग है।

(2) उद्योग के माग वक्र को प्रभावित करने वाले तत्व : किसी उद्योग का माग-वक्र कई बातों से प्रभावित होता, जैसे

(i) श्रम की माग व्युत्पन्न माग है : श्रम की माग उस वस्तु की माग द्वारा निर्धारित होती है जिसका उत्पादन करने म श्रम सहायक होता है उत्पादित वस्तु की

जितनी ही अधिक माग होगी, उद्योग के लिए श्रम की माग मे उतनी ही अधिक वृद्धि होगी।

(ii) उत्पादन फलन (Production Function) से सम्बन्धित प्राविधिक दशाओ का प्रभाव फर्म मे उत्पादन-फलन अर्थात पडत-उत्पादन के सम्बन्धो (input output relations) को प्रभावित करने वाली तक्नीकी दशाए भी श्रम की माग निर्धारित करती हैं। यदि स्थिर तथा परिवर्तनशील साधनो के अनुपात बेलोचदार (inflexible) है तथा परिवर्तनशील साधनो मे वृद्धि करके उत्पादन बढाने के लिए प्रयत्न किये जा रहे है तो श्रम का MRP तेजी से कम हो जायेगा। ऐसी स्थिति मे श्रम का MRP वक्र नीचे की ओर अधिक गिरता हुआ होगा। इस कारण श्रम की अतिरिक्त इकाइयो को प्रयोग मे लाने के लिए मजदूरी दर को घटाना ोगा। दूसरे शब्दो मे, यदि मजदूरी मे बहुत अधिक कमी नही कर दी जाती है। तो फर्म की श्रम के लिए माग मे अधिक तेजी से कमी आयेगी, इसके विपरीत यदि स्थिर साधनो का परिवर्तनशील साधनों (जैसे श्रम) से अनुपात लोचदार है तो परिवर्तनशील साधनो को बढाकर उत्पादन मे वृद्धि करने के लिए किये गये प्रयत्नो के फलस्वरूप श्रम के MRP मे तेजी से कमी नही आयगी। ऐसी स्थिति मे श्रम का MRP वक्र धीरे-धीरे नीचे की ओर गिरेगा तथा मजदूरी मे थोडी सी कमी होने पर भी फर्म को श्रम का अतिरिक्त इकाइयो का प्रयोग करने के लिए प्रोत्साहन मिलेगा। दूसरे शब्दों मे यह कहा जा सकता है कि उक्त स्थिति मे फर्म की श्रम की माग अपेक्षाकृत अधिक होगी।

(iii) स्थानापन्न साधनो का प्रभाव श्रम की माग केवल स्वय के मूल्य (मजदूरी) से ही प्रभावित नही होती बल्कि अन्य साधनो के मूल्यो से भी प्रभावित होती है। यहा तक कि श्रम तथा अन्य साधनो के एक दूसरे के स्थान पर प्रतिस्थापना (Substitution) की सम्भावना का भी श्रम की मजदूरी पर प्रभाव पाता है। उदाहरण के लिए, यदि पूंजी के स्थान पर श्रम का प्रयाग सम्भव है तो पूंजी का मूल्य (ब्याज) बढने पर उसके स्थान पर श्रम की अतिरिक्त इकाइया प्रयोग मे लायी जा सकती है।

एक उद्योग के लिए श्रम का माग वक्र बाये, से दायें नीचे को गिरता हुआ होता है, जो यह प्रकट करता है कि मजदूरी तथा श्रम की माग मे उल्टा सम्बन्ध है, अर्थात् मजदूरी की दर अधिक होने पर श्रम की माग कम होगी तथा मजदूरी दर कम होने पर श्रम की माग अधिक होगी। एक उद्योग मे श्रम के लिए माग वक्र अल्पकाल मे बेलोचदार होता है, तथा दीर्घकाल मे लोचदार होता है। इसका कारण यह है कि दीर्घकाल की तुलना मे अल्पकाल मे श्रम के स्थान पर पूंजी अथवा पूंजी के स्थान पर श्रम के प्रयोग करने के अवसर सीमित होते है।

(3) उद्योग के लिए श्रम का पूर्ति वक्र : किसी उद्योग के लिए श्रम के पूर्ति वक्र के आकार के सम्बन्ध में पूर्वानुमान लगाना कठिन है। इस जटिलता पर विचार करने के पहले यह जानना आवश्यक है कि 'श्रम की पूर्ति' का वास्तव में अर्थ क्या है। 'श्रम की पूर्ति' का अभिप्राय उन घंटों तथा दिनों से है जो विभिन्न मजदूरी-दरों पर किसी विशेष प्रकार के श्रमिक अर्पित करने के लिए तत्पर होते हैं। सामान्यतः मजदूरी दर ऊंची होने पर अधिक श्रम घण्टे अर्पित किये जाते हैं, अर्थात् अधिक श्रमिक काम करने को तत्पर होते हैं। इसके विपरीत कम मजदूरी दर पर कम श्रमिक काम करने को तत्पर होते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि मजदूरी दर तथा श्रमिकों की पूर्ति में प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। परन्तु कभी-कभी श्रम की पूर्ति को अन्य तत्व भी प्रभावित करते हैं। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रहे कि अन्य साधनों के विपरीत विभिन्न मजदूरी दरों पर श्रमिकों की कार्य करने की अपनी इच्छा या अनिच्छा भी श्रम की पूर्ति निर्धारित करती है। इस आधार पर श्रम की पूर्ति में वृद्धि या कमी की प्रवृत्ति का प्रमुख कारण यह है कि श्रमिक अपने श्रम के बदले में कम से कम इतनी मजदूरी अवश्य प्राप्त करना चाहता है जिससे कि वह अपने तथा अपने परिवार के सदस्यों का जीवन निर्वाह कर सके। यह मजदूरी की दर न्यूनतम दर है जिसे श्रमिकों का सीमान्त त्याग (marginal sacrifice) कहा जा सकता है। यदि उसे इस सीमांत त्याग या न्यूनतम मजदूरी से कम मजदूरी मिलती है तो वह काम करने को तैयार नहीं होता। अतः जिस प्रकार उत्पादक के लिए श्रम की सीमांत उत्पादकता (मजदूरी की अधिकतम सीमा) श्रम की माग की मात्रा निर्धारित करती है उसी प्रकार श्रमिकों के लिए उनका सीमांत त्याग (मजदूरी की न्यूनतम सीमा) श्रम की पूर्ति की मात्रा निर्धारित करता है।

श्रम की पूर्ति निर्धारित करने वाले कुछ अन्य तत्व भी हैं जिनका उल्लेख नीचे किया गया है

(i) व्यावसायिक स्थानान्तरण (Occupational Shifts) . श्रम की पूर्ति को प्रभावित करने वाला एक आर्थिक तत्व व्यावसायिक स्थानान्तरण है। यदि किसी उद्योग विशेष में मजदूरी की दर ऊंची है तो उसमें श्रमिक अन्य उद्योगों से आने लगेंगे और उस उद्योग विशेष में श्रम की पूर्ति बढ़ने लगेगी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मजदूरी दर ऊंची होने पर श्रम की पूर्ति अधिक होती है और मजदूरी दर नीची रहने पर श्रमिकों की पूर्ति कम होती है। इस कारण ही उद्योग का श्रम पूर्ति वक्र ऊपर की ओर दायीं तरफ उठता हुआ होता है।

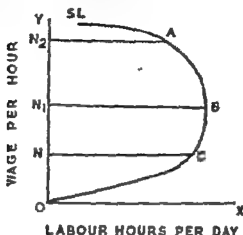
(ii) श्रमिकों की कार्यकुशलता : किसी उद्योग में श्रम की पूर्ति श्रमिकों की कार्यकुशलता पर भी निर्भर करती है। श्रमिकों के कार्यकुशल होने पर उत्पादन मात्रा में उसी प्रकार वृद्धि होती है, जिस प्रकार कि श्रम की पूर्ति में वृद्धि होने पर।

अकुशल श्रमिक की तुलना मे एक कुशल श्रमिक की उत्पादन क्षमता अधिक होती है। इससे यह स्पष्ट है कि उद्योग की उत्पादन मात्रा पर श्रमिक की कार्यकुशलता में वृद्धि का वही प्रभाव पड़ता है जो कि श्रम की पूर्ति म वृद्धि का ऊ ची मजदूरी होने पर श्रमिकों का जीवनस्तर ऊ चा उठता है तथा जीवन स्तर ऊचा रहने पर उनकी कार्य-कुशलता में वृद्धि होती है जिससे श्रम की पूर्ति में भी वृद्धि होती है। नीची मजदूरी-दर रहने पर जीवन स्तर नीचा रहता है जिससे श्रमिकों की कार्यकुशलता कम हो जाती है और श्रम की पूर्ति घट जाती है। इसके फलस्वरूप भी उद्योग का श्रम-पूर्ति-वक्र ऊपर की ओर दायी तरफ उठता हुआ है।

(iii) **कार्य आराम अनुपात** (Work leisure Ratio) श्रम की पूर्ति कार्य आराम-अनुपात' से भी प्रभावित होती है। मजदूरी-दर में वृद्धि श्रम की पूर्ति को दो प्रकार से, परन्तु विपरीत दिशाओं में, प्रभावित करती है। पहला प्रभाव **प्रतिस्थापन प्रभाव** (Substitution Effect) कहलाता है। मजदूरी में वृद्धि होने पर श्रमिक अधिक कार्य करना पसन्द करेंगे तथा आराम के स्थान पर कार्य का प्रति-स्थापन करेंगे। इस दशा में श्रम पूर्ति-वक्र ऊपर की ओर दायी तरफ उठता हुआ होगा, क्योंकि ऊ ची मजदूरी मिलने पर श्रमिक अतिरिक्त कार्य करने के लिए तत्पर होगा। ध्यान रहे कि प्रतिस्थापन प्रभाव धनात्मक (positive) होता है। इसके विपरीत मजदूरी म वृद्धि होने पर जब श्रमिक की आय बढ़ जायेगी तब वह आय म वृद्धि के कारण कम काम करना तथा अधिक आराम करना चाहेगे। यह मजदूरी में वृद्धि के कारण **'आय प्रभाव'** (income effect) कहा जाता है। इस स्थिति मे श्रम पूर्ति-वक्र का ढाल आय की कुछ सीमाओं पर पीछे की तरफ झुकता हुआ होगा, जो यह प्रकट करता है कि आय प्रभाव' ऋणात्मक (negative) होता है, क्योंकि मजदूरी दर अधिक होने पर भी श्रमिक आराम अधिक पसन्द करते है। इन दोनो प्रभावो को चित्र स० 127 मे स्पष्ट किया गया है।

चित्र सख्या 127 मे O SL श्रम-घटो का पूर्ति वक्र है। प्रति घटा मजदूरी दर बढने पर जब वह ON से ON_2 हो जाती है, श्रमिक की श्रम घटो की पूर्ति भी *NC से बढकर NB हो जाती है। B बिन्दु पर श्रम घटो का पूर्ति वक्र* एक खडी रेखा के रूप मे है, परन्तु B के बाद ऊपर की तरफ वह पीछे की तरफ झुका हुआ है। यदि मजदूरी दर ON_1 से बढकर ON_2 हो जाती है श्रम घटो की पूर्ति N_1B से घटकर N_2A हो जाती है। पूर्ति-वक्र के प्रारम्भ की स्थिति, जो ऊपर की ओर दायी तरफ चढती हुई N_1 यह व्यक्त करती है कि मजदूरी मे वृद्धि के कारण श्रमिक आराम के स्थान पर अधिक घण्ट कार्य करने को तत्पर होगे। O SL पूर्ति वक्र पर OB तक की स्थिति प्रतिस्थापन प्रभाव को व्यक्त करती है परन्तु B बिन्दु के

बाद 'आय-प्रभाव' की स्थिति है, क्योंकि मजदूरी ON_2 होने पर भी श्रमिक के कार्य घण्टों की पूर्ति OA के बराबर हो है जिससे यह स्पष्ट है कि श्रमिक कम घण्टे कार्य करना चाहते हैं और अधिक आराम चाहते हैं।



चित्र संख्या 127

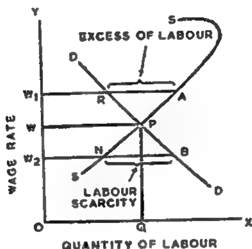
3 मजदूरी निर्धारण (Wage Determination) श्रम की माग तथा पूर्ति की शक्तियाँ श्रम बाजार की उन दशाओं को व्यक्त करती हैं जिनके आधार पर मजदूरी तथा रोजगार में संतुलन स्थापित होता है। दूसरे शब्दों में, पूर्णस्पर्द्धा की स्थिति में मजदूरी की दर उस बिन्दु पर सतुलन की स्थिति में होगी, जहा श्रम का माग-मूल्य श्रम के पूर्ति मूल्य के बराबर होगा। अत पूर्ण स्पर्द्धात्मक श्रम बाजार में मजदूरी की दर की अधिकतम सीमा (जो श्रम की सीमात उत्पादकता को व्यक्त करती है तथा न्यूनतम सीमा जिससे नीची मजदूरी पर श्रमिक कार्य करने के लिए तत्पर नहीं होगा क्योंकि वह श्रमिकों के सामान्य जीवन स्तर को व्यक्त करती है) माग और पूर्ति की सापेक्ष शक्तियों के सतुलन से निर्धारित होगी।

चित्र द्वारा स्पष्टीकरण :

चित्र स० 128 मे OX आधार रेखा पर श्रम की इकाइयां तथा OY खड़ी रेखा पर मजदूरी की दर व्यक्त की गई है। विभिन्न मजदूरी दरों पर श्रम की माग-

22 "Thus the wage of labour in a particular industry depends on demand and supply. Demand is shown by the marginal revenue curve of labour to industry Supply is given by a curve showing at each level of wages what the volume of labour offered will be. Wages are determined by the inter-action of these two curves"

है। श्रम की पूर्ति रेखा SS* है। ये दोनो रेखाये एक दूसरे को P बिन्दु पर काटती हैं जो साम्य बिन्दु है तथा जो श्रम की माग तथा पूर्ति की मात्राओ का सन्तुलन-बिन्दु भी कहलाता है। यह बिन्दु ही यह बतलाता है कि PQ या OW मजदूरी की दर पर श्रमिको की माग व पूर्ति OQ के बराबर होगी। अब यदि यह मान लिया जाय कि मजदूरी की दर OW से घट कर OW_2 हो जाती है तो श्रमिको की माग W_2B के



चित्र सख्या 128

बराबर होगी परन्तु श्रमिको की पूर्ति घट कर W_2N के बराबर ही रह जायगी। श्रम मजदूरी-दर पर उत्पादक अधिक सख्या मे श्रमिको की नियुक्त करने के लिए तत्पर होगे, लेकिन इस दर पर श्रमिक काम करने को तैयार नही होगे। यह स्थिति श्रमिकों की कमी (labour scarcity) की है, क्योंकि माग की मात्रा W_2B पूर्ति की मात्रा W_2N से अधिक है। अतः

श्रम की कमी $= (W_2B - W_2N) = NB$

इसके विपरीत यदि मजदूरी की दर OW_1 हो जाती है तो श्रम की मांग $=$ W_1R तथा श्रम की पूर्ति $= W_1A$ होगी। मजदूरी की दर बढाने पर श्रम की माग

* चित्र स० 128 मे पूर्ति-रेखा SS प्रारम्भ मे तो ऊपर को ओर चढती हुयी है, परन्तु एक सीमा के बाद वह बायी तरफ खडी रेखा OY की तरफ (बायी) ओर मुड गयी है। इसका कारण यह है कि एक सीमा तक मजदूरी की दर मे वृद्धि होने पर, श्रमिको की पूर्ति मे वृद्धि होगी। परन्तु उस सीमा के पश्चात् आय (मजदूरी) अधिक होने पर, कुछ श्रमिक आराम करना पसन्द करेगे जिससे श्रम-बाजार मे श्रम विशेष की पूर्ति कम हो जायेगी।

(W_1R) श्रम की पूर्ति (W_1A) से कम होगी। मजदूरी की दर बढ़ने पर अधिक से अधिक संख्या में श्रमिक कार्य करने के लिए तत्पर होंगे, परन्तु उत्पादक कम से कम संख्या में श्रमिको को नियुक्त करना चाहेंगे। ऐसी स्थिति में श्रम बाजार में श्रम की पूर्ति श्रम की माग की तुलना में अधिक होगी, जो बेरोजगारी की स्थिति को व्यक्त करती है। अतः

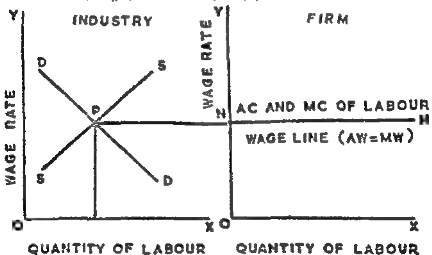
बेरोजगारी (Unemployment) $= (W_1R - W_1A) = RA$

4 पूर्ण स्पर्द्धा वाले श्रम-बाजार में मजदूरी-निर्धारण के सम्बन्ध में कुछ मान्यतायें है : (i) श्रम विशेष (labour of a given kind) की माग व पूर्ति में एकाधिकार के तत्व विद्यमान नहीं हैं, अर्थात् न तो नियोजक ही (employers) और न श्रमिक ही सगठित होते है। वे स्वतन्त्र रूप से श्रम की माग तथा पूर्ति करते है। (ii) नियोजको (employers) की सख्या अत्यधिक होती है। उनकी सख्या अधिक होने के कारण उत्पादक इकाइया या फर्में बहुत ही छोटी होती हैं और वे अलग अलग श्रम-बाजार में श्रम की कुल पूर्ति के बहुत ही थोड़े भाग को प्रयोग मे लाती हैं। (iii) एक ही प्रकार के श्रमिको की सख्या भी बहुत अधिक होती है, जो सगठित नहीं होते और स्वतन्त्र होकर अपनी व्यक्तिगत सेवायें बेचने के लिए तत्पर रहते है। (iv) विभिन्न उद्योगो तथा क्षेत्रो के लिए श्रमिको में पूर्ण गतिशीलता है। (v) श्रम-बाजार मे पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति होने के साथ ही साथ उत्पादित वस्तुओ के बाजार मे भी पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति पायी जाती है। पूर्ण स्पर्द्धा की इन मान्यताओ के अन्तर्गत प्रत्येक श्रमिक को समान मजदूरी प्राप्त होगी। जैसा कि चित्र स० 128 से स्पष्ट है पूर्ण स्पर्द्धा वाले श्रम बाजार मे सन्तुलन मजदूरी (Equilibrium Wages) ही वह मजदूरी है जो वहा सदैव प्रचलित होगी। सन्तुलन मजदूरी ही मजदूरी तथा रोजगार मे सन्तुलन की स्थिति व्यक्त करती है।

इसका कारण यह है कि यदि मजदूरी दर बढ जाती है तो श्रमिको की माग कम होने पर कुछ श्रमिक बेकार हो जायेंगे। ऐसी स्थिति मे श्रमिक कम मजदूरी पर कार्य करने के लिए तत्पर हो जायेंगे, जिससे श्रमिको की माग बढेगी और सभी बेकार श्रमिको को रोजगार प्राप्त हो जायेगा। इसके विपरीत यदि मजदूरी की दर घट जाती है, तो श्रमिको की माग श्रमिको की पूर्ति से अधिक होगी। इस स्थिति मे नियोजको में अधिक से अधिक सख्या मे श्रमिको को नियुक्त करने की स्पर्द्धा के कारण मजदूरी दर बढेगी और इस बढी हुयी मजदूरी-दर पर श्रमिको की सख्या (पूर्ति) बढने से पुनः सन्तुलन की स्थिति स्थापित हो जायेगी। मजदूरी तथा रोजगार मे सन्तुलन की स्थिति उस समय तक अपरिवर्तित रहती है जब तक कि श्रम-बाजार की उपर्युक्त मान्यताए अपरिवर्तित रहती है।

इस सम्बन्ध में इस तथ्य को भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि एक बार सम्पूर्ण उद्योग के लिए मजदूरी निर्धारित कर दिये जाने पर प्रत्येक फर्म या उत्पादक अथवा नियोजक को निर्धारित या दी हुयी मजदूरी स्वीकृत होनी है। चित्र स० 128 म PNR वह मजदूरी है जो उद्योग द्वारा निर्धारित कर दी गयी है। यही मजदूरी फर्म के लिए निर्धारित या प्रचलित मजदूरी है। फर्म के लिए इसको स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नही है। उत्पादन इकाइयो फर्मों या नियोजकों की सख्या अधिक तथा उनके व्यवसाय का आकार छोटा होने के कारण उनके द्वारा श्रम की कुल पूर्ति का थोडा सा ही भाग प्रयुक्त किया जाता है। ऐसी स्थिति म मजदूरी की दर अपरिवर्तित रहती है क्योकि उनकी अलग अलग तथा स्वतन्त्र प्रतियोगी का श्रम बाजार पर कोई प्रभाव नही पडता। अत प्रत्येक फर्म द्वारा एक दी हुयी मजदूरी स्वीकार कर लिये जाने पर मजदूरी–रेखा (Wage line) NN

आधार रेखा OX के समानान्तर होती है, जैसा कि चित्र 129 मे दिखलाया गया है। मजदूरी रेखा यह व्यक्त करती है कि श्रम की औसत लागत (मजदूरी उसकी सीमान्त लागत (मजदूरी) के बराबर होती है (Average Cost or Wage of



चित्र सख्या 129

Labour (A W)=Marginal Cost (or Wage of Labour) यह इस मान्यता को स्पष्ट करती है कि पूर्ण स्पर्द्धा म मजदूरी की दर सीमान्त उत्पादन के मूल्य के बराबर होनी चाहिए।

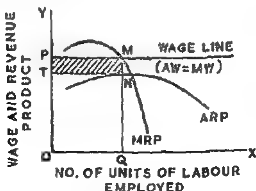
जिस प्रकार पूर्ण प्रति स्पर्धा के अन्तर्गत किसी वस्तु का मूल्य दीर्घ-काल मे उत्पादन के औसत एव सीमान्त लागत के बराबर होनी है, उसी प्रकार श्रम का

मूल्य (अथवा श्रम की मजदूरी) पूर्ण प्रति-स्पर्धा की दशाओं मे दीर्घ-काल मे किसी फर्म के लिए श्रम के औसत तथा सीमान्त आय उत्पाद के बराबर होता है। मान लीजिए कि कोई व्यक्ति फर्म अपने लाभ को अधिकतम करना अथवा अपनी हानि को कम से कम करना चाहता है। ऐसी स्थिति मे वह उस बिन्दु तक श्रम की अतिरिक्त इकाइयो का प्रयोग करता रहेगा जिस बिन्दु पर श्रम की सीमान्त लागत (अर्थात् सीमान्त मजदूरी) श्रम के सीमान्त आय उत्पाद (MRP) के बराबर हो जाती है। यदि फर्म उस बिन्दु के उपरान्त भी श्रम की अतिरिक्त इकाइयो का प्रयोग करता है तो श्रम की सीमान्त लागत (सीमान्त मजदूरी) श्रम के MRP से अधिक हो जायेगी और फर्म को हानि होने लगेगी। इसके विपरीत, यदि फर्म उस बिन्दु के पहले ही श्रम की अतिरिक्त इकाइयो का प्रयोग रोक देता है तो श्रम का MRP श्रम की सीमान्त लागत (सीमान्त मजदूरी) से अधिक होगा और ऐसी स्थिति मे फर्म अधिकतम लाभ प्राप्त नही कर सकेगी। अतः फर्म अतिरिक्त इकाइयों के प्रयोग को उस बिन्दु पर रोक देगा जिस पर श्रम की MC=श्रम के MRP फर्म के सतुलन के लिए सीमान्त मजदूरी (MW) का श्रम के सीमान्त आय उत्पाद (MRP) के बराबर होना एक अनिवार्य शर्त है।

श्रम की औसत लागत या औसत मजदूरी तथा औसत आय उत्पाद का संबध -

श्रम की औसत मजदूरी तथा उसके औसत आय उत्पाद में तीन निम्न प्रकार के सम्बन्ध हो सकते है।

(1) श्रम के औसत आय उत्पाद से औसत मजदूरी अधिक होने पर : फर्म को अतिरिक्त श्रम प्रयोग करने पर हानि होगी जैसा कि चित्र130 प्रदर्शित किया गया है।

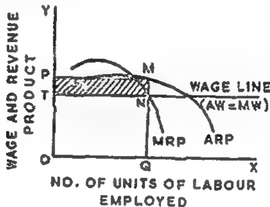


चित्र सख्या 130

चित्र मे फर्म उस समय सतुलन की स्थिति मे है जबकि वह श्रम की OQ इकाइया प्रयोग मे लाती है, क्योकि रोजगार या प्रयोग के इस स्तर पर सीमान्त

मजदूरी MQ श्रम के MRP (MQ) के बराबर है। परन्तु प्रयोग के इस स्तर पर औसत मजदूरी MQ श्रम के औसत आय उत्पाद NQ से अधिक है। अतः इस स्थिति मे फर्म को श्रम की OM इकाइयों प्रयोग मे लाने पर PTNM के बराबर शुद्ध हानि उठानी पड़ती है।

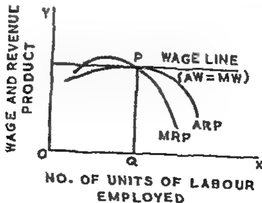
(ii) औसत मजदूरी श्रम के सीमान्त आय उत्पाद से कम होने पर : इस स्थिति मे, जैसा कि चित्र संख्या 131 मे प्रदर्शित किया गया है, फर्म को श्रम की



चित्र संख्या 131

OQ इकाइया प्रयोग मे लाने पर लाभ प्राप्त होगा। इस चित्र मे श्रम का सीमान्त आय उत्पाद MQ औसत मजदूरी NQ से MN मात्रा तक अधिक है। अतः फर्म PTNM के बराबर शुद्ध लाभ अर्जित करता है।

(iii) औसत मजदूरी के श्रम के औसत आय उत्पाद के बराबर होने पर : इस स्थिति मे फर्म को श्रम का प्रयोग करने पर न लाभ होगा, न हानि। चित्र स०



चित्र संख्या 132

132 में श्रम का सीमान्त आय उत्पाद PQ=औसत मजदूरी PQ के, जबकि फर्म श्रम की OQ इकाइयां प्रयोग में लाता है। अतः फर्म को न तो लाभ होता है और न ही हानि।

अल्प काल में फर्म इन तीनों स्थितियों में किसी भी स्थिति से गुजर सकती है। उसे हानि भी हो सकती है, या वह लाभ अर्जित कर सकती है अथवा वह ऐसी स्थिति से भी गुजर सकती है जिसमें उसे न तो लाभ होता है और न हानि ही। परन्तु दीर्घकाल में प्रथम दो स्थितियां सम्भव नहीं हैं। केवल तीसरी स्थिति ही सम्भव है जिसमें फर्म को न तो लाभ होता है और न हानि ही।

आलोचना : इस सिद्धान्त में कई दोष हैं। यह बाजार के वास्तविक वातावरण की उपेक्षा करता है, क्योंकि जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, पूर्ण स्पर्द्धा की सभी दशाएं न तो पूर्णतया पायी ही जाती हैं और न ही विभिन्न श्रम इकाइयों में एकरूपता पायी जाती है। कुछ श्रमिक अधिक कुशल होते हैं, तो कुछ श्रमिक कम कुशल, योग्यता तथा कुशलता के आधार पर सभी श्रमिकों में कुछ न कुछ असमानता रहती ही है। इसके अतिरिक्त केन्स के 'रोजगार सिद्धान्त' के अनुसार श्रम की माग आंशिक रूप से आय स्तर पर निर्भर है और आय स्तर भी अंशतः रोजगार स्तर पर निर्भर है। वस्तुतः रोजगार स्तर कई परिवर्तनशील तत्वों (Variables) में से एक ऐसा तत्व है जो श्रम की माग तथा पूर्ति द्वारा निर्धारित किया जाता है। अतः मजदूरी निर्धारण को उन विभिन्न परिवर्तनशील तत्वों से अलग नहीं किया जा सकता जो रोजगार तथा आय के स्तर को निर्धारित करते हैं।

अपूर्ण स्पर्द्धा के अन्तर्गत मजदूरी निर्धारण
(Wages under Imperfect Competition)

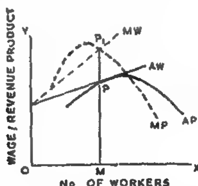
मजदूरी की सीमान्त उत्पादकता का सिद्धान्त केवल पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति में ही उचित ठहरता है। परन्तु पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति प्रायः पायी ही नहीं जाती। शायद ही कुछ ऐसे श्रम बाजार हों जहां श्रम की माग करने वाली उत्पादन इकाइयों की संख्या अधिक हो और उनका आकार छोटा हो तथा वे स्वतन्त्र रूप से असंगठित श्रमिकों को नियुक्त करती हों। आजकल उत्पादक इकाइयां अधिकतर बड़े आकार की होती हैं अथवा छोटी इकाइयां पूर्णतया संगठित होती हैं। श्रमिक भी स्वतन्त्र रूप से श्रम-बाजार में श्रम की पूर्ति नहीं करते। वे भी श्रम संघों (Labour or Trade Unions) के रूप में संगठित होते हैं। वे श्रम संघ ही श्रम की पूर्ति करते हैं। इस प्रकार की स्थिति अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति कहलाती है। श्रम-बाजार में अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की निम्नलिखित विशेषताएं हैं :

(i) नियोजकों की संख्या बहुत ही कम होती है। नियोजक भी पूर्णतया

सगठित होते हैं। उनमे श्रमिको को नियुक्त करने के लिए प्रतिस्पर्धा नही होती। (ii) नियोजको या फर्मों का आकार बडा होता है। (iii) श्रमिक वर्ग भी सगठित होता है तथा श्रम सघ नियोजको के सघो से सौदा करने (bargaining) मे समर्थ होता है। (iv) श्रमिक मे अत्यधिक गतिशीलता नही पायी जाती।

इन विशेषताओ से युक्त श्रम बाजार मे अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की दो स्थितियाँ पायी जाती है (i) जब मजदूरी निर्धारण म सगठित नियोजको की सौदा शक्ति (bargaining power) सबल होती है तब ऐसी स्थिति को क्रेता एकाधिकार की स्थिति (monopsony) कहते हैं (ii) इसके विपरीत जब श्रम सघ की सौदा-शक्ति अधिक सबल होती है और ये श्रम-सघ ही एकाधिकारी की तरह श्रम की पूर्ति नियन्त्रित करते है, तब ऐसी स्थिति को एकाधिकार की तरह नियन्त्रण (monopolistic control) की स्थिति कहा जाता है।

श्रम-बाजार मे अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति होने पर सीमान्त मजदूरी तथा औसत मजदूरी की रेखायें आपस मे नही मिलती। (जैसा कि चित्र स० 133 मे AWतथा MW रेखाओ से स्पष्ट है।) साम्य या सतुलन की दशाओ (conditions of equilibrium) मे सीमान्त मजदूरी तथा सीमान्त उत्पादन MP[1] के बराबर है और औसत मजदूरी व औसत उत्पादन MP के बराबर है क्योकि सीमान्त उत्पादन वक्र MP सीमान्त मजदूरी रेखा MW को P_1 पर काटता है तथा औसत उत्पादन-



चित्र सख्या 133

वक्र AW औसत मजदूरी रेखा AW को P बिन्दु पर काटता है। आधार रेखा OX पर P_1 से लम्ब PM खीचने पर यह ज्ञात होता है कि श्रम की पूर्ति OM मात्रा के बराबर है। OM रोजगार-स्तर पर औसत मजदूरी तथा औसत उत्पादन बराबर (MP) है, परन्तु सीमान्त मजदूरी तथा सीमान्त मजदूरी उनसे अधिक MP_1 के बराबर है। इससे यह स्पष्ट है कि औसत उत्पादन सीमान्त से कम

है अथवा औसत मजदूरी सीमान्त मजदूरी से कम है। नियोजक श्रमिकों को औसत मजदूरी से अधिक नहीं देना चाहेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि श्रम की उत्पादकता का मूल्य मजदूरी के बराबर नहीं होगा। जिस सीमा तक उनको सीमान्त उत्पादकता से कम मजदूरी मिलेगी, उस सीमा तक, यह कहा जा सकता है कि श्रमिकों का शोषण हो रहा है। उपर्युक्त चित्र में यदि श्रमिकों को औसत मजदूरी MP दी जा रही हो तो उनका शोषण $(P_1M-PM)=P_1P$ सीमा तक किया जा रहा है।

सामूहिक सौदेबाजी-सिद्धांत (Collective Bargaining Theory) :

वर्तमान युग अपूर्णता का युग है। यही कारण है कि पूर्ण स्पर्द्धा की स्थिति केवल काल्पनिक मानी जाती है। व्यावहारिक जीवन में भी यह देखने को मिलता है कि उत्पादक अपनी उत्पादित वस्तुओं के मूल्य स्वयं निर्धारित नहीं कर सकते। वस्तुतः वस्तुओं के मूल्य कई तत्वों से प्रभावित होते रहते हैं। इस आधार पर यह स्वीकार किया गया है कि श्रम-बाजार में श्रम का मूल्य भी परिवर्तनशील होता है। श्रम का मूल्य उसी स्थिति में अप्रभावित रह सकता है जबकि श्रमिक संगठित हों। सम्भवतः इस मान्यता के आधार पर ही श्रम संघों का संगठन किया गया था, जिनका उद्देश्य नियोक्ताओं से सौदेबाजी करके मजदूरी-दर को उनके वर्तमान स्तर से ऊंचा उठाना था। 'सौदेबाजी' शब्द इस तथ्य का संकेत करता है कि 'सौदेबाजी का सिद्धान्त' स्वयं में मजदूरी निर्धारण का सिद्धांत नहीं है, वह केवल दो पक्षों के मध्य संघर्ष को समाप्त करके कुछ समय के लिये मजदूरी तय करने में सहायक होता है। यह इस तथ्य की ओर भी संकेत करता है कि 'सौदेबाजी का सिद्धांत श्रमिकों के किसी एक वर्ग-विशेष पर, न कि सम्पूर्ण श्रम-बाजार पर लागू होता है। अतः मजदूरी निर्धारण के स्पष्टीकरण में श्रम और पूर्ति के तत्वों का कोई सम्बन्ध नहीं होता। व्यावहारिक रूप में इस सिद्धान्त के अन्तर्गत मजदूरी-निर्धारण करने में मनोवैज्ञानिक, राजनैतिक आर्थिक तथा कई अदृश्य तत्वों के आधार पर ही मजदूरी निर्धारित की जाती है।

इस प्रकार मौद्रिक मजदूरी दरें तथा रोजगार की दशाएं श्रम संघों तथा नियोक्ता संघों के मध्य पारस्परिक समझौते के द्वारा तय की जाती हैं। यह विधि ही 'सामूहिक सौदेबाजी (Collective Bargaining) की विधि है। इस विधि से नियोक्ता को यह लाभ होता है कि उसके प्रतिस्पर्द्धियों द्वारा मजदूरी में कमी किए जाने की नीति नहीं अपनायी जाती।

मजदूरी तथा श्रम-संघ (Wages and Trade Unions) :

व्यवहार में प्रतिस्पर्द्धात्मक दशाएं नहीं पायी जाती तथा श्रम संघ मजदूरी की दरों को प्रभावित करने में सफल होते हैं। श्रम संघों का मूल लक्ष्य यह है कि

श्रमिको की मोल करने की क्षमता नियोक्ता की तुलना मे सबल हो, ताकि श्रमिको को उत्पादन का उचित अंश और काय की अच्छी दशाए प्राप्त हो सकें। अपने साथ के श्रमिको मे किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित किए बिना, कोई श्रमिक या निश्चित रूप से अपने नियोक्ता की तुलना मे सौदा करने की स्थिति मे नही रहता। पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति मे श्रम का उसके सीमांत उत्पादन मूल्य के बराबर मजदूरी प्राप्त होती है तथा अनुचित मोल करने का प्रश्न ही नही उठता, किन्तु व्यवहार म इस बात का आश्वासन नही है कि श्रम को उसके सीमांत उत्पादन मूल्य (MVP) के बराबर मजदूरी मिलेगी ही। शायद यह भी सम्भव नही है कि व्यवहार मे सीमांत उत्पादन की माप ठीक ठीक की जा सके। साथ ही एक उद्योग से दूसरे उद्योग मे श्रमिको की गतिशीलता की माप मे भी बहुत कठिनाइया आती है जिनके कारण सीमान्त उत्पादन तथा आय मे बहुत बडी असमानता पायी जाती है। किसी परिस्थिति मे यदि सभी नियोक्ता अपने श्रमिको को उनकी सीमान्त उत्पादन से कम मजदूरी देते है तो पूर्ण गतिशीलता की माप करने मे वह मजदूरी अपूर्ण सिद्ध होगी। अत किसी उद्योग मे मजदूरी का स्तर क्या होगा ? इस प्रश्न का सम्बन्ध नियोक्ता तथा श्रमिको की सौदा करने की शक्ति पर निर्भर होगी। यहा श्रमिक संघो का मुख्य लक्ष्य इस बात को सुरक्षित करना है कि सामूहिक रूप से श्रमिको की मोल करने की क्षमता कम से कम नियोक्ता की क्षमता के बराबर हो। वास्तव मे श्रम संघ श्रम की माग व पूर्ति दोनो पक्षो को ध्यान मे रखकर मजदूरी निर्धारण मे सहायक होते है जिसमे न तो उत्पादको को अधिक मजदूरी के कारण श्रमिको को हटाना पड और न ही श्रमिको को इतनी कम मजदूरी मिले कि वह उनके जीवन-निर्वाह के लिए भी पर्याप्त न हो। इस प्रकार एक तरफ बेरोजगारी तथा दूसरी तरफ हडताल आदि की सम्भावनाओ का दूर करने मे श्रम संघ सहायक होते हैं। बहुत सी परिस्थितियो मे श्रम संघो ने पूर्ण सफलता के साथ इन लक्ष्यों को प्राप्त किया है तथा नियोक्ताओ को मजदूरी निर्धारण के लिये सामूहिक सौदेबाजी के माध्यम को अपनाना पडा है॥

श्रम संघो की शक्ति इस तथ्य मे निहित है कि श्रम की पूर्ति मूल्य भी हो सकती है और ऐसा हडताल के द्वारा सम्भव है। किन्तु संघ की यह शक्ति इस बात पर निर्भर है कि पूरे उद्योग की श्रम शक्ति का कितना भाग श्रम संघ का सदस्य है, इसके सदस्यो मे अनुशासन तथा दृढता कितनी है ? वित्तीय कोष की मात्रा तथा इसके नेताओ की योग्यता क्या है ?

श्रम संघो के काय श्रम संघ मजदूरो की संगठित शक्ति का प्रतीक है। वह उनके व्यक्तित्व का विकास करता है तथा उनकी शक्ति को संगठित करके उन्हे सशक्त बनाता है। वह श्रमिको के उचित हितो की रक्षा करता है,

उनकी संघर्ष शक्ति बढ़ाकर उन्हें नियोजकों से आवश्यक सुविधायें दिलाता है। इनके अतिरिक्त मजदूरी निर्धारण एवं वृद्धि में उसके महत्वपूर्ण कार्य निम्नलिखित हैं :—

(1) सीमान्त उत्पादकता के बराबर मजदूरी में वृद्धि अपूर्ण प्रतियोगिता में जब श्रमिकों को उनकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर मजदूरी नहीं मिलती तथा उनका शोषण किया जाता है तब श्रम-संघ अपनी सौदा शक्ति के बल पर मजदूरी-वृद्धि के लिए प्रयत्न करते हैं।

(2) श्रमिकों की उत्पादकता में वृद्धि : श्रमिकों की उत्पादन क्षमता को बढ़ाने में श्रम-संघ का विशेष स्थान माना जाता है। वे श्रमिकों की कार्य क्षमता बढ़ाने की दिशा में श्रमिकों को प्रोत्साहित करने के साथ ही साथ उत्पादकों एवं नियोजकों को श्रमिकों की कार्य दशाओं में तथा आधुनिकतम तकनीकी विधियों को अपनाने के लिए बाध्य करता है। वह स्वयं भी श्रमिकों की भलाई के लिए कई कल्याणकारी कार्य करता है।

श्रम संघ की शक्ति की सीमाएं श्रमिक संघ चाहे कितना भी सबल हो, उसके सदस्यों की मजदूरी में वृद्धि एक सीमा तक ही सम्भव है।

(i) बेरोजगारी की स्थिति दूसरा कारण यह है कि नियोक्ता के सम्मुख एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि मजदूरी में और वृद्धि होने पर श्रमिकों को नियुक्त करना लाभदायक नहीं होता। अगर श्रम-संघ इस बिन्दु के बाद भी वृद्धि करने का प्रयत्न करता है तो बेरोजगारी की स्थिति उत्पन्न हो सकती है, जिसके परिणामस्वरूप श्रम संघ को अपनी माग में परिवर्तन करना पड़ेगा। साथ ही यहाँ हमें अधिक मजदूरी की उत्पादकता का भी ध्यान रखना चाहिये।

(ii) अन्य साधनों को प्रतिस्थापना श्रम-संघ को इस तथ्य पर भी ध्यान देना पड़ता है कि किसी उद्योग में श्रम की तुलना में अन्य साधनों को कितने सुविधा-पूर्वक प्रतिस्थापित किया जा सकता है। मजदूरी में वृद्धि के साथ यह सम्भव है कि उत्पादक कम श्रमिकों को काम पर लगाये, क्योंकि अन्य साधन अपेक्षाकृत सस्ते हो जाते हैं। अधिक सीमा तक यह उद्योग से सम्बन्धित इन वैकल्पिक साधनों की पूर्ति की लोच पर निर्भर करेगा। उदाहरणस्वरूप, यदि पूंजी बहुत ही विशिष्ट प्रकार की है तो यह सम्भव नहीं होगा कि बिना किसी विलम्ब तथा मूल्य-परिवर्तन के शीघ्र ही श्रम का पूंजी द्वारा प्रतिस्थापन हो सके। उद्योग में प्रतिस्थापन की लोच जितनी ही अधिक होगी मजदूरी की दर वृद्धि कराने में श्रम-संघ की शक्ति उतनी ही कम होगी।

(iii) वस्तु की माग की लोच : श्रम संघ की शक्ति स्वयं वस्तु की माग की लोच पर भी निर्भर करेगी। यदि माग बेलोच है तो उत्पादक मजदूरी की वृद्धि को,

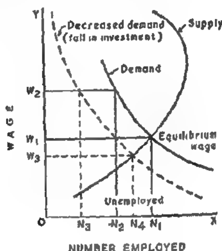
अधिक मूल्य के रूप मे, बिना बिक्री पर बुरा प्रभाव डाले उपभोक्ताओ पर टाल सकता है। इस स्थिति मे उत्पादक श्रम-सघ की माग का ज्यादा विरोध भी नही करेगा, किन्तु ठीक इसके विपरीत, यदि उत्पादक की वस्तु की माग लोचपूर्ण है तो मूल्य मे वृद्धि के साथ ही मात्रा मे कमी होगी। अतः उत्पादक मजदूरी मे वृद्धि की माग का तीव्र विरोध करेगा।

निष्कर्ष यह है कि चाहे श्रम सघ कितना ही सबल क्यो न हो, एक ऐसा बिन्दु आ जायेगा जिसके बाद मजदूरी मे वृद्धि इसके सदस्यो मे बेरोजगारी लाये बिना सम्भव नही है। सघ का कोई भी उत्तरदायी नेता ऐसा खतरा लेने को तैयार नही होगा।

श्रम सघ तथा सौदेबाजी (Trade unions and Bargaining) : श्रम सघो के सगठन से, श्रम के नेताओ के अधिकार या शक्ति (monopsonist power) नष्ट हो जाती है या काफी अशो तक कम हो जाती है। श्रम सघो की शक्ति बढने से एक प्रकार से द्विपक्षीय एकाधिकार (Bilateral monopoly) की स्थिति हो जाती है। श्रम सघ न्यूनतम मजदूरी से अधिक मजदूरी की माग करते हैं। इसी प्रकार मालिक भी एक निश्चित सीमा के ऊपर मजदूरी बढाना नही चाहते हैं, तथा उस सीमा से कम मजदूरी देना चाहते है। वस्तुत इन दोनो सीमाओ (श्रम सघ द्वारा मांगी गई न्यूनतम मजदूरी तथा मालिको द्वारा दी गई अधिकतम मजदूरी) के बीच, सौदेबाजी द्वारा मजदूरी दर का निर्धारण होता है।

श्रम सघो की सौदेबाजी की क्षमता सामान्यतया मालिको की तुलना मे कम होती है क्योकि (i) श्रमिक सम्पत्तिहीन होते है (ii) उनकी गतिशीलता कम होती है तथा (iii) साधनो पर श्रमिको का अधिकार नही होता है। सौदेबाजी की स्थिति पर चित्र स 134 द्वारा प्रकाश पडता है। चित्र मे पूर्तिवक्र व्यक्तिगत श्रमिक के पूर्ति वक्रो का योग है तथा माग वक्र व्यक्तिगत फर्मो के सीमात उत्पादकता वक्रो का योग है। OW_1 साम्य-मजदूरी है। इस मजदूरी पर ON_1 श्रमिक रोजगार मे हैं। यदि श्रम सघ मजदूरी दर को बढाकर OW_2 करने मे सफल हो जाए तो रोजगार घटकर ON_2 हो जाएगा तथा बेरोजगारी मे वृद्धि होगी। कुछ समय पश्चात् यह सम्भव है कि श्रम की पूर्ति कम हो जाए तथा बेरोजगार की मात्रा इतनी कम हो जाए कि मजदूरी के पुनः घटने की सम्भावना ही न रह जाए। श्रम सघ बेरोजगारी को बर्दाश्त करेगे क्योकि इसमे उद्योग मे विनियोग बढेगा तथा बाद मे बेरोजगारी समाप्त हो जाएगी, परन्तु यदि प्रारम्भ मे ही श्रम सघ कम मजदूरी पर सहमत हो गए हो तो विनियोग बढने पर वे अधिक मजदूरी के लिए सघर्ष करेंगे।

परन्तु यदि विनियोग घट जाए, जैसा कि चित्र में घटे हुए माग वक्र द्वारा दर्शाया गया है तो रोजगार घटकर ON_3 हो जाएगा। श्रमिक बेरोजगारी के कारण मजदूरी घटकर OW_3 के आसपास हो जाएगी। जोकि पहले की साम्य मजदरी OW_1 से कम होगी।



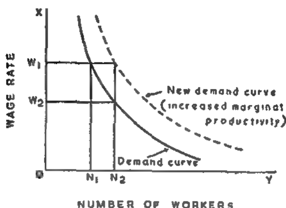
चित्र सख्या 134

इस प्रकार श्रम सघो की सौदेबाजी की क्षमता, मालिको की तुलना से कम होती है। श्रम की सौदेबाजी की शक्ति केवल 'श्रम बाजार' पर ही नही बल्कि मालिकों के वस्तु बाजार' पर भी निर्भर है। यदि मालिक कच्चा माल खरीदने की स्थिति में monoposonist है तथा उत्पादित-वस्तु बेचने की स्थिति मे एकाधिकारी (monopolist) है, तो वह कच्चे माल के लिए कम कीमत देकर तथा उपभोक्ताओं से वस्तु की अधिक कीमत वसूल कर, बढी हुई मजदूरी के प्रभाव को दूर कर सकता है। इस प्रकार बढाई गई मजदूरी से एक वर्ग को लाभ, तथा दूसरे वर्ग को हानि होती है। इस विधि द्वारा मजदूरी-दरो मे सामान्यतया वृद्धि नही की जा सकती है।

ऊची मजदूरी की अर्थ व्यवस्था (The Economy of high wages)। चित्र स० 135 द्वारा ऊची मजदूरी के परिणाम पर प्रकाश पडता है। यदि मजदूरी की दर OW_2 है तो ON_2 श्रमिक काम पर लगाए गए हैं। यदि मजदूरी बढाकर OW_1 कर दी जाए तो काम मे लगे हुए श्रमिको की सख्या घटानी पडेगी तथा केवल ON_1 श्रमिक काम पर लगाए जाएगे।

परन्तु यह कहा जा सकता है कि मजदूरी ऊची होने से श्रमिको के जीवन-स्तर मे सुधार होगा, इस प्रकार उनकी उत्पादकता मे वृद्धि होगी तथा माग वक्र

दाहिनी तरफ खिसकेगा इस प्रकार OW_1 साम्य-मजदूरी हो जाएगी तथा इस मजदूरी पर ON_2 श्रमिकों को रोजगार मिलेगा। इस प्रकार मजदूरी बढ़ने पर प्रारम्भ



चित्र संख्या 135

मे श्रमिकों की संख्या मे कमी होती है, परन्तु बाद मे यह कमी पूरी हो जाती है, क्योंकि श्रमिकों की उत्पादकता बढ़ने से उनकी माग बढ जाती है।

प्रश्न व संकेत

1 मजदूरी के आधुनिक सिद्धान्त की विवेचना करिए।
(Ravishankar, B A Final 1965)

[संकेत—मजदूरी के आधुनिक सिद्धान्त की व्याख्या करने हेतु यथास्थान चित्र देते हुए 'उद्योग' तथा "व्यक्तिगत' 'फर्म' दोनो के सम्बन्ध मे मजदूरी के निर्धारण को समझाइये।]

2. मजदूरी के सीमात उत्पादकता सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या करिए।
(Raj B A 1964)

[संकेत—मजदूरी के सीमान्त उत्पादकता सिद्धात को स्पष्ट करिए और उसकी सीमाओ को समझाइये।]

3, 'यदि मजदूरी का निर्धारण श्रम की सीमात उत्पादकता द्वारा होता है तो श्रमिक सघ अनावश्यक है।" इस कथन की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।
(Raj. M. Com, 1969)

[संकेत—पहले सीमात उत्पादकता सिद्धात के अनुसार मजदूरी का निर्धारण समझाइये तथा बाद मे सक्षेप मे श्रम-सघो द्वारा मजदूरी को प्रभावित करने की दशाओ का वर्णन करते हुए उपरोक्त कथन पर टिप्पणी दीजिए।]

36

ब्याज
(Interest)

"Interest is simply a bourgeois device for exploitation"
—Karl Marx

पूँजी की सेवाओं के बदले में पूँजी के स्वामी को दिए गए पुरस्कार को ब्याज कहते हैं। साधारण बोल चाल की भाषा में ऋणी द्वारा मूलधन के अतिरिक्त, धनी को किए गए भुगतान को ब्याज कहते हैं। अर्थशास्त्र में इसे 'कुल ब्याज' कहते हैं। अर्थशास्त्र में ब्याज दो प्रकार का माना गया है—'शुद्ध ब्याज' तथा कुल ब्याज'।

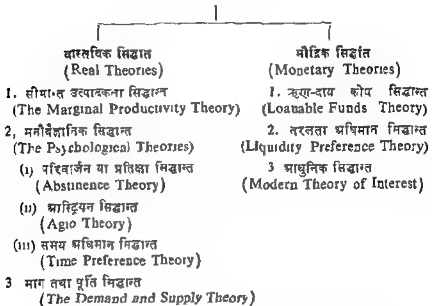
1. शुद्ध या वास्तविक ब्याज (Net Interest) : शुद्ध ब्याज उस ब्याज को कहते हैं जिसमें केवल पूँजी का प्रतिफल सम्मिलित होता है।

2. कुल ब्याज (Gross Interest) : कुल ब्याज के अन्तर्गत शुद्ध ब्याज, जोखिम उठाने के लिए किया गया भुगतान, धनी के अन्य व्ययों का अंश, तथा धनी की असुविधाओं के बदले किया गया भुगतान सम्मिलित किया जाता है। जब पूँजीपति पूँजी लगाता है तो उसे कुछ जोखिम वहन करने पड़ते हैं। इस जोखिम के बदले में उसे प्रतिफल प्राप्त होना चाहिए। मार्शल ने दो प्रकार के जोखिमों का उल्लेख किया है। (1) व्यापारिक जोखिम (Trade Risks) जो जोखिम वस्तुओं का मूल्य गिर जाने या मन्दी के कारण उठाना पड़ता है, उसे व्यापारिक जोखिम कहते हैं। जोखिम का अंश अधिक होने पर ब्याज की दर ऊंची होती है। (ii) व्यक्तिगत जोखिम (Personal Risk) इसका सम्बन्ध ऋणी की स्थिति से है; हो सकता है ऋणी ऋण को वापस न करे। अतः इस जोखिम के लिए भी धनी प्रतिफल प्राप्त करना चाहता है। ये दोनों प्रकार के जोखिम व्यक्ति से सम्बन्धित होते हैं, अतः कुल ब्याज की दरों में विभिन्नता पाया जाना स्वाभाविक ही है। जोखिम उठाने के अतिरिक्त, ऋण को वसूल करने तथा हिसाब-किताब रखने के लिए भी, ऋण दाता को खर्च करना पड़ता है, अतः वह ब्याज के रूप में इन व्ययों को भी प्राप्त करना चाहता है। इस प्रकार :

कुल ब्याज=जोखिम उठाने का प्रतिफल+ऋण सम्बन्धी व्यय+शुद्ध ब्याज

ब्याज निर्धारण के सिद्धान्त (Theories of Interest Determination)

ब्याज दर का निर्धारण किस प्रकार किया जाता है ? इसके सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों ने कई सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। उन सिद्धान्तों को हम सरलता की दृष्टि से निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकृत कर सकते हैं :



ब्याज-निर्धारण के वास्तविक सिद्धान्त, ब्याज को पूँजी से प्राप्त आय के रूप मे देखते है। वास्तविक सिद्धान्तों के अन्तर्गत ब्याज का सम्बन्ध कतिपय वास्तविक घटकों—पूंजी की उत्पादकता, प्रतीक्षा तथा समय अधिमान से जोड़ा गया है। 'वास्तविक सिद्धान्त' ब्याज के पुराने सिद्धान्त है। इनके विपरीत ब्याज निर्धारण के मौद्रिक सिद्धान्त अपेक्षाकृत नवीन हैं। इन सिद्धान्तों के अन्तर्गत ब्याज विभिन्न मौद्रिक परिस्थितियों का परिणाम माना जाता है। अब हम ब्याज के उपर्युक्त सिद्धान्तों मे से सीमांत उत्पादकता सिद्धान्त, तथा ब्याज सम्बन्धी तीनों मौद्रिक सिद्धान्तों पर प्रकाश डालेंगे।

1. ब्याज का सीमांत उत्पादकता सिद्धांत
(The Marginal Productivity Theory of Interest)

(i) सिद्धान्त की व्याख्या : यह सिद्धान्त जे० बी० क्लार्क तथा विकस्टीड के वितरण सम्बन्धी सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त पर आधारित है। सर्व प्रथम

लाडरडेल (Lauderdale) ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया। इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज की दर का निर्धारण पूजी की सीमान्त उत्पादकता द्वारा होता है। पूँजी के प्रयोग द्वारा उत्पादन में वृद्धि होती है। अतः पूँजी की माग उत्पादन वृद्धि के लिए की जाती है। ज्यों ज्यों पूजी की अधिकाधिक मात्रा उधार ली जाती है, पूजी का माग मूल्य कम होता जाता है, क्योंकि अधिक मात्रा में पूजी का प्रयोग करने से उसकी क्रमागत इकाइयों की उत्पादकता 'सीमान्त उत्पादकता ह्रास नियम' के अनुसार घटती जाती है। ब्याज दर की प्रवृत्ति पूजी की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होने की होती है। यदि ब्याज दर पूजी की सीमान्त उत्पादकता से कम है तो अधिक पूजी का प्रयोग किया जाएगा इस प्रकार पूजी की माग बढ़ेगी तथा पूजी की सीमान्त उत्पादकता कम होगी। अतः ब्याज दर तथा सीमान्त उत्पादकता समान हो जाएगी। इसके विपरीत यदि ब्याज दर पूजी की सीमान्त उत्पादकता से अधिक हो तो कम पूजी का प्रयोग किया जाएगा। इससे पूजी की सीमान्त उत्पादकता बढ़ेगी तथा उसकी माग कम होगी। अतः ब्याज दर, पूजी की सीमान्त उत्पादकता के बराबर हो जाएगी अतः निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि साम्य की अवस्था में, दीर्घकाल में, ब्याज पूजी की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होगा।

पूजी की माग . पूंजीगत सम्पत्तियों की माग क्यों होती है? इसका उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है, "इनकी माग इसलिए की जाती है कि ये उपभोग वस्तुओं के उत्पादन के लिए प्रयोग में लाई जाती हैं—अन्य साधनों की तरह उनकी भी आय उत्पत्ति (revenue product) होती है।" पूजीगत सम्पत्ति का सीमान्त उत्पादकता वक्र खींचा जा सकता है। एक उपक्रमी इस बात का अनुमान लगा सकता है कि रोजगार के प्रत्येक स्तर पर उसके कुल आगम में कितनी वृद्धि होगी।

पूजीगत वस्तु की सीमान्त उत्पादकता ज्ञात करने में दो कठिनाइयां आती हैं। उपक्रमी को सम्पत्ति (मान लीजिए मशीन) की वर्तमान नहीं, बल्कि भावी उत्पादकता के विषय में अनुमान लगाना पड़ता है। इस भावी उत्पादकता को future yield कह सकते हैं। 1. सम्पत्ति (मशीन को) से सुचारु रूप से काम लेने के लिए बराबर कुछ खर्च करना पड़ता है।

मशीन खरीदते समय इन दोनों बातों को ध्यान में रखा जाता है। मशीन उसी अवस्था में खरीदी जाएगी जबकि मशीन की आय उत्पत्ति (revenue product) कम से कम (i) मशीन की लागत + (ii) लागत पर बाजार दर से आंके गए ब्याज के बराबर हो। यदि मशीन की आय उत्पत्ति इन दोनों के योग से कम है तो मशीन नहीं खरीदी जाएगी। अतः यह कहा जा सकता है कि एक उपक्रमी जो किसी मशीन को खरीदना चाहता है, सर्व प्रथम वह मशीन से होने वाली भावी प्राप्ति (Future

yield) पर विचार करता है। भावी प्राप्ति का अनुमान मशीन के कार्य काल या आयु तथा उसमे प्राप्त होने वाली आय उत्पादन के आधार पर किया जा सकता है अर्थात् मशीन के सम्पूर्ण कार्यकाल की सभी आयो को जोड़ा जाएगा। द्वितीय वह मशीन की लागत तथा तृतीय मशीन को खरीदने के लिए उधार ली गई रकम पर दिए जाने वाले ब्याज का भी ध्यान मे रक्खेगा।

इसके पश्चात् (i) उपक्रमी मशीन की विशुद्ध भावी प्राप्ति, (Net Future yield), (मशीन का लागत को घटा कर) की तुलना मशीन खरीदने के लिए उधार ली गई राशि पर दिए जाने वाले ब्याज से करेगा। या (ii) वह मशीन की लागत की तुलना मशीन से प्राप्त होने वाली राशियो की बट्टा कटी हुई कीमत (Discounted value of its prospective yield) अर्थात् वर्तमान मूल्य (Present Value) से करेगा। इन दोनो ही विधियो द्वारा वह इस निर्णय पर पहुचेगा कि मशीन खरीदी जाए या नही खरीदी जाए। **यदि मशीन की विशुद्ध भावी प्राप्तियो के कुल योग मे से मशीन की लागत घटाने पर जो कुछ शेष बचता है वह मशीन को खरीदने के लिए उधार ली गई पूजी के ब्याज से अधिक है तो मशीन खरीदी जाएगी या यदि बट्टा कटी हुई विशुद्ध भावी प्राप्ति मशीन की लागत से अधिक है तो भी मशीन खरीदी जाएगी।**

इसके विपरीत यदि ऋण पर दिए जाने वाले ब्याज (तथा पूजी) की मात्रा मशीन की विशुद्ध भावी प्राप्ति से अधिक है या मशीन की लागत उसकी बट्टा काटी हुई विशुद्ध भावी प्राप्ति से अधिक है तो मशीन नही खरीदी जाएगी। उपक्रमी किसी भी परिसम्पत्ति (Assets) से प्राप्त होने वाले भावी प्रतिफल का अनुमान लगा सकता है। उसके उत्पादन की आशा इसकी किसी भी दी हुई इकाई से की जा सकती है ठीक उसी प्रकार से एक दी हुई किस्म की परिसम्पत्ति की विभिन्न मात्राओ से उद्यमकर्त्ता अथवा उद्योग को प्राप्त होने वाली आय का भी अनुमान लगाया जा सकता है। "अब हम जिस परिसम्पत्ति का विवेचन करते हैं उसका सीमान्त उत्पादकत्ता वक्र खीचा जा सकता है जो यह प्रकट करता है कि एक फर्म की परिसम्पत्ति के दिए गए स्टाक मे एक इकाई और बढा देने मे उसकी आय मे कितनी वृद्धि होती है।' (स्टानियर तथा हेग) यहा पर यह याद रखना चाहिए कि एक परिसम्पत्ति (मान लीजिए मशीन) की सीमान्त आय उत्पादकता तथा सीमान्त भावी प्राप्ति दोनो समान (एक ही) होते हैं। भावी प्राप्तियो के सबध मे यह याद रखना चाहिए कि (i) भावी प्राप्ति (Future yield) का निर्धारण उन प्रतिफलो द्वारा होता है जो एक अवधि विशेष मे प्राप्त होते हैं परन्तु प्रति इकाई समय (Per unit of time) के अनुसार प्राप्त होने वाले प्रतिफल सम न नही होते है (ii) भावी प्राप्तिया अनुमान पर आधारित होती हैं तथा उनके सम्बन्ध मे लगाए

गए अनुमान गलत सिद्ध हो सकते हैं। (iii) जिन परि सम्पत्तियो का जीवन काल अधिक होता है उन पर जीवन-काल वाली परि सम्पत्तियो की तुलना मे, ऊची दर से बट्टा काटा जाता है। क्योकि अधिक जीवनकाल वाली परि सम्पत्ति के लिए अधिक ब्याज देना पडता है (रकम ज्यादा समय के लिए उधार ली जाती है) अत विभिन्न जीवन काल वाली परि सम्पत्तियो की सीमान्त उत्पादकताओ या भावी प्राप्तियो की तुलना नही की जाती है, बल्कि बट्टा काटी हुई सीमान्त उत्पादकताओ अथवा बट्टा काटी हुई भावी प्राप्तियो की तुलना की जाती है।

किसी भी परि सम्पत्ति मे सम्बन्धित सीमान्त आय उत्पादकता वक्र (MRP) को उसका माग वक्र या बट्टा काटी हुई सीमान्त उत्पादकता वक्र कहा जा सकता है। यह वक्र प्रतिफलो के वर्तमान मूल्य को प्रकट करता है। यह वक्र लगभग सामान्य माग वक्र की भाति, बाए से दाहिनी ओर झुकता हुआ होता है। एक उपक्रमी, यदि एक प्रकार की मशीनो की सख्या मे एक मे वृद्धि करता है तो उसकी प्राप्ति कम होगी।

यदि बाजार म पूर्ण स्पर्द्धा की स्थिति है तो एक उपक्रमी के लिए साधन का पूर्ति वक्र एक क्षैतिज, सरल रेखा (Horizontal Straight line) के रूप मे होगा एक उपक्रमी, साधन की खरीद-मात्रा मे उस बिन्दु तक वृद्धि करता जाता है, जिस बिन्दु पर साधन की खरीदी गई अन्तिम इकाई की सीमान्त उत्पादकता (बट्टा काटने के पश्चात्), उस साधन की लागत के बराबर हो जाती है।

यदि साधन की कीमत दी हुई मान ली जाए तो ब्याज दर मे कमी होने पर उपक्रमी साधन की अधिक मात्रा खरीदेगा। क्योकि उधार लिए जाने वाले धन की लागत कम पडती है, अत भावी प्रतिफलो पर कम दर से बट्टा काटा जाएगा। ब्याज दर जितनी ही कम होगी, अन्य बातो के समान रहने पर, साधन की माग अधिक होती है। अत साधन का माग वक्र (अथवा साधन को खरीदने के लिए लिया गया उधार धन सम्बन्धी वक्र) नीचे की ओर झुकता हुआ होता है (बाई से दाहिनी ओर)।

मौद्रिक पूंजी की पूर्ति की दशाए : अब हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि साधनो व सम्पत्तियो को खरीदने के लिए, उधार दी जाने वाली राशि, ब्याज दर से किस प्रकार प्रभावित होती है ? यदि यह मान लिया जाए कि सम्पूर्ण बचत, उपक्रमियो को साधन तथा परिसम्पत्तियो को खरीदने के लिए उधार दे दी जाती है। जो लोग उधार देते हैं उन्हे वर्तमान उपभोग का त्याग करना पडता है। इस त्याग के बदले उन्हे कुछ प्रतिफल मिलना चाहिए। उधार देने वाला त्याग के साथ ही साथ जोखिम भी उठाता है (उधार दिए गए धन का लौटना अनिश्चित रहता है)। जोखिम अधिक होने पर उधार देने की तत्परता कम होती है। अतः समस्त

उद्योग के लिए उधार दिये जाने वाले कोष से सम्बन्धित पूर्ति-वक्र बनाया जाए तो ऐसा पूर्ति वक्र ऊपर की ओर उठता हुआ होगा। अधिक पूंजी उधार देने पर वर्तमान उपभोग का अधिक त्याग करना पड़ता है फलस्वरूप उधार देने वाले अधिक ब्याज लेना चाहते हैं। साथ ही साथ जब अधिक पूंजी की माग होती है तो ऐसे व्यक्तियों से भी उधार लेना पड़ता है जो जोखिम की चिंता अधिक करते हैं तथा वे ऊंची ब्याज पर ही उधार देने को तैयार होते हैं।

इस प्रकार ब्याज की वास्तविक दर उधार देय कोषों की नीचे झुकती हुई माग वक्र तथा ऐसे उधार देय कोषों की ऊपर उठती हुई पूर्ति वक्र के कटान बिन्दु (inter section point) पर होता है।

(ii) सिद्धान्त की आलोचना (1) एकांगी सिद्धांत ब्याज का सीमान्त उत्पादकता सिद्धांत एकांगी है। इस सिद्धांत में सम्पूर्ण ध्यान माग पक्ष पर ही केन्द्रित कर दिया गया है तथा पूर्तिपक्ष की उपेक्षा की गई है। ब्याज क्यों लिया जाता है? इस सम्बन्ध में यह सिद्धांत मौन है। यह सिद्धांत पूंजी के पूर्ति मूल्य की उपेक्षा करता है।

(2) केवल पूंजी की उत्पादकता ही ब्याज का कारण नहीं पूंजी की उत्पादकता विभिन्न व्यवसायों में अलग अलग होती है, परन्तु सामान्यतः शुद्ध ब्याज की दर एक होती है। अतः उत्पादकता को ब्याज दर का कारण नहीं माना जा सकता है। ब्याज दर केवल उत्पादकता ही नहीं, बल्कि पूंजी की पूर्ति, धनी ऋणी सम्बन्ध तथा मौद्रिक परिस्थितियों पर निर्भर हैं। उत्पादकता में वृद्धि कर ब्याज दर को ऊंचा नहीं उठाया जा सकता है। इस तथ्य के ऐतिहासिक प्रमाण हैं। आज कल पूंजी की उत्पादकता, प्राचीन काल की अपेक्षा बहुत बढ़ गई है परन्तु पहले से ब्याज की दरें कम है। फिशर ने भी यह मत व्यक्त किया है कि उत्पादकता में वृद्धि कर, ब्याज दर को ऊंचा नहीं उठाया जा सकता है।[1]

(3) उपभोग-सम्बन्धी ऋण : यदि ब्याज पूंजी की उत्पादकता पर निर्भर है तो उपभोग सम्बन्धी ऋणों पर ब्याज क्यों लिया जाता है? ब्याज का सम्बन्ध उत्पादकता से मान लेने पर अनुत्पादक ऋणों पर ब्याज नहीं लिया जाना चाहिए। परन्तु यह आलोचना उपयुक्त नहीं है क्योंकि पूंजी को 'अवसर लागत' उत्पादकता का ही प्रतीक है। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त में वे सभी दोष पाये जाते हैं जो वितरण के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त में पाए जाते हैं।

[1] "To raise the rate of interest by raising the productivity of capital is, therefore, like trying to raise one's self by one's boot traps." —*Fisher*

2. प्रतिष्ठित सिद्धान्त या 'माग पूर्ति सिद्धात'
(Classical Theory or Demand and Supply Theory)

इस सिद्धात के अनुसार ब्याज दर का निर्धारण 'माग विनियोग की माग' (Demand for Investment) तथा 'बचत की पूर्ति' (Supply of Saving) के सतुलन बिन्दु पर होता है। जिस प्रकार मूल्य का निर्धारण माग तथा पूर्ति के सतुलन बिन्दु पर होता है, उसी प्रकार ब्याज दर का निर्धारण 'विनियोग की माग, तथा 'बचत की पूर्ति' के सतुलन बिन्दु पर होता है। मार्शल, पीगू, वालरस आदि अर्थशास्त्री इस सिद्धात के प्रतिपादक माने जाते है।

1. **पूजी की पूर्ति :** पूजी की पूर्ति, समाज की बचत की मात्रा पर निर्भर है। पूजी दुर्लभ है अतः उसका पूर्ति मूल्य होता है। यदि ब्याज को दर शून्य है तो भी समाज द्वारा बचत की जाएगी परन्तु इस प्रकार की बचत की मात्रा अत्यल्प होगी। बचत के लिए ब्याज का प्रोत्साहन सामान्यतया आवश्यक होता है। सीमात बचत कर्त्ता (Marginal Saver) को वर्तमान सुख का त्याग करना पडता है, वर्तमान उपयोग को स्थागित करना पडता है, कष्ट सहना पडता है अत उसे इस त्याग के लिए पुरस्कार मिलना आवश्यक है। ब्याज दर तथा पूजी की पूर्ति मे फलन सम्बन्ध (Functional Relationship) है। अत ऊची ब्याज दर पर पूजी की पूर्ति अधिक होती है तथा कम ब्याज दर पर पूजी की पूर्ति कम होती है। ब्याज दर के अतिरिक्त व्यक्ति का दृष्टिकोण, आय स्तर, भविष्य मे सुरक्षा की आशा आदि भी पूजी की पूर्ति को प्रभावित करते है।

पूजी की माग पूजी की माग, उत्पादकों द्वारा, विनियोजन के लिए की जाती है। उत्पादक अधिक से अधिक लाभप्रद व्यवसाय मे पूजी का विनियोजन करना चाहता है। पूजी की माग उसकी उत्पादकता के कारण होती है, परन्तु पूजी की अधिकाधिक मात्रा का प्रयोग करने से, उसकी उत्पादकता, उत्तरोत्तर कम होती जाती है। उत्पादक पूजी का विनियोजन उस बिन्दु तक करता जाता है जिस पर पूजी की सीमात उत्पादकता ब्याज दर के बराबर होती है। ब्याज दर तथा माग मे भी सम्बन्ध है। ऊची ब्याज दर पर उत्पादक पूजी की कम माग करते हैं तथा कम ब्याज दर पर वे पूजी की अधिक माग करते है। पूजी की माग, पूजीगत वस्तुओ मे विनियोजन के लिए की जाती है इसलिए इसकी माग को विनियोग माग (Investment Demand) भी कहते हैं।

3. **ब्याज दर का निर्धारण** ब्याज दर का निर्धारण, उस बिन्दु पर होगा, जिस पर पूँजी की माग तथा पूँजी की पूर्ति मे सतुलन स्थापित होता है। सन्तुलन ब्याज दर का निर्धारण, पूँजी की सीमात उत्पादकता द्वारा किया जाता है।

यदि किसी समय सन्तुलन ब्याज दर (equilibrium rate of interest), पूंजी की सीमांत उत्पादकता से अधिक है तो पूंजी की मांग उसकी पूर्ति की अपेक्षा कम होगी अतः ब्याज दर घटेगी तथा वह सीमांत उत्पादकता के बराबर हो जाएगी। इसके विपरीत स्थिति में ठीक उल्टी प्रक्रिया प्रारम्भ होगी तथा ब्याज दर पूंजी की सीमांत उत्पादकता के बराबर हो जाएगी। इस प्रकार सन्तुलन की स्थिति में ब्याज दर पूंजी की सीमांत उत्पादकता के बराबर होगी तथा इस स्थिति में पूंजी की मांग पूंजी की पूर्ति के बराबर होगी।

4. आलोचना (1) इस सिद्धान्त में यह मान लिया गया है कि **पूर्ण रोजगार की स्थिति सामान्य स्थिति है।** यदि सभी साधन पूर्ण रोजगार की स्थिति में हैं तो बचत के हेतु प्रोत्साहन देने के लिए यह आवश्यक है कि ब्याज दिया जाये जिससे बचतकर्ता को वर्तमान उपभोग के त्याग के लिए प्रोत्साहन मिल सके। परन्तु यदि बेरोजगार साधन वर्तमान हैं तो ब्याज देने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह धारणा गलत सिद्ध होती है।

(2) सिद्धान्त में **आय पर विनियोग के प्रभावों की उपेक्षा की गई है।** विनियोग में परिवर्तन होने पर आय स्तर में भी परिवर्तन होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि ब्याज दर पूंजी की सीमांत उत्पादकता से कम है तथा पूंजी की मांग में वृद्धि होती है तो ब्याज दर कम होने के कारण, पूंजी की पूर्ति में वृद्धि नहीं होगी। अर्थात् निम्न ब्याज दर पर, विनियोग की मात्रा में वृद्धि कठिन हो जाती है। परन्तु वस्तु स्थिति ऐसी नहीं है। यदि उत्पादन के लिए, अधिक पूंजी (विनियोग) की मांग की जाती है तो लोगों की आय में वृद्धि होगी जिससे बचत बढ़ेगी। बचत बढ़ने के कारण विनियोग वृद्धि होगी। इसी प्रकार मान लीजिए, ब्याज दर में वृद्धि होती है, इससे विनियोग कम होगा (विनियोजन कम लाभप्रद हो जाएगा), विनियोग कम होने से रोजगार कम होगा, रोजगार कम होने से आय कम होगी, आय कम होने से बचत कम होगी। अतः **ऊंची ब्याज दर, बचत के परिमाण को कम करती है जबकि इस सिद्धान्त में यह कहा गया है कि ऊंची ब्याज दर होने से, बचत के परिमाण में वृद्धि होती है।**

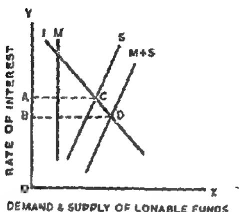
(3) **पूंजी की पूर्ति की मात्रा, विनियोग मांग से स्वतन्त्र नहीं है (The Supply of Capital is not independent of the investment demand) :** विनियोग में परिवर्तन होने से आय में परिवर्तन होता है, अतः बचत की मात्रा में भी परिवर्तन होता है। विनियोग में कुछ परिवर्तन होने पर, बचत में किस अनुपात में परिवर्तन होगा ? इसकी जानकारी के लिए ब्याज दर का निर्धारण सर्वप्रथम तरलता अधिमान' तथा मुद्रा की पूर्ति द्वारा किया जाना चाहिए। इस प्रकार ब्याज दर का विश्लेषण मौद्रिक परिस्थितियों के संदर्भ में किया जाना चाहिए

गई बचत का भी अप सग्रह करेगे इससे साख बाजार मे, पूजी की पूर्ति मे वृद्धि होगी परन्तु यदि ब्याज की दर गिरती है तो लोग वर्तमान निर्वत्य आय मे से भी सग्रह करना प्रारम्भ करगे, इस प्रकार बाजार मे उपलब्ध 'उधार देय कोष' कम होगा। (ii) बैंक साख (Bank Credit) मुद्रा की पूर्ति बैंक-मुद्रा या साख-मुद्रा से भी प्रभावित होती है। साख-मुद्रा के परिमाण मे वृद्धि होने से 'उधारदेय कोष' मे वृद्धि होती है। (iv) अन्य तत्व (Other Factors): उपरोक्त तत्वो के अतिरिक्त व्यावसायिक सस्थानो के मूल्य-ह्रास कोष, सामान्य-सचिति कोष आदि तथा बचत को प्रभावित करने मे सम्बन्धित सरकार की आर्थिक नीतियां, उधारदेय कोष की मात्रा को प्रभावित करती है।

(2) उधारदेय कोषो की माग उधारदेय कोषो की माग नए विनियोगो तथा नकद राशि या सग्रह की गई राशि के कारण होती है। ऋण की माग उत्पादन तथा उपभोग दोनो के लिए की जा सकती है। अत उधारदेय कोष की कुल माग इन दोनो से सम्बन्धित मागो पर निर्भर है। ऋण की माग ब्याज-दर पर भी निर्भर है कम ब्याज दर पर ऋण की माग अधिक होती है तथा ऊची ब्याज दर पर ऋण की माग कम होती है। मुख्य रूप मे उधारदेय कोष की माग चार प्रकार से की जाती है, (i) उत्पादको तथा व्यापारियो द्वारा (ii) सरकार द्वारा (iii) उपभोक्ताओ द्वारा और (iv) सचय के लिए (hoarding)

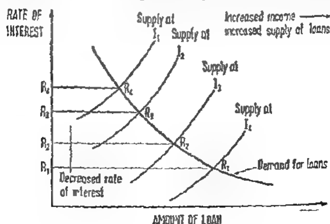
(3) सिद्धात का स्पष्टीकरण Wicksell द्वारा बतलाए गए इस सिद्धात का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है। बचत तथा साख मुद्रा का योग (Total) उधार देय कोष की पूर्ति को प्रकट करता है। इस प्रकार उधारदेय कोष की माग तथा उधारदेय कोष की पूर्ति द्वारा ब्याज-दर का निर्धारण होता है। साख-मुद्रा की मात्रा, बैंको की तरलता (Liquidity) पर निर्भर है तथा 'बैंक-साख की मात्रा' ब्याज दर द्वारा प्रभावित नही होती है (Bank credit is interest inelastic)। इस प्रकार बैंक-साख से सम्बन्धी रेखा ब्याज को प्रकट करने वाली रेखा के समान्तर होगी जैसा कि चित्र मे M रेखा प्रकट करती है।

चित्र स० 136 मे OX अक्षर पर उधारदेय कोष की माग तथा पूर्ति और OY पर ब्याज की दर प्रदर्शित की गई है। M रेखा मुद्रा को प्रकट करती है। S रेखा, ब्याज की विभिन्न दरो पर बचत की प्राप्य-मात्रा को प्रकट करती है। M+S रेखा उधारदेय कोष की कुल मात्रा को प्रकट करती है जो बैंक साख तथा बचत का योग है। I रेखा विनियोग की माग (Investment Demand Schedule) तालिका को प्रकट करती है। ब्याज दर का निर्धारण उस बिन्दु पर होगा, जिसपर S+M तथा I रेखाए एक दूसरे को काटती हैं अर्थात ब्याज दर OB होगी।



चित्र संख्या 136

उधारदेय कोष सिद्धान्त को दूसरी विधि द्वारा भी समझाया जा सकता है। यह सिद्धान्त, यह बतलाता है कि ब्याज-दर वह दर है, जो ऋणों की माग तथा पूर्ति को सन्तुलित करती है (equates) चित्र संख्या 137 मे, यदि पूर्ति वक्र I_1 की तरह है तो ब्याज-दर R_4 होगी। परन्तु पूर्तिवक्र उधार देने वालो की आय पर निर्भर है। एक दी हुई ब्याजदर पर, ऊंची आय होने पर ऋण की पूर्ति अधिक होगी। चित्र मे I_4 पूर्तिवक्र, I_3 पूर्तिवक्र की अपेक्षा ऊंची आय पर पूर्ति को प्रकट करता है। चित्र से स्पष्ट है कि, आय मे वृद्धि के साथ ही साथ ब्याज-दर नीचे गिरती है।



चित्र संख्या 137

चित्र से स्पष्ट है कि आय I_1 होने पर R_4 वह ब्याज-दर है जो उधारदेय

कोषों की मांग व पूर्ति को सतुलित करती है। इसी प्रकार आय I_4 होने पर, R_1 ब्याज दर है।

ब्याज के प्रतिष्ठित सिद्धान्त तथा उधारदेय कोष सिद्धान्त का अन्तर भी, चित्र संख्या 136 द्वारा जाना जा सकता है। प्रतिष्ठित सिद्धान्त के अनुसार ब्याज-दर का निर्धारण उस बिन्दु पर होगा जिस पर I रेखा तथा S रेखा एक दूसरे को काटती है। अर्थात ब्याज-दर OA होगी। उधारदेय कोष सिद्धान्त के अनुसार ब्याज-दर OB होगी।

(4) आलोचना : विकसेल ने माँग-पक्ष से सम्बन्धित मौद्रिक-शक्तियों की उपेक्षा की है। (1) उधारदेय कोष की माग के सम्बन्ध में केवल 'विनियोग' पर ही ध्यान दिया गया। कोषों की माग सचय की प्रवृत्ति से भी प्रभावित होती है, विकसेन ने इस तथ्य की उपेक्षा की। (II) 'साख को मात्रा के परिवर्तन को ब्याज-दर प्रभावित नहीं करती' विक्सेल की यह मान्यता सही नहीं है। वास्तव मे बैंक-साख मात्रा ब्याज दर से भी प्रभावित होती है।

इन दोषों को करने के लिए, विकसेल के 'उधारदेय-कोष सिद्धान्त' में बाद में सशोधन किए गए। (हम यहा पर उन सशोधनों का उल्लेख नहीं करेंगे, उपर्युक्त विवरण स्नातक तथा आनर्स कक्षाओं के लिए पर्याप्त है।)

(3) सिद्धान्त की समीक्षा - उधारदेय कोष सिद्धान्त ब्याज के प्रतिष्ठित सिद्धान्त से श्रेष्ठ है, क्योंकि प्रतिष्ठित सिद्धान्त में 'अप-संग्रह' तथा 'साख-मुद्रा' की उपेक्षा की गई थी, जिन पर इस सिद्धान्त में पर्याप्त ध्यान दिया गया है। यह सिद्धान्त वास्तविक परिस्थितियों पर पूर्ण रूप से ध्यान देता है। अत कुछ अर्थशास्त्री इस सिद्धान्त को तरलता अधिमान सिद्धान्त से भी अधिक उपयुक्त मानते हैं[4]।

4 तरलता अधिमान सिद्धान्त
(The Liquidity Preference Theory)

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन J. M Keynes ने किया। उनके अनुसार ब्याज-दर का निर्धारण 'मुद्रा की मात्रा' तथा 'तरलता अधिमान' द्वारा किया जाता है। इस सिद्धान्त का अध्ययन निम्नलिखित तीन शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है—(1) ब्याज की प्रकृति (2) ब्याज की आवश्यकता तथा (3) ब्याजदर का निर्धारण।

[4], It corresponds more closely to the way in which the business world thinks of the determinants of the rate of interest and because it shows more directly the relation between the marginal efficiency of investment and the rate of interest" *Haley and Ellis*, Survey of Comtemporary Economics

1. ब्याज की प्रकृति (Nature of Interest) :

(1) Keynes के अनुसार विभिन्न वस्तु ब्याज दरें (Commodity rates of Interest) पाई जाती हैं तथा 'मुद्रा-ब्याज-दर' उनमें से एक है। जिस प्रकार हम, 'मुद्रा-ब्याज-दर' की बात करते हैं उसी प्रकार हम 'गेहूँ-ब्याज-दर', मकान ब्याज दर, की भी बात कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, यदि आज 10 मन गेहूँ का विनिमय एक वर्ष के बाद के 11 मन गेहूँ के बदले, किया जा सकता है तो 'गेहूँ-ब्याज-दर' 10 प्रतिशत होगी। विभिन्न वस्तु ब्याज-दरों को उन्होंने 'Own-rate' कहा है। (2) वस्तु ब्याज दरों में पर्याप्त विभिन्नता पाई जाती है। इन विभिन्नताओं के कारण, केन्स के अनुसार तीन हैं, जो विभिन्न सम्पत्तियों, में विभिन्न मात्राओं में पाए जाते हैं—(i) उत्पाद (Yield or output) (ii) परिवहन सम्बन्धी व्यय (Carrying Cost) तथा (iii) तरलता प्रीमियम (Liquidity Premium)। इन तीनों को क्रमशः q, c तथा l द्वारा प्रकट किया जा सकता है। किसी वस्तु के स्वामित्व के बदले, एक निश्चित समय में, पुरस्कार की कुल मात्रा q–c+l होगी, अर्थात् किसी वस्तु का Own rate of Interest, q–c+l होगा।

मुद्रा के अतिरिक्त अन्य सम्पत्तियों से कुछ पैदा किया जाता है, परन्तु उनमें दोष यह है कि परिवहन सम्बन्धी व्यय वहन करना पड़ता है। साथ ही साथ उनकी तरलता प्रिमियम भी कम होती है। मुद्रा में तरलता प्रीमियम सर्वाधिक होती है तथा इसे ले जाने में भी सामान्यतः कोई व्यय नहीं करना पड़ता, परन्तु इसका 'उत्पाद' शून्य होता है। सम्पत्ति के स्वामियों (Wealth-Owners) की माँग मकान, गेहूँ, मुद्रा या अन्य वस्तुओं में से किसके लिए होगी ? यह इस बात पर निर्भर है कि किस वस्तु का q c+l अधिकतम है। सतुलन की स्थिति में मकान, गेहूँ आदि का 'माग मूल्य', मुद्रा के संदर्भ में ऐसा होगा कि विकल्पों के बीच चुनाव करने में कोई लाभ नहीं होगा। उन सम्पत्तियों का अधिक उत्पादन किया जाएगा, जिनका माग-मूल्य, पूर्ति मूल्य से अधिक है। उनके उत्पादन में वृद्धि के कारण 'Own rate of Interest' नीचे गिरेंगे, परन्तु यदि मुद्रा की माग बढ़ जाती है तो अधिक मुद्रा का निर्माण नहीं किया जा सकता है मुद्रा की उत्पादन तथा प्रतिस्थापन-लोच शून्य होती है। (Money has zero elasticity of production and substitution) अतः 'मुद्रा ब्याज दर' अन्य 'Own rates' की अपेक्षा कम नीचे गिरती है तथा सामान्यतः यह सभी Own-rates से अधिक होती है।

2. ब्याज की आवश्यकता (Necessity of interest) :

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार बचत की मात्रा ब्याज-दर पर निर्भर करती है, परन्तु केन्स ने इस विचार का खण्डन किया तथा यह कहा कि बचत

समाज की मौद्रिक आय (Money income) तथा 'सीमांत उपभोग क्षमता' (Marginal propensity to consume) पर निर्भर करती है। ब्याज का बचत से कोई सम्बन्ध नहीं है, इसका प्रमाण यह है कि लोग बचत का संग्रह (hoarding) भी करते हैं, जिस पर उन्हें कोई ब्याज नहीं मिलता है। एक व्यक्ति को आय के सम्बन्ध में दो प्रकार के निर्णय करने पड़ते हैं प्रथम का सम्बन्ध 'उपभोग-क्षमता' से है, जिसमें व्यक्ति को निर्णय लेना पड़ता है कि वह आय के किस भाग का उपभोग वर्तमान के लिए करेगा, तथा कौन सा भाग भविष्य के लिए रखेगा ? द्वितीय, वह भविष्य के लिए अपनी आय किस रूप में सुरक्षित रखेगा ? इसका सम्बन्ध तरलता से है। क्या वह नकद के रूप में अपनी बचत (आय का भाग) को रखना चाहता है ? या वह कुछ अंश को कुछ समय के लिए त्यागने या अन्यत्र विनियोजित करने के लिए तैयार है। केन्स के अनुसार, सामान्यतः लोग अपनी बचत को नकद के रूप में (Liquid form) में रखना चाहते हैं, परन्तु यदि वे अपनी बचत अन्यत्र विनियोजित करते हैं तो उन्हें 'तरलता' का त्याग करना पड़ता है अतः ब्याज तरलता के त्याग के लिए पुरस्कार है। Keynes के शब्दों में 'ब्याज की दर वह प्रीमियम है जो लोगों को अपने धन को संग्रहित मुद्रा के अतिरिक्त अन्य किसी रूप में रखने के लिए प्रेरित करने हेतु चुकाया जाता है।'[5]

(तरलता का अभिप्राय मुद्रा को नकद या ऐसे रूप में रखने से है, जिसे व्यक्ति तुरन्त नकद रूप में परिवर्तित करा सके। व्यक्ति मुद्रा को 'नकद' या शीघ्रातिशीघ्र नकदी में परिवर्तनीय रूप में रखना चाहता है। केन्स ने इसे Liquidity Preference कहा है।)

तरलता अधिमान के कारण (Motives for Liquidity Preference) : मनुष्य मुद्रा को नकद रूप में निम्नलिखित कारणों से रखना चाहता है—

(i) व्यापारिक कार्यों के उद्देश्य (Transaction Motive) : व्यक्ति को नित्य प्रति के कार्यों के लिए-आवश्यक वस्तुएं खरीदने तथा अन्य कारणों से भुगतान करने के लिए नकद मुद्रा की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार व्यापारियों व उद्योगपतियों को प्रतिदिन के सौदों के लिए नकद मुद्रा अपने पास रखनी पड़ती है। इस उद्देश्य के लिए, मुद्रा की मात्रा व्यापारिक गतिविधियों पर निर्भर है।

(ii) पूर्वावधायी या दूरदर्शिता के उद्देश्य से (The Precautionary Motive) : भविष्य की अप्रत्याशी आवश्यकताओं, दायित्वों तथा आकस्मिकताओं के लिए भी नकद मुद्रा अपने पास रखना आवश्यकता होता है।

---

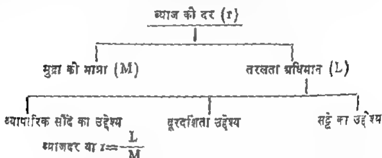
[5] "The rate of interest is the premium which is to be offered to induce people to hold their wealth in some form other than the hoarded money" —J. M Keynes

(iii) सट्टे के उद्देश्य से (The Speculative Motive) : ऊँची ब्याज दर की आशा मे भी लोग मुद्रा को अपने पास रखते हैं, जिससे भविष्य मे उसका विनियोजन लाभप्रद विनियोगो मे किया जा सके। भविष्य मे बाजार मे होने वाले परिवर्तनो से लाभ उठाने के लिए मुद्रा अपने पास नक्द रखी जाती है।[6]

उपर्युक्त मे से प्रथम व द्वितीय पर ब्याज दर का प्रभाव नही पड़ता है, परन्तु तृतीय पर ब्याज का पूरा प्रभाव पड़ता है।

3 ब्याज दर का निर्धारण (Determination of the rate of interest)·

केन्स के अनुसार ब्याज दर का निर्धारण मुद्रा की मात्रा (Quantity of money) तथा तरलता अधिमान (Liquidity perference) द्वारा किया जाता है। केन्स के तरलता अधिमान सिद्धात को निम्न सारणी प्रकार किया जा सकता है:



ब्याजदर या $r = \frac{L}{M}$

ब्याज-दर का निर्धारण तरलता अधिमान तथा मुद्रा की पूर्ति (मात्रा) द्वारा होता है। "सतुलन की स्थिति मे ब्याज-दर मुद्रा की मात्रा तथा व्यक्तियो के तरलता अधिमान के साम्य के बराबर होगी।"

"At the equilibrium position, the rate of interest will be just at the level necessary to equate the quantity of money in existence with the aggregate amount wanted by people to hold." —J M Keynes

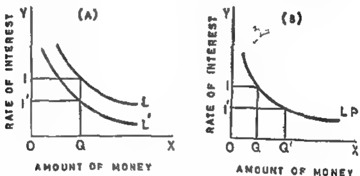
तरलता अधिमान एक फलन-प्रवृत्ति (functional tendency) है जो एक दी हुई ब्याज-दर पर, जनता द्वारा की जाने वाली मुद्रा की समग्र-मात्रा को निर्धारित करती है। यदि ब्याज दर r, मुद्रा की मात्रा M तथा तरलता अधिमान L है तो $M = L(r)$ होगा। यदि तरलता अधिमान पूर्ववत रहे तो मुद्रा की मात्रा म वृद्धि होने पर ब्याज दर घटेगी तथा मुद्रा की मात्रा मे कमी होने पर ब्याज-दर बढ़ेगी।

6 "Speculative motive is a motive of earning profit by knowing better the market what the future will bring forth" —J M Keynes

ब्याज-दर तथा तरलता अधिमान मे विपरीत सम्बन्ध होता है । ऊंची ब्याज-दर पर तरलता अधिमान घटता है, तथा कम ब्याज-दर पर तरलता अधिमान बढता है । 'तरलता अधिमान' का यह परिवर्तन 'सट्टे के उद्देश्य' से प्रभावित होता है । मुद्रा की माग उपरोक्त तीनो उद्देश्यो पर निर्भर है ।

मुद्रा की पूर्ति मुद्रा की कुल पूर्ति-मुद्रा तथा बैंक-मुद्रा द्वारा निश्चित होती है । मुद्रा की कुल पूर्ति ब्याज-दर से प्रभावित नही होती है ।

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण विभिन्न ब्याज-दरो पर, यदि तरलता-अधिमान-वक्र बनाया जाए तो वह सामान्य माग वक्र की भांति होगा, जो विभिन्न ब्याज दरो पर मुद्रा की माग को प्रदर्शित करेगा । चित्र स॰ 138 (A) मे OX अक्ष पर मुद्रा की मात्रा तथा OY अक्ष पर ब्याज-दर प्रदर्शित की गई है । L' वक्र विभिन्न ब्याज दरो पर मुद्रा की मागी जाने वाली मात्राओ को प्रकट करता है । OI' ब्याज-



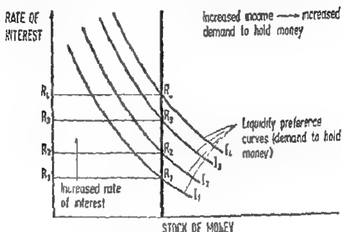
चित्र सख्या 138

दर पर मुद्रा की पूर्ति OQ है । (यहा पर हम यह मान लेते है कि ब्याज-दर मे परिवर्तनो पर ध्यान रक्खे बिना केन्द्रीय-बैंक तथा सरकार द्वारा मुद्रा की मात्रा (पूर्ति) स्थिर रखती है) L' वक्र यह प्रकट करता है कि यदि ब्याज की दर ऊंची है तो लोग अपने पास कम मुद्रा रखेंगे । यदि तरलता अधिमान मे परिवर्तन होता है, अर्थात लोग प्रत्येक ब्याज-दर पर अधिक मुद्रा रखना चाहते हैं, तो 'तरलता अधिमान वक्र' दाहिनी तरफ ऊपर खिसकेगा । L वक्र नया तरलता अधिमान वक्र होगा । यदि मुद्रा की पूर्ति पूर्ववत (OQ) है तो तरलता अधिमान मे वृद्धि होने पर ब्याज-दर बढेगी । नई ब्याज-दर OI हो जाएगी ।

उपर्युक्त स्थिति एक काल्पनिक स्थिति है । वस्तुतः मुद्रा की मात्रा मे भी परिवर्तन होते रहते हैं । इस स्थिति को चित्र स॰ 138 (B) द्वारा प्रदर्शित किया गया है । हम मान लेते हैं कि समाज का तरलता अधिमान दिया हुआ है जो LP-वक्र

द्वारा प्रदर्शित किया गया है। OQ मुद्रा की मात्रा है। ब्याज दर OI है। यदि केन्द्रीय बैंक द्वारा मुद्रा का परिमाण बढ़ाकर OQ' कर दिया जाता है तो ब्याज दर घटकर OI' हो जाएगी।

दूसरे चित्र द्वारा भी तरलता अधिमान सिद्धान्त को समझा जा सकता है। यह सिद्धान्त यह बतलाता है कि ब्याज दर वह दर है जो मुद्रा को रोक रखने की माग (Demand to hold money) तथा मुद्रा के स्टाक (Stock of money) को सतुलित (Equates) करती है। चित्र सख्या 139 ? मे R_1 ब्याज की उस दर



चित्र सख्या 139

को प्रकट करती है जो मुद्रा को रोक रखने की माग I_1 पर होगी। मुद्रा को रोक रखने को माग, आय पर निर्भर करती है। अधिक आय पर, लोग अधिक मुद्रा को रोक रखना चाहते हैं। इस तथ्य को उपर्युक्त चित्र द्वारा स्पष्ट किया गया है।

चित्र मे I_2 ऊची आय पर माग वक्र है (I_3 की तुलना मे) इसी प्रकार I_3 I_2 की अपेक्षा ऊची आय के लिए माग वक्र है। चित्र से स्पष्ट है कि आय बढ़ने पर ब्याज-दर ऊची उठती है। I_4 आय पर ब्याज-दर I_4 तथा I_1 आय पर ब्याज-दर R_1 है।

सिद्धान्त की विशेषताए (1) केन्स का ब्याज-सिद्धान्त एक प्रावैगिक सिद्धान्त (Dynamic Theory) है। यह स्मरणीय है कि केवल ब्याज-दर ही लोगो की सट्टे की इच्छा की पूर्ति के लिए पास रखी जाने वाली मुद्रा की मात्रा का निश्चय नहीं करती। केन्स ने इस बात पर जोर दिया है कि भविष्य मे ब्याज दर मे होने वाले परिवर्तनो की अनिश्चितता का ही महत्व है। भविष्य मे ब्याज-दर मे वृद्धि की आशा लोगो को अपने पास अधिक मुद्रा रखने के लिए प्रेरित करती है। इस प्रकार भविष्य की अनिश्चितता केन्स के सिद्धान्त का मूल तत्व है, जो प्रावैगिक दशा का प्रतीक है।

(2) केन्स के अनुसार ब्याज दर पूर्णत मौद्रिक स्थिति (Monetary Phenomenon) से सम्बन्धित है, अत. ब्याज-दर पर बैंक व्यवस्था द्वारा नियन्त्रण रखा जा सकता है।

सिद्धान्त की आलोचना

1 **'मुद्रा' का अर्थ अस्पष्ट** केन्स ने 'मुद्रा' का अर्थ स्पष्ट नही किया है। उनके अनुसार साख मुद्रा भी मुद्रा मे सम्मिलित की जानी चाहिए, परन्तु रार्बटसन के साथ हुए विवाद मे उन्होंने कहा कि 'साख' को मुद्रा के अन्तर्गत सम्मिलित नही किया जा सकता है।

2 **सीमान्त उत्पादकता की उपेक्षा** इस सिद्धान्त मे पूँजी की सीमात उत्पादकता को अनावश्यक माना गया है। केन्स के अनुसार नए विनियोगो के सम्बन्ध मे निर्णय साहसी की मनोवैज्ञानिक स्थिति तथा ब्याज की दर द्वारा किया जाता है, परन्तु केन्स इस तथ्य को भूल गए कि पूजी की उत्पादकता भी साहसी के निर्णय को बहुत प्रभावित करती है।

3 **एकागी सिद्धात** इस सिद्धान्त का केन्द्र विन्दु 'तरलता अधिमान' है, परन्तु ब्याज के निर्धारण मे पूजी की माग, पूर्ति, समय अधिमान तथा सीमात उत्पादकता का भी हाथ रहता है। केन्स ने इन तत्वो की उपेक्षा की है।

4 **सीमित क्षेत्र** इस सिद्धान्त का क्षेत्र सीमित है। ऐसा समाज जिसमे नकद लेन[illegible] नही होता है, ब्याज-दर का निर्धारण किस प्रकार होगा, इस सम्बन्ध मे यह [illegible]न्त मौन है।

[illegible] इस सिद्धान्त द्वारा 'दीर्घ कालीन ब्याज दर' पर प्रकाश नही पडता है।

इन आलोचनाओ के होते हुए भी केन्स का सिद्धान्त अधिक तर्कपूर्ण एव युक्ति सगत है।

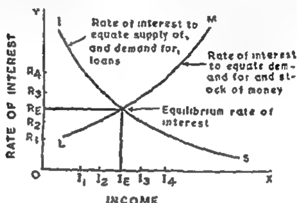
ब्याज दर निर्धारण का आधुनिक सिद्धान्त

5 (The Modern Theory of the Determination of Rate of Interest)

ब्याज के 'उधार देय कोष सिद्धान्त' तथा 'तरलता अधिमान सिद्धात'—दोनो द्वारा ब्याज-दर के निर्धारण का पूर्ण स्पष्टीकरण नही होता है। इन दोनो सिद्धातो मे आय के प्रभाव की उपेक्षा की गई है। ब्याज का कोई भी ऐसा सिद्धान्त स्वीकार नही किया जा सकता है जिसमे आय की उपेक्षा की गई हो। ब्याज का आधुनिक सिद्धान्त आय पक्ष पर भी ध्यान देता है तथा यह सिद्धान्त एक प्रकार से उधार देय कोष सिद्धान्त तथा तरलता अधिमान सिद्धान्त का समन्वय है। अब हम आधुनिक सिद्धान्त की व्याख्या करेंगे।

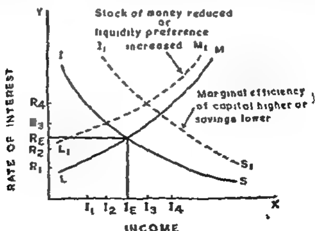
चित्र स० 140 मे Is वक्र उस ब्याज दर को प्रकट करता है जो आय के विभिन्न स्तरो पर उधार देय कोष की माग तथा पूर्ति को सतुलित (equates) करता है। (उधार देय कोष सिद्धान्त सम्बन्धी चित्र स० 137 देखिए) LM वक्र,

आय के विभिन्न स्तरों पर, उस ब्याज दर को प्रकट करता है जो मुद्रा के स्टाक Stock of Money) तथा मुद्रा को रखने रखने की माग (Demand to hold money) को सनुलित करता है । तरलता अधिमान सिद्धान्त सम्बन्धी चित्र सख्या 139 देखिए) जहा पर दोनो वक्र एक दूसरे को काटते हैं, वहा पर ब्याज की



चित्र सख्या 140

वह दर है, जिस पर (i) कोष या ऋणो की माग तथा पूर्ति और (ii) निश्चित की जा सकने वाली आय (Determinable income) पर, मुद्रा को रोके रखने सम्बन्धी माग (Demand to hold money) और मुद्रा के स्टाक के बीच सतुलन स्थापित होता है । चित्र सख्या 140 मे यह ब्याज दर R_E तथा आय I_E होगी ।



चित्र सख्या 141

चित्र सख्या 141 मे IS और LM प्रारम्भिक अवस्था के सूचक हैं ।

ब्याज दर R_E और आय I_E होगी। निम्नलिखित सभावनाओं पर विचार कीजिए—(क) पूजी की सीमान्त कार्यक्षमता (Marginal Efficiency of Capital) म वृद्धि या बचत की मात्रा मे कमी के कारण IS वक्र खिसकर I_1S_1 हो जाएगा तथा ब्याज दर बढकर R_3 और आय बढकर I_4 हो जाएगी, (ख) IS अपरिवर्तित रहता है परन्तु मुद्रा का स्टाक घट जाता है या तरलता अधिमान (Liquidity Preference) बढ जाता है (मुद्रा को रोके रखने की माग बढ जाती है) LM वक्र ऊपर हटकर L_1M_1 हो जाता है। ब्याज दर बढकर R_3 हो जाती है, परन्तु आय घटकर I_3 रह जाती है। (ग) दोनो वक्र बदल जाते है— LM हटकर L_1M_1 तथा IS हटकर I_1S_1 हो जाती है तो ब्याज दर बढकर R_4 और आय I_1 हो जाती है।

इस प्रकार आधुनिक सिद्धान्त आय पर भी विचार करता है तथा इसमे 'उधार देय कोष' तथा 'तरलता अधिमान' सिद्धानो की मुख्य विशेषताए भी सम्मिलित है।

प्रश्न व सकेत

1 ब्याज का क्या अर्थ है ? ब्याज किस प्रकार निर्धारित होता है ?
(Ravi, B A (F) 1965)

[सकेत 'ब्याज' का आर्थिक आशय स्पष्ट करिए। ब्याज निर्धारण के प्रमुख सिद्धान्तो के नाम लिखिए। अत मे केंस के सिद्धात को समझाइये व उसकी आलोचना दीजिए। साथ ही आधुनिक विचार भी सक्षेप मे लिखिए।]

2 ब्याज के तरलता पसदगी सिद्धान्त को समझाइये।
(Raj B A 1964, Luck, B A I, 1961)

[सकेत केन्स द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त को समझाइये। उत्तर म सर्वप्रथम तरलता पसदगी का आशय व सिद्धान्त का सार लिखिए एव अत मे उसकी विशेषताओ पर प्रकाश डालिए।]

3 ब्याज के उधार देय कोष सिद्धान्त की पूर्ण व्याख्या कीजिए।

37

लाभ की प्रकृति
(The Nature of Profit)

"Profits are the report-card of the past, the incentive gold star for the future, and also the grubstake for your new venture"

—Samuelson

1. लाभ का अर्थ (Meaning of Profit)

उत्पादन के साधन के रूप में उद्यमी या साहसी के कार्य के लिए प्राप्त पुरस्कार को लाभ कहते हैं। परन्तु उद्यमी द्वारा उत्पादन-व्यवस्था के संयोजन (Co-ordination) तथा जोखिम-उठाने (Risk taking) के उत्तरदायित्वों की पूर्ति किए जाने के कारण यह समस्या स्वभावतः सामने आती है कि उद्यमी के उपर्युक्त दोनों कार्यों में से किस कार्य के लिए दिए गए पारितोषिक को लाभ कहा जाय ? इन दोनों कार्यों में भेद करने का प्रयत्न किया गया है। प्रो० जे० के० मेहता ने इस सम्बन्ध में कहा है कि वास्तविक रूप में शुद्ध लाभ (Net Profit) उद्यमी या साहसी को केवल जोखिम उठाने या अनिश्चितता के कारण ही प्राप्त होता है। उनके अनुसार "गत्यात्मक संसार की उत्पादन-प्रक्रियाओं में अनिश्चितता का यह तत्व त्याग के एक चतुर्थ वर्ग को जन्म देता है। इस वर्ग में जोखिम उठाने तथा अनिश्चितता सहन करने के दो तत्व हैं। इसको लाभ द्वारा पुरस्कृत किया जाता है।" विलियम फैलनर (William Fellner) ने भी यह कहा है कि साहस का कार्य ही ऐसा कार्य है जिसके लिए लाभ अर्जित किया जाता है। "The entrepreneurial function is the function for which profit is earned" अतः यह स्पष्ट है कि अनिश्चितता के कारण जोखिम का जो भार साहसी (Entrepreneur) द्वारा उठाया जाता है उसके बदले में प्राप्त प्रतिफल 'लाभ' कहलाता है।

2. लाभ की धारणा (The Concept of Profit) :

लाभ का उपर्युक्त अर्थ केवल लाभ प्राप्त करने वाले अधिकारी की ओर संकेत करता है। इससे यह ज्ञात नहीं होता कि एक उपक्रमी की कुल प्राप्तियों (Total

Receipts) में से किस अंश को लाभ कहा जा सकता है ? इस संबंध में टॉजिग (Taussig) का यह वाक्य उल्लेखनीय है : 'लाभ एक मिश्रित तथा विवादास्पद (तंग करने वाली) आय है।' टॉजिग के इस वाक्य से यह ज्ञात होता है कि 'शुद्ध आर्थिक लाभ' की धारणा के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों में मतभेद रहा है। टरगो (Turgot) का पूँजीपति साहसी (Capitalistic Entrepreneur) स्वामी-प्रबन्धक-साहसी' तीनों ही स्वयं होता था, अतः वह ब्याज, मजदूरी तथा जोखिम उठाने के प्रतिफल की तीनों राशियों का स्वयं अधिकारी होता था। परन्तु 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और विशेषकर वर्तमान शताब्दी (20वीं) के पूर्वार्द्ध में जे० बी० से की यह धारणा अधिक विकसित हुयी है कि उपक्रम का स्वामित्व तथा साहसोद्यम (entrepreneurship) का अस्तित्व उसके प्रबन्धन से सर्वथा अलग है। अतः साहसोद्यम को प्राप्त आय लाभ की धारणा भी एक भिन्न धारणा मानी जाती है। यही कारण है कि कुछ अर्थशास्त्री, जिनमें नाइट (Knight) तथा शूम्पीटर (Schumpeter) के नाम विशेष उल्लेखनीय है, आर्थिक लाभ उस आय को मानते हैं जो साहसोद्यम को जोखिम उठाने, अनिश्चितता सहन करने तथा नव प्रवर्तन (Innovation) के लिए प्राप्त होती है, परन्तु मार्शल, रार्बटसन तथा कुछ अंग्रेज अर्थशास्त्री इस विचार को संकुचित मानते हैं। उनके विचार में साहसोद्यमी कुल प्राप्तियों में से समस्त व्ययों को घटाने के पश्चात् शेष का अधिकारी होता है। यह अवशेष लागत अथवा व्यय के ऊपर प्राप्त प्रतिफल का आधिक्य ही वास्तव में उसका लाभ होता है (Profit is excess of returns over outlay or expenditure)। राबर्टसन ने लाभ के इस विस्तृत अर्थ के महत्व को इन शब्दों में व्यक्त किया है : "इस शब्द को विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त करना अत्यन्त सुविधाजनक प्रतीत होता है, क्योंकि उससे ही सम्मिश्रित साधन 'साहस' की सम्मिश्रित आय का अर्थ स्पष्ट होता है।"[1] उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है लाभ की धारणा में 'अवशेष' तत्व विद्यमान है। विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक लाभ के रूप में इस अवशेष को अलग-अलग परिभाषित किया है। लेफ्टविच (Leftwich) के अनुसार "आर्थिक लाभ फर्म द्वारा व्यय की गयी समस्त उत्पादन लागतों के ऊपर कुल प्राप्तियों का शुद्ध अवशेष या आधिक्य है।"[2] आर्थिक लाभ की धारणा को अधिक स्पष्ट करने के लिए कुछ अर्थशास्त्रियों ने लेखाकार की लाभ-संबंधी धारणा (Accountant's concept of profit) तथा आर्थिक लाभ की धारणा के अन्तर को इस प्रकार व्यक्त किया है :

---

[1]. "It seems most convenient to use the word in a comprehensive sense, to denote the composite income of the composite factor 'Enterprise.' —*Robertson*

[2]. "Economic profit is a pure surplus or excess of total receipts over all costs of production incurred by the firm." —*Leftwich, R. H.*

लेखाकार द्वारा निर्धारित किसी कम्पनी का शुद्ध लाभ या आय = { उत्पादित वस्तु या वस्तुओं की बिक्री पर कुल प्राप्तियां —(उत्पादन-लागतें तथा वे व्यय जो ब्याज पर ब्याज तथा सम्पत्तियों के ह्रास आदि के रूप में होते हैं) }

आर्थिक लाभ = { लेखाकार द्वारा निर्धारित शुद्ध लाभ या आय —(औसत लाभांश जो कम्पनी के अंशधारियों को दिया गया है) }

उपर्युक्त सूत्रों म यह स्पष्ट है कि लेखाकार द्वारा निर्धारित लाभ वह सकल लाभ (Gross Profit) है जो श्रम तथा भूमि (कच्चे माल) के मूल्यों को घटाने के बाद बच (अवशेष) रहता है। यदि लेखाकार शुद्ध लाभ (Net Profit) ज्ञात करना चाहता है तो वह उस अवशेष में से पूजी पर दिए गए ब्याज को भी घटा देगा। वस्तुतः लेखाकार का यह शुद्ध लाभ ही आर्थिक लाभ है, क्योंकि कुल प्राप्तियों में से भूमि श्रम तथा पूजी के मूल्यों का भुगतान करने के पश्चात् यही अवशेष रहता है। फेलनर के अनुसार शुद्ध लाभ ज्ञात करने के लिए हम एक उपक्रम के सकल लाभ में से अनुबन्धित लागतों (Contractual Costs) को घटा देना चाहिए, उसके बाद उस शेष में से ह्रास तथा उपक्रमी की पूजी पर आरोपित शुद्ध ब्याज (Imputed pure interest) तथा उपक्रमी द्वारा सचालन तथा प्रबन्ध सम्बन्धी श्रम सेवा के लिए आरोपित मजदूरी (imputed wages) को भी घटा देना चाहिए। इस प्रकार बचा हुआ अवशेष ही शुद्ध आर्थिक लाभ कहा जायेगा।

3 कुल एवं शुद्ध लाभ (*Gross and Net Profits*)

बहुत से लोग ऐसा समझते हैं कि वस्तु की बिक्री मूल्य में से मजदूरी तथा कच्चे माल के मूल्य को घटाकर जो राशि शेष रहती है वही लाभ है (*Profit is the margin by which selling price exceeds the buying price*), किन्तु विचार करने पर ज्ञात होगा कि इस राशि में अन्य तत्व भी शामिल रहते हैं, क्योंकि अर्थशास्त्र में लाभ अनिश्चितता के कारण उद्यमी को मिलने वाला पुरस्कार है। इसमें बहुत सी ऐसी राशियां सम्मिलित हैं जो उद्यमी अन्य साधनों से अलग करना है। अत: स्पष्ट है कि कुल लाभ में से कुछ अन्य तत्वों को अलग करना पड़ता है, जैसे पूंजी का क्षय (wear and tear of capital) होने के कारण उसी मात्रा में पूंजी बनाये रखने के लिए कुल प्राप्ति में से इसके लिये कुछ व्यवस्था करनी पड़ती है। कुल लाभ म से दूसरा महत्वपूर्ण अंश पूजी पर दिये गये ब्याज की मात्रा है जिसे कुल प्राप्ति में से अलग करना पड़ेगा। यह सम्भव है कि उद्यमी ने स्वयं अपनी पूजी लगायी हो, फिर भी उसकी कुल प्राप्ति का एक अंश वस्तुतः उसके द्वारा लगायी गयी पूजी पर ब्याज स्वरूप होगी, चाहे इसके लिये स्पष्टत: कोई राशि घटायी न जाती हो।

तीसरा सम्भव तत्व प्रबन्ध मे किया गया श्रम है। सार्वजनिक संयुक्त पूंजी वाली कम्पनियो मे साधारणतया प्रबन्धक को वेतन मिलता है जिसे मजदूरी के समान ही लागत व्यय का एक अंश माना जाता है। यदि उद्यमी स्वयं प्रबन्धक का कार्य भी करता है तो सम्भव है कि उसे इसके लिये अलग से कोई राशि न मिले, किन्तु कुल प्राप्ति मे से प्रबन्धक के लिए उसका अव्यक्त पारिश्रमिक निकाल देना उचित ही होगा। इसी प्रकार स्वयं उद्यमी द्वारा लगायी गयी भूमि के पुरस्कार (लागत) को भी कुल लाभ मे से अलग करना पड़ता है।

अत उस राशि को, जो उत्पादन के मूल्य मे से भूमि, श्रम, पूंजी तथा स्वयं उद्यमी द्वारा लगाये गये साधनो का पुरस्कार देने के पश्चात् शेष बच रहता है, शुद्ध लाभ कहते है। इसमे से पूंजी के क्षय के लिये भी एक निश्चित् मात्रा अलग करनी पड़ेगी। अत स्पष्ट है कि इसके पश्चात् उद्यमी को जो शेष राशि प्राप्त होती है उसे ही लाभ कहेंगे।

4 लाभ के प्रकार (Kinds of Profits)

(i) प्रतिस्पर्द्धात्मक लाभ (Competitive Profits) : प्रतिस्पर्द्धात्मक अर्थ-व्यवस्था म लाभ की प्रवृत्ति समान होने की रहती है। यदि किसी एक उद्योग मे लाभ की दर कम तथा दूसरे उद्योग मे अधिक है, तो कम लाभ वाले उद्योग मे पूँजी और उद्यम निकल कर अधिक लाभ वाले उद्योगो मे चले जायेंगे। परिणामस्वरूप जिन उद्योगो मे लाभ कम है, वहा उत्पादन मे वृद्धि होगी। इस प्रक्रिया के कारण लाभ की दर भी प्रभावित होगी। कम लाभ वाले उद्योग मे लाभ बढेगा तथा अधिक लाभ वाले उद्योगो मे लाभ घटेगा। यह क्रम तब तक चलता रहेगा जब तक कि विभिन्न उद्योगो मे लाभ समान नही हो जाता। लाभ के समान होने के लिये हमे इस मान्यता को स्वीकार करना पड़ेगा कि विभिन्न उद्योगो मे जोखिम की मात्रा समान है। पुनः लाभ की प्रवृत्ति न्यूनतम होने की रहती है। यदि सभी उद्योगो मे अधिक लाभ होता है तो नये उद्यमी तथा पूजी का प्रवेश होगा, उत्पादन मे वृद्धि होगी, मूल्य म ह्रास होगा और लाभ अपने न्यूनतम स्तर पर चला जायेगा। अतः प्रतिस्पर्द्धा के अन्तर्गत लाभ की प्रवृत्ति सर्वत्र एक समान होने की रहती है।

(ii) एकाधिकार लाभ (Monopoly Profit) . एकाधिकार लाभ की प्राप्ति इस तथ्य मे निहित है कि अपनी वस्तु की पूर्ति पर एकाधिकारी का नियन्त्रण होता है तथा वह वस्तु के मूल्य को उस बिन्दु तक भी नही गिरने देता जहा मूल्य केवल उसके लागत मूल्य के बराबर हो।[3] चूँकि एकाधिकार मे पूर्ति का नियन्त्रण

[3] "Monopoly profits arise through the ability to control output so that price will not fall to a point where it is only equal to cost."
—*Meyers*

सम्भव है, अतः एकाधिकारी सदैव वस्तु की कीमत मूल्य से ऊपर रखता है तथा उसे अपनी एकाधिकार-शक्ति के कारण असामान्य लाभ भी प्राप्त होता है।

एकाधिकार का यह असामान्य (Supra normal) लाभ आर्थिक लगान के समान है। यह स्थानान्तरण-व्यय के ऊपर बचत है। आर्थिक लगान किसी भी ऐसे साधन को मिल सकता है जिसमें कुछ ऐसी विशेषता तथा गुण है कि उसकी पूर्ति बढ़ नहीं पाती। एकाधिकारी में वस्तुतः इस प्रकार का गुण मौजूद है कि वह वस्तु की पूर्ति को नियन्त्रित कर अधिक मूल्य प्राप्त कर सकता है। यदि एकाधिकारी की यह स्थिति स्थायी है तो उद्यमी का लाभ, जो कि सामान्य स्तर से अधिक है शुद्ध आर्थिक लगान के समान है, किन्तु एकाधिकार शक्ति यदि अस्थायी है तो अतिरिक्त राशि को अर्द्ध-लगान (Quasi-rent) कहना ज्यादा श्रेयस्कर होगा। अतः व्यवहार में शुद्ध लाभ का एकाधिकारिक लाभ के समान ही समझा जाता है।

(iii) अप्रत्याशित लाभ (Windfall Profits) : 'अप्रत्याशित लाभ' शब्द का प्रयोग केन्स (Keynes) ने अपनी पुस्तक 'A Treatise on Money, Vol 1' में किया था, किन्तु यहाँ हमारा विश्लेषण उनके विश्लेषण से बिल्कुल भिन्न होगा। अप्रत्याशित लाभ एक ऐसा लाभ है जो पूर्णतः अनियन्त्रणात्मक उद्योगों को समय-समय पर प्राप्त होता है। सामान्य रूप से हम इसे अप्रत्याशित लाभ इस कारण कहते हैं कि इस लाभ की प्राप्ति किसी उद्योग के विभिन्न फर्मों को बिना किसी प्रत्याशा (expectation) के होती रहती है। साथ ही इस लाभ की प्राप्ति के पीछे जो शक्तियाँ कार्य करती हैं, वे फर्म के नियन्त्रण में बिल्कुल नहीं रहतीं।

अप्रत्याशित लाभ का एक सामान्य स्रोत मूल्य में वृद्धि है। ऐसी मूल्य वृद्धि मुद्रा स्फीति के फलस्वरूप होती है। जब मुद्रा-स्फीति के कारण मूल्य-वृद्धि होती है तो उत्पादक या व्यापारी को अपने अपने पहले से संग्रह किये हुये स्टॉक पर विशेष लाभ प्राप्त होता है क्योंकि इस स्टॉक में रखी गयी वस्तु का उत्पादन मुद्रा-स्फीति के पूर्व कम व्यय पर ही किया गया था।

यह ध्यान रखना चाहिये कि जहाँ एक या दो फर्में अपनी वस्तु के मूल्य में वृद्धि की आशा कर सकती हैं, वहाँ ऐसे अप्रत्याशित लाभ की आशा साधारणतः सम्पूर्ण उद्योग नहीं कर सकता। यदि मूल्य की वृद्धि की पूर्ण सीमा सभी फर्मों का ज्ञात हो जाय तो उनका प्रयत्न भी पहले से ही स्टाक जमा करने का होगा जिनकी बिक्री बढ़ हुये मूल्यों पर हो सकेगी, किन्तु उनके इस प्रयत्न के क्रम में श्रम तथा कच्चे माल के मूल्य में वृद्धि होगी और अन्ततः वे फर्में ऐसी स्थिति को पहुँच जायेंगी जहाँ उन्हें कोई लाभ प्राप्त न होगा।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या इस प्रकार के अप्रत्याशित लाभ को लाभ माना जावे अथवा नहीं ? यदि हम लाभ को दीर्घकाल में उत्पादन-व्यय के ऊपर

औसत आय मानें, तो यदि सभी नही तो अधिकांश में इस प्रकार के लाभ लुप्त हो जायेंगे। दीर्घकाल के अन्तर्गत मूल्य में ह्रास के कारण अप्रत्याशित हानि को लाभ की मात्रा में से घटाना पडेगा। चूंकि लाभ और हानि दोनों ही अप्रत्याशित हैं, अतः यह विश्वास करने का कोई कारण नहीं है कि उनमें से कोई भी एक दूसरे से अधिक होगा।

(iv) सामान्य लाभ (Normal Profits) सामान्य लाभ का विचार मार्शल की देन है। प्रतिनिधि फर्म (Representative Firm) के पुरस्कार के लाभ को सामान्य लाभ कहते हैं। यह लाभ दीर्घकाल में उस उद्योग में, जहां उत्पादन-वृद्धि नियम' लागू हो रहा है, पूर्ति मूल्य में शामिल रहता है। वह फर्म, जो सामान्य लाभ अर्जन करती है, अनुकूलतम फर्म है। इस प्रकार की फर्म में किसी भी प्रकार का परिवर्तन—उन्नति या अवनति—नहीं आती। चूंकि सामान्य लाभ अनुकूलतम फर्म की उत्पादन लागत में शामिल रहता है, इसलिये इसे हम अनुकूलतम फर्म की आय भी कह सकते हैं।

श्रीमती जोन रॉबिन्सन (Mrs Joan Robinson) के अनुसार सामान्य लाभ को लाभ का ऐसा स्तर नहीं माना गया है, जहां नयी फर्में न तो प्रवेश करना चाहती है और न पुरानी फर्में बाहर जाती है। असामान्य रूप से अधिक लाभ का तात्पर्य यह है कि नई फर्में प्रवेश करें और वस्तु का उत्पादन बढ़ायें। ठीक इसके विपरीत बहुत ही कम लाभ के कारण फर्में बाहर चली जायेंगी। अतः सामान्य लाभ का वर्णन विशेष उद्योग के सम्बन्ध में ही करना उचित होगा। किसी भी उद्योग में प्रवेश करने की कठिनाई उसके लाभ के स्तर पर निर्भर करती है।

(v) शुद्ध लाभ (Pure Profit) : शुद्ध लाभ का विचार क्लार्क (Clark) की देन है। शुद्ध लाभ लागत के ऊपर विचार (Surplus over costs) है,[4] जबकि सामान्य लाभ को फर्म के लागत व्यय का एक अंश ही कहा जा सकता है। शुद्ध लाभ अवशिष्ट प्राय है। क्लार्क के अनुसार यह गतिशील आय है जो स्थिर अर्थ-व्यवस्था मे नहीं मिलता, किन्तु लागत-व्यय का जो अर्थ क्लार्क लेते हैं, वह वस्तुतः प्रबन्ध का पारिश्रमिक (Wage of management) है। अतः स्पष्ट है कि जिसे मार्शल असामान्य लाभ कहते हैं, वही क्लार्क के विचार में शुद्ध लाभ है। मार्शल का सामान्य लाभ वस्तुतः क्लार्क के प्रबन्ध के पारिश्रमिक से मिलता जुलता है।

लाभ सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्त (Theories of Profits) :

लाभ के सम्बन्ध में कई सिद्धान्त हैं जिनमें सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त, जोखिम से सम्बन्धित सिद्धांत, अनिश्चितता सहन करने का सिद्धान्त, योग्यता का

---

4 "Pure profit is a return over and above opportunity cost payments"

लगान सिद्धान्त, गतिशील सिद्धान्त, नवप्रवर्तन सिद्धांत प्रमुख हैं। अब हम संक्षेप में लाभ के इन विभिन्न सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे।

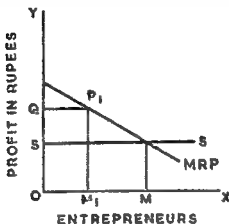
1. लाभ का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त
(The Marginal Productivity Theory of Profit)

इस सिद्धान्त की यह मान्यता है कि साहसोद्यम योग्यता (Entrepreneurial Ability) भी उत्पादन का एक साधन है। वितरण के सीमान्त उत्पादकता के सिद्धान्त के अनुसार इस योग्यता का मूल्य, जिसे लाभ कहते हैं, उसी प्रकार निर्धारित होता है जिस प्रकार अन्य साधनों का। साहसी अपनी योग्यता अथवा क्षमता की सहायता से जिस अतिरिक्त उत्पत्ति की वृद्धि करता है वह उसकी सीमान्त उत्पादकता कहलाती है। यह अतिरिक्त उत्पत्ति उसी समय ज्ञात हो सकती है जब कि उद्योग या साहसी की सहायता की कमी अथवा उसमें एक अतिरिक्त साहसी की वृद्धि कर दी जाय। इस कमी अथवा वृद्धि से उत्पादन-मात्रा में क्रमशः जितनी कमी या वृद्धि होगी वही साहस की सीमान्त उत्पादकता की माप होगी।

किसी साधन का सीमांत आय उत्पादकता वक्र (MRP), उसका माँग वक्र भी होता है। अतः उपक्रमी का MRP वक्र उसका माँग वक्र भी होता है। उपक्रमियों की पूर्ति इस बात पर निर्भर करती है कि वे उद्योग में कितना कमा सकते हैं अर्थात उनकी पूर्ति, उनकी आय उत्पादकता पर निर्भर होगी। प्रश्न है उपक्रमी का MRP वक्र किस प्रकार का होगा ? भूमि, श्रम, पूंजी आदि साधनों की उत्पादकता या सीमान्त आय उत्पादकता, उनकी एक मात्रा बढ़ाकर या घटाकर सरलता से ज्ञात की जा सकती है। परन्तु किसी एक फर्म के संदर्भ में, उपक्रमी की सीमांत आय उत्पादकता ज्ञात नहीं की जा सकती है। क्योंकि फर्म में एक ही उपक्रमी होता है, अतः उसकी संख्या घटाने या बढ़ाने का प्रश्न ही नहीं उठता। हाँ, उद्योग के संदर्भ में उपक्रमियों की उत्पादकता या सीमांत आय उत्पादकता उनकी संख्या एक से घटाकर या बढ़ाकर ज्ञात की जा सकती है। इसका स्पष्टीकरण एक रेखा चित्र द्वारा किया जा सकता है।

मान लीजिए एक उद्योग में सभी उपक्रमी एक रूप (Homogeneous) हैं तथा उपक्रम (entrepreneurship) को एकरूप भौतिक मात्राओं (homogenous physical units) द्वारा नापा जा सकता है। जैसा कि चित्र संख्या 138 में OX अक्ष के सहारे व्यक्त किया गया है। चित्र में MRP वक्र एक उद्योग में उपक्रमी की सीमान्त आय उत्पादकता को प्रकट करता है। यह सामान्य माँग वक्र की भांति है, जो यह प्रकट करता है कि उपक्रमियों की संख्या में वृद्धि करने से उनकी आय (लाभ) घटेगी। SS उनका पूर्ति वक्र है। हम यह मानकर चलते हैं कि सभी उपक्रमी समान

रूप से कुशल हैं, अतः सभी का लाभ बराबर होगा। इस लाभ की मात्रा OS है, जो उपक्रमियो की अवसर लागत (opportunity cost) को प्रकट करती है। यदि लाभ OS से कम है तो उपक्रमी उद्योग छोड देगा। अत OS उपक्रमियो का पूर्ति मूल्य है। चूंकि सभी उपक्रमी समान रूप से कुशल है, अत उनका पूर्ति मूल्य भी समान है। यही कारण है कि उपक्रम का पूर्ति वक्र एक सीधी क्षैतिज रेखा के रूप मे



चित्र संख्या 138

है। MRP वक्र तथा SS वक्र एक दूसरे को काटते हैं। OS उद्योग के औसत लाभ को प्रकट करता है। लाभ की यह मात्रा पूर्णस्पर्धा की स्थिति मे, दीर्घकाल मे पाई जाएगी। OS लाभ पर उपक्रमियो की माग व पूर्ति बराबर है। OS उपक्रमियो की अवसर लागत को प्रकट करता है अत उद्योग म सभी उपक्रमी 'सामान्य लाभ' अर्जित कर रहे है। यह स्थिति दीर्घकाल से सम्बन्धित है।

अल्पकाल मे यह सम्भव है कि कुछ उपक्रमी असामान्य लाभ (Abnormal Profit) अर्जित कर सकते है। अल्पकाल मे उपक्रमियो की सख्या OM_1 तथा लाभ OQ है। इस प्रकार SQ असामान्य लाभ है। असामान्य लाभ के कारण, दीर्घकाल मे नई फर्मों का प्रवेश होगा तथा यह अधि-लाभ, स्पर्धा के कारण समाप्त हो जाएगा अत दीर्घकाल मे, पूर्ण स्पर्धा की स्थिति मे, सभी फर्मे सामान्य लाभ ही अर्जित करगी। दीर्घकाल मे सभी फर्मों का लाभ सामान्य होने के कारण निम्नलिखित हैं। (i) स्पर्धा के कारण फर्मो द्वारा उत्पादित वस्तु की कीमत औसत व सीमात लागत के बराबर होगी (ii) फर्मों द्वारा भूमि श्रम पूजी आदि साधनो को उनकी औसत व सीमान्त उत्पादकता के बराबर पारिश्रमिक दिया जाएगा। अतः उपक्रमी इन दो कारणो से अधि लाभ नही अर्जित कर सकेगा।

अपूर्ण-स्पर्धा के अन्तर्गत उपक्रमी असामान्य लाभ अर्जित कर सकते है। (अल्प-काल तथा दीर्घ काल में भी)।

आलोचनाएं : लाभ का यह सिद्धान्त मान्य नही है। इसका कारण यह है कि शुद्ध लाभ अवशिष्ट आय है अतः वह सीमान्त उत्पादकता के बराबर नही हो सकता। समस्त उत्पादन कार्य साहसी के अस्तित्व पर ही आधारित होता है। अन्य किसी साधन की तरह उसे हटाना सम्भव नही है। इसके अतिरिक्त साहसियों की पूर्ति अत्यन्त अल्प होने के कारण उसकी उत्पादकता की सही माप भी सम्भव नही है। इस सिद्धान्त की निम्नलिखित आलोचनाएं की गयी हैं :

(1) एक फर्म की स्थिति मे एक ही साहसी होने पर उस फर्म मे साहस की सीमान्त आगम उत्पादकता (Marginal Revenue Productivity) की माप सम्भव नही है।

(2) एक उद्योग की स्थिति मे यद्यपि एक अतिरिक्त साहसी की वृद्धि तो सम्भव है और सम्भवत, गणितीय विधि के द्वारा उससे प्राप्त सीमान्त उत्पादन मे वृद्धि का अनुमान भी सम्भव हो सके, फिर भी इस वास्तविक तथ्य की उपेक्षा नही की जा सकती कि सभी साहसी समान योग्यता वाले नही होते। साहसियों की योग्यता मे विभिन्नता होने के कारण अन्य साधनों की तरह इसमे प्रतिस्थापन का सिद्धान्त नही लागू होता। यही कारण है साहसी की सीमान्त उत्पादकता की माप नही की जा सकती।

(3) एकाधिकार की स्थिति मे सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के अनुसार लाभ की गणना करना कठिन होगा, क्योंकि एकाधिकारिक व्यवस्था मे साहस की क्षमता मे भिन्नता स्थापित नही की जा सकती।

(4) सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त न तो अप्रत्याशित लाभ की व्याख्या करता है और न ही साहसी की आय के सम्बन्ध मे कुशल साहसी के 'योग्यता के लगान' (Rent of ability) के तत्व को सम्मिलित करता है।

2. वाकर का योग्यता-लगान-लाभ-सिद्धान्त
(Walker's Rent Theory of Profit)

लाभ का 'योग्यता लगान सिद्धान्त' अमेरिकी विचारक वाकर (Walker) तथा अन्य अमेरिकी अर्थशास्त्रियों ने प्रतिपादित किया था। यह सिद्धान्त 'शुद्ध लाभ' की धारणा पर आधारित है। वाकर के विचार मे उद्यमी अपनी संस्था का नायक (Captain) होता है। उसमे उत्पादन के विभिन्न साधनों मे समन्वय स्थापित करने की औसत क्षमता से अधिक क्षमता होती है। सामान्यतः उद्यमी की संगठन कुशलता

तथा योग्यता मे अन्तर पाया जाता है । यही कारण है कि योग्यतानुसार साहसियो के भी अनेक वर्ग होते हैं । जो उद्यमी अधिक कुशल होता है, वह प्रबन्ध के लिए पारिश्रमिक के अतिरिक्त शुद्ध आधिक्य (Surplus) का अधिकारी होता है । इस आधिक्य का कारण उसका श्रेष्ठ गुण है । अतः वाकर के अनुसार शुद्ध लाभ लगान (Rent) के समान ही वह विशेष पुरस्कार है जो केवल श्रेष्ठ उद्यमी को उसकी विशेष योग्यता के कारण प्राप्त होता है ।[5] इसी कारण वाकर ने शुद्ध लाभ को *'योग्यता का लगान'* कहा है, क्योंकि यह उद्यमी की श्रेष्ठ कुशलता का पुरस्कार है, शोषण का फल नही है, जैसा कि मार्क्स ने कहा है । इस प्रकार उद्यमी की सकल आय (Gross Income) मे से स्वय की पूंजी, भूमि तथा अपने श्रम के लिए क्रमशः ब्याज, लगान तथा मजदूरी घटाने के पश्चात् जो आधिक्य (Surplus) अवशेष रहता है, उसे ही साहसी की योग्यता की शुद्ध आय कहते हैं ।

शुद्ध लाभ को योग्यता के लगान के रूप मे मानने का कारण यह भी है कि (वाकर ने यह माना है कि) भूमि की तरह उत्पादन-क्षेत्र (बाजार) में साहसी की योग्यता की विभिन्न श्रेणियां होती हैं । कुछ साहसी ऐसी होते हैं जिनकी योग्यता इतनी अधिक नही होती कि उनकी उत्पादित वस्तुओ की बिक्री से स्वय के साधनो के पारिश्रमिक सहित उत्पादन-व्यय से अधिक आय हो सके । ऐसे साहसी *सीमान्त साहसी कहलाते है । जो साहसी सीमान्त साहसी की तुलना मे अपनी वस्तु* को बाजार मूल्य से कम लागत पर उत्पादित करने मे अधिक कुशल होता है, उसको निःसन्देह अतिरिक्त लाभ प्राप्त होगा । ऐसे श्रेष्ठ साहसी का शुद्ध लाभ या योग्यता का लगान उसकी वस्तु के बाजार-मूल्य तथा उसकी लागत के बराबर होगा । साहसी जितना ही अधिक कुशल एव योग्य होगा, उसके शुद्ध लाभ की मात्रा उतनी ही अधिक होगी । यह लाभ दीर्घकाल मे लोचदार होगा । परन्तु इस प्रकार के लाभ की एक विशेषता यह है कि दीर्घकाल मे विभिन्न साहसियो को अपने अवसरो तथा अपनी योग्यता को विकसित करने के पूर्ण अवसर उपलब्ध होते है । फलस्वरूप श्रेष्ठ साहसी की योग्यता का महत्व क्रमशः समाप्त हो जाता है । इससे शुद्ध लाभ या योग्यता का लगान कम होता जाता है और अन्तत. वह शून्य हो जाता है परन्तु अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा मे इसके विपरीत स्थिति होती है दीर्घ अवधि मे श्रेष्ठ साहसी का शुद्ध लाभ अधिक होता है ।

आलोचनाएं . व्यावहारिक रूप से वाकर के विचार की निम्न आलोचनाए की जाती हैं :

---

[5] ."The extra gains which any producer or dealer obtains through puperior talents for business or superior business arrangement are very much of a kind similar to rent."

(1) लाभ योग्यता लगान नहीं है क्योंकि योग्यता लगान सिद्धान्त छद्‌मरूप मे मजदूरी मे विभिन्नता का सिद्धान्त है।[6]

(2) इस सिद्धान्त की यह मान्यता है कि बिना लगान वाली भूमि की तरह लाभ मूल्य मे प्रवेश नहीं करता, किन्तु इस प्रकार का तर्क गलत है। उद्यमी का कुछ न कुछ पुरस्कार मूल्य मे अवश्य प्रवेश करता है।

(3) मार्शल के अनुसार भूमि के लगान के विपरीत, लाभ को सच्चे अर्थ मे आधिक्य नहीं कहा जा सकता। भूमि के सभी टुकड़ो को धनात्मक (positive) या शून्य लगान मिलेगा ही। किसी भी टुकडे का लगान नकारात्मक (negative) नहीं हो सकता, परन्तु उद्यमी को लाभ न प्राप्त होना या हानि होना सम्भव है।

(4) अत्यधिक लाभ सदैव श्रेष्ठ उद्यम के कारण ही नहीं मिलता। यह अप्रत्याशित लाभ एकाधिकार लाभ या शोषण के फलस्वरूप भी मिल सकता है। लाभ का यह सिद्धान्त अधिक से अधिक लाभ के अन्तर की व्याख्या करता है, लाभ की मूल प्रकृति पर कोई प्रकाश नहीं डालता।

3. क्लार्क का गत्यात्मक सिद्धान्त (The Dynamic Theory of Clark)

प्रसिद्ध अमेरिकी अर्थशास्त्री प्रो० जे० बी० क्लार्क (Prof J B Clark) के अनुसार लाभ गतिशील अर्थ व्यवस्था मे प्राप्त होता है, अतः यह परिवर्तन का परिणाम (result of change) है। उनके विचार मे स्थिर अर्थ व्यवस्था (static or stationary society) मे लाभ न मिलने का कारण यह है कि उसमे जनसख्या, पूंजी, उत्पादन की तकनीकी विधि, उपभोक्ता आचरण, उनकी रुचि, फैशन आदि मे कोई परिवर्तन नहीं होता। उत्पादन की विधि भी अपरिवर्तित रहती है। परिवर्तनो के अभाव के कारण स्थिर अर्थ-व्यवस्था मे लाभ का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रतिस्पर्धात्मक अर्थ-व्यवस्था मे यह कहा जाता है कि स्पर्धा समस्त लाभो को समाप्त कर देती है (competition is the great killer of all profits)। इसके विपरीत एक गतिशील या गत्यात्मक अर्थ व्यवस्था (Dynamic Society) मे अनेक प्रकार के परिवर्तन होते रहते है, जैसे जनसख्या मे वृद्धि, पूंजी मे वृद्धि, उत्पादन के सगठन एव विधि मे परिवर्तन आदि। इसके साथ ही साथ विभिन्न प्रकार की वस्तुओ का उत्पादन होता है तथा उपभोक्ताओ की रुचि बदलती रहती है। इन सभी कारणो से अर्थ-व्यवस्था स्थिर नहीं रहती और उसमे सदा परिवर्तन की प्रवृत्ति रहती है। बदलती हुई परिस्थितियो के अनुरूप उत्पादन क्रिया को व्यवस्थित करने पर ही उत्पादको को लाभ मिल सकता है। जो उद्योगपति नये परिवर्तन को शीघ्र अपनाता है या नये

[6] "The rent of ability theory of profit is realy a theory of differntial wage in disguise."

उत्पादन की विधियों का उपयोग करता है, उसे उस प्रयोग द्वारा लाभ मिलता है, किन्तु जैसे सभी उत्पादक उस नये परिवर्तन के अनुरूप कार्य करने लगते है, लाभ लुप्त हो जाता है और उस परिवर्तन के फलस्वरूप उत्पादक को लाभ की प्राप्ति होती है ।

इस प्रकार लाभ परिवर्तन का परिणाम है और ऐसे परिवर्तन सदैव ही अर्थ-व्यवस्था म होते रहते है तथा इन्ही नये परिवर्तनो के समायोजन के क्रम मे लाभ उत्पन्न होता है । लाभ उद्योग को नये सन्तुलन की स्थिति मे लाने का पुरस्कार है, भले ही यह पुरस्कार अस्थायी हो । इस प्रकार लाभ केवल गतिशील परिवर्तनो का ही परिणाम है । यह लाभ उसी समय तक प्राप्त होता है जब तक कि परिवर्तन की क्रिया चलती रहती है । अतः लाभ एक अस्थायी तत्व है जो परिवर्तन की अवधि तक ही प्राप्त हो सकता है । जैसे ही परिवर्तन समाप्त हो जाता है और स्थिति पूर्व-वत हो जाती है, उद्योग को केवल स्थिर या प्रतिस्पर्द्धात्मक अर्थ-व्यवस्था का सामान्य लाभ ही मिलना प्रारम्भ होता जाता है । इसीलिये क्लार्क ने लिखा है कि लाभ एक भ्रान्तिजनक राशि है, जो उद्योग को प्राप्त होती है, किन्तु वे उसे रोक नही सकते । स्पष्ट है लाभ एक गतिशील एव अस्थायी आय है । वह शीघ्र बदल भी जाता है । यह ध्यान रखना चाहिये कि गतिशील अर्थ-व्यवस्था मे भी लाभ तभी सम्भव है जबकि भविष्य के विषय म ठीक ठीक पूर्वानुमान करना हमारे लिये सम्भव नही होता ।

आलोचनाए क्लार्क के विचार की निम्नलिखित आलोचनाए की जाती है

(1) यह कहा जाता है कि यह सिद्धात गतिशील परिवर्तनो की उचित व्याख्या नही करता । कुछ ऐसे परिवर्तन है जिनके विषय मे पहले से विचार किया जा सकता है और जिनके कारण किसी प्रकार का लाभ भी नही मिलता । वास्तव मे लाभ उन परिवर्तनो के फलस्वरूप ही सम्भव हो पाता है जो अनिश्चित हैं तथा जिनके सम्बन्ध म पहले से विचार करना सम्भव नही होता । अत इन दो प्रकार के परिवर्तनो म अन्तर करना आवश्यक है ।

(2) यदि किसी परिवर्तन के विषय मे सामान्य रूप से आशा की जाती हैं और यदि लोग उसके अनुसार परिवर्तन कर लेते है तो लाभ की सम्भावना नही रह जाती । यदि लोगो की यह सामान्य प्रत्याशा गलत होती है तो लाभ केवल उन्ही को प्राप्त होगा जो इस प्रकार के परिवर्तन की आशा नही रखते थे । इस प्रकार बिना लाभ के भी परिवर्तन सम्भव है ।

(3) बिना किसी गतिशील परिवर्तन के अभाव मे भी लाभ की प्राप्ति सभव है । अत लाभ को गतिशील परिवर्तन से सम्बन्धित करना केवल अर्द्ध सत्य (half truth) है । अधिक से अधिक इतना कहना पर्याप्त होगा कि भविष्य मे होने वाले अज्ञात परिवर्तन ही लाभ को सभव बना पाते हैं । इस प्रकार यह सत्य है कि परिवर्तन के कारण लाभ मिलता है, किन्तु सभी प्रकार के परिवर्तन लाभ के जनक नही होते ।

(4) क्लार्क प्रबन्ध कार्य, संयोजन और जोखिम उठाने के कार्यों में कोई भेद नहीं मानते।

4 शुम्पीटर का नव प्रवर्तन-पुरस्कार सिद्धान्त
(Schumpeter's Theory of Profit of Innovation)

क्लार्क के विचार से मिलता जुलता विचार शुम्पीटर का भी है। शुम्पीटर के अनुसार गतिशील अर्थ-व्यवस्था में नये प्रवर्तनों या आविष्कारों (innovations) के कारण ही लाभ उत्पन्न होता है। इस दृष्टि से ही हम क्लार्क और शुम्पीटर के विचारों में काफी समानता पाते हैं, क्योंकि शुम्पीटर भी नये परिवर्तनों पर ध्यान देते हैं और गतिशील परिवर्तनों को स्वीकार करते हैं, किन्तु शुम्पीटर ने नये परिवर्तनों को क्लार्क के परिवर्तनों से विशेष व्यापक रूप में प्रयोग किया है। शुम्पीटर के नव परिवर्तन से तात्पर्य ऐसे परिवर्तनों से है जिनमें उत्पादन की क्रिया में परिवर्तन होता है और उत्पादन-व्यय में ह्रास होता है जिसके फलस्वरूप लाभ सम्भव हो पाता है। इस प्रकार वे फर्में जो इस नये परिवर्तन को पहले उपयोग में लायेंगी, विशेष लाभ प्राप्त कर पायेंगी। नय बाजार के मिलने से भी नव-परिवर्तन का लाभ मिलेगा और यह लाभ फर्म को तब तक मिलता रहेगा, जब तक कि उस बाजार में अन्य फर्में प्रतियोगी के रूप में नहीं पहुंच जाती। सस्ते तथा कच्चे मालों की खोज एवं उपयोग के कारण भी फर्म को प्रारम्भ में नये प्रवर्तक का लाभ मिलेगा। नये प्रवर्तन के माध्यम से प्राप्त ये सभी लाभ अस्थायी होते है। ऐसे लाभ तभी तक सम्भव है जब तक कि अन्य प्रतियोगी फर्में उस नये प्रवर्तन का उपयोगी नहीं करती। जैसे ही अन्य फर्में लाभ की आशा में नयी उत्पादन विधि को अपनाती हैं वैसे ही लाभ की मात्रा कम होने लगती है और लाभ क्रमशः कम होता जाता है।

यदि नये प्रवर्तन का समन्वय एकाधिकार से सम्भव है तो लाभ एक लम्बी अवधि तक मिलता रहता। नव प्रवर्तन के पेटेन्ट-अधिकार (Patent Right) के कारण भी लाभ अधिक समय तक मिलता रहेगा। इस प्रकार नये प्रवर्तनों के फलस्वरूप प्राप्त लाभ को हम आंशिक एकाधिकार की श्रेणी में रख सकते हैं क्योंकि यहां भी प्रारम्भ में नयी विधि को अपनाने वाली फर्मों की संख्या अल्प होती है।[7] स्पष्ट है, लाभ अस्थायी होगा जो नये प्रवर्तनों एवं सुधारों के कारण प्राप्त होता है। यही लाभ अन्य फर्मों द्वारा नये प्रवर्तनों का उपयोग या अनुकरण (imitation) के कारण समाप्त हो जायेगा। अतः यह कहना सत्य है कि लाभ नये प्रवर्तन के कारण मिलता है तथा अनुकरण लुप्त के कारण हो जाता है (Profits are caused by innovation and disappears by imitation)।

7 "Even the profits of innovation may be classed as profits of potential monopoly since they are dependent upon the smallness of the number of firms that first adopt this innovation." — *Meyers*

नये प्रवर्तन आर्थिक विकास में सहायक होते हैं तथा इस प्रवर्तन के द्वारा लाभ की प्राप्ति होती है। इस दृष्टि से लाभ नये प्रवर्तनों को प्रोत्साहित करता है। यदि नया प्रवर्तन सफल होता है तो लाभ की प्राप्ति होगी। स्पष्ट है कि शूम्पीटर के अनुसार लाभ नये प्रवर्तनों का कारण तथा परिणाम दोनों ही है।

आलोचनाएं शूम्पीटर के विचार की भी आलोचना की जाती है, किन्तु हमें यह ख्याल रखना है कि इन आलोचनाओं का आधार क्लार्क के सिद्धान्त के ही अनुरूप है, अर्थात् जिन आलोचनाओं का वर्णन क्लार्क के सिद्धान्त के लिए किया गया है वे ही आलोचनाएं इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में भी समान रूप से लागू होती हैं।

5 हॉले का जोखिम उठाने का पुरस्कार सिद्धांत

(Hawley's Theory of Profit—A Reward For Risk-taking)

उद्यमी का मुख्य कार्य उत्पादन में जोखिम उठाना है। उद्यमी के इसी जोखिम उठाने के फलस्वरूप लाभ प्राप्त होता है। हॉले (F B Hawley) ने इसी विचार का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार लाभ जोखिम उठाने का पुरस्कार है। उत्पादन के अन्य सभी साधनों का पुरस्कार निश्चित है, क्योंकि लाभ मिले या न मिले, उत्पादक को अन्य साधनों को पुरस्कार देना ही पड़ेगा। परन्तु लाभ जो उद्यमी का पुरस्कार है अज्ञात और अनिश्चित राशि है। यह अनिश्चित है तथा इसकी प्रकृति अवशिष्ट आय के रूप में है।[8] स्पष्ट है कि लाभ वह अवशेष राशि है जिसका पहले से निर्धारण करना सम्भव नहीं है, तथा इसी आय की प्राप्ति के लिए उद्यमी उत्पादन की क्रिया में जोखिम उठाने को तैयार होता है। उद्यमी की आय का आधार जोखिम उठाना ही है। हॉले ने इस विचार का वर्णन सन् 1907 में प्रकाशित अपनी पुस्तक "Enterprise and Productive Process" में किया है। उत्पादन-क्रिया में लगे रहने के लिए यह आवश्यक है कि उद्यमी को जोखिम उठाने का पुरस्कार मिलता रहे और यह पुरस्कार औसत सामान्य प्राप्ति से अधिक होना चाहिए। चूंकि जोखिम उठाना बड़ा ही कष्टप्रद तथा चिन्ता का विषय है अतः उद्यमी इसे तब तक उठाने को तैयार नहीं होगा, जब तक उसके लिए किसी विशेष पुरस्कार का लोभ न हो। उत्पादन में लगायी गई पूंजी पर औसत सामान्य आय ही यथेष्ठ नहीं है, बल्कि जोखिम झेलने का पुरस्कार सामान्य से कुछ विशेष होना चाहिए। चूंकि जोखिम उठाना सरल नहीं है, इसलिए जोखिम उठाने वालों की संख्या बहुत ही कम होती है।

[8] "The profit of an undertaking or the residue of the product after the calims of land, capital and labour are satisfied, is not the reward of management or co-ordination, but of the risks and responsibilities of the undertaker "......subjects himself to...... this net income being manifestly an unpredetermined residue, must be a profit." —*Hawley*

प्रतियोगिता का क्षेत्र सकीर्ण होने के कारण प्रतियोगिता तीव्र नहीं होगी। ऐसी दशा मे जो उद्यमी आगे बढ़कर जोखिम का भार उठाता है और उससे अपनी सुरक्षा करता है, वही अतरिक लाभ प्राप्त करता है।

आलोचनाएं : हाले के विचार की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि लाभ केवल जोखिम उठाने का ही पुरस्कार नहीं है। यह कहना अत्युक्ति होगी कि सम्पूर्ण पुरस्कार जोखिम उठाने के कारण ही मिलता है, फिर भी यह ख्याल रखना चाहिए कि उद्यमी को लाभ जोखिम मात्र उठाने के कारण ही नहीं, बल्कि इस कारण भी मिलता है कि वह अपने श्रेष्ठ योग्यता के प्रयत्नो से जोखिम को कम कर देता है जिससे उसे लाभ प्राप्त होता है। उद्यमी को अपनी कुशलता के कारण बाजार आदि की स्थितियों का पूर्ण ज्ञान रहता है। वह उनको कम करने के उपाय करके अन्य उद्यमी की अपेक्षा विशेष लाभ प्राप्त करता है। अतः हम यह भी कह सकते हैं कि जोखिमो के निराकरण और कम करने की क्षमता के कारण ही उद्यमी को लाभ मिलता है। वह इसलिए लाभ प्राप्त नहीं करता कि वह उनका भार उठाता है।

वास्तव म लाभ विभिन्न लागतो के ऊपर बचत (Surplus over cost) मात्र है और यह सभी प्रकार के जोखिमो के कारण नहीं मिलता। केवल अज्ञात तथा अनिश्चित जोखिमो के कारण ही लाभ उत्पन्न होता है।

6. नाइट का अनिश्चितता का सिद्धान्त
(Knight's Theory of Uncertainty)

अर्थव्यवस्था मे उद्यमी का महत्त्व तथा उत्तरदायित्व इस तथ्य मे निहित है कि वह उत्पादन के विभिन्न साधनो को मिलाकर उत्पादन-इकाई को एक निश्चित स्वरूप देता है, परन्तु इस प्रक्रिया मे अनिश्चितता का अश भी निहित रहता है। भूमि, श्रम तथा पूंजी की पूर्ति करने वाला इतना ज्ञान पहले से ही रखता है कि दी हुई परिस्थितियो म उसे कितना पारिश्रमिक या पुरस्कार मिलेगा। ऐसा कहने का तात्पर्य यह नही है कि उत्पादन के इन साधनो के स्वामियो को किसी प्रकार का कोई खतरा उठाना नही पडता। यह सम्भव है कि किसी पूंजीपति को बाद म पता लगे कि ऋणी (borrower) एक कपटी व्यक्ति है तथा वह ऋण को अदायगी नही करेगा। भूमि-पति भी बाढ या भूकम्प जैसी प्राकृतिक आपदाओ के कारण बर्बाद हो सकता है। साथ ही, श्रमिक की नौकरी छूट सकती है जिससे उसे बेरोजगारी का सामना करना पडेगा, किन्तु ये आपत्तिया (बेईमानी, प्राकृतिक आपदाए या आर्थिक अवसाद) ऐसी है जो थोडी-बहुत मात्रा मे समाज के सभी व्यक्तियो को सहनी पडती हैं।

उद्यमी, चाहे वह एक व्यक्ति हो या हजारो की सख्या मे अशधारी (Share holders), आय के किसी भी ऐसे स्तर पर निर्भर नहीं रह सकते जिसका आश्वासन दिया जा सके। उद्यमी को एक विशेष प्रकार का खतरा उठाना ही पडता है। केवल

लिए उद्यमी को प्रेरणास्वरूप लाभ की कोई आवश्यकता नहीं है, किन्तु इन खतरों के अतिरिक्त सदैव कुछ ऐसी घटनाएं घटित होती रहती हैं जो माग मे परिवर्तन और तकनीकी विकास आदि को सम्भव बना पाती है। इन परिवर्तनो मे कोई क्रमबद्धता (regularity) नहीं होती। इसलिए इनका बीमा नहीं कराया जा सकता। इस प्रकार के जोखिम अनिश्चित तथा बीमा के अयोग्य (uncertainties and non-insurable risks) होते हैं। ये ऐसे जोखिम होते हैं जिनका बीमा सम्भव नहीं है। फलस्वरूप उद्यमी को अनिश्चितता का सामना करना पड़ता है। अतः प्रो नाइट Prof Knight लाभ का कारण अनिश्चितता मानते हैं।[9] प्रो० नाइट ने अपनी पुस्तक "Risk Uncertainty and Profit" जो सन् 1921 मे प्रकाशित हुई, मे अपने लाभ सम्बन्धी इस विचार को पूर्णतया प्रतिपादित किया।

उद्यमी यह चाहता है कि उसके पारितोषण की पूर्ति उचित मात्रा मे होती रहे, अर्थात् सामान्य लाभ (normal profit) मिलता रहे। यह सामान्य लाभ लागत का एक अश होता है जो एक उद्योग से दूसरे उद्योग के भिन्न होता है तथा यह भिन्नता अनिश्चितता की मात्रा पर निर्भर करती है। कुछ ऐसी वस्तुएँ है जिनकी माग प्राय निश्चित रहती है तथा ऐसे उद्योगो मे साधारणतया लाभ कम होता है। ठीक इसके विपरीत किसी नयी वस्तु का भविष्य बिल्कुल अनिश्चित होता है। उसे सफलता की आशा के साथ ही असफलता की भी सम्भावना रहती है। अत ऐसे कार्यों के लिए अत्यधिक लाभ की प्रत्याशा (expectation) का होना आवश्यक है, ताकि उद्यमी उत्पादन की क्रिया मे प्रेरित हो सके। इस प्रकार जहा कहीं भी अनिश्चितता की मात्रा अधिक होगी उद्यमी को प्रेरित करने के लिए अत्यधिक लाभ का लोभ देना आवश्यक होगा।

आलोचनाएं : (1) प्रो० नाइट का सिद्धान्त, क्लार्क के सिद्धान्त की भाति, केवल गतिशील परिवर्तनो को ही लाभ का कारण नहीं मानता, क्योंकि जहा तक इन परिवर्तनो को जाना जा सकता है, वे विक्रय-मूल्य तथा लागत मे अन्तर पैदा नहीं कर सकते।

(2) हॉले के समान लाभ का कारण खतरा भी नहीं है, क्योंकि ज्ञात खतरो के विरुद्ध बीमा किया जा सकता है। अत लाभ एक विचित्र जोखिम के कारण प्राप्त होता है जिसकी माप सम्भव नहीं है। स्पष्ट है कि लाभ अनिश्चितता के कारण प्राप्त होता है जो स्वय गतिशील परिवर्तनो का परिणाम है।

---

9. "It is not dynamic change, not change as such which causes profit, but the divergence of actual conditioning from those which have been expected and on the basis of which business arrangements have been made." —*Prof. Knight.*